अर्थशास्त्र के सिद्धान्त

(भारतीय विश्वविद्यालयों की बी कॉम तथा प्रोन्नत कक्षाओं के
लिए निर्धारित पाठ्यक्रमानुसार)

लेखक

डॉ० आर एन सिंह	डॉ० जे एम जोशी
डायरेक्टर	प्रोफेसर
पोद्दार इन्स्टीट्यूट आफ मैनेजमेन्ट	अर्थशास्त्र विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर	राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर

एवं

स्व० डा० जे पी श्रीवास्तव
भू पू प्रभाग (र एव ला विभाग)
पत्राचार संस्थान
राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर

चतुर्थ संस्करण
(पूर्णरूपेण संशोधित एवं परिवर्द्धित)

1984-85

रमेश बुक डिपो
जयपुर

वितरण

विनिमय

Exchange

परिचय

अर्थशास्त्र एक गतिशील विषय है। यह गतिशीलता अर्थशास्त्र के क्षेत्र में होने वाली वैचारिक क्रान्ति का प्रभाव है। फलस्वरूप अर्थशास्त्र की धारणाएं और विषय-सामग्री के सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों के बीच सामान्यतया समन्वय स्थापित नहीं हो पाता। विचारकों ने अपने अपने ढंग से इसे परिभाषित किया है और इस विविधता और विभिन्नता ने इसकी विषय सामग्री में सतत विकासशीलता के तत्व को निहित कर दिया है। मार्शल का यह कथन सर्वथा उपयुक्त है कि अर्थशास्त्री को प्रत्येक अन्य व्यक्ति की भांति मानव के अंतिम लक्ष्यों से ही अपने आप को सम्बन्धित रखना चाहिए। मनुष्य के विचार एवं लक्ष्य गतिशील हैं। उनके विचारों की विविधता ने ही अर्थशास्त्र को गतिशीलता प्रदान की है।

1

अर्थशास्त्र की परिभाषा

(Definition of Economics)

To define it as a study of mankind in the ordinary business of life is surely too broad To define it as the study of material wealth is too narrow To define it as the study of human valuation and choice is again probably too wide and to define it as the study of that part of human activity subject to the measuring rod of money is again too narrow "

—Boulding

The rationale of any definition is to be found in the use which is actually made of it

—Robbins

वर्तमान अर्थशास्त्र के पीछे लगभग दो सौ वर्षों का अपना इतिहास है। एक स्वतन्त्र विषय के रूप में अर्थशास्त्र का अध्ययन अठारहवीं सदी में होने लगा था। एडम स्मिथ (1723 1790) को अर्थशास्त्र का जन्मदाता माना जाता है। उनकी प्रसिद्ध पुस्तक An Enquiry into the Nature and Causes of the Wealth of Nations सन 1776 में प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक के प्रकाशन के साथ ही अर्थशास्त्र एक स्वतन्त्र विषय माना जाने लगा। एडम स्मिथ ने अर्थशास्त्र को धन का विज्ञान कहा। धन' को प्रधान स्थान देने के कारण तत्कालीन दार्शनिक तथा विचारकों ने अर्थशास्त्र को निम्न कोटि का विषय माना। अर्थशास्त्र की निंदा करने वाले विद्वानों में प्रसिद्ध दार्शनिक तथा विचारक रस्किन, कार्लाइल, विलियम मोरिस, प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ एडमण्ड बर्क तथा साहित्यकार चार्ल्स डिकन्स शामिल थे। इन विचारकों ने अर्थशास्त्र को अस्तित्वहीन विज्ञान (Dismal Science) अधम विज्ञान (A Bastard Science) तथा रोटी मक्खन का विज्ञान (Bread and Butter Science) कह कर निंदा की। रस्किन ने अपनी विश्व प्रसिद्ध कृति Unto the Last में अर्थशास्त्र को सबसे कम विश्वसनीय तथा एक भ्रामक विषय माना। रस्किन ने लिखा है 'मानव जाति के अधिकांश व्यक्तियों में समय समय पर जो अधिक भ्रम रहे हैं उनमें सबसे अधिक विचित्र और सबसे कम विश्वसनीय राजनीतिक अर्थशास्त्र का विज्ञान ही है।'

इन विद्वानों द्वारा की गई कटु आलोचनाओं का परिणाम यह हुआ कि अर्थशास्त्र एक उपयोगी विषय होते हुए भी काफी समय तक एक प्रतिष्ठित विषय नहीं माना जा सका। फिर भी एक स्वतन्त्र विषय के रूप में अर्थशास्त्र का विकास होता रहा तथा आज सामाजिक विज्ञानों (Social Sciences) में अर्थशास्त्र सर्वाधिक लोकप्रिय तथा महत्त्वपूर्ण विषय माना जाता है। अर्थशास्त्र की लोकप्रियता तथा महत्त्व का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि सामाजिक विज्ञानों में अर्थशास्त्र ही एकमात्र ऐसा विषय है जिसमें सन् 1969 से प्रति वर्ष नोबेल पुरस्कार प्रदान किया जाता है। सामाजिक विज्ञानों में यह गौरव केवल अर्थशास्त्र को प्राप्त है। अर्थशास्त्र में नए विचारों व नई परिकल्पनाओं का समावेश तथा विकास बड़ी तेजी से हो रहा है। कहा जाता है कि प्रति दस वर्ष में अर्थशास्त्र का ज्ञान भंडार दोगुना हो जाता है। वस्तुतः सामाजिक विज्ञानों में जितनी तीव्र गति से विकास अर्थशास्त्र और व्यावसायिक प्रबन्ध (Business Management) का हो रहा है उतना अन्य किसी भी विषय का नहीं हो रहा है। आज विश्व की विभिन्न भाषाओं में जितना साहित्य अर्थशास्त्र और व्यावसायिक प्रबन्ध पर प्रकाशित हो रहा है उतना किसी भी अन्य विषय पर नहीं। यह तथ्य अर्थशास्त्र की गतिशीलता का प्रतीक है। आज अर्थशास्त्र एक गतिशील लोकप्रिय तथा विचारपूर्ण विषय के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका है। आज अर्थशास्त्र में विचारकों की भरमार है जो अपने नए विचारों द्वारा अर्थशास्त्र के ज्ञान भंडार को भर रहे हैं। आज का अर्थशास्त्र विचारों की क्रांति तथा समस्या समाधान सूचक विषय का प्रतीक बन गया है। आर्थिक विकास तथा नियोजन सम्बन्धी समस्याओं ने पूरे विश्व का ध्यान आकृष्ट किया है। आज के विश्व की प्रत्येक समस्या मूलतः आर्थिक है। अतः आज अर्थशास्त्र एक स्वतन्त्र ही लब्धप्रतिष्ठ विषय के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका है। गत कुछ वर्षों में ही **टिनबर्जेन, रगनार फिश, साइमन कुजनेतस, कूपमान, गुन्नर मीरडल, पाल रम्युएलसन, लियोनतिफ** हिक्स एरो तथा हरबर्ट साइमन को यह पुरस्कार प्रदान किया जा चुका है।

परिभाषा (Definition)

अर्थशास्त्र की परिभाषा अपने आप में एक समस्या है। अतः जैकब वाइनर (Jacob Viner) जैसे विद्वानों ने इसे निश्चित सीमाओं में बाँधने की अपेक्षा यह कह कर छोड़ दिया कि "अर्थशास्त्र वह है जो अर्थशास्त्री करते हैं।"[1] इस मत के समर्थकों में रिचार्ड जोन्स (Richard Jones) काम्टे (Comte) मौरिस डाब (Maurice Dobb) गुन्नर मिर्डाल (Gunnar Myrdal) आदि हैं जो यह कहते हैं कि अर्थशास्त्र जैसे गतिशील विषय को सीमाओं में बाँधना कठिन है और चूंकि

1 Economics is what economists do

अर्थशास्त्र दूसरे विषयों से अत्यधिक सम्बन्धित है इसके क्षेत्र को निश्चित करना और भी कठिन है।

यद्यपि अर्थशास्त्र की परिभाषा देना कठिन है पर इसके क्रमानिक अध्ययन के लिए इसे परिभाषित करना आवश्यक भी है। अर्थशास्त्र की परिभाषा के अभाव में उसके क्षेत्र का ज्ञान नहीं हो सकता और न ही इसकी मूल धारणाओं के स्पष्टीकरण के लिए कोई आधार होगा। इसलिए एरिक रोल (Eric Roll) के मत को ध्यान में रखते हुए कि किसी भी विषय का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करने के लिए उसकी परिभाषा को जानना उतना ही आवश्यक है जितना कि जिस भूमि पर कृषि करनी है उसकी सीमाओं का जानना आवश्यक है हम अर्थशास्त्र की परिभाषा के विषय में विचार करना आवश्यक समझते हैं।

जिन लोगों ने अर्थशास्त्र की परिभाषा देना आवश्यक समझा है और इसे परिभाषित करने का प्रयास किया है, उनमें बहुत मतभेद है। अतः बारबरा वूटन (Barbara Wooton) को यह कहना पड़ा कि जहाँ छः अर्थशास्त्री एकत्रित होंगे वहाँ सात मत होंगे।[1] मतभेद से उत्पन्न परिभाषाओं की अनेकता के कारण जे एम कीन्स (J M Keyne) को बाध्य होकर यह कहना पड़ा कि राज्य अर्थव्यवस्था ने परिभाषाओं में अपना गला घोंट लिया है[2] और वूटन ने यह कहा कि अर्थशास्त्र एक अपूर्ण विज्ञान है।[3]

यहाँ पर 'अपूर्ण विज्ञान' शब्द का प्रयोग अर्थशास्त्र को एक घटिया विषय बतलाने के लिए नहीं किया गया है बल्कि अपूर्ण शब्द यह बतलाता है कि अर्थशास्त्र एक अत्यन्त ही गतिशील विषय है जिसमें नई परिकल्पनाओं (Concepts) तथा विचारों का विकास बड़ी तेजी से हो रहा है। इसी विकास के कारण जो परिभाषा अर्थशास्त्र की दी जाती है वह कुछ समय के बाद अपूर्ण मालूम होने लगती है। आधुनिक अर्थशास्त्र के पीछे लगभग दो सौ वर्षों का इतिहास है। इन दो सौ वर्षों में अनेक अर्थशास्त्रियों ने अर्थशास्त्र के ज्ञान-भंडार को भरा। नए विचार व विचार धाराएँ अर्थशास्त्र में समय समय पर आईं तथा इसका विकास होता गया। एडम स्मिथ ने सन् 1776 में आधुनिक अर्थशास्त्र की परिभाषा दी। आज का अर्थशास्त्र उस समय के अर्थशास्त्र से बहुत आगे निकल चुका है। अतः एडम स्मिथ की परिभाषा अब प्राचीन तथा अनुपयुक्त लगती है। यही बात प्रायः सभी पुरानी परिभाषाओं पर लागू होती है। मिल ने एक सौ पचास वर्ष पूर्व इस सम्बन्ध में बड़ा ही उपयुक्त विचार प्रकट किया था। किसी विज्ञान की परिभाषा उसके प्रारम्भ से पहले नहीं बल्कि हमेशा बाद में ही दी जाती है। यह एक नगर की चहार दीवार की तरह होती है जो

---

1 Wh never six economists are gathered there are seven opinion
2 Political Economy is said to have strangl d itself with definitions
3 Economics is an unfinished science

इसलिए नहीं बनाई जाती है कि भविष्य में बनाई जाने वाली सभी इमारतें इसके अन्दर रहें बल्कि केवल वर्तमान इमारतों के चारों ओर घेरा डालने के लिए बनाई जाती है।' इसी प्रकार अर्थशास्त्र जैसे एक गतिशील विषय को किसी एक सर्वमान्य परिभाषा की सीमा में बांधना असम्भव है। अर्थशास्त्र की वर्तमान विषय सामग्री तथा विचारों को ध्यान में रखते हुए बड़ी गम्भीरता से विचार कर यदि आज सन् 1979 में एक अर्थशास्त्री ही नहीं बल्कि विश्व के कुछ प्रसिद्ध अर्थशास्त्री मिल-कर भी अर्थशास्त्र की सर्वमान्य परिभाषा दें तो भी ऐसी परिभाषा कुछ दशकों में ही अपूर्ण तथा दोषपूर्ण मानी जाने लगेगी क्योंकि अर्थशास्त्र का विकास बड़ी तेजी से हो रहा है।

परिभाषाओं का वर्गीकरण और विश्लेषण
(Classification and Analysis of Definitions)

विचारों की समानता के आधार पर तथा अध्ययन की सुविधा के लिए अर्थशास्त्र की विभिन्न परिभाषाओं का वर्गीकरण करके उनका विश्लेषण करना उचित होगा। यह वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है 1 धन-सम्बन्धी परिभाषाएं (Wealth Definitions) 2 कल्याण सम्बन्धी परिभाषाएं (Welfare Definitions) 3 दुर्लभता परिभाषा (Scarcity Definition) 4 आवश्यकताहीन परिभाषा (Wantlessness Definition) 5 आधुनिक परिभाषाएं (Modern Definitions)।

अर्थशास्त्र की परिभाषाओं का वर्गीकरण

धन सम्बन्धी परिभाषाएं (एडम स्मिथ, जे बी से, सीनियर, जे एस मिल, वाकर)	कल्याण सम्बन्धी परिभाषाएं (मार्शल, पीगू, कैनन, बेवरिज, फेयर चाइल्ड, पैंसन आदि)	दुर्लभता सम्बन्धी परिभाषा (राबिन्स)	आवश्यकता विहीनता सम्बन्धी परिभाषा (जे के मेहता)	आधुनिक परिभाषाएं (बोल्डिंग, हिक्स, सैम्यूएलसन)
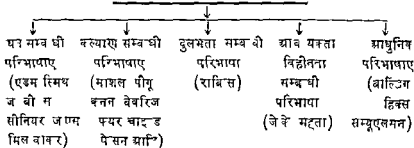
धन सम्बन्धी परिभाषाएं (Wealth Definitions)

प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने अर्थशास्त्र को धन का विज्ञान (Science of Wealth) के रूप में परिभाषित किया है। अर्थशास्त्र के जनक एडम स्मिथ की प्रसिद्ध पुस्तक An Enquiry into the Nature and Causes of Wealth of Nations) सन् 1776 में प्रकाशित हुई थी। पुस्तक का नाम ही अर्थशास्त्र की प्रकृति पर प्रकाश डालता है। एडम स्मिथ के अनुसार अर्थशास्त्र राष्ट्रों के धन के . .

और कारणों की खोज से सम्बन्धित है'[1] स्मिथ के अनुसार (1) अर्थशास्त्र धन का विज्ञान है तथा (2) यह धन का अध्ययन राज्य के सन्दर्भ में करता है। इस प्रकार अर्थशास्त्र को राजनैतिक अर्थ-व्यवस्था (Political Economy) के रूप में प्रस्तुत किया गया और धन पर विशेष बल दिया गया। अन्य अर्थशास्त्रियों ने धन की व्यवस्था के लिए किए गए प्रयत्नों का अध्ययन कह कर परिभाषित किया गया। एडम स्मिथ के अनुयायियों ने धन सम्बन्धी विचारधारा को पुष्ट किया। फ्रांस के अर्थशास्त्री जे बी से (J B Say) ने अर्थशास्त्र को वह विज्ञान बताया जो धन का अध्ययन करता है।[2] इसी प्रकार अमरीकी अर्थशास्त्री वाकर (Walker) ने कहा कि अर्थशास्त्र ज्ञान की वह शाखा है जो धन से सम्बन्धित है।[3] जे एस मिल (J S Mill) ने भी अर्थशास्त्र को मनुष्य से सम्बन्धित धन का विज्ञान कह कर परिभाषित किया है।[4]

धन-सम्बन्धी परिभाषाओं का विश्लेषण करने पर कुछ प्रमुख बातें सामने आती हैं

1 धन की प्रधानता स्वयं के हित के लिए धन प्राप्त करने के उपायों का अध्ययन अर्थशास्त्र का विषय बनाया गया। अतः धन को विशेष महत्त्व दिया गया।

2 आर्थिक मनुष्य की कल्पना धन के इस विशेष महत्त्व के कारण एक आर्थिक मनुष्य (Economic man) की भी कल्पना कर ली गई जो केवल स्वार्थपूर्ति से ही प्रेरित होता हो, धन ही जिसके लिए सर्वोपरि हो, नैतिकता या अन्य बातें नहीं। ऐसी स्थिति में मनुष्य गौण बन गया।

3 मानवीय सुखों का आधार धन धन को सभी मानवीय सुखों का आधार माना गया। धन मनुष्य का मापदण्ड माना जाने लगा तथा धनी व निर्धन व्यक्ति की बात की जाने लगी। एडम स्मिथ के शब्दों में— प्रत्येक व्यक्ति उस सीमा तक धनी या निर्धन है जहाँ तक वह मानव जीवन की आवश्यकताओं, सुविधाओं तथा सुखों का आनन्द लेने में समर्थ है।[5]

---

1 Economics is a subject concerned with an enquiry into the nature and causes of Wealth of Nations"

2 Economics is the science which treats of wealth"

3 Economics is the name of that part of knowledge which relates to wealth

4 Economics is the science of wealth related to man

5 "Every man is rich or poor according to the degree in which he can afford to enjoy the necessarie conveniences and amusements of life"

4 व्यक्तिगत समृद्धि राष्ट्रीय समृद्धि का आधार यदि किसी राष्ट्र के अधिक व्यक्ति समृद्ध हैं तो वह राष्ट्र भी समृद्ध होगा। अतः व्यक्तिगत समृद्धि तथा राष्ट्रीय समृद्धि वस्तुतः एक है।

धन प्रधान परिभाषाओं की आलोचना

जर्मन ऐतिहासिक परम्परा के अर्थशास्त्रियों (German Historical School) तथा रस्किन व कार्लाइल जैसे साहित्यिकों ने धन-सम्बन्धी परिभाषाओं के कारण अर्थशास्त्र की कटु आलोचना की। इन परिभाषाओं की निम्नलिखित आलोचनाएँ प्रमुख हैं

1 **धन पर जोर तथा मानव की उपेक्षा** प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने अपनी परिभाषाओं में मनुष्य की अपेक्षा धन को प्रमुखता दी और परिणाम यह हुआ कि उनकी धारणाओं की कटु आलोचना की गई। उनकी विचारधाराओं को अपूर्ण एवं संकुचित बताया गया। धन पर अधिक बल देने के कारण आर्थिक समृद्धि तो सम्भव हुई पर उसके परिणाम घातक हुए। अनैतिकता और असामाजिकता के तत्वों ने चारों ओर और आर्थिक जगत में उनका बोल-बाला हो गया। जनसाधारण को इससे हानि हुई। इन सब बातों के लिए उस समय समाज-सुधारकों ने अर्थशास्त्रियों को दोषी ठहराया। उनका कहना था कि इन्होंने भौतिकता के लिए नैतिकता की बलि चढ़ा दी। धन को साधन न मानकर साध्य (end) मान लिया। इसलिए कार्लाइल रस्किन तथा विलियम मौरिस जैसे विचारकों ने धन को प्रमुखता देने वाले अर्थशास्त्रियों की आलोचना की। कार्लाइल ने इसे कुबेर की पूजा का विज्ञान (Gospel of Mammon) बताया। रस्किन ने इसे अधम विज्ञान (Bastard Scienc) बताते हुए यह कहा कि धन की अपेक्षा मनुष्य का जीवन अधिक महत्वपूर्ण है। धन की आवश्यकता जीवित रहने के लिए है केवल धनी बनने के लिए नहीं। कुछ विचारकों ने इसे दुःखित विज्ञान (Dismal Scienc) और रोटी मक्खन का विज्ञान (Br ad nd Butt r Sc ence) कह कर आलोचना की।

2 **आर्थिक मनुष्य की कल्पना** इन अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक मनुष्य की कल्पना की जो सदैव निजी स्वार्थ से प्रेरित होकर काम करता है जिसमें केवल स्वहित की भावना होती है तथा जो सभी प्रयास धन की प्राप्ति के लिए करता है।

एडम स्मिथ ने एवं उनके आर्थिक मनुष्य की कल्पना की थी। ऐसी धारणा निर्मूल समझी गई। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है जो धन के अलावा मानव मूल्यों से भी प्रभावित होता है। यह सोचना गलत है कि मनुष्य केवल स्वार्थ से प्रेरित होकर काम करता है। जर्मनी के ऐतिहासिक विचारधारा के अर्थशास्त्रियों ने स्वार्थ प्रेरक शक्ति की धारणा का स्पष्ट रूप से खण्डन किया और कहा कि निजी स्वार्थ की पूर्ति से सामाजिक हित सम्भव नहीं है। इनके अनुसार व्यक्ति की अपेक्षा समाज महत्वपूर्ण है। अतः प्राचीन अर्थशास्त्रियों की धन सम्बन्धी मान्यता के

की स्थिति में रहना पड़ा। इसमें समाजवादी विचारधारा सामने आई। धन का विज्ञान न होकर अब अर्थशास्त्र मानव का विज्ञान माना जाने लगा। यह धारणा पुष्ट हो गई कि धन केवल मानव कल्याण के लिए है अपने आप में कोई ध्येय है। साथ ही यह भी समझा गया कि केवल धन की वृद्धि होना ही पर्याप्त नहीं है उसका उचित वितरण भी आवश्यक है। यदि धन का केन्द्रीयकरण हो गया तो कुछ ही लोगों को लाभ होगा अन्य व्यक्तियों का कल्याण धन की वृद्धि होने पर भी सम्भव नहीं हो सकेगा। अन्त रोशर (Poscher) ने धन के स्थान पर मनुष्य को केन्द्र माना।[1] इस विचारधारा में मार्शल, पीगू, पेंसन, बेवरिज आदि अर्थशास्त्रियों को सम्मिलित किया जाता है। इनके विचार में मानव कल्याण (Human welfare) अर्थशास्त्र का विषय है धन केवल मानव कल्याण के लिए है

कल्याण-सम्बन्धी परिभाषाओं में मार्शल (Marshall—1842–1924) का स्थान सर्वप्रथम है। मार्शल ही प्रथम अर्थशास्त्री थे जिन्होंने उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में अर्थशास्त्र को अपयश की स्थिति से निकाल कर सम्मान की स्थिति में प्रतिष्ठित किया। सन् 1890 में उन्होंने अपनी पुस्तक 'अर्थशास्त्र के सिद्धान्त (Principles of Economics) के माध्यम से अपने विचारों को प्रचारित किया और यह स्पष्ट घोषणा की कि अर्थशास्त्र का उद्देश्य मानव-कल्याण है न कि धन प्राप्त और संचय करना।

मार्शल प्रथम अर्थशास्त्री थे जिन्होंने अर्थशास्त्र के मानव पक्ष (Human aspect) पर जोर दिया तथा इसे मानव विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित किया। मार्शल ने अर्थशास्त्र की निम्नलिखित परिभाषा दी

'राजनैतिक अर्थशास्त्र अथवा अर्थशास्त्र साधारण जीवन व्यवसाय में मनुष्य की क्रियाओं का अध्ययन है। यह इस बात का पता लगाता है कि वह किस प्रकार आय प्राप्त करता है और किस प्रकार उसे व्यय करता है इस प्रकार एक ओर तो यह धन का अध्ययन है और दूसरी ओर जो कि अधिक महत्त्वपूर्ण है, यह मनुष्य के अध्ययन का एक भाग है। बाद में मार्शल ने अपनी संशोधित परिभाषा निम्नलिखित प्रकार दी

> अर्थशास्त्र मानव जीवन के साधारण व्यवसाय का अध्ययन है। इसमें व्यक्तिगत तथा सामाजिक क्रियाओं के उस भाग का अध्ययन किया जाता है जिसका भौतिक सुख के साधनों की प्राप्ति और उपयोग से घनिष्ठ सम्बन्ध है।[2]

---

1 The starting point and goal of our science is man

2 Economics is the study of mankind in the ordinary business of life it examines that part of individual and social action which is most closely connected with the attainment and with the use of material requisites of well being

मार्शल की विचारधारा के समर्थन में ऐसी ही अन्य परिभाषाएं भी सामने आईं। इन परिभाषाओं में से पीगू, कैनन, फेयरचाइल्ड और पेंसन की परिभाषाओं को लिया जा सकता है। ये परिभाषाएं कल्याणवादी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करने वाली कही जा सकती हैं। मार्शल की परिभाषा के मूल तत्वों को स्वीकार करते हुए पीगू (Pigou) ने भौतिक कल्याण के आर्थिक पक्ष को महत्त्व दिया और अर्थशास्त्र को इस प्रकार परिभाषित किया

"अर्थशास्त्र आर्थिक कल्याण का अध्ययन है। आर्थिक कल्याण का आशय सामाजिक कल्याण के उस पक्ष से है जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में मुद्रा के मापदण्ड से सम्बद्ध किया जा सकता है।"[1]

इसी प्रकार कैनन (Cannon) ने भी भौतिक कल्याण को प्रभावित करने वाले कारणों के स्पष्टीकरण का अध्ययन करना अर्थशास्त्र का विषय बनाया। कैनन के अनुसार अर्थशास्त्र की परिभाषा इस प्रकार है

"अर्थशास्त्र का उद्देश्य उन सामान्य कारणों का स्पष्टीकरण करना है जिन पर मनुष्य का भौतिक कल्याण आधारित है।"[2]

फेयर चाइल्ड ने मार्शल की अपनी परिभाषा को स्पष्ट करते हुए अर्थशास्त्र की यह परिभाषा दी

"अर्थशास्त्र मानवीय आवश्यकताओं तथा उनको सन्तुष्ट करने वाले उन साधनों का विज्ञान है जो आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने के लिए प्राप्त किए जाते हैं।"[3]

पेन्सन ने तो अर्थशास्त्र की अपनी परिभाषा को बहुत ही मूल रूप में अत्यधिक स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया है

"अर्थशास्त्र भौतिक कल्याण का विज्ञान है।"[4]

मार्शल की परिभाषा की व्याख्या

1 मनुष्य का अधिक महत्त्व मार्शल ने अर्थशास्त्र को मनुष्य तथा धन दोनों का अध्ययन बतलाया है परन्तु धन की अपेक्षा उसने मनुष्य को प्रधानता दी

1 Economics is a study of economic welfare economic welfare being *described as that part of welfare which can be brought directly or* indirectly into relation with the measuring rod of money

2 The aim of Political Economy is the explanation of the general causes on which the material welfare of human beings depends

3 Economics is the science of human wants and of the means by which men obtain the things that satisfy them

4 Economics is the science of material welfare

है। उसने कहा है कि अर्थशास्त्र एक सामाजिक विज्ञान है धन का विज्ञान नहीं और इसके अध्ययन का प्रमुख विषय मनुष्य है। अतः मानव प्रमुख है, धन गौण है। मार्शल ने इस धारणा को स्पष्ट करते हुए लिखा है "अर्थशास्त्र एक ओर तो धन का अध्ययन है तथा दूसरी ओर जो अधिक महत्वपूर्ण है मनुष्य के अध्ययन का एक भाग है।[1]

2 सामान्य मनुष्य की आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन मार्शल ने इस बात पर जोर दिया कि अर्थशास्त्र सामान्य मनुष्य की आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन करता है। ऐसा मनुष्य सामाजिक वास्तविक तथा साधारण प्राणी होता है। इस प्रकार एडम स्मिथ तथा उसके अनुयायियों द्वारा कल्पित 'आर्थिक मनुष्य' (Economic man) की मार्शल ने आलोचना की। उसने स्पष्ट शब्दों में कहा 'आधुनिक अर्थशास्त्री का सम्बन्ध वास्तविक और ऐसे मनुष्य के अध्ययन से है जो रक्त और मांस का बना है किसी अमूर्त और आर्थिक मनुष्य के अध्ययन से नहीं।[2] वास्तविक जगत में हम यह जानते हैं कि मनुष्य केवल निजी स्वार्थ से ही प्रभावित नहीं होता, नैतिकता और सामाजिक आचार विचार से भी प्रभावित होता है।

3 अर्थशास्त्र मानव जीवन के सामान्य व्यवसाय का अध्ययन है मार्शल के अनुसार धन अर्जित करने की विधि और उसका उपयोग अर्थशास्त्र का विषय है। सामान्य व्यवसाय का तात्पर्य मनुष्य की आर्थिक क्रियाओं से है। मनुष्य की सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक क्रियाओं की अपेक्षा आर्थिक क्रियाओं का ही अर्थशास्त्र में अध्ययन किया जाना चाहिए।

4 भौतिक कल्याण का अध्ययन अर्थशास्त्र में मानव कल्याण का अध्ययन किया जाता है। अर्थशास्त्र का उद्देश्य मानव कल्याण में वृद्धि करना है परन्तु अर्थशास्त्र में मानव कल्याण के सभी पहलुओं का नहीं बल्कि केवल आर्थिक या भौतिक पक्ष का ही अध्ययन किया जाता है। अर्थशास्त्र उन भौतिक साधनों की प्राप्ति तथा उपभोग का अध्ययन करता है जिनसे मानव कल्याण में वृद्धि होती है।

5 मुद्रा भौतिक कल्याण का मापक मार्शल ने मानव के भौतिक कल्याण के अध्ययन पर विशेष बल दिया गया है। पीगू इसे आर्थिक कल्याण का नाम देते हैं। यह भौतिक कल्याण मुद्रा के माध्यम से आंका जाता है। मार्शल और पीगू दोनों मुद्रा के माध्यम से आर्थिक क्रियाओं व भौतिक कल्याण को मापने के समर्थक हैं।

---

1 "Thus it is on the on[e] side a study of wealth and on the other and more important side a part of the study of man

2 The mod[er]n economist is con[c]erned wi[t]h man as h[e] is not wi[th] an abst[r]act or e[c]onomic man but a man of f[l]esh and blood."

—*Marsh*[all]

(i) कल्याण की माप सम्भव नहीं कल्याण की सही माप नहीं की जा सकती है। यह एक विषयगत (Subjective) तथा भावात्मक परिकल्पना (Concept) है। मुद्रा को भी कल्याण का प्रामाणिक माप नहीं माना जा सकता है क्योंकि मुद्रा की भी उपयोगिता अलग-अलग व्यक्तियों के लिए भिन्न होती है। दो व्यक्ति एक वस्तु को एक ही कीमत पर खरीदते हैं परन्तु वस्तु से प्राप्त सन्तुष्टि उन व्यक्तियों के लिए अलग अलग होती है।

(ii) आर्थिक कार्य का सम्बन्ध सदा मानव कल्याण से नहीं मार्शल के अनुसार अर्थशास्त्र का उद्देश्य मानव-कल्याण में वृद्धि करना है। परन्तु रॉबिन्स के अनुसार अर्थशास्त्र का सम्बन्ध मानव-कल्याण से नहीं है। ऐसी बहुत सी आर्थिक क्रियाएं हैं जिनसे मानव कल्याण में वृद्धि नहीं बल्कि कमी होती है। उदाहरण के लिए शराब पीने से मनुष्य के कल्याण में वृद्धि नहीं होती है बल्कि स्वास्थ्य की हानि की सम्भावना होती है। फिर भी शराब निर्माण उद्योग से सरकार को पर्याप्त मात्रा में आय प्राप्त होती है तथा लोगों को रोजगार मिलता है।

(iii) मानव-कल्याण अभौतिक तत्वों पर भी निर्भर मार्शल के अनुसार सन्तुष्टि की मात्रा मानव-कल्याण को निर्धारित करती है तथा मानव कल्याण भौतिक वस्तुओं के उपभोग पर निर्भर है। परन्तु क्या यह सही नहीं है मानव-कल्याण केवल भौतिक वस्तुओं पर ही निर्भर नहीं है बल्कि अभौतिक तत्वों जैसे मनुष्य की नैतिकता सन्तोष-वृत्ति सदाचारी जीवन शान्ति पर भी निर्भर है। भौतिक साधनों के अभाव में भी साहित्यकार कलाकार तथा धार्मिक-व्यक्ति काफी सन्तोष व सुख का अनुभव करते हैं।

(iv) कल्याण का विचार सार्वभौमिक (Universal) नहीं कल्याण देश तथा काल के अनुसार बदलता रहता है। ठण्डे देशों व ठण्डे मौसम में शराब कुछ व्यक्तियों के लिए थोड़ी मात्रा में कल्याणकारी हो सकती है परन्तु सामान्यतया शराब को अकल्याणकारी मानते हैं। अर्थशास्त्र को यदि एक विज्ञान मानना है तो इसके विचार भी सार्वभौमिक होने चाहिए। अतः अर्थशास्त्र को कल्याण के साथ जोड़ना उपयुक्त नहीं है।

(v) भौतिक कल्याण नीतिशास्त्र से सम्बन्धित भौतिक कल्याण पर अर्थशास्त्र में जोर देने का अभिप्राय यह होगा कि अर्थशास्त्री को यह भी राय देनी पड़ेगी कि मानव-कल्याण में वृद्धि के लिए क्या करना चाहिए? कौन-सा कार्य करना चाहिए? कौन से कार्य नहीं करने चाहिए? परन्तु रॉबिन्स के अनुसार इस प्रकार की राय देने का कार्य नीतिशास्त्र (Ethics) का है, अर्थशास्त्र का नहीं। रॉबिन्स के अनुसार अर्थशास्त्र एक वास्तविक विज्ञान है। इसका कार्य विश्लेषण करना है अच्छे बुरे के सम्बन्ध में राय देना नहीं।

मानव जीवन कम है समय सीमित है तथा प्रकृति अनुदार है। अतः आवश्यकताओं के बीच चुनाव करके उन्हें पूरा किया जाता है।[1]

2 सीमित साधन साधन सीमित होते हैं। असीमित आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने के लिए जिन साधनों को काम में लिया जा सकता है वे सीमित होते हैं। यदि साधन सीमित न होते तो शायद आवश्यकताएं भी असीमित न होतीं और इस प्रकार कोई आर्थिक समस्या भी उत्पन्न नहीं होती। साधनों के सीमित होने का अर्थ उनकी माँग की तुलना में पूर्ति का अभाव है। निरपेक्ष दुर्लभता के स्थान सापेक्ष दुर्लभता अर्थपूर्ण है।

3 साधनों के वैकल्पिक उपयोग साधनों की दुर्लभता और भी बढ़ जाती है क्योंकि उन्हें विभिन्न उपयोगों के लिए प्रयोग में लाने का प्रयास किया जाय। यहाँ साधनों को इस प्रकार काम में लेना पड़ता है जिससे अधिक से अधिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो और अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त हो सके। यदि एक साधन केवल एक ही उद्देश्य को पूरा करने के काम में आ सकता तो सम्भवतः आर्थिक समस्याओं का जन्म ही नहीं होता। साधनों का वैकल्पिक उपयोग समस्या उत्पन्न करता है और इसलिए निर्णय लेने और चुनाव करने का प्रश्न सामने आता है।

4 साध्यों के विभिन्न महत्त्व विभिन्न लक्ष्यों के महत्त्व में विभिन्नता पायी जाती है। असीमित आवश्यकताओं में से सभी आवश्यकताएं तीव्रता की दृष्टि से एक समान नहीं होती। कुछ आवश्यकताएं अधिक तीव्र होती हैं कुछ कम। अतः सबसे अधिक तीव्र आवश्यकता को सबसे पहले पूरा किया जाता है और इसी क्रम में दूसरी आवश्यकताओं को बाद में। आवश्यकताओं की तीव्रता के आधार पर साधनों के उपयोग करने का क्रम निश्चित किया जाता है और उनमें चुनाव किया जाता है। अतः चुनाव की समस्या आवश्यकताओं और साधनों दोनों पर लागू होती है—पहले आवश्यकता का चुनाव करना और फिर उसे किस साधन से पूरा करना उसका चुनाव करना।

रॉबिन्स की परिभाषा इस प्रकार चुनाव करने पर बल देती है। आर्थिक निर्णय और आर्थिक चुनाव के सम्बन्ध में मानवीय व्यवहार किस प्रकार का होगा, यह अर्थशास्त्र के अध्ययन का विषय है। आर्थिक समस्याओं के हल करने में मानव प्रयत्नशील रहता, आर्थिक समस्याएं रॉबिन्स के अनुसार ऊपर लिए गए चारों तत्वों के एक साथ मिलने से उत्पन्न होती। अतः आर्थिक समस्याओं का अध्ययन अर्थशास्त्र है।

---

1 We are sentient creatures with bundles of desires and aspirations but the time ... is limited ... e is short ---- nature is niggardly

राबिन्स की परिभाषा की विशेषताए

1 अर्थशास्त्र वास्तविक विज्ञान है राबिन्स की विचारधारा म कुछ बातें विशेष है। उनके विचार में **अर्थशास्त्र एक वास्तविक विज्ञान** (Positive Science) है न कि आदर्श विज्ञान। **अर्थशास्त्र उद्देश्यो के प्रति तटस्थ है**। अच्छे या बुरे के सम्बन्ध म राय देना अर्थशास्त्री का काय नही है। यह तो कारण और प्रभाव के आधार पर मानव व्यवहार का अध्ययन करता है। यहा मानव व्यवहार के विश्लेषण की बात आती है किस प्रकार के मानव व्यवहार का अध्ययन? राबिन्स का मत है कि अर्थशास्त्र मानव की उस निर्णय लेने की प्रवृत्ति का अध्ययन है जो दुलभ साधनो और विभिन्न असीमित लक्ष्यो से सम्बन्धित है। इन मानवीय प्रवृत्तियो को मुद्रा के माध्यम से मापा नही जा सकता। इसलिए कितनी सन्तुष्टि होगी और वह कल्याणकारी होगी या नही? इसके विषय म निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता।

2 अर्थशास्त्र का क्षेत्र व्यापक इनकी परिभाषा म सार्वभौमिकता का तत्त्व निहित है। यह देश काल और परिस्थिति की सीमाओ से ऊपर है। राबिन्स के अनुसार हमारा अर्थशास्त्र **'वस्तु विनिमय और 'मुद्रा विनिमय, वयक्तिक और सामाजिक मानव व्यवहार, पूजीवादी और समाजवादी समाज की सब परिस्थितियो मे लागू होता है।** [1]

3 एक विश्लेषणात्मक परिभाषा उनकी परिभाषा विश्लेषणात्मक (Analytical) है श्रेणी विभाजक (Classificatory) नहा है। उनके अनुसार अर्थशास्त्र म प्रयत्न क्रिया के चुनाव करने के पहलू का अध्ययन किया जाता है। राबिन्स ने अर्थशास्त्र को आर्थिक व अनार्थिक क्रिया तथा भौतिक व अभौतिक तत्वो के आधार पर विभाजन से मुक्त कर दिया।

4 सार्वभौमिक प्रयोग अर्थशास्त्र को वास्तविक विज्ञान मानने के कारण राबिन्स की परिभाषा सार्वभौमिक है जो पूजीवादी व समाजवादी सभी प्रकार की अर्थव्यवस्था पर लागू होती है।

राबिन्स की परिभाषा की आलोचना

1 अर्थशास्त्र का क्षेत्र व्यापक व सकीर्ण अर्थशास्त्रियो ने इस परिभाषा म भी दोष निकाले हैं और इस की आलोचना की है। **राबटसन** ने इस परिभाषा की यह कह कर आलोचना की है कि **यह अर्थशास्त्र के क्षेत्र को एक साथ अधिक व्यापक और अधिक सकीर्ण बना देती है।** राबिन्स के अनुसार समय भी एक सीमित

1 Our economics holds good under barter as well as under money exchange und r individual as well as under social human conduct under capital st as well as under socialist society

साधन है। अतः समय के सम्बन्ध में भी चुनाव की समस्या उत्पन्न होती है और इसका अर्थशास्त्र में अध्ययन किया जाना चाहिए चाहे इसका सम्बन्ध आर्थिक विषयों से हो या न हो। दूसरी ओर कुछ समस्याएँ अभाव के कारण उत्पन्न न होकर आधिक्य या बाहुल्य के कारण उत्पन्न होती हैं। अतः ऐसी समस्याएँ आर्थिक होने पर भी अर्थशास्त्र के क्षेत्र से बाहर रह जाती हैं। बेरोजगारी की समस्या जनसंख्या अधिक होने से उत्पन्न हो सकती है अथवा आर्थिक व्यवस्था के दोषों के कारण। पर चूँकि सीमित साधनों के चुनाव से इसका सम्बन्ध नहीं है अतः यह अर्थशास्त्र के क्षेत्र से परे रह जाती है। इसी प्रकार आर्थिक समस्याएँ अभाव के कारण ही नहीं प्रचुरता के कारण भी उत्पन्न होती हैं जैसे धनी देशों में विनियोग करने के अवसर की समस्या, पूर्ण रोजगार को बनाए रखने की समस्या आदि।

2 समाज के बिना मानव व्यवहार का कोई महत्त्व नहीं — रॉबिन्स ने अर्थशास्त्र के सामाजिक स्वभाव पर यथेष्ट बल नहीं दिया। इनके अनुसार समाज के बाहर रहने वाले मनुष्य की भी क्रिया का अध्ययन अर्थशास्त्र में किया जाएगा। 'सामाजिकता' के तत्त्व की उपेक्षा कर केवल 'मानवता' के तत्त्व को अर्थशास्त्र की परिभाषा में विशेष महत्त्व देना दोषपूर्ण है। समाज के सम्पर्क में ही मानवता या अमानवता का प्रश्न उत्पन्न होता है, जंगल में रहने वाले मनुष्य के लिए मानवता और अमानवता में कोई अन्तर नहीं। आर्थिक व्यवहार सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित होता है। उदाहरण के लिए समाज के विभिन्न वर्गों में दहेज की समस्या विभिन्न रूपों में है। अतः इसके सम्बन्ध में मानवीय व्यवहार आर्थिक दृष्टि से अप्रभावित नहीं रह सकता। रॉबिन्स के मत में तो संन्यासी और गृहस्थी दोनों एक जैसे ही मानव हैं उनका व्यवहार मानवीय व्यवहार है।

3 उद्देश्यों के बीच तटस्थता की बात भी थोथी लगती है — रॉबिन्स का कहना है कि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध केवल साधनों से है, उद्देश्यों का अध्ययन इसके क्षेत्र के बाहर है।[1] पर यहाँ प्रश्न यह है कि बिना उद्देश्यों के साधनों का महत्त्व ही क्या है? साधन तभी महत्त्वपूर्ण हैं जब वे उद्देश्यों की पूर्ति के लिए काम में आवें। अतः उद्देश्यों को अर्थशास्त्र के क्षेत्र से बाहर मानना उचित नहीं है। साथ ही उद्देश्यों के आर्थिक पक्ष को भी अलग करना कठिन है। एरिक रोल (Eric Role) के अनुसार इस प्रकार का विभाजन एक व्यक्ति के व्यक्तित्व को दो भागों में बाँट देता है। एक भाग अर्थशास्त्री का और दूसरा भाग सामाजिक प्राणी या नागरिक का। जब वह अन्त की बात करता है तो अर्थशास्त्री और साधन की बात करता है तो नागरिक होता है। पर ऐसा तो होता है जैसा कि एक आदमी एक समय समझदार हो और दूसरे समय पागल।

---

1 Economics deals with means, the study of ends lies outside its scope

उद्देश्यो के प्रति तटस्थता के आधार पर रॉबिन्स की परिभाषा की कटु आलोचना की गई है। बारबारा वूटन ने कहा है अर्थशास्त्रियो के लिए यह कठिन है कि वे अपने विश्लेषणात्मक अध्ययन से आदर्श के महत्त्व को पूर्ण रूप से पृथक कर दें। आधुनिक युग में आर्थिक नियोजन व लोक कल्याणकारी राज्य की समस्याओं के सम्बन्ध में अर्थशास्त्री को स्पष्ट रूप से राय देना आवश्यक है। उसे आर्थिक मामलों में मार्ग दर्शन करना पडता है यदि वह ऐसा नहीं करता है तो उसे अर्थशास्त्री नहीं माना जाएगा।

4 **रॉबिन्स ने अर्थशास्त्र को केवल वास्तविक विज्ञान की श्रेणी में रखा है, उसे आदर्श विज्ञान व कला नहीं माना है।** आर्थिक सिद्धान्तो की व्याख्या तो अर्थशास्त्र करता है पर उनका व्यवहार नहीं। फिर ऐसे अर्थशास्त्र का उपयोग ही क्या है? सिद्धान्त केवल सिद्धान्त के लिए हो व्यवहार के लिए नहीं तो फिर वे मानव व्यवहार से कम सम्बन्धित होंगे? **अत रॉबिन्स की परिभाषा में अस्पष्टता और विरोधाभास लगता है।**

5 **साधनों लक्ष्यों व वैकल्पिक प्रयोगों का अर्थ स्पष्ट नहीं** रॉबिन्स की परिभाषा में प्रयुक्त साधनों लक्ष्यों और वैकल्पिक प्रयोगों का ठीक प्रकार से स्पष्टीकरण नहीं है। कई बार लक्ष्य सीमित होते हैं और उन्हें पूरा करने के लिए साधन अनेक हो सकते हैं। कुछ आलोचकों का यह मत है कि लक्ष्य तो केवल एक ही है—अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करना। अधिकतम सन्तुष्टि के लिए अनेक साधन हो सकते हैं। इसी प्रकार दुर्लभता और वैकल्पिक प्रयोग भी एक साथ नहीं चलते। रॉबिन्स ने यह मान लिया है कि जहाँ दुर्लभता होगी वहाँ वैकल्पिक प्रयोग भी सम्भव होगा जहाँ वैकल्पिक प्रयोग सम्भव होगा वहाँ दुर्लभता भी होगी। ऐसी स्थिति में साधनों का वर्गीकरण करना पडेगा जिससे अर्थशास्त्र का विषय और भी जटिल बन जाएगा।

6 **रॉबिन्स की परिभाषा स्थैतिक (Static) है** रॉबिन्स साध्यों को स्थिर हुआ मानकर चलते हैं। साध्यों व साधनों में चुनाव कर मेल बैठाया जाता है। परन्तु व्यवहार में परिस्थितियों में परिवर्तन के कारण साध्य भी बदलते रहते हैं और साधन भी। अत रॉबिन्स ने साधनों व साध्यों की परिवर्तनशीलता की उपेक्षा की है। इस प्रकार उनकी परिभाषा गत्यात्मक (Dynamic) नहीं है।

7 **निर्णय केवल तर्क पर आधारित नहीं** रॉबिन्स ने अर्थशास्त्र के अध्ययन का आधार भावात्मक तर्क (Abstract reasoning) माना है। प्रत्येक मनुष्य तर्क के आधार पर अपनी समस्याओं को पूरा करने के लिए निर्णय लेगा। ऐसी स्थिति में मानव व्यवहार विवेकशील और तर्कपूर्ण होगा। पर व्यवहार में विवेक और तर्क के स्थान पर भावनाओं का बड़ा अधिक स्थान होता है और कुछ परिस्थितियाँ

नियमा म सावभौमिकता का तत्त्व नही होता है। देश-काल के अनुसार इन नियमा म परिवनन होन रहते हैं। इन नियमा को मामाजिक मान्यताएँ या प्रथाएँ व रीति-रिवाज कहना अधिक उपयुक्त है।

3 सस्थागत नियम (Institutional Laws) य नियम किसी सस्था के सगठन तथा उसके सचालन के लिए सामान्यतया उसके सदस्यो द्वारा बनाए जाते हैं। य नियम सस्था के विधिवत सचालन म सहायक होत हैं। विभिन्न खेला के नियमा को भी सस्थागत नियमा की श्रेणी म रखा जाता है। य नियम काय विधि (Procedure) से सम्बन्धित हाते हैं। सस्था के सदस्या के लिए ये नियम भी आदेशमूलक हात हैं।

4 नतिक नियम (Moral Laws) य नियम आदेशमूलक तथा निर्देशात्मक हाते हैं। इनका सम्बन्ध व्यक्ति व समाज के आचार व व्यवहार से होना है। इन नियमो का सम्बन्ध नीतिशास्त्र व धम स भी होता है। इनका उद्देश्य व्यक्ति के आचरण का शुद्ध रखना होता है। इनका पालन व्यक्ति की इच्छा पर है। परन्तु इनका पालन न करन स मनुष्य का नतिक पतन होना है। इनका पालन सामाजिक भय या अन्तरात्मा (Consience) की आवाज क कारण किया जाता है।

5 प्राकृतिक या वैज्ञानिक नियम (Natural or Scientific Laws) य नियम तथ्या पर आधारित सामान्य कथन होत हैं जा कारण व परिणाम क बीच सबध स्थापित करत हैं। इन नियमा का निमाण तथ्या के वैज्ञानिक सग्रह, वर्गीकरण तथा विश्लेषण के आधार पर किया जाता है। इन नियमा का निर्माण परीक्षण पर आधारित होता है तथा सामान्यतया ये नियम सावभौमिक होते हैं। य नियम निश्चित व सत्य होन हैं। भौतिक विज्ञान रसायन विज्ञान तथा जीव विज्ञान आदि के नियम इस श्रेणी म आत हैं जसे गुरुत्वाकर्षण का नियम यह बतलाता है कि यदि किसी वस्तु को ऊपर फेंका जाए ता वह पृथ्वी पर गिरेगी।

आर्थिक नियम वज्ञानिक नियमा की श्रेणी म रख जात हैं। आर्थिक नियम मानव व्यवहार स सम्बन्धित होत हैं तथा परिवतनशील भी हात हैं। व प्राकृतिक विज्ञान के नियमो की भाति सावभौमिक नही हात ह परन्तु फिर भी अन्य सामाजिक विज्ञाना क नियमा की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय तथा सही हान है।

आर्थिक नियमो की परिभाषा
(Definition of Economic Laws)

आर्थिक नियम वज्ञानिक नियमो की तरह आर्थिक घटनाओ क कारण व परिणाम के सम्बन्ध को बतलात है। ये नियम आर्थिक घटनाओ के कारण तथा परिणाम के बीच सम्बन्धों की व्याख्या करते हैं। जैसे माग का नियम एक

आर्थिक नियम है। यह बतलाता है कि 'अन्य बातों के समान रहने पर यदि किसी वस्तु की कीमत घटती है तो उसकी मांग बढ़ जाएगी या कीमत बढ़ने पर उस वस्तु की माग घट जाएगी। वस्तु की कीमत म वृद्धि या कमी एक कारण है तथा मांग का घटना या बढ़ना इस कारण का परिणाम है। आर्थिक नियमो का सम्बन्ध मानव व्यवहार स होता है जो परिवर्तनशील है। मानव-व्यवहार म इस परिवर्तनशीलता के कारण आर्थिक नियम भी परिवर्तनशील होते हैं। अत प्रत्येक आर्थिक नियम के साथ यदि अन्य बात समान रह। (Other things remaining the same) शब्द जुड़ होते हैं जिसका अर्थ यह है कि अन्य बातो के समान रहने पर अथवा अमुक बातो कारणो या दशाओ के रहने पर अमुक परिणाम होंगे। आर्थिक नियमो का निर्माण वैज्ञानिक रीति से सग्रह किए गए तथ्यो के वर्गीकरण विश्लेषण तथा परीक्षण द्वारा किया जाता है। इस प्रकार जो सामान्य नतीजे निकाल जात हैं उन्हें आर्थिक नियम कहते है।

मार्शल ने आर्थिक नियमो की परिभाषा इस प्रकार दी है

आर्थिक नियम या आर्थिक प्रवत्तिया के कथन व सामाजिक नियम हैं जिनका सम्बन्ध (मानवीय) आचरण की उन शाखाओ स है जिनम मुख्यत सम्बन्धित मनोवृत्तियों का शक्ति की माप मुद्रा मूल्य की जाती है।[1]

मार्शल द्वारा आर्थिक नियमो की दी गयी परिभाषा म आर्थिक प्रवृत्तिया पर विशेष बल दिया गया है। इसके विपरीत राबिन्स ने मानव व्यवहार म चुनाव की प्रवत्ति का उल्लेख किया है। राबिन्स के अनुसार आर्थिक नियम मानव-व्यवहार की एकरूपता से सम्बन्धित कथन है जिन पर सीमित साधनो द्वारा असीमित आवश्यकताओ को पूरा करने स सम्बन्धित मानव-व्यवहार निर्भर होता है।[2]

आर्थिक नियमो की मार्शल द्वारा दी गई उपर्युक्त परिभाषा से किसी भी आर्थिक नियम के तीन लक्षण प्रकट होते हैं

(i) आर्थिक नियम सामाजिक नियम हैं

(ii) वे मानव प्रवृत्तियों पर आधारित होते हैं तथा

(iii) उनका सम्बन्ध उन्हीं प्रवत्तियो से है जिनके उद्देश्यों को द्रव्य रूपी माप-दण्ड स मापा जाता है।

---

1 Economic laws statements of econom c are tendencies are those social laws relating to branches of conduct in which the s rength of the motives chiefly concerned can be measured by a money price

—Marshall

2 Econom c laws a e s a men s o unifo mit es about human behaviour concerning the d sposal of scarce means with alternative uses for the achievement of ends that are unlimited

—Robbins

आधुनिक अर्थशास्त्री मार्शल द्वारा दी गयी इस परिभाषा को सर्वांग एवं अपूर्ण मानते हैं। रॉबिन्स ने ऐतिहासिक सापेक्षिक मान्यताओं (Historic relative assumptions) को ध्यान में रखकर आर्थिक प्रयोग करने तथा उनके आधार पर आर्थिक नियमों का विश्लेषण करने पर बल दिया है। यही कारण है कि आधुनिक अर्थशास्त्र में आर्थिक नियमों के स्थान पर आर्थिक परिकल्पनाओं (Hypotheses) एवं सिद्धान्तों (Theories) का अधिक प्रयोग किया जाने लगा है।

आर्थिक नियमों की प्रकृति या विशेषताएँ
(Nature or Characteristics of Economic Laws)

यद्यपि आर्थिक नियम भी वैज्ञानिक नियमों की भाँति किसी घटना के कारण व परिणाम के पारस्परिक सम्बन्ध की व्याख्या करते हैं फिर भी सामाजिक नियम होने के कारण उनमें वैज्ञानिक नियमों से कुछ भिन्नता पाई जाती है। आर्थिक नियमों की कुछ विशेषताएं हैं जो निम्नलिखित हैं

1. आर्थिक नियम आर्थिक प्रवृत्तियों के कथन मात्र होते हैं (Economic Laws are mere statements of Economic tendencies) आर्थिक नियम आर्थिक प्रवृत्तियों के परिचायक हैं। वे बतलाते हैं कि परिस्थिति विशेष में मानव या मानव-समूह की व्यवहार की प्रवृत्ति क्या होगी? ये नियम किसी परिणाम के निश्चित रूप से घटित होने का दावा नहीं करते हैं। आर्थिक नियमों के पूर्ण घटित न होने का कारण मानव-व्यवहार है जो परिवर्तनशील है। हेराल्ड डेविस ने ठीक ही कहा है आर्थिक समस्याओं का एक मानवीय पक्ष भी होता है जिसके कारण अर्थशास्त्र के नियमों को अधिक निश्चितता के साथ प्रकट करना सम्भव नहीं होता है। आर्थिक अध्ययन में यह परिवर्तन मनुष्यों के परिवर्तनशील मनोविज्ञान के कारण उत्पन्न होता है।[1]

2 आर्थिक नियम कम निश्चित होते हैं आर्थिक नियम प्राकृतिक विज्ञानों के नियमों की अपेक्षा कम निश्चित होते हैं क्योंकि वे किसी परिणाम के निश्चय या अनिवार्य रूप से घटित होने के सम्बन्ध में दावा नहीं करते हैं बल्कि उसकी सम्भावना को ही प्रकट करते हैं।

उदाहरणस्वरूप रसायन शास्त्र का यह सिद्धान्त कि यदि दो हिस्सा हाइड्रोजन तथा एक हिस्सा आक्सीजन मिलाया जाय तो एक निश्चित दबाव और तापमान पर उनका मिश्रण पानी बन जायगा यदि मिश्रण में हाइड्रोजन तथा आक्सीजन की मात्राएँ दुगुनी कर दी जायँ तो पानी की मात्रा भी दुगुनी हो जायगी। यह

---

1 There exists a human side to the problem which makes it difficult to state precisely the laws of economics The erratic element in economic studies finds its origin in the erratic psychology of human beings "
-H. D.

परिणाम प्रत्येक स्थान पर तथा सभी समयों में निश्चित रूप से निश्चित एवं सही होगा।

इसके विपरीत अर्थशास्त्र के नियमों के अन्तर्गत इस प्रकार की निश्चितता नहीं पाई जाती है। अर्थशास्त्र के माँग के नियम के सम्बन्ध में यदि यह कहा जाय कि किसी वस्तु के मूल्य में वृद्धि मान लीजिए मूल्य दुगुने होने पर माँग कम होकर आधी रह जायगी यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। आर्थिक नियम तो केवल यह बताता है कि मूल्य में वृद्धि या कमी के कारण माँग में कमी या वृद्धि होगी। यदि यह मानव प्रवृत्ति एवं व्यवहार को प्रकट करता है। वह अधिक से अधिक मूल्य-परिवर्तन के कारण माँग में परिवर्तन की दिशा बता सकता है परन्तु निश्चित रूप से यह दावा नहीं कर सकता कि मूल्य में दुगुनी वृद्धि होने से माँग आधी रह जायगी या मूल्य में आधी कमी के परिणामस्वरूप माँग में दुगुनी वृद्धि हो जायगी। ऐसा दावा किया भी जाय तो पूर्णतः सही नहीं होगा। इस आधार पर ही यह कहा जाता है कि आर्थिक नियम गुणात्मक होते हैं न कि परिमाणात्मक। वे अपेक्षित परिवर्तन की किस्म एवं दिशा को बताते हैं न कि परिवर्तन की मात्रा को।[1]

3 आर्थिक नियम काल्पनिक (Hypothetical) होते हैं आर्थिक नियम कुछ निश्चित दशाओं में ही ठीक उतरते हैं जबकि अन्य बातें यथास्थिर रहें। इसका अर्थ यह है कि प्राकृतिक विज्ञानों के नियमों की भाँति आर्थिक नियमों को ठीक उतरने के लिए कुछ मान्यताओं एवं दशाओं का होना आवश्यक है। परन्तु आर्थिक नियमों के सम्बन्ध में इनमें निहित दशाओं (Conditions) का स्पष्ट करना कठिन होता है क्योंकि व्यावहारिक जीवन में परिवर्तनशील मानवीय प्रवृत्तियाँ समान नहीं रहती हैं। मानवीय प्रवृत्तियाँ देश तथा काल के अनुसार बदलती रहती हैं जिस कारण उनमें सम्बन्धित अनुमान या सिद्धान्त कभी भी सुनिश्चित एवं स्पष्ट रूप में ज्ञात योग्य नहीं हो सकते। अन्य बातें समान रहना एक काल्पनिक धारणा है। इसलिए सेलिगमन ने इस वाक्यांश के जुड़े रहने के कारण आर्थिक नियमों को काल्पनिक माना है।[2]

यदि प्राकृतिक विज्ञान के नियमों की प्रकृति से आर्थिक नियमों की प्रकृति की तुलना की जाय तो यह ज्ञात होता है कि प्राकृतिक विज्ञान के नियमों में भी

1 "They (Economic Laws) are qualitative rather than quantitative; they tell the kind or direction of change that is expected rather than the amount of change."
—*Waugh*

2 "Economic laws are essentially hypothetical."
—*Seligman*

अनिश्चितता, अपूर्णता तथा कल्पना का तत्व पाया जाता है।[1] वास्तव में वैज्ञानिक नियम भी अन्य बातों में यथावत रहने की मान्यता अर्थात् कुछ मान्यताओं एवं अनुमानों पर आधारित होते हैं। उदाहरणार्थ गुरुत्वाकर्षण का नियम (Law of Gravitation) पृथ्वी की आकर्षण शक्ति का उल्लेख करता है। इस नियम के अनुसार, किसी वस्तु को ऊपर उछालने पर इसे नीचे गिरना चाहिए। परन्तु ऐसा हमेशा नहीं होता। यदि किसी गुब्बारे में हाइड्रोजन गैस भर दी जाय तो वह नीचे आने के स्थान पर ऊपर ही उठता जायगा। पृथ्वी की आकर्षण शक्ति की परिधि या सीमा के बाहर चले जाने पर कोई भी वस्तु पृथ्वी पर नहीं गिरेगी। इसमें यह स्पष्ट है कि वैज्ञानिक नियमों की सत्यता भी कुछ निश्चित परिस्थितियों में ही प्रमाणित की जा सकती है। अतः वैज्ञानिक नियमों को भी काल्पनिक कहा जा सकता है। परन्तु इस दृष्टिकोण में दोनों विज्ञानों—प्राकृतिक तथा अर्थशास्त्र—के नियमों में केवल इतना ही अन्तर है कि वैज्ञानिक नियम उतने काल्पनिक नहीं होते जितने कि आर्थिक नियम। इसका प्रमुख कारण यह है कि अर्थशास्त्र के अन्तर्गत अध्ययन का विषय मनुष्य है तथा उसकी विषय सामग्री मानवीय आचरण एवं मानवीय प्रवृत्तियाँ हैं जो परिवर्तनशील हैं।

आर्थिक नियम सापेक्षिक (Relative) होते हैं आर्थिक नियम देश व समय में सम्बन्धित होते हैं। इस आधार पर आर्थिक नियमों को दो वर्गों में रखा गया है। एक वर्ग ऐसे आर्थिक नियमों का है जिनमें सार्वभौमिक (Universal) नियम आते हैं। ये नियम सभी देशों, सभी समयों तथा सभी परिस्थितियों में लगभग सही उतरते हैं जैसे उपभोग, माँग व पूर्ति इत्यादि के नियम।

दूसरा वर्ग उन आर्थिक नियमों का है जो स्थानों, परिस्थितियों एवं समयों में परिवर्तन होने से परिवर्तित हो जाते हैं। ऐसे नियम सार्वभौमिक नहीं होते। ऐसे नियम परिस्थिति या ऐतिहासिक सापेक्षिक (Historic relative) या संस्थागत नियम होते हैं। बैंकिंग, करों तथा व्यापार से सम्बन्ध रखने वाले सभी आर्थिक नियम इसी वर्ग में आते हैं क्योंकि ये विभिन्न स्थानों पर विभिन्न समयों में प्रचलित आर्थिक संगठन तथा व्यापार एवं उद्योग की भिन्न भिन्न पद्धतियों पर आधारित होते हैं। अतः ये समय, स्थान तथा संस्थाओं के आधार पर सापेक्षिक माने जाते हैं। इन नियमों का प्रतिपादन 'अनुभव रीति' (Inductive Method) द्वारा किया जाता है। अधिकांश आर्थिक नियम इसी वर्ग में आते हैं।

---

1 They (Economic Laws) are hypothetical only in the same sense as are the laws of physical sciences for these laws also contain or imply conditions But there is more difficulty in making the conditions clear and more danger in any failure to do so in economics than in physics

—*Marshall*

अर्थशास्त्र के सभी नियम सापेक्षिक नहीं होते हैं। कुछ ऐसे भी आर्थिक नियम हैं जो सार्वभौमिक होते हैं तथा समाज की प्रत्येक दशा में लागू होते हैं। माँग व पूर्ति के नियम, श्रम का नियम, क्रमागत उपयोगिता ह्रास नियम तथा उत्पत्ति ह्रास नियम आदि इसी श्रेणी में आते हैं। अर्थशास्त्र के कुछ नियम व्यापक रूप से लागू होते हैं तथा सार्वभौमिक होते हैं। नाइट के अनुसार, अर्थशास्त्र के नियम स्वयं संस्थात्मक नहीं होते हैं। वे समाजवादी अर्थव्यवस्था में भी उतने ही ठीक उतरेंगे जितने कि आज की पूँजीवादी व्यवस्था में।[1]

आर्थिक नियमों की अपूर्णता के कारण
(Why Economic Laws are Less Exact ?)

जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है आर्थिक नियम प्राकृतिक विज्ञानों की तुलना में पूर्णतः निश्चित एवं सही नहीं होते। इसके निम्नलिखित कारण हैं

(i) अर्थशास्त्र में परिवर्तनशील मानवीय प्रवृत्तियों का अध्ययन अर्थशास्त्र के अध्ययन का विषय मनुष्य है और प्राकृतिक विज्ञानों के अध्ययन की सामग्री पदार्थ (Matter) है। मनुष्य एक चेतन, स्वतन्त्र, तर्कयुक्त एवं बुद्धिशील प्राणी है। अतः मानवीय भावनाएं और मानवीय प्रवृत्तियाँ सभी स्थानों पर तथा सभी समयों में एक सी नहीं रहतीं। इसके विपरीत प्राकृतिक विज्ञानों में अध्ययन किये जाने वाले प्राकृतिक पदार्थ अपरिवर्तनशील, जड, निर्जीव और अचेतन होते हैं। इनका प्रयोग, परीक्षण एवं विश्लेषण करना सरल होता है। इन पर समय और स्थान की विभिन्नता का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। अतः प्राकृतिक पदार्थों से सम्बन्धित नियम प्रामाणिक एवं सत्य उतरते हैं।

(ii) मानवीय प्रवृत्तियाँ अनार्थिक कारणों से भी प्रभावित होती हैं विषय-सामग्री में अन्तर होने के कारण आर्थिक नियमों तथा प्राकृतिक विज्ञानों के नियमों में भिन्नता होना स्वाभाविक है। आर्थिक नियमों का सम्बन्ध मनुष्य के उन व्यवहारों के आर्थिक पक्ष से है जो समय-समय पर और स्थान-स्थान पर अन्य गैर-आर्थिक तत्त्व धार्मिक, सामाजिक तथा राजनैतिक भावनाओं से भी प्रभावित होते रहते हैं। धार्मिक, सामाजिक तथा राजनैतिक कारणों से बहुत से आर्थिक नियम व्यवहार में लागू नहीं हो पाते हैं। अतः ये नियम पूर्ण एवं निश्चित नहीं होते हैं।

(iii) आर्थिक नियमों का परीक्षण प्रयोगशालाओं में सम्भव नहीं है प्राकृतिक विज्ञानों के नियमों की सत्यता की जाँच प्रयोगशालाओं में प्रयोग तथा परीक्षण करके की जा सकती है तथा सार्वभौमिक सत्य का प्रतिपादन किया जा

[1] "The Laws of Economics however are not themselves institutional. They will be as valid in a socialist economy as they are in the capitalist society today." Knight The Ethics of Competition

सकता है। परन्तु आर्थिक नियमों की सत्यता की जाँच के लिए मानवीय क्रियाओं पर प्रयोग करना कठिन है न ही उनके परीक्षण के लिए प्रयोगशाला ही है। समस्त मानव-समाज की आर्थिक क्रियायें प्रयोग की सामग्री हैं। अतः उनकी सत्यता प्रमाणित करना एक कठिन कार्य है। यही कारण है कि आर्थिक नियम पूर्णतः प्रामाणिक तथा सत्य नहीं होते।

(iv) **अर्थशास्त्र में मानव प्रवृत्तियों का मापदण्ड प्रामाणिक नहीं है** अर्थशास्त्र में मानव प्रवृत्तियों की माप मुद्रा द्वारा की जाती है। मुद्रा को मापदण्ड के रूप में प्रयोग करने के कारण ही मनुष्य की आर्थिक प्रवृत्तियों की सही माप नहीं की जा सकती। उदाहरणार्थ किसी भी व्यक्ति की आवश्यकता की तीव्रता मुद्रा के द्वारा ठीक प्रकार से मापी नहीं जा सकती क्योंकि एक धनी व्यक्ति की तुलना में एक निर्धन व्यक्ति के लिए सीमित मुद्रा की उपयोगिता अधिक होती है। अतः जब अर्थशास्त्र का मापदण्ड स्वयं अनिश्चित व अस्थिर हो अर्थात् जब द्रव्य का मूल्य स्वयं घटता-बढ़ता हो तो उसके द्वारा आर्थिक क्रियाओं का माप करके निकाले गये निष्कर्ष या अनुमान भी निश्चित सार्वभौमिक तथा पूर्ण नहीं हो सकते।

(v) **अन्य तत्वों का प्रभाव** मानव-व्यवहार केवल सामान्य प्रवृत्तियों से ही प्रभावित नहीं होता है। कुछ मनोवैज्ञानिक तत्व आर्थिक क्रियाओं को बहुत-कुछ प्रभावित करते हैं। ये तत्व हैं—भविष्य के प्रति आशा या निराशा की भावनाएं। आशा व निराशा के विषय में कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता है और न ही उन्हें मापा जा सकता है। मन्दी (Depression) के समय अर्थशास्त्री परिस्थितियों को ध्यान में रखकर सोचता है कि आर्थिक भविष्य ठीक नहीं है। परन्तु किसी कारणवश यदि व्यापारी वर्ग में आशा का संचार हो जाता है तो मन्दी समाप्त होने लगती है। अर्थशास्त्र में ऐसे अनिश्चित तत्वों की जानकारी और माप के लिए कोई मापक नहीं है। अतः इन तत्वों की जानकारी के न होने के कारण आर्थिक नियम सत्य नहीं सिद्ध होते। मूर ने कहा है "अर्थशास्त्र में कोई ऐसा सुविधाजनक मापदण्ड नहीं है जिससे व्यावसायिक कार्यों के प्रवाह को नापा जा सके, क्योंकि व्यावसायिक कार्य भय एवं हास्यास्पद आशावाद के झोकों से भी प्रभावित होते हैं जिनके विषय में भूकम्प की ही भांति भविष्यवाणी नहीं की जा सकती।[1]

वास्तव में अब तक आर्थिक घटनाओं को प्रभावित करने वाले सभी तत्व ज्ञात नहीं हो पाए हैं। इन अज्ञात तत्वों की जानकारी के बिना की गई भविष्य वाणियां भी गलत सिद्ध हो जाती हैं।

---

1 In Economics There is no convenient yard stick to measure the currents in business affairs for these are subject to gusts of fear or perhaps of fantastic optimism as unpredictable as earthquakes

—*Moore & Others "Modern Economics"*

अर्थशास्त्र के नियमों के प्राकृतिक या भौतिक विज्ञानों के नियमों की अपेक्षा कम निश्चित होने के कारण ही मार्शल का यह मत है कि **आर्थिक नियमों की तुलना गुरुत्वाकर्षण के सरल तथा निश्चित नियम से न करके ज्वार भाटों के नियमों से करनी चाहिए।**[1]

आर्थिक नियमों की तुलना ज्वार भाटा के नियमों से करने पर उनकी प्रकृति का वास्तविक स्वरूप ज्ञात हो जाता है। जिस प्रकार ज्वार भाटे के सम्बन्ध में कोई पूर्वानुमान परिस्थितियों तथा अन्य बातों के समान रहने पर ही सही उतरते हैं और प्रतिकूल परिस्थितियों के होने पर उनके सही होने की सम्भावना नहीं रहती उसी प्रकार आर्थिक नियमों के पूर्वानुमान सामान्य परिस्थितियों में अन्य बातों के यथास्थिर रहने पर ही सही उतरते हैं। मनुष्य के स्वभाव की स्वतन्त्रता के कारण मानव-समाज की आर्थिक घटनाओं और परिस्थितियों में आकस्मिक परिवर्तन होने की सम्भावनायें रहती हैं। **अत आर्थिक नियम आर्थिक व्यवहारों के सम्बन्ध में केवल अनुमान या सम्भावनाएं ही व्यक्त कर सकते हैं।** गुरुत्वाकर्षण नियम के सीधे और निश्चित सिद्धान्त की तरह इसमें किए गए पूर्वानुमान प्रत्येक स्थान पर प्रत्येक समय ठीक नहीं होंगे। अत आर्थिक नियमों की क्रियाशीलता के सम्बन्ध में निश्चित रूप से पहले से कुछ कहना ठीक नहीं है। इन नियमों में **'सम्भावना का तत्व'** अधिक है और वह भी उस स्थिति में जबकि अन्य परिस्थितियां समान रहें (Other things remaining the same)। अत मार्शल का यह मत महत्वपूर्ण है कि आर्थिक नियमों की तुलना ज्वार भाटे के नियमों से करना उचित है न कि सरल और निश्चित गुरुत्वाकर्षण के नियम से।

आर्थिक नियमों की प्राकृतिक नियमों से तुलना
(Comparison of Economic Laws with Natural Laws)

आर्थिक नियमों की विशेषताओं तथा उनकी अपूर्णता के कारणों के अध्ययन के बाद आर्थिक नियमों की प्रकृति को समझने के लिए उनकी तुलना प्राकृतिक नियमों से करना उचित होगा। आर्थिक नियमों तथा प्राकृतिक नियमों में निम्न लिखित समानताएं पाई जाती हैं

समानताएं (Similarities)

(1) आर्थिक तथा प्राकृतिक दोनों प्रकार के नियम वैज्ञानिक नियमों की श्रेणी में आते हैं। दोनों प्रकार के नियमों के निर्माण के लिए वैज्ञानिक रीति का पालन किया जाता है तथा ये नियम कारण व परिणाम के बीच सम्बन्धों की व्याख्या करते हैं।

---

1 The Laws of Economics are to be compa ed with the laws of t des ra her than w th the simple and exact law of gra itation

—*Marshall*

(ii) दोनों प्रकार के नियमों के साथ कुछ शर्तें लगी रहती हैं तथा इन शर्तों के पूरा होने पर ही ये नियम लागू होते हैं। इस प्रकार कुछ अंशों में दोनों प्रकार के नियम काल्पनिक होते हैं।

आर्थिक व प्राकृतिक नियमों में अन्तर

(i) आर्थिक नियम प्राकृतिक नियमों की भांति सार्वभौमिक (Universal) नहीं प्राकृतिक नियम सामान्यतया प्रत्येक दशा में लागू होते हैं। उन पर देश काल व परिस्थितियों का प्रभाव नहीं पड़ता है। गुरुत्वाकर्षण का नियम हर प्रकार की परिस्थिति में तथा कहीं भी लागू होगा। आर्थिक नियम देश, काल व परिस्थिति से बहुत अधिक प्रभावित होते हैं। उनके अपवाद भी बहुत होते हैं। रोजगार के जो सिद्धान्त विकसित देशों पर लागू होते हैं वे विकासशील देशों पर पूरे लागू नहीं होते हैं।

(ii) आर्थिक नियम प्राकृतिक नियमों की भांति पूर्ण तथा निश्चित नहीं होते हैं प्राकृतिक नियम पूर्ण निश्चित होते हैं तथा उनके परिणाम ठीक होते हैं। इन नियमों में गणित की भांति सत्यता होती है। अर्थशास्त्र के नियम कम निश्चित होते हैं अतः उनके आधार पर भविष्यवाणी नहीं की जा सकती है। इन नियमों में गणित की सत्यता नहीं होती है।

(iii) प्राकृतिक नियमों की भांति आर्थिक नियमों की जांच प्रयोगशाला में नहीं की जा सकती है प्राकृतिक नियम जड़ पदार्थों से सम्बन्धित होते हैं, जिनकी जांच पड़ताल प्रयोगशाला में लाकर की जाती है। इन नियमों की सत्यता की जांच प्रयोगशाला में की जा सकती है। आर्थिक नियम मानव व्यवहार से सम्बन्धित होते हैं जो परिवर्तनशील हैं तथा इसकी जांच प्रयोगशाला में नहीं की जा सकती है।

(iv) मापदंड की समस्या प्राकृतिक विज्ञानों में प्रयोग के लिए आवश्यक तथा विश्वसनीय मापदंड हैं जैसे तराजू, विभिन्न प्रकार के उपकरण आदि। आर्थिक प्रयोगों के लिए विश्वसनीय मापदंड नहीं होता है। अर्थशास्त्री मुद्रा का प्रयोग मापदण्ड के रूप में करते हैं परन्तु मुद्रा विश्वसनीय मापदंड नहीं है। मुद्रा का मूल्य वास्तव में एक धनी व्यक्ति के लिए कम तथा निर्धन व्यक्ति के लिए अधिक होता है। मुद्रा का मूल्य भी निरंतर बदलता रहता है। अतः यह एक निश्चित तथा विश्वसनीय मापदण्ड नहीं है। इतना अवश्य है कि अन्य सामाजिक विज्ञानों के नियमों की तुलना में आर्थिक नियम अधिक सत्य व अपेक्षाकृत निश्चित होते हैं क्योंकि अर्थशास्त्र के पास मुद्रा रूपी मापदंड है जबकि अन्य सामाजिक विज्ञानों के पास ऐसा मापदंड नहीं है।

निष्कर्ष

आर्थिक नियमों की प्रकृति एवं विशेषताओं के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि ये नियम आर्थिक प्रवृत्तियों के द्योतक तो अवश्य हैं परन्तु प्राकृतिक विज्ञानों के नियमों की तुलना में इनमें काल्पनिकता अधिक है। इसका प्रमुख कारण यह है कि

मानवीय प्रवत्तियां केवल आर्थिक कारणों से ही नहीं बल्कि सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक कारणों से भी प्रभावित होती हैं। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि अर्थशास्त्र के नियम वैज्ञानिक नहीं होते। हाँ, वे भौतिक विज्ञानों के नियमों की तुलना में कम निश्चित होते हैं।

यदि अन्य सामाजिक विज्ञानों के नियमों की तुलना अर्थशास्त्र के नियमों से की जाय तो यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आर्थिक नियम अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण निश्चित और सही होते हैं। इसका एकमात्र कारण यह है कि अर्थशास्त्र में मनुष्य की आर्थिक क्रियाओं का द्रव्य रूपी मापदण्ड है जबकि अन्य सामाजिक शास्त्रों में कोई ऐसा मापदण्ड नहीं है। इस सम्बन्ध में मार्शल का यह कथन उल्लेखनीय है 'जिस प्रकार रसायनशास्त्री की शुद्ध तराजू ने रसायनशास्त्र को अन्य भौतिक विज्ञानों की अपेक्षा अधिक पूर्ण एवं शुद्ध बना दिया है, उसी प्रकार अर्थशास्त्र की इस तराजू (द्रव्य के मापदण्ड) ने, भले ही वह रूक्ष और अपूर्ण है अर्थशास्त्र को सामाजिक विज्ञानों की अन्य किसी शाखा की तुलना में अधिक पूर्ण एवं निश्चित बनाया है।[1]

4 क्या अर्थशास्त्र एक निश्चित विज्ञान है ?
(Is Economics an Exact Science ?)

उपर्युक्त विवरण से यह ज्ञात होता है कि अर्थशास्त्र के नियम मानव व्यवहार, प्रवत्तियां तथा अन्य अनिश्चित तत्त्वों पर आधारित होने के कारण पूर्ण रूप से सत्य सिद्ध नहीं होते हैं। आर्थिक नियमों की इस सीमा (Limitation) के कारण क्या अर्थशास्त्र को एक निश्चित विज्ञान कहना चाहिए? रॉबिन्स ने अर्थशास्त्र को एक शुद्ध विज्ञान माना है तथा यह विचार प्रकट किया है कि अर्थशास्त्र के नियम उसी प्रकार सत्य हैं जिस प्रकार विज्ञान के नियम। उन्होंने कहा है 'अर्थशास्त्र के नियम अन्य विज्ञानों के नियमों के पूर्णतया समान हैं। यदि पूर्ण तथ्य दिये हुए हों तो उन पर आधारित परिणाम भी सत्य होते हैं।

---

1 Just as Chemist s fine balance has made Chemistry more exact than other Physical Sciences so this economist s balance rough and imperfect it is has made Economics more exact than any other branch of social sciences

—*Marshall*

2 Economic laws are on all fou[illegible] if the data they postulate are given then the consequences they predict necessarily follow

—*Robbins*

मानकर चलता है कि गुरुत्वाकर्षण की शक्ति की कोई विरोधी शक्ति क्रियाशील नहीं है। इस प्रकार हम केवल मान के आधार पर आर्थिक विषयों को अनिश्चित नहीं कह सकते हैं। आर्थिक नियम भी अपनी शर्तों के सन्दर्भ में पूर्ण सत्य सिद्ध होते हैं।[1]

4 केवल भौतिक शास्त्र व रसायन शास्त्र के नियमों से तुलना अनुचित है

अर्थशास्त्र के नियमों की तुलना केवल भौतिक शास्त्र तथा रसायन शास्त्र के ही नियमों से करके उन्हें कम सत्य प्रमाणित करना ठीक नहीं है। प्राकृतिक विज्ञानों में भी **अन्तरिक्ष विज्ञान** (Meteorology) तथा **जीव विज्ञान** (Biology) के नियम भौतिक शास्त्र के नियमों की भांति सत्य नहीं होते हैं। अन्तरिक्ष विज्ञान की मौसम सम्बन्धी भविष्यवाणी गलत हो सकती है। इसमें केवल सम्भावना का ही ज्ञान होता है। जब सम्भावनाओं का विज्ञान (Science of Probabilities) होते हुए भी अन्तरिक्ष विज्ञान को प्राकृतिक विज्ञान की श्रेणी में रखा जा सकता है तो अर्थशास्त्र को किस तर्क के आधार पर हम विज्ञान की श्रेणी में नहीं रखेंगे ?

जहां तक अर्थशास्त्र की अन्य सामाजिक विज्ञानों से तुलना का प्रश्न है अर्थशास्त्र उनकी अपेक्षा अधिक निश्चित है। यही कारण है कि अर्थशास्त्र की प्रगति अन्य सामाजिक विज्ञानों की तुलना में अधिक हुई है। मार्शल के अनुसार अर्थशास्त्र ने समाज विज्ञान की किसी भी शाखा की तुलना में अधिक उन्नति की है क्योंकि यह अन्य सामाजिक विज्ञानों की अपेक्षा अधिक निश्चित तथा सही है।

Economics has made greater advance than any other branch of the Social Sciences because it is more definite than any other —Marshall

प्रश्न व संकेत

1 आर्थिक नियम शब्द को समझाइए और आर्थिक नियमों की प्रकृति बताइए।

Explain the term Economic Law and discuss the nature of Economic Laws

---

1 "There is no difference whatsoever between the nature of economic laws and that of the laws of the physical science and in so far as they follow logically or mathematically from their assumptions they are both equally exact or accurate also in themselves Mehta Rudra and Others Fundamentals of Economics P 16

6 क्या अथशास्त्र के परिणाम अन्य प्राकृतिक विज्ञानो की अपेक्षा काल्पनिक होते हैं ?

Are the results in Economic Science more hypothetical than in the case of Natural Sciences?

[सकेत—इसके लिए पहले आर्थिक नियमो के अथ तथा उनके स्वभाव को समझाइए । इसके बाद नियमो की विशेषताए और इनके कम निश्चित होने के कारण दीजिए । अन्त मे उदाहरणो द्वारा समझाइए कि अथशास्त्र के नियम अन्य प्राकृतिक विज्ञानो की तुलना मे कम सत्य तथा खरे उतरते हैं ।]

गाडविन (Godwin) की पुस्तक An Enquiry into Political Justice प्रकाशित हुई थी जिसमें मानव समाज के साम्यवादी भविष्य का वर्णन किया गया था। इन सभी विचारकों की पुस्तकों द्वारा समष्टि अर्थशास्त्र की नींव डाली गई। इस — ... विभिन्न विचारकों ने सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था

व्यष्टि अर्थ प्रस्तुत किया ... समष्टि अर्थशास्त्र की धारणा में समष्टि अर्थशास्त्र की आधारशिला रखी गई।

(... तथा ... ने भी ... पर

... onomy based on self

> There is really no opposition between micro and macro economics Both are absolutely vital And you are only half educated if you understand the one while being ignorant of the other
>
> —*P A Samuelson*

आर्थिक समस्याओं की जटिलता तथा विभिन्नता के कारण उनका पूर्ण रूप से तथा वैज्ञानिक अध्ययन के लिए कई विधियों का प्रयोग किया जाता है। आर्थिक समस्याओं का अध्ययन विभिन्न दृष्टिकोणों से भी किया जाता है। आवश्यकतानुसार किसी एक विधि या कई विधियों को मिलाकर आर्थिक समस्याओं का अध्ययन करते हैं। आर्थिक अध्ययन के लिए सामान्यतया निम्नलिखित दृष्टिकोणों (approaches) को अपनाया जाता है

1 व्यष्टि और समष्टि आर्थिक विश्लेषण
(Micro and Macro Economic Analysis),
2 स्थिर और गत्यात्मक आर्थिक विश्लेषण
(Static and Dynamic Economic Analysis)
3 साम्य विश्लेषण (Equilibrium Analysis)।

व्यष्टि एवं समष्टि आर्थिक विश्लेषण
(Micro and Macro Economic Analysis)

आधुनिक अर्थशास्त्र में दो प्रकार का विश्लेषण होता है—व्यष्टि तथा समष्टि। व्यष्टि या सूक्ष्म आर्थिक विश्लेषण के अन्तर्गत सामान्यतया कीमत सिद्धान्त (Price Theory) को सम्मिलित किया जाता है तथा समष्टि या वृहत् के अन्तर्गत सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था के संदर्भ में आय और रोजगार सिद्धान्त (Income and Employment Theory) का अध्ययन किया जाता है। अर्थ-व्यवस्था का अध्ययन या तो सम्पूर्ण रूप में किया जा सकता है जैसे कुल राष्ट्रीय आय, कुल व्यय, कुल बचत, कुल रोजगार, कुल विनियोग तथा कुल उपभोग आदि के सम्बन्ध में या अर्थ-व्यवस्था की इकाइयों जैसे फर्म या उद्योग विशेष आदि का अध्ययन किया जा सकता है। जब अर्थ-व्यवस्था का सम्पूर्ण रूप में अध्ययन किया जाता है तो उसे समष्टि आर्थिक

6 क्या अर्थशास्त्र के परिणाम अन्य प्राकृतिक विज्ञानों की अपेक्षा काल्पनिक होते हैं ?

Are the results in Economic Science more hypothetical than in the case of Natural Sciences?

[संकेत—इसके लिए पहले आर्थिक नियमों के समझाइए। इसके बाद नियमों की विशेषताएँ और कारण दीजिए। अंत में उदाहरणों द्वारा समझाइए प्राकृतिक विज्ञानों की तुलना में कम सत्य तथा खरे

अर्थशास्त्र उन इकाइयों के लिन के शब्दों में 'व्यष्टि ना है तथा उसका सम्बन्ध विपरीत धारा के सम्बन्धों

यहां पर यह बतला देना उपयुक्त होगा कि अंग्रेजी के शब्द Micro तथा Macro ग्रीक भाषा से लिए गए कुछ परिवर्तित शब्द हैं। माइक्रो का अर्थ छोटा तथा मैक्रो का अर्थ बड़ा होता है। अर्थशास्त्र में सर्वप्रथम इन शब्दों का प्रयोग ओसलो विश्वविद्यालय के प्रो० रागनर फ्रिश (Ragnar Frisch) ने किया तथा अब ये शब्द बहुत प्रचलित हो गए हैं।

ऐतिहासिक विवरण
(Historical Review)

(1) समष्टि अर्थशास्त्र (Macro Economics) व्यष्टि तथा समष्टि अर्थशास्त्र के विकास का एक इतिहास है। प्रारम्भ में अर्थशास्त्रियों का ध्यान पूरी अर्थ-व्यवस्था (Economy) की समस्याओं की ओर गया। पश्चिमी यूरोप में पन्द्रहवीं शताब्दी से लेकर अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक वाणिज्यवादी विचार-धारा (Mercantilism) की प्रधानता थी। वाणिज्यवादी अर्थशास्त्री राज्य को आर्थिक क्रियाओं के क्षेत्र में सबसे ऊपर रखते थे। राज्य द्वारा आर्थिक क्रियाओं में हस्तक्षेप करना, निर्यात व्यापार को आयात की अपेक्षा अधिक रखकर सोने का अधिक से अधिक संग्रह करना तथा समस्त आर्थिक क्रियाओं का संचालन करना वाणिज्यवादियों की आर्थिक नीति के मूल आधार थे। इसी प्रकार फिजियोक्रेट्स (Physiocrates) ने जिनमें फ्रांस के विचारक प्रमुख थे सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित समस्याओं में रुचि ली। प्रसिद्ध फिजियोक्रेट विचारक (Quesney) ने पूरी अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध में 'अर्थ व्यवस्था सारणी' (Tableau Economique) तैयार की। इसी प्रकार सन् 1798 में माल्थस (Malthus) ने जनसंख्या पर अपने विचार प्रस्तुत किये जिन्हें सन् 1803 में An Essay on the Principl of Population नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया जिसके द्वारा विश्व प्रसिद्ध माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ। इसके कुछ वर्ष पूर्व

---

1 "The micro model is built solely on the individuals and deals with interpersonal relations only the macro model on the other deals with aggregative relations.

—Chamberlin

गाडविन (Godwin) की पुस्तक An Enquiry into Political Justice प्रकाशित हुई थी जिसमें मानव समाज के आशाजनक भविष्य का वर्णन किया गया था। इन सभी विचारों व पुस्तकों द्वारा समष्टि अर्थशास्त्र की नींव डाली गई। इस प्रकार अठारहवीं शताब्दी तक विभिन्न विचारकों ने सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध में जो विचार प्रस्तुत किए वे सब समष्टि अर्थशास्त्र की श्रेणी में आते हैं। इन विचारों द्वारा समष्टि अर्थशास्त्र की आधारशिला रखी गई।

अर्थशास्त्र के जन्मदाता एडम स्मिथ तथा उनके समर्थकों ने भी स्वहित पर आधारित स्वसन्तुलनीय (Self-adjusting Economy based on self interest) अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध में अपने विचार रखे। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों (Classical Economists) के इस समूह ने राज्य द्वारा आर्थिक क्रियाओं में न्यूनतम हस्तक्षेप तथा स्पर्धा द्वारा स्वचालित अर्थव्यवस्था पर जोर दिया। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री यद्यपि मुख्यतः व्यष्टि अर्थशास्त्र से सम्बन्धित थे परन्तु उन्होंने राज्य के सम्बन्ध में जो आर्थिक विचार रखे वे समष्टि अर्थशास्त्र की सीमा में आते हैं। एडम स्मिथ, रिकार्डो तथा मिल के नाम इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं।

इन विचारों के प्रतिकार या विरोध में माल्थस, सिसमण्डी तथा कार्ल मार्क्स ने अपने विचार प्रकट किए। माल्थस और सिसमण्डी के विचार सम्पूर्ण व्यवस्था के सन्दर्भ में प्रकट किए गए हैं। माल्थस को एक प्रकार से वर्तमान समष्टि अर्थशास्त्र का तथा मार्क्स को समाजवादी अर्थशास्त्र का जनक माना जाता है। इन तीन विचारकों ने वस्तुतः आर्थिक विश्लेषण के क्षेत्र में समष्टि अर्थशास्त्र का विकास किया।

समष्टि अर्थशास्त्र का वास्तविक विकास सन् 1929–32 की विश्व आर्थिक मन्दी के समय में हुआ। इस आर्थिक मन्दी ने पुरानी आर्थिक मान्यताओं तथा सिद्धान्तों की अपूर्णता व खोखलेपन को प्रकट किया। अर्थशास्त्रियों का ध्यान सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की समस्याओं की ओर आकर्षित हुआ। विश्व के सभी पूँजीवादी देश इस आर्थिक मन्दी की लपेट में आ गए थे। यह आर्थिक मन्दी व्यापार चक्र (Trad Cycle) की परिणाम थी। आय तथा रोजगार का स्तर तेजी से गिर रहा था। जे० एम० कीन्स (J M Keynes) ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक The General Theory of Employment Interest and Money सन् 1936 में प्रकाशित की। वस्तुतः इस पुस्तक में समष्टि अर्थशास्त्र का प्रथम बार वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया। कीन्स के विचारों ने समष्टि अर्थशास्त्र के क्षेत्र में क्रान्ति ला दी। उन्होंने अर्थव्यवस्था का विश्लेषण कुल उत्पादन, कुल आय, कुल रोजगार, कुल विनियोग आदि के सन्दर्भ में किया। उनके विचार में स्वहित पर आधारित कुल उत्पादन, पूर्ण रोजगार की स्थिति हमेशा बनाए रखने में समर्थ नहीं होता।

विश्व आर्थिक मन्दी द्वितीय विश्व युद्ध तथा उसके पश्चात् विकासशील देशों की विकास सम्बन्धी समस्याओं ने अर्थशास्त्रियों का ध्यान आकर्षित किया जिससे उन्होंने सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के सन्दर्भ में अपने समष्टि मूलक विचार प्रस्तुत किए जिसमें समष्टि अर्थशास्त्र समृद्ध हुआ। कीन्स के अतिरिक्त वालरस (L Walres) केंट (Kent) फिशर (Fish r) विक्सेल (Wicksell) शुम्पीटर (Schum peter) मिरडल (Myrdall) हिक्स (Hicks) मिल्टन फ्रीडमैन (Milton Friedman) तथा लियोनतिफ (Leontiff) आदि अर्थशास्त्रियों ने समष्टि अर्थशास्त्र के साहित्य को समृद्ध बनाया। आजकल विश्व व्यापार विश्व मौद्रिक व्यवस्था आर्थिक सम्भावनाएँ विदेशी सहायता विकासशील देशों के आर्थिक विकास की समस्याएं राजस्व आर्थिक नीति तथा आर्थिक नियोजन आदि समष्टि अर्थशास्त्र के क्षेत्र में प्रमुख विचारणीय विषय बन गए हैं। वस्तुत अर्थशास्त्र के क्षेत्र में आजकल समष्टि अर्थशास्त्र की ही प्रधानता है। अब तक जितने भी अर्थशास्त्रियों को नोबल पुरस्कार प्राप्त हुआ है उन सभी का मुख्य योगदान समष्टि अर्थशास्त्र के क्षेत्र में ही आता है।

(ii) व्यष्टि अर्थशास्त्र (Micro Economics) व्यष्टि अर्थशास्त्र का प्रारम्भ अर्थशास्त्र के प्रारम्भ से ही हुआ। प्राय सभी आरम्भिक अर्थशास्त्रियों ने व्यष्टि अर्थशास्त्र का प्रयोग किया। इसका अर्थ यह नहीं है कि आरम्भिक अर्थशास्त्रियों ने समष्टि अर्थशास्त्र की उपेक्षा की। वस्तुत किसी न किसी रूप में सभी अर्थशास्त्रियों ने व्यष्टि तथा समष्टि दोनों प्रकार के आर्थिक विश्लेषण प्रस्तुत किए। अर्थशास्त्र के विकास के प्रारम्भिक दिनों में व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण की प्रधानता थी। एडम स्मिथ को एक प्रकार से व्यष्टि अर्थशास्त्र का जन्मदाता कह सकते हैं। एडम स्मिथ के सभी समर्थकों जैसे वाकर जे० बी० से रिकार्डो तथा मिल आदि ने व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण प्रस्तुत किया। इन सभी अर्थशास्त्रियों को प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री के नाम से पुकारा जाता है। यदि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने व्यष्टि अर्थशास्त्र की आधारशिला रखी तो नवप्रतिष्ठित (Neo classical) अर्थशास्त्रियों ने इसे पल्लवित तथा पुष्पित किया। मार्शल इस विचारधारा के प्रतिस्थापक थे। वस्तुत मार्शल ने व्यष्टि अर्थशास्त्र को एक नई दिशा प्रदान की तथा एक उच्च विषय में उसे प्रतिष्ठित किया। व्यष्टि अर्थशास्त्र का विकास मार्शल तथा उसके अनुगामियों द्वारा पूर्ण रूप से किया गया। अर्थशास्त्र की परिभाषा उसके क्षेत्र नियमों अध्ययन विधियों तथा विभिन्न आर्थिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन मार्शल ने विस्तार से किया। वस्तुत यदि एडम स्मिथ अर्थशास्त्र के जन्मदाता थे तो मार्शल आधुनिक अर्थशास्त्र के जनक थे। मार्शल पीगू फ्रेजर वाकर आदि अर्थशास्त्रियों ने व्यष्टि तथा समष्टि दोनों प्रकार के आर्थिक विश्लेषण किए परन्तु उनके विचारों में व्यष्टि मूलक विचारों की ही प्रधानता थी। उन्नीसवीं सदी के अन्त तक व्यष्टि मूलक विचारों की ही प्रधानता रही तथा यह

एक व्यक्तिगत इकाई जैसे व्यक्ति परिवार उपभोक्ता फर्म एक उद्योग आदि का अध्ययन किया जाता है। इसी कारण इस इकाई या व्यष्टिमूलक अर्थशास्त्र भी कहा जाता है।

उक्त दृष्टिकोण से व्यष्टि अर्थशास्त्र में इन समस्याओं का अध्ययन किया जाता है कि एक उपभोक्ता अपनी दी हुई आमदनी पर बाजार में प्रचलित मूल्यों पर किस प्रकार अधिक सन्तुष्टि प्राप्त करता है? एक फर्म अपनी उत्पादित वस्तु की कीमत किस प्रकार निर्धारित करती है एवं किसी मूल्य पर कितनी वस्तु की किस मात्रा में उत्पादन करने के लिए वह तत्पर होगी? विभिन्न वस्तुओं की कीमतों में अन्तर क्या है? फर्म द्वारा अपने उत्पादन-साधनों का आवंटन किस प्रकार करे जिससे उस दिशा में लागत पर अधिकतम लाभ प्राप्त हो सके तथा उत्पादन-साधनों का प्रतिफल (पारितोषिक) कैसे निर्धारित किया जाय? इन प्रश्नों पर यदि विचार किया जाय तो यह निष्कर्ष निकलता है कि व्यष्टि अर्थशास्त्र में व्यक्तिगत उपभोग उत्पादन विनिमय तथा वितरण की समस्याओं का अध्ययन किया जाता है। ये समस्याएँ मूलतः कीमत से सम्बन्धित होती हैं। इसलिए व्यष्टि अर्थशास्त्र को प्रायः कीमत सिद्धान्त भी कहते हैं।

उपर्युक्त आधार पर बोल्डिंग ने व्यष्टि अर्थशास्त्र को इस प्रकार परिभाषित किया है व्यष्टि अर्थशास्त्र विशिष्ट आर्थिक इकाइयों तथा उनके पारस्परिक प्रभावों और विशिष्ट आर्थिक मात्राओं तथा उनके निर्धारण का अध्ययन है।[1] इस परिभाषा से यह स्पष्ट है कि व्यष्टि अर्थशास्त्र विशिष्ट (particular) या किसी इकाई विशेष से सम्बन्धित है। परन्तु इस सम्बन्ध में यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि इसमें अर्थव्यवस्था के विभिन्न पहलुओं का भी अलग-अलग अध्ययन किया जाता है। अतः इस दृष्टिकोण से इकाई से आशय व्यक्तियों फर्मों आदि के समूह से भी है। यह इकाई स्वयं में तो एक सामूहिक इकाई होती है परन्तु वह इतनी छोटी होती है कि उससे सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का अर्थ नहीं लगाया जा सकता। उदाहरणार्थ यदि किसी एक वर्ग विशेष के व्यक्तियों के माल-खरीद के योग का अध्ययन किया जाय अथवा कई फर्मों के समूह से बने एक उद्योग की उत्पादन समस्या साधनों के उपयोग साधनों के मूल्य निर्धारण आदि समस्याओं का अध्ययन किया जाय तो ऐसा अध्ययन भी व्यष्टि अर्थशास्त्र की ही विषय-सामग्री होगी।

इस प्रकार व्यष्टि अर्थशास्त्र में जोड़ या 'योग (Aggregate) का भी अध्ययन किया जाता है परन्तु ये योग सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित नहीं होते

---

1 "Micro economics is the study of particular organisms and their interaction and particular economic quantities and their determination."

—K. E. Boulding

है।[1] गार्डनर एक्ले के अनुसार "व्यष्टि अर्थशास्त्र उद्योगों, उत्पादनों व फर्मों में कुल उत्पादन के विभाजन तथा प्रतियोगी उपयोग के लिए साधनों के वितरण का अध्ययन करता है। यह आय वितरण की समस्याओं पर विचार करता है। यह विशेष वस्तुओं तथा सेवाओं के मूल्य निर्धारण से सम्बन्धित है।"[2] हैंडरसन व क्वांट के अनुसार "व्यष्टि अर्थशास्त्र व्यक्तियों तथा व्यक्तियों के ठीक से परिभाषित समूहों की आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन है।"[3]

समष्टि अर्थशास्त्र का अर्थ (Meaning of Macro Economics)

समष्टि से आशय समग्र या व्यापक से है। अतः समष्टि अर्थशास्त्र में सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की किसी समस्या पर व्यापक रूप में विचार किया जाता है। इसके अन्तर्गत सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित समूहों, राष्ट्रीय आय, राष्ट्रीय बचत, विनियोग, कुल उपभोग, सामान्य मूल्य-स्तर, कुल रोजगार, राष्ट्रीय उत्पादन आदि का अध्ययन किया जाता है। इसमें समूह (Aggregate) का अध्ययन किये जाने के कारण ही इसको समष्टिकृत अर्थशास्त्र (Aggregative Economics) भी कहते हैं। बोल्डिंग के अनुसार "समष्टि अर्थशास्त्र व्यक्तिगत इकाइयों का नहीं बल्कि उनके योग ( ) का अध्ययन करता है। इसमें व्यक्तिगत आय के स्थान पर राष्ट्रीय आय, विशिष्ट कीमतों के स्थान पर कीमत स्तर, व्यक्तिगत उत्पादन के स्थान पर राष्ट्रीय उत्पादन (आय) का अध्ययन किया जाता है।"[4] इस आधार पर बोल्डिंग ने समष्टि अर्थशास्त्र को इस प्रकार परिभाषित किया है: "समष्टि अर्थशास्त्र

---

1 Micro economics also uses aggregates but not in a context which relates them to an economy wide total

—*Gardner Ackley*

2. Micro economics deals with division of the total output among industries products and firms and the allocation of resources among competing use It considers problems of income distribution Its interest is in relating prices of particular goods and services

—*Gardner Ackley*

3 Micro economics is the study of economic actions of individuals and well defined groups of individuals

—*Henderson & Quandt*

Macro economics deals not with individual quantities as such but with aggregates of these quantities not with individual incomes but with national income not with individual prices but with price level not with individual output but with national output

—*K E Boulding*

आर्थिक मात्राओं के योगों व औसतों की प्रकृति सम्बन्धों तथा व्यवहारों का अध्ययन है।[1]

प्रो० एक्ले ने समष्टि अर्थशास्त्र के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहा है कि इसका सम्बन्ध आर्थिक जीवन के सम्पूर्ण पहलुओं अर्थात् आर्थिक जीवन के सम्पूर्ण विस्तार से है। यह जंगल की विशेषताओं का अध्ययन करता है न कि स्वतन्त्र रूप में उन पेड़ों का जो इसका निर्माण करते हैं।[2]

यह आवश्यक नहीं है कि समष्टि अर्थशास्त्र में सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था में सम्बन्धित जोड़ या योग का ही अध्ययन किया जाय। इसमें उन योगों के छोटे टुकड़ों का भी अध्ययन किया जा सकता है परन्तु एसे छोटे टुकड़ों का सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के किसी योग का ही उप भाग होना आवश्यक है। उपयुक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि समष्टि अर्थशास्त्र का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। इसमें व्यक्तिगत आर्थिक समस्याओं एवं इकाइयों की अपेक्षा सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित व्यापक समस्याओं जैसे कुल उत्पादन, कुल रोजगार सामान्य मूल्य स्तर राष्ट्रीय मौद्रिक तथा बैंकिंग नीति व्यापार-चक्र राष्ट्रीय आय विदेशी व्यापार राजस्व आदि का अध्ययन किया जाता है।

व्यष्टि अर्थशास्त्र का क्षेत्र (Scope of Micro Economics) [1] पारस्परिक

व्यष्टि अर्थशास्त्र इकाइयों के आर्थिक व्यवहार का अध्ययन करता है। यह इकाइयों का अध्ययन अलग अलग करता है। एक्ले के अनुसार कीमत और मूल्य सिद्धान्त परिवार फर्म तथा उद्योग का सिद्धान्त अधिकतम उत्पादन और कल्याण सिद्धान्त व्यष्टि अर्थशास्त्र के प्रकार हैं। विलियम फेलनर के शब्दों में व्यष्टि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध व्यक्तिगत निर्णय लेने वाली निर्माता इकाइयों से है। इसके अन्तर्गत सीमान्त विश्लेषण (Marginal analysis) पर आधारित अर्थशास्त्र के सभी नियम आते हैं। उत्पादन उपभोग वितरण तथा विनिमय से सम्बन्धी प्राय सभी नियम सीमान्त विश्लेषण पर आधारित हैं। इसके अतिरिक्त साधनों के आवंटन की समस्या साधनों के आवंटन की कुशलता उपभोग की कुशलता तथा कुशलताओं (Effici ncie) की विभिन्न दशाओं का अध्ययन भी व्यष्टि अर्थशास्त्र के अन्तर्गत सम्मिलित किया जाता है। नर के शब्दों में "व्यष्टि अर्थशास्त्र

---

1 "Macro Economics is the study of nature relationship and behaviour of aggregates and averages of economic quantities"

—K E Boulding

2 Macro Econom cs deals with econom c affairs in large It concerns the overall dimensions of economic life... ... it studies the character of the st, independently of the trees which compose it

—Gardner

के प्रकार व विधियाँ विकासशील देशो की आर्थिक समस्याओ आदि का अध्ययन किया जाता है।

4 **व्यापार चक्रों (Trade Cycles) का अध्ययन** अर्थ व्यवस्था म आने वाले नियमित उतार चढाव उनके कारण प्रभाव तथा उन्हे नियन्त्रित करने के तरीके व्यापार चक्र सम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्तो व मतो आदि का अध्ययन समष्टि अर्थशास्त्र का प्रमुख अग है।

5 **वितरण का समष्टिगत सिद्धान्त** एक देश म ही नही बल्कि पूरे विश्व म आय का वितरण किस प्रकार होता है ? आर्थिक असमानता के कारण परिणाम तथा आर्थिक समानता स्थापित करने के विभिन्न वादो आदि का अध्ययन इसके अन्तर्गत किया जाता है।

6 **अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्ध** इसके अन्तर्गत अन्तर्राष्टीय समस्याओ जैसे मुद्रा विदेशी व्यापार के सिद्धान्त देशो के व्यापारिक सम्बन्ध अन्तर्राष्टीय पूँजी तथा आर्थिक समस्या जहाजरानी विदेशी विनिमय विश्व आर्थिक सस्थाओ तथा अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक मान आदि का अध्ययन किया जाता है। वस्तुत इस विषय का महत्व इतना अधिक बढ गया है कि अब अन्तर्राष्टीय अर्थशास्त्र (International Economics) नाम से एक अलग स्वतन्त्र विषय का विकास हो गया है।

7 **राजस्व सिद्धान्त** इसके अन्तर्गत सरकार की आय तथा उसके व्यय और इनसे सम्बन्धित नीतियो व उनके प्रभावो का अध्ययन किया जाता है।

8 **मुद्रा तथा बैंकिंग** इसके अन्तर्गत मुद्रा तथा बैंकिंग सम्बन्धी राष्टीय तथा अन्तराष्टीय समस्याओ का अध्ययन किया जाता है। इस विषय का भी एक अलग स्वतन्त्र विषय के रूप म विकास हुआ है।

इस प्रकार समष्टि अर्थशास्त्र का क्षेत्र अत्यन्त ही व्यापक तथा विस्तृत हो गया है। वस्तुत उन सभी विषयो का जिनका अध्ययन समष्टि अर्थशास्त्र के अन्तर्गत किया जाता है स्वतन्त्र रूप से विकास हो गया है तथा वे विषय समष्टि अर्थशास्त्र के प्रमुख अग बन गये है। विभिन्न प्रकार की राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्टीय आर्थिक समस्याओ के सभी पहलुओ का अध्ययन समष्टि अर्थशास्त्र का क्षेत्र है। निम्नलिखित विषयो का समष्टि अर्थशास्त्र की शाखाओ के रूप म स्वतन्त्र रूप से विकास हो रहा है तथा उन विषयो का अब विश्वविद्यालय स्तर पर अर्थशास्त्र की प्रमुख शाखाओ के रूप म अध्ययन किया जाता है। ऐसे विषय जिनका अध्ययन समष्टि अर्थशास्त्र की विकसित शाखाओ के रूप म किया जाता है अग्रलिखित हैं —
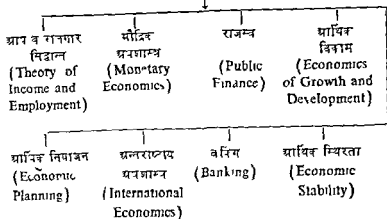
समष्टि अर्थशास्त्र के भेद (Types of Macro Economics)

समष्टि आर्थिक विश्लेषण निम्नलिखित तीन प्रकार का होता है —

1 समष्टि स्थैतिक (Macro Static) इसमें सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का अध्ययन साम्य स्थिति में किया जाता है। अर्थव्यवस्था साम्य स्थिति में किस प्रकार पहुँचती है इसका अध्ययन इसमें नहीं किया जाता है। अर्थव्यवस्था में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं तथा विभिन्न समयों में साम्य की अलग अलग स्थितियाँ आती हैं। पुराने सन्तुलन के स्थान पर नए सन्तुलन बनते रहते हैं। इन विभिन्न सन्तुलन या साम्य स्थितियों का अध्ययन समष्टि-स्थैतिक में किया जाता है।

2 तुलनात्मक समष्टि-स्थैतिक (Comparative Macro Static) वास्तविक स्थिति यह है कि अर्थव्यवस्था में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। अर्थव्यवस्था कभी स्थिर नहीं होती है। परिवर्तन की इस प्रक्रिया में नए-नए सन्तुलन या साम्य बनते रहते हैं। तुलनात्मक समष्टि स्थैतिक के अन्तर्गत इन विभिन्न सन्तुलन स्थितियों की तुलना करते हैं। इसमें इस बात का अध्ययन नहीं किया जाता है कि अर्थव्यवस्था एक साम्य स्थिति से दूसरी साम्य स्थिति को किस प्रकार प्राप्त करती है। इस प्रकार परिवर्तन की प्रक्रिया का अध्ययन न कर विभिन्न सन्तुलन स्थितियों की तुलना करना तुलनात्मक समष्टि-स्थैतिक है।

3 समष्टि प्रावैगिक (Macro Dynamic) इसके अन्तर्गत अर्थव्यवस्था की विकास प्रक्रिया के प्रावैगिक रूप का अध्ययन किया जाता है। विकास की प्रक्रिया का सम्पूर्ण रूप में अध्ययन समष्टि प्रावैगिकी के अध्ययन का क्षेत्र है। यह अर्थव्यवस्था में निरन्तर होने वाले परिवर्तनों, उनकी प्रक्रिया तथा उनके निर्धारक तत्वों का अध्ययन करता है। इस प्रकार अर्थव्यवस्था में निरन्तर होने

वाले परिवर्तनों (Continuous Changes) के प्रभावों का अध्ययन समष्टि प्रावैगिक का विषय है। रागनर फ्रिश (Ragnar Frisch) के शब्दों में प्रावैगिक अर्थशास्त्र की प्रमुख विशेषता अध्ययन की जाने वाली व्यवस्था की अस्थिरता न होकर परिवर्तन की प्रक्रिया का विश्लेषण करना है। इसके अन्तर्गत साम्य का स्वयं महत्त्व नहीं होता है बल्कि अधिक महत्त्वपूर्ण इस बात का अध्ययन करना है कि यह साम्य किस प्रकार या किन प्रक्रियाओं तथा कारणों द्वारा प्राप्त हुआ है। **इस प्रकार इसके अन्तर्गत,** (i) उस पथ का अध्ययन किया जाता है जिससे साम्य एक स्थिति से दूसरी स्थिति पर पहुँचता है तथा (ii) साम्य को प्रभावित करने वाले तत्त्वों जैसे रुचि, तकनीक, साधन, संगठन तथा जनसंख्या आदि में होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन किया जाता है।

आजकल समष्टि अर्थशास्त्र की समष्टि प्रावैगिक शाखा का विकास बड़ी तेजी से हो रहा है। इसके विकास में **सैम्युअलसन, बोल्डिंग, हिक्स, हैराड, फ्रिश** तथा **टिनबर्जन** आदि अर्थशास्त्रियों का प्रमुख योगदान है। विभिन्न प्रकार के आर्थिक विकास के मॉडल अर्थशास्त्र की इसी शाखा के अन्तर्गत आते हैं।

समष्टि-अर्थशास्त्र के उपयोग, गुण तथा महत्त्व
(Uses, Merits and Importance of Macro Economics)

1. **अर्थव्यवस्था की जटिलता को समझने में सरलता**—आजकल अर्थव्यवस्था में जटिलताएँ बढ़ती जा रही हैं। समष्टि अर्थशास्त्र द्वारा इन जटिलताओं को समझने में सहायता मिलती है क्योंकि इसके द्वारा अर्थव्यवस्था के परिवर्तनों, अन्तर्सम्बन्धों तथा आर्थिक संगठनों पर प्रकाश डाला जाता है।

2. **विभिन्न समस्याओं के समाधान में सहायक**—समष्टि अर्थशास्त्र सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था का विश्लेषण करता है। राष्ट्रीय आय, रोजगार, जनसंख्या, पूँजी निर्माण तथा आर्थिक विकास से सम्बन्धित विभिन्न समस्याओं का समाधान समष्टि विश्लेषण द्वारा सम्भव हो जाता है।

3. **उचित आर्थिक नीति के निर्माण में सहायक**—लोक-कल्याणकारी राज्य, आर्थिक नियोजन तथा आर्थिक समस्याओं की बढ़ती हुई जटिलता के कारण सरकार का महत्त्व आर्थिक क्षेत्र में बढ़ता जा रहा है। सरकार अर्थव्यवस्था के संचालन के लिए व्यापार, उत्पादन, मूल्य आदि के सम्बन्ध में आवश्यक नीति बनाती है। समष्टि आर्थिक विश्लेषण पूरी अर्थव्यवस्था का चित्र हमारे समक्ष रखता है जिससे नीति निर्धारण में बड़ी सहायता मिलती है। प्रो० **बोल्डिंग** के शब्दों में, "आर्थिक नीति की दृष्टि से समष्टि अर्थशास्त्र का बड़ा महत्त्व है क्योंकि सरकार की आर्थिक नीतियों का सम्बन्ध किसी एक व्यक्ति से न होकर सभी व्यक्तियों के समूह से होता है।"

4. **व्यष्टि अर्थशास्त्र की सीमाएँ**—कुछ आर्थिक समस्याएँ ऐसी होती हैं जिनका अध्ययन समग्र रूप में ही किया जा सकता है, जैसे राष्ट्रीय आय, रोजगार

सामान्य-मूल्य स्तर आदि। व्यष्टि अर्थशास्त्र के नियमों का निर्माण तथा उनका परख भी समग्र रूप में ही की जा सकती है। अतः व्यष्टि अर्थशास्त्र की सीमाओं के कारण भी समष्टि-अर्थशास्त्र उपयोगी सिद्ध होता है।

5 आर्थिक नियोजन में सहायक आर्थिक नियोजन आजकल आर्थिक विकास का माध्यम बन गया है। सफल आर्थिक नियोजन के लिए साधनों का सही अनुमान, अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकताएं, अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में तालमेल बैठाना, राष्ट्रीय लक्ष्यों का निर्धारण करना तथा उचित आर्थिक नीतियों का निर्माण आवश्यक होता है। समष्टि अर्थशास्त्र इन सब में सहायक होता है।

6 व्यापार चक्रों की समस्या व्यापार चक्रों के कारण अर्थ-व्यवस्था में तेजी व मन्दी आती है जिससे आय, विनियोग, रोजगार तथा अन्य आर्थिक क्रियाएँ प्रभावित होती हैं। समष्टि अर्थशास्त्र में व्यापार चक्रों का भी विश्लेषण किया जाता है। इस प्रकार इनको रोकने के लिए उचित कदम उठाये जाते हैं। पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में इस प्रकार के अध्ययन व विश्लेषण का बड़ा महत्त्व है।

7 समष्टि-मूलक विरोधाभासों के कारण कुछ आर्थिक सत्य व्यक्तियों के सम्बन्ध में तो सही होते हैं परन्तु समाज के सम्बन्ध में सत्य नहीं होते हैं, जैसे बचत व्यक्तिगत दृष्टिकोण से उचित है परन्तु यदि सभी लोग अधिक से अधिक बचत करने लगें तो इससे प्रभावपूर्ण माँग कम हो जायेगी, जो विभिन्न आर्थिक संकटों का कारण बन सकता है। इन समष्टिगत आर्थिक विरोधाभासों (Macro-economic paradoxes) के कारण आर्थिक समस्याओं का समष्टि रूप में अध्ययन आवश्यक हो जाता है। प्रो. बोल्डिंग ने इन विरोधाभासों को समष्टिगत विश्लेषण का कारण माना है।

समष्टिमूलक विरोधाभास (Macro Economics Par.doxes) कुछ ऐसे निष्कर्ष हैं जो व्यक्ति पर लागू होते हैं परन्तु पूरी अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध में गलत सिद्ध होते हैं। इन आर्थिक निष्कर्षों को समष्टि मूलक विरोधाभास कहते हैं। इनके कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं

1 व्यक्ति व समाज की बचतें बचत करना व्यक्तिगत दृष्टि से ठीक है परन्तु राष्ट्रीय दृष्टि से घातक है। सभी लोगों के बचत करने के कारण कुल माँग में कमी होगी जिससे उत्पादन तथा रोजगार आदि में गिरावट आयेगी।

2 मजदूरी व रोजगार प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का मत था कि यदि मजदूरी दर कम कर दी जाए तो पहले से अधिक मजदूरों को काम दिया जा सकता है अर्थात् मजदूरी में कमी रोजगार में वृद्धि करती है। परन्तु यदि सामान्य मजदूरी की दर में कमी कर दी जाए तो क्रयशक्ति घटेगी जिससे प्रभावपूर्ण माँग कम हो जायेगी, उत्पादन घटेगा तथा रोजगार भी कम हो जायेगा।

3 व्यक्ति बचत द्वारा अपनी मुद्रा में वृद्धि कर सकता है, परन्तु समाज में मुद्रा की मात्रा इस प्रकार नहीं बढ़ सकती जब तक अधिक मुद्रा चलन में न लाई जाए।

4 एक देश का आयात उसके निर्यात से अधिक या आयात निर्यात से अधिक हो सकता है परन्तु पूरे संसार में कुल आयात तथा कुल निर्यात बराबर होंगे।

5 किसी व्यक्ति या समूह की आय उसके व्यय से कम या अधिक हो सकती है परन्तु देश की आय उसके व्यय के बराबर होगी।

6 प्रो० सेम्युअलसन ने कुछ ऐसे उदाहरण दिए हैं जो सच होते हुए भी विरोधी प्रकट होते हैं जैसे

(i) यदि परिश्रम तथा अनुकूल प्रकृति के कारण सभी किसान कृषि उत्पादन बढ़ा लेते हैं तो किसानों की मौद्रिक आय में कमी होगी क्योंकि पूर्ति बढ़ जाने के कारण कृषि उपज की कीमतें नीचे गिरेंगी।

(ii) एक व्यक्ति कम वेतन स्वीकार कर नौकरी प्राप्त करके अपनी बेरोजगारी दूर कर सकता है परन्तु यदि सभी उद्योगों व कार्यों में मजदूरी दर घटा दी जाए तो बेरोजगारी बढ़ेगी।

(iii) एक व्यक्ति के लिए जो व्यवहार बुद्धिमानीपूर्ण होगा वही व्यवहार एक देश के सन्दर्भ में मूर्खतापूर्ण हो सकता है।

(iv) मन्दी के समय व्यक्तियों द्वारा अधिक बचत के प्रयास के कारण समाज की कुल बचत कम हो सकती है।

(v) ऊँची कीमत के कारण किसी एक उद्योग की फर्मों को लाभ हो सकता है। परन्तु यदि प्रत्येक वस्तु की कीमत बढ़ जाए तो किसी को लाभ नहीं होगा।

इसी प्रकार बहुत से उदाहरण दिए जा सकते हैं जो इस बात को सिद्ध करते हैं कि जो बात एक व्यक्ति या फर्म के सम्बन्ध में सही होगी वही बात पूरे राष्ट्र के सम्बन्ध में विपरीत सिद्ध होगी। अतः पूरी अर्थ व्यवस्था के सन्दर्भ में समष्टि आर्थिक विश्लेषण आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण है।

समष्टि–आर्थिक विश्लेषण की सीमाएँ
(Limitations of Macro Economic Analysis)

आजकल समष्टि आर्थिक विश्लेषण का अधिकाधिक प्रयोग होने लगा है तथा इसका महत्त्व बढ़ता जा रहा है परन्तु इसकी भी कुछ सीमाएँ हैं, जिनका संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है

1 व्यक्ति तथा छोटे समूहों के योग के आधार पर निकाले गए निष्कर्ष भ्रामक समष्टि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध योगों से है। कभी कभी व्यक्ति तथा समूहों से सम्बन्धित परिणामों के योग को समष्टिगत विश्लेषण का आधार मान लिया जाता है क्योंकि समाज या अर्थव्यवस्था व्यक्तियों तथा समूहों का ही योग है। परन्तु ऐसे योगों पर आधारित निष्कर्ष भ्रामक सिद्ध हो सकते हैं। व्यक्तियों तथा समूहों की प्रकृति अर्थव्यवस्था से भिन्न हो सकती है। कोई कार्य प्रवृत्ति या उद्देश्य

व्यक्तियों के छोटे समूह के लिए ठीक हो सकता है परन्तु यदि हम उस कार्य या प्रवृत्ति को सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के लिए ठीक मान लें तो ऐसा करना कठिनाई पैदा कर सकता है जैसे बचत करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए ठीक है परन्तु यदि सभी लोग बचत करने लगें तो इसका परिणाम भयंकर हो सकता है।[1] अधिक बचत के कारण प्रभावपूर्ण माँग कम हो सकती है जिससे बेरोजगारी में वृद्धि होगी तथा अर्थव्यवस्था मन्दी के कुचक्र में फँस सकती है। अतः व्यक्तियों या समूहों के आधार पर निकाले गए निष्कर्ष सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के लिए घातक सिद्ध हो सकते हैं।

अर्थशास्त्री अपनी व्यक्तिगत धारणा या निष्कर्ष को यदि समाज का निष्कर्ष मान लें अथवा अपने व्यक्तिगत अनुभव को समाज का अनुभव मानकर पूरे समाज के सम्बन्ध में कोई निष्कर्ष सही मान लें तो ऐसा निष्कर्ष निराधार सिद्ध हो सकता है। प्रो० बोल्डिंग ने स्पष्ट रूप से कहा है "समष्टि अर्थशास्त्र में हमको व्यक्तिगत अनुभव से कोई निष्कर्ष नहीं निकालने चाहिए। अपने व्यक्तिगत अनुभव से निष्कर्ष निकालने की हममें सामान्य आदत होती है तथा हम इस आदत का अनुसरण करते हैं परन्तु सामाजिक चिन्तन में त्रुटियों का यह एक बड़ा स्रोत है।"[2]

यह आवश्यक नहीं है कि व्यक्ति के सम्बन्ध में निष्कर्ष समस्त समाज के सम्बन्ध में भी ठीक हों।

(2) समूह या समाज में पाए जाने वाले भेदों की उपेक्षा—समष्टि विश्लेषण में समूहों के योगों के आधार पर अध्ययन करते हैं परन्तु कभी-कभी समूहों में पाए जाने वाले अन्तर की उपेक्षा कर दी जाती है। इस प्रकार जो निष्कर्ष निकाले जाते हैं उनसे वास्तविक स्थिति का ज्ञान नहीं होता है। उदाहरण के लिए मान लीजिए कि किसी देश में एक वर्ष में विकास दर 5% है। दूसरे वर्ष भी विकास दर 5% है परन्तु दूसरे वर्ष प्रकृति अनुकूल होने के कारण कृषि उत्पादन में पहले वर्ष की अपेक्षा बहुत अधिक वृद्धि हुई है। दोनों वर्षों में विकास-दर पाँच प्रतिशत है जो यह बतलाती है कि अर्थ-व्यवस्था का विकास ठीक ढंग से हो रहा है। परन्तु वास्तव में यह निष्कर्ष ठीक नहीं है। कृषि उत्पादन में अत्यधिक वृद्धि होते हुए भी विकास दर पहले के ही समान है। इसका यह अर्थ है कि उद्योग आदि के उत्पादन में काफी कमी हुई है जो यह बतलाता है कि अर्थ-व्यवस्था का विकास ठीक नहीं हुआ है। यदि हम अर्थ-व्यवस्था का समूह भेद के अनुसार अध्ययन करें तो यह ज्ञात

1 "While individual saving is a virtue, national saving may prove calamity." —J. M. Keynes

2 "In Macro Economics therefore we must be on our guard against generalising from our individual experience. Generalising from our own experience is such a common habit that we constantly fall into it. It is, however, one of the greatest sources of error in social thinking." —K. E. Boulding

निगमन रीति
(Deductive Method)

निगमन प्रणाली का अर्थ

कुछ सामान्य मान्यताओं को लेकर तर्क द्वारा निष्कर्ष निकालने की रीति को निगमन प्रणाली कहा जाता है। इसका अर्थ यह है कि इस प्रणाली के अन्तर्गत हम आर्थिक जीवन की कुछ सामान्य मान्यताओं (General Hypotheses or Assumptions) को आधार मान कर चलते हैं और तर्क द्वारा उनका परीक्षण एवं विश्लेषण करके निष्कर्ष निकालते हैं। इस प्रकार निकाले गये निष्कर्ष को ही आर्थिक सिद्धान्त या नियम कहा जाता है जो किसी आर्थिक घटना के 'कारण' व 'परिणाम' के सम्बन्ध को बताता है। इस प्रकार बनाये गये सिद्धान्त या नियम क्योंकि सामान्य मान्यताओं पर आधारित होते हैं अतः अर्थशास्त्र के अध्ययन की इस रीति को अनुमान रीति (Hypothetical Method) भी कहते हैं।

उदाहरणार्थ, प्रत्येक व्यक्ति अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करना चाहता है या प्रत्येक व्यक्ति सस्ते मूल्य पर वस्तुएँ खरीदना चाहता है', ये सामान्य मान्यताएँ हैं। समस्या यह है कि क्या ये मान्यताएँ सभी व्यक्तियों तथा सभी परिस्थितियों में सत्य हैं। विभिन्न दशाओं तथा विभिन्न समयों एवं विभिन्न व्यक्तियों के सन्दर्भ में इन मान्यताओं की जाँच करके यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति का लक्ष्य अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करना है तथा प्रत्येक व्यक्ति सस्ते मूल्य पर ही किसी वस्तु को खरीदने के लिए तत्पर होता है।

उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि निगमन प्रणाली के अन्तर्गत हमारे तर्क की विधि का क्रम सामान्य से विशिष्ट की ओर (from general to particular) होता है। सर्वप्रथम आर्थिक घटना या समस्या का ज्ञान प्राप्त करना होता है। इसके बाद इस सम्बन्ध में सामान्य मान्यता या धारणा की जानकारी प्राप्त की जाती है। अन्त में इनकी तर्कपूर्ण विधि द्वारा जाँच करके निश्चित निष्कर्ष निकाले जाते हैं। प्रो० जे० के० मेहता के अनुसार, "निगमन तर्क वह तर्क है जिसमें हम दो तथ्यों के बीच के कारण और परिणाम सम्बन्धी सम्बन्ध से प्रारम्भ करते हैं और उसकी सहायता से उस कारण का परिणाम जानने का प्रयत्न करते हैं जबकि यह कारण अपना परिणाम प्रकट करने में अन्य बहुत से कारणों से मिला रहता है।"

अधिकांश प्राचीन प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने अर्थशास्त्र के अध्ययन की इस रीति का ही उपयोग किया है। एडम स्मिथ, रिकार्डो, सीनियर, मिल, कैरनेस आदि अर्थशास्त्री इस रीति के प्रबल समर्थक थे। परन्तु इन अर्थशास्त्रियों की बहुत सी धारणाएँ अवास्तविक थीं क्योंकि उनका यथार्थ स्थिति से कोई सम्बन्ध नहीं था। मार्शल, जेवन्स, फिशर आदि ने भी निगमन रीति का ही प्रयोग किया है परन्तु इन्होंने यथार्थ वस्तु स्थितियों का ध्यान में रख कर निगमन रीति की मान्यताओं को सही सिद्ध करने का प्रयत्न भी किया है।

बोल्डिंग ने निगमन रीति को मानसिक प्रयोग की रीति (Method of Intellectual Experiment) कहा है। उन्होंने कहा है कि चूँकि वास्तविक संसार बहुत ही जटिल है तथा उसका तुरन्त वास्तविक रूप से अध्ययन नहीं किया जा सकता है इसलिए पहले कम वास्तविक तथा सरल दशाओं व मान्यताओं को लेकर चलते हैं फिर वास्तविकता तक पहुँचने के लिए धीरे धीरे जटिल मान्यताओं का समावेश करते जाते हैं।[1] इस रीति को अमूर्त रीति (Abstract Method) काल्पनिक रीति (Hypothetical Method) विश्लेषणात्मक रीति (Analytic Method) या अनुभव रीति (A priori Method) भी कहते हैं। गणितीय रीति (Mathematical Method) निगमन रीति का ही एक रूप है। जेवन्स, एजवर्थ, हिक्स आदि ने गणितीय रीति का काफी प्रयोग किया है। आजकल गणितीय निगमन रीति का प्रयोग बढ़ता जा रहा है। इसका कारण यह है कि वास्तविक संसार बहुत ही जटिल है। अत वास्तविक तथ्यों का अध्ययन एवं विश्लेषण आसानी से नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि हम कुछ सरल मान्यताओं एव वास्तविक घटनाओं को लेकर चलते हैं फिर इनमें धीरे धीरे जटिल समस्याओं का समावेश करते जाते हैं ताकि वास्तविकता के सम्बन्ध में निश्चित निष्कर्ष निकाले जा सकें।

निगमन रीति के गुण (Merits of Deductive Method)

(1) **सरलता** —निगमन प्रणाली की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह रीति अत्यन्त सरल है क्योंकि इसके अन्तर्गत हम सरल सामान्य परिस्थितियों या मान्यताओं को लेकर प्रारम्भ करते हैं और फिर तर्क की सहायता से वास्तविकता की ओर बढ़ते हैं। प्रारम्भ में ही प्रयोग व निरीक्षण की जटिलता में न पड़ने से अर्थशास्त्र के अध्ययन में यह रीति सुविधा पहुँचाती है।

(2) **शुद्धता स्पष्टता तथा निश्चितता** —सामान्य मान्यताओं के ठीक होने पर तथा वास्तविक जगत के अधिक निकट होने पर तर्क द्वारा निकाले गये निष्कर्ष अधिकतर सही शुद्ध स्पष्ट एव सुनिश्चित होते हैं। गणित का उपयोग करने पर अनेक का अनुमान लगाना सरल हो जाता है जिससे लगाये गये अनुमान भी प्रायः शुद्ध एवं स्पष्ट ही होते हैं।

---

1 "The actual world is very complicated Under these circumstances what we do is to postulate in our own minds *economic systems* which are simpler than reality but more easy to grasp We then work out the relationships involved in these simplified systems and by introducing more and more complete assumptions finally work up to the consideration of reality itself"

—*Boulding Economic Analysis*

(3) **तथ्यों और आँकड़ों को एकत्र करने की आवश्यकता नहीं** —इस रीति की उपयोगिता अर्थशास्त्र के उन विभागों के अध्ययन में अधिक है जिनमें आर्थिक तथ्यों एवं आँकड़ों का एकत्र करना कठिन एवं असम्भव है। विनिमय एवं वितरण विभाग में इस प्रणाली के प्रयोग द्वारा बिना आँकड़ों के ही विशिष्ट निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

(4) **सर्वव्यापकता** —इस प्रणाली द्वारा निकाले गये निष्कर्ष तथा बनाये गये सिद्धान्त एवं नियम सभी देशों तथा सभी कालों में लागू होते हैं क्योंकि वे मनुष्य की सामान्य प्रकृति तथा स्वभाव पर आधारित होते हैं। उदाहरणार्थ उपयोगिता ह्रास नियम, जो निगमन प्रणाली द्वारा निकाला गया निष्कर्ष है, प्रत्येक देश, प्रत्येक अवस्था तथा प्रत्येक समय में लागू होता है।

(5) **निष्पक्षता** —इस रीति द्वारा निकाले गये निष्कर्ष निष्पक्ष होते हैं क्योंकि इस प्रणाली के अन्तर्गत एक सामान्य सत्य आधार पर तर्क द्वारा ही विशिष्ट निष्कर्ष निकाले जाते हैं। अतः इन निष्कर्षों पर अन्वेषक के व्यक्तिगत विचारों एवं दृष्टिकोणों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है तथा आर्थिक घटनाओं का उचित तथा पक्षपातरहित अध्ययन एवं विश्लेषण सम्भव हो पाता है।

(6) **आर्थिक सिद्धान्तों के निर्माण के लिए उपयोगी विधि** —अर्थशास्त्र एक सामाजिक विज्ञान है। इसमें समस्त आर्थिक घटनाओं की प्रयोग एवं परीक्षण द्वारा जाँच करना कठिन कार्य है। वस्तुतः ऐसे तथ्य होते हैं जिनकी जानकारी ही नहीं हो पाती है। ऐसी स्थिति में उपयुक्त मान्यताओं के आधार मानकर तर्कों द्वारा निष्कर्ष निकालना तथा आर्थिक सिद्धान्तों एवं नियमों का निर्माण करना सरल एवं सुगम होता है। वास्तविक अर्थशास्त्र का विकास निगमन प्रणाली के प्रयोग द्वारा ही सम्भव हो सका है।

(7) **आगमन रीति का पूरक** —निगमन रीति आगमन रीति की पूरक है क्योंकि इसकी सहायता से आगमन रीति द्वारा निकाले गये निष्कर्षों या बनाए गए नियमों की सत्यता की जाँच की जा सकती है।

इस प्रकार निगमन प्रणाली अध्ययन की एक अच्छी प्रणाली है। केयरनेस के शब्दों में, "निगमन प्रणाली का प्रयोग यदि उचित नियन्त्रण के साथ किया जाय तो कोई और प्रणाली इसका मुकाबला नहीं कर सकती है। वास्तव में यह अभी तक मानव बुद्धि द्वारा विकसित सबसे शक्तिशाली औजार रहा है।"[1]

---

1 "The method of deduction is incomparable when conducted under perfect checks the most powerful instrument of discovery ever wielded by human intelligence."

—Cairnes

निगमन रीति के दोष (Demerits of Deductive Method)

निगमन प्रणाली का उपयोग यदि सावधानीपूर्वक किया जाए तो प्राय निश्चित एव स्पष्ट निष्कर्ष प्राप्त हो सकते हैं। परन्तु इस विधि में कुछ कमियाँ भी हैं जिनके कारण इसकी आलोचना की जाती है। ये कमियाँ एव दोष निम्नलिखित हैं

(1) वास्तविक मान्यताओं के अभाव में सही निष्कर्ष निकलना कठिन है इस रीति में सबसे बड़ी कमी यह है कि जिस सामान्य मान्यता को लेकर हम चलते हैं यदि वह ही अवास्तविक है तो निकाले गए निष्कर्ष भी अवास्तविक एव दोषपूर्ण होंगे। प्राचीन अर्थशास्त्रियों की सबसे बड़ी भूल यह थी कि इन्होंने काल्पनिक तथ्य को वास्तविक मानकर इसके आधार पर विशिष्ट निष्कर्ष निकालने की चेष्टा की थी।[1] यदि वे सामान्य मान्यताओं की वास्तविकता की जाँच कर लेते तो विशिष्ट निष्कर्षों में त्रुटियाँ होने की सम्भावनाएँ कम हो जातीं।

इस सम्बन्ध में यह विचारधारा उचित नहीं है कि किसी आर्थिक निष्कर्ष या सिद्धान्त की सत्यता की जाँच सामान्य मान्यता की वास्तविकता के आधार पर की जाय। इस विधि का उपयोग तो कुछ सामान्य मान्यताओं के आधार पर तर्क वितर्क द्वारा विशिष्ट परिणाम या निष्कर्ष निकालना है। यदि ये निष्कर्ष वास्तविकता के निकट हैं तो उन्हें स्वीकार कर लिया जाता है। इसके विपरीत यदि वे वास्तविक जगत से दूर होते हैं तो उन्हें अस्वीकार कर दिया जाता है। इस आधार पर ही मिल्टन फ्रीडमैन का यह मत है कि मान्यताओं की वास्तविकता की जाँच करने की अपेक्षा प्राप्त निष्कर्षों की जाँच करना आवश्यक है क्योंकि वास्तविक जगत में सिद्धान्तों नियमों एव निष्कर्षों का ही विशेष महत्त्व है।[2]

(2) सर्वव्यापकता का अभाव —निगमन रीति के समर्थक विशिष्ट निष्कर्षों को परिवर्तनशील नहीं मानते हैं। ऐसी स्थिति में उन आर्थिक दशाओं में जो स्थान तथा समय के साथ-साथ निरन्तर बदलती रहती हैं ये निष्कर्ष लागू नहीं किए जा सकते। इन कारण ही इस रीति में सर्वव्यापकता की कमी पायी जाती है और उसे स्वयं में अपूर्ण एव अपर्याप्त माना जाता है।

---

1 "The mistake of the classical school did not consist in too frequent use of the abstract method but having too often mistaken the abstract for reality

—*Gide*

2 The great danger of the deductive method lies in the natural aversion of the labour of verification

—*Nicholson*

यह कमी इस प्रणाली की नहीं है। इस प्रणाली का प्रयोग करने वाले अन्वेषकों को चाहिए कि वे देश व काल के परिवर्तनशील सामाजिक तथ्यों को ध्यान में रखकर ही विशिष्ट निष्कर्ष निकालें।

(3) सभी आर्थिक समस्याओं का अध्ययन सम्भव नहीं है —इस रीति द्वारा सभी आर्थिक समस्याओं का अध्ययन नहीं किया जा सकता। आर्थिक नियोजन बेरोजगारी आर्थिक विषमता आदि के अध्ययन तथा तत्सम्बन्धी नीतियां बनाने के लिए यह रीति उपयुक्त नहीं है। अतः इस रीति पर निर्भर रहने से अर्थशास्त्र का पूर्ण विकास नहीं किया जा सकता।

(4) प्रावैगिक विश्लेषण सम्भव नहीं है —निगमन प्रणाली द्वारा स्थैतिक दशा का अध्ययन किया जाता है अतः इसके द्वारा प्रावैगिक (Dynamic) या निरन्तर परिवर्तनशील आर्थिक दशा का अध्ययन नहीं किया जा सकता है। इस विधि में अध्ययन करते समय अन्य क्रियाशील तत्वों का स्थिर मान लिया जाता है जबकि वास्तविक जगत परिवर्तनशील है। अतः यह विधि प्रावैगिक विश्लेषण के लिए बेकार है।

(5) इसका एक मात्र प्रयोग नहीं किया जा सकता है —यह प्रणाली अकेले प्रयोग के उपयुक्त नहीं है। यह स्वयं एक पूर्ण प्रणाली नहीं है तथा अध्ययन की अन्य प्रणालियों के साथ ही इसका उपयोग किया जा सकता है।

उपर्युक्त आक्षेप निराधार हैं क्योंकि उपर्युक्त समस्याओं के अध्ययन के लिए अब केवल निगमन विधि का ही प्रयोग नहीं किया जाता है इसके साथ आगमन विधि का भी उपयोग किया जाता है। प्रो० ए० पी० लर्नर (A P Lerner) ने ठीक ही कहा है कि निगमन आराम कुर्सी विश्लेषण (Deductive armchair analysis) को सार्वकालिक नहीं माना जा सकता है।

आगमन रीति
(Inductive Method)

आगमन रीति जिसे तथ्य प्रणाली भी कहते हैं निगमन रीति के ठीक विपरीत है। इस रीति का प्रयोग निगमन रीति का खण्डन करने वाले जर्मनी के पुराने अर्थशास्त्रियों रोशर (Roscher) लिस्ट (List), हिल्डेब्रैंड (Hildebrand) आदि ने किया था। इन अर्थशास्त्रियों को ऐतिहासिक सम्प्रदाय (Historical School) नाम से जाना जाता है। अतः इनके द्वारा प्रयोग में लायी जाने वाली इस रीति को ऐतिहासिक रीति (Historical Method) भी कहा जाता है। कुछ लोग इस रीति को अनुभववादी रीति (Empirical Method) भी कहते हैं।

इसमें तर्क की विधि का क्रम विशिष्ट से सामान्य की ओर होता है। इसमें तथ्यों की जांच एवं प्रयोग की सहायता से सिद्धान्त या नियम बनाए जाते हैं। यही कारण है कि इस रीति को प्रायोगिक प्रणाली (Experimental Method) भी

कहते हैं।[1] इस विधि के अन्तर्गत सर्वप्रथम बहुत सी विशिष्ट आर्थिक घटनाओं तथा वास्तविक तथ्यों के अवलोकन (Observation) एवं अध्ययन के आधार पर सामान्य सिद्धान्त या नियम का निर्माण कर लिया जाता है। उसके बाद प्रयोग (experiment) द्वारा उस सिद्धान्त की सत्यता की जाँच की जाती है और अन्त में प्रयोग एवं जाँच के आधार पर सामान्य सिद्धान्त का निर्माण किया जाता है।

उदाहरणार्थ जब हम माँग में वृद्धि के कारणों का अध्ययन करते हैं तो हमें यह ज्ञात होता है कि विभिन्न वस्तुओं के मूल्य कम होने पर ही उनकी माँग बढ़ती है। अतः यहाँ विशिष्ट तथ्यों से निकाले गये निष्कर्षों के आधार पर इस सामान्य नियम का निर्माण किया गया है कि वस्तुओं की कीमत कम होने पर उनकी माँग बढ़ जाती है।

आगमन रीति के रूप

आगमन रीति का उपयोग दो प्रकार से किया जाता है—**प्रयोगात्मक विधि** (Experimental Method) के रूप में अथवा **सांख्यिकीय विधि** (Statistical Method) के रूप में।

(1) **प्रयोगात्मक विधि** —इस विधि के अन्तर्गत नियन्त्रण प्रयोग (Controlled Experiments) किये जाते हैं। नियन्त्रण प्रयोगों की सहायता से कुछ आर्थिक घटनाओं के प्रभावों की जाँच अत्यन्त सरल परिस्थितियों में की जाती है क्योंकि अन्य विज्ञानों की तरह आर्थिक घटनाओं के कारणों एवं परिणामों की जाँच के लिए नियन्त्रण प्रयोग करना एक कठिन कार्य है। इसका प्रमुख यह कारण है कि अर्थशास्त्र एक सामाजिक विज्ञान है और आर्थिक घटनाएं देश व काल तथा मनुष्य के स्वभाव व प्रकृति में परिवर्तन होने से बदलती रहती हैं। अतः अर्थशास्त्र में इस विधि का उपयोग बहुत ही कम किया जाता है।

*(2) **सांख्यिकीय विधि** —अर्थशास्त्र के अध्ययन के लिए सांख्यिकीय विधि* का ही अधिक प्रयोग किया जाता है क्योंकि इसके अन्तर्गत आर्थिक घटनाओं एवं तथ्यों से सम्बन्धित आंकड़ों का संग्रह करना तथा उनका वर्गीकरण एवं विश्लेषण करना एवं उनसे निष्कर्ष निकालना सरल होता है। सांख्यिकीय विश्लेषण से बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार सिद्धान्तों की जाँच तथा सिद्धान्तों की सत्यता की माप सम्भव हो पाता है और उनमें आवश्यकतानुसार संशोधन किये जा सकते हैं। यही कारण है कि अर्थशास्त्र में आगमन प्रणाली में सांख्यिकीय विश्लेषण का महत्त्व अधिक बढ़ता जा रहा है।

---

1 आगमन रीति को वास्तविक रीति (Realistic Method), अनुभवाश्रित रीति (Empirical Method), ऐतिहासिक रीति (Historical Method) या उत्तरानुभाव (a Posteriori Method) भी कहते हैं।

प्रागमन रीति के गुण (Merits of Inductive Method)

(1) **निकाले गये निष्कर्षों का वास्तविक होना**—प्रवलोकन एव प्रयोग के प्राधार पर विशिष्ट प्रार्थिक घटनाम्रो एव तथ्यो से निकाले गय निष्कष वास्तविकता क प्रधिक निकट होते है।

(2) **निष्कर्षों की जाँच सम्भव है**—इस विधि क प्रन्तगत निकाले गये निष्कर्षों की सत्यता की जाँच प्रयोगो एव प्रय तथ्यो द्वारा की जा सकती है।

(3) **एक प्रावगिक विधि**—प्रागमन रीति प्रावगिक दृष्टिकोण (Dynamic Approach) पर प्राधारित है। इसका प्रथ यह है कि यह रीति प्रार्थिक परिस्थितियो की जटिलता तथा इनम परिवतन होने की प्रवृत्ति को स्वीकार करती है।

(4) **व्यापक प्रथशास्त्र के लिए उपयोगी**—यह रीति सास्यिकीय विश्लेषण द्वारा व्यापक प्रार्थिक विषयो जस राष्ट्रीय प्राय पूण रोजगार कुल माँग, प्रार्थिक विकास प्रादि समस्याम्रो का प्रध्ययन एव विश्लेषण करने तथा उचित नीतियो का निर्माण करन मे सहायक होती हैं।

(5) **निगमन प्रणाली की पूरक**—यह रीति निगमन प्रणाली की पूरक के रूप म काय करती है। इसके द्वारा निगमन प्रणाली के सामान्य सत्य की वास्तविकता एव यथाथता की जाँच प्रवलोकन एव प्रयोग द्वारा की जा सकती है।

प्रागमन रीति क दोष (Demerits of Inductive Method)

(1) **सरलता का प्रभाव**—इस रीति का सबस बडा दोष यह है कि इसका प्रयोग प्रत्यन्त कठिन हैं। सभी लोगो को सास्यिकीय विधि का ज्ञान नही होता है। प्रत इस विधि का प्रयोग उन्ही व्यक्तियो द्वारा किया जा सकता है जिन्ह प्रांकडो को एकत्र करने तथा उनका वर्गीकरण एव विश्लेषण करने का प्रशिक्षण प्राप्त होता है। इसके प्रतिरिक्त इसम धन श्रम एव समय भी बहुत लगता है।

(2) **पूर्णतया निश्चित निष्कष नहीं**—नियन्त्रित प्रयोग न होने के कारण एकत्रित सूचनाम्रो तथा प्रांकडो क प्रपर्याप्त होने पर उनस निकाल गय निष्कष के सत्य एव शुद्ध होने की प्रधिक या कम सम्भावना हो सकती है। यदि प्रवलोकन का क्षेत्र सीमित रखा जाता है तो निष्कर्षों के प्रसत्य होने की सम्भावना प्रधिक रहती है।

बाल्डिग के शब्दो म सास्यिक सूचना केवल ऐसी बातो या निष्कर्षों को प्रस्तुत कर सकती है जिनके घटित होने की प्रधिक या कम सम्भावना हो सकती है परन्तु वह पूण निश्चित निष्कष नही दे सकती है।'[1] उन्होन साफ शब्दो म कहा

---

1 Statistical information can only give us propositions whose truth is more or less probable it can never give us certainty

है यदि कुछ दशाओं में दो बातें एक साथ देखी जाती हैं तो यह मान लेना कि उनमें कारण और परिणाम का सम्बन्ध अवश्य है सांख्यिकीय खोज का सबसे खतरनाक भ्रम है।[1]

(3) **पक्षपातपूर्ण निष्कर्षों की सम्भावना** —इस रीति में पक्षपातपूर्ण निष्कर्षों की सम्भावना अधिक रहती है। यदि एकत्र किए गए आंकड़ों अथवा तथ्यों की इच्छानुसार व्याख्या की जाती है और उनसे मनमाने परिणाम निकाले जाते हैं तो वे निश्चय ही पक्षपातपूर्ण तथा वास्तविकता से परे होंगे।

(4) **आर्थिक समस्याओं के अध्ययन में प्रयोगिक विधि का अनुपयोगी होना** —कई आर्थिक समस्याएं अत्यन्त जटिल होती हैं। इनको प्रभावित करने वाली परिस्थितियां एक दूसरे से इस प्रकार जुड़ी होती हैं कि उनका अलग अलग अध्ययन करना कठिन हो जाता है। इसके अतिरिक्त आर्थिक समस्याएं सामाजिक होती हैं जिनका सम्बन्ध मनुष्य से होता है। मनुष्य की प्रवृत्तियाँ क्योंकि परिवर्तनशील तथा सामाजिक वातावरण से प्रभावित होने वाली होती हैं अतः आर्थिक समस्याओं से सम्बन्धित तथ्यों के लिए प्रायोगिक विधि अपनाना अधिक कठिन है। इन समस्याओं का अध्ययन करने के लिए निगमन प्रणाली ही सहायक सिद्ध हो सकती है।

(5) **यह प्रणाली विश्लेषण की पूर्ण रीति नहीं है** केवल आगमन रीति से ही किसी भी विषय का विकास नहीं किया जा सकता है। **प्रो० डर्बिन** के अनुसार आंकड़े तथा तथ्य स्वयं नहीं बोलते है। उचित विश्लेषण तुलना तथा भविष्यवाणी द्वारा ही उनसे उपयुक्त परिणाम निकाले जा सकते हैं। **प्रो० जेवन्स** के शब्दों में यद्यपि अवलोकन तथा आगमन प्रकृति के सम्बन्ध में निश्चित ज्ञान प्राप्त करने का आधार रहे हैं किन्तु अन्य रीतियों की सहायता के बिना आधुनिक विज्ञान के निष्कर्ष उसके द्वारा नहीं निकाले जा सकते हैं।[2]

आगमन रीति की उपयुक्त कमियों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अर्थशास्त्र का विकास केवल आगमन रीति द्वारा ही सम्भव नहीं है। किसी भी विज्ञान का विकास केवल अवलोकन तथा आगमन (परीक्षण एवं प्रयोग) द्वारा ही नहीं होता है। यह ठीक है कि ज्ञान के लिए इनकी सहायता

---

1 The most dangerous fallacy in statistical investigation is that of assuming that if two things have been observed together in a few instances they must of necessity be casually connected"

2. Though observation and Induction must ever be the ground of all certain knowledge of nature their unaided employment could never have led to the results of modern science

—*Jevons*

आवश्यक है परन्तु आधुनिक विज्ञान के परिणाम बिना किसी अन्य रीति की सहायता के केवल आगमन रीति से ही प्राप्त नहीं किये जा सकते थे। वास्तविक जगत में विज्ञान के विकास के लिए आगमन रीति के साथ ही साथ निगमन रीति की भी आवश्यकता पडती है।

अध्ययन की रीतियों के सम्बन्ध मे विवाद
(Controversy over the Methods of Study)

अर्थशास्त्र के अध्ययन के लिए समय समय पर निगमन रीति अथवा आगमन रीति का प्रयोग किया गया है। अत यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि कौन-सी रीति अधिक उपयोगी है? इस सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों में काफी मतभेद रहा है।

प्राचीन प्रतिष्ठित अंग्रेज अर्थशास्त्रियों ने निम्नलिखित तर्कों के आधार पर निगमन प्रणाली को ही अधिक महत्त्व दिया था —

(i) आर्थिक तथ्यों के सम्बन्ध में निश्चितता (Certainty) निगमन प्रणाली द्वारा ही स्थापित की जा सकती है

(ii) अर्थशास्त्र के अध्ययन का विषय मनुष्य है जिस पर किसी प्रकार का प्रयोग सम्भव नही है

उस समय सांख्यिकीय का विकास न होने के कारण केवल तर्क का ही सहारा लिया जा सकता था। इसीलिए निगमन प्रणाली के समर्थक अर्थशास्त्री अर्थशास्त्र तथा तर्कशास्त्र के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध मानते थे। यही कारण है कि वे निगमन प्रणाली के अनुसार निकाले गये निष्कर्षों की त्रुटियों एव अवास्तविकताओं को दूर करने के लिए तर्कशास्त्र के नियमों को ही उपयोग मे लाने की राय देते थे। परन्तु इस सबका परिणाम यह हुआ कि अर्थशास्त्र एक अव्यावहारिक एव अवास्तविक विज्ञान माना जाने लगा।

प्राचीन प्रतिष्ठित अंग्रेज अर्थशास्त्रियों की निगमन प्रणाली के विरोध में उन्नीसवीं शताब्दी में जर्मनी के ऐतिहासिक स्कूल (Historical School) के अर्थशास्त्रियों ने अर्थशास्त्र को वास्तविक विज्ञान बनाने की चेष्टा की। उन्होंने प्राचीन अंग्रेज अर्थशास्त्रियों के इस विचार का खण्डन किया कि निगमन प्रणाली ही आर्थिक समस्याओं के अध्ययन के लिए सबसे उपयुक्त रीति है। ऐतिहासिक स्कूल के अर्थशास्त्रियों का मत था कि (1) निगमन प्रणाली अर्थशास्त्र को औपचारिक तथा अव्यावहारिक शास्त्र बनाने में सहायक हुई है (2) उसका अनुकरण करने पर निकाले गये निष्कर्ष या तथ्य वास्तविकता से दूर होते हैं। उनके विचार से तथ्यों का अध्ययन करने के लिए आगमन विधि ही सबसे उपयुक्त है क्योंकि आर्थिक क्षेत्र में विभिन्न समस्याओं के सम्बन्ध में सामान्य सत्यता या स्वयं सिद्धियों को आधार मानकर निकाले गये निष्कर्ष वास्तविक नहीं कहे जा सकते। अत जब तक आगमन

या अनुभव प्रणाली के द्वारा विशिष्ट तथ्यो का निरीक्षण नहीं किया जायगा, तब तक एक सामान्य सत्य की वास्तविकता परखी नही जा सकती। इस प्रकार आगमन प्रणाली द्वारा ज्ञात किए गए निष्कर्षों की सत्यता की जाच निगमन प्रणाली के सामान्य सत्य से भी करना आवश्यक है जिससे गलत धारणाओं और पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण के कारण होने वाली त्रुटियां को दूर किया जा सके।

दोनो विधियां एक-दूसरे की पूरक हैं

निगमन तथा आगमन विधियो के उपयुक्त विवेचन से यह ज्ञात होता है कि आर्थिक विश्लेषण के लिए अर्थशास्त्रियो ने समय समय पर निगमन (Deductive) तथा *आगमन (Inductive) विधियां का प्रयोग किया है। प्राचीन अंग्रेज अर्थशास्त्रियो* (Classical Economists) ने निगमन विधि (Deductive Method) को अधिक महत्त्व दिया था जबकि जर्मनी के ऐतिहासिक विचारधारा (Historical School) *के समर्थकों ने आगमन विधि (Inductive Method) पर विशेष बल दिया था।* परन्तु अब यह स्पष्ट हो चुका है कि कोई भी विधि स्वतन्त्र रूप में आर्थिक तथ्यों एवं घटनाओं का विश्लेषण करने तथा आवश्यक निष्कर्ष निकालने के लिए स्वयं में पूर्ण नहीं है। **प्रोफेसर मार्शल** *ने इस विवाद का कि आर्थिक विश्लेषण की इन* दोनों विधियां में कौन सी विधि अधिक उपयोगी है समाप्त करते हुए दोनों ही विधियां का साथ साथ प्रयोग करने को ही अधिक उपयोगी बतलाया है। उनका *कहना है कि दोनों विधियां एक दूसरे की पूरक है क्योंकि 'खोज की कोई भी ऐसी* विधि नहीं है जिसे हम अर्थशास्त्र की विधि कह सकें बल्कि समुचित स्थान पर प्रत्येक विधि का या तो व्यक्तिगत रूप में या अन्य विधियां के साथ मिलकर प्रयोग *करना चाहिए।* [1]

मार्शल ने दोनों विधियां के पूरक तत्त्व को स्पष्ट करने हेतु **श्मोलर** (Schmoller) का उद्धरण इस प्रकार दिया है अवलोकन (Observation) *तथा वर्णन (De cription) परिभाषा तथा वर्गीकरण प्रारम्भिक क्रियाएं हैं।* परन्तु हम इनके द्वारा आर्थिक घटनाओं की पारस्परिक निर्भरता के ज्ञान तक पहुंचना चाहते हैं। वैज्ञानिक ज्ञान के लिए आगमन तथा निगमन दोनों की उसी

---

1 There is not any one method of investigation which can properly be called the method of Economic but every method must be made serviceable at its proper place either singly or in combination with others

—*Marshall*

प्रकार आवश्यकता होती है जिस प्रकार चलने के लिए बायें और दायें पर दोनो की ही आवश्यकता पड़ती है।"[1]

आधुनिक अर्थशास्त्री उपयुक्त विचारधारा के ही समर्थक हैं। सैम्युअलसन (Samuelson) का इस सम्बन्ध म यह मत है कि ठीक स समझने पर सिद्धान्त (theory) व अवलोकन (observation) निगमन व आगमन में विरोध नहीं हो सकता। [2] वगनर (Wagner) के अनुसार विधि के सम्बन्ध म विवाद का वास्तविक हल निगमन अथवा आगमन विधि का चुनाव करने स नहीं बल्कि निगमन तथा आगमन दोनों को अपनाने पर ही मिल सकता है।[3] फ्रेजर के शब्दों म 'निगमन आगमन के बिना रिक्त है और आगमन निगमन के बिना अन्धा है।[4] अत यह निष्कर्ष निकलता है कि निगमन तथा आगमन विधियां प्रतिस्पर्द्धी (rivals) नहीं हैं क्योंकि सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र के पूर्ण विकास के लिए दोनों का प्रयोग आवश्यक है। जे०एम० कीन्स ने ठीक ही कहा है, दोनों रीतियों के निष्पक्ष मिश्रण से ही अर्थ विज्ञान का पूर्ण विकास सम्भव है। [5]

---

1 Ob ervation and de cription definition and classification are the preparatory activities But what we desire to reach thereby is a knowledge of the interdependence of economic phenomena Induction and deduction are both needed for scientific thought as the left and right foot are both needed for walking

—*Schmoller* Quoted by *Marshall*

2 Properly understood theory and observation deduction and induction cannot be in conflict

—*Samuelson*

3 The true solution of the contest about method is not to be found in the selection of deduction or induction but in acceptance of deduction and induction.

—*Wagner*

4 Deduction without induction is empty and induction without deduction is blind

—*Freaser*

5 As a matter of fact it is only by the unprejudiced combination of the two methods that any complete development of economic science is possible"

—*J M Keynes*

वज्ञानिक रीति
(Scientific Method)

आधुनिक अथशास्त्री वनानिक रीति (Scientific Method) क प्रयोग पर बल दत ह वह निगमन तथा आगमन विधियो का ही समन्वित रूप (integrated form) है।

वनानिक विधि म निगमन तथा आगमन विधियाँ किस प्रकार जुडी हुई ह ? इस बात का जानकारी वनानिक विधि की सम्पूण प्रक्रिया क विश्लषण स ही प्राप्त हो सकती है। सामान्यत वनानिक विधि की सम्पूण प्रक्रिया पाच चरणो क क्रम (five steps order) म बाटी जा सकती है जिन्ह दो वर्गो म रखा जा सकता है जसा कि नीच दिय गय विवरण स स्पष्ट ह

(i) **समस्या का चुनाव (Selection of Problem)** सवप्रथम अथशास्त्री सामान्य आर्थिक घटनाओ का विश्लेषण करन के लिए आर्थिक समस्या का चुनाव करता है तथा अपन दृष्टिकोण से उसको ठीक ढग स परिभाषित करता ह।

(ii) **समस्या का अवलोकन (Obs rvation)** समस्या की उचित परिभाषा दन के बाद अथशास्त्री समस्या स सम्बन्धित तथ्यो एव आकडो को एकत्र करता है जिसको *अनुभव पर आश्रित समस्या की अवलोकन प्रक्रिया कहा* जाता है। उदाहरण क लिए यदि खाद्यान्नो व मूल्यो म वद्धि की समस्या का विश्लेषण करना ह तो खाद्यान्नो क उत्पादन उपभोक्ताओ की माग खाद्यान्नो क बढ़त हुए मूल्य की प्रवत्ति आदि स सम्बन्धित तथ्य एव आकडो को एकत्र करना होगा।

(iii) **सामान्य मान्यताओ एव परिकल्पनाओं का निर्माण (Building of Hypotheses)** वनानिक ढग से सम्बन्धित तथ्यो एव आकडो को एकत्र करन क पश्चात् उनकी सत्यता स विशिष्ट घटना या घटनाओ तथा व्यवहार की सामान्य व्याख्या की जाती है। इस सामान्य अनुमानित व्याख्या को ही परिकल्पना या मान्यता (hypothe es) कहा जाता है। यह परिकल्पना बिना जाच किय कवल अनुमान होता ह।

(iv) **निष्कष (Prediction)** परिकल्पना का निर्माण कर लेने क बाद उसक आधार पर निगमन तक (deductive logic) द्वारा कुछ निष्कष या परिणाम निकाल जाते हैं। इस प्रकार निकाला गया निष्कष आर्थिक सिद्धात या कवल सिद्धान्त कहा जाता ह।

इस प्रकार सामान्य परिकल्पना या मान्यता स निगमन तक की प्रक्रिया द्वारा विशिष्ट निष्कष या परिणाम निकाल कर आर्थिक सिद्धान्त क निर्माण तक का क्रम निगमन विधि क अन्तगत आता है।

(v) **सिद्धान्त की जांच** (Testing the Theory) सामान्य घटना एवं समस्या से सम्बन्धित आंकड़ों से निष्कर्ष निकालने के बाद आगमन विधि का क्रम आरम्भ होता है। इस विधि द्वारा विशिष्ट निष्कर्ष पर आधारित सिद्धान्त की वास्तविक तथ्यों एवं अनुभवों की सहायता से जांच की जाती है। जांच करने की प्रक्रिया में यदि वास्तविक तथ्यों से पूर्व निर्मित सिद्धान्त की पुष्टि हो जाती है तो वह सिद्धान्त स्वीकार कर लिया जाता है और यहां वैज्ञानिक विधि का पूर्ण वृत्त (Circle) समाप्त हो जाता है। इसके विपरीत यदि निकाले गये निष्कर्षों पर आधारित सिद्धान्त की वास्तविक तथ्यों तथा अनुभवों से पुष्टि नहीं होती है तो या तो नये तथ्यों के अनुसार उस सिद्धान्त में संशोधन किये जाते हैं या उसके स्थान पर एक उत्तम सिद्धान्त का निर्माण करने के लिए वैज्ञानिक विधि की प्रक्रिया पुनः प्रथम चरण से प्रारम्भ की जाती है।
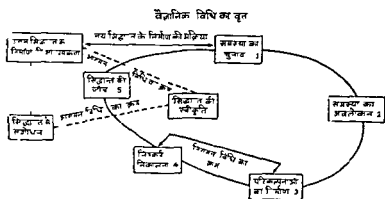
चित्र–1

वैज्ञानिक विधि के उपर्युक्त विवरण से यह निष्कर्ष स्पष्ट हो प्रतीत होता है कि आर्थिक सिद्धान्त के निर्माण तथा उसकी जाँच करने के लिए निगमन तथा आगमन विधियों का पारस्परिक सहयोग आवश्यक है। वैज्ञानिक विधि का वृत्त (Circle) इस बात का प्रमाण है कि निगमन-आगमन एक दूसरे से इस प्रकार जुड़े हुए हैं कि किसी एक के बिना आर्थिक विश्लेषण की प्रक्रिया पूर्ण रूप से सम्भव नहीं हो सकती। तर्क-तथ्य-तर्क का सम्पूर्ण क्रम वैज्ञानिक विधि के लिए आवश्यक अङ्ग है।

प्रश्न व संकेत

1 जाच (Investigation) की कोई भी एक एसी रीति नही है जिसे अर्थशास्त्र के अध्ययन का उचित रीति कहा जा सके बल्कि प्रत्येक का यथास्थान या तो अकेले या मिश्रित रूप में प्रयोग किया जाना चाहिए। —मार्शल
व्याख्या कीजिए।

There is not any one method of investigation which can properly be called the method of Economics but every method must be made serviceable as its proper place either singly or in combination with others Discuss —*Marshall*

[संकेत—अध्ययन का दोनो विधियो आगमन व निगमन की कमियाँ बताते हुए स्पष्ट कीजिए कि दोनो के प्रयोग का उचित क्षेत्र क्या है ?]

2 अर्थशास्त्र के अध्ययन म निगमन तथा आगमन प्रणालियो के प्रयोग की व्याख्या कीजिए और बताइए कि अर्थशास्त्र के विभिन्न विभागो म उनकी उपयोगिता म क्या परिवर्तन होता है ?

Explain the use of Deductive and Inductive methods in the study of Economics Discuss what changes take place in their importance in the various departments of Economics ?

[संकेत—दोनो विधियो के प्रयोग बताइए तथा अर्थशास्त्र के विभिन्न विभागो म उनकी उपादेयता का विवेचन कीजिए।]

3 आर्थिक नियमो को निकालने की रीतियां बताइए। क्या ये रीतियां एक दूसरे की पूरक होती है ?

Discuss the methods for the derivation of economic laws Are these methods complementary ?

[संकेत—दोनो विधियो (आगमन व निगमन) का विवेचन कीजिए तथा दोनो की परस्पर अन्तर्निभरता बताइए।]

4 आगमन व निगमन विधि की सविस्तार आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

Critically explain the Deductive and Inductive methods

[संकेत—निगमन तथा आगमन विधियो का विस्तार से वर्णन कीजिए।]

5 जिस प्रकार चलने के लिए दाये और बायें पैरो की आवश्यकता होती है उसी प्रकार अर्थशास्त्र के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए निगमन तथा आगमन दोनो *प्रणालियाँ आवश्यक हैं। समझाइए।*

Induction and Deduction are both needed for scientific thought as the right and left *foot are both needed for walking* Explain

अथवा

विवाद का हल निगमन और आगमन प्रणाली के चुनाव म नहा है, बल्कि निगमन और आगमन प्रणालियों का स्वीकार कर लेने म है। (वैगनर) विवचना कीजिए।

"The true solution of the contest about method is not to be found in the selection of Deduction or Induction, but in the acceptance of deduction and induction (Wagner) Discuss.

[सकत—इनके प्रत्युत्तर के लिए पहले निगमन एव आगमन विधियों का अथ उनके गुण दोष दीजिए। अन्त म यह सारांश दें कि आर्थिक अध्ययन के लिए दोनों की आवश्यकता होती है।]

स्थैतिक का अभिप्राय गतिहीन, निष्क्रिय या स्थिर अर्थव्यवस्था से नहीं है, बल्कि ऐसी अर्थव्यवस्था से है जिसमें गति होती है परन्तु गति की दर समान रहती है। इस स्थिति में आर्थिक दशा समय-तत्त्व (Time element) से अप्रभावित रहती है। अतः उसमें अनिश्चितता व उतार-चढ़ाव नहीं होते। सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था एक निश्चित एवं नियमित गति से चलती रहती है। प्रो० हैराड ने स्थैतिक को इस प्रकार परिभाषित किया है, **"स्थैतिक संतुलन का अर्थ विश्राम की अवस्था नहीं है, बल्कि वह अवस्था है जिसमें दिन प्रति दिन तथा वर्ष प्रति वर्ष निरन्तर चुस्ती से कार्य हो रहा हो परन्तु उसमें वृद्धि या कमी नहीं हो रही हो। इस सक्रिय परन्तु अपरिवर्तनशील प्रक्रिया को स्थैतिक अर्थशास्त्र कहा जाना चाहिए।"**[1]

इस शब्द के अर्थ के विषय में इतने भिन्न विचार प्रकट किए गए हैं कि हम एक निश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते। अतः यहाँ पर इस शब्द के सम्बन्ध में प्रकट किए गए कुछ विचारों पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

(i) **मार्शल के अनुसार**, 'स्थैतिक अवस्था के सभी महत्त्वपूर्ण लक्षण ऐसे स्थान पर प्रदर्शित किए जा सकते हैं जहाँ जनसंख्या तथा धन दोनों बढ़ रहे हों तथा दोनों में वृद्धि की दर लगभग समान हो और भूमि की कोई कमी नहीं हो। उत्पादन की दशाओं तथा विधियों में बहुत कम परिवर्तन हो रहा हो तथा जहाँ मनुष्य का चरित्र स्वयं स्थिर रहता हो।'[2]

(ii) **प्रो० मकफाई** के शब्दों में, "स्थैतिक दशा एक ऐसी आर्थिक प्रणाली है जिसमें उत्पादन, उपभोग, विनिमय तथा वितरण को नियन्त्रित करने वाले साधन स्थिर हों अथवा स्थिर मान लिए गए हों। जनसंख्या को न तो बढ़ती हुई मानते हैं न घटती हुई और उसकी आयु के ढाँचे में परिवर्तन नहीं होता है। उत्पादन प्रणाली तथा कुल उत्पादन पूर्ववत् रहते हैं या यदि जनसंख्या में वृद्धि होती है तो कम से कम

---

1. Thus a static equilibrium by no means implies a state of idleness but one in which work is steadily going forward day by day and year by year but without increase or diminution that it is to this active but unchanging process that the expression static economics should be applied

—*Harrod*

2. Nearly all the distinctive features of a stationary state may be exhibited in a place where population and wealth are both growing provided they are growing at about the same rate and there is no scarcity of land and provided also the methods of production and the conditions change very little and above all where the character of man himself is a constant qu

—*Marshall*

यह मान लिया जाता है कि कुल उत्पादन भी उसी दर से बढ़ रहा है।'[1] प्रो० टिनबर्जन (Tinbergen) स्टिगलर (Stigler) तथा प्रो० क्लार्क (B Clark) ने भी "स्थैतिक" को मैकफाई की ही तरह स्थिर अर्थ-व्यवस्था माना है। स्टिगलर ने ऐसी अर्थ-व्यवस्था को स्थैतिक कहा है जिसमें तीनों बातों—रुचि साधनों तथा प्रविधि (Technology)—में कोई परिवर्तन नहीं होता है। क्लार्क ने ऐसी अर्थ-व्यवस्था को स्थैतिक माना है जिसमें पाँच बातों—जनसंख्या पूँजी, उत्पादन प्रणाली मनुष्य की आवश्यकताओं और वैयक्तिक संस्थाओं—के स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं होता है। पीगू के अनुसार स्थैतिक में भी परिवर्तन होते हैं परन्तु ये परिवर्तन महत्त्वपूर्ण नहीं होते हैं। पीगू ने इसका स्पष्टीकरण इन शब्दों में किया है जिन बूँदों से झरना बनता है वे सदा बदलती रहती हैं किन्तु झरना अपरिवर्तित रहता है। इसी प्रकार स्थैतिक दशा में स्थिति में होने वाले परिवर्तन महत्त्वपूर्ण नहीं होते हैं।

(iii) प्रो० जे० के० मेहता ने स्थैतिक तथा गतिशील के सम्बन्ध में अपना मौलिक विचार व्यक्त किया है। इनके अनुसार स्थैतिक स्थिति वह है जो एक निश्चित समय या अवधि के पश्चात् भी उसी रूप में बनी रहती है। परन्तु यदि निश्चित समय के पश्चात् अवस्था में परिवर्तन हो जाता है तो उसे गतिशील स्थिति कहेंगे। उदाहरण के लिए हम एक सप्ताह की अवधि ले लें। यदि एक सप्ताह के पश्चात् भी सन्तुलन की स्थिति पूर्ववत् रहती है तो इसे स्थैतिक स्थिति कहेंगे परन्तु यदि एक सप्ताह के पश्चात् सन्तुलन में परिवर्तन हो जाता है तो इसे गतिशील स्थिति कहेंगे। इस प्रकार स्थैतिक तथा गतिशील स्थिति के निर्धारण में एक निश्चित समय या अवधि का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

(iv) जे० आर० हिक्स के अनुसार आर्थिक सिद्धान्त के उन भागों को आर्थिक-स्थैतिक कहा जाता है जिनमें हम तिथि का ध्यान नहीं रखते और गतिशील उन भागों को कहते हैं जिनमें प्रत्येक मात्रा या मात्रा का सम्बन्ध किसी तिथि से होता है।[2]

इस प्रकार हिक्स के अनुसार तिथिकरण (dating) महत्त्वपूर्ण है। हैरॉड

---

1 'The stationary state is an economic system in which the factors which control production and consumption distribution and exchange are constant. Population is regarded as neither increasing nor decreasing and its age composition does not alter methods of production and the total output remain the same or, if population grows, total output must be regarded as growing at the same rate —Mafcie

2 "We call economic statics those parts of economic theory where we do not trouble about dating economic dynamics those parts where every quantity must be dated."

—J R Hicks Value and Capital

ने 'तिथिकरण' पर आपत्ति की है। हैरॉड ने कहा है कि गतिशील के अन्तर्गत निरन्तर होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन किया जाना चाहिए। परन्तु यदि एक निश्चित अवधि में होने वाले परिवर्तनों की तुलना किसी अन्य निश्चित अवधि के परिवर्तनों से की जाए तो इसे तुलनात्मक स्थैतिक" (Comparative Static) की संज्ञा देनी चाहिए।

अत यह कहा जा सकता है कि स्थैतिक का सम्बन्ध परिवर्तन की प्रक्रिया (Process of change) से नहीं होता है। स्थैतिक एक दिए हुए समय में अर्थ व्यवस्था का विश्लेषण करती है। यह गतिशील या प्रावैगिक अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न अंगों तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन एक दिए हुए समय में करती है। एक दिए गए समय में अर्थ-व्यवस्था के स्थिर चित्र का अध्ययन स्थैतिक विश्लेषण कहा जाता है। समय परिवर्तन पर हम ध्यान नहीं देते हैं। एक ही समय से सम्बन्धित सभी चरों में तात्कालिक सम्बन्धों का विश्लेषण करते हैं। सैम्युअलसन के शब्दों में स्थैतिक का अर्थ निश्चित नियमों के ढाँचे से है जो अर्थव्यवस्था के व्यवहार को निश्चित करते हैं। वक्रों के जोड़ों के परस्पर काटने से स्थापित साम्य स्थैतिक होगा। साधारणतया यह समयरहित है जिसमें प्रक्रिया की अवधि के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं बतलाया जाता परन्तु इसे किसी समय की अवधि में भी सही होना कहा जा सकता है। उन्होंने अन्यत्र पुन स्पष्टीकरण इन शब्दों में किया है "स्थैतिक अर्थशास्त्र का सम्बन्ध आर्थिक चरों के परस्पर निर्भर सम्बन्धों के एक-साथ तथा तात्कालिक या समयरहित निर्धारण से है।

स्थैतिक अर्थशास्त्र की विशेषताएँ (Characteristics of Static Economics)

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर स्थैतिक की निम्नलिखित विशेषताएं हैं

1 **स्थैतिक में साम्य का विचार महत्त्वपूर्ण है** साम्य स्थैतिक विश्लेषण का आधार है। स्थैतिक का सम्बन्ध एक समय विशेष पर अर्थव्यवस्था या उसकी किसी आर्थिक इकाई की साम्य स्थिति के अध्ययन से है। स्थैतिक उस परिवर्तन की प्रक्रिया (Process of change) तथा उस समय रास्ते (Time Path) का अध्ययन नहीं करती जिसके द्वारा साम्य स्थिति में पहुँचा जाता है। इसके अन्तर्गत केवल समय विशेष में साम्य स्थिति का अध्ययन किया जाता है।

2 **स्थैतिक विश्लेषण समयरहित धारणा है** इसके अन्तर्गत एक दिए हुए समय में ही आर्थिक तत्त्वों का विश्लेषण किया जाता है। इसमें आर्थिक तत्त्वों का भूतकाल या भविष्य से सम्बन्ध नहीं होता है। समय विशेष में क्या स्थिति है? का अध्ययन किया जाता है। इस प्रकार स्थैतिक अध्ययन में समय की उपेक्षा की जाती है। यह इस बात को मानकर चलता है कि अर्थव्यवस्था में परिवर्तन के साथ तुरन्त समायोजन (adjustment) हो जाते हैं। इस प्रकार यह स्थैतिक व्यवस्था या आर्थिक इकाई के स्थिर चित्र का अध्ययन करता है।

3 स्थतिक अर्थव्यवस्था गतिहीन अर्थव्यवस्था नहीं होती है स्थतिक अर्थ व्यवस्था म भी मन्द परिवतन हाते रहते हैं, परन्तु य परिवतन समान तथा नियमित होते हैं। इन परिवतनो द्वारा अर्थव्यवस्था के ढाँचे म मौलिक या क्रान्तिकारी परिवतन नहा होत हैं। हिक्स के शब्दो म स्थतिक स्थिति गतिशील (प्रावगिक) अर्थ शास्त्र की वह विशेष दशा है जिसम रुचि उत्पादन विधि तथा साधन पहल जस रहते हैं। मार्शल ने स्थतिक की तुलना एक जगल स की है। जिस प्रकार एक जगल म निरन्तर पुराने पेड गिरते रहते हैं तथा नय तयार हाते रहते हैं परन्तु जगल के पूरे आकार म कोई परिवतन नहीं होता है उसी प्रकार स्थतिक म परिवतन होते रहते हैं अर्थव्यवस्था गतिमान रहती है परन्तु य परिवतन अर्थव्यवस्था म मौलिक परिवतन नहीं लाते है। पीगू ने झरने का उदाहरण दिया है। एक झरने द्वारा पानी का प्रवाह निरन्तर चलता रहता है पानी गिरकर बहता रहता है परन्तु झरना उसी प्रकार का हमेशा दिखाई देता है। इसी प्रकार अर्थव्यवस्था गतिमान रहती है परन्तु उसमें मौलिक परिवतन नहीं होता है।

स्थैतिक विश्लेषण के प्रकार (Types of Static Analysis)

स्थतिक विश्लेषण म माडलो का प्रयोग किया जाता है। आर्थिक माडल विभिन्न आर्थिक चरों (Economic Variables) के पारस्परिक सम्बन्धों को बताता है। स्थतिक विश्लेषण म दो प्रकार के सन्तुलन माडलो का प्रयोग होता है।

1 व्यष्टि स्थतिक (Micro Static) इसम किसी दिए हुए समय म माग तथा पूर्ति के सम्बन्ध किसी वस्तु या सेवा की कीमत निर्धारित करते हैं। माग वक्र तथा पूर्ति वक्र जिस बिन्दु पर एक दूसरे को काटते हैं उसी बिन्दु पर कीमत निश्चित होती है। ऐसा एक दिए हुए समय म होता है परन्तु यदि परिस्थितियों म परिवतन न हो तो वही कीमत भविष्य म भी बनी रह सकती है।

2 समष्टि स्थतिक (Macro Static) इसके अनुसार राष्ट्रीय आय का निर्धारण उस बिन्दु पर होता है जहा कुल पूर्ति फलन, कुल माग फलन को काटता है। इस प्रकार यह समष्टि स्थतिक का एक उदाहरण है। कीन्स ने राष्ट्रीय आय के निर्धारण म इसी माडल का प्रयोग किया है।

2 स्थतिक विश्लेषण की सीमाएँ (Limitations of Static Analysis)

1 स्थतिक स्थिति काल्पनिक स्थतिक स्थिर अर्थव्यवस्था का विश्लेषण करता है परन्तु वास्तविक ससार गतिशील है। अर्थव्यवस्था म विभिन्न प्रकार के परिवतन हुआ करते हैं। अत परिवतनशील समाज को स्थिर मानकर अध्ययन करना एक भ्रम है। इस आधार पर मायर्स ने इसे सद्धान्तिक कल्पना (Methodological Fiction) कहा है। प्रो० एजवर्थ ने कहा है परिवतनशील को स्थिर मानने के कारण अर्थशास्त्र म बहुत से काल्पनिक विचार भर गए है।

2 स्थैतिक की मान्यताएँ अवास्तविक स्थैतिक' जिन मान्यताओं पर आधारित है वे काल्पनिक हैं। जैसे पूर्ण प्रतियोगिता दी हुई रुचि, पूर्णज्ञान जनसंख्या का निश्चित आकार पूर्ण गतिशीलता अनिश्चितता की अनुपस्थिति आदि मान्यताएँ वास्तविकता से बहुत दूर हैं। अतएव वास्तविक संसार की परिवर्तनशील दशाओं के विश्लेषण के लिए स्थैतिक विधि उपयुक्त नहीं है। **प्रो० हिक्स** ने ठीक ही कहा है, स्थैतिक अवस्था अन्त में कुछ नहीं है बल्कि वास्तविकता से दूर भागना है (Stationary state is in the end nothing but an evasion)।

3 स्थैतिक विश्लेषण का क्षेत्र तथा महत्त्व
(Scope and Importance of Static Analysis)

उपर्युक्त सीमाओं के होते हुए भी स्थैतिक विश्लेषण का अर्थशास्त्र में महत्त्वपूर्ण स्थान है। निम्नलिखित विवरण से इसके महत्त्व पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है

(i) अर्थशास्त्र की बहुत सी विषय सामग्री स्थैतिक पर आधारित है कीमत निर्धारण उत्पादन के साधनों का हिस्सा निर्धारण उपभोक्ता का सन्तुलन अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आदि विषय-सामग्री तथा इनसे सम्बन्धित आर्थिक नियम स्थैतिक विश्लेषण पर आधारित है। इसी प्रकार व्यापार चक्रों से सम्बन्धित सिद्धान्तों को भी स्थैतिक से पूर्णतया अलग नहीं किया जा सकता। **प्रो० हैराड** के अनुसार रॉबिन्स की परिभाषा का केन्द्र बिन्दु (central core) स्थैतिक विश्लेषण पर आधारित है। कीन्स के भी विचार मुख्यतः स्थैतिक पर आधारित है।

(ii) 'परिवर्तन' स्थैतिक में पूर्णतया उपेक्षित नहीं है यह मान लेना कि परिवर्तन स्थैतिक विश्लेषण की सीमा के पूर्ण रूप से बाहर है निराधार है। स्थैतिक में भी एक बार परिवर्तन के कारण उत्पादन समस्याओं का अध्ययन किया जाता है। स्थैतिक का अर्थ पूर्ण स्थिरता नहीं है।

(iii) परिवर्तनशील अर्थव्यवस्था का अध्ययन कठिन है आर्थिक परिवर्तन बड़े ही जटिल होते हैं। इन जटिल परिवर्तनों का वैज्ञानिक अध्ययन बहुत कठिन है। लगातार परिवर्तन में अनिश्चितता का तत्त्व अधिक होता है। इस प्रकार 'गतिशील' का अध्ययन बहुत कठिन हो जाता है। गतिशील अर्थव्यवस्थाओं का अध्ययन गतिशील अवस्थाओं को छोटी छोटी स्थैतिक अवस्थाओं में विभाजित करने से सुविधाजनक हो जाता है।

अतः विभिन्न स्थैतिक अवस्थाओं को गतिशील की अलग अलग अवस्थाएँ मानकर अध्ययन करना अधिक उपयुक्त है। इस बात को ध्यान में रखते हुए प्रो० मेहता ने कहा है कि गतिशील अर्थशास्त्र स्थैतिक की 'लगातार टाकी

और भी स्पष्ट किया जा सकता है। यदि एक रस्सी में पत्थर का टुकड़ा बांधकर दीवार में लगी हुई एक खूँटी में लटकाकर टांग दिया जाए तो शुरू में कुछ समय तक वह पत्थर इधर-उधर रस्सी के सहारे हिलता रहेगा परन्तु कुछ समय पश्चात् पत्थर रस्सी के सहारे बिल्कुल विश्राम की स्थिति में आ जाएगा तथा उसका हिलना डुलना बन्द हो जाएगा। इस स्थिति को हम सन्तुलन की स्थिति कहते हैं क्योंकि यह एसी स्थिति है जहां पर पत्थर को इधर उधर हिलाने वाली विरोधी शक्तियां एक दूसरे के प्रभाव को नष्ट कर देती हैं।

उपरोक्त उदाहरण (रस्सी में बंधा पत्थर) साम्य के उस अर्थ को पूर्ण रूप में नहीं प्रकट करता है जिस अर्थ में इसका प्रयोग अर्थशास्त्र में किया जाता है। गणित तथा भौतिक शास्त्र में साम्य का अर्थ 'विश्राम' होता है। विश्राम की स्थिति वह स्थिति है जो गतिहीन तथा निष्क्रिय (Motionless and inactive) है परन्तु अर्थशास्त्र में साम्य का अर्थ 'गतिहीन तथा निष्क्रिय विश्राम' नहीं है, बल्कि सक्रिय विश्राम (active rest) है। यदि किसी अर्थव्यवस्था में सभी आर्थिक शक्तियां निष्क्रिय या क्रियाहीन हो जाएँ तो यह स्थिति अर्थव्यवस्था के लिए दुर्भाग्यपूर्ण होगी। अर्थशास्त्र में साम्य का अर्थ निष्क्रियता नहीं है बल्कि एसी सक्रियता है जिसमें विभिन्न चलों की गति की दरों में परिवर्तन की प्रवृत्ति न हो (absence of change in the rate of movement of variables)। उदाहरण के लिए अर्थव्यवस्था में साम्य की अवस्था वह अवस्था होगी जिसमें उत्पादन तथा उपभोग की मात्रा में तो परिवर्तन हो रहा हो परन्तु उनकी वृद्धि की दरों में परिवर्तन नहीं हो। प्रो० जे० के० मेहता ने अर्थशास्त्र और भौतिक विज्ञान में सन्तुलन का अन्तर निम्नलिखित शब्दों में स्पष्ट किया है 'अर्थशास्त्र में साम्य गति-परिवर्तन की अनुपस्थिति बतलाता है जबकि भौतिक विज्ञानों में यह स्वयं गति की अनुपस्थिति का ही प्रकट करता है।'[1]

अर्थव्यवस्था में आर्थिक क्रियाएँ सक्रिय रहती हैं। उनको प्रभावित करने वाली शक्तियां इस प्रकार क्रियाशील होती हैं कि वे एक-दूसरे के प्रभाव को नष्ट कर देती हैं। एसी स्थिति को ही अर्थशास्त्र में साम्य की स्थिति कहते हैं। निम्नलिखित उदाहरण अर्थशास्त्र में साम्य की स्थिति को स्पष्ट करने में सहायक सिद्ध होंगे —

(क) एक उपभोक्ता साम्य की स्थिति में उस समय होता है जबकि उसके द्वारा विभिन्न वस्तुओं तथा सेवाओं पर किया गया व्यय उसे अधिकतम सन्तुष्टि (Maximum satisfaction) देता है। यदि वह विभिन्न वस्तुओं तथा सेवाओं की मात्रा में परिवर्तन करता है (दी हुई आय में) तो उसे मिलने वाला सन्तोष निश्चित रूप में कम हो जाता है।

---

1 Equilibrium denotes in economics absence of change in movement while in the physical sciences it denotes absence of movement itself

—J K Mehta

(ख) एक फर्म साम्य की अवस्था में उस समय होती है जबकि उसका उत्पादन उस बिन्दु पर होता है जिस पर उसका लाभ अधिकतम हो जाता है। यदि वह उस मात्रा से कम या अधिक उत्पादन करता है तो उसका लाभ कम हो जाता है।

(ग) उत्पादन के साधनों का स्वामी उस समय साम्य की अवस्था में होता है जबकि उसे अपने साधनों द्वारा अधिकतम आय प्राप्त होती है। यदि वह उन साधनों के रोजगार में परिवर्तन करता है तो उसकी आय कम हो जाती है।

साम्य के प्रकार
(Kinds of Equilibrium)

अर्थशास्त्र में साम्य का वर्गीकरण विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत किया गया है

साम्य के प्रकार

1	2	3	4	5
(i) स्थिर साम्य (Stable)	(i) अल्पकालिक साम्य (Short term)	(i) आंशिक साम्य (Partial or Particular)	(i) एकाकी (Single or Unique)	(i) स्थैतिक (Static)
(ii) अस्थिर साम्य (Unstable)	(ii) दीर्घकालीन साम्य (Long term)	(ii) सामान्य साम्य (General)	(ii) अनेक तत्त्वीय (Multiple)	(ii) गतिशील (Dynamic)
(iii) तटस्थ साम्य (Neutral)				

1 स्थिर, अस्थिर और तटस्थ साम्य
(Stable Unstable and Neutral Equilibrium)

(i) **स्थिर साम्य** (Stable Equilibrium) यदि किसी कारण से अर्थव्यवस्था में कुछ हलचल (disturbance) या परिवर्तन होता है और तुरन्त कुछ अन्य ऐसी शक्तियाँ क्रियाशील हो जाती हैं जो अर्थव्यवस्था को पुनः पहले की स्थिति (अर्थात् हलचल की पूर्व की स्थिति) में ला देती हैं तो इसे स्थिर साम्य कहा जाता है।

(ii) **अस्थिर सन्तुलन** (Unstable Equilibrium) जब किसी स्थिति में इस प्रकार की हलचल या इस प्रकार का परिवर्तन उत्पन्न हो कि फलस्वरूप अन्य परिस्थितियों में सारा परिवर्तन हो जाय और आर्थिक प्रणाली या व्यापार पूर्व स्थिति से दूर चला जाए तब इस स्थिति को अस्थायी सन्तुलन की स्थिति कहते हैं।

8

उपभोग तथा उपभोक्ता की प्रभुसत्ता (सार्वभौमिकता)

(Consumption and Consumer Sovereignty)

> Consumption in its broadest sense means the use of economic goods and personal services in the satisfaction of human wants
>
> —*ELY*

उपभोग का अर्थ
(Meaning of Consumption)

उपभोग का आशय — प्रचलित रूप में अर्थशास्त्र के अन्तर्गत उपभोग का आशय दो अर्थों में लिया जाता है

(1) अर्थशास्त्र के विभाग के रूप में उपभोग — उपभोग का अर्थ अर्थशास्त्र के अध्ययन के एक विभाग के रूप में लिया जाता है। इसके अन्तर्गत मानव की आवश्यकताएँ और उनकी विशेषताओं तथा मानवीय आवश्यकताओं पर आधारित सिद्धान्तों का विश्लेषण व विवेचन किया जाता है।

(2) आर्थिक क्रिया के रूप में उपभोग — आर्थिक क्रिया के रूप में उपभोग से तात्पर्य उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं की प्रत्यक्ष सन्तुष्टि के लिए वस्तुओं एवं सेवाओं के उपयोग करने से है। वास्तव में उपभोग वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करता है। अन्य शब्दों में मनुष्य की आवश्यकताओं की प्रत्यक्ष सन्तुष्टि के लिए आर्थिक वस्तुओं तथा व्यक्तिगत सेवाओं का प्रयोग उपभोग कहलाता है।

भिन्न भिन्न अर्थशास्त्रियों ने भी उपभोग की विभिन्न प्रकार से परिभाषाएँ दी हैं जो इस प्रकार हैं

टी० एच० पेनसन (T H Penson) के अनुसार आर्थिक दृष्टि से आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए धन के उपयोग को ही उपभोग कहते हैं। प्रो० एली (Prof Ely) के शब्दों में 'विस्तृत भाव से उपभोग का अर्थ मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आर्थिक वस्तुओं एवं वैयक्तिक सेवाओं का उपयोग है।'

सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री मार्शल (Marshall) के अनुसार उपभोग को प्रतिकूल उत्पादन कहा जा सकता है।'

प्रो० ए० एल० मेयर्स (A L Meyers) के शब्दों मे, स्वतन्त्र व्यक्तियों की आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए वस्तुओं तथा सेवाओं का प्रत्यक्ष एवं अन्तिम प्रयोग ही उपभोग है।'[1]

इन परिभाषाओं के आधार पर उपभोग के अर्थ को स्पष्ट रूप से जानने के लिए निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं

(1) **'उपभोग' की क्रिया मे वस्तु नष्ट नहीं होती, वरन उसकी उपयोगिता नष्ट होती है** यह एक वैज्ञानिक तथ्य है कि मनुष्य न तो किसी पदार्थ को बना सकता है और न ही उसको नष्ट कर सकता है। यही कारण है कि उपभोग की क्रिया के अन्तर्गत जब किसी वस्तु का प्रयोग किया जाता है तो वह नष्ट नही होती। उसका केवल रूप बदल जाता है उसकी उपयोगिता कम हो जाती है या समाप्त हो जाती है। अतः यह स्पष्ट है कि उपभोग द्वारा अधिक से अधिक किसी वस्तु या पदार्थ की आवश्यकता पूर्ति करने की शक्ति या उपयोगिता ही नष्ट होती है वह वस्तु स्वयं नष्ट नही होती है। इस आधार पर ही **मार्शल** ने उपभोग को **नकारात्मक उत्पादन** (Negative Production) कहा है।

कुछ अर्थशास्त्री उपयोगिता के नाश को उपभोग मानते हैं। परन्तु 'उपयोगिता के नाश' होने का अर्थ यह नही है कि सभी वस्तुओं या सेवाओं की उपयोगिता उनका उपभोग करते ही तुरन्त समाप्त हो जाती है। कुछ वस्तुएं ऐसी हैं जिनका उपभोग करते ही उनकी तत्कालीन उपयोगिता नष्ट हो जाती है जैसे खाद्य पदार्थ—रोटी सन्तरा दूध आदि। ये वस्तुएँ उपभोग करते ही सन्तुष्टि प्रदान कर अपना रूप परिवर्तित कर देती है। परन्तु कुछ वस्तुएँ ऐसी भी हैं जैसे वस्त्र मकान फर्नीचर आदि जो कुछ समय तक निरन्तर प्रयोग की जाती हैं। इन वस्तुओं की उपयोगिता एक बार मे ही नष्ट नही होती बल्कि धीरे धीरे नष्ट होती है। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसी भी वस्तुएँ है जिनकी उपयोगिता बिल्कुल ही नष्ट नही होती है। ये निरन्तर समान सन्तुष्टि प्रदान करती रहती है।

अतः यह कहना कि उपभोग उपयोगिता का नाश है अस्पष्ट है। **प्रो० जे० के० मेहता** ने इस अस्पष्टता को दूर करने का प्रयास किया है। उनके अनुसार **उपभोग वह प्रक्रिया है जिससे किसी आवश्यकता की सन्तुष्टि या पूर्ति के क्रम मे**

---

1 Consumption is the direct and final use of goods or services in satisfying the wants of free human beings

—*Meyers A L* Elements of Modern Economics

प्रत्येक इकाई से घटती हुयी सन्तुष्टि (उपयोगिता) प्राप्त होती है।"[1] प्रो० मेहता की इस परिभाषा से यह ज्ञात होता है कि (i) उपभोग आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने की एक क्रिया है तथा (ii) उसके द्वारा क्रमशः ह्रासमान सन्तुष्टि (Diminishing satisfaction) प्राप्त होता है। यदि किसी वस्तु की उपयोगिता किसी मनुष्य की आवश्यकता को सन्तुष्ट किए बिना ही नष्ट हो जाती है तो उसे उपभोग नहीं माना जायगा। उदाहरणार्थ रोटी के जल जाने तथा फलों के सड़ जाने पर उनकी उपयोगिता तो नष्ट हो जाती है परन्तु मनुष्य की आवश्यकताओं की सन्तुष्टि नहीं होती है। इसलिए रोटी का जलना उपभोग नहीं है। अतः यह स्पष्ट है कि जब आवश्यकता की सन्तुष्टि की क्रिया में किसी वस्तु की उपयोगिता नष्ट होती है तभी उसे उपभोग कहा जा सकता है।

वस्तुतः उपभोग नकारात्मक उत्पादन भी नहीं है। यह उत्पादन से सर्वथा भिन्न है क्योंकि इसका मापदण्ड आवश्यकताओं की सन्तुष्टि है। यदि किसी क्रिया से किसी आवश्यकता की सन्तुष्टि होती है तो उसे उपभोग कहा जायगा अन्यथा नहीं।

(ii) उपभोग के लिए वस्तुओं तथा सेवाओं का प्रत्यक्ष तथा अंतिम प्रयोग होना आवश्यक है किसी वस्तु का केवल प्रयोग करने की प्रक्रिया को ही उपभोग नहीं कहा जा सकता। मेयर्स (Meyers) के अनुसार जब तक कोई उत्पादित वस्तु किसी व्यक्ति के द्वारा प्रयोग में नहीं लायी जाती है तथा वह वस्तु किसी आवश्यकता को प्रत्यक्ष रूप से सन्तुष्ट नहीं करती है तब तक उपभोग का प्रश्न ही नहीं उठता है। उदाहरणार्थ यदि फैक्टरी में शक्ति पैदा करने के लिए कोयले का प्रयोग किया जाता है तो इसे प्रत्यक्ष उपभोग नहीं कहा जायगा। मेयर्स के अनुसार यदि कोई वस्तु किसी उपभोग-वस्तु (Consumer goods) के उत्पादन में सहायक होती है तो उत्पादित वस्तु का उपभोग किए जाने पर ही उस सहायक वस्तु का प्रयोग 'अप्रत्यक्ष उपभोग' (Indirect Consumption) माना जायगा। अतः अर्थशास्त्र में शक्ति पैदा करने में कोयले के प्रयोग को उस समय तक उपभोग (अप्रत्यक्ष) नहीं कहा जा सकता जब तक उत्पादित वस्तुओं का प्रत्यक्ष उपभोग नहीं होता है। परन्तु इसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति सर्दी से बचने के लिए कोयले को जलाने के काम में लेता है तो इसे प्रत्यक्ष एवं अन्तिम उपभोग कहा जायगा।

(iii) उपभोग का अर्थ बिक्री के परिमाण से भी नहीं है (Consumption does not mean amount sold) उपभोग के अन्तर्गत किसी वस्तु की बिक्री

---

1 "An activity is called consumption when it is looked at from the point of that want in the process of satisfaction or removal of which it yields unit by unit diminishing satisfaction."

—*J K Mehta*

हुई कुल मात्रा को सम्मिलित नहीं किया जाता है। इस मात्रा में से जितनी वस्तुएं उपभोक्ताओं द्वारा प्रयोग में लायी जाती हैं तथा सन्तुष्टि प्रदान करती हैं उन्हीं को उपभोग के अन्तर्गत सम्मिलित किया जाता है। अन्य स्थानों पर पड़ा हुआ माल (स्टाक) चाहे वह बेच ही क्यों न दिया गया हो उपभोग के परिमाण में सम्मिलित नहीं किया जायगा।

अतः संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वस्तुओं तथा सेवाओं की उपयोगिता का प्रत्यक्ष उपयोग ही उपभोग कहलाता है।

उपभोग का वर्गीकरण
(Classification or kinds of Consumption)

उपभोग का वर्गीकरण अनेक आधारों पर किया जा सकता है किन्तु इनमें से उपभोग के प्रकार निम्नलिखित प्रमुख हैं

1 उत्पादक उपभोग तथा अन्तिम उपभोग (Production consumption and final consumption) एक आधार पर उपभोग को उत्पादक उपभोग तथा अन्तिम उपभोग के रूप में विभाजित किया जाता है। जब वस्तुओं और सेवाओं का उपयोग इस प्रकार से किया जावे कि उनसे अन्य किसी वस्तु का निर्माण होना है तो उसे उत्पादक उपभोग कहते हैं। अन्य शब्दों में जब धन का उपयोग अप्रत्यक्ष रूप से आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु किया जाता है तो इस प्रकार का उपयोग उत्पादक उपभोग कहलाता है। उदाहरणार्थ कोयले का मशीन चलाने या ग्राहकों के भोजन पकाने में उपयोग कपास का कपड़ा बनाने में उपयोग बीज का उपयोग आदि उत्पादक उपभोग के उदाहरण हैं।

इसके विपरीत प्रत्यक्ष रूप से किसी मानवीय आवश्यकता की पूर्ति के लिए वस्तुओं या सेवाओं का उपयोग अन्तिम उपभोग कहलाता है। उदाहरणार्थ खाने में अन्न का उपयोग पहनने के लिए वस्त्र का उपयोग आदि अन्तिम उपभोग के उदाहरण हैं।

2 शीघ्र उपभोग तथा मन्द या दीर्घकालीन उपभोग (Quick and slow or long term consumption) उपभोग को एक दूसरे आधार पर शीघ्र एवं मन्द उपभोग के रूप में वर्गीकृत किया जाता है। जब उपभोग की क्रिया शीघ्र समाप्त हो जाती है तो वह शीघ्र उपभोग कहलाता है। उदाहरणार्थ प्यास बुझाने में पानी का प्रयोग तथा भूख मिटाने में रोटी का प्रयोग शीघ्र या तत्कालीन उपभोग है।

जब किसी वस्तु की उपभोग क्रिया लम्बे समय तक चलती है तो इसे मन्द या क्रमिक उपभोग कहा जाता है। उदाहरणार्थ साइकिल का उपयोग टी० वी० का उपयोग कुर्सी मेज का उपयोग शीघ्र न होकर निरन्तर अनेक वर्षों तक चलता

की आवश्यकता के कारण होता है। इन सभी आर्थिक प्रयत्नों एवं क्रियाओं का अंतिम उद्देश्य आवश्यकताओं की सन्तुष्टि है अतः उपभोग आर्थिक क्रियाओं का अंत भी है। प्रो० पेंसन के निम्न चित्र द्वारा भी इसे स्पष्ट किया जा सकता है
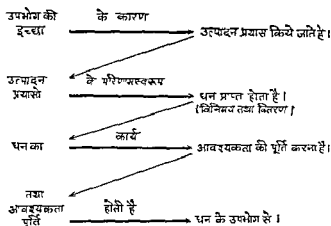
(ii) उपभोग की किस्म एवं मात्रा राष्ट्रीय उत्पादन तथा राष्ट्रीय आर्थिक विकास का मापदण्ड वस्तुओं तथा सेवाओं के उत्पादन तथा उपभोग की मात्रा के आधार पर ही किसी के आर्थिक एवं सामाजिक विकास तथा व्यक्तिगत जीवन स्तर का अनुमान लगाया जा सकता है। मनुष्य की कार्यक्षमता उसकी कार्य-कुशलता तथा देश की उत्पादन शक्ति उपभोग की किस्म और मात्रा पर ही निर्भर है। आवश्यकताओं में वृद्धि तथा आरामदायक तथा विलासिता की वस्तुओं के बढ़ते हुए प्रयोग से राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि भी सम्भव हो पाती है। इससे यह स्पष्ट है कि उपभोग के स्तर से किसी देश की आर्थिक प्रगति का अनुमान लगाया जा सकता है।

(iii) विनिमय सम्बन्धी क्रियाओं का आधार भी उपभोग ही है बाजार में वस्तुओं का क्रय विक्रय इसीलिए किया जाता है कि उनके द्वारा आवश्यकताओं की सन्तुष्टि होती है। यदि किसी वस्तु में उपयोगिता का गुण नहीं होता तो क्रेता उसको नहीं खरीदेगा। अतः उपभोग की इच्छा से प्रेरित होकर ही उपभोक्ता किसी वस्तु या सेवा को मुद्रा के बदले में क्रय करने के लिए तत्पर होता है।

(iv) वितरण के अन्तर्गत उत्पादन साधनों को हिस्सा देने का आधार भी है उत्पादन के विभिन्न साधनों में आय के उचित वितरण का आधार उपभोग ही है। यदि इन साधनों को प्रदान करने वालों की उचित पारितोषिक

न किया जाय तो वे अपनी आवश्यकताएँ सन्तुष्ट नहीं कर सकेंगे। ऐसी स्थिति में वे उत्पादन-साधनों की पूर्ति करना बन्द कर देंगे। अतः उपभोग को वितरण की प्रेरक शक्ति के रूप में भी महत्त्वपूर्ण माना गया है।

(v) **अन्य महत्त्व** सामाजिक सुरक्षा, विवेकशील व्यय, बचत, पूँजी निर्माण इन सबके पीछे उपभोग की प्रेरक शक्ति मौजूद है। उपभोक्ता का व्यवहार तथा उसकी प्रभुसत्ता ही पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के विकास में सहायक होती है। **उपभोग की धारणा आय तथा रोजगार के सिद्धान्तों के लिए भी महत्त्वपूर्ण है।** रोजगार की मात्रा विनियोग (investment) तथा उपभोग के संयुक्त प्रभाव पर निर्भर है। उपभोग स्वयं आय (income) से प्रभावित होता है। विनियोग अन्य घटकों के साथ उपभोग पर निर्भर है। मनुष्य की आवश्यकताओं में वृद्धि होने पर वह अधिक धन व्यय करने के लिए तत्पर होता है। फलस्वरूप उत्पादन में वृद्धि होती है जिससे रोजगार बढ़ता है, राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है तथा विनियोग के अन्य स्रोत खुलते हैं।

उपभोक्ता की प्रभुसत्ता
(Consumer's Sovereignty)

उपभोग के महत्त्व से स्पष्ट है कि उपभोग समस्त आर्थिक क्रियाओं का मूल है। उपभोग ही उत्पादन का आधार है क्योंकि आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए ही वस्तुओं का उत्पादन होता है। चूँकि समस्त आर्थिक क्रियायें उपभोक्ता के लिए ही की जाती हैं, अतः आर्थिक गतिविधि में उपभोक्ता का अत्यधिक महत्त्व है। एक स्वतन्त्र अर्थ व्यवस्था में उसकी आवश्यकताओं, रुचि तथा माँग को ध्यान में रखकर ही उत्पादन की मात्रा तथा किस्म निर्धारित की जाती है। वस्तुतः **'उपभोक्ता की चुनाव करने की स्वतन्त्रता'** पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था की आधार शिला है। उक्त कथन की सत्यता नीचे दिए गए विवरण से स्पष्ट हो जाती है।

उपभोक्ता की प्रभुसत्ता का अर्थ (Meaning of Consumer's Sovereignty)

उपभोक्ता की प्रभुसत्ता का तात्पर्य है उपभोक्ता सम्राट है। आधुनिक आर्थिक जगत में उपभोक्ता एक प्रकार से सम्राट होता है। सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था उपभोक्ता की इच्छा व इशारे पर कार्य करती है। सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था उपभोक्ता की इच्छा की पूर्ति के लिए ही कार्य करती है। अर्थव्यवस्था में उत्पादकों द्वारा उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है जिनकी माँग उपभोक्ताओं द्वारा की जाती है, चाहे वे वस्तुएँ आवश्यक हों या आरामदायक या विलासिता-सम्बन्धी। इसे ही उपभोक्ता की प्रभुसत्ता कहते हैं। वास्तव में उत्पादक उपभोक्ता का दास मान लेता है। वह उपभोक्ताओं की रुचि अथवा पसन्दगी की उपेक्षा नहीं कर सकता अन्यथा उसके द्वारा उत्पादित वस्तुओं की बिक्री नहीं होगी और उसे हानि उठानी

पर्सी। अतः उपभोक्ता सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का सम्राट या शासक होता है तथा सारी अर्थव्यवस्था उसी के आदेशानुसार संचालित होती है।

औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में उपभोक्ता की प्रभुसत्ता सर्वाधिक थी किन्तु अब उपभोक्ता एक मात्र सम्राट नहीं रहा। उसकी प्रभुसत्ता अब सीमित हो गई है क्योंकि वर्तमान में बड़े पैमाने की उत्पत्ति के परिणामस्वरूप उत्पादक माँग से पहले ही वस्तुओं का उत्पादन कर उपभोक्ताओं को विज्ञापन आदि के माध्यम से प्रेरित करते हैं। अतः वर्तमान में समाजवादी अर्थव्यवस्था में उपभोक्ता की प्रभुसत्ता असीमित न होकर सीमित हो गई है।

पूँजीवाद के अन्तर्गत उपभोक्ता की प्रभुसत्ता

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में उपभोक्ता एक प्रकार का सम्राट है,[1] जिसके आदेश, इच्छाओं, रुचि तथा पसन्द के अनुसार समस्त पूँजीवादी उत्पादन-तन्त्र संचालित होता है। उत्पादन-सम्बन्धी निर्णय उपभोक्ता की माँग तथा रुचि के अनुसार ही किया जाता है। उपभोक्ता की माँग के औचित्य पर विचार करना उत्पादक का अधिकार नहीं है। उपभोक्ताओं की माँग तथा रुचि के अनुसार ही वस्तुओं का उत्पादन करने में उत्पादक का लाभ होता है। यदि वह ऐसा नहीं करता है तो उसे हानि उठाना पड़ेगा। 'अंतिम रूप से समस्त उत्पादन क्रियाओं का उद्देश्य उपभोग वस्तुओं का उत्पादन करना है। अतः उपभोक्ताओं के अधिमान (preferences) जिनकी जानकारी उपभोक्ताओं के व्यय के तरीकों से प्राप्त की जाती है इस बात का निर्णय करते हैं कि किन वस्तुओं का उत्पादन किया जाएगा।'[2] अतः पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में एक सम्राट या शासक की तरह उपभोक्ता अपनी पसन्द या रुचि के रूप में अपने निर्णय, आदेश तथा संकेत व्यक्त करता है। इन संकेतों के आधार पर ही उत्पादक यह निश्चित करते हैं कि किन वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन किया जाए तथा कितनी मात्रा में किया जाए। यदि किसी वस्तु के लिए उपभोक्ताओं की माँग बढ़ जाती है तो उस वस्तु की कीमत बढ़ जाती है। फलस्वरूप उत्पादक को उस वस्तु का अधिक मात्रा में उत्पादित करने के लिए प्रोत्साहन मिलता है तथा वह उस वस्तु की उत्पादन मात्रा बढ़ा देता है। इसके विपरीत यदि किसी वस्तु की माँग कम हो जाने के कारण कीमत गिर जाती है तो उत्पादक उस वस्तु का उत्पादन

1 "Under capitalism consumer is king."

—*Benham*

2 'The final purpose of all productive activity is to produce consumer goods... ...Hence it is the preferences of consumers as shown by the ways in which they spend their money which determines what shall be produced.'

—*Benham*

मात्रा घटा देता है। इस प्रकार किसी वस्तु की कितनी मात्रा पैदा की जाय इसका वास्तविक निर्णायक उपभोक्ता ही है। उत्पादकों को उपभोक्ताओं का निर्णय मानना पड़ता है। जिस वस्तु की उपभोक्ता माँग नहीं करता, उसका उत्पादन होता ही नहीं उत्पादकों को इस बात पर विचार करने की भी स्वतन्त्रता नहीं है कि उपभोक्ताओं द्वारा माँगी जाने वाली वस्तुएँ उचित हैं या अनुचित। उनका हित तो सेवक की तरह सम्राटरूपी उपभोक्ता के रुचि रूपी आदेशों एवं ममता का पालन करने में ही है। इसी आधार पर कहा गया है कि उपभोक्ता सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का सम्राट या प्रभु है जिसकी सत्ता उसके हाथों में रहती है। उपभोक्ता इतना प्रभावशाली होता है कि उसकी रुचि एवं माँग के संकेत मात्र से समस्त आर्थिक व्यवस्था संचालित होती है। यही कारण है कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में उपभोक्ता की प्रभुसत्ता का अधिक महत्त्व है। प्रो० राबर्टसन (Robertson) ने ठीक ही कहा है, "पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत उपभोक्ता ही सम्राट है और उसकी सेवा के लिए उद्योग का सबसे प्रबल सेनापति अवश्य तैयार रहेगा।"

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में उत्पादन की क्रियाओं के बीच उत्पादन साधनों का बँटवारा भी उपभोक्ता के अधिमानों (Preferences) द्वारा ही शासित होता है। उपभोक्ता की माँग में परिवर्तन सम्पूर्ण उत्पादन-तन्त्र में परिवर्तन ला देता है। यदि उपभोक्ता किसी नई वस्तु की माँग करते हैं तो उस वस्तु के उत्पादन के लिए उत्पादन साधनों का प्रयोग किया जाएगा। इस प्रकार विभिन्न उद्योगों में उत्पादन साधनों का बँटवारा बदल जाएगा। आधुनिक युग में भी यद्यपि वस्तुओं का उत्पादन भविष्य की माँग के आधार पर किया जाता है उत्पादकों को भविष्य में उपभोक्ताओं की रुचि-परिवर्तन एवं माँग का ध्यान में रखना आवश्यक होता है। यदि कोई उत्पादक ऐसा नहीं करता है तो वह पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में व्यापक प्रतियोगिता का सामना नहीं कर सकेगा। यहाँ तक कि एक एकाधिकारी (Monopolist) भी उपभोक्ता की प्रभुसत्ता के अन्तर्गत ही रहता है। एकाधिकारी या तो अपनी वस्तु की कीमत निश्चित कर सकता है या वस्तु की मात्रा। वह कीमत तथा मात्रा दोनों का एक ही साथ निर्णायक नहीं हो सकता। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन तथा उत्पादन-साधनों का बँटवारा उपभोक्ता के अधिमानों व आदेशों के अनुसार होता है। उपभोक्ताओं के अधिमानों तथा आदेशों का ज्ञान उत्पादक कीमतों द्वारा प्राप्त करते हैं। इस प्रकार पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था कीमत-तन्त्र (Price Mechanism) द्वारा संचालित एवं शासित होती है अर्थात् कीमतों द्वारा ही उत्पादन व उपभोग दोनों नियन्त्रित किए जाते हैं।

कीखोफर (Kiekhofer) ने इस आधार पर उपभोक्ता की तुलना एक मतदाता (Voter) से की है। उपभोक्ता जितनी बार क्रय करता है वस्तुतः वह उतनी ही बार अपनी खरीदी हुई वस्तु से लगातार उत्पादन के लिए अपना मतदान (Vote) देता है। कीखोफर के शब्दों में 'सार्वजनिक उपयोग सार्वजनिक मतदान

के समान है। उपभोक्ता म केवल इस योग्यता की आशा की जाती है कि आवश्यक वस्तुओं को क्रय करने के लिए उसके पास आय हो। आर्थिक चुनाव (Economic election) में उपभोक्ता उतने ही मत दे सकता है जितने डॉलर (रुपी वोट) उसके पास व्यय करने के लिए होंगे। उपभोक्ता द्वारा चुनाव बुद्धिमत्तापूर्ण हो अथवा मूर्खतापूर्ण हो। हमारी अर्थव्यवस्था का वह हर दशा में संचालन करेगा। यह चुनाव बिजली के एक बटन की तरह है जिसके दबाते ही सम्पूर्ण उत्पादन तन्त्र क्रियाशील हो जाता है।

उपभोक्ताओं का फुटकर व्यापारियों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है क्योंकि ये लोग ही उपभोक्ताओं की इच्छाओं से वास्तविक रूप में परिचित होते हैं। फुटकर व्यापारियों के माध्यम से थोक व्यापारियों को उपभोक्ताओं की इच्छा का ज्ञान होता है। उसी आधार पर थोक व्यापारी उत्पादकों से वस्तुओं की माँग करते हैं। इस प्रकार उत्पादक उपभोक्ताओं की अपेक्षित माँग पर ही वस्तुओं का निर्माण करते हैं। इस आधार पर उत्पादक उचित लाभ प्राप्त करने में सफलता प्राप्त कर पाते हैं।

अतः पूँजीवाद के अन्तर्गत उपभोक्ता की माँग ही उत्पादन का अन्तिम निर्णय होता है।

व्यावहारिक स्थिति सैद्धान्तिक दृष्टि से तो पूँजीवाद में उपभोक्ता सर्व शक्तिमान माना जाता है? किन्तु व्यवहार में पूँजीवाद में उपभोक्ता अपनी इस प्रभुसत्ता का प्रयोग नहीं कर पाता है। वैसे तो पूँजीवाद में उत्पादन उपभोक्ताओं की माँग के अनुमान पर किया जाता है कि उत्पादन पर उपभोक्ता के इस अप्रत्यक्ष नियन्त्रण को उपभोक्ता की सर्वोच्च शक्ति नहीं कहा जा सकता। वास्तविकता तो यह है कि उपभोक्ता के पास क्रयशक्ति होते हुए भी वह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इतना दुर्बल होता है कि वह उत्पादक को अधिक से अधिक सलाह दे सकता है आदेश देने की स्थिति में नहीं होता। उपभोक्ता पूँजीपतियों के हाथ की कठपुतली मात्र बन कर रह जाता है। उत्पादक उपभोक्ताओं को उत्पादन में सर्वोच्च स्थान नहीं देते। अतः इस सम्बन्ध में यह ठीक ही कहा है कि **एक उपभोक्ता की तुलना एक ऐसे संवैधानिक शासक से करना अधिक व्यावहारिक होगा जो संवैधानिक रूप से अपनी मृत्यु के सूचना पत्र पर हस्ताक्षर करने को बाध्य होता है बशर्ते कि उसका मन्त्रिमण्डल उसे ऐसा करने का परामर्श दे।"**

(ii) समाजवादी अर्थव्यवस्था में उपभोक्ता की प्रभुसत्ता

समाजवादी अर्थव्यवस्था में समाज-कल्याण की भावना से प्रेरित राज्य का निर्णय ही सर्वोच्च होता है। इस अर्थव्यवस्था में उपभोक्ता की प्रभुसत्ता गौण हो जाती है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का लोप हो जाता है। उत्पादन से सम्बन्धित राज्य के आदेशों पर ही निर्भर होते हैं। उसमें व्यक्तिगत उपभोक्ता का

वृद्धि हुई है। ट्रस्ट, कारटेल, कम्पनी आदि रूपों में संयुक्तिकरण (Combination) की प्रवृत्ति बढ़ रही है। इस प्रकार उत्पादन तथा वितरण व्यवस्था पर कुछ इनी गिनी कम्पनियों या संस्थानों के एकाधिकार में वृद्धि के कारण उपभोक्ता द्वारा चुनाव की स्वतन्त्रता तथा उसकी सत्ता अत्यन्त ही संकुचित हो गया है। प्राय मूल्य वस्तु की मात्रा आदि सम्बन्धी निर्णय इन एकाधिकारिक संस्थानों द्वारा ही किए जाते हैं। यहाँ तक कि ये संस्थान अब वस्तु विशेष की पूर्ति एक स्थान पर केन्द्रित करके मनचाहे मूल्य पर बेचते हैं। इस प्रकार उपभोक्ता की रुचि तथा माँग का प्रभाव एकाधिकार के प्रभाव के कारण सीमित हो गया है।

5 **विज्ञापन तथा विक्रय कला** (Advertisement and Sale manship) आजकल विज्ञापन का प्रभाव बढ़ गया है। निरन्तर तथा विभिन्न माध्यमों—समाचार पत्रों सिनेमा अखबारों प्रदर्शनियों आदि—द्वारा किए गए विज्ञापनों और उच्च विक्रय-कला से उपभोक्ताओं की रुचि एवं माँग में परिवर्तन लाने में सफलता मिलती है। इनके द्वारा उपभोक्ता ऐसी वस्तुएँ खरीदने के लिए प्रेरित किए जाते हैं जिन्हें सामान्यतः वे नहीं खरीदते। सुन्दर पैकिंग उधार तथा किस्तों की सुविधा के द्वारा भी उत्पादक अपनी बिक्री बढ़ाने की चेष्टा करते हैं। उपभोक्ता की आय सीमित होने के कारण उधार तथा किस्तों की सुविधा से उसके चुनाव की स्वतन्त्रता पर प्रभाव पड़ता है तथा उसकी सत्ता सीमित हो जाती है।

6 **उपभोक्ता की सीमित आय** (Limited income of consumers) उपभोक्ता की प्रभुसत्ता उसकी आय द्वारा भी प्रभावित होती है। एक साधारण श्रमिक अपनी सीमित आय द्वारा रेफ्रीजरेटर या मोटरकार के उत्पादन को प्रभावित नहीं कर सकता। अतः यह स्पष्ट है कि जिस समाज में लोगों की आय अधिक होगी वहाँ उपभोक्ताओं के अधिमान (preferences) उत्पादन व्यवस्था को अधिक प्रभावित करेंगे। उस समाज में उपभोक्ताओं द्वारा किए जाने वाले व्यय के अनुसार वस्तुओं का उत्पादन किया जायगा। परन्तु एक अविकसित समाज में जहाँ पर अधिकांश व्यक्तियों की आय कम है उपभोक्ता की प्रभुसत्ता अधिक प्रभावशाली नहीं होगी।

7 **मानकीकरण** (Standardisation) मशीनों द्वारा उत्पादन किए जाने के कारण अधिकांश वस्तुओं की किस्म तथा गुण मानकीकरण द्वारा शासित होते हैं। फलस्वरूप उत्पादन बड़े पैमाने पर किया जाता है जिसमें वस्तुएँ सस्ती बन और उनकी अधिक से अधिक बिक्री हो सके। इस प्रकार मानकीकरण में उपभोक्ता की रुचि पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता है बल्कि वस्तुओं की लागत तथा कीमत पर अधिक ध्यान दिया जाता है। उपभोक्ता उस प्रकार की वस्तु नहीं खरीद सकता जिसे वह खरीदना चाहता है बल्कि उसे वह वस्तु खरीदनी पड़ती है जो उपलब्ध होती है। ऐसी स्थिति में उपभोक्ता सम्राट सदृश नहीं होता, बल्कि समस्त उपभोक्ता भेड़ों की भीड़ की तरह एकत्रित कर दिए जाते हैं

और एक समूह के रूप में उनकी रुचि उत्पादकों की वस्तुओं से प्रभावित होती है।[1]

8 उपभोक्ता की आदतें (Habits of Consumer) उपभोक्ता स्वयं अपनी आदतों का गुलाम होता है। निरन्तर एक वस्तु का प्रयोग करते-करते वह उस वस्तु का आदि हो जाता है। इस प्रकार विभिन्न वस्तुओं के चुनाव की स्वतन्त्रता में आदत बाधा उपस्थित करता है।

9 सामाजिक रीति रिवाज (Social Customs) सामाजिक बन्धन तथा रीति रिवाज उपभोक्ता की प्रभुसत्ता को सीमित कर देते हैं। रीति रिवाजों के कारण वह इच्छित वस्तु का कभी-कभी उपभोग नहीं कर पाता तथा उसे अनिच्छित वस्तु का उपभोग करना पड़ता है।

10 दिखावटी उपभोग (Conspicuous Consumption) उपभोक्ता की प्रभुसत्ता पर परिवर्तनशील वातावरण तथा दिखाव की प्रवृत्ति का भी प्रभाव पड़ता है। धनी समाज में प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे की होड़ में दिखावे के लिए अधिक से अधिक महंगी वस्तुएं खरीदने के लिए तत्पर रहता है। उत्पादक इस स्थिति का लाभ उठाकर इन व्यक्तियों द्वारा मांगी जाने वाली वस्तुओं का मूल्य बढ़ा देता है। ऐसी वस्तुओं का प्रयोग किए जाने पर उनका प्रदर्शन प्रभाव (demonstration effect) पड़ता है। इससे प्रभावित होकर ही उपभोक्ता उन वस्तुओं का प्रयोग करने की इच्छा करने लगते हैं यद्यपि उन वस्तुओं की वास्तविक आवश्यकता नहीं होती। इसका प्रभाव उपभोक्ता के चुनाव की स्वतन्त्रता पर भी पड़ता है। वह अपनी रुचि की उपेक्षा करके दिखावे की प्रवृत्ति को महत्त्व देता है। यही कारण है कि उसकी प्रभुसत्ता सीमित हो जाती है।

11 विवेकपूर्ण चुनाव (Rational Choice) **में कठिनाई** बाजार में विभिन्न प्रकार की वस्तुओं तथा एक ही आवश्यकता की पूर्ति करने वाली दो एक-सी वस्तुओं के सम्बन्ध में पूरी जानकारी न होने के कारण उपभोक्ता को विवेकपूर्ण चुनाव करने में कठिनाई होती है। उसके पास इतना समय भी नहीं होता कि वह समान मूल्य वाली वस्तुओं में उनकी विशेषताओं के आधार पर विभेद कर सके। अतः वह मूल्यों में अन्तर के आधार पर ही किसी वस्तु विशेष का चुनाव करता है। ऐसी स्थिति में यह कहा जा सकता है कि '**जानकारी के अभाव में आर्थिक प्रक्रिया** (Economic process) **एक प्रकार से इस आशय से विपरीत हो जाती है कि वस्तु का गुण उसकी कीमत को नियन्त्रित करने की बजाय वस्तु की कीमत वस्तु के गुण को आंकने का आधार बन जाती है। अन्य शब्दों में कीमत उपभोक्ता के मस्तिष्क में वस्तु की उपयोगिता का निर्धारित करती है।**"

---

1 The consumers are bulked together and treated enmass not like a king but a herd of sheep

इस प्रकार उपभोक्ता की अज्ञानता के कारण उसका चुनाव वस्तु के गुण से प्रभावित न होकर उसके मूल्य से प्रभावित होता है जिसके परिणामस्वरूप उपभोक्ता की प्रभुसत्ता संकुचित हो जाती है।

उपरोक्त कारण तथा परिस्थितियाँ उपभोक्ता की प्रभुसत्ता को सीमित कर देती हैं। बहुत से उपभोक्ता यह भी नहीं जानते कि कौन सी वस्तु उनके लिए उपयोगी है। अनभिज्ञता के कारण वे चुनाव सम्बन्धी अधिकार का प्रयोग नहीं कर पाते। वस्तुतः आजकल उपभोक्ता की प्रभुसत्ता किताबी तथ्य मात्र है। मुद्रा-स्फीति के कारण उपभोक्ता की क्रय शक्ति सीमित हो गई है। जनसंख्या की समस्या ने वस्तुओं की पूर्ति की समस्या जटिल कर दी है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में भी अब सरकारी नियमन का क्षेत्र बढ़ गया है। सरकारी नियन्त्रण में निरन्तर वृद्धि होने से उपभोक्ता द्वारा चुनाव का क्षेत्र सीमित होता जा रहा है। नियोजित अर्थव्यवस्था, मुद्रा-स्फीति, वस्तुओं की कमी आदि कुछ ऐसी आर्थिक शक्तियाँ भी क्रियाशील हो गई हैं कि अब विवेकशील चुनाव का प्रश्न ही नहीं उठता। अतएव पूँजीवादी देशों में उपभोक्ता की प्रभुसत्ता सैद्धान्तिक तथ्य मात्र रह गई है।

साम्यवादी एवं समाजवादी देशों में तो उपभोक्ता की प्रभुसत्ता का कोई प्रश्न नहीं उठता। ऐसे देशों में उत्पादन समाज तथा राष्ट्र अर्थात् सामूहिक हित में किया जाता है। वहाँ उपभोक्ताओं को उपभोग की पूर्ण स्वतन्त्रता देना समाज के हितों के विरुद्ध समझा जाता है क्योंकि समाजवादियों की यह धारणा है कि यदि उपभोक्ताओं को उपभोग की पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी जाय तो वे हानि पहुँचाने वाली वस्तुओं का उपभोग करना प्रारम्भ कर देंगे जिससे राष्ट्र का विकास न हो सकेगा। उत्पादकों को उपभोक्ताओं की इच्छानुसार वस्तुओं के उत्पादन की पूर्ण स्वतन्त्रता होने पर वे विकास के लिए आवश्यक वस्तुओं (पूँजीगत वस्तुओं जैसे मशीन, संयन्त्र आदि) का निर्माण करने की अपेक्षा उपभोग्य वस्तुओं का ही उत्पादन करेंगे जिससे देश का बहुमुखी विकास न हो पायेगा। यही कारण है कि इन देशों में केन्द्रीय आर्थिक नियोजन द्वारा पूँजी वस्तुओं तथा उपभोग-वस्तुओं के उत्पादन की मात्राएँ निर्धारित की जाती हैं और देश के साधनों का उपयोग राष्ट्रीय आर्थिक विकास की दृष्टि से किया जाता है न कि उपभोक्ताओं की व्यक्तिगत इच्छाओं के अनुसार। इस प्रकार इन देशों में उपभोक्ताओं की इच्छाओं को कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता है।

समाजवादियों का यह तर्क भी उचित है कि पूँजीवादी देशों में उपभोक्ता की प्रभुसत्ता एक कल्पित धारणा एवं भुलावा है। इसका कारण यह है कि वस्तुओं का चयन आय के वितरण पर निर्भर करता है। यदि लोगों के पास पर्याप्त क्रय-शक्ति का अभाव है तो चुनाव का प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसी स्थिति में उस क्षेत्र में निर्णय की स्वतन्त्रता भी नहीं होती है। बारबरा वूटन ने इस

सम्बन्ध म कहा है कि आज जब वस्तुओ की इतनी अधिक किस्म उत्पादित की जा रही है कि उपभोक्ताओ के लिए उनकी तकनीकी विशेषताओ, गुण किस्म आदि की पूव जानकारी के अभाव म विवेकपूर्ण चुनाव कठिन हो गया है तब राज्य का उनका मार्गदर्शन प्रदान करना आवश्यक है। इसका अर्थ यह हुआ कि राज्य उप भोक्ताओ के हिताथ उनके अधिमानो व पसन्द के अनुसार यदि वस्तुओ के उत्पादन पर बल दे तो उचित मूल्य एव उचित गुण वाली उपभोग्य वस्तुएँ उपभोक्ताओ को प्राप्त हो सकेंगी। ऐसी स्थिति म भी उपभोक्ता की प्रभुसत्ता का विशेष महत्त्व नही रहेगा।

निष्कर्ष

उपयुक्त विवरण स यह निष्कर्ष निकलता है कि किसी भी अर्थव्यवस्था के समुचित विकास के लिए तथा सामान्य सन्तुष्टि के लिए न तो पूर्णतया नियन्त्रित उपभोग वाछनीय है न ही पूर्णतया नियन्त्रित उत्पादन। दोनो के मध्य का माग अपनाने पर आर्थिक विकास की आवश्यक दशाए उत्पन्न की जा सकेगी। यही कारण है कि पूँजीवादी देशो म उपभोग को नियन्त्रित करने का प्रयास किया गया है और इसके विपरीत समाजवादी देशो म धीरे धीरे उपभोक्ता को स्वतन्त्रता प्रदान की जा रही है।

प्रश्न तथा सकेत

1 उपभोग की परिभाषा दीजिए और बतलाइए कि किस प्रकार यह सभी आर्थिक क्रियाओं का आदि तथा अन्त दोनो है ?

Define consumption and prove that Consumption is the beginning and end of all the economic activities

[**सकेत**—प्रथम भाग म उपभोग का अर्थ व परिभाषा देना है तथा दूसरे भाग म उसका महत्त्व बताना है।]

2 उपभोक्ता की सावभौमिकता से क्या अभिप्राय है ? उसकी प्रमुख सीमाए क्या-क्या हैं ?

What do you unde stand by consumer sovereignty ? What are its main limitations ?

अथवा

'उपभोक्ता की प्रभुसत्ता" की परिभाषा दीजिए। क्या किसी उपभोक्ता का व्यवहार वास्तविक रूप से स्वतन्त्र हो सकता है ?

Define Consumer sovereignty Can the behaviour of a consumer be really independent ?

अथवा

उपभोक्ता एक सवधानिक सम्राट है जो राज्य (Reign) करता है शासन (Rule) नही विवेचना कीजिए।

Consumer is a constitutional monarch who reigns but does not rule Discuss

अथवा

पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में उपभोक्ता सम्राट होता है। इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं ?

In a capitalistic economy the consumer is the ultimate king How far do you agree with this statement ?

अथवा

उपभोक्ता इतना निरकुश सम्राट नहीं होता जितना कि वह समझा जाता है। अधिक से अधिक वह वैधानिक सम्राट है जो राज्य करता है शासन नहीं। विवेचना कीजिए।

The consumer is not so despotic a monarch as he is supposed *to be At best he is a constitutional monarch who reigns but does* not rule Discuss

[सकेत—सभी प्रश्नों के उत्तर के प्रथम भाग में उपभोक्ता की प्रभुसत्ता की धारणा को समझाइए। द्वितीय भाग में उपभोक्ता की प्रभुसत्ता को प्रभावित करने वाली सीमाओं का विवेचन कीजिए। इसके बाद निष्कर्ष के रूप में यह दीजिए कि आधुनिक युग में उपभोक्ता की प्रभुसत्ता बहुत सीमित है।]

3 आप उपभोक्ता की प्रभुसत्ता से क्या समझते हैं ? आप इस कथन से कहाँ तक सहमत हैं कि आज के युग में उपभोक्ता एकत्रित कर लिए जाते हैं और एक समूह के रूप में समझे जाते हैं सम्राट की भाँति नहीं बल्कि भेड़ों के झुण्ड की भाँति हैं।

What do you understand by consumer sovereignty ? Do you agree with the view that in modern times the consumer are bulked together and treated en mass not like a king but a herd of sheep

[सकेत—इसमें प्रथम भाग में उपभोक्ता की प्रभुसत्ता का अर्थ बतलाइए। दूसरे भाग में उपभोक्ता की प्रभुता को सीमित करने वाले तत्त्वों को समझाइए और यह भी बतलाइए कि वर्तमान युग में उपभोक्ता निरकुश ढंग से अर्थव्यवस्था को प्रभावित करने में असमर्थ है बल्कि उल्टे उसी को अन्य लोगों की इच्छाओं के अनुसार उपभोग करने को बाध्य होना पड़ता है।]

अभाव अनुभव करते हैं। इस अभाव की भावना को दूर करने के लिए हमारे मन में किसी वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा या चाह होती है। हम सभी सदा इस प्रकार की अनेक इच्छाएँ महसूस करते हैं। साधारण बोल चाल की भाषा में इच्छा (Desire) तथा आवश्यकता में कोई भेद नहीं माना जाता है। किन्तु अर्थशास्त्र में *आवश्यकता (Want) और इच्छा (Desire) में अन्तर किया जाता है।* अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण में वही इच्छा आवश्यकता कहलाती है जिसको सन्तुष्ट करने के लिए मनुष्य के पास साधन होता है तथा वह उस इच्छा को पूर्ण करने के लिए वास्तव में अपने साधन का व्यय करने के लिए तत्पर (Willing) भी होता है। अतः आर्थिक दृष्टि से आवश्यकता के अन्तर्गत तीन तत्वों का समावेश होता है (i) किसी वस्तु की इच्छा या चाह होना (ii) उस इच्छा की सन्तुष्टि के लिए **सामर्थ्य या योग्यता (Capacity or ability) का होना** अर्थात् पर्याप्त साधन या धन का होना तथा (iii) उस साधन का त्याग अथवा धन का व्यय करने की तत्परता का (Willingness to sacrifice) होना। जब कोई इच्छा इन तत्वों से युक्त होती है तभी उसे **प्रभावपूर्ण इच्छा** (Effective Desire) कहते हैं जिसे अर्थशास्त्र में **आवश्यकता** कहा जाता है।[1] उदाहरणार्थ एक व्यक्ति एक मोटर-कार को प्राप्त करने की इच्छा करता है परन्तु यह इच्छा तभी आवश्यकता कहलायेगी जबकि मोटर-कार खरीदने के लिए उसके पास पर्याप्त धन है और जिसको वह व्यय करने के लिए तत्पर है। अतः आर्थिक दृष्टि से वे इच्छाएँ ही महत्त्वपूर्ण हैं जिनको सन्तुष्ट करने के लिए मनुष्य के पास क्रय शक्ति हो। *पेन्सन के शब्दों में* **"आवश्यकता विशेष वस्तुओं की प्राप्ति के लिए एक प्रभावपूर्ण इच्छा है जो उन्हें प्राप्त करने के लिए किए गए प्रयत्न या त्याग के रूप में अपने को प्रकट करती है।"**[2]

आवश्यकता एवं माँग में अन्तर
(Distinction between Wants and Demand)

आवश्यकता शब्द को ठीक प्रकार से समझने के लिए माँग एवं आवश्यकता में अन्तर जान लेना अनिवार्य है। यद्यपि **आवश्यकता तथा माँग दोनों** शब्द आपस में काफी मिलते-जुलते हैं। फिर भी इनमें काफी अन्तर है। आवश्यकता और माँग दोनों ही शब्द **प्रभावपूर्ण इच्छा** (Effective desire) को व्यक्त करते हैं। अन्य शब्दों में माँग और आवश्यकता दोनों ही के लिए इच्छा इसकी पूर्ति के लिए धन

---

1 ... there must be the presence of a want supported by ability and willingness to purchase and this we call demand

—*S E Thomas*

2 Want may be defined as an effective desire for particular things which expresses itself in the effort or sacrifice necessary to obtain them

—*Penson* Economics of Everyday Life

तथा इसे व्यय करने की तत्परता का होना आवश्यक है। किन्तु इसके बावजूद भी इनमें प्रमुख अन्तर इस प्रकार हैं (1) सबसे पहले तो माग का सम्बन्ध सदैव एक **निश्चित समय तथा कीमत** से होता है जबकि आवश्यकता का सम्बन्ध समय तथा कीमत से नहीं होता। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति को गेहूँ की 20 किलोग्राम की आवश्यकता है किन्तु यह कहना कि उस व्यक्ति की गेहूँ की माग 20 किलोग्राम है उचित नहीं है क्योंकि माग के साथ कीमत तथा समय का होना आवश्यक है। अतः हम माँग के सम्बन्ध में यह कह सकते हैं कि 2 रु० प्रति किलोग्राम की कीमत पर प्रतिमाह उस व्यक्ति की गेहूँ की माग 20 किलोग्राम की है।

(2) दूसरा अन्तर यह है कि **माँग उस आवश्यकता को ही कह सकते हैं जिसकी सन्तुष्टि (पूर्ति) की जा सकती है।** चूँकि मानव की आवश्यकताएँ अनन्त होती हैं किन्तु सभी आवश्यकताओं की मानव सामूहिक पूर्ति नहीं कर सकता। अतः माग केवल उन्हीं आवश्यकताओं को कहा जाता है जिनकी पूर्ति की जाती है। प्रो० बेन्हम ने भी माग का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है **'किसी दी हुई कीमत पर किसी वस्तु की माग उसकी वह मात्रा है जो उस कीमत पर वास्तव में खरीदी जाएगी।'**

आवश्यकताओं के निर्धारक तत्त्व
(Factors Determining Wants)

सभी व्यक्तियों की आवश्यकताएँ समान नहीं होतीं। देश तथा काल में अन्तर होने के कारण विभिन्न व्यक्तियों की आवश्यकताओं में भी भिन्नता पायी जाती है। निम्नलिखित तत्त्वों के कारण आवश्यकताओं में विभिन्नता का होना स्वाभाविक है

(1) **भौगोलिक वातावरण** अलग-अलग देशों एवं क्षेत्रों में भौगोलिक वातावरण समान नहीं होने पर आवश्यकताओं में अन्तर पाया जाता है। हिमालय की गोद में रहने वाले व्यक्ति को गर्मी के दिनों में ऊनी वस्त्रों की आवश्यकता होगी जबकि मिश्र-अरब के मैदान के निवासियों को ऐसे वस्त्रों की आवश्यकता केवल सर्दी के दिनों में ही पड़ेगी।

(2) **शारीरिक तथा आर्थिक तत्त्व** आवश्यकताओं को प्रभावित करने में शारीरिक तथा आर्थिक तत्त्व भी महत्त्वपूर्ण हैं। एक स्वस्थ व्यक्ति को अधिक पौष्टिक भोजन की आवश्यकता नहीं होती जबकि एक निर्बल व्यक्ति के लिए पौष्टिक भोजन अनिवार्य है। व्यक्तिगत आय भी आवश्यकताओं को निर्धारित करती है। एक धनी व्यक्ति न केवल अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने में समर्थ होता है बल्कि सुखदायक तथा विलासिता सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति भी करता है। परन्तु एक गरीब व्यक्ति आय कम होने पर कठिनाई में अपनी अनिवार्यताओं को सन्तुष्ट कर पाता है। इस प्रकार उसकी सीमित आय उसकी आवश्यकताओं को

सीमित कर देती है। परन्तु उस व्यक्ति की आय में परिवर्तन (वृद्धि) होने पर उसके अधिमानों में परिवर्तन हो जायगा।

(3) **अन्य तत्त्व** आवश्यकताओं को निर्धारित तथा प्रभावित करने में सामाजिक रीति रिवाजों, नैतिक दृष्टिकोण, स्वभाव, आदतों, रुचि तथा फैशन आदि तत्त्वों का भी प्रभाव पड़ता है। मनुष्य जिस समाज में रहता है उसके अनुरूप ही आचरण करना पड़ता है। *उस समाज के रीति रिवाज उसकी आवश्यकताओं को* निर्धारित करते हैं। हिन्दू समाज में किसी की मृत्यु होने पर मृत्यु भोज देना अनिवार्य सा है। इसी प्रकार जीवन का नैतिक एवं धार्मिक दृष्टिकोण मनुष्य की आवश्यकताएँ निर्धारित करता है। यदि मनुष्य भौतिकवादी (materialist) नहीं है, शान शौकत एवं दिखावे में विश्वास नहीं करता है तथा सादा जीवन उच्च विचार में विश्वास करता है तो उसकी आवश्यकताएँ सीमित होंगी। परन्तु यदि वह शान शौकत में रहने का दृष्टिकोण अपनाता है तो उसकी आवश्यकताएँ असीमित एवं असाधारण होंगी। एक धार्मिक व्यक्ति मांस मदिरा से दूर रहेगा जबकि 'खाओ-पीओ और मौज करो' का पक्षपाती इन वस्तुओं को अपनी आवश्यकताएँ समझेगा। मनुष्य की आदतें बदलते हुए फैशन तथा रुचियों से भी आवश्यकताएँ निर्धारित एवं प्रभावित होती हैं। कुछ वस्तुओं जैसे पान, सिगरेट, चाय आदि के निरंतर प्रयोग से उनका प्रयोग करना किसी मनुष्य के लिए आवश्यक हो जाता है। परन्तु जो इनका आदी नहीं है उसके लिए ये वस्तुएँ आवश्यक नहीं हैं। बदलते हुए फैशन तथा बदलती हुई रुचियों से प्रभावित होकर भी मनुष्य अपनी आवश्यकताओं में परिवर्तन लाता है।

मानवीय आवश्यकताओं की विशेषताएँ अथवा लक्षण एवं उन पर आधारित नियम

(Characteristics of Human Wants and Laws based on them)

यद्यपि देश, काल, परिस्थिति, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, नैतिक तथा शारीरिक आदि अनेक घटकों के कारण आवश्यकताओं में विभिन्नता पाई जाती है। मानवीय आवश्यकताओं में विभिन्नता होते हुए भी उनमें कुछ समानताएँ पाई जाती हैं। इन समानताओं के अतिरिक्त आवश्यकताओं के कुछ सामान्य विशेषताएँ या लक्षण भी हैं जो सार्वभौमिक हैं। इन लक्षणों का अर्थशास्त्र में विशेष महत्त्व है क्योंकि उनके आधार पर ही बहुत से आर्थिक नियमों का प्रतिपादन किया गया है। आवश्यकताओं की सामान्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं

(1) **आवश्यकताएँ अनन्त अथवा असीमित (Unlimited) होती हैं** मानवीय इच्छाओं का कोई अन्त नहीं है। प्रो० जे० के० मेहता ने चेतन तथा अचेतन (conscious and unconscious) आवश्यकताओं का भेद करके यह बतलाया है कि चेतन आवश्यकताओं की पूर्ति होने पर अचेतन या सुप्त इच्छाएँ आवश्यकताओं का रूप ग्रहण कर लेती हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक आवश्यकता को सन्तुष्ट करने में

लिए प्रयास करने पड़ते हैं। इन प्रयासों से मनुष्य में नयी शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं जिनके फलस्वरूप नवीन वस्तुओं की खोज तथा उनका उत्पादन किया जाता है। ये नवीन वस्तुएँ नयी आवश्यकताओं को जन्म देती हैं। नयी नयी तथा बढ़ती हुयी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मानव समाज आर्थिक विकास एवं प्रगति की योजनाएँ बनाता है जिससे देश तथा समाज अधिक प्रगतिशील विकसित एवं समृद्धशाली बनता है।

आवश्यकताओं की इस विशेषता पर ही **आर्थिक प्रगति का नियम** (Law of Progress) आधारित है। आवश्यकताओं की असीमितता के कारण ही कहा जाता है कि आवश्यकता आविष्कार की जननी है (Necessity is the mother of invention)।

(2) **आवश्यकता विशेष** (Particular Want) **पूर्णतः सन्तुष्ट की जा सकती है** यह ठीक है कि मनुष्य की आवश्यकताएँ असीमित एवं अनन्त हैं तथा सीमित साधनों के कारण वह सामूहिक रूप में सभी आवश्यकताओं को सन्तुष्ट भी नहीं कर सकता परन्तु किसी समय विशेष में उपलब्ध वस्तु या सेवा की मात्रा से वह किसी आवश्यकता विशेष को अवश्य सन्तुष्ट कर सकता है।

इस विशेषता को मार्शल ने सन्तुष्टि योग्य आवश्यकताओं का नियम (The Law of Satiable Wants) कहा है। इसकी सहायता से ही **क्रमिक उपयोगिता ह्रास नियम'** (The Law of Diminishing Utility) की रचना की गयी है। **इसे सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम** (Law of Diminishing Marginal Utility) अथवा **तृप्ति का नियम** (Law of Satiety) भी कहते हैं। जैसे-जैसे व्यक्ति की किसी वस्तु विशेष की आवश्यकता सन्तुष्ट होती जाती है वैसे वैसे उसकी आवश्यकता की तीव्रता कम होने से उससे प्राप्त सीमान्त उपयोगिता क्रमशः घटने लगती है यहाँ तक कि पूर्ण तृप्ति बिन्दु पर वस्तु की सीमान्त उपयोगिता शून्य हो जाती है।

(3) **आवश्यकताएँ परस्पर प्रतियोगी** (Competitive) **होती हैं** असीमित तथा विभिन्न आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने के लिए पर्याप्त मात्रा में साधन उपलब्ध नहीं होते। साधनों की दुर्लभता तथा कमी के कारण ही एक साथ सभी आवश्यकताओं की पूर्ति सम्भव नहीं हो पाती। फलस्वरूप उन उपलब्ध सीमित साधनों से अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करने के लिए तीव्रता (intensity) के आधार पर आवश्यकताओं का चुनाव करना पड़ता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी आय (क्रय शक्ति) तथा पसन्दगी (preferences) के आधार पर ही सन्तुष्ट की जाने वाली आवश्यकताओं का क्रम निर्धारित करता है। इस क्रम के अन्तर्गत सबसे पहले वह सर्वाधिक तीव्र आवश्यकता को सन्तुष्ट करता है उसके पश्चात् कम तीव्र आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करता है। सबसे अन्त में वह उन आवश्यकताओं की पूर्ति की ओर ध्यान देता है जो सबसे कम तीव्र होती हैं। इन शेष आवश्यकताओं को मनुष्य

करने पर वह उसी समय विचार करता है जबकि प्रथम दो वर्गों की आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने के पश्चात् भी उसके सीमित साधनों में से कुछ शेष रहता है अन्यथा नहीं।

आवश्यकताओं के इस लक्षण के आधार पर सम सीमान्त उपयोगिता नियम (Equi Marginal Utility) या प्रतिस्थापन का नियम (Law of Substitution) आधारित है।

(4) आवश्यकताएँ तीव्रता के आधार पर भी भिन्न (Vary in intensity) होती हैं मनुष्य की सभी आवश्यकताएँ एक समान तीव्र नहीं होती हैं वह आवश्यकताओं को उनकी तीव्रता के क्रम में रखता है और अधिक तीव्र आवश्यकताओं को पहले सन्तुष्ट करता है। उदाहरणार्थ मोटर-कार डाक्टर या वकील के लिए आवश्यक हो सकती है परन्तु एक साधारण क्लर्क या अध्यापक के लिए यह विलासिता पूर्ण हो सकती है।

आवश्यकताओं की इस विशेषता के कारण ही उपभोक्ताओं की उदासीनता का अनुमान लगाया जाता है जिससे सन्तुष्टि का पारिमाणिक माप तथा आवश्यकताओं का अनिवार्यताओं (Necessaries) आरामदायक (Comforts) तथा विलासिताओं (Luxuries) में वर्गीकरण सम्भव हो सका है।

(5) कुछ आवश्यकताएं परस्पर पूरक (Complementary) होती हैं कुछ आवश्यकताएं ऐसी होती हैं जिनमें से किसी एक आवश्यकता की पूर्ति के लिए किसी अन्य आवश्यकता की पूर्ति आवश्यक होती है एक के अभाव में दूसरे की आवश्यकता अपूर्ण रहती है। जैसे कार के लिए पट्रोल लेना तथा फाउन्टेन पेन के लिए स्याही लेना आवश्यक है।

इस विशेषता के आधार पर मूल्य निर्धारण में **संयुक्त मांग के सिद्धान्त** *(Theory of Joint Demand) का निर्माण किया गया है।*

(6) कुछ आवश्यकताएं आवर्तक या बारबार उपस्थित (Recurring) होती हैं किसी एक समय किसी एक आवश्यकता को पूर्णतया सन्तुष्ट कर लेने पर भी यह आवश्यक नहीं है कि उसका पुनः अनुभव न हो। एक बार भोजन कर लेने पर पुनः भूख लगने पर भोजन की आवश्यकता महसूस होती है। अतः कुछ आवश्यकताएँ बार बार उपस्थित होती हैं और उन्हें हर बार सन्तुष्ट करना आवश्यक होता है।

आवश्यकता की इस विशेषता पर **मिश्रित पूर्ति या वकल्पिक माग के मूल्य निर्धारण के नियम** निर्धारित किये जाते हैं।

(7) कुछ आवश्यकताएं आदतें बन (Become a matter of habit) हैं किसी वस्तु को बार बार प्रयोग करने पर उस वस्तु के प्रयोग की आदत जाती है। आदत पड़ जाने पर वे वस्तुएं आवश्यक हो जाती हैं जैसे सिगरेट

चाय आदि। इनका प्रयोग न्हा करने पर उपभोक्ता को कष्ट अनुभव होता है। ये आवश्यकताएँ मनुष्य के जीवन-स्तर का अंग बन जाती हैं तथा इस जीवन-स्तर के आधार पर उसकी मजदूरी निर्धारित की जाती है।

आवश्यकताओं की इस विशेषता के आधार पर मजदूरी सामान्यतया जीवन-स्तर के अनुसार निर्धारित होती है।

(8) वर्तमान की अपेक्षा भविष्य की आवश्यकता को अधिक महत्त्व देना (More importance to future than present) कभी-कभी मनुष्य उपभोग-शक्ति सीमित होते हुए भी वर्तमान की अपेक्षा भविष्य को अधिक महत्त्व देता है। ऐसी स्थिति में यह कहा जाता है कि कुछ वर्तमान आवश्यकताओं की अपेक्षा भावी आवश्यकताएँ अधिक तीव्र होती हैं।

आवश्यकताओं की इस प्रवृत्ति के कारण ही **पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में उत्पादन भावी माँग के आधार पर किया जाता है।**

(9) वर्तमान की आवश्यकताएँ भविष्य की आवश्यकताओं की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण होती हैं (Present wants are more intensive than future wants) अधिकतर मनुष्य भविष्य की आवश्यकता को महत्त्व न देकर वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति को ही विशेष महत्त्व देता है क्योंकि भविष्य अनिश्चित है तथा भविष्य की आवश्यकताएँ वर्तमान आवश्यकताओं की अपेक्षा कम तीव्र होती हैं। इस प्रकार जीवन-रक्षक आवश्यकताएँ आराम तथा विलासिता सम्बन्धी आवश्यकताओं से अधिक महत्त्वपूर्ण होती हैं।

इस विशेषता के ही आधार पर प्रो० फिशर (Fisher) का **'ब्याज का समय अधिमान सिद्धान्त' या तरलता अधिमान सिद्धान्त आधारित है।**

(10) कुछ आवश्यकताओं की सन्तुष्टि कई प्रकार से की जा सकती है (Some wants can be satisfied by alternative means) कुछ आवश्यकताएँ ऐसी होती हैं जिनकी सन्तुष्टि करने के लिए वैकल्पिक साधन (Alternative means) प्राप्त हो सकते हैं। अर्थात् आवश्यकताएँ वैकल्पिक होती हैं। उदाहरणार्थ चाय के स्थान पर कॉफी के प्रयोग से चाय की आवश्यकता की पूर्ति हो जाती है।

इस विशेषता पर 'मिश्रित पूर्ति' (Composite Supply) या वैकल्पिक माँग (Alternative Demand) के विचार प्रस्तुत किए गए हैं।

(11) आवश्यकताएँ सामाजिक रीति रिवाज तथा फैशन से प्रभावित होती हैं (Wants are affected by social customs and fashion) मनुष्य की अनेक आवश्यकताएँ सामाजिक रीति रिवाज तथा फैशन से भी प्रभावित होती हैं। हम जिस समाज में रहते हैं उसके रीति रिवाजों के अनुसार हमारी बहुत सी आवश्यकताएँ बन जाती हैं। जन्म, शादी, श्राद्ध आदि के अवसर पर भोज की

आयातन सामाजिक रीति रिवाज पर ही निर्भर करता है। इसी प्रकार मनुष्य की आवश्यकता पर फैशन का प्रभाव भी पड़ता है उदाहरणार्थ बहुत से व्यक्ति टाई का प्रयोग फैशन के परिणाम स्वरूप करने लगते हैं।

(12) मनुष्य की आवश्यकताएँ उसके सामाजिक एवं आर्थिक स्तर के अनुकूल होती है (Human wants are according to his social and economical status) मनुष्य की आवश्यकताओं में भिन्नता उसके सामाजिक एवं आर्थिक स्तर के अनुकूल होती है। यही कारण है कि उच्च वर्ग के व्यक्ति की आवश्यकताएँ मध्यम एवं निम्न वर्ग के व्यक्ति से मूलतः भिन्न होती है।

(13) ज्ञान वृद्धि तथा वैज्ञानिक उन्नति से आवश्यकताएँ प्रभावित होती हैं (Wants are effected by increased knowledge and scientific progress) मनुष्य जैसे ही किसी वस्तु के बारे में जानकारी प्राप्त करता है वह उस वस्तु की आवश्यकता महसूस करने लगता है। आधुनिक युग में उन्नत विज्ञापन कला एवं प्रचार विज्ञान का एक प्रभावपूर्ण माध्यम है। शहरों में इस माध्यम के कारण ही उनकी आवश्यकताएँ ग्रामवासियों की तुलना में अधिक होती है। इसी प्रकार वैज्ञानिक उन्नति के कारण भी आवश्यकताएँ बढ़ जाती हैं जैसे वैज्ञानिक प्रगति से ही रेडियो तथा टी० वी० का प्रयोग बढ़ा है।

आवश्यकताओं की विशेषताओं के अपवाद
(Exceptions of the characteristics of wants)

यद्यपि आवश्यकताओं के कुछ सामान्य लक्षण सार्वभौमिक हैं फिर भी मोरलैंड (W H Moreland) ने अपनी पुस्तक *An Introduction to Economics* में इन लक्षणों के कुछ निम्नलिखित अपवादों का उल्लेख किया है। आलोचकों ने इन अपवादों को अवास्तविक सिद्ध कर दिया है —

(1) मोरलैंड के अनुसार कुछ स्थितियों में आवश्यकता विशेष की भी पूर्ण सन्तुष्टि नहीं हो पाती। उन्होंने इसके निम्नलिखित उदाहरण दिये हैं —

(i) धन एकत्र करने की लालसा —*एक कंजूस व्यक्ति की धन एकत्र करने की कामना या इच्छा कभी भी सन्तुष्ट नहीं होती। जितना ही अधिक धन वह प्राप्त करता जाता है उसमें अधिक पाने की इच्छा या आवश्यकता बनी रहती है।* इस कथन से यह स्पष्ट है कि कंजूस व्यक्ति की धन एकत्र करने की आवश्यकता विशेष पूर्णतया सन्तुष्ट हो नहीं होती है।

यह अपवाद काल्पनिक है अर्थशास्त्र के क्षेत्र में इसे सम्मिलित नहीं किया जा सकता क्योंकि कंजूस व्यक्ति एक सामान्य व्यक्ति नहीं है। अर्थशास्त्र के अन्तर्गत ऐसे व्यक्तियों की क्रियाओं का अध्ययन नहीं किया जाता है। इसके अतिरिक्त धन आवश्यकता नहीं आवश्यकता की पूर्ति का साधन है और सीमित है अतः उन्हें अधिक प्राप्त करने की इच्छा एक स्वभाविक आर्थिक व्यवहार है।

हैं। कुछ तो आवश्यकता वृद्धि को मानव सुख तथा आर्थिक प्रगति के लिए वाछनीय मानते हैं तो कुछ आवश्यकता वृद्धि को वाछनीय नही मानते। इन दोनो विचार धाराओ के तर्क निम्न विवरण के अनुसार आगे दिया जा रहा है।

आवश्यकता वृद्धि की वाछनीयता के पक्ष मे तर्क (Arguments in favour of Multiplicity of Wants) आवश्यकताओ की सख्या वृद्धि के पक्ष मे निम्न तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं

(1) मानव सुख मे वृद्धि तथा सन्तुष्टि की प्राप्ति आवश्यकताओ की सख्या मे वृद्धि से भौतिक जीवन के अभाव दूर होते हैं तथा मनुष्य को सुख तथा सन्तुष्टि की प्राप्ति होती है तथा उसका जीवन स्तर उन्नत होता है।

(2) अनेक आविष्कार सम्भव आवश्यकता आविष्कार की जननी है अत आवश्यकता मे बढोतरी के कारण अनेक आविष्कार होना सम्भव हुआ है। इन आविष्कारो से समाज का आर्थिक सामाजिक तथा राजनैतिक ढाचा सुदृढ होता है।

(3) समाज का आर्थिक विकास सम्भव आवश्यकताओ मे वृद्धि से ही समाज का आर्थिक विकास हुआ है। समाज को और अधिक उन्नत करने के लिए मानवीय आवश्यकताओ मे गुणात्मक-वृद्धि अनिवार्य है।

(4) उन्नत जीवन स्तर से समाज मे सीमित-जनसख्या की भावना का उदय आवश्यकताओ मे वृद्धि से जीवन-स्तर उन्नत होता है और जीवन स्तर मे उन्नति होने से समाज जनसख्या को सीमित करने की भावना उदय होती है।

(5) राजनैतिक सुदृढता वर्तमान आर्थिक प्रणाली मे विश्व के उन्ही देशो को राजनैतिक प्रमुख प्राप्त है जो आर्थिक दृष्टि से मजबूत है और आर्थिक दृष्टि से सुदृढता का कारण होता है आवश्यकताओ मे वृद्धि।

आवश्यकता-वृद्धि के वाछनीयता के विपक्ष मे तर्क (Arguments against multiplicity of Wants) आवश्यकताओ की सख्या वृद्धि को वाछनीय मानने के विपक्ष मे निम्न तर्क प्रस्तुत किये जाते है —

(1) मानव के वास्तविक सुख मे वृद्धि नहीं होती —आवश्यकताओ की अभिवृद्धि से मानव के मानसिक सुख मे बढोतरी होने के बजाय उसके जीवन का सुख चैन समाप्त हो जाता है। जैसा कि हम जानते हैं मानव के साधन तो सीमित होते हैं जिनसे वह सीमित आवश्यकताओ की ही पूर्ति मे समर्थ हो सकेगा। आवश्यकताओ के बढने पर वह अपनी अनेक आवश्यकताओ की सन्तुष्टि न कर पायेगा तो उसे बड़ा कष्ट होगा। इसके विपरीत आवश्यकताएँ कम होने पर उनकी सरलता से पूर्ति हो सकेगी और उसे सुख प्राप्त होगा। अत वास्तविक सुख मनुष्य की आवश्यकताओ मे वृद्धि करने मे नही बल्कि सीमित करने मे हैं।

(2) मानव दृष्टिकोण संकुचित हो जाता है आवश्यकताओं में वृद्धि के कारण प्रत्येक मनुष्य उनकी पूर्ति में इतना व्यस्त हो जाता है कि उसे दूसरे के सुख-दुःख का ख्याल ही नहीं रहता। वह निरा स्वार्थी बन कर रह जाता है। वह स्व-केंद्रित (Self centered) हो जाता है। आज आवश्यकताओं में वृद्धि के कारण ही मनुष्य केवल अपने बारे में ही सोचने लगा है। इस प्रकार उसका दृष्टिकोण संकुचित हो जाता है।

(3) समाज में वर्ग-संघर्ष को बढ़ावा आवश्यकताओं में वृद्धि के कारण हर व्यक्ति धन कमाने की होड़ में लग जाता है। वह दूसरों का शोषण तक करने लगता है। समाज दो वर्गों में बट जाता है धनी व निर्धन। इन दोनों वर्गों में आपस में संघर्ष चलता ही रहता है।

(4) समाज के आध्यात्मिक विकास में बाधक आज मनुष्य अपनी बढ़ी हुई आवश्यकताओं के कारण धन कमाने की ऐसी भाग-दौड़ में लगा हुआ है कि वह शान्ति से ईश्वर का स्मरण भी नहीं कर सकता। इसी कारण आध्यात्मिक जगत में गुरु कहा जाने वाला भारत आज भौतिकता के पीछे भटक रहा है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्ष के रूप में यही कहा जा सकता है कि आर्थिक प्रगति के लिए आवश्यकताओं में वृद्धि वांछनीय है किन्तु साथ ही आवश्यकताओं में अनावश्यक बढ़ोतरी भी समाज में वर्ग-संघर्ष, शोषण, भ्रष्टाचार, असमानताएँ व नैतिक पतन आदि को जन्म देती है। आज अमेरिका व पाश्चात्य देशों में बढ़ी हुई आवश्यकताओं के कारण अपार धन तथा असीमित भौतिक समृद्धि के बावजूद भी उन्हें सच्चा सुख प्राप्त नहीं है। अतः आवश्यकताओं में अभिवृद्धि तथा साधन-पूर्ति में उचित ताल-मेल बैठने पर ही सच्चे सुख की अनुभूति हो सकती है।

आवश्यकताओं का वर्गीकरण
(Classification of Wants)

आवश्यकताओं की विशेषताओं के विवेचन से हम विदित हो गया है कि सभी आवश्यकताओं में समान रूप में तीव्रता नहीं होती। आवश्यकताओं के बीच प्रतिस्पर्द्धा होता है। कुछ आवश्यकताएँ बहुत ही तीव्र होती हैं जिनकी पूर्ति मनुष्य की कार्यक्षमता को बनाए रखने तथा उसमें वृद्धि के लिए अपरिहार्य होती है। कुछ आवश्यकताएँ कम तीव्र होती हैं और उनकी पूर्ति में कार्यक्षमता में कोई वृद्धि नहीं होती। इसीलिए, उनकी पूर्ति करना इतना महत्त्वपूर्ण (Urgent) नहीं होता। इसी कारण आवश्यकताओं को भिन्न भिन्न वर्गों में बाँटा जा सकता है। जर्मन अर्थशास्त्री वान हैरमन (Von Hermann) ने आवश्यकताओं को निरपेक्ष तथा सापेक्ष उच्चतर तथा निम्नतर आवश्यक तथा स्थगित करने योग्य (Urgent and Deferred) प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष सामान्य तथा विशेष व्यक्तिगत तथा सामूहिक स्थायी तथा

अस्थायी लगातार तथा अवराधित वतमान एव भविष्य तथा साधारण एव असाधारण और धनात्मक एव अधनात्मक वर्गों म वर्गीकृत किया है। इसक अतिरिक्त बाद म फ्रासीसी तथा जमन अथशास्त्रियो न भी इस सम्बन्ध म अपन विचार व्यक्त किय हैं।

इस प्रकार आवश्यकताओ की तीव्रता म भिन्नता क आधार पर **मानवीय आवश्यक्ताओ को** मुख्यत निम्नलिखित **तीन वर्गों मे** विभाजित किया जाता है

(1) **अनिवाय आवश्यकताए** (Necessaries) (2) **आरामदायक आवश्यकताएँ** (Comforts) (3) **विलासिताए** (Luxuries)।

पुन अनिवाय आवश्यकताओ को तीन उप वर्गों म बाँटा गया है

(i) जीवन रक्षक अनिवायताए (Necessaries for Existence)

(ii) कुशलतारक्षक अनिवायताएँ (Necessaries for Efficiency)

(iii) परम्परागत अथवा प्रतिष्ठा रक्षक अनिवायताए (Conventional Necessaries)।

आवश्यकता क इस वर्गीकरण को हम निम्नाकित चाट द्वारा भी प्रस्तुत कर सकत हैं—
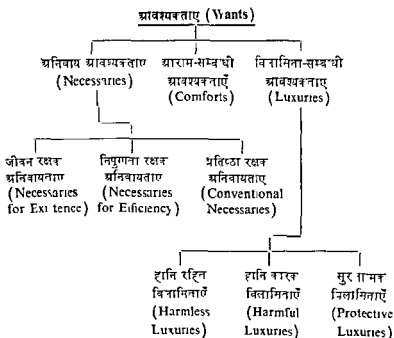
(1) अनिवार्य आवश्यकताएँ (Necessaries) वे आधारभूत तथा प्रारम्भिक आवश्यकताएँ जिनकी सन्तुष्टि जीवन रक्षा कार्य क्षमता बनाये रखने तथा प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए नितान्त आवश्यक है अनिवार्य आवश्यकताओं के अन्तगत आती है। इनकी सन्तुष्टि के बिना न तो वह जीवित ही रह सकता है न अपनी कार्य क्षमता तथा सामाजिक प्रतिष्ठा की ही रक्षा कर सकता है। अनिवार्य आवश्यकताओं की वस्तुएँ तथा सेवाएँ अति आवश्यक हैं जैसे भोजन वस्त्र व मकान सम्बन्धी आवश्यकताएँ। इन अनिवार्य आवश्यकताओं को तीन वर्गों में रखा जा सकता है

(i) **जीवनरक्षक अनिवार्य आवश्यकताएँ (Necessaries for existence)** इनका तात्पर्य उन वस्तुओं से है जिनका जीवित रहने के लिए न्यूनतम मात्रा में उपभोग करना अनिवार्य है। न्यूनतम भोजन तथा शरीर ढकने के लिए वस्त्र तथा धूप एवं वर्षा से बचने के लिए साधारण मकान इन आवश्यकताओं के उदाहरण हैं। जीवन रक्षक अनिवार्य वस्तुएँ भी व्यक्ति के स्वभाव देश तथा काल से प्रभावित होती है।

(ii) **कुशलता रक्षक अनिवार्य आवश्यकताएँ (Necessaries for efficiency)** उच्च स्तर पर कार्य क्षमता बनाए रखने के लिए जिन वस्तुओं तथा सेवाओं का उपभोग करना आवश्यक होता है उन्हें कुशलता रक्षक अनिवार्य आवश्यकताएँ कहते हैं। इन आवश्यकताओं के अन्तगत पौष्टिक एवं सन्तुलित भोजन हवादार मकान उचित वस्त्र चिकित्सा की सुविधाएँ बच्चों की शिक्षा की सुविधाएँ सम्मिलित है। जितना धन इन आवश्यकताओं की पूर्ति पर व्यय किया जाता है उससे अधिक अनुपात में कार्य क्षमता में बढ़ोतरी होती है।

(iii) **परम्परागत अथवा प्रतिष्ठारक्षक अनिवार्य आवश्यकताएँ (Conventional Necessaries)** वे वस्तुएँ तथा सेवाएँ जो समाज में प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए तथा रीति रीवाज अथवा आदत के कारण आवश्यक होती हैं परम्परावादी आवश्यकताएँ कहलाती है। इन आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने की प्रभावात्मक इच्छा इतनी अधिक तीव्र होती है कि उनकी अपेक्षा अन्य अनिवार्य आवश्यकताओं का त्याग कर दिया जाता है। इस प्रकार की आवश्यकताओं में शादी विवाह पर भोज त्योहारों पर विशेष व्यय श्राद्ध व मृत्यु भोज पर व्यय आदि को शामिल करते हैं।

(2) आरामदायक आवश्यकताएँ (Comforts) अनिवार्य आवश्यकताओं के अतिरिक्त उन वस्तुओं तथा सेवाओं का जिनके उपभोग से मनुष्य सुखमय तथा आराम का जीवन व्यतीत करने में समर्थ होता है, सुखकर आवश्यकताएँ कहते हैं। ये आवश्यकताएं वस्तुओं के मूल्यों तथा उपभोक्ताओं की आय पर निर्भर करती है। निश्चित रूप में सभी आवश्यकताओं को व्यक्त करना कठिन है। आरामदायक

आवश्यकताएँ मनुष्य की कार्य-क्षमता तथा जीवन स्तर मे वृद्धि करती है परन्तु मनुष्य के लिए अनिवार्य नही है। यदि इन आवश्यकताओं की पूर्ति करने मे कोई व्यक्ति असमर्थ नहीं होता है तो उसे थोडा कष्ट अनुभव होता है तथा उसका जीवन स्तर नीचे गिरने से उसकी कार्य क्षमता मे कमी आ जाती है। उदाहरण के लिए एक विद्यार्थी शहर मे 2 4 कि मी दूर अपने स्कूल मे पैदल भी जा सकता है। किन्तु साइकिल के उपयोग से उसे सुख एव आराम का तो आभास होगा ही पर साथ साथ समय की बचत से अधिक अध्ययन मे भी समर्थ हो सकेगा।

यहाँ कार्यक्षमता रक्षक आवश्यकताओं तथा आरामदायक आवश्यकताओं मे अन्तर समझ लेना आवश्यक है। कार्य क्षमता रक्षक वस्तुओं पर किये गये व्यय के अनुपात से अधिक अनुपात मे कार्यक्षमता मे वृद्धि होती है परन्तु आरामदायक आवश्यकताओं पर जिस अनुपात मे धन व्यय किया जाता है, इससे कम अनुपात मे ही कार्य कुशलता बढ़ती है। यही कारण है कि कार्यक्षमता रक्षक आवश्यकताओं को प्राथमिक आवश्यकताओं के वर्ग मे रखा गया है।

(3) **विलासिताएँ** (Luxuries) वे सेवाएं तथा वस्तुएं जो कार्य कुशलता मे किसी प्रकार भी वृद्धि नही करती विलासिताएँ कहलाती है। कुछ विशेष परिस्थितियों मे तो विलासिताओं के प्रयोग से मनुष्य की कार्यक्षमता कम हो जाती है। एक प्रकार से ये आवश्यकताएं अनावश्यक आवश्यकताओं (superfluous wants) को प्रकट करती हैं।[1] प्रो० जीड ने भी इन्हे अनावश्यक आवश्यकता की संज्ञा दी है। प्रो एली ने इन्हे अत्यधिक व्यक्तिगत उपभोग कहा है। विलासिताएं तीन प्रकार की हो सकती है—(i) **हानिकारक विलासिताएं**—कभी कभी विलासिताओं का कार्य कुशलता पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है ऐसी विलासिताओं को हानिकारक विलासिताएँ (*harmful* luxuries) कहा जाता है। इन विलासिताओं मे जैसे शराब आदि का उपभोग करने पर उपभोक्ता की कार्य क्षमता नष्ट हो जाती है।
(ii) **हानि रहित विलासिताएं**—कुछ विलासिताएँ हानिकारक नहीं होती जैसे आलीशान मकान सोने की घडी व सोने की चेन कीमती पेन हीरे जवाहरात व अन्य मूल्यवान आभूषण कीमती वस्त्र आदि। इन्हे हानिरहित विलासिताएं (harmless luxuries) कहा जाता है। इन विलासिताओं के उपभोग से कार्यक्षमता पर कोई प्रभाव नहीं पडता न तो कार्यक्षमता घटती है और न बढ़ती ही है।
(iii) **सुरक्षात्मक विलासिताएँ**—कुछ विशेषताएं की वस्तुएँ मनुष्य के संकट के समय काम आती है। जैसे किसान की फसल खराब होने पर लम्बी हडतालो के

---

1 Luxury in its ordinary sense mean anything that satisfies a superfluous want

—*Ely*

समय व्यापारिक हानि होने पर व्यक्ति विलासिताओं की वस्तुओं आदि को बेचकर अपनी आवश्यकता की पूर्ति कर लेता है।

आवश्यकताओं का वर्गीकरण सापेक्षिक (Relative) है

आवश्यकताओं के उपर्युक्त वर्गीकरण का आशय यह नहीं है कि वस्तुओं तथा सेवाओं के ये भेद अपरिवर्तनीय एवं दृढ़ (Rigid) हैं। वस्तुतः **'अनिवार्य आवश्यकताएँ' 'आरामप्रद आवश्यकताएँ तथा विलासिताएँ' सापेक्षिक (Relative) हैं जिनका सम्बन्ध समय, व्यक्ति, स्थान वस्तु की इकाई तथा आय-स्तर से है।**[1] किसी एक व्यक्ति की विलासिता किसी अन्य व्यक्ति की अनिवार्य आवश्यकता हो सकती है। शीत प्रदेशों की अनिवार्य वस्तुएं एक गर्म प्रदेश के लिए विलासिता हो सकती हैं। एक वस्तु एक समय में विलासिता हो सकती है तो दूसरे समय में वही वस्तु आवश्यक बन जाती है।

उदाहरणार्थ 20 25 वर्ष पहले जयपुर में स्कूटर विलासिता की वस्तु माना जाता था किन्तु अब यह जयपुर के विस्तार के कारण अनिवार्य हो गया है। इसी प्रकार एक छोटे गांव में टेलीफोन विलासिता की वस्तु है किन्तु एक बड़े शहर में वही आरामदायक वस्तु बन जाती है।

एक ही वस्तु किसी एक ही व्यक्ति के लिए विभिन्न स्थितियों में अलग अलग आवश्यकता बन जाती है। आवश्यकता का वर्गीकरण व्यक्ति के प्रति भी सापेक्षिक हो सकता है।

उदाहरणार्थ एक मोटर कार एक डाक्टर के लिए अनिवार्यता की वस्तु है तो एक प्रोफेसर के लिए आरामदायक वस्तु किन्तु एक मामूली किसान के लिए तो यह विलासिता ही होगी।

इसी प्रकार वस्तु की इकाइयों के प्रति भी आवश्यकता का वर्गीकरण सापेक्षिक हो सकता है। एक डाक्टर के लिए एक कार आवश्यक हो सकती है किन्तु दो-कारें उसके लिए विलासिता होगी जबकि एक बहुत बड़े उद्योग-पति के लिए दो या तीन कारें आवश्यक होती हैं।

इस प्रकार आवश्यकताओं का वर्गीकरण समय, स्थान व्यक्ति तथा वस्तु की इकाइयों के प्रति सापेक्षिक होता है। आवश्यकताओं का वर्गीकरण सापेक्षिक होने के कारण ही यह कहा जाता है कि यह वर्गीकरण कई तत्वों से प्रभावित होता है।

---

1 "The terms- necessary and luxury are however relative terms. An article that was regarded in civilized communities as a luxury a hundred years ago may as a result of the raising of the standard of life now be deemed as necessary

—*Dr Richards* Outline of Economics.

आवश्यकताओं के वर्गीकरण को प्रभावित करने वाले तत्त्व

आवश्यकताओं के वर्गीकरण को प्रभावित करने वाले तत्त्वों को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं (i) व्यक्ति से सम्बन्धित तत्त्व (ii) वस्तु से सम्बन्धित तत्त्व तथा (iii) वातावरण से सम्बन्धित तत्त्व। इसे हम निम्न रेखा चित्र द्वारा भी स्पष्ट कर सकते हैं

आवश्यकताओं के वर्गीकरण को प्रभावित करने वाले तत्त्व

व्यक्ति सम्बन्धी तत्त्व	वस्तु सम्बन्धी तत्त्व	वातावरण सम्बन्धी तत्त्व
1 आय-स्तर	1 वस्तु का मूल्य	1 समय
2 आदतें	2 वस्तु की इकाइयाँ या मात्रा	2 स्थान
3 सामाजिक स्तर		3 भौगोलिक वातावरण
4 व्यवसाय		4 आर्थिक विकास
5 धार्मिक भावनाएँ		
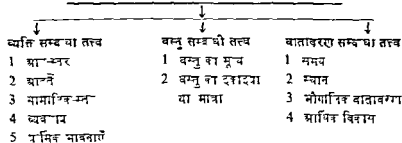
(1) व्यक्ति-सम्बन्धी तत्त्व इसके अन्तर्गत जो बातें शामिल हैं वे हैं

(i) **व्यक्ति विशेष की आय** यह निर्धारित करती है कि अमुक वस्तु उसके लिए आवश्यकता है या विलासिता। यदि एक गरीब व्यक्ति कार का प्रयोग करता है तो उसके लिए विलासिता होगी जबकि एक धनी व्यक्ति के लिए यह आवश्यक हो सकती है। (ii) **व्यक्ति विशेष की आदतों** के आधार पर कोई वस्तु उसके लिए अनिवार्य आवश्यकता हो सकती है जैसे चाय तथा सिगरेट परन्तु यदि किसी व्यक्ति को इनकी आदत न हो तो वे उसके लिए विलासिता की वस्तुएँ हो सकती हैं। (iii) इसी प्रकार व्यक्ति विशेष के **सामाजिक स्तर** तथा व्यवसाय से भी आवश्यकताओं का वर्गीकरण प्रभावित होता है। यदि कोई डॉक्टर कार रखता है तो वह उसके लिए आवश्यकता एवं अनिवार्य आवश्यकता है वह एक प्रोफेसर के लिए आरामदायक आवश्यकता है परन्तु एक विद्यार्थी के लिए विलासिता समझी जायगी। सामाजिक स्तर के सम्बन्ध में भी यही सिद्धान्त लागू होता है। एक जिलाधीश (कलक्टर) के लिए एक बड़ा तथा सुन्दर मकान आवश्यक है क्योंकि [illegible] मकान उसके चपरासी के लिए विलासिता की वस्तु होगा। (iv) **मनुष्य की धार्मिक भावनाएँ** आरामदायक वस्तुओं को विलासिताओं में परिवर्तित कर देती हैं। सादा जीवन व्यतीत करने वाला त्यागी व्यक्ति स्वादिष्ट भोजन को भी आरामदायक वस्तु न समझेगा जबकि चटोरा व्यक्ति इसको जीवन-रक्षक अनिवार्यता के वर्ग में रखेगा।

(2) वस्तु के मूल्य तथा इकाइयाँ इनके आधार पर भी आवश्यकताओं का वर्गीकरण अनिवार्य, आरामदायक तथा विलासिता की वस्तुओं में किया जाता है। अर्थात् ऊँचे मूल्य वाली वस्तुएँ जैसे रेफ्रिजरेटर, टेलीविजन आदि विलासि

ताएँ हैं उनसे कम मूल्य वाली वस्तुओं को व्यक्ति विशेष के आय के अनुसार आरामदायक वस्तुओं के वर्ग में रखा जाता है तथा कम या नीचे मूल्य की वस्तुएँ चूँकि कम आय वाले व्यक्ति भी उपभोग कर सकते हैं अतः उन्हें अनिवार्यताएँ कहा जाता है। परन्तु आर्थिक प्रगति होने पर जब व्यक्तिगत जीवन स्तर ऊँचा उठता है तब विलासिता की वस्तुएँ भी क्रमशः आरामदायक वस्तुओं के वर्ग से आगे निकलकर अनिवार्यताओं के वर्ग में आ जाती हैं। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति एक ही प्रकार की वस्तु की कई इकाइयाँ रखता है जिनकी उसे कोई आवश्यकता नहीं है तो यह उसकी विलासिता ही कहलायेगी। जैसे कि एक पेंट अनिवार्य आवश्यकता दो तीन आरामदायक आवश्यकता के हो सकते हैं किन्तु 25-30 पेंट तो विलासिता की ही श्रेणी में आवेंगे।

(3) **समय, स्थान तथा वातावरण** इन तत्त्वों से भी आवश्यकताओं का वर्गीकरण प्रभावित होता है। समय के परिवर्तन के साथ विलासिता की वस्तु आवश्यकता में परिवर्तित हो जाती है। स्कूटर का प्रयोग कुछ वर्षों पूर्व तक विलासिता समझी जाती थी। आज वह आरामदायक आवश्यकता में परिवर्तित हो गयी है। **स्थान परिवर्तन** होने पर विलासिता की वस्तु आवश्यकता में बदल सकती है। गाँव में रहने पर टाई का प्रयोग विलासिता है क्योंकि उसमें दिखावे की भावना अधिक है। परन्तु किसी बड़े शहर में रहने पर जहाँ टाई का प्रयोग सभी व्यक्तियों के द्वारा किया जाता हो टाई एक आवश्यक वस्तु समझी जायगी। **भौगोलिक वातावरण** की भिन्नता से भी आवश्यकताओं का वर्गीकरण प्रभावित होता है। ठण्डे देश में जो वस्तुएँ आवश्यक समझी जाती हैं उन्हें एक गर्म देश में आरामदायक वस्तुओं के वर्ग में रखा जाता है। भारत जैसे देश में हीटर तथा ऊनी कपड़े विलासिता हैं जबकि ब्रिटेन में ठण्डे देश होने के कारण ये वस्तुएँ अनिवार्य होती हैं।

किसी देश **आर्थिक विकास** का स्तर भी आवश्यकता के वर्गीकरण को प्रभावित करता है। किसी देश के आर्थिक विकास के स्तर तथा समृद्धि में वृद्धि के साथ-साथ लोगों का जीवन स्तर भी बढ़ता है। अब जो वस्तुएँ कुछ समय पहले उस देश में विलासिता की मानी जाती थीं ये देश के आर्थिक विकास के साथ ही आवश्यक या आरामदायक वस्तुएँ हो जाती हैं। भारत में रेडियो टेलीविजन स्कूटर कुछ समय पहले विलासिता की वस्तुएँ थीं किन्तु देश में आर्थिक विकास होने के साथ ही ये वस्तुएँ आरामदायक व अनिवार्य बन गई हैं।

उक्त तथ्य का आशय यह नहीं है कि उपर्युक्त वर्गीकरण अनावश्यक है। वस्तुओं तथा सेवाओं के इस प्रकार के वर्गीकरण से उपभोग-वस्तुओं के तीनों अंशों को जानने तथा उनके चुनाव करने में सुविधा होती है। किसी समाज क्षेत्र या राष्ट्र के निवासियों के जीवन स्तर का अनुमान उसके द्वारा अनिवार्य आरामदायक तथा विलासिता की वस्तुओं के उपभोग की मात्रा के आधार पर लगाया जा सकता

है। इसके अतिरिक्त देश तथा काल को ध्यान में रखते हुए आवश्यकताओं का वर्गीकरण प्रत्येक उपभोक्ता को अपनी आवश्यकताओं के क्रम को निर्धारित करने में सहायता प्रदान करता है। पेन्सन ने इस सम्बन्ध में कहा है 'उपभोग का क्रम किसी नियम अथवा सिद्धान्त पर आधारित नहीं है यह व्यक्तिगत आदतों, रुचि तथा इच्छाओं पर निर्भर है।[1] उपभोक्ता अपनी विवेकशीलता तथा दूरदर्शिता के द्वारा अपनी पसन्दगी के मान (Scale of preferences) निश्चित करता है।

आवश्यकताओं के वर्गीकरण का आधार

उपभोक्ता के पसन्दगी के मान' तथा वस्तुओं की आवश्यकताओं के वर्गीकरण के निम्नलिखित तीन सिद्धान्त बतलाये जाते हैं

(1) कार्यक्षमता का सिद्धान्त या आधार

(2) सुख-दुःख का आधार या सिद्धान्त तथा

(3) मूल्य तथा माँग का सिद्धान्त या आधार।

(1) कार्यक्षमता का सिद्धान्त इस सिद्धान्त के अनुसार वस्तुओं तथा सेवाओं का वर्गीकरण इस आधार पर किया गया है कि उनका उपभोग करने या न करने में उपभोक्ता की कार्यक्षमता किस प्रकार प्रभावित होती है। (i) मनुष्य को जीवित रखने तथा उसकी कार्यक्षमता बनाये रखने वाली वस्तुएँ स्वभावत अनिवार्यताएं हैं। (ii) जिन वस्तुओं के उपभोग से कार्यक्षमता में थोड़ी वृद्धि हो जाती है परन्तु उनका उपभोग न करने पर कार्यक्षमता कुछ कम रहती है उन वस्तुओं को **आरामदायक आवश्यकताओं** के वर्ग में रखा जाता है। (iii) जिन वस्तुओं के उपभोग का प्रभाव उपभोक्ता की कार्यक्षमता पर बिल्कुल नहीं पड़ता अर्थात् वह पहले की तरह बनी रहती है उन्हें हानि रहित विलासिताएं कहा जाता है। परन्तु जिन वस्तुओं के प्रयोग से उपभोक्ता की कार्यक्षमता घटने लगती है उन्हें हानिकारक विलासिता के वर्ग में रखा जाता है।

कार्यक्षमता के सिद्धान्त के अनुसार आवश्यकताओं के वर्गीकरण को संक्षेप में आगे दी गई सारिणी द्वारा समझा जा सकता है

---

1 "Order of consumption is not a matter of rule or regulation It is a matter of personal habits of individual tastes and desires

—*Penson*

आवश्यकताओं के वर्गीकरण का कार्यक्षमता का आधार

उपभोग स्थिति	अनिवार्यताएँ	आरामदायक वस्तुएँ	विलासिताएँ
1 उपभोग करने पर व्यक्ति की कार्यक्षमता पर पड़ने वाला प्रभाव।	कार्यक्षमता की रक्षा तथा उसमे वृद्धि।	कार्यक्षमता मे मामूली सी वृद्धि होती है।	हानि रहित विलासिताओं से कार्यक्षमता मे कोई कमी नही, किन्तु हानि-कारक से कार्यक्षमता मे कमी आ जाती है।
2 उपभोग नहीं करने पर व्यक्ति की कार्यक्षमता पर पड़ने वाला प्रभाव।	कार्यक्षमता मे काफी कमी आ जाती है।	कार्यक्षमता मे मामूली सी कमी आ जाती है।	हानि रहित विलासिताओं के प्रयोग से कार्यक्षमता मे कोई कमी नही किन्तु हानि कारक विलासिताओं से कार्यक्षमता मे कमी आना रुक जाता है।

(ii) सुख-दुःख का सिद्धान्त इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति की प्राय समय, स्थान तथा जीवन स्तर का ध्यान मे रखकर यह देखा जाता है कि वस्तुओं तथा सेवाओं के उपभोग से कितना सुख तथा उनका उपभोग न करने पर किस सीमा तक कष्ट मिलता है। यह ध्यान रहे कि सुख अथवा दुःख का अनुभव भी सापेक्षिक है जो समय, व्यक्ति, स्थान, आदि के परिवर्तन के साथ बदलता रहता है। (i) जिस वस्तु के उपभोग से 'न्यूनतम सुख, परन्तु उपभोग न करने पर अत्यधिक पीड़ा का अनुभव हो उसे अनिवार्य आवश्यकता' कहा जाता है। (ii) जिस वस्तु के उपभोग से पहले कि अपेक्षा कुछ अधिक सुख और उपभोग न करने से थोड़ा कष्ट मिलता है, उसे आरामप्रद आवश्यकता' तथा (iii) जिन आवश्यकताओं की पूर्ति करने पर उपभोक्ता अत्यधिक सुख का अनुभव तो करता है परन्तु जिनकी पूर्ति न करने पर सामान्यतया पीड़ा की अनुभूति नहीं होती है उन्हें विलासिताएँ' कहते हैं। आदत की वस्तुएँ जिनका उपभोग क्षणिक सुख प्रदान करता है तथा जिनका उपभोग न करने पर अत्यधिक कष्ट होता है 'अपव्यय' (extravagance) कहलाती है।

इस वर्गीकरण को भी हम निम्न सारिणी द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं

आवश्यकताओं के वर्गीकरण का सुख-दुःख का आधार

उपभोग स्थिति	अनिवार्यताएँ	आरामदायक वस्तुएं	विलासिताएँ
1 उपभोग करने पर व्यक्ति की कार्यक्षमता पर पड़ने वाला प्रभाव।	न्यूनतम सुख की प्राप्ति।	पहले की अपेक्षा अधिक सुख की प्राप्ति।	1 हानिरहित—अत्यधिक सुख की अनुभूति। 2 हानिकारक—क्षणिक सुख की प्राप्ति।
2 उपभोग नहीं करने पर व्यक्ति की कार्यक्षमता पर पड़ने वाला प्रभाव।	अत्यधिक पीडा या कष्ट का अनुभव होता है।	थोड़ा सा कष्ट अनुभव होता है।	1 हानिरहित—कोई पीडा या दुःख नहीं प्राप्त होने पर अधिक दुःख। 2 हानिकारक—प्राप्त होने पर अधिक दुःख या कष्ट।

(iii) **मूल्य और माग (Price and Demand) का सिद्धान्त** यह सिद्धान्त मूल्य और माँग पर आधारित है क्योंकि आवश्यकताएँ स्वयं प्रभावोत्पादक माँग हैं। अतः इनका सम्बन्ध उनके मूल्य से है। (i) यदि किसी वस्तु का मूल्य बढ़ने पर भी उस वस्तु की माग में उसी अनुपात मे कमी नहीं होती है तो ऐसी वस्तु को 'अनिवार्यता' कहा जाता है तथा (ii) जिस वस्तु के मूल्य मे वृद्धि या कमी होने पर यदि उसी अनुपात में उसकी माँग में क्रमशः कमी या वृद्धि हो तो उसे 'आरामदायक आवश्यकता' कहा जाता है। (iii) विलासिताएँ वे वस्तुएँ हैं जिनके मूल्य के वृद्धि होने पर उनकी माँग के अनुपात में अधिक कमी तथा मूल्य कम होने पर उनकी माँग के अनुपात में अधिक वृद्धि हो जाती है।

मूल्य तथा माग के आधार पर आवश्यकता के वर्गीकरण को हम निम्न तालिका द्वारा भी स्पष्ट कर सकते है

आवश्यकताओं के वर्गीकरण का मूल्य तथा माग का आधार

मूल्य स्थिति	अनिवार्यताएँ	आरामदायक वस्तुएँ	विलासिताएँ
मूल्य बढने पर	माग मे कोई परिवर्तन नही आता।	माग मे कीमत वृद्धि के अनुपात मे कमी आ जाती है।	माग मे अनुपात मे अधिक कमी आ जाती है।
मूल्य घटने पर	माँग पूर्ववत् ही रहती है।	माग मे कीमत की कमी के अनुपात मे वृद्धि हो जाती है।	माग मे अनुपात से कही अधिक वृद्धि हो जाती है।

उपर्युक्त कसौटियो के आधार पर वस्तुओ तथा सेवाओ का अनिवार्य आवश्यकताओ आरामप्रद आवश्यकताओ तथा विलासिताओ मे वर्गीकृत करना सरल हो जाता है जैसा कि पृष्ठ 180 पर दी गई तालिका द्वारा व्यक्त किया गया है।

आधार	अनिवार्य वस्तुएँ		आरामदायक वस्तुए		हानिरहित विलासिताए		हानिकारक विलासिताए या अपव्यय	
	प्रयोग करने पर	प्रयोग न करने पर	प्रयोग करन पर	प्रयोग न करने पर	प्रयोग करन पर	प्रयोग न करने पर	प्रयोग करने पर	प्रयोग न करने पर
1 कार्यक्षमता पर प्रभाव	कार्यक्षमता की रक्षा तथा उसम वद्धि	अधिक कमी	थोडी सी वद्धि	थोडी सी कमी	कोई वद्धि नही	कोई कमी नही	कमी होना	कमी रुक जाना
2 सुख दु ख पर प्रभाव	न्यूनतम सुख	अत्यधिक पीडा	पहले की अपेक्षा अधिक सुख	थोडा सा कष्ट	अत्यधिक सुख	कोई दुख नही आदी होने पर अधिक दुख	क्षणिक सुख	आदत हो जाने पर अत्यधिक दुख
3 मूल्य का माँग पर प्रभाव	मूल्य बढ़ने पर	मूल्य घटने पर	मूल्य बढने पर	मूल्य घटने पर	मूल्य बढने पर	मूल्य घटने पर		
	माँग म कोई परिवतन नही ।	माँग का पूववत् रहना ।	माँग मे आनुपातिक कमी	माँग म आनुपातिक वद्धि	माँग म आनुपातिक वद्धि से भी अधिक माग म आनुपातिक कमी।	माग के अनुपात मे मूल्यो म आनुपातिक कमी से भी अधिक वृद्धि।		

क्या विलासिताओं का उपभोग औचित्यपूर्ण है ?
(Is Consumption of Luxuries Justified ?)

कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि जब विलासिता की वस्तुओं के उपभोग से कार्यक्षमता में वृद्धि नहीं होती है तब उनका उपभोग तथा उत्पादन अनावश्यक एवं अवांछनीय है। परन्तु कार्यक्षमता के आधार पर ही विलासिताओं की निन्दा करना न्यायोचित नहीं है। इन वस्तुओं तथा सेवाओं की इच्छा तथा उनकी पूर्ति से ही मानव को आनन्द प्राप्त होता है। इनके न रहने पर मनुष्य केवल यन्त्र-सदृश हो जायगा। उत्पादन के अतिरिक्त जीवन का अन्य कोई सुख भी है उस बात नहीं हो सकेगा। इस सम्बन्ध में यह तो निर्विकार रूप से सत्य है कि हानिकारक विलासिताओं का प्रयोग तो किसी भी दशा में औचित्यपूर्ण नहीं है क्योंकि इनके प्रयोग से मनुष्य के स्वास्थ्य और कार्य-कौशल पर बुरा प्रभाव पड़ता है और उसकी कार्यक्षमता में कमी आ जाती है। परिणामस्वरूप राष्ट्र को हानि होती है। यदि निष्पक्ष होकर विचार किया जाय तो हानि रहित विलासिताओं का उपभोग वांछनीय प्रतीत होता है जैसा कि नीचे दिए गए तर्कों से स्पष्ट है

(1) **कला तथा संस्कृति का विकास** (Development of art and culture) मानव-जीवन की आत्म-तुष्टि तथा सुन्दरतम् भावनाओं के विकास के लिए कला तथा संस्कृति का विकास आवश्यक है। इनसे सम्बन्धित वस्तुएँ विलासी प्रवृत्ति की देन है।

(2) **कार्य करने की प्रेरणा** (Incentive to work) विलासिता की वस्तुओं की इच्छा तथा उनसे प्राप्त होने वाली अत्यधिक प्रसन्नता मनुष्य को कार्य करने की प्रेरणा देती है।

(3) **देश का सामाजिक तथा आर्थिक विकास** (Social and economic development of the country) कार्य की प्रेरणा सक्रिय रहने पर ही देश का सामाजिक तथा आर्थिक विकास सम्भव हो पाता है।

(4) **नवीन उद्योगों का विकास** (Development of new enterprises) किसी समाज में विलासिताओं की आवश्यकताओं के रहने पर उद्यमी या साहसी को नवीन उद्योगों में प्रवेश करने का प्रोत्साहन मिलता है।

(5) **रोजगार में वृद्धि** (Growth in employment possibility) विलासिता की वस्तुओं का उत्पादन करने वाले उद्योगों के स्थापित होने पर देश के उत्पन्न साधनों विशेषकर बेकार श्रमिकों के पूर्ण रोजगार के अवसर पर प्राप्त होते हैं।

(6) **धनी व्यक्तियों की अतिरिक्त धन राशि का निर्धन व्यक्तियों को हस्तान्तरण** (Transfer of wealth to weaker persons) विलासिताओं पर धनी व्यक्ति ही अपनी अतिरिक्त धन राशि व्यय कर सकते हैं। इन वस्तुओं

का उत्पादन या निर्माण गरीब श्रमिकों द्वारा किया जाता है। इस प्रकार धनी व्यक्तियों की अतिरिक्त धन राशि गरीब व्यक्तियों (श्रमिकों) में स्वतः वितरित हो जाती है।

(7) **आवश्यकताओं में वृद्धि तथा आर्थिक प्रयासों में गतिशीलता** (Increase in wants and mobility in economic efforts) विलासिताएं मनुष्य की अचेतन आवश्यकताएँ हैं। जब समय तथा आय में परिवर्तन हो जाने पर कोई विलासिता की वस्तु अनिवार्य या सुखकर वस्तु हो जाती है तब मनुष्य किसी अन्य विलास की वस्तु की इच्छा करने लगता है। इस प्रकार मनुष्य की आवश्यकताओं में अभिवृद्धि तथा मानवीय प्रयासों की निर्बाध गतिशीलता विलासिताओं की ही देन है।

(8) **बचत की प्रेरणा तथा देश में पूंजी निर्माण** (*Incentive to save* and capital formation in the country) विलासिताओं को प्राप्त करने की इच्छा मनुष्य को बचत (Saving) की प्रेरणा प्रदान करती है। व्यक्तिगत बचत से देश में पूँजी निर्माण सम्भव हो पाता है जिससे देश के आर्थिक विकास की योजनाएँ कार्यान्वित की जाती हैं।

(9) **उच्च जीवन स्तर में सहायक** (Helpful in raising the standard of living) प्रत्येक मनुष्य का जीवन स्तर उसके द्वारा उपभोग की जाने वाली वस्तुओं द्वारा आंका जाता है। अतः विलासिता सम्बन्धी वस्तुओं का उपभोग जीवन स्तर को ऊंचा उठाने में सहायक होता है।

(10) **जनसंख्या नियन्त्रण में सहयोग** (Helpful in population control) जैसा कि हम स्पष्ट है कि विलासिताओं के उपभोग से जीवन स्तर में वृद्धि होती है जिसे बनाये रखने के लिए उपभोक्ता कम सन्तान ही पैदा करना चाहता है। बच्चे के स्थान पर उपभोक्ता मोटर कार या फ्रिज को अधिक पसन्द करेगा। इस प्रकार इन वस्तुओं के प्रयोग से जनसंख्या नियन्त्रण में सहायता मिलता है।

विलासिताओं का उपभोग अवांछनीय है

निम्न कारणों से विलासिता के उपभोग को अवांछनीय माना जाता है

(1) **सामाजिक असन्तोष तथा वर्ग विषमता व संघर्ष को बढ़ावा** (Cause of social unrest and class conflict) विलासिता सम्बन्धी वस्तुओं का उपभोग सम्पूर्ण देश में मुट्ठी भर लोगों द्वारा किया जाता है जबकि अधिकांश निर्धन व्यक्ति इनके प्रयोग से वंचित रह जाते हैं। अतः उनके मन में धनिक वर्ग के प्रति विद्वेष की भावना उठती है जो सामाजिक असन्तोष तथा वर्ग-संघर्ष का कारण बनती है।

(2) **कार्यक्षमता में गिरावट** (Decreasing efficiency) विलासिता की वस्तुओं के उपभोग से मानव-स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव होता है और इसी के परिणामस्वरूप कार्यक्षमता में गिरावट आती है।

(3) बेरोजगारी में वृद्धि (Increase in unemployment) विलासिताओं के उत्पादन में अत्यधिक मात्रा में पूँजी विनियोजन होता है जिसके परिणामस्वरूप अनिवार्यताओं और आरामदायक वस्तुओं के उत्पादक उद्योगों में विनियोजन हेतु कम ही पूँजी उपलब्ध हो पाती है। इससे रोजगार में बढ़ोतरी के बजाय कमी होने लगती है।

(4) कला को प्रोत्साहन नहीं (No incentive to art) आधुनिक युग में विलासिता की अधिकांश वस्तुओं का उत्पादन बड़े पैमाने के उद्योगों द्वारा किया जाता है। अतः इनके उत्पादन में व्यक्तिगत कला को प्रोत्साहन नहीं मिल पाता है।

(5) कार्यशील पूँजी में कमी (Lack of working capital) उपभोक्ता द्वारा अपनी आय का बड़ा भाग विलासिताओं की वस्तुओं पर व्यय कर देने से कार्यशील पूँजी की मात्रा कम होने लगती है। इसके अतिरिक्त रोजगार में कमी से प्रति व्यक्ति आय में कमी हो जाती है जिससे बचतों की मात्रा भी कम हो जाती है।

(6) निधन व्यक्तियों को कष्ट (Trouble to weaker persons) कभी कभी निधन व्यक्ति भी धनिकों को देखकर विलासिताओं पर व्यय करने लगता है जिससे उसे अपनी कुछ अनिवार्य व आरामदायक वस्तुओं में कटौती करनी पड़ती है। परिणामस्वरूप उनको कष्ट होता है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि **जब तक समाज के प्रत्येक व्यक्ति की अनिवार्यताएँ एवं आरामदायक वस्तुओं की पूर्ति नहीं हो जाती है तब तक समाज में किसी भी व्यक्ति द्वारा विलासिताओं का उपभोग वांछनीय नहीं कहा जा सकता।** यद्यपि नागरिकों में विलासिता की वस्तुओं की इच्छा का होना वांछनीय है परन्तु यह वांछनीयता हानिरहित विलास की वस्तुओं के सम्बन्ध में ही उपयुक्त है। हानिकारक विलास की वस्तुएँ जैसे अफीम, गाँजा, शराब आदि समाज के लिए घातक होती हैं। इनसे कार्यक्षमता में वृद्धि होने के स्थान पर उसमें ह्रास होता है। अतः आर्थिक कल्याण की दृष्टि से हानिरहित विलासिताएँ वांछनीय हैं।

परीक्षोपयोगी प्रश्न तथा संकेत

1 आवश्यकता से आपका क्या आशय है? आवश्यकता तथा माँग में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

What do you understand about Wants? Explain the difference between Wants and Demand

[संकेत—प्रथम भाग में आवश्यकता का अर्थ व दूसरे भाग में आवश्यकता व माँग में प्रमुख अन्तर बताइए।]

2 मनुष्यों की आवश्यकताओं की विभिन्न विशेषताएं होती हैं जिनमें से प्रत्येक अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि उनमें से प्रत्येक पर कोई न कोई महत्त्वपूर्ण आर्थिक नियम अवश्य ही निर्भर करता है। इस कथन की व्याख्या कीजिए।

Man s wants have various characteristics each of which is of great importance for on each depends some great Economic Law Elucidate

[सकेत—आवश्यकताओं की प्रमुख विशेषताओं को बतलाते हुए उन पर आधारित नियमों को बतलाना है।]

3 मानवीय आवश्यकताओं का वर्गीकरण कीजिए तथा यह बताइए कि यह वर्गीकरण किस प्रकार स्थान व्यक्ति समय तथा उपभोग इकाई के साथ परिवर्तित होता रहता है।

Classify human wants and show how does this classification change according to place person time and consumption unit

[सकेत—आवश्यकता का सक्षेप में अर्थ बताकर उनका शीर्षानुसार वर्गीकरण दीजिए। इसके बाद इस वर्गीकरण को प्रभावित करने वाले तत्त्वों में स्थान व्यक्ति सम्बन्धी तत्त्व समय तथा उपभोग इकाई के आधार पर विवेचन देना है।]

4 अनिवार्यताओं आरामदायक वस्तुओं तथा विलासिताओं में अन्तर कीजिए। एक साधारण आदमी कहता है कि गेहूं अनिवार्यता है साइकिल आराम दायक आवश्यकता तथा मोटर-कार एक विलासिता है। क्या आप इससे सहमत हैं? सकारण स्पष्ट कीजिए।

Distinguish between necessaries comforts and luxuries According to a layman wheat is necessary cycle is comfort and car is luxury Do you agree which the above statement? Explain fully with special reasons for the above classification

[सकेत—पहले भाग में इन तीनों प्रकार की आवश्यकताओं में अन्तर कीजिए। इस भाग में यह बतलाना है कि यह वर्गीकरण निरपेक्ष नहीं वरन् सापेक्षिक है। अतः वर्गीकरण प्रभावित करने वाले तत्त्वों के आधार पर स्पष्ट करना है कि व्यक्ति समय स्थान मात्रा आदि के अनुसार आवश्यकता का स्वरूप बदलता रहता है।]

5 आवश्यकताओं का वर्गीकरण किस आधार पर किया जाता है? इनमें कौन-सा आधार सबसे अधिक सन्तोषजनक कहा जा सकता है?

On what basis wants are classified? Which of them is the most satisfactory basis?

[सकेत—प्रथम भाग में वर्गीकरण के तीन आधार बताइए तथा दूसरे भाग में कार्यक्षमता के आधार की उपयुक्तता को बतलाना है।]

6 आवश्यकताओं की संख्या में वृद्धि अधिक आर्थिक क्रियाओं को उत्पन्न करती है जिसके फलस्वरूप वस्तुओं तथा सेवाओं का अधिकतम उत्पादन होने लगता है। विवेचना कीजिए।

Multiplicity of wants brings about intense economic activity which results in maximum production of goods and services This leads to maximisation of human happiness Discuss

[संकेत—आवश्यकताओं की वृद्धि के पक्ष तथा विपक्ष में तर्क दीजिए और अन्त में यह बतलाइए कि आवश्यकताएँ न बहुत अधिक होनी चाहिए और न बहुत कम।]

7 विलासिता से आपका क्या तात्पर्य है? क्या विलासिताओं का उपभोग औचित्यपूर्ण है?

What do you understand by Luxuries? Is consumption of Luxuries justified?

[संकेत—विलासिता सम्बन्धी आवश्यकता की व्याख्या कीजिए तथा विलासिताओं के उपभोग के पक्ष व विपक्ष में तर्क प्रस्तुत कीजिए।]

8 आवश्यकताओं का वर्गीकरण सापेक्षिक है। इस परिप्रेक्ष्य में वर्गीकरण को प्रभावित करने वाले तत्त्वों का उल्लेख कीजिए।

Classifications of wants is relative In this context give the factors affecting classification of wants

10

उपयोगिता विश्लेषण तथा उपयोगिता की माप

(Utility Analysis and Measurement of Utility)

> "The word utility was defined for the purpose of economic analysis as the satisfaction or pleasure or benefit derived by a person from the consumption of wealth
>
> —*Edward Nevin*

संक्षिप्त परिचय (Brief Introduction)

अर्थशास्त्र के अन्तर्गत उपयोगिता सम्बन्धी सिद्धान्तों के विचारों में महत्वपूर्ण परिवर्तन होता रहा है। प्राचीन अर्थशास्त्री उपयोगिता के विचार को वस्तु की लाभप्रदता (Usefulness) से लेते थे। किन्तु उनके विचारों में कीमत निर्धारण में विरोधाभास था। उदाहरणार्थ पानी बहुत लाभदायक होते हुए भी कम मूल्य पर तथा हीरा कम लाभदायक होते हुए भी अधिक मूल्य पर क्यों बिकता है को वे स्पष्ट करने में असमर्थ रहे। इसका कारण यह था कि सीमान्त उपयोगिता के बारे में उनका ज्ञान कुछ नहीं था। इसके बाद उपयोगिता विश्लेषण के विचार के बारे में दो प्रमुख दृष्टिकोणों की प्रधानता रही। प्रथम दृष्टिकोण में उपयोगिता को मापनीय मानकर गणना-वाचक दृष्टिकोण (Cardinal approach) के आधार पर उपयोगिता का विश्लेषण किया गया। इस दृष्टिकोण के प्रस्तुतकर्ता गणित सम्प्रदाय (Mathematical School) के जेवन्स मेंगर वालरस तथा नव प्रतिष्ठित सम्प्रदाय (Neo-classical school) के मार्शल पीगू केनन आदि थे। दूसरे दृष्टिकोण में उपयोगिता को मनोवैज्ञानिक एवं व्यक्तिगत विचार मानकर मापनीय माना तथा

क्रमवाचक दृष्टिकोण (Ordinal approach) के आधार पर तटस्थता वक्र रेखा विश्लेषण (Indifference Curve Analysis) के रूप में प्रस्तुत किया। इसके प्रतिपादक प्रो० पेरेटो तथा एजवर्थ के विचारों के अनुयायी प्रो० एलेन प्रो० हिक्स प्रो० सेम्युअल्सन, मोरगेनस तथा न्यूमैन थे। प्रथम दृष्टिकोण में उपयोगिता पर व्यापक विचार कर सामान्य उपयोगिता के विचार का प्रतिपादन किया तथा दूसरे दृष्टिकोण में उपयोगिता का नवीन वैज्ञानिक विचारधारा के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार उपयोगिता सम्बन्धी सिद्धान्तों व विचारों में समय-समय पर अर्थशास्त्रियों द्वारा परिवर्तन किया जाता रहा है।

उपयोगिता का अर्थ
(Meaning of Utility)

आर्थिक क्षेत्र में किसी वस्तु या सेवा का महत्त्व केवल दुर्लभता के कारण ही नहीं होता है। बहुत सी वस्तुओं के दुर्लभ होने पर भी उनकी कोई इच्छा नहीं करता। उपभोक्ता किसी वस्तु को इसलिए चाहता है कि उसमें उपयोगिता का तत्त्व निहित है और उस वस्तु के उपभोग से उपभोक्ता को आनन्द सन्तोष या लाभ (pleasure satisfaction or benefit) प्राप्त होता है। अतः अर्थशास्त्र में उपयोगिता का अर्थ आवश्यकता सन्तुष्ट करने की शक्ति से लिया जाता है (utility is want-satisfying power) चाहे वस्तु लाभदायक हो या हानिकारक। उपयोगिता और लाभदायकता दो भिन्न बातें हैं। इसीलिए प्रो० थामस का कथन उचित ही है कि यदि कोई वस्तु (या सेवा) मनुष्य की किसी भी शारीरिक या मानसिक आवश्यकता सन्तुष्ट करती है तो अर्थशास्त्र की दृष्टि से वह वस्तु या सेवा उपयोगी है भले ही उपभोक्ता पर उस वस्तु (या सेवा) के उपभोग का बुरा प्रभाव पड़े और भले ही उसके उपभोग से समाज का अहित हो।[1] वस्तुतः अर्थशास्त्र में कोई भी वस्तु (या सेवा) उपयोगिता का सूचक है। 'इसका अर्थ केवल इतना है कि कुछ व्यक्ति उसे चाहते हैं। वे उसे क्यों चाहते हैं? इससे अर्थशास्त्र का कोई सम्बन्ध नहीं है।'[2] अतः स्पष्ट है कि उपयोगिता का वस्तु या

---

1 "So long as an article satisfies man s some desire of body or mind it possesses utility in this economic sense although this may be pernicious in its effect on the consumer or on others or detrimental to the community generally"

—*S E Thomas*

2 "In economics the expression a commodity conveys utility means merely that some people want it why they want it is not the concern of economists

—*Edward Nevin*

सामान्यतः आर्थिक विश्लेषण में उपयोगिता शब्द के लिए desiredness satisfyingness vendibility usefulness serviceability आदि अनेक शब्दों का प्रयोग किया जाता है।

सेवा के उस गुण या शक्ति को कहते हैं जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मानवीय आवश्यकता की पूर्ति करती है।

उपयोगिता की विशेषताएँ
(Characteristics of Utility)

उपयोगिता की इस परिभाषा के आधार पर हम उसमें निम्नलिखित विशेषताएँ पाते हैं

(1) अर्थशास्त्र में उपयोगिता का अर्थ किसी वस्तु में निहित लाभदायक (Usefulness) या कल्याणकारी (Welfare) होने या न होने से नहीं है अर्थशास्त्र में उपयोगिता का अभिप्राय किसी वस्तु या सेवा में निहित किसी आवश्यकता को सन्तुष्ट करने की क्षमता या शक्ति से है। आवश्यकता-पूर्ति की शक्ति के भी दो अर्थ हो सकते हैं (i) अनुमानित सन्तुष्टि' (Expected satisfaction) तथा (ii) वास्तविक सन्तुष्टि' (Realised satisfaction) जिसे कुछ अर्थशास्त्री सन्तोषजनकता (Satisfyingness) भी कहते हैं। आधुनिक अर्थशास्त्री सामान्यतया उपयोगिता का अर्थ अनुमानित सन्तुष्टि से लेते हैं। अनुमानित सन्तुष्टि इच्छा की तीव्रता' पर निर्भर करती है। अतः इस सम्बन्ध में फ्रेजर ने कहा है उपयोगिता का आशय इच्छा की तीव्रता (Intensity of desire) से लिया जाता है न कि सन्तोषजनकता या वास्तविक सन्तुष्टि से।[1] इस शक्ति के रहने से ही कोई वस्तु या सेवा उपभोग किए जाने पर उपभोक्ता को आनन्द सन्तोष या लाभ प्रदान करती है। इस गुण के कारण ही किसी वस्तु की माँग होती है तथा उपभोक्ता उसे प्राप्त या क्रय करने के लिए इच्छुक व तत्पर होता है। परन्तु इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि अर्थशास्त्र में उपयोगिता का अर्थ लाभदायकता नहीं है। उपयोगिता या सन्तुष्टि उन वस्तुओं में भी प्राप्त होती है जो लाभदायक नहीं होतीं। कुछ वस्तुएँ ऐसी होती हैं (जैसे अफीम शराब) जिनका उपभोग सामाजिक दृष्टि से अवांछनीय तथा 'लाभदायकता' की दृष्टि से हानिकारक माना जाता है। परन्तु इनमें भी कुछ व्यक्तियों की आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने का गुण या शक्ति होने के कारण वे व्यक्ति इनको क्रय करते हैं। उपयोगिता का नैतिकता से कोई सम्बन्ध नहीं है (The concept of utility is ethically neutral)। इस प्रकार अफीम और शराब में भी आर्थिक दृष्टि से उपयोगिता का गुण निहित है। अतः एडवर्ड नेविन के अनुसार आर्थिक विश्लेषण में उपयोगिता का अर्थ उस सन्तुष्टि या आनन्द या लाभ से है जो किसी व्यक्ति को धन या सम्पत्ति (Wealth) के उपभोग से प्राप्त होता है।

---

1 "On the whole in recent years the wid r definition is *preferred and* util ty is iden ified with desiredness ather than with satisfyingness"

—*Frazer*

के सदम म उपयोगिता तत्त्व की बात नहा कर सकते हैं।[1] अन अथशास्त्र म हम जब भी उपयोगिता की बात करत है तो हमारा अभिप्राय यह होना है कि किसी वस्तु विशेष मे अन्य दी हुई वस्तुओ की तुलना म अधिक उपयोगिता है। उपयोगिता की बात तुलना क सन्दभ म की जा सकती है। इसक अलावा वस्तु म उपयोगिता जन्म स नही होती है वरन् वस्तु तथा मनुष्य का पूरी की जा रही आवश्यकता के सम्बन्ध का परिणाम होती ह। एक प्यासे व्यक्ति क लिए पानी की अधिक उपयोगिता है किन्तु प्यास की सन्तुष्टि के बाद उसक लिए पानी की कोई आवश्यकता नही रहती है। अत उपयोगिता की धारणा एक सापक्षिक धारणा है।

(5) उपयोगिता का सम्बन्ध उपभोग वस्तुओ (Consumer goods) से होता है न कि उत्पादक वस्तुओं (Production goods) से मानवीय आवश्यकताओ की प्रत्येक सन्तुष्टि हेतु वस्तु का उपभोग करना होता है और यही वस्तु का उपयोग है। अत उपयोगिता का सम्बन्ध उपभाग वस्तुओ स होना है।

(6) उपयोगिता वस्तु की मात्रा पर निभर करती है किसी वस्तु की मात्रा जसे जसे किसी व्यक्ति के पास बढती जाती है वसे वस उसकी अगली इकाइयों स प्राप्त उपयोगिता घटती जाती है और एक बि दु क बाद तो वह वस्तु उसके लिए बिल्कुल उपयोगी नही रह जाती।

अथशास्त्र म उपयोगिता विश्लेषण का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उपयोगिता का सम्बन्ध उपभोक्ता स होता है। उपभोक्ता का अथ किसी भी व्यक्ति इकाई या समूह से है जिसक पास बजट (आय) होती है तथा जो वस्तुओ व सेवाओ का उपभाग करता है। उपभोक्ता एक व्यक्ति व्यक्तियों का समूह परिवार फम या सस्था हो सकती है। उपयोगिता शब्द का प्रयोग अथशास्त्र म बहुत पुराना है। उपयोगिता के सम्बन्ध म अथशास्त्रियो की धारणाए भी बदलती रही हैं। अब हम उपयोगिता और उसस सम्बन्धित धारणाओं पर विचार करेंगे।

---

1 *उपयोगिता क सापेक्षिक तत्त्व को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए।* अधिकाश भारतीय लखको न सापक्षिक का दूसरे ढग स अथ लगाया है जो निराधार है। हम यहा पर किरजनर क विचार उदधत कर रहे हैं जो सापक्षिक को समझने म सहायक होगा

Utility reveals itself only in acts of choice when two or more goods are compared Thus it is quite meaningless to conceive of the utility of a loaf of bread as it were in vacuum All we can *say is that a loaf* of bread may have either more or less utility than a glass of beer a news magazine or twenty cents Util ty refers to position on a sca e of values Without other goods or services there is no scale of values and hence no utility concept at all

—*I M Kirzner*

Market Theory and the Price Sys em p 57

उपयोगिता की माप
(Measurement of Utility)

उपयोगिता अथवा आवश्यकता-सन्तुष्टि की शक्ति एक व्यक्तिनिष्ठ (Subjective) तथा मनोवैज्ञानिक धारणा है। उदाहरणार्थ केले में आवश्यकता-पूर्ति की क्षमता या गुण है किन्तु यदि कोई व्यक्ति डॉक्टर की सलाह पर उसके उपभोग से वंचित है तो उसके लिए केले में कोई उपयोगिता नहीं है। इस प्रकार उपयोगिता आत्मनिष्ठ (Subjective) होती है जिसका सम्बन्ध मनोवैज्ञानिक स्थिति तथा दृष्टिकोण से है।

अब यहाँ यह जिज्ञासा उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि क्या इस उपयोगिता या सन्तुष्टि को मापा जा सकता है? उपयोगिता मापनीय है अथवा नहीं? यह निश्चय ही एक विवादग्रस्त विषय है। उपयोगिता की माप के सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों ने दो दृष्टिकोण अपनाये हैं

1 गणनावाचक दृष्टिकोण (Cardinal Approach), तथा

2 क्रमवाचक दृष्टिकोण (Ordinal Approach)।

इनका विस्तृत विवरण नीचे दिया जा रहा है

1 गणनावाचक दृष्टिकोण (Cardinal Approach) —मार्शल पीगू आदि गणनावाचक अर्थशास्त्री यह मानते हैं कि उपयोगिता को मोटे रूप से मापा जा सकता है। उन्होंने मुद्रा को उपयोगिता का मापक माना है। उनके अनुसार कोई व्यक्ति जब किसी वस्तु को खरीदता है तो उसका भुगतान मुद्रा द्वारा करता है। वह उस वस्तु से प्राप्त होने वाली उपयोगिता से अधिक कीमत नहीं चुकाएगा। अतः कीमत वस्तु उपयोगिता की माप है। जैसे एक पुस्तक की कीमत यदि दस रुपया दी जाती है तो उस पुस्तक की उपयोगिता दस रुपए के बराबर है। इस प्रकार मार्शल के अनुसार किसी वस्तु की उपयोगिता को सीधी संख्याओं जैसे 1 2 3 आदि द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। 1 2 3 आदि संख्याओं को गणित में गणनावाचक अंक (Cardinal Numbers) कहा जाता है। इन संख्याओं को एक-दूसरे से अनुपातिक रूप में भी प्रकट किया जा सकता है। जैसे दो, एक का दुगुना तथा तीन एक का तीन गुना है। जब हम वस्तु की उपयोगिता को इस प्रकार की संख्याओं द्वारा व्यक्त करते हैं तो उसे गणनावाचक उपयोगिता (Cardinal utility) कहते हैं। इस प्रकार जब वस्तुओं की वस्तुओं की संख्याओं में व्यक्त किया जाता है तब इसका अर्थ यह है कि पुस्तक की उपयोगिताओं की तुलना की जा सकती है। जैसे हम कह सकते हैं कि पुस्तक की उपयोगिता 50 तथा कलम की उपयोगिता 25 है। अतः पुस्तक कलम से दुगुनी उपयोगी है। उपयोगिता सम्बन्धी यह विचारधारा नव प्रतिष्ठित स्कूल (Neo-classical School) की देन है।

2 क्रमवाचक दृष्टिकोण (Ordinal Approach) उपयोगिता सम्बन्धी उपर्युक्त विचारधारा हमारे सामने कई प्रकार की कठिनाइयाँ लाती हैं। अतः

परेटो हिक्स एलेन (Pareto Hicks Allen) आदि ने कहा है कि उपयोगिता को नापा नही जा सकता है। उसे इस प्रकार संख्याओं में व्यक्त नही किया जा सकता है। ये अर्थशास्त्री मार्शल के विचार से सहमत नहीं है। उन्होंने यह विचार व्यक्त किया है कि उपयोगिता को न तो विभाजित किया जा सकता है और न इसे जोड़ा या घटाया जा सकता है।[1] क्योंकि इन लोगो के अनुसार उपयोगिता का अर्थ चाहे सन्तुष्टि से लिया जाए अथवा इच्छा की तीव्रता से दोनों ही मनोवैज्ञानिक तथा व्यक्तिगत (subjective) विचार हैं जिन्हें किसी वस्तुगत पैमाने (objective tandard) से नहीं मापा जा सकता।

दूसरे उपयोगिता सदैव स्थिर (con tant) नही रहती वरन् परिवर्तनशील है। अत उसे मापना कठिन है।

तीसरे उपयोगिता को मापने का कोई उचित मापदण्ड भी उपलब्ध नही है। मार्शल द्वारा प्रयुक्त मुद्रा रूपी मापदण्ड उपयोगिता मापने का कोई स्थिर तथा निश्चित पैमाना नहीं है क्योंकि मुद्रा के मूल्य में भी उतार चढाव आते रहते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त कठिनाइयों के कारण क्रमवाचक अर्थशास्त्रियों का कहना है कि उपयोगिता को मापा नहीं जा सकता है और इसी कारण उन्होंने उपयोगिता विश्लेषण के स्थान पर तटस्थता वक्र विश्लेषण विधि का प्रयोग किया।

इन अर्थशास्त्रियों के अनुसार वस्तुओं को उनके विभिन्न संयोजनों (Combin ations) के आधार पर क्रमानुसार प्रकट किया जा सकता है। जैसे हम यह नहीं कह सकते हैं कि एक कप काफी की उपयोगिता 50 तथा एक गिलास दूध की उपयोगिता 100 है। हम अधिक से अधिक यह कह सकते हैं कि उपभोक्ता काफी की तुलना में दूध को अधिक उपयोगी समझता है। दूध तथा काफी से प्राप्त उपयोगिता का संख्या में नाप कर इनकी तुलना नहीं की जा सकती है। हाँ यह अवश्य कहा जा सकता है कि दूध का स्थान उपभोक्ता के उपभोग क्रम में पहला है और काफी का दूसरा। यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि दूध की उपयोगिता काफी से दुगुनी है या तीन गुनी। गणित में पहला दूसरा तीसरा आदि को क्रमवाचक संख्याएँ (Ordinal Numbers) कहा जाता है। ऐसी संख्याओं से क्रम का बोध होता है संख्या विशेष का नहीं। हम यह नहीं कह सकते है कि दूसरा पहले का दुगुना है या तीसरा पहले का तीन गुना है। पहला दूसरा तीसरा 10 20

---

1 Utility as a magnitude does not possess the property of divisibility Hence it is wrong to use numbers for utility for that would suggest that we can add and subtract util ties

—*Charles Kennedy*

और 30 भी हो सकते हैं और 1 100 100 000 भी हो सकते हैं। इस प्रकार क्रमवाचक विचारधारा उपयोगिता को मापनीय नहीं मानती है। इसके अनुसार वस्तुओं की उपयोगिता की दृष्टि में क्या क्रम है, केवल यही बताया जाता है।

प्रो० सम्यूलसन ने प्रकट अनुराग सिद्धान्त (Revealed Preference Theory) इसके मार्शल ने साख्यिकी उपयोगिता सिद्धान्त (Statistical Utility Theory) तथा आर्मस्ट्रांग ने सीमान्त पसन्दगी सिद्धान्त (Marginal Preference Theory) के द्वारा क्रमवाचक दृष्टिकोण को प्रस्तुत कर अधिक उपयोगी व व्यावहारिक बनाने का प्रयास किया है।

क्या वास्तव में उपयोगिता मापनीय है ? (Is Utility Measurable)

उपयुक्त दो विचारधाराएं एक दूसरे की विरोधी हैं जैसा कि नीचे दिए गए वर्णों में स्पष्ट है

(क) उपयोगिता के परिमाण को मापनीय मानने वाले अर्थशास्त्रियों का यह मत है कि उपयोगिता को अप्रत्यक्ष रूप में मापा जा सकता है। इसके लिए यह ज्ञात किया जाता है कि किसी वस्तु की इकाई प्राप्त करने के लिए उपभोक्ता किस मात्रा में धन या द्रव्य त्याग करने के लिए तत्पर है। इस तथ्य को ज्ञात करने की आवश्यकता इसलिए पड़ती है कि उपभोक्ता प्रत्येक अगली इकाई से समान सन्तुष्टि या उपयोगिता प्राप्त नहीं करता। अतः प्रथम इकाई के लिए उपभोक्ता जितना मूल्य या धन देने के लिए तत्पर रहता है उतना धन वह दूसरी इकाई के लिए त्याग नहीं करता। इस प्रकार वह अगली इकाइयों के लिए पहले की अपेक्षा और भी कम रकम देना चाहता है। अतः यह कहा जा सकता है कि विभिन्न इकाइयों से प्राप्त होने वाली उपयोगिता की माप उनके लिए दी जाने वाली मौद्रिक इकाइयों द्वारा जानी जा सकती है।

(ख) उपयोगिता मापनीय नहीं है क्रमवादियों (Ordinalists) के विचार में उपयोगिता को मापा नहीं जा सकता है क्योंकि (i) उपयोगिता स्वभावतः अमापनीय है—सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से उपभोक्ता के व्यवहार के बारे में पक्षों का अध्ययन उपयोगिता की माप के बिना भी किया जा सकता है। अतः न तो उपयोगिता मापनीय है और न उसे मापने की आवश्यकता है। (ii) उपयोगिता एक मनोवैज्ञानिक तथा व्यक्तिगत विचार है। किसी भी मनोवैज्ञानिक तथा व्यक्तिगत विचार को संख्याओं या किसी अन्य पैमाने से मापा नहीं जा सकता है। (iii) उपयोगिता व्यक्ति तथा परिस्थिति से बदलती है, एक वस्तु उपयोगी हो सकती है तथा दूसरी परिस्थिति में अनुपयोगी। अतः एक परिवर्तनशील तत्व का माप नहीं की जा सकती है। (iv) किसी भी वस्तु को मापने के लिए किसी पैमाने की आवश्यकता होती है। उपयोगिता को मापने के लिए कोई निश्चित तथा सर्वमान्य पैमाना नहीं है। मार्शल ने मुद्रा को उपयोगिता का मापक माना है परन्तु मुद्रा

निश्चित तथा विश्वसनीय मापक नहीं है क्योंकि स्वयं मुद्रा का मूल्य भी बदलता रहता है।

परेटो एलेन हिक्स इत्यादि अर्थशास्त्री उपयोगिता का मापनीय नहीं मानते हैं और न वे उपयोगिता की माप को आवश्यक भी मानते हैं। हिक्स ने तटस्थता वक्र या उदासीनता वक्र विश्लेषण (Indifference Curve Analysis) *की नई विधि निकाली है जिसमें उपयोगिता की मापन की आवश्यकता नहीं पड़ती है।*

निष्कर्ष अन्त में निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि गणनावाचक दृष्टिकोण उपयोगिता मापने का पुराना तरीका होते हुए भी अभी तक अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बनाये हुए हैं किन्तु आधुनिक अर्थशास्त्री इस मापन विधि को महत्त्व नहीं देते है। उनके अनुसार तो उपयोगिता एक **क्रमवाचक विचारधारा** (Ordinal Concept) ही है न कि गणनावाचक विचारधारा (Cardinal Concept) है। इस प्रकार **गणनावाचक अर्थशास्त्रियों** तथा क्रम वाचक अर्थशास्त्रियों में परस्पर विवाद चल रहा है।

उपयोगिता के भेद कुल उपयोगिता तथा सीमान्त उपयोगिता
(Kinds of Utility Total Utility and Marginal Utility)

किसी भी वस्तु या सेवा की उपयोगिता को दो भागों में बाँटा जा सकता है

1 **कुल उपयोगिता** (Total Utility) तथा
2 **सीमान्त उपयोगिता** (Marginal Utility)।

1 कुल उपयोगिता (Total Utility)

किसी वस्तु की निश्चित मात्रा के उपभोग से प्राप्त कुल सन्तुष्टि को कुल उपयोगिता कहते हैं। दूसरे शब्दों में किसी वस्तु की एक निश्चित मात्रा में से *प्रत्येक इकाई से जो उपयोगिता मिलती है उन सबके योग को कुल उपयोगिता कहते हैं।* **प्रो० किजनर के शब्दों में किसी वस्तु के स्टाक से उपयोगिता का जो परिणाम प्राप्त होता है उसे कुल उपयोगिता कहते हैं।** मेयर्स (Meyers) के शब्दों में **किसी वस्तु की उत्तरोत्तर इकाइयों के उपभोग के परिणामस्वरूप सीमान्त उपयोगिताओं का योग कुल उपयोगिता है।** उदाहरणार्थ यदि हम एक बार में चार केले का उपभोग करते हैं और पहले केले से हम 20 दूसरे से 15 तीसरे से 10 तथा चौथे से 8 उपयोगिता मिलती है तो कहा जायगा कि हमारे लिए केले की कुल उपयोगिता (20+15+10+8) = 53 हुई। इस प्रकार किसी दिये हुए समय में उपयोग की जाने वाली किसी वस्तु की सभी इकाइयों से प्राप्त उपयोगिता के कुल योग को कुल उपयोगिता कहते है। सन्तुष्टि का योग वस्तु की इकाइयों में वृद्धि होने पर बढ़ता ही जाता है परन्तु इसके बढ़ने की गति इकाइयों की मात्रा

म वृद्धि के समान तीव्र नहीं होती।[1] इस प्रकार कुल या पूर्ण उपयोगिता म वृद्धि ता होती है किन्तु मन्द गति से। इसका कारण यह है कि किसी वस्तु के उपभोग की क्रिया म जैसे-जैसे उसकी इकाइयो की मात्रा बढती जाती है वैसे वैसे उसकी प्रत्येक अतिरिक्त इकाई (successive unit) से प्राप्त उपयोगिता क्रमश घटती जाती है।

2 सीमान्त उपयोगिता (Marginal Utility)

सीमान्त उपयोगिता का अभिप्राय उपयोगिता की उस वृद्धि से है जो उस वस्तु की अतिरिक्त इकाई से प्राप्त होती है।[2] अन्य शब्दो म सीमान्त उपयोगिता उपभोग की अन्तिम इकाई से कुल उपयोगिता म हुई अतिरिक्त वृद्धि को कहते है। इस प्रकार दो क्रमिक सम्पूर्ण उपयोगिताओ का अन्तर ही सीमान्त उपयोगिता है अथवा यह कहा जा सकता है कि "सीमान्त उपयोगिता उस दर को प्रकट करती है जिस दर पर वस्तु के स्टाक की मात्रा म परिवतन होने पर कुल उपयोगिता मे परिवतन होता है।"[3]

प्रो० बोल्डिंग (Boulding) ने सीमान्त उपयोगिता के बारे म कहा है किसी वस्तु की किसी मात्रा की सीमान्त उपयोगिता उसकी कुल उपयोगिता मे वह वृद्धि है जो उपभोग म एक और इकाई के परिणामस्वरूप होती है।" अत सीमान्त उपयोगिता कुल उपयोगिता म परिवतन को बतलाता है। लेफ्टविच (R H Leftwich के शब्दो म सीमान्त उपयोगिता कुल उपयोगिता मे होने वाला वह परिवतन है जो प्रति इकाई के समय के अनुसार वस्तु के उपभोग मे एक इकाई के परिवतन से होता है।" उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति किसी समय म आम की तीन इकाइयो का उपभोग करता है जिनमे उसे क्रमश 15 12 व 9 उपयोगिता अर्थात उसे कुल उपयोगिता 36 इकाइया प्राप्त होती हैं। वह आम की एक इकाई का और उपभोग करने लगता है तो उसे 44 इकाइयाँ कुल उपयोगिता प्राप्त होती है तो चतुर्थ इकाई सीमान्त इकाई हुई। इससे प्राप्त सीमान्त उपयोगिता 44 – 36 = 8 इकाइयाँ हुई। इस प्रकार दो क्रमिक कुल उपयोगिताओ का अन्तर ही सीमान्त उपयोगिता को बतलाता है।

---

1 The total utility of a thing to any one increases with every increase in his stock of it but not as fast as his stock increases

—*Marshall*

2 Marginal utility is "the extra amount of satisfaction to be obtained from having an additional small increment of commodity

—*J L Hanson*

3 Marginal utility refers to the rate at which total utility changes as the size of the stock of the commodity changes

—*I M Kuzner*

सूत्र द्वारा स्पष्टीकरण सीमान्त उपयोगिता की मापन में निम्न सूत्र का भी प्रयोग किया जा सकता है

X वस्तु की सीमान्त उपयोगिता के मापन हेतु सूत्र

$$MU_x = \frac{dU_x}{dQ_x} \text{ या}$$

$$\text{सीमान्त उपयोगिता } (MU) = \frac{\text{X वस्तु की कुल उपयोगिता में परिवर्तन}}{\text{X वस्तु की कुल मात्रा में परिवर्तन}}$$

यहां MU_x = X वस्तु की सीमान्त उपयोगिता

dU_x = X वस्तु की कुल उपयोगिता में हुआ परिवर्तन

dQ_x = X वस्तु की कुल मात्रा में हुआ परिवर्तन

सीमान्त उपयोगिता सदैव सीमान्त इकाई की होती है। सीमान्त इकाई किसी वस्तु की वह इकाई है जो सबसे कम तीव्र इच्छा (Least intense desire) को सन्तुष्ट करती है। इस प्रकार यदि सम्पूर्ण उपयोगिता किसी वस्तु की कुल उपभोग की इकाइयों की उपयोगिताओं का योग है तो सीमान्त उपयोगिता उपर्युक्त विधि से ज्ञात की जा सकती है।

कुछ अर्थशास्त्रियों ने भारित या भारशाल सीमान्त उपयोगिता (Weighted marginal utility) शब्द का भी प्रयोग किया है। प्रो० बोल्डिंग (Prof Boulding) के अनुसार किसी वस्तु से प्राप्त होने वाली सीमान्त उपयोगिता में यदि उस वस्तु के मूल्य से भाग दिया जाता है तो हमें भारशाली सीमान्त उपयोगिता प्राप्त होती है। इसे हम निम्न रूप से प्रकट कर सकते हैं

$$\text{भारित सीमान्त उपयोगिता} = \frac{\text{अ' वस्तु की सीमान्त उपयोगिता}}{\text{अ' वस्तु का मूल्य}}$$

उपरोक्त दोनों प्रकार की उपयोगिताओं को निम्नलिखित सारणी द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। इस सारणी का निर्माण इस आधार पर किया गया है—आवश्यकताओं की यह विशेषता है कि आवश्यकता विशेष को पूर्ण रूप से सन्तुष्ट करने के लिए उपभोक्ता को किसी वस्तु की कई इकाइयों का उपभोग करना पड़ता है। वह प्रत्येक इकाई की वृद्धि के साथ सन्तुष्ट होता जाता है जिससे प्रत्येक अतिरिक्त इकाई से प्राप्त होने वाली उपयोगिता क्रमशः घटती जाती है।

सन्तरों की इकाइयां	प्राप्त उपयोगिता	कुल उपयोगिता	सीमान्त उपयोगिता
1	12	12	12 ⎫
2	10	22	10 ⎪
3	9	31	9 ⎬ धनात्मक
4	7	38	7 ⎪ सीमान्त
5	5	43	5 ⎭ उपयोगिता
6	0	43 (अधिकतम)	0 शून्य सी० उ०
7	−4	39 (घटती हुयी)	−4 ऋणात्मक सी० उ०

उपर्युक्त सारणी से विदित होता है कि जब तक सन्तरों के उपभोग से प्राप्त कुल उपयोगिता में वृद्धि होती जाती है तब तक सीमान्त उपयोगिता धनात्मक रहता है, जैसे ही कुल उपयोगिता स्थिर हो जाती है सीमान्त उपयोगिता शून्य हो जाती है। छः सन्तरों का उपभोग करने पर पूर्ण तृप्ति का आभास होता है। सातवें सन्तरे का उपभोग करने में कुल उपयोगिता में गिरावट आने लगती है और सीमान्त उपयोगिता ऋणात्मक हो जाती है। इस इकाई के उपभोग से उपयोगिता के स्थान पर अनुपयोगिता मिलती है।

उपर्युक्त विवेचन से सीमान्त उपयोगिता के तीन रूप दृष्टिगत होते हैं

(i) **धनात्मक** (Positive) जब हम किसी वस्तु का उपभोग करते हैं तो हम प्रारम्भ में जो कुछ उपयोगिता मिलती है वह धनात्मक उपयोगिता है।

(ii) **शून्य** (Zero) जब हमारे पास किसी वस्तु की इतनी अधिक मात्रा हो जाती है कि अतिरिक्त इकाइयों से कोई अतिरिक्त सन्तुष्टि उपलब्ध नहीं होता है तो **सीमान्त उपयोगिता शून्य** हो जाती है। यह **अधिकतम सन्तुष्टि की स्थिति** या **पूर्ण तृप्ति बिन्दु** होता है।

(iii) **ऋणात्मक** (Negative) अब यदि इस स्थिति के बाद भी वस्तु का उपभोग जारी रहता है तो सीमान्त उपयोगिता ऋणात्मक हो जाती है।

रेखाचित्रों द्वारा स्पष्टीकरण पूर्ण उपयोगिता तथा सीमान्त उपयोगिता का रेखाचित्र द्वारा भी स्पष्ट किया जा सकता है। उपर्युक्त सारणी में सन्तरों की इकाइयों से प्राप्त सीमान्त तथा पूर्ण उपयोगिताओं की संख्याओं को अंकित करने पर चित्र संख्या 1 में दो वक्र बनते हैं जिनसे निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण तथ्यों का स्पष्टीकरण होता है

(1) पूर्ण उपयोगिता में वृद्धि तो होती है परन्तु घटती हुई दर से। एक निश्चित बिन्दु (M) पर पहुँचने के बाद उसमें भी ह्रास प्रारम्भ हो जाता है।

(2) सीमान्त उपयोगिता क्रमश घटती जाती है तथा शून्य की स्थिति में पहुँचकर नकारात्मक (Negative) हो जाती है।
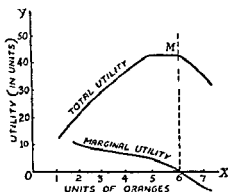
(3) पूर्ण उपयोगिता बिन्दु M पर अधिकतम होती है जहाँ सीमान्त उपयोगिता शून्य होती है।

(4) सीमान्त उपयोगिता के नकारात्मक होते ही पूर्ण उपयोगिता कम होने लगती है अर्थात् तब तक सीमान्त उपयोगिता धनात्मक (Positive) है पूर्ण उपयोगिता में वृद्धि होती जाती है। परन्तु जब सीमान्त उपयोगिता नकारात्मक (Negative) हो जाती है तब पूर्ण उपयोगिता भी क्रमश घटने लगती है।

(5) उपयोगिता की सन्तुष्टि या चरमावस्था (Point of satiety) वह होती है जहाँ पूर्ण उपयोगिता अधिकतम होती है और जहाँ सीमान्त उपयोगिता शून्य हो जाती है।

कुल उपयोगिता तथा सीमान्त उपयोगिता का सम्बन्ध

सीमान्त उपयोगिता तथा कुल उपयोगिता से सम्बन्धित वक्रों को दूसरे ढंग से भी प्रदर्शित किया जा सकता है। मान लीजिए कि एक उपभोक्ता के पास किसी वस्तु की तीन इकाइयाँ हैं। वह सोचता है कि वह एक या दो या तीनों इकाइयों का उपभोग करे। अतः उसके सामने उपभोग के ये तीन सम्भावनाएँ हैं। वस्तु की एक इकाई कुछ उपयोगिता देगी दो इकाइयाँ और अधिक उपयोगिता देंगी तीन इकाइयाँ उससे भी अधिक उपयोगिता देंगी। जैसे-जैसे वस्तु की अधिक इकाइयों का उपभोग किया जाएगा कुल उपयोगिता बढ़ती जाएगी। परन्तु साथ ही साथ उपभोक्ता की सन्तुष्टि भी बढ़ती जाएगी। दूसरे शब्दों में उस वस्तु की आवश्यकता की तीव्रता कम होती जायगी। इस प्रकार उत्तरोत्तर इकाइयों से उसे क्रमश कम उपयोगिता प्राप्त होगी क्योंकि उपयोगिता का सम्बन्ध आवश्यकता की तीव्रता से है अर्थात् कुल उपयोगिता में वृद्धि घटती हुई दर पर होगी।

चित्र 2 में कुल उपयोगिता तथा सीमान्त उपयोगिता के सम्बन्धों को दिखलाया गया है। चित्र के ऊपरी भाग में ये तीन आयत बढ़ती हुई कुल उपयोगिता प्रदर्शित कर रहे हैं। तीनों आयतों के बाद भी कुल उपयोगिता वक्र (TU) ऊपर उठता गया है जो यह बतलाता है कि अधिकाधिक इकाइयों का उपभोग करने से कुल उपयोगिता बढ़ती जाएगी। चित्र के नीचे का भाग केवल कुल उपयोगिता में हुई वृद्धि को प्रदर्शित करता है अर्थात् सीमान्त उपयोगिता को प्रकट करता है। किसी भी मात्रा की सीमान्त उपयोगिता उस मात्रा की कुल उपयोगिता वक्र की ढाल (Slope) कही जा सकती है। किसी भी बिन्दु पर कुल उपयोगिता वक्र की ढाल उस बिन्दु पर अतिरिक्त उपयोगिता को प्रकट करता है तथा सम्बन्धित मात्रा के लिए सीमान्त उपयोगिता वक्र की ऊँचाई के बराबर होता है।
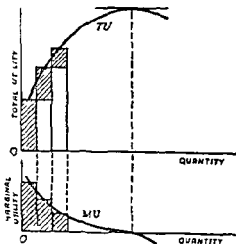
जब कुल उपयोगिता वक्र उच्चतम बिन्दु पर पहुँच जाता है, तब उसका ढलान शून्य हो जाता है। अतः **जब कुल उपयोगिता अधिकतम होती है तब सीमान्त उपयोगिता शून्य होती है।** इस चित्र के आधार पर कुल उपयोगिता तथा सीमान्त उपयोगिता के बीच निम्नलिखित सम्बन्ध स्पष्ट रूप से प्रकट होते हैं।

कुल उपयोगिता तथा सीमान्त उपयोगिता में सम्बन्ध

जब कुल उपयोगिता (When T U is)	तब सीमान्त उपयोगिता (Then M U is)
1 समान रूप से बढ़ रही है	1 पूर्ववत् या समान रहती है।
2 बढ़ती हुई दर से बढ़ रही है	2 बढ़ रही है।
3 घटती हुई दर से बढ़ रही है	3 घट रही है।
4 अधिकतम है	4 शून्य है।
5 घट रही है	5 ऋणात्मक है।

सीमान्त विचार का महत्त्व*
(Importance of the Concept of Margin)

अर्थशास्त्र में सीमान्त विचार का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रो. जे. के. मेहता के शब्दों में 'लगभग समस्त आर्थिक ढाँचा सीमान्त उपयोगिता के विचार पर आधारित है।'[1] सीमान्त का प्रयोग अर्थशास्त्र के सभी भागों में किया गया है।

अर्थशास्त्र के विभिन्न क्षेत्रों में सीमान्त के महत्त्व का वर्णन नीचे दिया जा रहा है :

(1) **उपभोग के क्षेत्र में** : सीमान्त विश्लेषण के विचार का उपभोग के क्षेत्र में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। उपभोग क्षेत्र के सभी प्रमुख सिद्धान्त—क्रमागत उपयोगिता ह्रास नियम, सम-सीमान्त उपयोगिता नियम, उपभोक्ता की बचत का सिद्धान्त, माँग का नियम आदि 'सीमान्त' विचार पर ही आधारित हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने सीमित साधनों से अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करने के लिए इन्हें विभिन्न मदों में इस प्रकार से व्यय करता है जिससे हर एक मद से समान *सीमान्त उपयोगिता* प्राप्त हो। ऐसा होने पर ही उसे अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त होती है। अतः ऐसा करने के लिए **सीमान्त उपयोगिता विश्लेषण** की सहायता लेनी होती है।

किसी वस्तु की अतिरिक्त इकाइयों का उपयोग करने पर प्राप्त उपयोगिता गिरती जाती है। इसी विचार के आधार पर **सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम** की रचना की गई है।

उपभोक्ता की बचत की धारणा *का प्रादुर्भाव भी सीमान्त उपयोगिता के* विचार के कारण हुआ है। किसी वस्तु का मूल्य उसकी सीमान्त इकाई की उपयोगिता से अधिक नहीं दिया जा सकता है। ऐसी परिस्थिति में उपभोक्ता को सीमान्त इकाई से पहले की इकाइयों के उपभोग से उन पर व्यय की गई राशि से जो अधिक उपयोगिता मिल रही होती है वही उपभोक्ता की बचत होती है।

---

*सीमान्त के विचार का अर्थशास्त्र में बड़ा महत्त्व है। यहाँ पर हम संक्षिप्त विवरण दे रहे हैं जिसका सम्बन्ध 'सीमान्त उपयोगिता' से है। अन्य विभागों में भी सीमान्त का महत्त्व है परन्तु विद्यार्थी जब तक उनका अध्ययन न कर लें सीमान्त के महत्त्व को समझना उनके लिए कठिन होगा। अतः हमने इस पुस्तक के अन्त में सीमान्त के महत्त्व पर अलग से **प्रकाश डाला है।**

1 *Almost the entire economic structure is based on the concept of marginal utility*

—J K Mehta

सन्तरों की सीमान्त उपयोगिता

इकाइयां	त्याग करने की तत्परता के आधार पर (पैसा में)	मूल्य (पैसा में)	धन की सीमान्त उपयोगिता (पैसा में)
1	75	25	—
2	62	25	25
3	56	25	25
4	40	25	25
5	25	25	25
6	10	25	25

उपयुक्त सारणी में यह स्पष्ट किया गया है कि धन या मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता समान तथा स्थायी रहने पर किसी भी वस्तु के बाजार में धन या मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता के बराबर ही वस्तु का मूल्य होता है। अतः प्रत्येक इकाई का मूल्य धन की सीमान्त उपयोगिता के बराबर ही है। उपभोक्ता सन्तरे की पाँचवी इकाई पर आकर रुक जायगा क्योंकि उससे प्राप्त उपयोगिता का मूल्य त्याग किए जाने वाले धन के बराबर है। छठी इकाई की उपयोगिता 10 पैसे के बराबर है जबकि उसको प्राप्त करने के लिए 25 पैसों का त्याग करना होगा। अतः पाँचवी इकाई ही सीमान्त इकाई है। इससे प्राप्त होने वाली उपयोगिता को ही सीमान्त उपयोगिता कहा जायेगा।

सीमान्त उपयोगिता की धारणाओं ने मूल्य के इस विरोधाभास (Paradox) को समाप्त करने में सहायता की है कि पानी हीरा (Diamonds) से क्यों कम मूल्यवान है? पानी की पूर्ण उपयोगिता असीमित है परन्तु उसकी पूर्ति अधिक होने के कारण उसकी सीमान्त उपयोगिता शून्य के बराबर ही रहती है। यदि OX अक्ष पर उसकी प्रत्येक इकाई की सीमान्त उपयोगिता को अंकित किया जाय तो उपयोगिता वक्र के सभी बिन्दु OX अक्ष पर ही अंकित होंगे। इसके विपरीत हीरा की पूर्ण उपयोगिता अपेक्षाकृत कम होगी परन्तु हीरा की पूर्ति कम तथा दुर्लभ होने के कारण इसकी सीमान्त उपयोगिता अधिक होगी। एक हीरे का मूल्य एक गिलास पानी के मूल्य की तुलना में बहुत अधिक होगा। यही कारण है कि दुर्लभ तथा सीमित वस्तुओं का मूल्य होता है जबकि असीमित मात्रा में उपलब्ध वस्तुओं का कोई मूल्य नहीं होता। यदि किसी स्थान पर पानी भी दुर्लभ एवं सीमित वस्तु हो जाय तो उसकी सीमान्त उपयोगिता अधिक होने पर उसका भी बाजार मूल्य होगा।

मुद्रा के मापदण्ड द्वारा उपयोगिता के परिणाम की माप के सम्बन्ध में कुछ अर्थशास्त्रियों का यह मत है कि ऐसी माप उसी समय सम्भव हो सकती है जबकि मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता स्थायी या समान रहे। यदि इस मापदण्ड की सीमान्त उपयोगिता स्वयं परिवर्तनशील है तो समय तथा व्यक्ति की भिन्नता के कारण किसी वस्तु की परिवर्तनशील उपयोगिता का मापना कठिन होगा। अतः मुद्रा के मापदण्ड द्वारा उपयोगिता उसी समय मापनीय हो सकती है जबकि मौद्रिक इकाई की सीमान्त उपयोगिता समान रहे। परन्तु व्यावहारिक जगत में ऐसा न होने के कारण ही तटस्थता-वक्र (Indifference Curve) विधि के द्वारा उपयोगिता के परिमाण की माप करने में सुविधा होती है।

(iv) वितरण के क्षेत्र में वितरण के क्षेत्र में भी सीमान्त विश्लेषण का विशेष महत्त्व है। उत्पादन के साधनों—भूमि, श्रम, पूँजी, संगठन तथा साहस के पुरस्कार निर्धारण में सीमान्त विचार का अधिक महत्त्व है।

(v) राजस्व के क्षेत्र में राजस्व की प्रत्येक क्रिया का उद्देश्य अधिकतम सामाजिक कल्याण की प्राप्ति होता है। इसकी प्राप्ति में भी सीमान्त उपयोगिता पर विचार करना पड़ता है। सरकार अपनी सीमित आय को विभिन्न मदों पर इस प्रकार व्यय करती है कि प्रत्येक दशा में 'सीमान्त सामाजिक उपयोगिताएँ बराबर होने पर ही समाज को अधिकतम सामाजिक कल्याण प्राप्त होता है।

कर लगाने तथा राजकीय व्यय करने दोनों में विभिन्न व्यक्तियों तथा वर्गों के सीमान्त त्याग तथा उपयोगिता दोनों पर ध्यान देना होता है। निर्धनों की तुलना में धनिकों पर अधिक कर लगाये जाते हैं क्योंकि धनिकों की तुलना में निर्धनों के लिए धन की सीमान्त उपयोगिता अधिक होती है।

इस प्रकार सीमान्त के विचार का अर्थशास्त्र के प्रत्येक क्षेत्र में अत्यधिक महत्त्व है और लगभग सम्पूर्ण आर्थिक ढाँचा सीमान्त उपयोगिता के विचार पर आधारित है।

सीमान्त विश्लेषण की आधारभूत मान्यताएँ
(Basic Assumptions of Marginal Analysis)

सीमान्त विवेचन निम्न आधारभूत मान्यताओं पर आधारित हैं :

1. मूल्यों में तनिक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप माँग तथा पूर्ति में परिवर्तन अवश्यमेव होता है।

2. सीमान्त विश्लेषण की यह मान्यता है कि वस्तुएँ रंग, रूप व आकार में एक समान होती हैं।

3. मानव उपभोग करते समय विवेकपूर्ण व्यवहार करता है।

4. मनुष्य के पास व्यय करने के लिए आय सीमित होती है।

5 बाजार म बहुत अधिक क्रेता व विक्रेता होते हैं तथा उनम स व्यक्ति विशेष केवल एक होता है।

6 किसी समय विशेष म मनुष्य की आवश्यकताएँ अपरिवर्तित रहती हैं।

उपयोगिता धारणा की आलोचना

उपयोगिता की माप के सम्बन्ध म मार्शल तथा उनके अनुयायियों द्वारा जो धारणाएँ प्रस्तुत की गयी है उनकी आलोचना निम्नलिखित तथ्यों के आधार पर की गयी है

(1) उपयोगिता एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। एक भौतिक पदार्थ को मापा जा सकता है *परन्तु एक काल्पनिक तथा अभौतिक वस्तु का माप किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है।* अतः सामान्य उपयोगिता की गणना ठीक ठीक नहीं की जा सकती।

इस आलोचना का खण्डन करते हुए कुछ अर्थशास्त्रियों ने कहा है कि यदि हम शक्ति विद्युत ताप आदि को माप सकते हैं तो उपयोगिता का माप असम्भव नहीं है।

(2) इसम निश्चितता का अभाव है। कभी उपयोगिता शब्द किसी वस्तु की इच्छा शक्ति (Desiredness) को तो कभी सन्तुष्टि (Sati faction) को व्यक्त करता है। अधिकतर पूर्ण उपयोगिता और पूर्ण सन्तुष्टि का एक ही अर्थ *लगाया जाता है। परन्तु वास्तव म उपयोगिता और सन्तुष्टि एक दूसरे से भिन्न हैं।* किसी वस्तु के लिए दिया गया मूल्य उसकी इच्छा की तीव्रता का व्यक्त करता है *परन्तु वह उस वस्तु स प्राप्त सन्तुष्टि का मापदण्ड नहीं माना जा सकता।*

(3) उपयोगिता समान (Constant) नहीं रहती है। यह समय समय पर बदलती रहती हैं। इस प्रकार की परिवतनशील वस्तु को मापना सम्भव नहीं हो सकता। परन्तु इस सम्बन्ध म दिया गया तर्क ठीक नहीं है क्योंकि जिस समय किसी वस्तु की उपयोगिता का मापा जा रहा है उस समय वह समान है। अत उसकी माप उसी प्रकार सम्भव है जिस प्रकार ताप ऊँचाई और तौल का माप सम्भव है।

(4) उपयोगिता की माप का कोई प्रमाप (Standard) नहीं है। भौतिक वस्तुओं का किसी प्रमाणित मापदण्ड (गज अथवा तुला) म नापा तथा तौला जा सकता है। *परन्तु उपयोगिता का कोई ऐसा मापदण्ड नहीं है। अर्थशास्त्र म सन्तुष्टि* का अनुमान त्याग की गई मुद्रा के आधार पर लगाया जा सकता है। अत सन्तुष्टि का आधार मानकर उपयोगिता को भी मापा जा सकता है। परन्तु इसम यह मानना होगा कि मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता समान रहती है। इस सम्बन्ध म यह ध्यान रहना चाहिए कि एक स्थायी आय वाले व्यक्ति की मुद्रा की प्रत्येक अगली इ॰ की सीमान्त उपयोगिता अधिक रहती है क्योंकि जस जस आय की रकम

का व्यय करता जाता है उसके धन की मात्रा कम होने से शेष मुद्रा का मूल्य उसके लिए अधिक होता है।

(5) सीमान्त विश्लेषण की मान्यता है कि मूल्यों में तनिक से परिवर्तन के कारण माँग और पूर्ति में परिवर्तन होते रहते हैं। किन्तु यह मान्यता टिकाऊ तथा अविभाज्य वस्तुओं के लिए सही नहीं उतरती। उदाहरणार्थ टी० वी० पंखा रेडियो गाय आदि को खण्ड-खण्ड में खरीदा नहीं जा सकता है। इन्हें तो सम्पूर्ण इकाई में ही क्रय किया जा सकता है।

(6) वस्तु की सभी इकाइयों को समरूप मानना उचित नहीं है। व्यावहारिक दृष्टि से उनमें थोड़ा-बहुत अन्तर अवश्य ही पाया जाता है।

(7) सीमान्त विश्लेषण स्थैतिक विश्लेषण पर आधारित है। अतः व्यापक विश्लेषण में इसका प्रयोग सीमित हो जाता है।

निष्कर्ष

सीमान्त विश्लेषण की अनेक मान्यताओं व आलोचनाओं के होते हुए भी इसका अर्थशास्त्र के क्षेत्र में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि आधुनिक अर्थशास्त्रियों की दृष्टि में फर्म व्यवहार पर अधिक जोर देने के कारण इस विश्लेषण का कम महत्त्व रह गया है।

सम्भवतः परेटो सर्वप्रथम अर्थशास्त्री थे जिन्होंने उपयोगिता को अमापनीय (Immeasurable) माना था। उनका विचार था कि उपयोगिता मापनीय तो नहीं है किन्तु तुलना योग्य है। बाद में प्रो० हिक्स तथा एलेन ने परेटो की मान्यता को स्वीकार करके वरीयताओं के आधार पर मूल्य-सिद्धान्त (Theory of Value) का निर्माण किया। उनके विचार में उपयोगिता अथवा सीमान्त उपयोगिता अमापनीय है अतः मूल्य सिद्धान्त उपयोगिता के आधार पर निर्मित नहीं किया जा सकता। परन्तु उसको प्रतिस्थापन की दर (Rate of Substitution) के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है। उनके अनुसार सीमान्त उपयोगिता का चाहे कोई अर्थ क्यों न हो किन्तु प्रतिस्थापना की सीमान्त दर (Marginal Ra teof Subsutution) का अवश्य कुछ अर्थ एवं महत्त्व है।

प्रश्न तथा संकेत

1 सीमान्त तथा कुल उपयोगिता विश्लेषण के महत्त्व की विवेचना कीजिए। क्या उपयोगिता को मापा जा सकता है?

Discuss the significance of marginal and total utility in analysis Is utility measurable?

[संकेत—सबसे पहले अर्थ समझाकर फिर उपभोग उत्पादन विनिमय वितरण तथा राजस्व के क्षेत्र में सीमान्त तथा कुल उपयोगिता विश्लेषण का महत्त्व बताइए। तत्पश्चात् उपयोगिता को मापने के सम्बन्ध में मतभेद का विवेचन कीजिए।]

2 'उपयोगिता एक क्रमवाचक (Ordinal) विचार है न कि गणनावाचक (Cardinal) विचार। विवेचना कीजिए।

Utility is an ordinal approach and not a cardinal concept Discuss

[संकेत—प्रश्न के उत्तर को दो भागों में विभक्त कर प्रथम भाग में उपयोगिता का अर्थ बताइए तथा द्वितीय भाग में यह स्पष्ट कीजिए कि उपयोगिता को मापा नहीं जा सकता और दर्शाइए यह क्रमवाचक विचार है न कि गणनावाचक।]

3 सीमान्त उपयोगिता तथा कुल उपयोगिता का अन्तर बताइए। यह सिद्ध कीजिए कि जब एक वस्तु की सीमान्त उपयोगिता शून्य होती है तो उसकी कुल उपयोगिता अधिकतम होती है।

Distinguish between marginal utility and total utility Show how the total utility is at its maximum when the marginal utility is zero

[संकेत—आरम्भ में संक्षेप में उपयोगिता का अर्थ बताइए। इसके पश्चात् सीमान्त तथा कुल उपयोगिता का सम्बन्ध बताते हुए यह स्पष्ट कीजिए कि जहां सीमान्त उपयोगिता शून्य के बराबर होती है वहां कुल उपयोगिता अधिकतम होती है।]

4 अर्थशास्त्र में सीमान्त विश्लेषण के महत्त्व का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

Discuss critically the significance of marginal analysis in Economics

[संकेत—अर्थशास्त्र के प्रत्येक क्षेत्र में सीमान्त विचार का अलग-अलग महत्त्व समझाते हुए उसकी मान्यताएं तथा आलोचनाओं का विवेचन दें।]

11

सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम
(Law of Diminishing Marginal Utility)

> **There is an endless variety of wants but there is a limit to each separate want This familiar and fundamental tendency of human nature may be stated in the Law of Satiable Wants or of diminishing utility**
>
> —*Marshall*

उपभोग के क्षेत्र में विशेषकर उपयोगिता विश्लेषण के अन्तर्गत, 'उपयोगिता ह्रास नियम' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि इस नियम का उल्लेख बेन्थम (Bentham) के आर्थिक सिद्धान्तों में मिलता है, परन्तु आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के सम्बन्ध में सर्वप्रथम इसका उल्लेख जर्मन अर्थशास्त्री एच० एच० गोसन (H H Gossen) ने किया। यही कारण है कि इस नियम को गोसेन का प्रथम नियम (Gossen's First Law) या सन्तुष्टि का नियम (Law of Satiety) कहा जाता है।

1 नियम का आधार (Basis of the Law)

आवश्यकताओं के लक्षणों में यह स्पष्ट है कि आवश्यकताएं असीमित हैं किन्तु उनमें से किसी एक आवश्यकता को पूर्णतया सन्तुष्ट किया जा सकता है। हम अपने दैनिक जीवन में भी यह अनुभव करते हैं कि किसी वस्तु की मात्रा जैसे-जैसे हमारे पास बढ़ती जाती है वैसे-वैसे उस वस्तु की उपयोगिता हमारे लिए कम महसूस होने लगती है। उस वस्तु को और अधिक मात्रा प्राप्त करने की तीव्रता भी कम होती चली जाती है। इसीलिए प्रो० मार्शल ने कहा है "किसी व्यक्ति के पास किसी वस्तु की जितनी मात्रा (स्टाक) पहले से है उसमें वृद्धि होने से जो अतिरिक्त लाभ प्राप्त होता है वह, अन्य बातों के समान रहने पर, उस वस्तु की मात्रा (स्टाक) में वृद्धि के साथ-साथ घटता जाता है।"[1] इस प्रकार यह नियम

---

1 The additional benefit which a person derives from a given increase of a stock of a thing diminishes other things being equal with every increase in the stock that he already has

—*Marshall*

इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि किसी आवश्यकता की पूर्ति करने की प्रक्रिया म किसी वस्तु की प्रत्येक अगली इकाई का उपभोग करने पर आवश्यकता की तीव्रता मे कमी होती है *तथा अन्य बातो के समान रहने पर वस्तु विशेष की प्रत्यक अगली* इकाई की उपयोगिता कम होती जाती है।

2 *नियम की परिभाषा* (*Definition*)

उपयोगिता ह्रास नियम किसी वस्तु की मात्रा म घट बढ तथा सीमान्त उपयोगिता म कमी तथा वद्धि के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है। यह बात है कि **किसी वस्तु की उपयोगिता इसकी मात्रा की विपरीत दिशा मे परिवर्तित होती है।** इसका अर्थ यह है कि किसी वस्तु की मात्रा म वद्धि होने पर उसकी प्रत्यक अतिरिक्त इकाई की *उपयोगिता घट जाती है तथा उसकी मात्रा मे कमी होने पर उसकी* उपयोगिता बढ जाती है।

एडवड नेविन (Edward Newin) क अनुसार **किसी वस्तु क उपभोग के क्रम मे प्रत्येक वद्धि क साथ उस वस्तु की अतिरिक्त इकाइयो से प्राप्त होने वाली उपयोगिता क्रमश घटती जाती है।"**[1] इस तथ्य का गोसेन न (H H Gossen) इन शब्दो म व्यक्त किया था जब **तक पूर्ण सतुष्टि का बिन्दु नहीं आ जाता तब तक एक ही और उसी सतुष्टि की मात्राओ मे वद्धि करने पर क्रमश उसका ह्रास** *होता जाता है।"*

प्रो॰ चेपमन (Chapman) ने इस नियम को इस प्रकार परिभाषित किया है किसी वस्तु की जितनी अधिक मात्रा हमारे पास होती है उतनी ही कम हम उस वस्तु की अतिरिक्त वद्धि चाहते है या उतनी ही अधिक हम उस वस्तु की अतिरिक्त वद्धि नही चाहते। [3] अन्य शब्दो म हम किसी वस्तु का जितना अधिक उपभोग करते हैं हम उसकी उतनी ही कम इच्छा होती जाती है।

प्रो॰ थामस (Thomas) ने तो इस नियम के बारे म यहा तक भी स्पष्ट कर दिया है कि *उपभोग करते-करते सीमान्त उपयोगिता घटती ही नहीं जाता वरन्*

---

1 The extra satisfaction derived from the consumption of additional units of any commodity tends to decline as the quantity consumed increases

—Edward Nevin

2 The amount of one and the same satisfaction declines a we proceed with that satisfaction until satiety is reached

—Gossen

3 *The more we have of a thing the less we want additional increments* of it or the more we want not to have additional increments of it

—Chapman

एक समय ऐसा भी आ सकता है जबकि यह ऋणात्मक हो जाय। इन्ही के शब्दों में "किसी वस्तु की अतिरिक्त पूर्ति से प्राप्त उपयोगिता इसके प्राप्य स्टाक में प्रत्येक बढ़ोतरी के साथ घटती जाती है। इसके अतिरिक्त कुल उपयोगिता बढ़ती है लेकिन गिरती हुई दर पर यहाँ तक कि अन्तत वस्तु की मात्रा में अगली बढ़ोतरी से अनुपयोगिता भी प्राप्त हो सकती है।"[1]

मानवीय प्रकृति की यह मूलभूत प्रवृत्ति सामान्यतया देखने को मिलती है। इसी सुपरिचित एवं मूलभूत प्रवृत्ति के आधार पर इस नियम का निर्माण किया गया है। परन्तु कुछ दशाएं ऐसी भी हो सकती हैं जिनमें किसी व्यक्ति को प्रारम्भ में किसी वस्तु विशेष की एक या दो इकाइयों के उपभोग से अधिक आनन्द या सन्तुष्टि मिले अर्थात् सीमान्त उपयोगिता में वृद्धि हो और उसके बाद अगली इकाइयों से सन्तुष्टि या सीमान्त उपयोगिता घटनी शुरू हो जाय। व्यावहारिक जीवन में मानवीय प्रकृति की परिवर्तनशीलता का ध्यान में रखकर ही आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने इस नियम के लागू होने के सम्बन्ध में यह स्पष्ट कर दिया है कि यह नियम अन्य बातों के समान रहने पर एक सीमा या बिन्दु के बाद अथवा अन्त में ही लागू होता है। बोल्डिंग की परिभाषा में इस तथ्य का उल्लेख किया गया है। उनके अनुसार "जब कोई उपभोक्ता, अन्य वस्तुओं के उपभोग को स्थिर रखते हुए, किसी एक वस्तु के उपभोग को बढ़ाता है तब परिवर्तनशील वस्तु की सीमान्त उपयोगिता निश्चित रूप से अन्त में घटती है।"[2]

3 सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम के लागू होने के कारण
(Reasons for Deminishing Marginal Utility)

प्रो० बोल्डिंग ने इस नियम के लागू होने के दो कारणों का उल्लेख किया है

(1) वस्तुएं एक दूसरे की अपूर्ण स्थानापन्न होती हैं (Commodities are imperfect substitutes) वस्तुएं एक-दूसरे की पूर्ण स्थानापन्न (perfect substitutes) न होकर अपूर्ण स्थानापन्न (imperfect substitutes) होती हैं,

---

1 The utility of additional supplies of a commodity diminishes with every increase in the available stock of it moreover total utility increases but at a diminishing rate until eventually any further increment of the commodity may even have disutility

—*S E Thomas*

2 As a consumer increases the consumption of any one commodity keeping constant the consumption of all other commodities the Marginal Utility of the variable commodity must eventually decline

—*Boulding*

अर्थात् विभिन्न उपभोग वस्तुओं के उचित अनुपातों (appropriate proportions) में प्रयोग करने पर ही यह नियम लागू होता है। उदाहरणार्थ, कोई उपभोक्ता सिगरेट तथा चाय का उपभोग करता है तथा उनकी मात्राओं का एक उचित अनुपात निर्धारित कर लेता है। मान लीजिए ये मात्राएँ X तथा Y हैं। यदि उचित अनुपातों में इन दोनों वस्तुओं का उपभोग करने के लिए वह सिगरेट की मात्रा स्थिर रखता है और चाय की मात्रा को क्रमशः बढ़ाता है तो चाय के प्रत्येक अगले प्याले (इकाई) से उसे घटती हुई उपयोगिता मिलेगी।

(2) किसी आवश्यकता विशेष को सन्तुष्ट किया जा सकता है (Each particular want is satiable) आवश्यकता विशेष पूर्णतया सन्तुष्ट की जा सकती है क्योंकि मनुष्य की उपभोग करने की क्षमता सीमित है। हम किसी वस्तु की सभी उपलब्ध मात्राओं का उपभोग नहीं कर सकते। उस वस्तु की एक के बाद एक इकाइयों का उपभोग करने पर एक बिन्दु ऐसा आता है जिसे हम सन्तुष्टि का अन्तिम बिन्दु (point of satiety) कह सकते हैं क्योंकि इस बिन्दु पर पहुँचकर वस्तु की मात्रा बढ़ने पर भी हमारी तृप्ति नहीं बढ़ती। उस बिन्दु पर सीमान्त उपयोगिता शून्य के बराबर होती है।

बोमल (Baumol) के अनुसार इस नियम के लागू होने के कारण यह है कि हम पहला स्थान सबसे अधिक महत्त्व वाले उपयोग को देते हैं। उन्होंने इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए उदाहरण दिया है यदि हमारे पास केक (Cake) का एक टुकड़ा है तो हम उसे अपने बच्चे को खाने के लिए दे देंगे यदि दो है तो द्वितीय टुकड़ा अपनी पत्नी को देंगे यदि तीसरा टुकड़ा हो तो उसे अपने लिए रखेंगे और चौथा होने पर उसे अपनी सास को देंगे।[1] ऐसा ही विचार हैराड ने भी व्यक्त किया है। कुछ दशाओं में वस्तु से अधिक उपयोगिता मिलती है और कुछ में कम उपभोक्ता सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण उपयोग को ही प्राथमिकता प्रदान करता है।

4 नियम की व्याख्या

यह नियम इस अनुभव पर आधारित है कि उपभोग की क्रिया में जैसे जैसे हमारे पास किसी वस्तु की मात्रा बढ़ती जाती है अन्य बातों के समान रहने पर *उस वस्तु की प्रत्येक अगली इकाई की अतिरिक्त उपयोगिता क्रमशः घटती जाती है*। धीरे धीरे एक ऐसी स्थिति आती है जहाँ उपभोक्ता की आवश्यकता पूर्णतया सन्तुष्ट हो जाती है। इस स्थिति पर पहुँचने पर उपभोग की गयी अतिरिक्त इकाई की उपयोगिता शून्य हो जाती है। यदि इस सीमा के बाद भी उपभोग की क्रिया

चलती रहे तो अगली इकाइयां से उसे उपयोगिता के स्थान पर **अनुपयोगिता** (disutility) मिलेगी जिसे नकारात्मक उपयोगिता (negative utility) कहा जाता है। जैसा कि नीचे दी गयी तालिका में स्पष्ट किया गया है क्रमशः उपभोग की गयी वस्तु की इकाइयों से प्राप्त कुल उपयोगिता घटते हुए क्रम से बढ़ती है तथा अतिरिक्त इकाई की सीमान्त उपयोगिता घटती जाती है। अतः **चपमैन के अनुसार "किसी वस्तु की जितनी अधिक मात्रा हमारे पास होती है, उतना ही कम हम उसकी अतिरिक्त मात्रा चाहते हैं, अथवा अतिरिक्त वृद्धि की हम उतनी ही अधिक इच्छा नहीं रखते।"**[1] इस प्रकार वस्तु के स्टाक में अतिरिक्त इकाई की वृद्धि से सीमान्त उपयोगिता कम होती जाती है अर्थात् उस वस्तु के स्टाक में वृद्धि करने पर प्राप्त होने वाली उपयोगिता में जो वृद्धि होती है वह घटती हुई दर से होती है। इसीलिए इस नियम को **सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम** कहते हैं।

5 उदाहरण द्वारा नियम का स्पष्टीकरण

इस नियम की व्याख्या अधिक स्पष्ट रूप से करने के लिए रोटियों की इकाइयों के उपभोग से प्राप्त उपयोगिता को नीचे दी गयी सारिणी में दिखलाया गया है

रोटी से प्राप्त उपयोगिता

उपभोग इकाइयां (रोटी)	सीमान्त उपयोगिता (सन्तुष्टि की इकाइयां)		कुल उपयोगिता (सन्तुष्टि की इकाइयां)	
1	20	सीमान्त उपयोगिता घटते हुए क्रम से (Positive utility)	20	कुल उपयोगिता में घटते हुए क्रम से वृद्धि
2	14		34	
3	10		44	
4	8		52	
5	6		58	
6	0	शून्य सीमान्त (Zero Utility)	58	पूर्ण सन्तुष्टि की बिन्दु (Point of Satiety)
7	−2	अनुपयोगिता (Negative Utility)	56	

1 The more we have of a thing the less we want additional increments of it or the more we want not to have additional increments of it
—*Chapman*

उपयुक्त सारिणी से स्पष्ट है कि पहली रोटी की उपयोगिता 20 दूसरी की 14 तीसरी की 10 चौथी की 8 पाचवीं की 6 छठी की (शून्य) सातवीं की –2 इकाइयों के बराबर है। इससे यह ज्ञात होता है कि पहली रोटी उपभोग करने के बाद प्रत्येक अगली इकाई (दूसरी तीसरी चौथी पाँचवी) की उपयोगिता घटती जाती है। छठी रोटी का उपभोग करने पर पूर्ण सन्तुष्टि प्राप्त होती है। अत इस रोटी की उपयोगिता शून्य के बराबर है। इसके पश्चात् भी सातवीं रोटी का उपभोग करने पर उपयोगिता मिलने के स्थान पर अनुपयोगिता मिलने लगती है जो ऋणात्मक (–2) है।

इस सम्बन्ध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि ह्रासमान उपयोगिता नियम सीमान्त उपयोगिता में घटने (ह्रास) की दर (the rate of decline of marginal utility) का उल्लेख नहीं करता। इस नियम के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि सीमान्त उपयोगिता तीव्र या धीमी गति से घट रही है अथवा ह्रास की दर परिवर्तनशील है या स्थिर। इस नियम से केवल इतना ही पता चलता है कि किसी वस्तु की इकाइयों में वृद्धि होने पर प्रत्येक अतिरिक्त इकाइयों की उपयोगिता घटती जाती है।

6 रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण (Diagrammatic Representation)

सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम का रेखाचित्र द्वारा भी स्पष्टीकरण किया जा सकता है जो इस प्रकार है
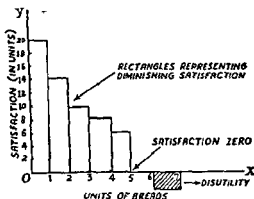
चित्र–3

पूर्ववत्त सारिणी की सहायता से रेखाचित्र बनाकर सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम को स्पष्ट किया गया है। चित्र 3 में OX अक्ष (axis) पर रोटी का इकाइयों को तथा OY अक्ष पर उसकी प्रत्येक इकाई में प्राप्त उपयोगिता की इकाइयों का अंकित किया गया है। प्रत्येक अतिरिक्त इकाई से प्राप्त उपयोगिता का अलग

आयत आयतों के द्वारा व्यक्त किया गया है। प्रत्येक अतिरिक्त इकाई से प्राप्त उपयोगिता को व्यक्त करने वाले आयतों का आकार घटता जाता है जो यह व्यक्त करता है कि प्रत्येक अतिरिक्त इकाई से प्राप्त सन्तुष्टि क्रमशः घटती जाती है। छठी रोटी से शून्य के बराबर सन्तुष्टि प्राप्त होती है और सातवीं रोटी से सन्तुष्टि प्राप्त होने के स्थान पर अनुपयोगिता प्राप्त होने लगती है जिसे उसमें सम्बन्धित आयत को OX अक्ष के नीचे की ओर प्रदर्शित किया गया है।

अब यदि OX अक्ष के प्रत्येक बिन्दु (A B C D E F तथा G) पर, जो रोटियों की प्रत्येक इकाई को व्यक्त करता है प्राप्त उपयोगिता की इकाइयों के बराबर ऊंची एक खड़ी रेखा (vertical line) खींच दी जाय तथा उनके ऊपरी बिन्दुओं को मिला लिया जाय तो उपयोगिता-वक्र चित्र 4 में दिये गए आकार का होगा
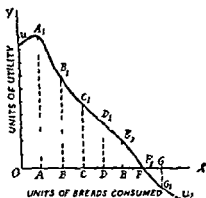
चित्र–4

OA इकाई की सीमान्त उपयोगिता AA_1 तथा AB की सीमान्त उपयोगिता BB_1 शीर्ष रेखाओं द्वारा मापी गयी है। इस प्रकार प्रत्येक इकाई (BC CD DE EF FG) की सीमान्त उपयोगिता को (CC_1,DD_1,EE_1 GG_1) द्वारा व्यक्त किया गया है।

सीमान्त उपयोगिता को व्यक्त करने वाली AA_1 BB_1, CC_1 आदि शीर्ष रेखाएँ क्रमशः छोटी होती गयी हैं। A_1 B_1 C_1 आदि बिन्दुओं को मिलाने पर दायीं ओर झुकता हुआ (UU_1) बनता है जिसे उस वस्तु (रोटियों) का उपयोगिता वक्र (utility curve) कहते हैं। यह वक्र OX अक्ष को कहीं न कहीं अवश्य काटेगा। उपर्युक्त चित्र में UU_1 वक्र OX को F या F_1 बिन्दु पर काटता है जो यह व्यक्त करता है कि EF इकाई की सीमान्त उपयोगिता शून्य के बराबर है। उपभोक्ता इस बिन्दु पर पूर्ण सन्तुष्टि प्राप्त कर लेता है। यदि वह इसके बाद भी

F-G अतिरिक्त इकाई का उपयोग करे तो वक्र OX-अक्ष के नीचे की ओर भुकता है, जिससे यह ज्ञात होता है कि उपभोक्ता उपयोगिता प्राप्त करने के बदले **अनुपयोगिता अथवा नकारात्मक उपयोगिता प्राप्त करने लगा है।**

चित्र सख्या 5 मे कुल उपयोगिता वक्र और सीमान्त उपयोगिता वक्र दोनो की सहायता से इस नियम को अधिक स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। इस चित्र मे दो भाग है—ऊपर के भाग में कुल उपयोगिता (Total utility) OL रेखा द्वारा तथा नीचे के भाग मे सीमान्त उपयोगिता रेखा द्वारा सीमान्त उपयोगिता को दर्शाया गया है।
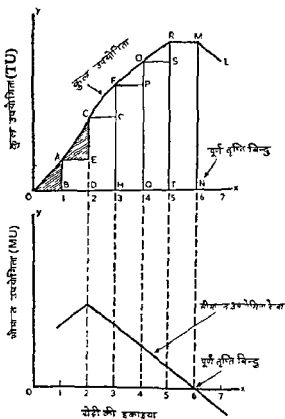
चित्र–5

प्रथम भाग मे कुल उपयोगिता रेखा OL का प्रथम भाग OA OX अक्ष के प्रति उन्नतोदर (Convex) है जो यह व्यक्त करता है कि प्रारम्भ मे (रोटी की पहली इकाई का उपभोग करने पर) प्राप्त उपयोगिता मे वृद्धि अगली इकाई मे

प्राप्त उपयोगिता से अधिक है। पहली इकाई से AB उपयोगिता प्राप्त होती है। दूसरी इकाई से CD के बराबर कुल उपयोगिता प्राप्त होती है। यदि बिन्दु A से एक रेखा AE OX-अक्ष के समानान्तर खींची जाय जो CD को E बिन्दु पर काटे तो AB और ED बराबर होंगे। CD और ED या AB का अन्तर CE दूसरी रोटी की उपयोगिता को व्यक्त करता है जिससे यह स्पष्ट है कि रोटी की दूसरी इकाई से प्राप्त उपयोगिता पहली रोटी से प्राप्त उपयोगिता की तुलना में घटती हुई दर से बढ़ी है। इसी आधार पर रोटी की तीसरी इकाई का उपभोग करने पर कुल उपयोगिता FH मिलती है। इस कुल उपयोगिता में से बिन्दु C से OX-अक्ष के समानान्तर रेखा CG खींची जाय तो यह FH रेखा को G बिन्दु पर मिलती है। FH और CD का अन्तर FG बतलाता जो यह व्यक्त करता है कि तीसरी इकाई से प्राप्त उपयोगिता से कुल उपयोगिता में FG के बराबर वृद्धि हो जाती है परन्तु यह वृद्धि दूसरी इकाई से हुई वृद्धि CE की अपेक्षा कम है अर्थात् कुल उपयोगिता घटती हुई दर से बढ़ी है। यही तथ्य OP तथा RS अन्तर भी व्यक्त करते हैं। जब कुल उपयोगिता इस प्रकार घटती हुई दर से बढ़ती है तो इस तथ्य को व्यक्त करने वाली कुल उपयोगिता की रेखा नतोदर (Concave) होती है। बिन्दु M पर कुल उपयोगिता अधिकतम हो जाती है और इसके पश्चात् यह गिरने लगती है।

चित्र के नीचे वाले भाग में सीमान्त उपयोगिता को दिखाया गया है। इस चित्र में भी यह स्पष्ट है कि कुल उपयोगिता में घटती हुई दर से वृद्धि होने पर अर्थात् कुल उपयोगिता में नतोदर होने पर सीमान्त उपयोगिता घटती है जो चित्र के इस भाग में स्पष्ट है। बिन्दु C तक सीमान्त उपयोगिता में वृद्धि हुई है। परन्तु C बिन्दु के बाद कुल उपयोगिता में घटती हुई दर से वृद्धि होने पर जब कुल उपयोगिता रेखा नतोदर हो जाती है तो सीमान्त उपयोगिता भी घटने लगती है। जब कुल उपयोगिता बिन्दु M पर अधिकतम हो गयी है तब सीमान्त उपयोगिता शून्य है। यह बिन्दु पूर्ण तृप्ति का बिन्दु (Point of Satiety) है। इस इकाई के उपभोग के बाद पूर्ण तृप्ति के बिन्दु M से कुल उपयोगिता रेखा गिरने लगती है जो यह व्यक्त करता है कि सीमान्त उपयोगिता ऋणात्मक (negative) हो गयी है अर्थात् उसमें तृप्ति मिलने की अपेक्षा नकारात्मक तृप्ति या उपयोगिता मिलती है।

इस नियम के बारे में ध्यान देने योग्य कुछ महत्व

1. नियमानुसार यह उल्लेख नहीं मिलता कि सीमान्त उपयोगिता ह्रास किस दर से होता है।
2. प्रत्येक उपभोगित अगली इकाई से सीमान्त उपयोगिता घटती जाती है।
3. कुल उपयोगिता में घटती हुई दर से वृद्धि होती है।
4. जब सीमान्त उपयोगिता शून्य हो जाती है तब कुल उपयोगिता अधिकतम होती है।

5 सीमान्त उपयोगिता के शून्य हो जाने पर आगे की इकाइयों की सीमान्त उपयोगिता ऋणात्मक होने लगती है।

6 कुछ वस्तुएं ऐसी होती है जिनकी सीमान्त उपयोगिता धीरे धीरे कम होती है जबकि कुछ वस्तुओं की बड़ी तीव्रता के साथ। धीरे धीरे तृप्ति वाली वस्तुओं के उपभोग का वक्र सरल ढाल वाला होता है, जबकि दूसरे का शीघ्र ढाल वाला होता है।

7 नियम की सीमाएं तथा मान्यतायें

(Limitations and Assumptions of the Law)

उपयोगिता ह्रास नियम **अन्य बातों के यथावत या समान रहने पर** (*other things remaining the same*) ही लागू होता है। यह वाक्यांश इस नियम के सम्बन्ध में कुछ सीमाओं एवं मान्यताओं की ओर संकेत करता है जो निम्नलिखित हैं

(1) उपभोक्ता की मानसिक स्थिति एक सी रहनी चाहिये यह नियम उसी समय लागू होगा जबकि उपभोक्ता की मानसिक स्थिति में किसी प्रकार का परिवर्तन न हो जैसे यदि कोई उपभोक्ता किसी समय खाना खाने के दौरान दो रोटियाँ खाने के बाद भाँग या शराब का प्रयोग करता है तो उसकी मानसिक स्थिति में परिवर्तन हो जायगा। इसके पश्चात् हो सकता है कि तीसरी रोटी से उसे पहले उपभोग की गई दो रोटियों की तुलना में अधिक सन्तुष्टि मिले। इस प्रकार मानसिक स्थिति में परिवर्तन हो जाने पर यह नियम लागू नहीं होगा।

(2) वस्तु की प्रत्येक इकाई का परिमाण उचित होना चाहिए उपभोग वस्तु की प्रत्येक इकाई का परिमाण उचित होना चाहिए अन्यथा प्रारम्भिक अवस्था में ही आवश्यकता की तीव्रता घटने के स्थान पर अधिक हो जायगी। उदाहरणार्थ यदि एक प्यासे व्यक्ति को चम्मच से पानी पिलाया जाय तो कुछ चम्मच पानी की इकाइयों तक उनकी उपयोगिता घटने के स्थान पर बढ़ती जायेगी।

(3) वस्तु की प्रत्येक इकाई का रूप रंग आकार तथा गुण समान होना चाहिए उपभोग वस्तु की प्रत्येक इकाई का रूप रंग आकार एवं गुण समान होना चाहिए। यदि किसी अगली इकाई का रूप एवं आकार बदल दिया जाय तो अगली इकाई से मिलने वाली उपयोगिता घटने की अपेक्षा बढ़ेगी। जैसे रूखी रोटी के स्थान पर परांठा दे दिया जावे तो अगली इकाई से सीमान्त उपयोगिता घटने की बजाय निश्चित ही बढ़ जायगी।

(4) वस्तु की इकाइयों का उपभोग लगातार होना चाहिए किसी वस्तु की इकाइयों का उपभोग लगातार होना चाहिए अन्यथा यह नियम लागू नहीं होगा। यदि हम भोजन दो बार करते हैं तो प्रत्येक बार भोजन करने पर सन्तोष मिलेगा।

परन्तु यदि दो-बार भोजन के मध्य समय का कोई स्मान अन्तर न हो तो दूसरी बार के भोजन से उपयोगिता कम प्राप्त होगा।

(5) **उपभोक्ता की ग्रान्तो रुचि फशन तथा आय मे परिवतन नहीं होना चाहिए** यह नियम उसी समय लागू होता है जबकि उपभोक्ता की आदत रुचिया तथा आय समान रहती हैं। इनम से किसी म परिवतन होन पर वस्तु का उपयोगिता घटन के स्थान पर बढ़ जाती है।

(6) **वस्तुओं व मूल्य मे परिवर्तन नहीं** यदि उपभोग की जान वाली वस्तु का उपभोग करत समय किसी अगली इकाइ का मूल्य बढ या घट जाता है तो सीमान्त उपयोगिता कम या अधिक होन पर यह नियम लागू नहीं होगा। उदाहरणाथ यदि कोई व्यक्ति ग्राम का उपभोग करता है तो 50 पैसे एक ग्राम का मूल्य होने पर वह अधिक से अधिक 3 आमो का क्रमश उपभोग करन के लिए तत्पर होगा। परन्तु यदि 2 ग्राम खान के बाद प्रति ग्राम मूल्य 25 पैसे हो जाता है तो यह अब 4 आमो का उपभोग करना चाहेगा।

(7) **स्थानापन्न वस्तुओं का मूल्य समान रहना चाहिए** उपभोग की जान वाली वस्तु का स्थानापन्न वस्तु का मूल्य भी पहले के समान रहना चाहिए अन्यथा यह नियम लागू नहीं होगा। चाय और काफी दो स्थानापन्न वस्तुएँ हैं। यदि चाय की कीमत बढ़ जाती है तो काफी की उपयोगिता पहले की अपेक्षा बढ़ जायेगी।

(8) **सुखमय मानसिक स्थिति का होना** पटेन (Patten) के अनुसार इस नियम की कायशीलता सुखमय अथव्यवस्था म ही सम्भव है क्योंकि इस प्रकार की अथव्यवस्था म उपभोक्ता वस्तुओं का उपभोग करके आनन्द एवं सन्तोष का अनुभव करता है। विशेष रुचि के साथ किसी वस्तु का उपभोग करने पर ही उपयोगिता के क्रमश घटन का नियम लागू होगा। परन्तु दुखमय अथव्यवस्था म उपभोक्ताओं की आर्थिक असमथता के कारण उन्हें सभी वस्तुओं के उपभोग के अवसर उपलब्ध नहीं होते। अत उन्हें अत्यन्त कष्ट का अनुभव होता है। जब तक उपभोक्ता दुखमय मानसिक स्थिति म रहता तब तक उपभोग की अगली इकाइया कम सन्तोष प्रदान करने के स्थान पर अधिक सन्तोष प्रदान कर सकती है।

(9) **उपभोक्ता पर प्रदशन प्रभाव न पडना** उपभोक्ता पर प्रदशन प्रभाव (D monstration or *Dusenbuiry* Effect) न पडन पर ही यह नियम लागू होगा। यदि निम्न आय-वग के लोग उच्च आय वग के व्यक्तियों का अनुकरण करने लगें तो व सम्भवत किसी वस्तु का अधिक मात्रा म रखना प्रारम्भ कर देंगे। उनके द्वारा प्राप्त की गई उस वस्तु की क्रमिक इकाइयाँ एक निश्चित सीमा तक घटती सीमान्त उपयोगिता प्रदान नहीं करती हैं।

8 नियम के तथाकथित अपवाद (Alleged Exceptions)

प्रो० मार्शल के अनुसार अगर अन्य बातें यथावत् रहे तो यह नियम अपनी मान्यताओं के अन्तर्गत सर्वत्र सत्य उतरता है। फिर भी अर्थशास्त्रियों ने इसके निम्नलिखित अपवादों का उल्लेख किया है। इनमें से अधिकांश अपवाद तो दिखावटी या नाम मात्र के हैं।

(1) यदि किसी वस्तु की बहुत छोटी सी मात्रा की इकाई का उपभोग किया जाय तो यह नियम लागू नहीं होगा प्रो० चपमन ने चाय बनाने के लिए कोयले के प्रयोग का उदाहरण देते हुए कहा है कि यदि कोई व्यक्ति मान लीजिए, 100 ग्राम कोयले का प्रयोग करता है तो यह इकाई इतनी कम मात्रा में है कि उपभोक्ता को कोयले की दूसरी 100 ग्राम मात्रा इकाई से अधिक उपयोगिता प्राप्त होगी। परन्तु यह अपवाद सही नहीं है क्योंकि इस नियम की यह मान्यता है कि उपभोग की जाने वाली इकाई की मात्रा उपयुक्त तथा उचित होनी चाहिए। अतः यह अपवाद दिखावटी व नाम मात्र का ही है।

(2) दुर्लभ वस्तुओं अप्राप्य व विलक्षण वस्तुओं जैसे डाक टिकट दुर्लभ चित्र, प्राचीन मूर्तियों पुराने सिक्के आदि के संग्रह में यह नियम लागू नहीं होता यह नियम दुर्लभ वस्तुओं (R^r. articles) जैसे डाक टिकट दुर्लभ चित्र तथा प्रदर्शन-वस्तुओं के सम्बन्ध में लागू नहीं होता। इनकी मात्रा में प्रत्येक वृद्धि के साथ इनकी सीमान्त उपयोगिता में कमी नहीं बल्कि वृद्धि होती है। यह अपवाद भी सही नहीं है। इस सम्बन्ध में ध्यान रखना चाहिए कि इन वस्तुओं की इकाइयाँ समान नहीं होती। इस नियम के लागू होने के लिए इन वस्तुओं की विभिन्न इकाइयों के उपयोगिता के स्थान पर समूह (Group or s t) की उपयोगिता ज्ञात की जानी चाहिए। वस्तुतः डाक टिकट संग्रह करने वाला व्यक्ति विभिन्न प्रकार के डाक टिकटों के सेट के संग्रह में विशेष रुचि रखता है। यदि वह एक ही प्रकार के टिकटों का पूरा सेट लेता है तो उसी प्रकार के टिकटों के दूसरे सेट की उपयोगिता निश्चय ही कम होगी। यही स्थिति अन्य दुर्लभ तथा बहुमूल्य वस्तुओं की दशाओं में भी रहती है।

(3) शराब पीने तथा अच्छी कविता या मधुर संगीत की इच्छा का सन्तुष्ट न होना कुछ अर्थशास्त्रियों का यह विचार है कि शराब पीने की इच्छा तथा अच्छी कविता या मधुर संगीत बार-बार सुनने की इच्छा कभी सन्तुष्ट नहीं होती। अतः यह अपवाद निराधार है। शराब पीने के बाद शराबी की मानसिक स्थिति में परिवर्तन हो जाता है जबकि इस नियम की यह मान्यता है कि उपभोक्ता की मानसिक स्थिति में परिवर्तन नहीं होना चाहिए। कविता तथा संगीत के सम्बन्ध में यह कहना गलत है कि उसी कविता या गाने को सुनने पर प्रत्येक बार समान सन्तुष्टि प्राप्त होती है। परन्तु यह व्यावहारिक सत्य है कि पहली बार उसे सुनने के पश्चात दूसरी बार उसके सुनने में उतनी रुचि नहीं होती। अतः यहाँ

पर भी यह नियम लागू होता है। परन्तु इस सम्बन्ध में यह आवश्यक है कि परिस्थितियों में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होना चाहिए अन्यथा यह नियम लागू नहीं होगा।

(4) पूरक वस्तुओं के सम्बन्ध में नियम लागू न होना कुछ पूरक वस्तुओं (Complementary goods) जैसे चाय दूध चीनी मोटर पैट्रोल आदि के सम्बन्ध में यह नियम लागू नहीं होता। चाय और दूध के मिलने पर चाय की उपयोगिता में वृद्धि होती है। परन्तु यहाँ पर पूरक वस्तुओं को सम्मिलित करके उनकी सामूहिक उपयोगिता को ध्यान में रखना तथा नियम की सत्यता की जाँच करना ठीक नहीं होगा। प्रत्येक पूरक वस्तु को अलग अलग उपभोग करने पर उनकी विभिन्न इकाइयों से क्रमश घटती हुयी उपयोगिता प्राप्त होगी।

(5) कजूस की धन की इच्छा का सन्तुष्ट न होना एक कजूस व्यक्ति की धन की इच्छा कभी सन्तुष्ट नहीं होती और धन की प्रत्येक अतिरिक्त इकाई से अधिक सन्तुष्टि प्राप्त होती है। परन्तु अर्थशास्त्र में एक कजूस व्यक्ति असामान्य व्यक्ति माना जाता है, क्योंकि उसकी मानसिक दशा अन्य सामान्य व्यक्तियों की तरह नहीं होती। अत कजूस द्वारा धन-सग्रह की इच्छा अर्थशास्त्र के अध्ययन के क्षेत्र के बाहर है। इसे इस नियम का अपवाद मानना ठीक नहीं है। इसी प्रकार शारीरिक शक्ति को प्राप्त करने की इच्छा को अपवाद मानना ठीक नहीं है।

(6) कुछ वस्तुओं या सेवाओं का प्रयोग बढाने पर भी उसकी उपयोगिता नहीं घटती कुछ वस्तुएँ ऐसी होती हैं जिनकी उपयोगिता कुछ व्यक्तियों के पास उनकी अतिरिक्त इकाइयों के बढने पर अधिक होती है। जैसे टेलीफोन प्रयोग करने वालों की सख्या बढने पर टेलीफोन-सम्बन्ध बढने के साथ साथ उसकी उपयोगिता बढती जाती है। परन्तु यह अपवाद निराधार है। यहाँ यदि एक व्यक्ति के पास एक टेलीफोन के बाद अतिरिक्त टेलीफोन की वृद्धि की जाय तो उसकी उपयोगिता निश्चित ही कम होगी है।

उपर्युक्त अपवादों के अध्ययन से स्पष्ट है कि इस नियम का कोई वास्तविक अपवाद नहीं है। इस सम्बन्ध में प्रो० टाजिग का यह विचार है कि 'इस नियम की गति ऐसी है और यह इतना विस्तृत तथा इतना कम अपवाद वाला है कि इसमें कोई विशेष गलती नहीं होगी यदि इसे एक विश्वव्यापी नियम मान लिया जाय।'[1]

बोल्डिंग ने भी इस सम्बन्ध में कहा है 'यदि इस नियम की मान्यताएँ पहले जैसी बनी रहती हैं अर्थात् यदि अन्य बातें यथावत रहें तो आधुनिक अर्थशास्त्रियों

---

1 The tendency opera es so widely and with so few exceptions that there is no significant inaccu acy in speaking of it as universal

—Taussig

के अनुसार इस नियम का कोई अपवाद नहीं रह जाता है और नियम पूर्ण रूप से सर्वव्यापी हो जाता है।

प्रो० टाजिग ने कुछ वास्तविक अपवादों (real exceptions) का उल्लेख किया है। उनके अनुसार **पहला अपवाद** यह है कि यदि किसी धनी समाज में प्रत्येक व्यक्ति के पास दो कारें हों तो एक कार रखने वाला व्यक्ति दूसरी कार ले लेने पर उस दूसरी इकाई से अधिक सतुष्टि पायेगा। परन्तु इस सम्बन्ध में भी यह कहा जा सकता है कि कार की दूसरी इकाई के पश्चात् तीसरी कार लेने पर उसे घटती हुई उपयोगिता मिलगी।

*उनका **दूसरा अपवाद** अच्छी कविता सुनने के सम्बन्ध में है। उनके अनुसार* एक अच्छी कविता को प्रत्येक बार सुनने पर पहले की अपेक्षा अधिक आनन्द आता है। परन्तु इस स्थिति में भी एक ऐसी स्थिति या एक ऐसा समय आयगा जिसके बाद *उस कविता को सुनने पर पहले जैसा आनन्द नहीं मिलेगा।*

एक तीसरा वास्तविक अपवाद अन्य व्यक्तियों के पास उपभोग वस्तु की मात्रा के बारे में भी है। प्रो० पीगू का कहना है कि **किसी वस्तु की उपयोगिता दूसरों के पास उस वस्तु की संख्या पर भी निर्भर रहती है।"**

उदाहरण के लिए छात्रावास में सभी विद्यार्थियों के पास दो दो नाइट सूट हैं और किसी एक विद्यार्थी के पास केवल एक है तो उससे नाइट सूट की उस विद्यार्थी के लिए उपयोगिता बढ़ जायगी। किन्तु यह सत्य है कि एक निश्चित सीमा *के बाद नाइट सूट (जैसे 3 या 4) होने पर सीमान्त उपयोगिता क्रमशः घटेगी।*

निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि कुछ दिखावटी तथा कुछ वास्तविक अपवादों के होते हुए भी यह नियम सार्वभौमिक तथा सर्वव्यापक है। इस नियम की शर्तें पूरी होने पर यह नियम अन्ततः अवश्य लागू होता है।

9 नियम की आलोचना (Criticism of the Law)

(1) यह एक **मनोवैज्ञानिक घटना है,** जो दैनिक अनुभव तथा व्यक्तिगत संवेदनशीलता पर आधारित है। व्यावहारिक नियम को संवेदनशीलता के आधार पर बनाने का अर्थ यह है कि नियम अस्पष्ट तथा गलत है।

(2) यह उपयोगिता को **मापनीय** मानता है। यह इस नियम की सबसे बड़ी त्रुटि है क्योंकि उपयोगिता का प्रत्यक्ष माप सम्भव नहीं है। यह कहा जाता है कि परोक्ष रूप में लिए जाने वाले मूल्य से उपयोगिता की माप सम्भव हो सकता है किन्तु यह माप विश्वसनीय नहीं समझी जा सकती।

(3) यह सिद्धान्त उपभोक्ता के **व्यक्तिगत विचारों को विशेष महत्त्व देता** है। परन्तु व्यक्ति स्वतन्त्र एवं बुद्धि से ही कार्य नहीं करता। उसकी रुचि इच्छा या भावनायें किसी न किसी रूप में अन्य बातों से प्रभावित होती रहती है। अर्थ

शास्त्र का सम्बन्ध भावनाओं से नहीं वरन् सीमित साधनों के द्वारा यथासम्भव अधिकतम सन्तुष्टि की प्राप्ति से है। अर्थशास्त्र का उद्देश्य इच्छाओं एवं भावनाओं का विश्लेषण करना नहीं है।

(4) यह नियम व्यष्टि प्रधान है। आधुनिक अर्थशास्त्र समष्टिगत विश्लेषण पर अधिक बल देता है। समष्टिगत अर्थशास्त्र में वैयक्तिक सीमान्त उपयोगिता के विश्लेषण का कोई विशेष स्थान नहीं है।

(5) यह नियम इस मान्यता पर आधारित है कि आवश्यकता विशेष की पूर्ण सन्तुष्टि सम्भव है। परन्तु उपभोग की अवधि लम्बी होने पर मानवीय आवश्यकता की पूर्ण सन्तुष्टि सम्भव नहीं हो सकती। उस अवधि में अन्य आवश्यकताओं के उत्पन्न होने पर उसके सीमित साधन और भी सीमित हो जाते हैं जिससे आवश्यकता विशेष की सन्तुष्टि भी पूर्णरूप से नहीं हो पाती।

(6) यह नियम मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता के स्थिर रहने पर सत्य उतरता है। परन्तु यह मान्यता उचित नहीं है। अन्य वस्तुओं की तरह मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता भी परिवर्तनशील है। इस आधार पर ही विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने समाजवाद तथा प्रगतिशील कर व्यवस्था (Progressive Taxation) का समर्थन किया है। धनी व्यक्तियों से इसीलिए कर अधिक लिया जाता है कि उनके लिए मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता कम होती है।

मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता को स्थिर मानकर प्रतिष्ठित (Classical) अर्थशास्त्रियों ने पूँजीवाद तथा स्वतन्त्र अर्थव्यवस्था (free economy) को मजबूत बनाने का प्रयत्न किया था। परन्तु उन लोगों ने सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम का उल्लेख नहीं किया था। यदि वे इस नियम को सत्य मानते तो वे स्वतन्त्र अर्थव्यवस्था की नींव नहीं रख पाते क्योंकि स्वतन्त्र अर्थव्यवस्था तथा सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम परस्पर विरोधी आर्थिक तथ्य हैं। यह कारण है कि आधुनिक अर्थशास्त्री मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता को स्थिर मानने के लिए तैयार नहीं हैं। इन्होंने उपभोक्ता की सापेक्षिक पसन्दगी (relative preferences) के आधार पर तटस्थता वक्र (Indifference Curve) द्वारा उपयोगिता का विश्लेषण किया है।

(7) उपयोगिता ह्रास नियम **उपभोक्ताओं के उपभोग करने की शारीरिक क्षमता को सीमित मानता है।** उसकी यह मान्यता है कि उपभोक्ता प्रारम्भिक इकाई का उपभोग करने के पश्चात् थक जाता है। फलस्वरूप उसकी उपभोग करने की क्षमता में कमी होती जाती है। तत्पश्चात् वस्तु की प्रत्येक अगली इकाइयों के उपभोग में उसकी उपभोग करने की क्षमता में कमी आती जाती है जिससे क्रमागत उपयोगिता ह्रास नियम लागू होता है। परन्तु सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम यह स्थिति कहीं पर प्रकट नहीं करता।

(8) आलोचना का एक आधार यह भी है कि इस नियम की यह मान्यता है कि **किसी वस्तु की उपयोगिता केवल उसी वस्तु की मात्रा पर निर्भर है।** व्यवहार में सामान्यतया यह सत्य भी है कि वस्तु की उपयोगिता उसकी मात्रा पर ही निर्भर करती है किन्तु उस वस्तु की उपयोगिता केवल स्वयं की मात्रा पर ही नहीं बल्कि अन्य पूरक तथा स्थानापन्न (complementary and substitute) वस्तुओं की मात्रा एवं उपलब्धता पर भी निर्भर है। अन्त किसी भी वस्तु की उपयोगिता न केवल उस वस्तु की मात्रा बल्कि अन्य पूरक तथा स्थानापन्न वस्तुओं की मात्रा का *कार्य (function) है। सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम इन* सम्बन्धित वस्तुओं के मिश्रित प्रभावों (cross effects) पर ध्यान नहीं देता।

10 सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम का महत्त्व
(Importance of the Law of Diminishing Marginal Utility)

सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम मार्शल के आर्थिक विश्लेषण का केन्द्र बिन्दु है। इसके माध्यम से उपयोगिता को आधार मानते हुए उन्होंने माँग के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इस दृष्टि से इस नियम का सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों रूपों में महत्त्व है।

(अ) सैद्धान्तिक महत्त्व वस्तुत यह नियम उपभोग के नियमों का आधार है। यह नियम उपभोक्ता की बचत की धारणा तथा माँग के नियम का भी आधार है। यह नियम वस्तु के उपयोग मूल्य तथा विनिमय मूल्य के भेद की व्याख्या करता है। इस नियम का सैद्धान्तिक महत्त्व इस प्रकार है

(1) यह नियम माँग के नियम (Law of Demand) **का आधार है** यह नियम इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि उपभोक्ता द्वारा किसी वस्तु की अधिक इकाइयों का प्रयोग करने पर उसकी उपयोगिता के क्रमश घटने के कारण उसकी माँग कम हो जाती है। इस आधार पर ही यह नियम माँग के नियम की व्याख्या करता है तथा इस तथ्य पर प्रकाश डालता है कि **माँग वक्र नीचे की ओर दायीं तरफ क्यों झुकता है?** इस कथन को निम्न चित्र से भी स्पष्ट किया जा सकता है

वस्तु की अधिक मात्रा में प्रयोग——→कम सीमान्त उपयोगिता प्राप्ति
——→कम कीमत

←——————————————————→

वस्तु की कम मात्रा में प्रयोग——→अधिक सीमान्त उपयोगिता प्राप्ति
——→अधिक कीमत

उपभोक्ता की **सन्तुलन की अवस्था** *(consumer s equilibrium)* तथा उपभोक्ता की **बचत** (consumer s surplus) की व्याख्या में भी इस नियम से

सहायता मिलती है। इस दृष्टि से यह नियम मूल्य सिद्धान्त के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

(2) वस्तुओं के उपयोगिता तथा विनिमय सम्बन्धी मूल्यों (Value in use and Value in exchange) में अन्तर को स्पष्ट करने में सहायक है यह नियम उपयोगिता सम्बन्धी मूल्य और विनिमय सम्बन्धी मूल्यों (Value in use and Value in exchange) की व्याख्या करने तथा उनमें अन्तर स्पष्ट करने में सहायक है। उपभोग्य वस्तुओं, जैसे हवा, सूर्य का प्रकाश आदि का विनिमय मूल्य इतना कम क्यों है? इसे यह नियम स्पष्ट करता है क्योंकि जो वस्तुएँ अधिक मात्रा में उपलब्ध होती हैं उनकी सीमान्त उपयोगिता बहुत कम होती है और फलस्वरूप विनिमय मूल्य नाम मात्र का होता है। ठीक इसके विपरीत सीमित वस्तुएं आर्थिक वस्तुओं की श्रेणी में आती हैं, जिनकी सीमान्त उपयोगिता अपेक्षाकृत अधिक होने के कारण विनिमय मूल्य अधिक होता है।

(3) यह नियम सम सीमान्त उपयोगिता नियम (Law of Equi marginal Utility) का आधार है सम-सीमान्त उपयोगिता नियम के अनुसार एक उपभोक्ता अपनी आय से तभी अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त कर सकता है जब विभिन्न वस्तुओं पर किये गये व्यय की सीमान्त इकाइयों से प्राप्त उपयोगिता लगभग समान न हो जाय। इस लक्ष्य की पूर्ति हेतु उपभोक्ता सबसे प्रथम उस वस्तु पर अपनी सीमित आय व्यय करता है जो कि उसके लिए सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। किन्तु अधिकतम सन्तुष्टि हेतु वह एक ही वस्तु की अनेक इकाइयां नहीं खरीदता क्योंकि सीमान्त उपयोगिता में क्रमश: ह्रास होने के कारण वह अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त नहीं कर सकेगा। इसलिए वह विभिन्न वस्तुओं पर इस प्रकार व्यय करेगा कि प्रत्येक वस्तु की इकाइयों से सीमान्त उपयोगिता प्राप्त हो जाय। इस प्रकार यह नियम सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम पर आधारित है।

(4) समाजवादी व्यवस्था की सैद्धान्तिक व्याख्या का आधार है इस नियम के अनुसार अधिक आय वाले व्यक्तियों के लिए मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता निर्धन एवं कम आय वाले व्यक्तियों की अपेक्षा कम होती है। अत यदि अधिक आय वाले व्यक्तियों का एक अंश उनसे लेकर निर्धन व्यक्तियों को हस्तान्तरित कर दिया जावे तो धनी व्यक्तियों को वस्तुओं से प्राप्त उपयोगिता में जो कमी होगी वह निर्धन व्यक्तियों को प्राप्त उपयोगिता की अपेक्षा बहुत कम होगी। इसलिए धन एवं आय के इस पुनर्वितरण से समाज को अधिक सन्तुष्टि प्राप्त होती है।

(ब) नियम का व्यावहारिक महत्त्व यह नियम उपभोग तथा उत्पादन में वस्तुओं का विभिन्नता तथा उनके मूल्य निर्धारण में सहायक तथा आधुनिक कर प्रणाली का आधार है

(1) आधुनिक कर प्रणाली का आधार व्यक्तियों की आय में वृद्धि अर्थात् उनके धनी होने पर उनके लिए मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता गरीबों की

तुलना में घटती जाती है अर्थात् धनी व्यक्तियों के लिए मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता कम और गरीब व्यक्तियों के लिए अधिक होती है। इसका विश्लेषण इस नियम के आधार पर किया जा सकता है। इस तथ्य को ध्यान में रखकर सरकार प्रगतिशील कर प्रणाली अपनाती है तथा धनिकों पर अधिक कर तथा गरीबों पर कम कर लगाती है।

(2) यह नियम उपभोग तथा उत्पादन की जटिलता के कारणों पर प्रकाश डालने में सहायक है किसी वस्तु की पूर्ति अधिक होने तथा उपभोक्ताओं को उसकी अधिक मात्रा उपलब्ध होने पर उनके लिए उस वस्तु की उपयोगिता घटने लगती है जिस कारण वे उसके कम से कम मूल्य देने को तैयार होते हैं। उत्पादक इस स्थिति को ध्यान में रखकर उत्पादन-साधनों को उस वस्तु के उत्पादन में लगाता है जिसकी उपयोगिता अधिक होती है। इस प्रकार वस्तुओं की मात्रा तथा उसकी किस्मों का निर्धारण करने में यह नियम सहायक होता है। टॉजिग के अनुसार "यह नियम उत्पादित वस्तुओं में बढ़ती हुई विभिन्नता और उत्पादन एवं उपभोग के जटिल होने की व्याख्या करता है।"[1]

(3) मूल्य निर्धारण में महत्त्व यह नियम मूल्य निर्धारण में भी मार्ग दर्शन देता है। किसी वस्तु की पूर्ति अधिक होने पर उसकी सीमान्त उपयोगिता गिरती चली जाती है। अतः उसका विनिमय मूल्य भी गिरता जाता है। अतः यह नियम मूल्य सिद्धान्त का आधार है।

चूँकि यह नियम एक मनोवैज्ञानिक सत्य है इसलिए इसका क्षेत्र काफी व्यापक है। करनक्रास ने इसी तथ्य को बड़े ही रुचिपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करते हुए कहा है "यह केवल रोटी एवं मक्खन रेल यात्रा व्यक्ति के हैट आदि वस्तुओं पर ही लागू नहीं होता बल्कि अर्थशास्त्रियों के व्याख्यानों, राजनीतिज्ञों के भाषणों तथा जासूसी कहानियों के अनेक संदिग्ध व्यक्तियों के सम्बन्ध में भी समान रूप से सही उतरता है।"[2]

अतः यह स्पष्ट है कि इस नियम का व्यावहारिक महत्त्व अधिक है।

---

1 It is this fact of Diminishing Marginal Utility that explain the growing variety in the articles produced and the growing complexity of production and consumption

—*Taussig*

2 *It can be applied not only to thing like butter and bread railway journeys mans hats and so on but also to the lectures of economists the speeches of politicians and even the number of suspects in detective stories*

—*Cairncross*

सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम की आधुनिक व्याख्या
(New Analysis of the Law of Diminishing Marginal Utility)
अथवा
सीमान्त प्रतिस्थापकता ह्रास नियम
(Law of Diminishing Marginal Substitution)

सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम की आलोचनाओं यथा उपयोगिता अमापनीय होती है, मुद्रा मूल्य स्थिर नहीं रहता तथा उपभोक्ता एक निश्चित समय में एक ही वस्तु के उपभोग पर ध्यान न देकर अन्य वस्तुओं का भी उपभोग कर रहा होता है के कारण अनेक आधुनिक अर्थशास्त्रियों जैसे प्रो० हिक्स एलन आदि ने सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम की नवीन व्याख्या प्रस्तुत की है जिसे सीमान्त प्रतिस्थापकता ह्रास नियम के नाम से जाना जाता है।

साधनों की सीमितता के कारण उपभोक्ता के सामने वस्तुओं के चुनाव की समस्या बनी रहती है। ऐसी स्थिति में उपभोक्ता तुलनात्मक महत्त्व की दृष्टि से एक वस्तु के स्थान पर दूसरी वस्तु को प्रतिस्थापित करता जाता है।

इस प्रकार उपभोक्ता 'उपयोगिता' के स्थान पर प्राथमिकता क्रम को ध्यान में रखता है। प्रतिस्थापन करने से उपभोक्ता की स्थिति में कोई भी परिवर्तन नहीं होता है।

उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण हम यह मान लेते हैं कि उपभोक्ता दो वस्तुओं अ और ब का उपभोग कर रहा होता है। ज्यों ज्यों उपभोक्ता किसी एक वस्तु की मात्रा में वृद्धि करता जाता है त्यों त्यों उसके महत्त्व में क्रमश कमी होती जाती है और जिस वस्तु को वह बदले में देता है, उस छोड़ी जाने वाली वस्तु की इकाइयाँ कम होने के कारण उसके महत्त्व में क्रमश वृद्धि होती चली जाती है।

इस प्रकार सीमान्त प्रतिस्थापन दर भी घटती जाती है।

उदाहरणार्थ उपभोक्ता के लिए अ वस्तु का महत्त्व अधिक है तो वह 'ब' वस्तु को त्याग कर अ वस्तु लेगा किन्तु जैसे जैसे अ वस्तु की अधिक इकाइयाँ ग्रहण करता जायेगा त्यों त्यों उनका महत्त्व घटता जायगा लेकिन बदले में त्याग की जाने वाली 'ब' वस्तु का महत्त्व बढ़ता जाता है। अत प्रारम्भ में अ वस्तु को प्राप्त करने के लिए ब की जितनी इकाइयाँ दी जाती हैं उनमें क्रमश कमी की प्रवृत्ति होगी। अतः इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि जैसे-जैसे कोई व्यक्ति किसी वस्तु की उत्तरोत्तर अधिक इकाइयाँ प्राप्त करता जाता है, वैसे-वैसे अन्य वस्तुओं के लिए उस वस्तु की प्रतिस्थापन दर घटती जाती है। उपभोक्ता की इसी प्रवृत्ति को सीमान्त प्रतिस्थापकता ह्रास नियम कहते हैं।

अ' तथा ब' वस्तुओ के प्राथमिकता क्रम को निम्न सारिणी द्वारा स्पष्ट कर सकते है

प्राथमिकता क्रम सारणी

सयोग क्रम	उचित सयोग का अनुपात		अ वस्तु के लिए ब वस्तु की प्रतिस्थापन दर
	अ वस्तु की सख्या	ब वस्तु की सख्या	
प्रथम	1	20	
द्वितीय	2	15	5 ब = 1 'अ' 5 1
तृतीय	3	11	4 ब = 1 अ 4 1
चतुथ	4	8	3 ब = 1 अ 3 1
पचम	5	6	2 ब = 1 अ 2 1
षष्टम	6	5	1 ब = 1 अ 1 1

इस प्रकार उपयुक्त सारणी से विदित होता है कि प्रारम्भ म उपभोक्ता को अ वस्तु की एक इकाई प्राप्त करने हेतु ब वस्तु की 5 इकाइयो का त्याग करना पडता है किन्तु धीरे धीरे यह प्रतिस्थापन दर घटती जाती है। अन्त म जाकर अ वस्तु की 1 इकाई प्राप्त करने के लिए ब वस्तु की एक ही इकाई का त्याग करना चाहता है। अन्य शब्दो म उपभोक्ता के लिए अन्त म दोनो वस्तुओ का महत्त्व एक समान है। वह इस सयोग म प्राप्त उपयोगिता को प्रभावित करना नही चाहता है। अत वह अ वस्तु को प्राप्त करने हेतु ब वस्तु को प्राप्त करने के लिए ब वस्तु की न्यूनतम मात्रा का ही त्याग करना चाहता है। इस प्रकार किसी उपभोक्ता की सीमान्त दर वह दर है जिस पर उपभोक्ता अपनी कुल सतुष्टि म किसी भी प्रकार का परिवतन लाये बिना किसी एक वस्तु की छोटी मात्रा को किसी दूसरी वस्तु की छोटी मात्रा के बदले विनिमय कर सकता है।

इस विचार को आगे दिए गए रेखाचित्र द्वारा भी स्पष्ट किया जा सकता है।

रेखा चित्र द्वारा स्पष्टीकरण
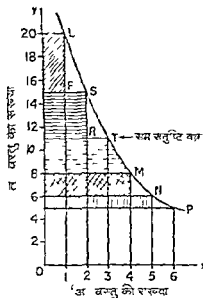
चित्र म०

उपर्युक्त रेखाचित्र म OX अक्ष पर 'अ' वस्तुओं की संख्या तथा OY अक्ष पर 'ब' वस्तुओं की संख्या प्रदर्शित की गई है। LP रेखा विभिन्न प्राथमिकता क्रम का बतलाने वाला सम-सन्तुष्टि वक्र है। जब उपभोक्ता L बिन्दु स एक 'अ' वस्तु का लाभ और लेने के लिए S बिन्दु पर आता है तो SF 'ब' वस्तु की मात्रा का त्याग करना पड़ता है। किन्तु यदि वह 'अ' वस्तु की एक अतिरिक्त इकाई लेता है तो वह तटस्थता वक्र के T बिन्दु पर आ जाता है और TR 'ब' वस्तु का त्याग करना पड़ता है जो अपेक्षाकृत कम है। इस प्रकार यह क्रम चलता रहता है। आयतों का क्रमश घटता आकार घटती प्रतिस्थापन दर का द्योतक है।

क्या ह्रासमान सीमान्त प्रतिस्थापन नियम क्रमागत ह्रास नियम पर एक सुधार है?

कुछ अर्थशास्त्रियों ने सीमान्त प्रतिस्थापन ह्रास नियम को सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम पर भी एक सुधार बतलाया है जो निम्न तर्कों द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है

1 यह नियम अधिक व्यावहारिक है तथा अवास्तविक मान्यताओं से परे है।

2 इस नियम में एक विशेषता यह है कि मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता को स्थिर मानने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती है।

3 यह नियम उपयोगिता विश्लेषण की इस त्रुटि का भी समाधान कर देता है कि उपभोक्ता एक समय में एक ही वस्तु का उपभोग नहीं करता बल्कि अनेक वस्तुओं का उपभोग एक साथ करता है।

4 यह नियम विभिन्न वस्तुओं के तुलनात्मक महत्त्व पर ध्यान देता है।

5 यह नियम दो वस्तुओं के तुलनात्मक महत्त्व के आधार पर उनके प्रतिस्थापन की दर निर्धारित करने में सहायक होता है।

इस प्रकार उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि आधुनिक अर्थशास्त्रियों द्वारा दिया गया ह्रासमान सीमान्त प्रतिस्थापन नियम क्रमागत उपयोगिता ह्रासमान नियम पर अवश्य ही एक सुधार है।

प्रश्न तथा सकेत

1 उपयोगिता ह्रास नियम की व्याख्या कीजिए। इसके कौन से अपवाद हैं?
Explain the Law of Diminishing Marginal Utility What are the exceptions of this Law ?

[सकेत—सर्वप्रथम उपयोगिता ह्रास नियम की परिभाषा तथा उससे सम्बन्धित मान्यताओं का कथन दीजिए। इसके बाद उसके लागू होने की दशाएं व कारण बताइए। रेखाचित्र द्वारा नियम को स्पष्ट कीजिए। दूसरे भाग में इसके अपवादों की विवेचना कीजिए। अन्त में निष्कर्ष दीजिए।]

2 जब कोई उपभोक्ता अन्य वस्तुओं के उपभोग को स्थिर रखते हुए किसी एक वस्तु के उपभोग को बढ़ाता है तो परिवर्तनशील वस्तु की सीमान्त उपयोगिता अन्त में अवश्य घटती है। (बोल्डिंग) विवेचना कीजिए।

As a consumer increases the consumption of any one commodity keeping constant consumption of all other commodities the marginal utility of the variable commodity must eventually decline —*(Boulding)* Comment

[सकेत—सर्वप्रथम उपयोगिता ह्रास नियम सम्बन्धी कथन स्पष्ट कीजिए। इसके लागू होने के कारणों को स्पष्ट करते हुए रेखाचित्र द्वारा इस नियम को समझाइए। दूसरे भाग में इस नियम की मान्यताएं संक्षेप में दीजिए। अन्त में यह निष्कर्ष दीजिए कि इसकी मान्यताएं निराधार हैं।]

3 उपयोगिता ह्रास नियम की व्याख्या कीजिए और यह बताइए कि किस प्रकार इससे माँग का नियम निकाला जाता है?

State the Law of Diminishing Utility and explain how it leads to the law of demand

[सकेत—सर्वप्रथम उपयोगिता ह्रास नियम के उपर्युक्त अन्य प्रश्नों के उत्तर के सम्बन्ध में दिए गए सकेतों के आधार पर विवेचना कीजिए। इसके बाद यह

स्पष्ट कीजिए कि किसी व्यक्ति के लिए एक वस्तु की माग उसकी घटती हुई उपयोगिता पर आधारित है। (देखिए इस नियम का महत्त्व)

4 किसी वस्तु की जितनी अधिक मात्रा हमारे पास होगी उतनी ही उस वस्तु की अतिरिक्त मात्रा के लिए हमारी आवश्यकता कम होगी। इस कथन का रेखाचित्र द्वारा स्पष्ट कीजिए। क्या यह हमेशा सत्य होता है ?

The more of a thing we have the less we want it Explain this statement with the help of a diagram Is this always true ?

[संकेत—सर्वप्रथम उपयोगिता ह्रास नियम की आलोचनात्मक व्याख्या इसके पश्चात् इसके नियम के प्रमुख अपवाद बताइए।]

5 सीमान्त उपयोगिता घटने की प्रवृत्ति इतनी विस्तृत है और इसके इतने कम अपवाद है कि यदि यह कहा जाय यह प्रवृत्ति सर्वव्यापी है तो कुछ विशेष त्रुटि न होगी। —(टाजिग) इस कथन की विवेचना कीजिए।

The tendency of diminishing marginal utility shows itself so widely and with so few exceptions that there is no significant inaccuracy in speaking of it as universal —*(Taussig)* Discuss

[संकेत—उपयोगिता ह्रास नियम का कथन दीजिए। संक्षेप में लागू होने के कारण लिखिए। उदाहरण चित्र तथा मान्यतायें दीजिए। अन्त में, निर्णय दीजिए कि इस नियम के कोई वास्तविक अपवाद नहीं है।]

12

सम-सीमान्त उपयोगिता नियम
(Law of Equi-Marginal Utility)

Utility will be maximised when the marginal unit of expenditure in each direction brings in the same increment of utility

—J R Hicks

अथशास्त्र म प्रतिस्थापन का नियम (Law of Substitution) व्यापक महत्त्व रखता ह। यह नियम अथशास्त्र के विभिन्न विभागा क सन्दभ म अनेक नामा म जाना जाता है। उपभोग म इस नियम को प्राय सम सीमान्त उपयोगिता नियम कहा जाता है। इस नियम क अनुसार उपभोग करने स अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त होने क कारण इस अधिकतम सतुष्टि का नियम (Law of Maximum Satisfaction) कहते है। चूकि यह नियम उपभोग करने का ढग बतलाता है इसलिए इसे उपभोग का नियम (Law of Consumption) भी कहते ह। व्यय के सन्दभ म इस नियम का नाम मितव्ययिता का नियम (Law of Economy) और आय क बँटवार के सन्दभ म प्रो० लेफ्टविच क अनुसार आय आवटन नियम (Law of Income Allocation) है। कम उपयोग वाली वस्तु के स्थान पर अधिक उपयोगिता वाली वस्तु को प्रतिस्थापित करन के कारण इसे प्रतिस्थापन नियम (Law of Substitution) की भी सज्ञा दी गइ है। विभिन्न प्रयोगा म समान उपयोगिता मिलन क कारण उपभोक्ता के किसी भी वस्तु के उपयोग क प्रति तटस्थ हो जाने क कारण इस तटस्थता का नियम (Law of Indifference) कहा गया है। आधुनिक अथशा क अनुसार इस नियम को *आनुपातिकता का नियम (Law of Proportionality)* भी कहते हैं।

वास्तव म सम सीमान्त उपयोगिता नियम अथवा प्रतिस्थापन का नियम हमारे व्यावहारिक जीवन क अनुभवा पर आधारित है। हम यह जानते है कि हमारी

आवश्यकताएँ अनेक एवं साधन सीमित हैं। इन सीमित साधनों से हम अधिक से अधिक आवश्यकताओं को पूरा करके अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करना चाहते हैं। अत उपभोग करते समय हम आवश्यकताओं को उनकी तीव्रता के क्रम में पूरा करना चाहते हैं। सबसे अधिक तीव्र आवश्यकता को पूरा करने वाली वस्तु की इकाइयों को सबसे पहले प्राप्त करते है। इस वस्तु की इकाइयों की संख्या बढ़ने के कारण उनसे मिलने वाली उपयोगिता कम होती जाती है (सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम के कारण)। दूसरे शब्दों में सम्बन्धित आवश्यकता की तीव्रता कम हो जाती है। अत साधन की अगली इकाई का प्रयोग दूसरी आवश्यकता को पूरा करने वाली वस्तु की इकाई प्राप्त करने के लिए किया जाता है अर्थात् पहली वस्तु की इकाई का स्थान दूसरी वस्तु की इकाई ले लेती है। अन्य शब्दों में पहली के स्थान पर दूसरी वस्तु प्रतिस्थापित की जाती है। प्रतिस्थापन की यह प्रक्रिया उस समय तक जारी रहती है जब तक कि दोनों (अथवा सभी) प्रकार की वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिताएँ बराबर न हो जाती है। इस प्रकार आचरण करने पर उपभोक्ता को अधिकतम सन्तुष्टि मिलती है। उत्पादन विनिमय तथा वितरण में इस प्रतिस्थापन का नियम कहा जाना ही युक्ति संगत है क्योंकि इनमें अधिकतम लाभ के लिए कम उपयोगी साधन वस्तु अथवा व्यय को प्रतिस्थापित किया जाता है।

उपरोक्त सामान्य अनुभव को नियम के रूप में निरूपित करने का श्रेय जर्मन अर्थशास्त्री श्री गोसेन (H H Gossen) को है। इसलिए इस नियम को 'गोसेन का दूसरा नियम' (Second Law of Gossen) भी कहा जाता है। श्री गोसेन ने इस नियम का प्रतिपादन सन् 1858 में किया था। गोसेन के अनुसार 'यदि सभी आवश्यकताओं को पूर्ण सन्तुष्टि के बिन्दु तक तृप्त करना सम्भव नहीं है तो अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि विभिन्न आवश्यकताओं की सन्तुष्टि उस बिन्दु पर रोक दी जाय जिस बिन्दु पर उनकी तीव्रता समान हो जाय।'[1]

नियम की परिभाषा (Definition of the Law)

प्रत्येक व्यक्ति अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करना चाहता है। परन्तु धन तथा समय सीमित होने के कारण अधिकतम सन्तुष्टि पाने के लिए उसे विभिन्न सन्तुष्टियों का इस प्रकार चुनाव करना होता है कि उपभोग बन्द करते समय उसे प्रत्येक चुनाव

---

1 "If it is not possible to gratify all points to the point of satiety it is necessary, in order to obtain maximum satisfaction to discontinue the satisfaction of different wants at the point at which their intensity has become equal"

—*Gossen*

से समान सन्तुष्टि प्राप्त हो सके। मार्शल ने इस नियम को इस प्रकार स्पष्ट किया है यदि एक व्यक्ति के पास एक ऐसी वस्तु है, जिसको कई प्रकार से उपयोग में लाया जा सकता है तो वह उसे (वस्तु को) विभिन्न उपयोगों में इस प्रकार बाटेगा जिससे प्रत्येक उपभोग से समान सीमान्त उपयोगिता प्राप्त हो सके।[1] प्रो० मेहता ने इस नियम की परिभाषा में निश्चित काल पर विशेष जोर दिया है। उनके अनुसार यदि एक निश्चित काल मे कोई वस्तु कई आवश्यकताओं को पूरा कर सकती है तो उसकी एक निश्चित मात्रा से अधिकतम सन्तोष प्राप्त करने के लिए, उसे कई अलग अलग आवश्यकताओं के बीच इस प्रकार बाटना चाहिए कि उस निश्चित काल मे सभी दशाओं मे उसकी सीमान्त उपयोगिता लगभग समान हो।"[2]

नियम की कुछ अन्य परिभाषाए

प्रो० स्टानियर एव हेग ने सम-सीमान्त उपयोगिता नियम की परिभाषित करते हुए कहा है यदि उपभोक्ता अधिक से अधिक सन्तुष्टि चाहते हैं तो उन्हें प्रत्येक वस्तु का द्रव्य में सीमान्त महत्त्व इसकी कीमत के बराबर करना होगा।

आनुपातिक सीमान्त उपयोगिता नियम के रूप में प्रो० सेम्युएलसन (Samuelson) के अनुसार यदि उपभोक्ता ने अपने उपभोग को इस प्रकार व्यवस्थित कर रखा है कि प्रत्येक वस्तु की सीमान्त उपयोगिता उसके मूल्य के ठीक अनुपात मे मिल रही होती है तब उसे आश्वस्त होना चाहिए कि सन्तुलन की इस स्थिति को छोडने से उसे लाभ न मिल सकेगा। इस प्रकार उपभोक्ता उसी समय अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त कर सकता है जब तक खरीदी गई वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिता उनकी कीमत के अनुपात में हो। इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि उपभोक्ता अधिकतम सन्तुष्टि उसी समय प्राप्त कर सकता है जबकि वह प्रतिस्थापन द्वारा अलग अलग वस्तुओं से समान सीमान्त उपयोगिता प्राप्त करे।

नियम का विश्लेषण (Analysis of the Law)

उपयोगिता ह्रास नियम यह बतलाता है कि यदि उपभोक्ता किसी वस्तु की मात्रा लगातार बढ़ाता जाता है तो प्रत्येक अगली इकाई से प्राप्त उपयोगिता क्रमश

---

1 "If a person has a th ng wh ch he can put to several uses he w ll distribute it among the e uses in such a way that it has the s me marginal utility in all"

—*Marshall*

2 If a commodity can satisfy many wants within a given per od of time then in order to get g ea est satisfaction from a given quanti y of it its amount should be so distributed be ween various wants as to make its marginal utility with reference to a given period of time as nearly equal in all cases as possible

—*J K Mehta*

घटती जाती है। अतः यदि वह उस वस्तु की अधिक मात्रा न खरीद कर उसके स्थान पर कोई अन्य वस्तु खरीद ले तो उसे सम्भवतः अधिक उपयोगिता प्राप्त होगी इस प्रकार वह कम उपयोगिता प्रदान करने वाली वस्तु के स्थान पर अधिक उपयोगिता प्रदान करने वाली वस्तु खरीदता है अर्थात् वह एक वस्तु का प्रतिस्थापन (Substitution) दूसरी वस्तु से करता है। विभिन्न वस्तुओं की क्रमागत इकाइयों से प्राप्त उपयोगिता को ध्यान में रखकर वह अधिकतम उपयोगिता प्रदान करने वाली वस्तुओं को खरीदता है। यदि इस विधि द्वारा उसकी कुल मुद्रा वस्तुओं के खरीदने में व्यय कर दी जाती है तो उपभोक्ता को प्रत्येक वस्तु पर व्यय की गई मुद्रा की अन्तिम इकाई से प्राप्त वस्तु की इकाई से समान सीमान्त उपयोगिता प्राप्त होती है। इस प्रकार व्यय के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि सम-सीमान्त उपयोगिता नियम यह बतलाता है कि निश्चित आय में से विभिन्न वस्तुओं पर किए गए समस्त व्यय सीमान्त पर विभिन्न वस्तुओं की सीमान्त इकाई से समान उपयोगिता प्रदान करते हैं।

उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण एक उदाहरण द्वारा इस नियम को और स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए, किसी व्यक्ति के पास कुल दस रुपये हैं। वह नारंगी सेब तथा मिठाई पर अपने रुपये व्यय करना चाहता है। उसे नारंगी, सेब तथा मिठाई की प्रत्येक इकाई का मूल्य एक रुपया के रूप में देना पड़ता है। अब हम यह देखते हैं कि वह व्यक्ति अपने दस रुपये को इन तीनों वस्तुओं पर किस प्रकार से व्यय करेगा ताकि उसे अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त हो सके। मुद्रा की विभिन्न इकाइयों को इन तीनों वस्तुओं की खरीद पर व्यय करने से मान लीजिए उसे निम्नलिखित उपयोगिताएँ प्राप्त हो सकती हैं

<u>नारंगी सेब तथा मिठाई से प्राप्त होने वाली उपयोगिता</u>

मुद्रा की इकाइयाँ	सीमान्त उपयोगिता		
	नारंगी	सेब	मिठाई
1	17 (1)	13 (2)	11 (4)
2	12 (3)	10 (5)	8 (7)
3	9 (6)	7 (9) [30]	7 (10) [26]
4	7 (8) [45]	6	5
5	5	4	3

उपयुक्त सारणी से स्पष्ट है कि यदि वह पहला रुपया नारंगी या सेब या मिठाई पर व्यय करता उसे नारंगी सेब तथा मिठाई से क्रमश 17 13 या 11 उपयोगिता प्राप्त होगी। अतः वह पहला रुपया नारंगी पर व्यय करेगा क्योंकि नारंगी से उसे अन्य वस्तुओं की अपेक्षा अधिक उपयोगिता प्राप्त होता है। विभिन्न वस्तुओं की उपयोगिता का ध्यान में रखते हुए वह पहला रुपया नारंगी पर दूसरा रुपया सेब पर तीसरा नारंगी पर चौथा मिठाई पर पाँचवा सेब पर छठा नारंगी पर सातवाँ मिठाई पर तथा अन्तिम तीन रुपये में से एक रुपया नारंगी पर एक रुपया सेब पर तथा एक रुपया मिठाई पर व्यय करेगा। उपयोगिता की दृष्टि से इस प्रकार वह चार रुपय के नारंगी तीन रुपय के सेब तथा तीन रुपय की मिठाई खरीदेगा तभी उसे अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त होगी। सारणी से स्पष्ट है कि अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि नाना वस्तुओं पर व्यय की गयी सीमान्त इकाई से प्राप्त उपयोगिताएँ समान हो। नारंगी सेब तथा मिठाई पर वह क्रमश 4 3 व 3 रुपए व्यय करता है। इन नाना वस्तुओं पर व्यय किए गए रुपयों की सीमान्त इकाइयों से प्राप्त (चौथे तीसरे व तीसरे रुपया से) प्रत्येक वस्तु से उसे समान उपयोगिताएँ प्राप्त हो रही हैं (प्रत्येक दशा में 7)।

उपयुक्त विधि से व्यय करने पर ही उपभोक्ता को अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त होगा। इन तीनों वस्तुओं की खरीदी हुई कुल इकाइयों से उपभोक्ता को 45 + 30 + 26 = 101 कुल उपयोगिता प्राप्त हो रही है। जैसा कि सारणी में आयत के अन्दर अंकों द्वारा प्रदर्शित किया गया है। मान लीजिए नारंगी पर एक रुपया और अधिक (कुल पाँच रुपए) व्यय करना चाहता है। इसका अर्थ यह होगा कि वह सेब पर एक रुपया कम (कुल दो रुपए) व्यय करेगा। ऐसी स्थिति में उसे कुल उपयोगिता 108 से कम प्राप्त होगा। (नारंगी पर पाँच रुपया व्यय करने से 50 + सेब पर दो रुपया व्यय करने से 23 + मिठाई पर तीन रुपए व्यय करने से 26 = 99 कुल उपयोगिता प्राप्त होगी विद्यार्थी अन्य संयोगों (Combinations) द्वारा भी परीक्षण कर देख सकते हैं कि उपभोक्ता को प्रत्येक अन्य दशा में कुल उपयोगिता 101 से कम प्राप्त होगा जैसे उपभोक्ता यदि चार नारंगी चार सेब तथा दो मिठाइयाँ खरीदता है तो उसे कुल उपयोगिता नारंगी से 45 + सेब से 36 + मिठाई से 19 = 100 प्राप्त होगा। इस प्रकार अधिकतम सन्तुष्टि उसी अवस्था में प्राप्त होगा जबकि खरीदी गई प्रत्येक वस्तु की सीमान्त उपयोगिता समान हो।

रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण (Diagrammatic Representation)

(1) साथ दिए गए चित्र में आधार रेखाओं OX पर नारंगी सेब तथा मिठाई पर व्यय की गयी रुपयों की इकाइयाँ तथा खड़ी रेखाओं OY पर उन वस्तुओं की उपयोगिताएँ दिखायी गयी हैं। आधार रेखाओं पर बने आयत

(R-ctangles) रुपये की प्रत्येक इकाई के व्यय से प्राप्त इन वस्तुओं की उपयोगिताओं को व्यक्त करते हैं। गहरे रंग के आयत तीनों वस्तुओं की समान सीमान्त
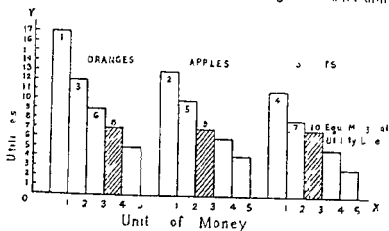
चित्र सं० 5

उपयोगिता को प्रदर्शित करते हैं। इन आयतों के ऊपरी भाग को छूता हुआ सीधी गयी रेखा **सम सीमान्त उपयोगिता की रेखा है** जो आधार रेखा के समानान्तर होती है।

इस रेखा पर सभी वस्तुओं की उपयोगिता बराबर होती है। अतएव यही **अधिकतम सन्तुष्टि का बिन्दु है।**

(ii) उपयुक्त उदाहरण का चित्र सं० 6 द्वारा भी स्पष्ट किया गया है। दिए गए चित्र में OX अक्ष पर वस्तुओं की मात्रा तथा OY अक्ष पर सीमान्त उपयोगिताएँ प्रदर्शित की गई हैं। सुविधा की दृष्टि से हम मान लेते हैं कि उपभोक्ता केवल दो वस्तुएँ—नारंगी तथा सेब—खरीद रहा है। उपभोक्ता के पास OM+OM मुद्रा है। A तथा B वक्र क्रमश नारंगी तथा सेब को प्रकट कर रहे हैं जो यह बताते हैं कि ज्यों-ज्यों नारंगी तथा सेब की अधिक मात्राएँ खरीदी जाती हैं उनकी उपयोगिताएँ क्रमागत उपयोगिता ह्रास नियम के अनुसार घट रही है। यदि OM मुद्रा नारंगी तथा OM' मुद्रा सेब को खरीदने में व्यय की जाती है तो नारंगी तथा सेब से प्राप्त सीमान्त उपयोगिताएँ बराबर हैं (MP=M P)। नारंगी तथा सेब की कुल उपयोगिताएँ क्रमश OMPA तथा OM P B हैं। सम-सीमान्त उपयोगिता नियम के अनुसार ये उपयोगिताएँ अधिकतम होनी चाहिए। यदि मुद्रा किसी अन्य विधि से खर्च की जाती है तो कुल उपयोगिताएँ कम होनी चाहिए। जब मान लीजिए कि उपभोक्ता नारंगी पर Mm मुद्रा अधिक खर्च करता है तो नारंगी की सीमान्त उपयोगिता MP से घटकर mP हो जाती है। मुद्रा एक निश्चित मात्रा में

है अत नारगी पर जितना अधिक व्यय किया जाएगा सेव पर उतनी ही मात्रा म कम व्यय किया जाएगा। मान लीजिए उपभोक्ता सब पर M m मुद्रा कम व्यय करता है (या a के बराबर कम व्यय करता है चित्र म M m की दूरी = a है) जो Mm के बराबर है (चित्र म Mm = M m प्रदर्शित किया गया है)। सब पर M m कम व्यय करने म सब की सीमान्त उपयोगिता M P स बढकर m P
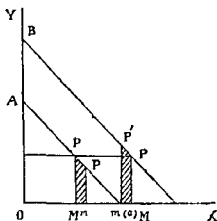
चित्र स० 6

हो जाती है। चित्र स स्पष्ट है कि इस नई स्थिति म नारगी तथा सब की सीमान्त उपयोगिताए समान नही हैं। (सब की सीमान्त उपयोगिता नारगी स अधिक है दोनो की सीमान्त उपयोगिताए समान न होन का परिणाम यह हुआ है कि अब मुद्रा के इस नए वितरण स कुल उपयोगिताएँ कम हो गई हैं।)

कुल उपयोगिताओं म घटन का प्रमाण यह है कि मुद्रा की Mm मात्रा नारगी पर अधिक व्यय की जाती है तो नारगी की कुल उपयोगिता म MmPP के बराबर वृद्धि होती है तथा सब पर M m मुद्रा कम व्यय करने म सब की कुल उपयोगिता म M PP m के बराबर कमी होती है। अत नारगी पर अधिक व्यय करन स कुल उपयोगिता जिस मात्रा से बढ़ती है सब पर कम व्यय करन म उसस अधिक मात्रा म कुल उपयोगिता कम हो जाती है (चित्र स स्पष्ट है कि MPP m का क्षेत्रफल MmPP म अधिक है)। अत उपभोक्ता व्यय म जिस प्रकार स भी परिवतन कर उस कुल उपयोगिता पहल की अपेक्षा कम प्राप्त होगी। उस अधिकतम सन्तुष्टि उसी समय प्राप्त होगी जबकि वह मुद्रा इस प्रकार स व्यय करे कि नारगी तथा सब दोनो स समान सीमान्त उपयोगिता प्राप्त हो सके।

इसी आधार पर अर्थशास्त्र का प्रधान नियम सम-सीमान्त उपयोगिता का नियम तयार किया गया है जो इस प्रकार है

होगी तो इस प्रकार मालूम की गयी भारयुक्त सीमान्त उपयोगिताएँ जहाँ पर बराबर होंगी वहाँ उपभोक्ता को अधिकतम सन्तोष प्राप्त होगा। प्रो० पी० सी० जन के अनुसार अधिकतम सन्तोष प्राप्त करने के लिए "एक उपभोक्ता विभिन्न वस्तुओं पर अपना धन इस प्रकार खर्च करेगा कि उन वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिताएँ उनके मूल्यों के अनुपात में हों।[1] इस आधार पर अधिकतम सन्तुष्टि के लिए विभिन्न वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिताओं और मूल्यों का सम्बन्ध इस प्रकार होना चाहिए

$$\frac{\text{x वस्तु की सी० उ०}}{\text{x वस्तु का मूल्य}} = \frac{\text{y वस्तु की सी० उ०}}{\text{y वस्तु का मूल्य}} = \frac{\text{z वस्तु की सी० उ०}}{\text{z वस्तु का मूल्य}} \text{ आदि}$$

$$\left[\frac{\text{Marginal Utility of Commodity X}}{\text{Price of Commodity X}} = \frac{\text{Marginal Utility of Commodity Y}}{\text{Price of Commodity Y}} = \frac{\text{Marginal Utility of Commodity Z}}{\text{Price of Commodity Z}}\right]$$

मूल्यों तथा सीमान्त उपयोगिताओं के समान अनुपात के आधार पर सम सीमान्त उपयोगिता नियम की व्याख्या करने के कारण ही इस **आनुपातिक सीमान्त उपयोगिता नियम या आनुपातिकता नियम** (Law of Proportional Marginal Utility or Law of Proportionality) कहते हैं। इस नियम के अनुसार सीमान्त उपयोगिताओं के बराबर होने पर विचार नहीं किया जाता वरन कई वस्तुओं से मिलने वाली सीमान्त उपयोगिताओं और उनके पारस्परिक मूल्यों के अनुपात के बराबर होने पर विचार किया जाता है। इस आधार पर ही यह कहा जाता है कि यदि उपभोक्ता दो ऐसी वस्तुओं को खरीदना चाहता है जिनमें से एक वस्तु का मूल्य दूसरी वस्तु के मूल्य से दुगना है तो अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करने के लिए उनकी सीमान्त उपयोगिताओं का उनके मूल्यों का समानुपाती होना आवश्यक है। यदि पहली वस्तु का मूल्य दूसरी वस्तु के मूल्य से दुगना है तो उसकी सीमान्त उपयोगिता भी पहली वस्तु की सीमान्त उपयोगिता से दुगनी होना चाहिए। इसका आधार यह है कि किसी वस्तु की सीमान्त उपयोगिता उसके लिए दिए गए मूल्य के बराबर होती है। उदाहरण के लिए मूल्य के दुगने होने पर यदि सीमान्त उपयोगिता MU तथा मूल्य P है तो

---

1 A consumer will spend money on different commodities in such a way that the marginal utilities of the different commodities are proportional to their prices

—P C Jain

$$\left\{\begin{array}{c}\text{पहली वस्तु की}\\ \text{सी० उ० तथा}\\ \text{उसके मूल्य का}\\ \text{अनुपात}\end{array}\right\} \quad \frac{MU}{P} = \frac{2MU}{2P} \quad \left\{\begin{array}{c}\text{दूसरी वस्तु की}\\ \text{सी० उ० तथा}\\ \text{उसके मूल्य का}\\ \text{अनुपात}\end{array}\right\}$$

इसके विपरीत मान लीजिए दो वस्तुओं के मूल्यों में इस प्रकार का अन्तर है कि उनकी सीमान्त उपयोगिताएँ उनके मूल्यों का समानुपाती नहीं हैं। ऐसी स्थिति में अधिकतम सन्तुष्टि पाने के लिए उपभोक्ता को एक वस्तु को दूसरी वस्तु से उस समय तक इस प्रकार प्रतिस्थापित करना होगा जब तक कि दोनों वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिताओं तथा उनके मूल्यों में आनुपातिकता (proportionality) स्थापित न हो जाय। उदाहरण के लिए माना कि उपभोक्ता X वस्तु की 10 इकाइयाँ तथा Y वस्तु की 7 इकाइयाँ खरीदना चाहता है, तथा

X वस्तु की सीमान्त उपयोगिता = 5 Yवस्तु की सीमान्त उपयोगिता = 3
X वस्तु का मूल्य = 2 Yवस्तु का मूल्य = 4

उपभोक्ता को Y वस्तु खरीदने में नुकसान है, क्योंकि इस वस्तु की सीमान्त उपयोगिता उसके मूल्य से कम है जबकि X वस्तु की सीमान्त उपयोगिता उसके मूल्य से अधिक है। ऐसी स्थिति में वह Y वस्तु के स्थान पर X की अतिरिक्त इकाइयाँ उस समय तक खरीदता जायगा जब तक कि X वस्तु की सीमान्त उपयोगिता क्रमशः घटती हुई उसके मूल्य (2) के बराबर न हो जाय। इस स्थिति तक उसे कोई हानि नहीं होगी। Y वस्तु न खरीदने के कारण उसकी सीमान्त उपयोगिता बढ़ेगी और अन्त में वह बढ़कर 4 तक पहुँच जायगी। इस स्थिति पर पहुँचने पर X तथा Y वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिताएँ तथा मूल्यों के अनुपात बराबर होंगे।

$$\left[\frac{\text{X वस्तु की सी० उ० (2)}}{\text{X वस्तु का मूल्य (2)}} = \frac{\text{Y वस्तु की सी० उ० (4)}}{\text{Y वस्तु का मूल्य (4)}}\right]$$

इन अनुपातों के बराबर होने पर उपभोक्ता को अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त होगी।

उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण

माना कि एक उपभोक्ता के पास व्यय करने हेतु 20 रुपए हैं और इन्हें वह नारंगी पपीता तथा केले पर व्यय करना चाहता है। नारंगी का भाव 3 रुपये किलो पपीते का भाव 2 रुपये किलो तथा केले का भाव एक रुपये किलो हैं। इन तीनों वस्तुओं की विभिन्न इकाइयों के उपभोग में प्राप्त उपयोगिताओं को पृष्ठ 240 पर दी गई सारिणी द्वारा व्यक्त किया गया है

मात्रा (किलोग्राम)	सीमान्त उपयोगिता		
	नारंगी (3 रु)	पपीता (2 रु०)	केला (1 रु०)
1	60	38	18
2	51	32	10
3	39	20	5
4	30	10	2
5	15	3	1

उपभोक्ता को अधिकतम सन्तुष्टि हेतु निम्न शर्त की पूर्ति होना आवश्यक है

$$\frac{\text{x वस्तु की सी० उ०}}{\text{x वस्तु का मूल्य}} = \frac{\text{y वस्तु की सी० उ०}}{\text{y वस्तु का मूल्य}} = \frac{\text{z वस्तु की सी० उ०}}{\text{z वस्तु का मूल्य}} \quad (1)$$

हम उपर्युक्त सूत्र में नारंगी पपीते तथा केले की सीमान्त उपयोगिता एवं मूल्य को प्रतिस्थापित करने पर

$$\frac{30}{3} = \frac{20}{2} = \frac{10}{1} \text{ या } \frac{15}{3} = \frac{10}{2} = \frac{5}{1} \text{ या } 5 = 5 = 5$$

इस प्रकार उपर्युक्त प्रतिस्थापन से स्पष्ट है कि नारंगी की 4 इकाइयों पपीते की 3 तथा केले की 2 इकाइयाँ उपभोग करने पर या नारंगी की 5 पपीते की 4 तथा केले की 3 इकाइयाँ उपभोग करने पर उसे अधिकतम सन्तुष्टि मिलगी।

उपर्युक्त *समीकरण आय के प्रतिबन्ध के बारे में विचार नहीं करता है* जबकि उपभोक्ता की आय सीमित होती है अर्थात् केवल 20 रु० ही है। अतः उपर्युक्त प्रथम शर्त के पूरी होने के साथ दूसरी शर्त का भी पूरा होना आवश्यक है जो इस प्रकार है

$$(Q_x \times P_x) + (Q_y \times P_y) \times \qquad I \qquad (2)$$

जबकि यहाँ

Q_x = x वस्तु की मात्रा
Q_y = y वस्तु की मात्रा
P_x = x वस्तु का मूल्य
P_y = y वस्तु का मूल्य
I = उपभोक्ता की आय

$$\frac{x-\text{साधन की सीमान्त उत्पत्ति}}{x-\text{साधन की कीमत}}=\frac{y-\text{साधन की सीमान्त उत्पादकता}}{y-\text{साधन की कीमत}}$$

यदि

$$\frac{x-\text{साधन की सीमान्त उत्पादकता}}{x-\text{साधन की कीमत}}>\frac{\text{साधन}-y\text{ की सीमान्त उत्पादकता}}{\text{साधन}-y\text{ की कीमत}}$$

तो उत्पादनकर्ता y की साधन की सीमान्त इकाई को कम उत्पादन देखकर उसके स्थान पर x साधन को जिसकी सीमान्त उत्पादकता अधिक है अधिक मात्रा तब तक लगाता जायगा जब तक कि उनकी सीमान्त उत्पादकता समान न हो जाय।

इसलिए इसको प्रतिस्थापन नियम (Law of Substitution) कहा जाता है।

इस प्रकार इस नियम के आधार पर विभिन्न साधनों की सीमान्त उत्पादकताओं तथा मूल्यों के अनुपातों में समानता लाने में सहायता मिलती है। उत्पादन के साधनों के विभिन्न प्रयोगों की सीमान्त उत्पादकताओं में समानता स्थापित करने में भी यह नियम लागू होता है।

(iii) विनिमय के क्षेत्र में यह नियम मूल्य निर्धारण में सहायक होता है। वस्तु खरीदते समय कोई भी व्यक्ति वस्तु की सीमान्त उपयोगिता से अधिक मूल्य नहीं चुकाता। विनिमय करने का अभिप्राय एक वस्तु के स्थान पर दूसरे वस्तु को प्रतिस्थापित करना है। इसके द्वारा अधिक दुलभ वस्तु को दुलभ वस्तु द्वारा प्रतिस्थापित किया जा सकता है। अधिक दुलभ वस्तु को प्रतिस्थापित करने से उसकी कमी धीरे धीरे समाप्त हो जाती है और उसकी विनिमय शक्ति कम हो जाती है। दूसरी ओर दुलभ वाली वस्तु को जिसे हम प्राप्त करते रहते हैं धीरे धीरे कम होते रहने के कारण विनिमय शक्ति बढ़ जाती है। अन्तत एक स्थिति ऐसी आ जाती है कि दोनों की सीमान्त उपयोगिता समान हो जाती है।

विनिमय के अन्य क्षेत्र यातायात बैंकिंग-व्यवस्था आदि के सम्बन्ध में भी यह नियम उपयोगी है। कम उपयोगी यातायात के साधन (सड़क रेल वायुयान जलयान) के स्थान पर उपभोक्ता अधिक उपयोगी साधन का ही प्रयोग करता है।

(iv) वितरण के क्षेत्र में वितरण के क्षेत्र में इस नियम को सम सीमान्त उत्पादकता नियम (Law of Equi Marginal Productivity) कहते हैं। प्रत्येक उत्पादन-साधन को उसकी सीमान्त उत्पादकता के अनुसार हिस्सा प्राप्त होता है। उत्पादक सभी साधनों का प्रयोग इस अनुपात में करता है जिसमें कि उनकी सीमान्त उत्पादकता समान रहे अथवा वह एक साधन का प्रतिस्थापना दूसरे साधन द्वारा करता है। अत यह सिद्धान्त उत्पादन साधनों का पुरस्कार निर्धारित करने में सहायक होता है। देश में आर्थिक विषमता की समस्या का समाधान भी इस नियम की सहायता से किया जा सकता है। यदि देश में मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता सभी

व्यक्तियों के लिए समान है तो इसका अर्थ यह होगा कि उस देश में **आय व धन का वितरण समान है।**

(v) **राजस्व के क्षेत्र में** राजस्व के क्षेत्र में **'अधिकतम सामाजिक लाभ' का** सिद्धान्त (Maximum Social Advantage Principle) सम सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्त पर ही आधारित है। सरकार कर लगाते समय इस बात का ध्यान रखती है कि समाज के विभिन्न वर्गों पर उनकी आय के अनुसार कर का भार समान पड़े जिससे किसी वर्ग विशेष को कर देने में अधिक कष्ट न उठाना पड़े। इस प्रकार राजस्व के क्षेत्र में न्यायपूर्ण दृष्टि से कर लगाने में यह सिद्धान्त सहायक होता है।

इस प्रकार सम सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्त का पालन प्रत्येक प्रकार के आर्थिक मामलों तथा निर्णयों में किया जा सकता है। प्रत्येक व्यक्ति इस नियम का पालन करके अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त कर सकता है। यद्यपि प्रत्येक विचारशील व्यक्ति इस नियम का पालन अक्षरशः नहीं करता फिर भी किसी न किसी रूप में वह इस सिद्धान्त का पालन करता ही है। **चपमैन के शब्दों में "हम प्रतिस्थापन नियम या सम सीमान्त व्यय नियम के अनुसार अपनी आय को वितरित करने के लिए उस भाँति बाध्य नहीं होते जिस प्रकार ऊपर हवा में फेंका गया पत्थर पृथ्वी पर विवश होकर आ गिरता है फिर भी हम मोटे रूप में ऐसा ही करते हैं अर्थात इस नियम का पालन करते हैं क्योंकि हम तर्कशील प्राणी हैं।"[1]**

नियम की आलोचना (*Criticism of the Law*)

यह नियम जिन मान्यताओं पर आधारित है उनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। वस्तुओं की विभाज्यता आय तथा व्यय की अवधि का एक ही होना मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता सदैव समान रहना उपभोक्ता की आय, रुचि आदि का पूर्ववत रहना आदि इस नियम की मान्यताएँ हैं। परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से इन मान्यताओं का वास्तविक जगत में पाया जाना सन्देहपूर्ण है। सामान्यतः इस नियम की निम्नलिखित आलोचनाएँ की जाती हैं

1 वस्तुओं की अविभाज्यता (Indivisibility of goods) यह नियम यह मानकर चलता है कि वस्तु का **विभाजन अपरिमित सीमा तक** किया जा सकता है। परन्तु बहुत सी वस्तुएं ऐसी होती हैं जिन्हें छोटे छोटे हिस्सों में विभाजित नहीं किया जा सकता जैसे घड़ी मोटरकार आदि। इसीलिए **प्रो० बोल्डिंग के अनुसार** इन वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिता को समान करने में कठिनाई होती है।

---

1 We are not of course compelled to distribute *our income according to* the Law of Substitution or Equi Marginal Expenditure as a stone thrown in air is compelled in a sense to fall back to the earth but as a matter of fact we do so in a certain rough fashion because we are reasonable

—*Chapman*

6 वस्तुओं का प्रयोग एक निश्चित अनुपात मे (Use of goods in a certain ratio) कुछ वस्तुए इस प्रकार की होती है जिनका एक निश्चित अनुपात म ही उपयोग किया जा सकता है जैसे चाय चीनी एव दूध। अत इनके प्रतिस्थापन करने का सवाल ही नही होता। अत इनके साथ भी यह नियम लागू नही होता है।

7 अधिकतम कुल उपयोगिता अनिवार्य रूप से अधिकतम सन्तुष्टि की परिचायक नहीं (Maximum total utility does not necessarily mean maximum satisfaction) कुछ अर्थशास्त्रियो का तर्क है कि कुल उपयोगिता के अधिकतम होने पर भी यह आवश्यक नही है कि सन्तुष्टि भी अधिकतम ही हो क्योकि उपयोगिता तो आवश्यकता की तीव्रता का माप है जबकि सन्तुष्टि वस्तु के प्रयोग के बाद अनुभव होती है। उदाहरणार्थ नर्तकी का नाच देखने हेतु किसी व्यक्ति को उसकी 100 इकाई उपयोगिता महसूस हो रही था किन्तु जब उसने नृत्य देखा और वह नृत्य ठीक नहीं निकला तब उसे जो सन्तुष्टि प्राप्त हुई वह यदि 60 इकाई के समान ही हो तो कुल उपयोगिता उसमे और उसके द्वारा पूर्व महसूस की गई उपयोगिता म जो अन्तराल है वही इस नियम की आलोचना का विषय रहा है।

नियम की सीमाएँ (Limitations of the Law)

वास्तव म इस नियम की प्राय सभी मान्यताए वस्तु स्थिति स दूर है। इनकी निम्नलिखित सीमाए है

(1) **व्यय मे विवेकशीलता तथा हिसाब का अभाव** (Lack of rationality and calculation at the time of expenses) सामान्यत कोई भी उपभोक्ता व्यय करते समय विभिन्न वस्तुओ की उपयोगिताओ की तुलना नही करता बल्कि वह स्वभाव के अनुसार व्यय करता है। एक अत्यन्त ही समझदार तथा गणना करने वाला व्यक्ति ही उतनी सावधानी से व्यय करता है जितनी कि इस नियम के प्रतिपादकों न कल्पना की है।

(2) **उपयोगिता का मापनीय न होना** (Utility is not measurable) वास्तव म उपयोगिता की मापनीयता ही एक विवादग्रस्त विषय है। उपयोगिता की माप का कोई उचित मापदण्ड न होने के कारण हम उपयोगिताओ की माप नही कर सकते। अत इस नियम के अनुसार व्यय करना भी अत्यन्त ही कठिन है। यह नियम उपयोगितावादी अर्थशास्त्रियो के मानसिक व्यायाम का एक नमूना है।

(3) **बजट अवधि का अनिश्चित होना** (Indefinite Budget Period) प्रो० बोल्डिंग का यह कहना है कि सामान्यतया उपभोक्ता की बजट अवधि निश्चित नही होती। अत प्राय यह नियम लागू नही होता है क्योंकि वह एक निश्चित बजट अवधि म ही कार्यशील हो सकता है। इसका कारण यह है कि एक उपभोक्ता

किसा प्रवधि विशेष की सीमित प्राय उसी प्रवधि म सम्भावित प्रावश्यकताम्रं पर इस प्रकार बाटना चाहता है कि उस अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त कर सके। परन्तु बजट प्रवधि निश्चित होने से वह इस उद्देश्य को पूरा नही कर पाता है।

(4) रीति रिवाज आदि के प्रभाव (Effects of Customs Habits etc) रीति रिवाजो प्राप्त फशन प्रादि के कारण भी उपभोक्ता अपने व्यय म मितव्ययिता नहा कर पाता। रीति रिवाजो को उसे मानना पडता ही है। उन पर उसे अपनी सीमित धन के कुछ भाग को खच करना पडता है। इसी प्रकार उस अपनी आदत बन गयी आवश्यकताओं (चाय सिगरेट आदि) को पूरा करने के लिए कुछ धन व्यय करना पडता है। अत यह कहना ठीक नहीं होगा कि उपभोक्ता समझदारी से ही अपनी प्राय खच करता है। रीति रिवाज फशन तथा उनकी आदतें उसकी विवेकशीलता म बाधक होती हैं।

(5) पूरक वस्तुएं (Complementary goods) के सम्बन्ध मे यह नियम लागू नहीं होता यह नियम उन वस्तुओ के सम्बन्ध म लागू नहा होता जो किसी अन्य वस्तु की पूरक होती हैं। उदाहरणाथ मोटर पट्रोल फाउन्टन पनस्याही आदि वस्तुएँ एक निश्चित अनुपात म ही खरीदी जाती हैं। इनम प्रति स्थापना का सिद्धान्त लागू नही हो सकता है।

(6) वस्तुओ के मूल्य मे परिवतन (Change in the price of goods) किसी भी वस्तु की सीमान्त उपयोगिता उसके मूल्य पर निभर करती है। मूल्य अधिकतर बदलते रहते हैं जिसकी वजह से सीमान्त उपयोगिताएँ भी बदलती रहती है जिस कारण विभिन्न वस्तुओ की सीमान्त उपयोगिताओ तथा मूल्यो का आनुपातिकता म समानता नहा होती।

इस प्रकार इस नियम के व्यावहारिक प्रयोग म उपयुक्त वर्णित अनेक कठिनाइयो का सामना करना पडता है। किन्तु इसका तात्पय यह भी नहीं है कि यह नियम पूणतया काल्पनिक हा है और इसका कोई महत्त्व ही नही हो सकता। वस्तुत आर्थिक क्रियाओ के विस्तृत क्षेत्र म इन कठिनाइयो का बहुत कम महत्त्व है। अत इन कठिनाइयो के परिणामस्वरूप इस नियम की क्रियाशीलता म कोई वस्तुत बडी रुकावट नहीं आती। यह नियम उपभोक्ता के सन्तुलन को निश्चित करने म सहायता प्रदान करता है और प्रत्येक उपभोक्ता चतन अथवा अचेतन रूप से अपनी प्राय को व्यय करते समय उसने प्राप्त सीमान्त उपयोगिता की तुलना करता है। वह उचित प्रतिस्थापन के द्वारा अपनी दी हुइ आय से अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करने का प्रयास करता है। इन आलोचनाओ पर कटाक्ष करते हुए प्रो० चपमैन (Chapman) ने ठीक ही कहा है कि चाहे हम इस नियम के

अनुसार अपनी आय को व्यय करने में विवश न हों किन्तु फिर भी हम वास्तव में मोटे तौर पर ऐसा ही करते हैं क्योंकि हम विवेकशील प्राणी हैं।

इस नियम का सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम तथा उत्पत्ति ह्रास नियम के साथ सम्बन्ध (Relation of the Law with the Law of Diminishing Marginal Utility and the Law of Diminishing Returns) अर्थशास्त्र के अन्य नियमों के साथ भी इस नियम का सम्बन्ध है जिसे इस प्रकार स्पष्ट किया गया है

सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम के साथ सम्बन्ध वैसे तो सम-सीमान्त उपयोगिता नियम का उद्गम स्रोत ही सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम है। जब उपभोक्ता यह महसूस करने लगता है कि किसी एक वस्तु का उपभोग करते रहने पर सीमान्त उपयोगिता गिरती हुई दर पर प्राप्त हो रही है तो वह अधिक उपयोगिता वाली वस्तुओं के उपभोग के बारे में भी विचार करने लगता है। इस प्रकार वह कम उपयोगी वस्तु के स्थान पर अधिक उपयोगी वस्तु का प्रयोग करने लगता है। उसका यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक कि उपभोग की जाने वाली विभिन्न वस्तुओं की अन्तिम इकाइयों की उपयोगिता बराबर न हो जाय। किन्तु यदि वस्तु के उपभोग करते समय उसकी आय की इकाइयों से घटती दर पर उपयोगिता प्राप्त नहीं हो रही होती है तो उसके स्थान पर अन्य वस्तुओं के उपभोग करने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार स्पष्ट है कि सम सीमान्त उपयोगिता नियम का मूल स्रोत सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम ही है।

नियम का उत्पत्ति ह्रास नियम के साथ सम्बन्ध

उत्पादन के क्षेत्र में उत्पत्ति ह्रास नियम के कारण ही प्रतिस्थापन नियम लागू होता है। उत्पत्ति ह्रास नियम से यह विदित होता है कि यदि उत्पादक उत्पादन क्रिया में एक साधन को स्थिर रखकर उत्पत्ति के अन्य साधनों की मात्रा में वृद्धि की जाय तो उत्पत्ति की मात्रा घटती दर से प्राप्त होती है। इसलिए उत्पादक अपने लाभ को अधिकतम करने के लिए कम उत्पादक साधन के स्थान पर अधिक उत्पादक साधन का प्रतिस्थापन करता है और प्रतिस्थापन का क्रम तब तक जारी रहता है जब तक कि सभी साधनों की सीमान्त उत्पत्ति तथा मूल्यों का अनुपात एक समान न हो जाय। इस प्रकार प्रतिस्थापन के नियम तथा उत्पत्ति ह्रास नियम में गहरा सम्बन्ध है।

प्रश्न तथा संकेत

1 उपभोग में प्रतिस्थापन के सिद्धान्त (Law of Substitution in Consumption) की व्याख्या कीजिए। यह किस प्रकार उपभोक्ता को साम्य (Equilibrium) की दशा तक पहुँचने में मदद करता है?

Exp ain the Law of Substitution in consumption How it helps a consumer in reaching the position of Equilibrium ?

[सकेत—सम-सीमान्त उपयोगिता नियम का रेखाचित्र व उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए। इसके पश्चात् बताइए कि इसके प्रयोग से ही उपभोक्ता को अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त होगी और वह सन्तुलन की स्थिति में होगा।]

2 प्रतिस्थापन के नियम की व्याख्या कीजिए और बताइए कि वह अर्थशास्त्र के प्रत्येक क्षेत्र में लागू होता है।

Examine the Law of Substitution The application of the principle of substitution extends over almost every field of economic area Exp ain

[संकेत—सम-सीमान्त उपयोगिता नियम की रेखाचित्र व उदाहरण सहित व्याख्या कीजिए और इसके पश्चात् अर्थशास्त्र के प्रत्येक क्षेत्र—उत्पादन विनिमय वितरण तथा राजस्व के क्षेत्र—में इस नियम के प्रयोग को बताइए।]

3 सम सीमान्त उपयोगिता नियम की विवेचना कीजिए और एक चित्र की सहायता से यह सिद्ध कीजिए कि उपभोक्ता को अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त होती है यदि वह इस नियम के अनुसार कार्य करता है।

Discuss the law of Equi marginal Utility and prove with the help of a diagram that a consumer obtains the greatest satisfaction if he works according to this Law

4 अर्थशास्त्र में प्रतिस्थापन के नियम के प्रयोग की विवेचना कीजिए। यह नियम उपयोगिता ह्रास नियम से किस प्रकार सम्बन्धित है ?

Discuss the application of the principle of substitution How it is related with the law of Diminishing Marginal Utility ?

[संकेत—सर्वप्रथम प्रतिस्थापन के नियम का आशय स्पष्ट कीजिए। तत्पश्चात् संक्षेप में अर्थशास्त्र के विभिन्न विभागों में इसके प्रयोग को बताते हुए उपयोगिता ह्रास नियम के साथ इसका सम्बन्ध बताइए।]

5 प्रतिस्थापन नियम की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए। इसकी कौन कौन सी मान्यताएँ तथा सीमाएँ हैं ?

Critically examine the law of substitution What are its assu mptions and limitations ?

6 सम सीमान्त उपयोगिता नियम की उदाहरण सहित व्याख्या कीजिए। क्या यह सत्य है कि यह नियम सभी समय में ठीक नहीं होता ?

State and Exp'ain the Law of Equi marginal Utility Is it correct to say that this thing is not true at all times ?

7 सम सीमान्त उपयोगिता नियम का आधुनिक जीवन म महत्त्व बतलाइए ।

Explain the importance of the Law of Equi marginal Utility in the modern life

8 सक्षेप म टिप्पणी लिखिए

Write short notes on

(i) उपभोक्ता के क्षेत्र म अनुपातिकता का नियम ।

The Law of Proportionality in the field of consumption

(ii) प्रतिस्थापन के नियम का क्षेत्र ।

Scope of the Law of Substitution

13

उपभोक्ता की बचत
(Consumer s Surplus)

> The difference between what we would pay and what we have to pay is called consumer's surplus
>
> —*Penson*

'उपभोक्ता का अतिरेक' या 'उपभोक्ता की बचत' के सम्बन्ध में प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने कहीं-कहीं जिक्र किया है। प्रो० जेवन्स ने इसके विषय में निश्चित विचार व्यक्त किया था परन्तु फ्रांस के विद्वान ड्यूपिट (Dupit) ने सर्वप्रथम 1844 ई० में इस विषय का वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है तथा रेखाचित्र द्वारा इसे समझाने का प्रयत्न किया है। इसके बाद प्रो० मार्शल ने सन् 1879 में इस सिद्धान्त के विषय में अपने मौलिक विचार व्यक्त किए तथा इसके सम्बन्ध में विस्तृत विश्लेषण अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Pure Theories of Domestic Values में उपभोक्ता के लगान (Consumer s Rent) के रूप में प्रस्तुत किया। प्रो० जे० आर० हिक्स ने उदासीनता या तटस्थता वक्रों की सहायता से इस सिद्धान्त को स्पष्ट किया है तथा प्रसिद्ध भारतीय अर्थशास्त्री डा० ए० के० दास गुप्ता ने इस विषय पर अपने महत्त्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किए हैं।

उपभोक्ता की बचत का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of Consumer's Surplus)

व्यावहारिक जीवन में हम बहुत सी ऐसी वस्तुएँ खरीदते हैं जिनका बाजार में कमी होने पर हम बहुत अधिक मूल्य चुकाने को तैयार हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में बहुत सी वस्तुएँ ऐसी होती हैं जिन्हें प्राप्त करने के लिए हम सामान्यतः अधिक मूल्य देने को तैयार हो जाते हैं। उदाहरणार्थ नमक, पोस्टकार्ड, अखबार आदि हम क्रय करते हैं। यदि ये वस्तुएँ बाजार में उपलब्ध नहीं हों तो अत्यधिक उपयोगी एवं आवश्यक होने के कारण हम इन्हें प्राप्त करने के लिए उनके सामान्य मूल्य से कई गुना अधिक मूल्य देने को तैयार हो जायेंगे। इन वस्तुओं के लिए हम जो मूल्य देते हैं

उमस कही अधिक मूल्य चुकाने के लिए हम तयार रहते है। इस प्रकार किसी वस्तु का जो मूल्य हम चुकात हैं तथा उस वस्तु को प्राप्त करने हेतु जो मूल्य चुकाने को हम तयार रहते हैं इन दोनो के अन्तर को **उपभोक्ता की बचत' या उपभोक्ता का अतिरेक** कहते हैं। जसे हम पोस्टकाड 15 पसे मे खरीदते है परन्तु यदि पोस्टकाड आसानी से नही मिल पाता है तो हम सम्भवत (अन्य विकल्पो की अनुपस्थिति मे) एक पोस्टकाड के लिए 20 पसे देने को भी तयार हो जाते हैं। अत 20 – 15 = 5 पसे हमारे लिए 'उपभोक्ता का अतिरेक' है। **अत वस्तु की अपेक्षित कीमत जो हम देने को तयार हो सकते हैं और वास्तविक कीमत जो चुकाई जाती है—दोनों के अन्तर को उपभोक्ता की बचत कहा जाता है।** मार्शल ने उपभोक्ता की बचत' को इस प्रकार परिभाषित किया है **किसी वस्तु के उपभोग से वंचित रहने की अपेक्षा एक व्यक्ति (उपभोक्ता) जो कीमत उस वस्तु के लिए देने को प्रस्तुत है और जो कीमत वह वास्तव मे चुकाता है उनका अन्तर ही सन्तुष्टि की बचत का आर्थिक माप है। इसे उपभोक्ता की बचत' कहा जा सकता है।'** [1]

प्रोफेसर जे०के० मेहता ने इसे इस प्रकार परिभाषित किया है **किसी वस्तु के उपभोग से प्राप्त सन्तुष्टि तथा उस वस्तु को प्राप्त करने के लिए त्याग के अन्तर को ही उपभोक्ता की बचत कहते हैं।** [2] प्रो० पेन्सन के शब्दों मे **हम जो कुछ चुकाने को तयार हैं और जो कुछ हमको चुकाना पडता है इन दोनो के अन्तर को 'उपभोक्ता की बचत' कहते हैं।'**

इस प्रकार सक्षेप मे उपभोक्ता की बचत की सरलतम परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है— **उपभोक्ता किसी वस्तु या सेवा के उपभोग से वंचित रहने की अपेक्षा उस वस्तु या सेवा के लिए जो मूल्य दे सकता है और जो मूल्य वास्तव मे वह देता है उन दोनों का अन्तर ही 'उपभोक्ता की बचत' है।"**

उपभोक्ता की बचत की धारणा का आधार
(Basis of the Concept of Consumer s Surplus)

वस्तुत उपभोक्ता की बचत का सिद्धान्त उपयोगिता ह्रास नियम के आधार पर ही प्रस्तुत किया गया है। उपयोगिता ह्रास नियम यह बतलाता है कि

---

1 The excess of the price which one is willing to pay rather than go without the thing over which he actually pays is the economic measure of this surplus of satisfaction It may be called the Consumer s Surplus

—*Marshall*

2 Consumer s surplus obtained by a person from a commodity is the difference between the satisfaction which he derives from it and wh ch he foregoes in order to procure that commodity "

—*J K Mehta* Groundwork of Economics p 52

किसी वस्तु की इकाइयों का उपभोग करने पर अन्य बातों के समान रहने पर उस वस्तु की उत्तरोत्तर इकाइयों से प्राप्त उपयोगिता क्रमशः घटती जाती है। जब हम कोई वस्तु खरीदते हैं तब उस वस्तु से हमें उपयोगिता प्राप्त होती है और उस वस्तु के लिए चुकाए गए मूल्य के रूप में हम उपयोगिता का त्याग करते हैं। खरीदने की इस क्रिया में प्राप्त उपयोगिता त्याग की गई उपयोगिता से अधिक होती है। परन्तु ज्यों-ज्यों हम किसी वस्तु की अधिक इकाइयाँ खरीदते जाते हैं उस वस्तु की इकाइयों की उपयोगिता हमारे लिए उत्तरोत्तर कम होती जाती है तथा हम उस समय वस्तु की अतिरिक्त इकाइयों का खरीदना बन्द कर देते हैं जब मूल्य के रूप में त्याग की जाने वाली उपयोगिता उस वस्तु की इकाई से प्राप्त उपयोगिता के बराबर हो जाती है। यदि इसके पश्चात् भी उस वस्तु का खरीदना जारी रखा जाय तो त्याग की गई उपयोगिता प्राप्त की जाने वाली उपयोगिता से अधिक होगी जो हमारे लिए हानि की सूचक है। वस्तु की जिस इकाई को खरीदने से प्राप्त तथा उसके खरीदने के लिए त्याग की गई उपयोगिताएँ बराबर होती हैं उस इकाई से पूर्व खरीदी गई समस्त इकाइयों से प्राप्त उपयोगिता त्याग की गई उपयोगिता से अधिक होती है। इस प्रकार से प्राप्त अधिक उपयोगिताओं के योग को ही उपभोक्ता की बचत कहते हैं। दूसरे शब्दों में

(i) उपभोक्ता की बचत = (कुल उपयोगिता)—(कीमत × खरीदी गई इकाइयाँ)

इसी प्रकार मार्शल के अनुसार सम्पूर्ण बाजार के लिए भी उपभोक्ता की बचत ज्ञात की जा सकती है।

(ii) बाजार-सम्बन्धी उपभोक्ता की बचत = माँग-मूल्यों का योग —वास्तविक कीमत

Consumer's Surplus for the whole market = *Aggregate Market Demand Prices— Actual Selling Price*

माँग-मूल्य का अर्थ वह मूल्य है जिसे उपभोक्ता चुकाने को तैयार है। इस प्रकार सभी उपभोक्ताओं के माँग-मूल्यों को जोड़कर कुल उपयोगिता ज्ञात की जाती है। इस कुल उपयोगिता में से क्रेताओं द्वारा चुकाई गई वास्तविक कीमतों को घटा दिया जाता है। जो शेष बचता है वही उपभोक्ता की बचत होती है। हम यह कह सकते हैं कि उपभोक्ताओं की आय, रुचि आदि में विभिन्नता के कारण उन्हें प्राप्त उपयोगिताओं का अनुमान लगाना कठिन है। परन्तु मार्शल ने कहा है कि यह कार्य कठिन नहीं है क्योंकि उपभोक्ताओं के ये अन्तर सामूहिक रूप से एक-दूसरे से खंडित हो जाते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट रूप से विदित हो जाता है कि उपभोक्ता की बचत के दो निम्नलिखित आधार हैं

(i) क्रमागत उपयोगिता ह्रास नियम
(ii) बाजार मूल्य का समान बने रहना, तथा
(iii) कीमत तथा सीमान्त उपयोगिता का समान होना।

उपभोक्ता बचत की धारणा की व्याख्या तथा स्पष्टीकरण

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर उपभोक्ता की बचत का स्पष्टीकरण एक उदाहरण द्वारा किया जा सकता है। मान लीजिए एक व्यक्ति बाजार में अमरूद खरीदता है। प्रत्येक अमरूद की कीमत 20 पैसे है।

निम्नलिखित सारणी से अमरूदों की इकाइयां उनसे प्राप्त उपयोगिता तथा उपभोक्ता की बचत का ज्ञान होता है

अमरूदों से प्राप्त उपभोक्ता की बचत

अमरूदों की इकाइयां	प्राप्त उपयोगिता अथवा मूल्य जो उपभोक्ता देने को तत्पर है	बाजार मूल्य या उपभोक्ता द्वारा वास्तविक चुकाया गया मूल्य	उपभोक्ता की बचत (पैसों में)
1	100 पैसे	20 पैसे	100 − 20 = 80
2	80	20	80 − 20 = 60
3	60	20	60 − 20 = 40
4	50	20	50 − 20 = 30
5	30	20	30 − 20 = 10
6	20	20	20 − 20 = 0
	6 अमरूदों की कुल उपयोगिता = 340 पैसों के बराबर	कुल बाजार मूल्य = 6 × 20 = 120 पैसे	उपभोक्ता की बचत 340 − 120 = 220 पैसे

उपर्युक्त उदाहरण के अनुसार उपभोक्ता को अमरूद की पहली इकाई खरीदने पर 100 पैसों के बराबर कुल उपयोगिता प्राप्त होती है किन्तु इसके लिए वह केवल 20 पैसे ही मूल्य के रूप में चुकाता है। उसे इससे 100 − 20 = 80 पैसों के तुल्य अतिरिक्त उपयोगिता मिलती है। वह ज्यों ज्यों अमरूद की अधिक इकाइयां

खरीदता है उपयोगिता ह्रास नियम के अनुसार उत्तरोत्तर इकाइयों से प्राप्त उपयोगिता क्रमशः घटती जाती है। इसका स्पष्टीकरण उसके द्वारा दूसरी तीसरी चौथी और पाँचवी इकाई के क्रय करने पर घटती दर पर प्राप्त उपयोगिता से हो जाता है। छठवाँ अमरूद खरीदने पर उपयोगिता तथा त्याग की गई उपयोगिता दोनों एक-समान हैं (20 पैसे के तुल्य)। अतः वह सातवाँ अमरूद नहीं खरीदता। सभी छः अमरूदों के उपभोग से उसे कुल 340 पैसे के बराबर उपयोगिता प्राप्त होती है तथा वह 20 पैसे प्रति अमरूद की दर से 120 पैसे के तुल्य उपयोगिता का त्याग करता है। इस प्रकार उसे 340 − 120 = 220 पैसे के तुल्य उपयोगिता के बराबर उपभोक्ता की बचत प्राप्त होती है।

रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण (Diagramatic Representation)

उपभोक्ता की बचत की धारणा का स्पष्टीकरण रेखाचित्र द्वारा भी किया जा सकता है। उपभोक्ता की बचत को हमने रेखाचित्र सं० 7 द्वारा स्पष्ट किया है
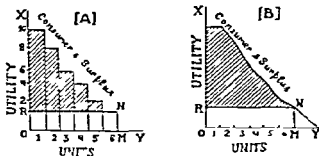
चित्र सं० 7

उपर्युक्त रेखाचित्र 7 के A तथा B में क्रमशः अविभाज्य वस्तुओं तथा विभाज्य वस्तुओं के सम्बन्ध में उपभोक्ता की बचत को प्रदर्शित किया गया है। उपर्युक्त रेखाचित्र में OA अक्ष पर अमरूदों की इकाइयाँ तथा OY अक्ष पर अमरूदों से प्राप्त सीमान्त उपयोगिता को बतलाया गया है। रेखांकित भाग उपभोक्ता की बचत को प्रकट करता है। रेखाचित्र में OMNR आयत अमरूदों के बाजार मूल्य को प्रदर्शित करता है। इस आयत के ऊपर जो आयत बने हुए हैं वे उपभोक्ता की बचत को प्रदर्शित करते हैं।

उपभोक्ता की बचत की मान्यताएँ (Assumptions)

मार्शल द्वारा प्रस्तुत 'उपभोक्ता की बचत' का सिद्धान्त निम्नलिखित मान्यताओं पर आधारित है

(1) उपयोगिता मापनीय होती है उपयोगिता की माप की जा सकती है तथा मुद्रा उपयोगिता की माप कर सकती है। इस प्रकार उपभोक्ता की बचत मुद्रा द्वारा मापी जा सकती है।

(2) मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता सदा एक समान रहती है मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता समान रहती है। खरीदने की क्रिया में मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता में परिवर्तन नहीं होता है।

(3) किसी वस्तु की उपयोगिता केवल उस वस्तु की पूर्ति पर निर्भर है वस्तु की उपयोगिता उसकी पूर्ति पर निर्भर है। अन्य वस्तुओं की पूर्ति से वस्तु विशेष की उपयोगिता प्रभावित नहीं होती है।

(4) सम्बन्धित वस्तु की कोई स्थानापन्न वस्तु नहीं है हम जिस वस्तु के सम्बन्ध में उपभोक्ता की बचत ज्ञात करते हैं उस वस्तु की कोई स्थानापन्न (Substitute) वस्तु नहीं होती है और यदि होती भी है तो हमें ऐसी सभी वस्तुओं को एक ही वस्तु मान लेना चाहिए।

(5) विभिन्न उपभोक्ताओं की आय फैशन तथा रुचि में विभिन्नता पाई जाती है।

मार्शल के अनुसार उपभोक्ता की बचत विशेष अवसरों अथवा पर्यावरण या परिस्थितिजन्य कारणों का परिणाम है इसका आशय यह है कि विशेष पर्यावरण और परिस्थितिजन्य कारणों के परिणामस्वरूप वही वस्तु उपभोक्ता को जितनी कीमत वह चुकाने को तैयार है उससे कम ही मूल्य पर प्राप्त हो जाती है। कुछ वस्तुएं गाँवों की अपेक्षा शहरों में कम ही मूल्य में पर प्राप्त हो जाती है। जैसे गाँवों में समाचार पत्र प्राप्त करने में अधिक व्यय करना पड़ता है किन्तु शहर में यह कम ही मूल्य पर और समय पर उपलब्ध हो जाता है। अतः शहर में उपभोक्ताओं को इनसे अधिक सन्तुष्टि या अतिरिक्त बचत का अनुभव होता है। विकसित राष्ट्रों में भी अनेक दैनिक उपयोग की वस्तुओं तथा सेवाओं जैसे परिवहन सचार साधन विद्युत समाचार पत्र आदि की सुविधाएं अधिक मात्रा में उपलब्ध होती हैं जिसके कारण उपभोक्ताओं को अधिक उपभोक्ता की बचत प्राप्त होती है। इसके विपरीत अर्द्ध विकसित तथा पिछड़े राष्ट्रों में ये सब सुविधाएं कम मात्रा में तथा महंगी मिलती हैं। अतः इन देशों के निवासियों को कम ही उपभोक्ता की बचत प्राप्त होती है।

उपभोक्ता की बचत को मापने में कठिनाइयाँ

(Difficulties in the Measurement of Consumer's Surplus)

उपरोक्त सारणी तथा रेखाचित्र से ऐसा प्रतीत होता है कि उपभोक्ता की बचत की माप सरलतापूर्वक की जा सकती है। परन्तु व्यावहारिक रूप से निम्न

लिखित कारणों से इसकी माप करना अत्यन्त ही कठिन है। इस सिद्धान्त की निकालसन (Nicholson) कनन (Cannon) तथा टाजिग (Taussig) आदि अर्थशास्त्रियों ने कटु आलोचना की है। उपभोक्ता की बचत' की आलोचनाएँ मुख्यत इसकी मापनीयता के प्रश्न पर ही केन्द्रित हैं जैसा कि निम्नलिखित बिन्दुओं से स्पष्ट है

(1) उपयोगिता मनोवैज्ञानिक धारणा होने से मापनीय नहीं है 'उपभोक्ता की बचत इस मान्यता पर आधारित है कि उपयोगिता को मापा जा सकता है, परन्तु हम यह जानते हैं कि उपयोगिता का सम्बन्ध मनुष्य की मानसिक स्थिति से है। इस प्रकार उपयोगिता एक मनोवैज्ञानिक विचार है जिसे मापा नहीं जा सकता। साथ ही उपयोगिता एक व्यक्तिनिष्ठ (Subjective) विचार है। अत विधि द्वारा उपयोगिता की माप नहीं की जा सकती। उपभोक्ता की बचत प्राप्त उपयोगिता तथा त्याग की जाने वाली उपयोगिता का अन्तर है। जब हम उपयोगिता का माप नहीं सकते हैं तब उपभोक्ता की बचत भी नहीं ज्ञात की जा सकती है।

(2) उपभोक्ता की रुचि में अन्तर सभी उपभोक्ताओं की रुचि समान नहीं होती है। एक उपभोक्ता किसी वस्तु को बहुत चाहता है तथा दूसरा उसी वस्तु को उतना पसन्द नहीं करता है। यदि इस प्रकार के दोनों उपभोक्ता किसी वस्तु को खरीदते हैं तो वे बाजार में समान मूल्य चुकायेंगे। परन्तु प्रथम उपभोक्ता की पसन्दगी अधिक होने के कारण उसे दूसरे उपभोक्ता की अपेक्षा अधिक उपयोगिता अर्थात् उपभोक्ता की बचत, प्राप्त होगी। इस प्रकार दोनों व्यक्तियों का उपभोक्ता की बचत में काफी अन्तर आ जाएगा। इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि यदि उपभोक्ताओं की संख्या बहुत अधिक है तो उनमें से कुछ की पसन्दगी किसी वस्तु के लिए अधिक होगी तथा कुछ की कम। इस प्रकार उन समस्त उपभोक्ताओं के सन्दर्भ में उपभोक्ता की औसत बचत की माप की जा सकती है।

प्रो० मार्शल का इस सम्बन्ध में कहना है कि जब हम सम्पूर्ण बाजार पर सामूहिक रूप से विचार करते हैं तो ये व्यक्तिगत विभेद साधारणतया निष्प्रभावित हो जाते हैं। इसमें औसत के नियम को लागू करने से इन विभिन्नताओं व व्यक्तिगत अन्तरों को सन्तुलित एवं समायोजित किया जा सकता है।

(3) उपभोक्ताओं की आर्थिक स्थिति में अन्तर एक धनी उपभोक्ता किसी वस्तु के लिए अधिक मूल्य चुकाने को तत्पर हो सकता है जबकि एक निर्धन उपभोक्ता उतना अधिक मूल्य चुकाने को तैयार नहीं होगा। बाजार में धनी व निर्धन—दोनों प्रकार के उपभोक्ताओं से समान मूल्य लिया जाता है। अत उपभोक्ता की बचत की परिभाषा के अनुसार धनी उपभोक्ता के लिए उपभोक्ता की बचत अधिक होगी तथा निर्धन उपभोक्ता के लिए कम। इस प्रकार आय में विभिन्नता के कारण उपभोक्ता की बचत में भी विभिन्नता होती है। अत इसकी सही माप

करना कठिन है। उपभोक्ताओं की संख्या अधिक होने पर औसत रूप से हम इस स्थिति में भी उपभोक्ता की बचत ज्ञात कर सकते हैं।

(4) कीमतों की सूची से अप्राप्यता हम उपभोक्ता की माँग सूची बाजार मूल्य के आधार पर तयार करते हैं। परन्तु हम यह नहीं जान सकते कि विभिन्न उपभोक्ता अपनी आवश्यकताओं की तीव्रता के आधार पर कितना मूल्य देने को तयार होंगे। इसी प्रकार इस मूल्य की जानकारी के अभाव में उपभोक्ता की बचत की माप अत्यन्त कठिन है। इस कठिनाई के सम्बन्ध में मार्शल ने कहा है कि यह कठिनाई सैद्धान्तिक है व्यावहारिक नहीं क्योंकि हमारी माँग का सम्बन्ध कीमत सूची के केवल उस भाग से होता है जो कि प्रचलित मूल्यों पर बनाया गया है तथा मूल्यों में थोड़ा बहुत परिवर्तन होने पर माँग पर पड़ने वाले प्रभाव से प्रत्येक व्यक्ति को जानकारी होती है।

(5) अनिवार्य आवश्यकताओं के सन्दर्भ में उपभोक्ता की बचत अनिवार्य आवश्यकताओं की तीव्रता बहुत अधिक होती है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति करना जीवन रक्षा के लिए आवश्यक है। ऐसी आवश्यकता से सम्बन्धित किसी वस्तु की प्रारम्भिक इकाइयों की उपयोगिता की माप करना कठिन है। इसी प्रकार सामाजिक प्रतिष्ठा की प्रतीक वस्तुओं की उपयोगिता की माप भी अमापनीय होती है। ऐसी दशाओं में उपभोक्ता की बचत का माप करना बहुत कठिन है। इस कठिनाई के निराकरण के लिए प्रो० पटेन ने उपभोग की दो स्थितियों का वर्णन किया है (i) दुःखमय अर्थव्यवस्था (Pain Economy), तथा (ii) सुखमय अर्थव्यवस्था (Pleasure Economy)। जीवन रक्षक आवश्यकताओं की पूर्ति से उपभोक्ता केवल कष्ट निवारण करता है सन्तुष्टि या आनन्द नहीं प्राप्त करता है। जब जीवन रक्षक अनिवार्यताओं की सन्तुष्टि हो जाती है तब उपभोक्ता की स्थिति सुखमय होती है। हम उपभोक्ता की बचत की माप सुखमय स्थिति में ही कर सकते हैं। प्रो० टाजिग ने कहा है कि उपभोक्ता की बचत का प्रश्न उसी समय उठता है जब उपभोक्ता सुख का अनुभव करने लगता है।[1]

(6) प्रतिष्ठा मूलक वस्तुओं की उपभोक्ता की बचत प्रतिष्ठा सम्बन्धी वस्तुओं जैसे हीरा, प्राचीन मूर्ति व चित्र या कलात्मक वस्तुओं के सन्दर्भ में भी 'उपभोक्ता की बचत' ज्ञात नहीं की जा सकती है। ऐसी वस्तुओं की ऊँची कीमत होने पर ही धनी व्यक्ति उन्हें प्रतिष्ठा मूलक तथा उपयोगी समझते हैं। यदि उनकी

---

1 Only where the stage has been reached of possible comfort of some choice in the direction of expenditure can there be anything in the form of a real surplus of satisfaction for the consumer

—*Taussig*

अवधारणा की कटु आलोचना की है। उन्होंने उपभोक्ता की बचत की कल्पना को काल्पनिक अवास्तविक भ्रमात्मक एवं भ्रामक तथा अव्यावहारिक बताया है। प्रो० निकालसन ने तो इस अव्यावहारिक बतलाया है। यूलीसे गोबी (Ulisse Gobbi) के अनुसार तो उपभोक्ता वस्तु से प्राप्त उपयोगिता के बराबर ही त्याग करता है। अत उपभोक्ता की बचत उत्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं उठता है। इस नियम प्रमुख आलोचनाएँ इस प्रकार हैं

(1) यह सिद्धान्त काल्पनिक एवं अव्यावहारिक है उपभोक्ता की बचत की माप करना असम्भव है क्योंकि वस्तुत में अर्थशास्त्रियों ने इस सिद्धान्त को पूर्णत कल्पनापूर्ण माना है। कनन निकालसन डेवेनपोर्ट आदि अर्थशास्त्रियों ने यह विचार व्यक्त किया है कि उपभोक्ता की बचत जिन मान्यताओं पर आधारित है व मान्यताएँ सर्वथा काल्पनिक एवं अव्यावहारिक हैं।

प्रो० निकालसन ने व्यंगपूर्ण शब्दों में कहा है कि यह कहना अत्यन्त ही हास्यास्पद है कि लन्दन की 100 पौंड आय मध्य अफ्रीका के 1000 पौंड के बराबर है। उपभोक्ता की बचत वस्तुत यही बतलाता है। इस प्रकार यह सिद्धान्त कोरी कल्पना मात्र है। परन्तु यह तक उतना सन्तोषजनक नहीं है जितना प्रतीत होता है। प्रो मार्शल ने इस आलोचना के उत्तर में कहा है कि जब हम दोनों देशों के निवासियों के रहन-सहन के स्तर की तुलना करते हैं तो इस विचार की धारणा का सहयोग लिए बिना तुलना करना असम्भव है। यह सम्भव है कि एक व्यक्ति इंगलैण्ड में 100 पौंड की आय से अधिक सन्तुष्टि प्राप्त कर सकता है जहाँ वस्तुएँ सरलता से उपलब्ध हैं। इसके विपरीत मध्य अफ्रीका में 1000 पौंड की आय वाला व्यक्ति, सम्भव है अपेक्षाकृत कम सन्तुष्टि प्राप्त करे यदि वह ऐसे देश में रहता है जहाँ वस्तुएँ बड़ी कठिनाई में उपलब्ध होती हैं।

(2) यह सिद्धान्त कुछ मान्यताओं पर आधारित है (1) उपयोगिता की माप की जा सकती है (ii) उपयोगिता को मौद्रिक इकाइयों में व्यक्त किया जा सकता है (iii) वस्तु की विभिन्न इकाइयों की उपयोगिता विभिन्नता पाई जाती है (iv) मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता यथास्थिर रहती है आदि। परन्तु ये सभी मान्यताएँ भी व्यावहारिक हैं। अत मान्यताओं की अव्यावहारिकता के कारण यह सिद्धान्त काल्पनिक एवं भ्रमात्मक है।

(3) उपभोक्ता की बचत परिवर्तनशील है इस परिवर्तन की तीसरा प्रमुख आलोचना यह प्रस्तुत की गई है कि उपभोक्ता की बचत परिवर्तनशील है जैसे वस्तु की कीमत बढ़ने पर उसमें प्राप्त उपभोक्ता की बचत कम हो जाती है। उपभोक्ता की आय रुचि आदत तथा प्रचलित फैशन में परिवर्तनों के कारण भी उपभोक्ता की बचत बदल जाती है। परन्तु इसका उत्तर यह दिया जा सकता

है कि संसार में परिवर्तन हर दिशा में होते रहते हैं। कोई भी वस्तु स्थायी नहीं है।

(4) उपभोक्ता की बचत का अनुमान अनिवार्यताओं के सन्दर्भ में नहीं लगाया जा सकता चौथी प्रमुख आलोचना यह है कि उपभोक्ता की बचत का अनुमान अनिवार्यताओं के सन्दर्भ में नहीं लगाया जा सकता। ऐसी वस्तुओं की उपयोगिता असीम होती है।

एक उपभोक्ता अपने प्राणों की रक्षा हेतु कहीं अधिक त्याग करने को तत्पर हो सकता है। वह अपना सर्वस्व देने को भी तैयार हो सकता है। ऐसी स्थिति में इन वस्तुओं में प्राप्त उपभोक्ता की बचत का पता लगाना कठिन होता है। उदाहरणार्थ एक प्यासा धनी व्यक्ति रेगिस्तान में यात्रा करते हुए अपने प्राणों की रक्षा हेतु एक गिलास पानी के लिए 1 लाख रुपये देने को तत्पर हो सकता है। परन्तु वास्तव में संयोग से वह पानी का गिलास कम ही अन्य राहगीर से प्राप्त कर लेता है तो ऐसी स्थिति में यह कहना कि उसे 1 लाख रुपये की उपभोक्ता की बचत मिली है हास्यास्पद अवास्तविक भ्रमात्मक तथा काल्पनिक बात प्रतीत होती है। इसके लिए प्रो० पटेन ने उपभोक्ता की बचत के विचार को दुर्लभ अर्थव्यवस्था में लागू न कर केवल सुखमय अर्थव्यवस्था में ही लागू करने की सलाह दी थी।

5 सन्तुष्टि एव उपयोगिता के बीच सम्बन्ध नहीं होता अनेक अर्थशास्त्रियों ने मार्शल की इस मान्यता को चुनौती दी है कि सन्तुष्टि तथा उपयोगिता के बीच एक निश्चित सम्बन्ध होता है। सन्तुष्टि तथा उपयोगिता अर्थात् प्रत्याशित सन्तुष्टि के बीच निश्चित सम्बन्ध कायम करना कठिन है। उदाहरण के लिए हमने एक फल वाले से 1 किलो सेब 5 रुपये में इस विचार से खरीदे कि इनकी उपयोगिता 6 रुपये के बराबर होगी। किन्तु उन्हें खाने पर पता लगा कि वे खट्टे हैं और उनकी उपयोगिता 4 रुपये किलो मिलने वाले सेबों के तुल्य ही है। अतः हमें 1 रुपये के बराबर उपभोक्ता की बचत प्राप्त होने के स्थान पर 1 रुपये की हानि हो गई। अतः यह विचारधारा काल्पनिक है।

6 वस्तु से प्राप्त उपयोगिता तथा उसके लिए किया गया त्याग समान होता है पूलिस गोदो की मान्यता है कि उपभोक्ता की आय स्थिर होती है और उसके द्वारा वह अनेक वस्तुओं का उपभोग करता है। ऐसी स्थिति में यदि हम उपभोक्ता की स्थिर आय तथा सम्पूर्ण क्रय की गई वस्तुओं की ओर ध्यान दें तो यह विदित होता है कि प्रत्येक वस्तु के लिए उसके सम्भावित व्यय तथा उस पर जो व्यय वह वास्तव में करता है दोनों समान होते हैं। उनमें कोई अन्तर नहीं होता। वह अपनी स्थिर आय का जो भाग व्यय करना चाहता है वास्तव में वही व्यय करता है। इसीलिए, अन्तत वास्तविक व्यय तथा सम्भावित व्यय बराबर हो जाते

हैं। गोबी के अनुसार यह अन्तर कुल वस्तु के सम्बन्ध में ही शून्य नहीं होगा, बल्कि एक वस्तु के सम्बन्ध में भी शून्य होता है। अतः मार्शल द्वारा प्रतिपादित इस प्रकार की कोई उपभोक्ता की बचत प्राप्त नहीं होगी।

7 **उपभोक्ता की बचत का ठीक ठीक मापन असम्भव** इस अवधारणा की एक आलोचना यह भी दी जाती है कि मुद्रा के रूप में इसकी ठीक ठीक माप करना कठिन है क्योंकि (i) उपयोगिता **एक वयक्तिक और मनोवैज्ञानिक अवधारणा** है जिसे द्रव्यरूपी पमाने में नहीं मापा जा सकता। (ii) उपभोक्ताओं के पास **माग मूल्य की पूरी सूची** उपलब्ध नहीं होती। (iii) उपभोक्ताओं की **आर्थिक स्थिति में भिन्नता होती है।** (iv) **उपभोक्ताओं को स्थानापन्न वस्तुओं की प्राप्ति** से उपभोक्ता की बचत का ठीक माप मालूम नहीं हो सकता। (v) उपभोक्ताओं की **आय रुचि व विचारों मे अन्तर व परिवतन** होना रहता है। (vi) **द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता स्थिर नहीं** रहती है। अतः इन उपयुक्त कठिनाइयों के कारण जब उपभोक्ता की बचत का माप ही नहीं हो सकता तो ऐसी स्थिति में उसका व्यावहारिक महत्त्व ही क्या रह जाता है। किन्तु **प्रो० मार्शल** का इस सम्बन्ध में कहना है कि हम अपने दैनिक जीवन में अपनी इच्छाओं तथा आवश्यकताओं को मुद्रा के रूप में व्यक्त कर सकते हैं। अतः मुद्रारूपी मापदण्ड के अधूरे होने पर भी अपनी व्यक्तिगत सन्तुष्टि को मुद्रा के रूप में व्यक्त करना अनुचित नहीं है। **प्रो० हिक्स** ने इस माप के निराकरण हेतु उपभोक्ता की बचत को तटस्थता वक्र रेखाओं के द्वारा मापने का प्रयास किया है।

उपरोक्त आलोचनाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उपभोक्ता की बचत एक काल्पनिक तथा अवैज्ञानिक धारणा है तथा इसकी माप नहीं की जा सकती फिर भी इस धारणा का सैद्धान्तिक महत्त्व है। सम्युएलसन ने भी इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में ऐसा ही विचार व्यक्त किया है।[1]

प्रो० रावटसन ने इस विचार के पक्ष में कहा है कि हम यह मानते हैं कि उपभोक्ता की बचत की धारणा से बहुत अधिक आशा नहीं करते तो भी बौद्धिक दृष्टि से यह सामान्यतया व्यावहारिक कार्यों में मार्गदर्शन की दृष्टि से लाभदायक है। प्रत्येक उपभोक्ता व्यवहारिक रूप में उपभोक्ता की बचत महसूस करता है। वस्तुओं की खरीदते समय उपभोक्ता जो कीमत चुकाता है वह कीमत निःसन्देह उस कीमत से कम रहती है जो उस वस्तु के प्राप्त न होने की अवस्था में उपभोक्ता चुकाने के लिए तत्पर होता है। हाँ यह आलोचना सही है कि उपभोक्ता की बचत की सही माप नहीं की जा सकती।

---

1 The subject is of historical and doctrinal importance with a limited amount of appeal as mathematical puzzle

—*Samuelson* Foundations of Economic Analysis p 207

उपभोक्ता की बचत की माप
(Measuring Con umer s Surplus)

प्रो० मार्शल न उपयोगिता को द्रव्यरूपी पमान द्वारा मापनीय माना है। उनके अनुसार किसी वस्तु क उपभोग स प्राप्त होने वाली उपयोगिता को उस मुद्रा राशि के तुल्य माना जा सकता है जिसे उपभोक्ता उसके उपभोग से वंचित रहने के बजाय उसके लिए देने को तयार होता है। इस प्रकार यदि हम वस्तु क उपभोग से प्राप्त होने वाली कुल उपयोगिता म स वस्तु के क्रय क लिए चुकाई गई कीमत या मुद्रा की उपयोगिता घटा द तो उपभोक्ता की बचत प्राप्त हो जाती है। उपभोक्ता की बचत मापन क लिए निम्नांकित गणितीय सूत्र का भी प्रयोग किया जाता है

उपभोक्ता की बचत = कुल उपयोगिता – वस्तु की एक इकाई की कीमत × वस्तु की क्रय की गई कुल इकाइयां

or C S = T U – Unit Price × No of Units

प्रो० मार्शल ने उपभोक्ता की बचत की अवधारणा का प्रतिपादन सम्पूर्ण बाजार के लिए भी किया है। जसा कि हम विदित है, यद्यपि बाजार म उपभोक्ताओं की आय रुचि फैशन आदि म अन्तर तथा विभिन्नताएँ पाई जाती हैं किन्तु व आपस म समयोजित होकर इन अन्तर व विभिन्नताओं का निष्प्रभावी बना देती है। इसके लिए उपभोक्ता की बचत का निम्न सूत्र दिया है

सम्पूर्ण बाजार के उपभोक्ताओं की बचत = बाजार की माग क मूल्यों का योग – उनका वास्तविक मूल्य

प्रो० हिक्स और एलन न यह कहा है कि न तो उपयोगिता की माप की जा सकती है न और मुद्रा का सीमान्त उपयोगिता ही स्थिर है। उनके अनुसार हम इस तथ्य की उपेक्षा नहीं कर सकते हैं कि व्यय की मात्रा म वृद्धि के साथ साथ मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता बढ़ती जाती है। परन्तु यदि हम उपभोक्ता की बचत को आय की बचत (Saving of Income) की तरह मान लें तो मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता को स्थिर मानना अनावश्यक हो जाता है। मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता को यथा स्थिर मानने का अर्थ यह होगा कि हम कीमत परिवर्तन क आय प्रभाव की उपेक्षा कर रहे है। प्रो हिक्स ने (i) उपयोगिता को अमापनीय (ii) मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता को परिवर्तनशील मानकर और (iii) स्थानापन्न व पूरक वस्तुओं क प्रभाव को ध्यान म रखते हुए उपभोक्ता की बचत को मापने का ढंग बतलाया है। इस प्रकार उन्होंने मार्शल द्वारा बतलाए गए उपभोक्ता की बचत के दोषों को दूर करने का प्रयत्न किया। हिक्स ने उपभोक्ता की बचत को नये दृष्टिकोण स देखा। उन्होंने कहा कि यदि वस्तु की कीमत गिरती है तो उपभोक्ता के लिए इसके दो परिणाम हो सकते हैं

(i) उस सस्ती वस्तु (जिसकी कीमत गिर गई है) का वह पहले की अपेक्षा अधिक मात्रा में खरीद सकता है तथा इस प्रकार अधिक खरीदी हुई वस्तु का प्रयोग उस अन्य वस्तु के स्थान पर कर सकता है जिसकी कीमत गिरी नहीं है अथवा

(ii) कीमत गिर जाने से वस्तु सस्ती हो जायगी तथा पहले जितनी मात्रा खरीदने पर उपभोक्ता का खर्च अब कम होगा।

उक्त दोनों बातों का प्रभाव यह होगा कि उपभोक्ता कीमत गिर जाने के कारण पहले की अपेक्षा अच्छी स्थिति में होगा अर्थात् **कीमत गिरने के कारण उपभोक्ता की वास्तविक आय में जो वृद्धि हो जायेगी वह वृद्धि उपभोक्ता की बचत है।** हिक्स के अनुसार उपभोक्ता की बचत को स्पष्ट करने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि कीमत में कमी के कारण उपभोक्ता को प्राप्त होने वाले लाभ को मौद्रिक आय के रूप में व्यक्त किया जाय।[1] अतः हिक्स द्वारा प्रस्तुत व्याख्या अधिक वैज्ञानिक तथा अधिक व्यावहारिक हैं। अब हम चित्र सं० 8 की सहायता से हिक्स की व्याख्या को स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे।

(1) **मार्शल की उपभोक्ता की बचत** का तटस्थता वक्र द्वारा माप चित्र सं० 8 में उपभोक्ता की मौद्रिक आय OY अक्ष पर तथा वस्तु की मात्रा को OX अक्ष पर दिखलाया गया है। MP_2 कीमत रेखा है। बिन्दु R उपभोक्ता का सन्तुलन
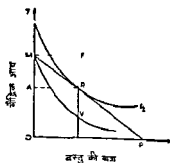
चित्र सं० 8

बिन्दु है (I_2 तटस्थता वक्र पर) जो यह बतलाता है कि उपभोक्ता वस्तु की OX_2 मात्रा + OA मुद्रा के संयोग पर है। इसका अर्थ यह है कि उपभोक्ता वस्तु की

1 "The best way of looking at consumer's surplus is to regard it as a means of expressing in terms of money income the gain which accrues to the consumer as a result of a fall in prices

—*Hicks* Value and Capital p 13

OX_2 मात्रा खरीदने के लिए MA या FR मुद्रा देता है। इसरे तटस्थता वक्र I_2 पर बिन्दु V यह बतलाता है कि उपभोक्ता वस्तु की OX_2 मात्रा खरीदने के लिए FV मुद्रा देने के लिए तैयार है परन्तु वास्तव में वह OX_2 वस्तु की मात्रा के लिए केवल FR या MA मुद्रा ही देता है। इस प्रकार FV FR = RV उपभोक्ता की बचत हुई। RV यहां उपभोक्ता की बचत है जिसको मार्शल ने उपभोक्ता की बचत कहा है। इस प्रकार चित्र में मार्शल द्वारा बतलाया गया उपभोक्ता की बचत RV है जिसे हिक्स ने तटस्थता वक्रों की सहायता से स्पष्ट किया है।

(2) क्षतिपूरक परिवर्तन (The Compensating Variation) हिक्स ने एक दूसरे दृष्टिकोण से भी उपभोक्ता की बचत पर विचार किया है। उनके अनुसार 'उपभोक्ता की बचत' आय में उस क्षतिपूरक परिवर्तन के समान है जिसकी अनुपस्थिति कीमत में कमी के लाभ को समाप्त कर देगी और उपभोक्ता पहले से अच्छी स्थिति में नहीं रहेगा।"[1]

यदि वस्तु के मूल्य में कमी होती है तो उपभोक्ता की वास्तविक आय में वृद्धि होती है अर्थात् वह अपनी आय द्वारा अब वस्तु की अधिक मात्रा खरीद सकता है। अब उपभोक्ता की बचत मौद्रिक आय में उस क्षति के बराबर होगी जिसके फलस्वरूप उपभोक्ता की वास्तविक आय पहले के समान रहती है। जब किसी व्यक्ति की दैनिक आय पाँच रुपए है। वह इन पांच रुपयों से पांच मीटर कपड़ा खरीद सकता है। यदि कपड़े का भाव पांच रुपए प्रति मीटर से घटकर तीन रुपए प्रति मीटर हो जाए तो अब उपभोक्ता तीन रुपए में ही एक मीटर कपड़ा खरीद सकेगा। यदि उसकी आय पाँच रुपए प्रति दिन से कम करके केवल तीन रुपया प्रति दिन कर दी जाए तो भी उसकी वास्तविक आय में कमी नहीं होगी क्योंकि वह घटी हुई आय से भी वस्तु सस्ती हो जाने के कारण पहले जितनी मात्रा में वस्तु खरीद सकता है। इस प्रकार उसकी वास्तविक आय पहले जैसी ही रहेगी। अतः इस उदाहरण में उपभोक्ता की बचत दो रुपया हुई जो वस्तु की कीमत गिरने तथा मौद्रिक आय पहले के ही समान रहने के कारण प्राप्त होता है।

(3) समान परिवर्तन (Equivalent Variation) यदि उपभोक्ता को वस्तु खरीदने का बिल्कुल मौका न दिया जाए तो वह कीमत की कमी से लाभ नहीं उठा सकेगा। अतः वह इसके लिए क्षतिपूर्ति चाहेगा। उसे इतनी मात्रा में क्षतिपूर्ति मिलनी चाहिए जिससे वह उच्च तटस्थता वक्र (Higher Indifference Curve) पर रह सके। क्षतिपूर्ति की इस मात्रा को समान परिवर्तन वक्र (Equivalent Variation Curve) कहते हैं।

---

1 "Consumer's surplus is the compensating variation in income whose loss would just offset the fall in price and leave the cousumer no better off than before."

—Hicks

उपभोक्ता की बचत का महत्त्व
(Importance of Consumer s Surplus)

विभिन्न प्रकार की आलोचनाओं तथा उपभोक्ता की बचत की संदेहपूर्ण मापनीयता के होते हुए भी यह सिद्धान्त अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। उपभोक्ता की बचत इस अवधारणा के परिणामस्वरूप प्राप्त वस्तु के उपभोग तथा विनिमय मूल्य म अन्तर स्पष्ट हो जाता है। इस अवधारणा से उपभोक्ता विभिन्न देशों समुदायों तथा समयों की आर्थिक समृद्धि की तुलना करने म सक्षम होता है। इसकी सहायता से वह वित्तीय नीतियों के निर्धारण एकाधिकार मूल्यों के निर्धारण तथा अन्य आर्थिक क्षेत्रों म भी नीति निर्धारण म समर्थ हो जाता है। उपभोक्ता की बचत के महत्त्व को हम दो भागों म विभक्त कर अध्ययन कर सकते हैं

I उपभोक्ता की बचत की अवधारणा का सैद्धान्तिक महत्त्व (Theoretical Importance) तथा

II उपभोक्ता की बचत की अवधारणा का व्यावहारिक महत्त्व (Practical Importance)।

1 उपभोक्ता की बचत की अवधारणा का सैद्धान्तिक महत्त्व
(Theoretical Importance of the Concept of Consumer s Surplus)

सैद्धान्तिक दृष्टि से इस अवधारणा का अत्यधिक महत्त्व है। यह अवधारणा इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करती है कि किसी वस्तु के उपयोग मूल्य (Value in Use) तथा विनिमय मूल्य (Value in Exchange) म अन्तर होता है। हम अपने दैनिक जीवन म यह अनुभव करते हैं कि अनेक वस्तुओं का जिनका हम उपभोग करते हैं उपयोग मूल्य तो बहुत अधिक होता है किन्तु उनके लिए चुकाई जाने वाली कीमत अर्थात् विनिमय मूल्य काफी कम होता है। उदाहरण के लिए इन वस्तुओं म दियासलाई पोस्टकाड व समाचार-पत्र आदि को लिया जा सकता है। इस प्रकार इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी वस्तु का उपयोग मूल्य तथा विनिमय मूल्य समान हो आवश्यक नहीं है। उपभोक्ता की बचत द्वारा हम इस तथ्य का ज्ञान होता है कि हम समाज या अर्थव्यवस्था से ऐसे अनेक लाभ प्राप्त होते हैं जिनके विषय म हम जागरूक नहीं हैं या सामान्यत हमारा ध्यान उनकी तरफ नहीं जाता है। इससे हम बात का पता चलता है कि जिस देश म विभिन्न प्रकार की सस्ती वस्तुए यथेष्ठ मात्रा म उपलब्ध होती हैं उस देश के उपभोक्ताओं को अत्यधिक मात्रा में उपभोक्ता का अतिरेक प्राप्त होता है। हम अचेतन रूप म सामाजिक वातावरण से जो लाभ प्राप्त होता है उसका अनुमान हम नहीं लगा सकते हैं। यदि एक कुशल उत्पादक को प्राकृतिक साधन मशीन श्रम तथा प्राविधिक ज्ञान (जो समाज से ही प्राप्त होते हैं) आदि से वंचित कर दिये जाए तो उसकी कुशलता का कुछ भी उपयोग नहीं होगा। इन चीजों से उसे ज

लाभ प्राप्त होते है वे परोक्ष रूप म उसके लिए उपभाक्ता की बचत के प्रतीक हैं। सम्युएलसन के शब्दो म, विभिन्न प्रकार की वस्तुओ को कम मूल्यो पर खरीदने म समथ होना कम महत्त्वपूर्ण नही है यह अत्यन्त ही स्पष्ट ह कि हम एक एस आर्थिक जगत की सुविधाओ से लाभान्वित हो रहे ह जिसका निर्माण हमने कभी नही किया था।[1]

II उपभोक्ता की बचत की अवधारणा का व्यावहारिक महत्त्व
(Practical Importance of the Concept of Consumer s Surplus)

उपभोक्ता की बचत का व्यावहारिक दृष्टि स अत्यधिक महत्त्व है। इस अवधारणा क आधार पर आर्थिक प्रगति अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार विभिन्न देशो की समृद्धशीलता क्षेत्रीय विषमताओ आर्थिक प्रगति की तुलना, एकाधिकारी मूल्यो का निर्धारण कर-नीति निधारण आदि अनेक क्षेत्रो के सम्बन्ध म हम पूर्ण जानकारी प्राप्त कर उचित नीतियो का निधारण कर सकते हैं। उपभोक्ता की बचत की अवधारणा का व्यावहारिक महत्त्व निम्नलिखित खण्डो म स्पष्ट किया गया है

1 आर्थिक प्रगति की तुलना इस सिद्धान्त की सहायता स हम दो देशो के आर्थिक विकास तथा उन्नति की तुलना कर सकते हैं। अधिक उपभोक्ता की बचत (अन्य बातो क यथावत् रहने पर) आर्थिक उन्नति का प्रतीक है।

2 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ को मापने मे सहायक इसके द्वारा हम अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से प्राप्त लाभो का अनुमान लगा सकते है। सस्ती दर पर विदेशी वस्तुएँ खरीदने स अतिरिक्त उपयोगिता मिलती ह जो उपभोक्ता की बचत का द्योतक है।

3 मूल्य-परिवतन का प्रभाव इसकी सहायता से मूल्य-परिवतन द्वारा उपभोक्ताओ पर पडे प्रभाव की जानकारी प्राप्त की जा सकती है। मूल्य-परिवतन स उपभोक्ता की बचत म हुई वृद्धि उपभोक्ता क लिए हितकर होती है।

4 कर नीति सरकार इसके द्वारा विभिन्न वर्गों पर पडे कर भार का अनुमान लगा सकती है। अतिरिक्त कर उपभोक्ता की बचत को कम करता है। अत सरकार एसी कर-नीति अपना सकती है जिसम उपभोक्ता की बचत म न्यूनतम कमी हो। वित्त मंत्री कर लगान स पूर्व यह देख लेता है कि किन किन वस्तुओ क उपभोग स उपभोक्ता को अधिक उपभोक्ता की बचत प्राप्त होती है। वह

---

1 The privilege of being able to buy a vast array of goods at low prices cannot be overestimated It is only too clear that all of us are reaping the benefits of an economic world we never made

—*Samuelson*

इसी प्रकार की वस्तुओं पर कर लगाता है। उसकी सफलता इसी बात पर निर्भर करती है कि वह पर्याप्त मात्रा में करों की राशि भी प्राप्त कर लें और उपभोक्ताओं पर कोई अतिरिक्त कर का भार भी न पड़े।

5 उद्योगों को आर्थिक सहायता प्रदान करने में दिशा निर्देशन जब सरकार किसी उद्योग को आर्थिक सहायता देती है तो उपभोक्ता की बचत का ध्यान रखा जाता है। प्रो० मार्शल ने इस सम्बन्ध में सुझाव भी दिया है कि समाज के कल्याण को बढ़ावा देने की दृष्टि से सरकार को चाहिए कि वह ऐसे उद्योगों पर कर लगाये जिनमें उत्पत्ति ह्रास नियम लागू हो रहा हो और उनसे होने वाली आय का ऐसे उद्योगों को आर्थिक सहायता देने में उपयोग करे जिनमें उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू हो रहा हो। समता उत्पत्ति नियम लागू होने वाले उद्योग को स्वतन्त्र छोड़ देना चाहिए।

इस प्रकार की आर्थिक सहायता के फलस्वरूप उत्पादन की मात्रा में वृद्धि होने से वस्तु का बाजार मूल्य गिरता है *और उससे उपभोक्ता की बचत बढ़ जाती है।* यदि यह बचत दी गई आर्थिक सहायता की तुलना में अधिक होती है तो ऐसे उद्योगों को आर्थिक सहायता लाभदायक होती है, अन्यथा नहीं।

6 एकाधिकारी यह सिद्धान्त एकाधिकारी के लिए अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। उपभोक्ता की बचत को ध्यान में रखते हुए एकाधिकारी मूल्यों में इस प्रकार परिवर्तन करता है जिससे उसका लाभ अधिकतम हो सके। यदि किसी वस्तु से उपभोक्ताओं को उपभोक्ता की बचत बहुत अधिक प्राप्त होती है तो एकाधिकारी ऐसी वस्तु का मूल्य कुछ बढ़ा सकता है। परन्तु मूल्य बढ़ाते समय इस बात का ध्यान रखना होगा कि कहीं उपभोक्ता की बचत पूर्णतया समाप्त न हो जाए। ऐसी मूल्य वृद्धि से वस्तु की माँग कम हो जाती है।

निष्कर्ष

इस प्रकार उपयुक्त विवरण के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उपभोक्ता की बचत की अवधारणा व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक दोनों दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

प्रो हिक्स द्वारा उपभोक्ता की बचत की धारणा का पुनर्निर्माण
(Rehabilitation of Consumer s Surplus by Hicks)

प्रो० हिक्स तथा उसके साथियों ने प्रो० मार्शल द्वारा प्रतिपादित उपभोक्ता की बचत की अवधारणा की उसकी *अवास्तविक तथा काल्पनिक मान्यताओं* के कारण कटु आलोचना की है। प्रो० हिक्स ने बतलाया कि (i) परिमाणात्मक रूप से उपभोक्ता की बचत की माप करना असम्भव है। (ii) मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता भी स्थिर नहीं रहती है क्योंकि व्यय के कारण मुद्रा में जो कमी

14

तटस्थता वक्र विश्लेषण
(Indifference Curve Analysis)

> Indifference curve analysis uses as its basis this fact that if a person has no especial preference as between a given amount of one commodity and a given amount of another i e he is indifferent as between these alternatives then he derives an equal degree of satisfaction from the two sets of commodities
>
> —*Edward Nevin*

1 उपयोगिता विश्लेषण के दोष

मार्शल ने माग के नियम की व्याख्या उपयोगिता विश्लेषण के आधार पर की थी। उन्होंने उपयोगिता की मात्रा को मापनीय माना था। परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्रियो ने इस सम्बन्ध मे मार्शल की मान्यताओं का खण्डन किया है। इनके अनुसार उपयोगिता एक व्यक्तिगत धारणा तथा मानसिक अवस्था का आभास मात्र है। विलफ्रेड परेटो पहले अर्थशास्त्री थे जिनका कहना था कि उपयोगिता अमाप्य होती है। इस कथन के आधार पर ही बाद मे चलकर उपयोगिता विश्लेषण के निम्नलिखित दोषो पर प्रकाश डाला गया

(1) **उपयोगिता विश्लेषण का सबसे बडा दोष यह है कि उसमे स्वय उपयोगिता की धारणा स्पष्ट नहीं है।** उपयोगिता व्यक्तिगत तथा सापेक्ष होने के कारण एक स्थिर तत्त्व है। वास्तव मे वह ,उपभोग के पहले किसी उपभोक्ता की व्यक्तिगत मानसिक भावना है जो आवश्यकता की तीव्रता तथा उसके प्रभावकारी तत्त्वो पर निर्भर होती है। यही कारण है कि **उपयोगिता उपभोग के बाद प्राप्त किये गये सन्तोष से अलग है।** इसके अलावा अलग अलग व्यक्तियो के लिए किसी एक ही वस्तु की उपयोगिता समान नही होती। यहाँ तक कि एक ही व्यक्ति के लिए अलग अलग समयो मे एक ही वस्तु की उपयोगिता भी अलग अलग होती है। अत ऐसी व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक या मानसिक भावना की सही माप किसी वस्तुगत पैमाने (Objective Standard) के आधार पर सम्भव नही है।

(2) दूसरा दोष यह है कि मार्शल ने उपयोगिता के परिमाण की माप का जो आधार माना था वह ठीक नहीं है। उनके अनुसार किसी वस्तु के लिए दिया जाने वाला मूल्य इस वस्तु से प्राप्त होने वाली उपयोगिता का सूचक है। अत किसी भी वस्तु या सेवा की उपयोगिता मुद्रा के रूप में माप्य है। इस धारणा पर ही उन्होंने उपयोगिता विश्लेषण विधि को इस तथ्य पर आधारित किया था कि उपभोक्ता जैसे-जैसे अधिक धन व्यय करता जाता है वैसे-वैसे मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता में समान रहने की प्रवृत्ति होती है। परन्तु वास्तविकता तो यह है कि मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता स्थिर नहीं होती। मुद्रा की जैसे-जैसे अधिक इकाइयाँ व्यय की जायगी त्यों त्यों आय (धन) में कमी होने पर मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता बढती जायगी। अत यह स्पष्ट है कि मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता के समान रहने की धारणा ठीक नहीं है। अत उसके आधार पर मापी गयी उपयोगिता भी ठीक नहीं होगी।

2 प्राथमिकता दृष्टिकोण का महत्त्व

मार्शल तथा उनके अनुयायियों ने उपयोगिता विश्लेषण में सख्यात्मक दृष्टिकोण (Cardinal Approach) अपनाया था। यह दृष्टिकोण भी इस मान्यता पर ही आधारित है कि उपयोगिता मापनीय है।[1] इस आधार पर यह कहा जाता है कि यदि एक प्याला चाय तथा एक प्याला दूध की उपयोगिताओं की तुलना करनी हो तो दोनों से प्राप्त होने वाली उपयोगिताओं को सख्या-सूचक अंकों (cardinal numbers) 1 2 3 में व्यक्त करना उचित होगा। उदाहरणार्थ यदि यह कहा जाय कि एक प्याले दूध की उपयोगिता एक प्याले चाय की उपयोगिता से दुगुनी है तो इस कथन से कुछ स्पष्ट अर्थ भी निकलता है। आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने सख्यात्मक दृष्टिकोण को गलत माना है। उनका कहना है कि उपयोगिता की मात्रायें सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों रूपों में स्वभावत अमापनीय हैं।[2] इन अर्थशास्त्रियों की यह धारणा है कि मापनीय उपयोगिता पर विचार किए बगैर भी उपभोक्ता आचरण के विभिन्न पहलुओं की व्याख्या की जा सकती है। अत उन्होंने उपभोक्ता विश्लेषण के लिए क्रम सूचक दृष्टिकोण अपनाया है। इस दृष्टिकोण के अन्तर्गत उपयोगिता मापनीय नहीं होती बल्कि तुलनीय होती है। क्रम सूचक दृष्टिकोण से यह ज्ञात होता है कि उपभोक्ता एक वस्तु की तुलना में दूसरी वस्तु चाहेगा या नहीं ?

---

1 Neo classical cardinal utility carrieswith its the assumption of measurability

2 Quantities of utility are inherently immeasurable theoretically *and conceptually* as well as practically

उपभोग्य वस्तुओं के महत्त्व के आधार पर उपभोग क्रम में किस वस्तु को कितनी मात्रा को प्राथमिकता दी जाय ? उपभोक्ता सवप्रथम इस प्रश्न पर विचार करता है। इस विचार के आधार पर ही वह यह बता सकता है कि किसी वस्तु की अमुक मात्राओं को अपेक्षा वह किसी अन्य वस्तु की कितनी मात्रायें लेना पसन्द करेगा। यही उसका क्रम-सूचक दृष्टिकोण है जिसे पसन्दगी या प्राथमिकता दृष्टिकोण (Pr ference approach) कहा जाता है। उदाहरणार्थ उपभोक्ता के सामने चाय और दूध की मात्राओं के चुनाव का प्रश्न है। प्राथमिकता दृष्टिकोण के अन्तर्गत उसे यह जानना आवश्यक नहीं होगा कि दूध की उपयोगिता चाय की उपयोगिता से कितनी अधिक या कम है। वह प्राथमिकता क्रम (Scale of pr fer nc s) के अनुसार दोनों में प्राथमिकता के आधार पर चुनाव करेगा। वह यदि एक प्याले दूध को पहला तथा दूसरे प्याले दूध को दूसरा स्थान देता है तो ये क्रम-सूचक संख्यायें (Ordinal num b r) कहलायेंगी। इन संख्याओं के आधार पर ही उपभोक्ता के लिये वस्तुओं के महत्त्व अथवा उनकी पसन्दगी के क्रम निर्धारित किए जाते हैं।[1] इससे यह स्पष्ट है कि प्राथमिकता दृष्टिकोण के अन्तर्गत वस्तुओं की उपयोगिता की संख्यात्मक माप की जरूरत नहीं पड़ती। परन्तु इस सम्बन्ध में यह ध्यान रहे कि प्राथमिकता क्रम निर्धारित करते समय भी उपभोक्ता केवल वस्तुओं का ही नहीं बल्कि उनकी मात्राओं को भी निर्धारित करता है। बेनहम के अनुसार किसी व्यक्ति का पसन्दगी-मान या प्राथमिकता क्रम उसकी रुचियों की संख्यात्मक अभिव्यक्ति है।[2]

3 तटस्थता विश्लेषण का संक्षिप्त परिचय

तटस्थता वक्र का प्रयोग नया नहीं है। एजवर्थ (Edgeworth) पहले अंग्रेज अर्थशास्त्री थे जिन्होंने 19वीं शताब्दी में ही माँग पर प्रतियोगी तथा पूरक वस्तुओं के प्रभावों का अध्ययन करने के लिए तटस्थता-वक्रों (Indiff rence Curves) का प्रयोग किया था। इसके पश्चात् तटस्थता वक्रों का प्रयोग यूरोपीय देशों के अर्थशास्त्रियों द्वारा अधिक किया गया। इटेलियन अर्थशास्त्री विलफ्रेड परेटो ने एजवर्थ की तटस्थता-वक्र प्रयोग विधि में कुछ सुधार करके उसका विस्तृत प्रयोग किया। वास्तव में परेटो ने ही सबसे पहले सन् 1903 में अपनी पुस्तक *Manuale d Economic* में उपयोगिता की व्याख्या के लिए क्रम-सूचक दृष्टिकोण का उल्लेख किया था। उन्होंने उपयोगिता को अमापनीय माना था। उनका कहना था कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए विभिन्न वस्तुओं के बीच प्राथमिकता क्रम तैयार किया जा सकता है तथा उसे तटस्थता वक्रों द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। इसके बाद

1 Ordinal utility means that the consum r is as umed to order or rank, the subjective utilities of goods

2 A person s cale of preferences is the quantita ive expression of his tastes.

सन् 1915 में रूसी अर्थशास्त्री स्लटस्की (Slutsky) ने अपने एक लेख में परेटो की तटस्थता विश्लेषण विधि को स्पष्ट किया था।

सन् 1930 ई. से अंग्रेज अर्थशास्त्रियों ने पुनः इस विधि के महत्त्व एवं प्रयोग पर ध्यान देना प्रारम्भ किया। उसके बाद में उपयोगिता के संख्यात्मक दृष्टिकोण की हमेशा आलोचना की जा रही है। परिणामस्वरूप **क्रम सूचक उपयोगिता विश्लेषण** आधुनिक उपयोगिता विश्लेषण का आधार बन गया तथा तटस्थता वक्र उसके सहायक यन्त्र है।[1] वास्तव में तटस्थता वक्र ने **ह्रासमान सीमान्त वक्र का स्थान ले** लिया है। इसका श्रेय दो अंग्रेज अर्थशास्त्रियों **प्रो० जे० आर० हिक्स** (Prof J R Hicks) तथा **प्रो० आर० जी० डी० एलन** (Prof R G D Allen) को है। इन्होंने इस बात पर विशेष बल दिया है कि क्रम सूचक उपयोगिता के आधार पर उपभोक्ता आचरण तथा मूल्य के सिद्धान्तों का फिर से निर्माण किया जाय। इनके अतिरिक्त **आस्ट्रियन स्कूल** के विचारकों **विक्स्टीड** (Wicksteed) **वीजर** (Wieser) **चेम्बरलिन** (Chamberlin) आदि ने भी माँग विश्लेषण के लिए तटस्थता वक्रों का प्रयोग किया है।

4 तटस्थता वक्र विधि के आधार

तटस्थता वक्र विश्लेषण की विधि निम्नलिखित तथ्यों पर आधारित है

(1) **पसन्दगी के मान** (Scale of Preferences) उपयोगिता वक्र (Utility Curve) केवल एक ही वस्तु **की ह्रासमान** सीमान्त उपयोगिता **को** व्यक्त करता है। परन्तु प्रत्येक विवेकशील उपभोक्ता के विभिन्न वस्तुओं के चुनाव के सम्बन्ध में अपनी पसन्दगी के मान होते हैं। वह उन वस्तुओं में आवश्यकताओं की पूर्ति करने की शक्ति के आधार पर उनके महत्त्व तथा अपनी मानसिक पसन्दगी एवं रुचि के क्रम में एक सूची तैयार करता है।

(2) **विभिन्न वस्तुओं के संयोग की वाछनीयता** (Desirability of combinations of goods) वस्तुओं में आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने की शक्ति के क्रम में पसन्दगी मान की सूची तैयार कर लेने के पश्चात् उपभोक्ता उसके **माध्यम से यह निश्चित करता है कि वस्तुओं के विभिन्न संयोगों में से कौन सा संयोग किसी अन्य संयोग से अधिक कम या समान सन्तुष्टि प्रदान करेगा ? इन** संयोगों **को** निश्चित करने का कारण यह है कि उपभोक्ता **की माँग** केवल एक वस्तु तक ही सीमित नहीं रहती। विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसको अपने सीमित साधनों को ध्यान में रखकर कई वस्तुओं का चुनाव करना पड़ता है। विभिन्न आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने की इच्छा से ही वह केवल यह निश्चय

---

1 Ordinal utility was set on a throne consisting of a box of tools containing indifference curves

नहीं करता कि किसी एक समय विशेष में यह कौन सी वस्तु क्रय करना चाहता है बल्कि वह यह निश्चय करता है कि उस काल में विभिन्न वस्तुओं के किन संयोगों से (किन किन वस्तुओं का एक साथ क्रय करने पर) उसे समान सन्तुष्टि या उपयोगिता प्राप्त होगी।

5 तटस्थता वक्र विधि का अर्थ

तटस्थता वक्र विधि क्रम सूचक उपयोगिता की व्याख्या करने की एक ऐसी विधि है जिससे दो या दो से अधिक वस्तुओं के ऐसे विभिन्न संयोगों को ज्ञात किया जा सकता है जिनसे किसी उपभोक्ता को समान सन्तुष्टि मिलती है। इस विधि के द्वारा उपभोक्ता के पसन्दगी मान (Scale of preferences) के आधार पर विभिन्न वस्तुओं के उन संयोगों का ज्ञान करने में सुविधा होती है जिससे प्राप्त पूर्ण उपयोगिता समान रहती है। चूँकि उपभोक्ता उनमें से किसी भी संयोग के द्वारा अधिकतम सन्तुष्टि या पूर्ण उपयोगिता प्राप्त कर सकता है अतः वह इन संयोगों के चुनाव के सम्बन्ध में तटस्थ या उदासीन (Indifferent) रहता है। अतः एडवर्ड नेविन (Edward Nevin) के अनुसार तटस्थता वक्र विश्लेषण का आधार यह है यदि किसी उपभोक्ता का दो विभिन्न वस्तुओं की दी गयी मात्रा के सम्बन्ध में कोई विशेष रुचि या पसन्दगी नहीं है अर्थात् वह इन दो विकल्पों के प्रति तटस्थ या उदासीन है तो वह इन दो वस्तुओं के संयोग से समान सन्तुष्टि प्राप्त करता है।[1]

अतः अब माँग विश्लेषण के लिए यह जानना आवश्यक नहीं है कि किसी उपभोक्ता को किसी वस्तु के उपभोग से कितनी मात्रा में सन्तुष्टि या उपयोगिता मिलती है। यद्यपि माँग व्याख्या में उपयोगिता तत्त्व अब भी मौजूद है फिर भी अब उसके परिमाण की माप आवश्यक नहीं है। तटस्थता वक्र विश्लेषण इस तथ्य की जानकारी प्रदान करने में सहायक होता है कि एक दिए हुए समय में क्या विभिन्न वस्तुओं का एक संयोग (Combination) उतना ही वाछनीय (Desirable) है जितना कि दूसरा? अथवा दूसरे की अपेक्षा अच्छा है? यही कारण है कि आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने उपयोगिता विश्लेषण के लिए तटस्थता वक्र-विधि का प्रयोग किया है। इस विधि के द्वारा उन्होंने उपयोगिता की सही एवं वैज्ञानिक व्याख्या करने की चेष्टा की है।

6 तटस्थता वक्र विधि का स्पष्टीकरण

(1) तटस्थता सूची या तालिका द्वारा तटस्थता वक्र के निर्माण के लिए सबसे पहले एक तटस्थता सूची या तालिका (Indifference Schedule) तैयार की जाती है।

---

1 An indifference schedule may be defined as a schedule of various combinations of goods that will be equally satisfactory to the individual concerned —*Meyers*

तटस्थता तालिका (दो या दो से अधिक) वस्तुओं के एस विभिन्न सयोगो की तालिका होती है जो किसी व्यक्ति को समान रूप से सन्तोषजनक होते हैं। दो या अधिक उपभोग्य वस्तुओं की तटस्थता तालिका दो वस्तुओं के सयोगों की सूची है। यह सूची इस क्रम से तयार की जाती है कि कोई उपभोक्ता किसी भी सयोग को किसी दूसरे की तुलना में प्राथमिकता नहीं देता तथा इस प्रकार सभी सयोगो के प्रति उदासीन रहता है।[1] सुविधा की दृष्टि से निम्नलिखित सूची में केवल दो वस्तुओं के एसे कई सयोग दिए गए हैं जिनमे प्रत्येक की पूरा उपयोगिता समान है

माना कि एक उपभोक्ता को दो वस्तुओं—सेब और सतरे—से समान पूर्ण उपयोगिता वाले सयोगो को निश्चित करना है। वह इनके सयोगो के निम्नलिखित क्रम निश्चित कर सकता है

तटस्थता सूची—1

सयोग क्रम	सेब		सन्तरे	सेब के स्थान पर सतरे के प्रतिस्थापन की दर		
पहला	12	+	0	सेब		सन्तरे
दूसरा	8	+	1	4	=	1
तीसरा	5	+	2	3	=	1
चौथा	3	+	3	2	=	1
पाचवा	2	+	4	1	=	1

उपर्युक्त सूची से यह ज्ञात होता है कि उपभोक्ता को केवल 12 सेबो से जितनी उपयोगिता प्राप्त होगी है उतनी ही उपयोगिता 8 सेबो तथा 1 सन्तरे के सयोग से भी प्राप्त हो सकती है। अत वह सोचता है कि यदि 4 सेबो का त्याग करके उसके स्थान पर 1 सतरा प्राप्त किया जाय तो उसको 8 सेब तथा 1 सन्तरे का नया सयोग उतना ही सन्तोषप्रद होगा जितना कि पहला अथवा अन्य कोई। यह उसकी केवल एक मानसिक धारणा है। इसी आधार पर वह सेबो की मात्रा का अतिरिक्त सन्तरो की मात्रा से कई प्रकार से प्रतिस्थापित करने पर विचार करता है जैसे तीसरे (5+2) चौथे (3+3) तथा पाचवें (2+4) सयोगो में प्रत्येक समान रूप से सन्तोषप्रद होगा। ये सभी सयोग समान सन्तुष्टि के सयोग हैं। उनमे से न तो कोई सयोग किसी दूसरे से अच्छा है न ही खराब। इसका कारण है यह कि उपभोक्ता दोनो वस्तुओं की थोडी थोडी बहुत मात्राए चाहता है। परन्तु यहा पर प्रश्न उसकी इच्छाओ तथा वस्तुओ की मात्राओ के बीच सम्बन्ध का है। उपर्युक्त तालिका

[1] "An ind fference schedule is a list of combrnatiins of two commodities the list being so arranged that a consumer is different to the combina tions prefering none of them to any of the others

ग सेब तथा सन्तरे की मात्राएं इस क्रम मे रखी गयी हैं कि उपभोक्ता सभी सयोगो के प्रति तटस्थ है। प्रत्येक सयोग समान रूप से वाछनीय है, वह उनमे से किसी भी सयोग का चुनाव करने पर उतना ही सुखी होगा जितना कि किसी दूसरे सयोग का चुनाव करने पर।[1]

(ii) तटस्थता वक्र या रेखा द्वारा तटस्थता सूची म दिए गए सयोगो को रेखाचित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। इस रेखाचित्र म तटस्थता वक्र किन्ही दी गई वस्तुओ के ऐसे सयोगो को प्रदर्शित करता है जो किसी उपभोक्ता की दृष्टि से समान सन्तुष्टि के सयोग होते है। इस आधार पर ही यह कहा जाता है कि तटस्थता वक्र विधि दो या अधिक वस्तुओ के सयोगो की रेखाचित्र द्वारा व्यक्त करने की विधि है जिसमे यह ज्ञात होता है कि उपभोक्ता किस क्रम मे दो या अधिक वस्तुओ के सयोगो को सामान्य रूप से पसन्द करता है।

यदि OX आधार रेखा तथा OY खडी रेखा पर हम क्रमश सेब और सतरे के विभिन्न सयोगो का प्रदर्शन करने के लिए बिन्दु अकित कर तो इन बिन्दुओ को मिलाने पर एक वक्र या रेखा बनती है। चू कि उपभोक्ता इस रेखा पर पडे बिन्दुओ द्वारा व्यक्त विभिन्न सयोगो को समान रूप से पसन्द करता है और वह उनमे चुनाव करने के प्रति तटस्थ रहता है अत इस रेखा को उदासीनता या तटस्थता वक्र रेखा (Indifference Curve) कहा जाता है। इस रेखा की रचना चित्र स० 9 के अनुसार की जा सकती है।
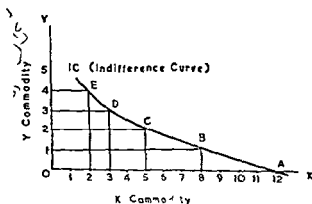
चित्र स० 9

ऊपर दिए गए चित्र म A B C D तथा E बिन्दु सेब तथा सन्तरे के विभिन्न सयोगो को व्यक्त करते हैं। A बिन्दु पर उस व्यक्ति 12 सेबो से जितनी

---

1 the quantities of.. are so arranged that the consumer is indifferent among the combinations Each one is equally desirable he considers him self equally well off in having any one of the combinations as in having any other

सन्तुष्टि मिलती है उतनी B बिन्दु पर उसे 8 सेब तथा 1 सन्तरे से सन्तुष्टि मिलती, उतनी ही सन्तुष्टि C बिन्दु पर 5 सेब व 2 सन्तरों को प्राप्त करने पर मिलेगी अथवा C बिन्दु पर 3 सेब व 3 सन्तरे से अथवा D बिन्दु पर 2 सेब व 4 सन्तरे से मिलती। B C D व E बिन्दु उपभोक्ता को समान सन्तोष प्रदान करने वाले सेब तथा सन्तरे के संयोग को व्यक्त करते हैं। इन बिन्दुओं को मिलाकर उनसे गुजरने वाली एक रेखा IC खींची जा सकती है। इस रेखा पर जितने बिन्दु हैं वे सेबों और सन्तरों के उन संयोगों को व्यक्त करते हैं जिनके प्रति उपभोक्ता तटस्थ रहता है। अतः इन बिन्दुओं के बिन्दु-पथ (Locus) को ही उदासीनता वक्र या तटस्थता वक्र (Indifference Curve) कहा जाता है।[1] उदासीनता वक्र को 'समान उपयोगिता-वक्र' (Isoutility Curve) भी कहते।

इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि इस विधि में हम यह ज्ञात नहीं करते हैं कि प्रत्येक वस्तु (सेब या सन्तरे) से अलग अलग कितनी मात्रा में उपयोगिता या सन्तुष्टि प्राप्त होती है। हम तटस्थता सूची तथा तटस्थता वक्र में केवल यह पता चलता है कि दो वस्तुओं के ऐसे कौन कौन से संयोग हैं जो किसी उपभोक्ता के लिए समान सन्तुष्टि के संयोग हो सकते हैं। वास्तव में तटस्थता वक्र विधि की यह विशेषता है कि हम उपयोगिता को मापनीय माने बिना माँग के नियम की व्याख्या कर सकते हैं।

7 तटस्थता-वक्र और प्रतिस्थापन की दर (Rate of Substitution)

तटस्थता सूची 1 को देखने पर यह ज्ञात होता है कि जब उपभोक्ता सेबों के उपभोग की मात्रा को घटाकर 12 सेबों के स्थान पर 8 सेब लेने का विचार करता है तो 1 सन्तरे के उपभोग में वृद्धि होती है। इसी प्रकार जब वह 8 सेबों के स्थान पर 5 सेबों के उपभोग करने का विचार करता है तब पुनः 1 अतिरिक्त सन्तरे के उपभोग की वृद्धि होती है अर्थात् वह 5 सेबों के साथ 2 सन्तरों का उपभोग कर सकता है। चौथे संयोग में सेबों का उपभोग 5 से घटकर 3 के बराबर हो जाता है जबकि सन्तरों की संख्या 2 से बढ़कर 3 हो जाती है। इस प्रकार दूसरे तीसरे चौथे पाँचवें समान सन्तुष्टि वाले संयोगों को प्राप्त करने के लिए क्रमशः 4 3 2 व 1 सेबों के स्थान पर एक एक सन्तरे की दर से प्रतिस्थापन किया जाता है। इसी दर को प्रतिस्थापन की दर (Rate of Substitution) कहा जा सकता है। सन्तरों की वह मात्रा जो सेब की सीमान्त उपयोगिता की कमी की पूर्ति करती है सेब के स्थान पर सन्तरे की 'सीमान्त प्रतिस्थापन दर' (Marginal Rate of Substitution) कहलाती है।

---

1 "It is the locus of the point representing pairs of quantities between which the individual is indifferent, so it is termed as indifference curve."
—Benham

अत उपभोक्ता के लिए सीमान्त प्रतिस्थापन दर वह दर है जिस पर उपभोक्ता दो वस्तुओं के संयोगों से प्राप्त पूर्ण उपयोगिता को बिना प्रभावित किए किसी एक वस्तु की न्यूनतम मात्रा को किसी अन्य वस्तु की न्यूनतम मात्रा से प्रतिस्थापित करता है। इसका कारण यह है कि किसी वस्तु की मात्रा में वृद्धि करने पर उसकी अतिरिक्त इकाई की उपयोगिता घटती है तथा जिस वस्तु का त्याग किया जाता है उसकी मात्रा में कमी होने पर उसकी उपयोगिता में वृद्धि होती है। उपर्युक्त उदाहरण के अनुसार जैसे-जैसे सन्तरा की मात्रा में वृद्धि तथा सेबों की मात्रा में कमी की जाती है वैसे-वैसे सन्तरा की मात्रा में वृद्धि होने पर सेब की तुलना में उसका सीमान्त महत्त्व कम होता जाता है और सेबों की मात्रा में कमी होने से उनका सीमान्त महत्त्व बढ़ता जाता है। इस सिद्धान्त को ही प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (Marginal Rate of Substitution or MRS) अथवा वस्तु प्रतिस्थापन दर (Rate of Commodity Substitution) कहते हैं।

सीमान्त महत्त्व की धारणा का मूलभूत आधार यह है कि उपभोक्ता उपभोग्य वस्तुओं के विभिन्न संयोगों से समान उपयोगिता प्राप्त करने का विचार करता है। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए वह एक ही तटस्थता वक्र पर बना रहना चाहता है। वह उस पर जैसे जैसे आगे बढ़ता जाता है प्राप्त की जाने वाली वस्तु का सीमान्त महत्त्व त्याग की जाने वाली वस्तु की तुलना में घटता जाता है। यही कारण है कि त्याग की जाने वाली वस्तु की एक इकाई के बदले में प्राप्त की जाने वाली वस्तु की उत्तरोत्तर अधिक इकाइयाँ लेनी पड़ती हैं जिससे उस रेखा पर विभिन्न बिन्दुओं द्वारा व्यक्त संयोगों से समान उपयोगिता प्राप्त हो। फलस्वरूप **तटस्थता वक्र मूल बिन्दुओं से उन्नतोदर (convex to the origin) होता है अर्थात उसका ढाल नीचे को ओर दायीं तरफ चौड़ा होता है परन्तु ऊपर की तरफ ढालू होता है।**[1] उपभोक्ता जैसे-जैसे वक्र पर ऊपर की ओर बढ़ता जायगा वक्र का ढाल (= *Syn*) भी बढ़ता जायगा।[2] अत तटस्थता-वक्र के ढाल का विशेष महत्त्व है क्योंकि इसके द्वारा यह निश्चित होता है कि किसी तटस्थता वक्र के विभिन्न बिन्दुओं पर सीमान्त महत्त्व क्या होगा।

पसन्दगी मान (Scale of Preferences) में परिवर्तन का प्रभाव

उपभोक्ता के पसन्दगी-मान या प्राथमिकता क्रम में परिवर्तन होने पर वस्तुओं के विभिन्न संयोगों की एक नयी तटस्थता-सूची (Indifference Schedule) तैयार

1. Thus as one moves along an indifference curve the assumption that it is convex to the origin that it gets farther to the right and steeper upwards implies that the marginal significance of the one good in terms of the other will always diminish progressively as one acquires more of the former good."

—*Stonier and Hague* page 47

2. "The slope of the Indifference (—Syn) increases as the consumer moves upward along the curve......"

— *Stigler*

करनी होगी। इस सूची या तालिका में सयोगो के रूप में बदलने के कारण तटस्थता रेखा की स्थिति भी बदल जाती है। वस्तुओं के ऐसे विभिन्न सयोगों के रूप का जिनसे उपभोक्ता को अलग अलग सन्तुष्टि या उपयोगिता प्राप्त होती है अलग अलग तटस्थता रेखाओं द्वारा दिखाया जा सकता है। परन्तु ध्यान रहे कि प्रत्येक तटस्थता रेखा के विभिन्न बिन्दु एक निश्चित सतुष्टि स्तर के सयोगों को ही व्यक्त करेंगे। इस प्रकार प्रत्येक सन्तुष्टि स्तर की तटस्थता रेखा भी स्वभावत भिन्न होती है।

उपरोक्त दृष्टिकोण से यदि हम विभिन्न तटस्थता वक्रों के एक समूह को ले जिनमें प्रत्येक वक्र एक अलग सन्तुष्टि स्तर पर वस्तुओं के सयोगों को प्रदर्शित करे तो हम एक तटस्थता मानचित्र (Indifference Map) प्राप्त होगा। एक ऐसे चित्र को जिसमें एक नहीं बल्कि अनेक तटस्थता या उदासीनता वक्र दिखलाए जाते हैं तटस्थता मानचित्र कहते हैं। इस चित्र में तटस्थता रेखाओं की स्थिति जैसे-जैसे दायी ओर ऊपर की तरफ हटती जाती है त्यों-त्यों वे अधिक सतुष्टि या उपयोगिता वाले सयोगों को बताती हैं। परन्तु जैसे-जैसे तटस्थता वक्र बायी ओर से नीचे की तरफ उतरते जाते हैं त्यों-त्यों वे कम सन्तुष्टि या उपयोगिता के सयोग व्यक्त करते हैं। ऐसे तटस्थता वक्रों का मानचित्र नीचे दिया जा रहा है
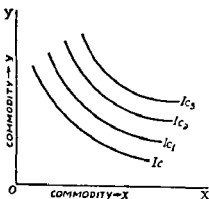
चित्र स० 10

माना कि उपयुक्त तटस्थता मान चित्र में IC_1 वह तटस्थता वक्र है जो तटस्थता सूची I में दिए गए सेवा व सन्तरो के विभिन्न सयोगों को प्रदर्शित करता है। अब यदि उपभोक्ता की आय रुचि आदि में परिवर्तन हो जाए पर सेव व सन्तरे के अनुपात में भी परिवर्तन हो जाय और वह अग्रलिखित सयोगों से अधिक सन्तुष्टि प्राप्त करने लगे तो निश्चय ही इस परिवर्तित सयोगों को अधिक पसन्द करेगा

तटस्थता सूची सं० 2

संयोग-क्रम	सेव		सन्तरे
पहला	12	+	2
दूसरा	8	+	3
तीसरा	6	+	4
चौथा	5	+	5

स्पष्ट है कि सूची 2 के प्रथम संयोग से उपभोक्ता 12 सेवों के साथ दो सन्तरे पाता है जबकि सूची 1 के अनुसार उसे 12 सेवों के साथ शून्य सन्तरा मिलता है। इसी प्रकार अन्य संयोगों में भी सेवों और सन्तरों की मात्राएँ अधिक हैं। अतः वह सूची 2 के संयोगों को अधिक पसन्द करेगा क्योंकि इन परिवर्तित संयोगों से प्राप्त की गयी सन्तुष्टि का स्तर अधिक ऊँचा होगा। यही कारण है कि इस सूची के विभिन्न संयोगों को व्यक्त करने वाले बिन्दु पहले वाले तटस्थता वक्र पर स्थित नहीं हो सकते। वे पहली सूची के विभिन्न संयोगों के बिन्दुओं से ऊँचे स्तर पर स्थित होंगे। अतः ये बिन्दु तटस्थता वक्र IC_2 पर होंगे। इसी प्रकार उपभोक्ता IC_3 तटस्थता वक्र द्वारा व्यक्त दो वस्तुओं (सेव तथा सन्तरे) के विभिन्न संयोगों के प्रति उदासीन या तटस्थ रहेगा लेकिन इन संयोगों को IC_2 के समस्त संयोगों से अधिक पसन्द करेगा क्योंकि IC_3 तटस्थता-वक्र IC_2 तटस्थता वक्र की तुलना में ऊँचे स्तर के संयोगों को व्यक्त करता है। परन्तु IC_0 तटस्थता वक्र IC_1, IC_2 व IC_3 तटस्थता वक्रों की तुलना में दो वस्तुओं के उस संयोग को प्रदर्शित करता है जिससे प्राप्त सन्तुष्टि का स्तर नीचा होगा क्योंकि यह वक्र अन्य वक्रों की अपेक्षा नीचे स्तर पर है।

तटस्थता वक्र एक नक्शे की परिधि रेखा (Contour Line) के समान होता है। जिस प्रकार परिधि रेखा पर स्थित सभी स्थानों की ऊँचाई एक समान रहती है उसी प्रकार एक दिए हुए तटस्थता वक्र पर स्थित विभिन्न बिन्दुओं वाले संयोगों से समान सन्तुष्टि प्राप्त होती है। किन्तु परिधि रेखाओं और तटस्थता वक्रों की यह तुलना उचित नहीं है। दोनों में कुछ अन्तर है। हम परिधि रेखाओं पर ऊँचाई फुटों में मापक इकाइयों द्वारा नाप सकते हैं लेकिन तटस्थता-वक्र के द्वारा प्राप्त हुई सन्तुष्टि परिमाण में व्यक्त नहीं की जा सकती क्योंकि उपयोगिता या सन्तुष्टि व्यक्तिगत (Subjective) होने के कारण अमापनीय है। उपयोगिता या सन्तुष्टि को ठीक-ठीक माप करने की कोई इकाई (Unit) नहीं है। हम इतना ही कह सकते हैं कि एक तटस्थता वक्र दूसरे तटस्थता वक्र की तुलना में एक ऊँचे सन्तुष्टि-स्तर के संयोगों को बताता है किन्तु यह नहीं कह सकते कि यह

सन्तुष्टि कितनी अधिक या कितनी कम है ? हम तटस्थता वक्रो द्वारा व्यक्त विभिन्न सन्तुष्टि स्तरा के सयोगो को इकाइयो द्वारा स्पष्ट नही कर सकते[1] तटस्थता वक्र IC_0 IC_1 IC_2 IC_3 इत्यादि केवल विभिन्न सन्तुष्टि स्तरो (Levels of satisfaction) को व्यक्त करते हैं।

9 तटस्थता वक्र की प्रकृति

(Nature and Properties of Indifference Curves)

तटस्थता वक्र यह नहीं बताता कि दो वस्तुओं के विभिन्न सयोगो से उपभोक्ता को कितनी सन्तुष्टि मिलती है। वह केवल इतना ही बताता है कि विभिन्न सयोगो से उपभोक्ता को समान सन्तुष्टि मिलती है। तटस्थता वक्र में एक वस्तु को OY-अक्ष पर तथा दूसरी को OX-अक्ष पर दिखलाते हैं। हम एक त्रि ग्रक्षीय चित्र (Three dimensional diagram) के द्वारा तीन वस्तुओं को भी ले सकते हैं किन्तु ऐसी स्थिति में उस तटस्थता वक्र न कह कर तटस्थता सतह (Indifference Surface) कहा जाएगा। इसके द्वारा तीन वस्तुओं के अन्य विभिन्न सयोगों को व्यक्त किया जा सकता है जो उपभोक्ता के लिए समान महत्त्व के होंगे। ऐसी दशा में तटस्थता वक्र का स्वरूप अधिक जटिल हो जाता है। फलस्वरूप तटस्थता वक्र बनाते समय दो ही वस्तुओं पर विचार करना ठीक होगा क्योंकि जो बात दो या तीन वस्तुओं के सम्बन्ध में ठीक है वही अनेक वस्तुओं के विषय में भी समान रूप से सही होगी और उपभोक्ता द्वारा बहुत सी वस्तुओं के विभिन्न सयोगो पर विचार करने से भी हमारे निष्कर्ष में कोई परिवर्तन नही होगा।

10 विशेषताएँ

तटस्थता वक्र के स्वरूप के सम्बन्ध में उसकी कुछ मूलभूत विशेषताओं का उल्लेख किया जाता है जो निम्नलिखित हैं

(1) तटस्थता वक्र पर सभी बिन्दु समान उपयोगिता प्रदान करने वाली वस्तुओं के सयोगो को व्यक्त करते हैं यह विशेषता इस तथ्य की द्योतक है कि *वस्तुओं के विभिन्न सयोगो से समान पूर्ण उपयोगिता मिलने के कारण ही उपभोक्ता* उनके प्रति तटस्थ रहता है। वक्र पर इन सयोगो के बिन्दुओं से विभिन्न सयोगो का ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

---

1 An indifference curve is thus like a contour line on a map which shows all places at the same height above sea level Instead of representing height each indifference curve represents levels of satisfaction It is however quite impossible to measure levels of satisfaction in the way that one can measure heights above sea level There are obviously no measurements

—*Stonier and Hague*

(2) किसी तटस्थता वक्र की दायीं ओर का तटस्थता वक्र उसकी बायी तरफ के तटस्थता वक्र की अपेक्षा अधिक सन्तुष्टि वाले संयोगो को व्यक्त करता है जैसा कि पिछले चित्र में स्पष्ट किया जा चुका है कि किसी तटस्थता वक्र की दायीं तरफ जितने भी वक्र होंगे वे अपेक्षाकृत उसमें अधिक सन्तुष्टि के सूचक होंगे। इसके विपरीत, उसकी बायी ओर के तटस्थता वक्र कम सन्तुष्टि के सूचक होंगे।

(3) विभिन्न तटस्थता वक्र एक दूसरे को नहीं काटते विभिन्न तटस्थता वक्र विभिन्न मात्राओं में दो वस्तुओं के संयोगों को दिखलाते हैं। अतः दो तटस्थता वक्र न तो एक दूसरे को स्पर्श ही करते हैं और न ही वे एक दूसरे को काटते हैं। यदि वे एक दूसरे को काटने लगें तो फल यह होगा कि एक तटस्थता वक्र पर वह बिन्दु उतनी ही सन्तुष्टि प्रदान करेगा जितना कि दूसरे तटस्थता वक्र का वह बिन्दु जिस पर वे एक दूसरे को काटते हैं। इस तथ्य को निम्न चित्र से स्पष्ट किया जा सकता है
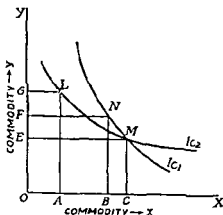
चित्र सं० 11

इस चित्र में दो तटस्थता वक्र IC_1 व IC_2 एक-दूसरे को M बिन्दु पर काटते हैं। इन वक्रों से निम्नलिखित संयोगों का ज्ञान किया जाता है

IC_1 वक्र के समान पूर्ण उपयोगिता वाले संयोग

$OC_x + OE_y = OB_x + OF_y$

इसी प्रकार IC_2 वक्र के समान पूर्ण उपयोगिता वाले संयोग

$OC_x + OE_y = OA_y + OG_y$

M बिन्दु पर IC_1 तथा IC_2 दोनों ही तटस्थता वक्रों पर है। अतः इससे व्यक्त होने वाले IC_1 व IC_2 पर संयोग $(OC_x + OE_y)$ एक ही हैं। परन्तु प्रत्येक वक्र पर संयोगों के बिन्दु समान पूर्ण उपयोगिता के संयोगों को व्यक्त करते हैं

$$OB_x + OF_y = OA_x + OG_y \text{ अर्थात् } OF_y = OG_y$$

परन्तु ऐसा होना निराधार एव असम्भव है क्योंकि जैसा कि चित्र से स्पष्ट है OG मात्रा OF मात्रा से अधिक है। अत दो संयोगों की पूर्ण उपयोगिता को समान बनाने के लिए एक ही वस्तु की अधिक मात्रा दूसरे संयोग में कम मात्रा के बराबर नहीं हो सकती। इससे यह स्पष्ट है कि दो उदासीन रेखाएँ या तटस्थता वक्र एक दूसरे को नहीं काट सकते।

(4) तटस्थता वक्र सदैव ऊपर से नीचे की ओर झुकता जाता है ऐसा होना स्वाभाविक है क्योंकि जब एक वस्तु (X) की मात्रा में वृद्धि होती है तब दूसरी वस्तु (Y) की मात्रा में कमी होनी चाहिए अन्यथा संयोग समान पूर्ण उपयोगिता वाले नहीं हो सकते। यदि तटस्थता वक्र नीचे की तरफ बाएँ से दाएँ न झुके तो उसके दो और सम्भव रूप हो सकते हैं

(1) नीचे से ऊपर की तरफ दायीं ओर मुड सकता है इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक अगले बिंदु से अधिक सन्तुष्टि की प्राप्ति होना क्योंकि प्रत्येक अगले बिंदु E E_1 व E_2 पर X और Y की मात्रायें बढ़ती जाती हैं। प्रत्येक अगला बिंदु इन वस्तुओं की अधिक इकाइयों वाले संयोगों को प्रकट करता है। चित्र स० 12 में स्पष्ट है कि E बिंदु पर Y और X दोनों की एक एक इकाई का संयोग प्राप्त होता है E_1 बिंदु पर दो-दो इकाइयाँ मिलती हैं और E_2 पर तीन-तीन
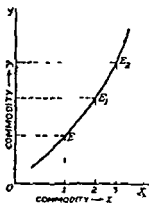
चित्र स० 12

इकाइयाँ। इन तीनों बिन्दुओं में सबसे नीचे के बिन्दु E पर अवश्य ही ऊपर के बिन्दुओं की तुलना में कम सन्तुष्टि मिलेगी। परन्तु यह स्थिति तटस्थता वक्र की परिभाषा के विपरीत है तथा अस्वभाविक है क्योंकि एक तटस्थता वक्र के सभी बिन्दुओं पर समान सन्तोष मिलना चाहिए। अत स्पष्ट है कि तटस्थता वक्र कभी भी दाहिनी ओर ऊपर की ओर नहीं उठ सकता। यह स्थिति उसी समय सम्भव है जबकि दो वस्तुओं में से किसी एक वस्तु से प्राप्त सन्तोष नकारात्मक (Negative) हो जाय।

(ii) आधार रेखा (OX) के समानान्तर (Horizontal) या खड़ी रेखा (OY) के समानान्तर (Vertical) तटस्थता वक्र यदि तटस्थता वक्र आधार रेखा (OX) के समानान्तर है तो उपभोक्ता को X वस्तु की मात्रा अधिक प्राप्त होगी जबकि Y की मात्रा पूर्ववत् रहेगी। चित्र 13(1) में उपभोक्ता E बिन्दु पर 2X + 5Y से सन्तोष प्राप्त करता है। परन्तु E_1 बिन्दु पर X वस्तु की मात्रा में तो वृद्धि होती है अर्थात् वह 4 के बराबर हो जाती है लेकिन Y की इकाइयाँ 5 ही रहती हैं। अतः स्पष्ट है कि उपभोक्ता E_1 के संयोग को अधिक पसन्द करेगा। यह स्थिति भी अस्वाभाविक है। अतः तटस्थता वक्र कभी भी आधार रेखा के समानान्तर नहीं हो सकता।

इसी प्रकार तटस्थता वक्र चित्र 13(2) में OY खड़ी रेखा के समानान्तर भी नहीं हो सकता। तटस्थता वक्र एक खड़ी रेखा के रूप में होने पर X वस्तु की मात्रा तो समान रहती है लेकिन Y वस्तु की मात्रा में वृद्धि होती जाती है। फलस्वरूप प्रत्येक अगला संयोग (E_1) अधिक वांछनीय होगा। यह स्थिति भी अस्वाभाविक मानी जाती है। अतः तटस्थता वक्र कभी भी खड़ी रेखा OY के समानान्तर नहीं हो सकता।
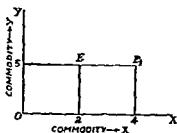
(1) चित्र सं० 13 (2)
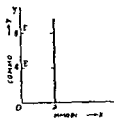
(5) सभी तटस्थता वक्र मूल बिन्दु के प्रति उन्नतोदर (Convex) होते हैं तटस्थता वक्र के उन्नतोदर (Convex) होने का अर्थ यह है कि यह एक वस्तु का दूसरी वस्तु की तुलना में सीमान्त महत्त्व (Marginal significance) स्पष्ट करता है।[1] जैसे-जैसे हम किसी तटस्थता वक्र पर नीचे की ओर बढ़ते हैं उपभोग की गई एक वस्तु (X) की मात्रा में वृद्धि होती है परन्तु दूसरी वस्तु (Y) की मात्रा में कमी होती है। इस प्रकार X की सीमान्त उपयोगिता घटती है जबकि Y की सीमान्त उपयोगिता में वृद्धि होती है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि Y वस्तु की कमी

1 The slope of an indifference curve at any point indicates the terms at which a consumer is prepared to exchange one commodity for another i e what is usually called his marginal rate of substitution
—*Edward Nevin*

पूर्ति X वस्तु की मात्रा में पूर्ति करके की जा सकती है। केवल ऐसा वक्र जो अपने मूल बिन्दु से उन्नतोदर (Convex to the origin) होता है इस स्थिति को व्यक्त कर सकता है। ऐसे वक्र का ढाल सदैव नीचे की ओर बायें से दायें को ओर होता है जो प्रतिस्थापन की घटती सीमान्त दर को व्यक्त करता है। वस्तुतः तटस्थता वक्र का यह प्रकृति प्रतिस्थापन की सीमान्त दर की वृद्धि (Increasing Marginal Rate of Substitution) अथवा X वस्तु के लिए ह्रासमान प्रतिस्थापन सीमान्त दर (Decreasing Marginal Rate of Substitution) व्यक्त करता है।

11 अपवाद (*Exceptions*)

(1) पूरक वस्तुओं का तटस्थता वक्र — एक निश्चित अनुपात में प्रयोग में लायी जाने वाली वस्तुओं (Perfectly complementary goods) जैसे प्याला तथा प्लेट के लिए तटस्थता वक्र का आकार भिन्न होता है। ऐसे तटस्थता वक्र का आधार दो सीधी रेखाओं के रूप में होता है। इसमें से एक रेखा आधार रेखा (OX) के समानान्तर तथा दूसरी रेखा खड़ी रेखा (OY) के समानान्तर होती है। ये दोनों रेखाएँ एक दूसरे से 90° के कोण पर मिलती हैं जैसा कि चित्र सं० 14 में दिखाया
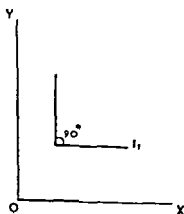
चित्र सं० 14

गया है। ऐसा इसलिए होता है कि यदि दो पूर्ण पूरक वस्तुओं में से किसी एक वस्तु की मात्राएँ बढ़ा दी जाती हैं तथा दूसरी में उसी अनुपात में वृद्धि न की जाय तो पहली वस्तु की अतिरिक्त इकाइयाँ बेकार हो जायेंगी। अतः यह स्पष्ट है कि पूर्ण पूरक वस्तुएँ एक-साथ एक निश्चित अनुपात में ही खरीदी जाती हैं। किसी एक वस्तु को दूसरी वस्तु के बदले में प्रतिस्थापित करके पूर्ण सन्तुष्टि का संयोग प्राप्त नहीं किया जा सकता।

(ii) तटस्थता वक्र का गोलाकार होना ** किसी एक वस्तु की निरन्तर अधिक मात्राएँ प्रयोग करने पर एक सीमा पर उपभोक्ता पूर्ण सन्तुष्टि के बिन्दु पर पहुँच जाता है। उसके पश्चात् भी यदि वह उस वस्तु की अतिरिक्त इकाइयाँ प्रयोग में लाता है तो उसे उपयोगिता या सन्तुष्टि के स्थान पर अनुपयोगिता या ऋणात्मक उपयोगिता (Negative Utility) प्राप्त होने लगती है। ऐसी स्थिति में वह किसी अन्य वस्तु की मात्रा में प्रतिस्थापन नियम के आधार पर कमी करने के बजाय वृद्धि करने लगता है जिससे उस वस्तु से भी उसे ऋणात्मक उपयोगिता मिलने
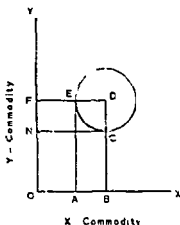
चित्र सं० 15

लगती है। इस प्रकार दूसरी वस्तु की ऋणात्मक उपयोगिता पहली वस्तु से प्राप्त हुई अनुपयोगिता की पूर्ति करती है। ऐसी स्थिति में तटस्थता वक्र दोनों वस्तुओं की इकाइयों में पूर्ण सन्तुष्टि के बाद भी वृद्धि होने के तथा उससे ऋणात्मक उपयोगिता मिलने के कारण गोलाकार (Circular) या अण्डाकार (Elliptical) हो जाता है जैसा कि चित्र संख्या 15 से स्पष्ट है।

चित्र सं० 15 में EC सामान्य तटस्थता वक्र (I_c) है। इस वक्र पर C बिन्दु पर X वस्तु की OB मात्रा तथा Y वस्तु की ON मात्रा का संयोग उतनी ही सन्तुष्टि देगा जितनी E बिन्दु पर X की OA मात्रा तथा Y की OF का संयोग। CE वक्र पर किसी बिन्दु पर समान सन्तुष्टि के संयोग प्राप्त किए जा सकते हैं। किसी भी वस्तु (X या Y) की अधिक मात्राएँ उपभोग करने पर अनुपयोगिता प्राप्त

* प्रो० जे० के० मेहता ने कहा है तटस्थता वक्र गोलाकार भी हो सकते हैं। परन्तु इसे सिद्ध करना अत्यन्त ही कठिन है तथा इसके लिए गणित का बहुत उच्च स्तर का ज्ञान आवश्यक है। देखिये R G D Allen की पुस्तक Mathematical Analysis 1962 p 357 58

नही होती। ऐसी स्थिति मे D पूर्ण सन्तुष्टि का बिन्दु तथा CE (Ic) क्षेत्र प्रभावात्मक क्षेत्र कहलाता है। इस प्रभावित क्षेत्र से निकलकर यदि उपभोक्ता X वस्तु की अतिरिक्त मात्राओं का प्रयोग करता है तो उसे ऋणात्मक उपयोगिता मिलेगी। इस क्षति की पूर्ति करने के लिए उसे Y वस्तु की मात्रा मे वृद्धि करनी होगी। फलस्वरूप सामान्य तटस्थता वक्र EC गोलाकार होता जायगा।

12 तटस्थता वक्र तथा मूल्य रेखा (Price Line)

मूल्य रेखा वस्तुओं के उन वैकल्पिक संयोगों के विषय मे ज्ञान कराती है जो विभिन्न बिन्दुओं पर उपभोक्ता को समान सन्तुष्टि प्रदान करते हैं। उदाहरणार्थ किसी उपभोक्ता की आय सीमित होने पर वह उसे दो वस्तुओं X और Y व्यय करना चाहता है। नीचे दिए गए चित्र संख्या 16 मे X वस्तु को OX पर आधार रेखा तथा Y वस्तु को OY खड़ी रेखा पर प्रदर्शित किया गया है। यदि उपभोक्ता अपनी आय Y वस्तु क्रय करने मे व्यय करना चाहता है तो वह Y वस्तु की OA
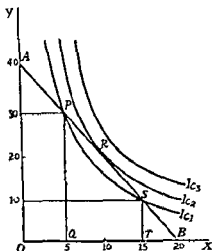
चित्र स०—16

मात्रा प्राप्त कर सकता है। इसके विपरीत यदि वह X वस्तु पर ही अपनी समस्त आय व्यय करना चाहे तो उसे X की OB मात्रा प्राप्त हो सकेगी। यदि A और B बिन्दु को मिला कर AB रेखा खींची जाय तो AB रेखा को 'मूल्य रेखा' 'बजट रेखा' या 'सम्भावित उपभोग रेखा' कहा जायगा।[1] इस रेखा पर प्रत्येक बिन्दु उपभोक्ता की आय का X और Y वस्तुओं के क्रय पर सम्भावित बटवारा (allocation)

1 Price Line को *Price ratio Line* या *Price Opportunity Line* भी कहते हैं। इसे स्टिगलर ने *Budget Line* तथा सम्युएलसन ने *Consumption Possibility Line* कहा है।

OT = X वस्तु की 15 इकाइयाँ OT पर किया गया व्यय $15 \times 10 = 150$ रु०
ST = Y वस्तु की 10 इकाइयाँ ST „ „ $10 \times 5 = 50$ रु०
$OT_x + ST_y$ पर कुल व्यय की गयी धनराशि $= 200$ रु०

इसी प्रकार पुनः AB रेखा पर P बिन्दु द्वारा प्रदर्शित संयोग का चुनाव करने पर उपभोक्ता X तथा Y वस्तुओं के निम्नलिखित संयोग से समान संतुष्टि प्राप्त करेगा $OO_x + PO_y$

X और Y वस्तुओं के इस परिवर्तित संयोग पर भी उपभोक्ता अपनी 200 रु० की निश्चित धन राशि ही व्यय करेगा जैसा कि नीचे स्पष्ट किया गया है

OQ = X वस्तु की 5 इकाइयाँ OQ पर किया गया व्यय $5 \times 10 = 50$ रु०
PQ = Y वस्तु की 30 इकाइयाँ PQ पर किया गया व्यय $30 \times 5 = 150$ रु०
$OQ_x + PQ_y$ पर कुल व्यय $= 200$ रु०

उपर्युक्त तथ्यों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मूल्य रेखा यह ज्ञात करने में सहायक होती है कि प्रचलित मूल्यों पर वस्तुओं को खरीदने का कौन सा अवसर प्राप्त होगा ? इसलिए इसे **मूल्य अवसर रेखा** (Price Opportunity Line) भी कहा जाता है। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रहना चाहिए कि **पसन्दगी मान और मूल्य रेखा एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं**। उपभोक्ता अपने पसन्दगी मान तथा मूल्य रेखा को अपनी आय के अनुसार ही समायोजित करता है।[1]

मूल्य रेखा में परिवर्तन सम्भव है। यदि वस्तुओं के मूल्य के पूर्ववत् रहने पर उपभोक्ता की आय में वृद्धि हो जाती है तो वह अतिरिक्त क्रय शक्ति से X अथवा
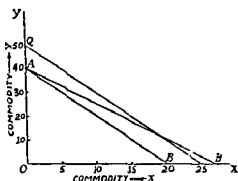
चित्र स०—17

Y वस्तुओं की अतिरिक्त इकाइयाँ क्रय करने में समर्थ होगा। ऊपर दिए गए चित्र

1 The price line thus represents the opportunities open to the consumer in the market given prices and his income whereas the indifference curves show his *tastes independently* of market conditions. It is extremely important to remember that the indifference map and the price line are quite independent of one another. —*Stonier and Hague*

सन्धा 17 का देखने पर नात होगा कि यदि उपभोक्ता की ग्राय बढ़कर 250 रुपय हा जाय तो प्रति इकाई मूय म परिवतन न होन पर वह X वस्तु की 25 इकाइयाँ या Y स्तु की 50 इकाइयाँ क्रय कर सकता है। प्रति इकाई मूल्या म परिवतन न होन क कारए ही नयी QR (जिस म R के स्थान पर 25 अकित है अतएव Q25) मूय रखा AB रखा के ऊपर उसक समानान्तर हागी।

इसके विपरीत यदि उपभोक्ता की ग्राय म तो वद्धि नही होती है परन्तु X वस्तु क मूय म परिवतन (कमी) हो जाता है ता उपभोक्ता अपनी निश्चित आय (200 रु०) स Y वस्तु की ता पूव मात्रा (40 इकाइया) प्राप्त कर सकता है। परन्तु यदि वह केवल X वस्तु ही क्रय करना चाहता है ता उस इसकी अधिक इकाइया प्राप्त हो सकता है। ऐसी स्थिति म मूल्य रेखा AB से हटकर AB हा जायगी।

13 उपभोक्ता का सतुलन (Consumer s Equilibrium)

उपयोगिता विश्लेपण विधि यह नात करन म सहायक हानी है कि कोई उपभोक्ता सम सीमान्त उपयागिता सिद्धान्त (Law of Equi marginal Utility) क द्वारा किस प्रकार अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त कर सकता है। तटस्थता वक्र द्वारा किसी उपभाक्ता को ना विभिन्न वस्तुओ क उन वकल्पिक सयोगा का ज्ञान प्राप्त हाता है जिसम उस समान सन्तुष्टि प्राप्त हो सकती है। परन्तु वस्तुत उपभोक्ता अपनी निश्चित आय स बाजार म विभिन्न वस्तुओ क मूल्या के आधार पर कुछ ही आवश्यक वस्तुएँ खरीदकर अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करन का प्रयत्न करता है। तटस्थता वक्र विधि की सहायता स वह बिन्दु या सन्तुलन स्थिति नात की जा सकती है जिस पर उपभोक्ता को अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त हा सकती है। इस स्थिति को नात करन के लिए निम्नलिखित मान्यताओ को ध्यान म रखना हागा

(i) उपभाक्ता के पास व्यय की जाने वाली मुद्रा की मात्रा निश्चित एव सीमित है

(ii) उपभाक्ता का सभी बाजार मूल्य नात है

(iii) सभी वस्तुएँ समरूप (homogeneous) और विभाज्य (divisible) हैं

(iv) उपभोक्ता विवेक स काय करता है अर्थात् वह अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करन क लिए विवेकपूर्ण ढग स व्यय करता है तथा

(v) उपभोक्ता को दो वस्तुओ के उन सभी विभिन्न सयोगा का व्यक्त करन वाल तटस्थता मान चित्र (Indifference Map) का नान है जिनम उस समान सन्तुष्टि मिलगी।

इन मान्यताओं के आधार पर उपभोक्ता के लिए नीचे दिए गए चित्र सं० 18 में तटस्थता वक्र खींचे गये हैं और उपभोक्ता की निश्चित आय के आधार पर 'सम्भावित उपभोग रेखा' (Consumption Possibility Line) या मूल्य रेखा AB खींची गई है। उपर्युक्त मान्यताओं के आधार पर हम यह मानकर चलते हैं कि एक विवेकशील उपभोक्ता अपनी निश्चित आय से अधिकतम सन्तोष प्राप्त करना चाहता है। अतः यदि उपभोक्ता IC_1 तटस्थता वक्र पर बिन्दु P के संयोग के अनुसार X तथा Y वस्तु को क्रय करता है तो उसे अपनी आय व्यय करने पर X वस्तु की OQ मात्रा तथा Y वस्तु की PQ मात्रा प्राप्त होगी। ध्यान रहे कि P बिन्दु AB मूल्य
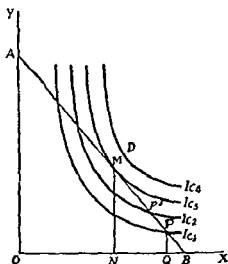
चित्र सं०—18

रेखा पर है। अतः इसी रेखा पर M बिन्दु द्वारा प्रदर्शित संयोग के अनुसार उतनी ही आय से X तथा Y वस्तुओं की क्रमशः ON तथा MN मात्राएँ प्राप्त होंगी। M तटस्थता वक्र IC_3 का स्पर्श बिन्दु है। उपभोक्ता अधिकतम सन्तोष प्राप्त करने के लिए वस्तुओं के अपेक्षाकृत अच्छे संयोगों को पसन्द करता है। किसी तटस्थता वक्र से ऊँचे वक्र अच्छे संयोगों का प्रदर्शन करते हैं। अतः यह उपभोक्ता PQ+OQ संयोग जो IC_1 पर है की अपेक्षा IC_3 के MN+ON संयोग को अधिक पसन्द करेगा। इसके साथ ही साथ निश्चित आय से समान सन्तुष्टि उन्हीं तटस्थता वक्रों से प्राप्त हो सकती है जिनको आय मूल्य रेखा या तो काटती है या स्पर्श करती है। उपभोक्ता का सन्तुलन बिन्दु वह होता है जहाँ आय-मूल्य रेखा तटस्थता रेखा को स्पर्श करती है [या स्पर्श रेखा (tangent) बनती है]। उपरोक्त चित्र में AB रेखा IC_1 व IC_2 तटस्थता वक्रों को काटती है परन्तु IC_3 तटस्थता

वक्र को M बिन्दु पर स्पर्श करती है। IC_3 वक्र चूंकि IC_1 व IC_2 तटस्थता वक्रों से उच्च स्थिति पर है, अतः IC_3 तटस्थता वक्र के संयोगों का चुनाव ही उपभोक्ता द्वारा किया जायेगा। परन्तु IC_3 तटस्थता वक्र भी AB मूल्य रेखा को केवल M बिन्दु पर ही स्पर्श करता है। अतः AB मूल्य रेखा IC_3 तटस्थता वक्र को M पर स्पर्श रेखा है (Price Line is a tangent to a Indifference Curve)। इस स्पर्श बिन्दु के अतिरिक्त AB मूल्य रेखा IC_3 को किसी अन्य बिन्दु पर नहीं काटती। अतः उपभोक्ता M बिन्दु के द्वारा X तथा Y वस्तुओं के संयोग (ON_x+MN_y) के अतिरिक्त उस आय में अन्य किसी संयोग से सन्तुष्टि प्राप्त नहीं कर सकता। अतः M बिन्दु पर प्राप्त संयोग सर्वोत्तम एवं वांछनीय है जो उपभोक्ता-सन्तुलन (Consumer s Equilibrium) को प्रकट करता है। अन्य कोई भी संयोग सर्वोत्तम नहीं कहा जा सकता क्योंकि IC_3 की बायीं ओर (जैसे P या P पर) वह नहीं जाना चाहेगा क्योंकि वे निम्न स्तरीय तटस्थता वक्र IC_1 व IC_2 के संयोग को व्यक्त करते हैं। उसकी दायीं ओर (जैसे IC_4 तटस्थता वक्र के D बिन्दु पर) वह नहीं जाना चाहेगा क्योंकि उसकी निश्चित आय की सम्भावित उपभोग रेखा या मूल्य रेखा (Con umption Possibility Line) AB न तो IC_4 को स्पर्श ही करती है और न उसको कहीं पर काटती ही है। यह बिन्दु उसकी मूल्य रेखा की पहुँच के बाहर है क्योंकि वह उच्च स्तरीय उपभोग पर अधिक आय के वितरण को व्यक्त करता है। इस स्तर (IC_4) पर स्थित संयोग क्रय करने के लिए इस उपभोक्ता की आय पर्याप्त नहीं है।

अतः यह स्पष्ट है कि जिस बिन्दु पर मूल्य रेखा किसी तटस्थता वक्र को स्पर्श करती है वह उपभोक्ता के लिए सर्वोत्तम स्थिति है। इसी बिन्दु पर उपभोक्ता सन्तुलन की स्थिति में होता है। सन्तुलन की अवस्था प्राप्त कर लेने पर उपभोक्ता उस समय तक किसी वस्तु की मात्रा अधिक नहीं करेगा जब तक कि उसकी आय आदि में परिवर्तन न हो जाय।

सन्तुलन बिन्दु (Point of tangency or equilibrium point) M पर मूल्य रेखा (AB) तथा तटस्थता वक्र (IC_3) दोनों का ढाल (Slope) समान है। तटस्थता वक्र के ढाल का बिन्दु दो वस्तुओं के मध्य सीमान्त प्रतिस्थापन दर (Marginal rate of substitution) या 'प्रतिस्थापन अनुपात (Ratio of substitution) को मापता है। परन्तु मूल्य रेखा का ढाल प्रारम्भ से अन्त तक समान रहता है जो $\frac{OA}{OB}$ (X वस्तु के मूल्य तथा Y वस्तु के मूल्य के अनुपात) से स्पष्ट है।

अतः सन्तुलन की स्थिति में दो वस्तुओं के मूल्य के मध्य अनुपात उन वस्तुओं के मध्य प्रतिस्थापन के अनुपात के बराबर होता है। अतः उपभोक्ता के सन्तुलन का अभिप्राय यह है कि अधिकतम सन्तुष्टि उसी बिन्दु पर प्राप्त हो सकती है जहाँ वस्तुओं

की सन्तुष्टि उनके मूल्य के बराबर हो। इस तथ्य को इस प्रकार भी दिखाया जा सकता है

$$\text{उपभोक्ता का सन्तुलन}^{1} = \frac{\text{X की सीमान्त उपयोगिता}}{\text{Y की सीमान्त उपयोगिता}}$$

$$= \frac{\text{X का मूल्य}}{\text{Y का मूल्य}}$$

ऐसी स्थिति उस बिन्दु पर जहा मूल्य रेखा तटस्थता वक्र को स्पर्श कर सम्भव हो सकती है। *तटस्थता-वक्र की भाषा में सीमान्त उपयोगिताएँ और मूल्यों का आनुपातिक सम्बन्ध क्या है?* यह इस तथ्य से स्पष्ट होता है कि मूल्य रेखा तटस्थता वक्र को स्पर्श करती है। एक मूल्य रेखा एक ही तटस्थता वक्र को स्पर्श कर सकती है इससे *अधिक को नहीं तथा मूल्य रेखा पर स्पर्श बिन्दु केवल एक ही* हो सकता है। इसका कारण यह है कि तटस्थता वक्र एक दूसरे को काटते नहीं तथा तटस्थता वक्र मूल बिन्दु से उन्नतोदर (convex to the origin) होते हैं। *इसीलिये आधुनिक अर्थशास्त्री किसी भी उपभोक्ता के सन्तुलन की व्याख्या तटस्थता* वक्र के माध्यम से करते हैं। यह तो हम देख ही चुके हैं कि किस प्रकार अधिकतम सन्तुष्टि तटस्थता वक्र द्वारा स्पष्ट की जा सकती है। मूल्यों के आधार पर तटस्थता *वक्र का निर्माण नहीं होता तथा उपभोक्ता विभिन्न वस्तुओं के प्रत्येक संयोग को नहीं* लेता। एक दिए हुए मूल्य पर कुछ संयोगों को ही वह लेता है और कुछ को छोड़ देता है। किन्तु जिस संयोग को वह लेता है, उसी से उसको अधिकतम सन्तुष्टि मिलने की *आशा की जाती है और उपभोक्ता का वहां सन्तुलन बिन्दु होता है। अतः स्पष्ट है कि* तटस्थता वक्र की विधि द्वारा हम यह ज्ञात होता है कि दी हुई दशाओं के अन्तर्गत किस प्रकार उपभोक्ता को अधिकतम सन्तुष्टि मिलता है। तटस्थता वक्र बहुत स्पष्ट रूप से उपभोक्ता *के प्रत्येक सम्भव संयोगों को प्रदर्शित करता है तथा यह बताता है* कि उपभोक्ता एक विशेष संयोग को क्यों पसन्द करता है? परिणाम स्वरूप उपभोक्ता द्वारा चुनाव का सिद्धांत तटस्थता वक्र की विधि के द्वारा और भी अधिक स्पष्ट तथा *त्रुटिहीन बन जाता है।*

अपवाद

कभी-कभी विशेष परिस्थितियों में तटस्थता वक्र मूल बिन्दु के उन्नतोदर (Convex) होने के बजाय नतोदर (Concave) होते हैं। इस प्रकार की स्थिति *में उपभोक्ता दोनों वस्तुओं का क्रय करते हुए कभी तटस्थता वक्र के* किसी बिन्दु

---

1 Tengency between the price line and the indifference curve of the proportionality between marginal utilities and prices

—*J R Hicks*

पर स्थायी सन्तुलन की स्थिति में नहीं होगा। ऐसी स्थिति में हो सकता है कि तटस्थता वक्र जिस बिन्दु पर नतोदर है उस स्थिति पर क्रय की जाने वाली वस्तु का सीमान्त महत्त्व बढ़ रहा हो परन्तु वह कभी भी उपभोक्ता के सन्तुलन की स्थिति व्यक्त नहीं करेगा। इसके अतिरिक्त यह स्थिति क्रमागत सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम के विपरीत है। अतः तटस्थता वक्र का स्वरूप मूल बिन्दु के उन्नतोदर (Convex to the origin) होना आवश्यक है। नतोदर की स्थिति कुछ समय तक रह सकती है परन्तु लाभ की आशा में वस्तु की अधिकाधिक इकाइयाँ खरीदते रहने पर पुनः उसका सामान्य सम्बन्ध घटने लगता है और वक्र अपने मूल बिन्दु से उन्नतोदर होने लगता है।

14 उपभोक्ता सन्तुलन के परिवर्तनकारी तत्त्व

उपभोक्ता के सन्तुलन का यह विश्लेषण कुछ मान्यताओं पर आधारित है। किन्तु यदि उपभोक्ता की आय या वस्तु के मूल्य में परिवर्तन हो जाय तो सन्तुलन बिन्दु भी बदल जाएगा। उपभोक्ता के सन्तुलन का क्या परिवर्तन होगा? इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए हम अपने विश्लेषण को तीन विभिन्न भागों में विभाजित करना होगा। वे तीन विभिन्न परिवर्तन ये हैं (i) आय प्रभाव (Income Effect) (ii) मूल्य प्रभाव (Price Effect) तथा (iii) प्रतिस्थापन प्रभाव (Substitution Effect)। अब इनका विश्लेषण हम अलग अलग करेंगे।

(i) आय-परिवर्तन का प्रभाव (Effects of Changes in Income)

अन्य बातों के समान रहते हुए उपभोक्ता की आय में परिवर्तन दो प्रकार से हो सकता है (i) आय में वृद्धि द्वारा अथवा (ii) आय में कमी द्वारा। उपभोक्ता की आय में वृद्धि या कमी होने के फलस्वरूप माँग में जो वृद्धि या कमी होती है उसे ही आय प्रभाव कहते हैं। आय प्रभाव के कारण उपभोक्ता सन्तुलन (Consumer's Equilibrium) बदल जाता है अर्थात् उसकी सन्तुष्टि पहले की तुलना में अधिक या कम हो जाती है। किसी उपभोक्ता की आय में वृद्धि होने पर उसकी मूल्य रेखा (Price Line) दायीं ओर ऊँचे स्तर पर चली जाती है क्योंकि दो वस्तुओं के मूल्यों व तथा उपभोक्ता की रुचियों में बिना कोई परिवर्तन हुए अब वह X तथा Y वस्तु की पहले की अपेक्षा अधिक मात्रा क्रय कर सकता है। अन्य बातों के समान रहने के कारण ही तटस्थता वक्र का ढाल पहले के तटस्थता वक्रों की तरह रहेगा और मूल्य रेखाएँ एक-दूसरे के समानान्तर रहेंगी। उपभोक्ता का उपभोग स्तर ऊँचा उठने के कारण प्रत्येक मूल्य रेखा ऊँचे तटस्थता वक्र की स्पर्श रेखा बन जायेगी जो अपने स्पर्श बिन्दु पर उपभोक्ता की अधिकतम सन्तुष्टि या उपभोक्ता सन्तुलन को व्यक्त करेगी। उदाहरणार्थ उपभोक्ता की निश्चित आय पर (नीचे दिए गए चित्र सं० 19 में) मूल्य रेखा AB है और सन्तुलन बिन्दु M है, जिस पर मूल्य रेखा AB तटस्थता-वक्र IC_1 को स्पर्श करती है।

यदि उपभोक्ता की आय मे वद्धि हो जाती है तो वह X और Y वस्तुओं की अधिक मात्राएँ क्रय कर सकता है। अत मूल्य रेखा बायें से दायें ऊपर की तरफ खिसकेगी जो AB के समानान्तर होगी। यह मूल्य रेखा CD है। यह मूल्य रेखा (CD) दूसरे तटस्थता वक्र IC_2 को N पर स्पर्श करती है। यदि आय मे पुन वद्धि होती है तो मूल्य रेखा आगे उठकर AB व CD के समानान्तर EF की स्थिति मे पहुच जाती है। यह रेखा तटस्थता वक्र IC_3 को Q बिन्दु पर स्पर्श करती है। M N तथा Q स्पर्श बिन्दु उपभोक्ता सन्तुलन की स्थितियाँ व्यक्त करते हैं। उपभोक्ता अपनी विभिन्न आय स्तरो पर इन बिन्दुओ द्वारा व्यक्त X तथा Y वस्तुओं के संयोगो से अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करता है। आय मे वद्धि होने से उपभोग पर पडने वाले परिवर्तनो को M N Q बिन्दुओ को मिलाने वाली रेखा PR व्यक्त करती है। अत यह कहा जा सकता है कि एक तटस्थता मानचित्र पर दिए गए विभिन्न तटस्थता वक्रो के सन्तुलन बिन्दुओं को जोडने वाली रेखा को आय उपभोग वक्र (Income Consumption Curve) या व्यय उपभोग वक्र (Expenditure Consumption Curve) कहते हैं।[1] यह वक्र आय मे परिवर्तन होने पर क्रय की जाने वाली वस्तुओ की मात्रा मे होने वाले परिवर्तनो को स्पष्ट रूप से व्यक्त करता है।
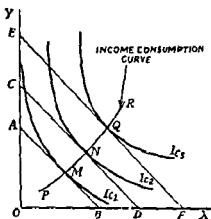
चित्र स० 19

आय उपभोग वक्र का स्वरूप (Slope) तटस्थता वक्र के स्वरूप पर निर्भर है। सामान्यतया यदि दो वस्तुओ के सापेक्ष मूल्यो (Relative Prices) और उपभोक्ता की रुचियो मे परिवर्तन न हो तथा आय मे वद्धि हो तो आय उपभोग वक्र

1 Any line drawn through the equilibrium points for all the possible levels of income is known as an income cosumption curve

—Stonier & Hague

का ढाल ऊपर की ओर दायी तरफ होता है[2] जैसा कि चित्र स० 19 मे दिखलाया गया है। इसका अर्थ यह होता है कि आय मे वृद्धि होने पर उपभोक्ता दोनो वस्तुओ की अधिकाधिक मात्राओ का उपभोग कर सकता है। अत सामान्य वस्तुओ के सम्बन्ध मे आय प्रभाव धनात्मक होता है परन्तु घटिया किस्म की वस्तुओ के सम्बन्ध मे आय प्रभाव ऋणात्मक होता है। इसका अर्थ यह है कि आय मे वृद्धि के बावजूद भी उपभोक्ता घटिया वस्तुओ के उपभोग की मात्रा मे वृद्धि नही करता है।

यदि हम ICC_1 वक्र पर हैं तो X वस्तु एक सीमा के बाद (R के बाद) घटिया वस्तु होगी क्योकि R बिन्दु के बाद X वस्तु की मात्रा पहले की तुलना मे कम खरीदी जाएगी। किन्तु ठीक इसके विपरीत यदि हम ICC_2 वक्र पर है तो एक निश्चित सीमा अर्थात् L के बाद Y वस्तु घटिया वस्तु कही जाएगी क्योकि L
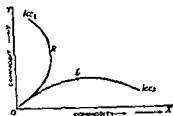
चित्र स० 20

बिन्दु के बाद Y वस्तु की कम मात्रा मे खरीदी जाती है। चित्र मे दिए गए इन दो असामान्य वक्रो को देखने पर ज्ञात होता है कि ICC_1 का ढाल पीछे की ओर तथा ICC_2 का ढाल नीचे की ओर जाता है। इसका यह अर्थ है कि एक बिन्दु पर पहुचने के बाद आय मे वृद्धि का प्रभाव कुछ वस्तुओ के लिए ऋणात्मक हो जाता है। परन्तु आय-उपभोग-वक्र का ऐसा स्वरूप (जैसा कि हम इस चित्र मे देख रहे हैं) सामान्य रूप से देखने को नहीं मिलता। भारत जैसे अर्द्ध विकसित देश मे निर्धनता के कारण उपभोक्ता घटिया वस्तुओ का अधिक उपभोग करता है। जब उपभोक्ता की आमदनी मे वृद्धि होती है तब वह घटिया वस्तुओ के स्थान पर अच्छी वस्तुओ का उपभोग प्रारम्भ कर देता है।

(ii) मूल्य प्रभाव (Price Effect)

वस्तुओ के मूल्यो मे परिवर्तन का प्रभाव भी उपभोक्ता के सन्तुलन बिन्दु (Equilibrium Position) पर पडता है। उपभोक्ता की आय मे कोई परिवर्तन न होने पर अर्थात् उपभोक्ता की मौद्रिक आय के स्थायी (Constant) रहने पर वस्तुओ के मूल्यो मे होने वाले परिवर्तन का मांग पर पडने वाले प्रभाव को ज्ञात

2 Most income consumption curves slope upwards to the right

करना आवश्यक है। मूल्य-परिवतन के परिणामस्वरूप माग पर पड़ने वाले प्रभाव को मूल्य प्रभाव (Price Effect) कहते हैं। इस प्रभाव को स्पष्ट रूप से प्रदर्शित करने के लिए मूल्य उपभोग वक्र (Price Consumption Curve) का प्रयोग किया जाता है। यह वक्र इस तथ्य को प्रकट करता है कि मूल्य म कमी होने से किसी वस्तु की माग पर क्या प्रभाव पडता है ? इस प्रभाव को ज्ञात करने के लिए यह मान कर चलना होगा कि उपभोक्ता की आय तथा उसकी रुचियो म कोई परिवतन नही हुआ है। मौद्रिक आय पूववत् रहते हुए यदि किसी वस्तु के मूल्य म परिवतन होता है तो उपभोक्ता की वास्तविक आय म परिवतन होगा। मूल्य म वद्धि होने पर वह उस वस्तु की कम मात्रा ही क्रय कर सकता है, जिससे यह कहा जा सकता है कि उसकी वास्तविक आय म कमी होती है। इसके विपरीत उस वस्तु का मूल्य कम होने पर वह उसकी अधिक मात्रा क्रय कर सकता है। अत यह कहा जा सकता है कि उसकी वास्तविक आय म वद्धि होती है। फलस्वरूप उपभोक्ता की सन्तुलन स्थिति बदल जाती है।

अन्य बातो के समान होने पर यदि तटस्थता वक्र को स्थिर मान लिया जाय तो मूल्य-परिवतन से मूल्य रेखा बदल जाती है जिसके परिणामस्वरूप तटस्थता वक्र का स्पश बिन्दु (Point of Tangency) भी बदल जाता है। इस स्थिति को हम चित्र स० 21 के माध्यम से स्पष्ट कर सकते हैं।

मूल्यो की कमी के परिणामस्वरूप स्वभावत मूल्य रेखा मूल बिन्दु से ऊपर की ओर उठती जाती है जिससे हम एक उच्च तटस्थता वक्र पर पहुँच जाते हैं।
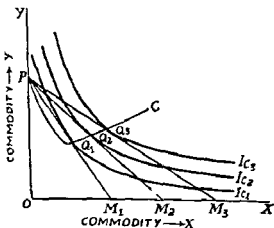
चित्र स० 21

इस चित्र म हम Q_1 सन्तुलन बिन्दु से प्रारम्भ करते हैं। यह बिन्दु मूल्य रेखा PM_1

पर स्थित है। अनुमान करें कि X वस्तु की कीमत में कमी होती है तथा Y वस्तु का मूल्य स्थिर रहता है। परिणामस्वरूप X वस्तु की सीमा रेखा आगे की ओर बढ़ती है। मूल्य रेखा M_1 से M_2 और फिर M_3 तक पहुँच जाती है, अर्थात् उत्तरोत्तर मूल्य रेखा PM_1 से ऊपर उठ कर PM_2 PM_3 हो जाती है। ये सभी परिवर्तित मूल्य रेखायें उच्चतर तटस्थता वक्रों को स्पर्श करती हैं जिन्हें हम क्रमश Q_2 और Q_3 बिन्दुओं द्वारा व्यक्त करते हैं। यदि हम सन्तुलन के इन उत्तरोत्तर उच्च बिन्दुओं को मिला दें तो हम वह मार्ग पाते हैं जिसको कि उपभोक्ता मूल्य में परिवर्तन होने पर व्यवहार में लाता है। यही रेखा मूल्य प्रभाव को प्रदर्शित करती है तथा इसे हम मूल्य उपभोग वक्र (Price Consumption Curve) कहते हैं। यहाँ हम यह भी देखने को मिलता है कि X वस्तु उत्तरोत्तर सस्ती होती जाती है तथा मूल्य रेखा का ढाल क्रमशः कम हो जाता है।

(iii) प्रतिस्थापन प्रभाव (Substitution Effect)

यह सम्भव है कि वस्तुओं के मूल्यों में परिवर्तन के साथ ही साथ उपभोक्ता की आय में भी इतना परिवर्तन हो जिससे कि उसकी स्थिति पूर्ववत् ही बनी रहे। वस्तुओं के मूल्यों तथा उपभोक्ता की आय में समकारी परिवर्तन होने के परिणाम स्वरूप उपभोक्ता की स्थिति न तो पहले से सुधरती है न बिगड़ती ही है। ऐसी स्थिति में उपभोक्ता उन वस्तुओं की अधिक मात्रा लेगा जिनके मूल्य कम हैं तथा उन वस्तुओं की कम मात्रा में क्रय करेगा जिनके मूल्य अधिक हैं क्योंकि उपभोक्ता अपेक्षाकृत महँगी वस्तुओं के स्थान पर सस्ती वस्तुएँ लेता है। उनकी माँग में इस प्रकार के परिवर्तन को प्रतिस्थापन प्रभाव (Substitution Effect) कहते हैं।

यह नियम दो मान्यताओं पर आधारित है (अ) मूल्यों में इस प्रकार का परिवर्तन होना जिससे एक वस्तु दूसरी वस्तु की अपेक्षा अधिक सस्ती हो जाय तथा (ब) उपभोक्ता की मौद्रिक आय में इस प्रकार का परिवर्तन होना कि उसकी स्थिति पहले के ही समान रहे। इन दोनों मान्यताओं का आधार यह है कि जब कोई वस्तु महँगी हो जाती है तब उपभोक्ता को उसकी कुल मात्रा क्रय करने पर जो क्षति होती है वह मौद्रिक आय में वृद्धि द्वारा पूरी हो जाती है। मूल्य और आय में इस प्रकार समकारी परिवर्तन को 'आय में क्षतिपूर्ति परिवर्तन' (Compensating Variation in Income) कहते हैं।

अब दिए गए चित्र संख्या 22 में हम उस बिन्दु से आरम्भ करते हैं जहाँ उपभोक्ता Q बिन्दु पर सन्तुलन की दशा में है। इस सन्तुलन की दशा में उपभोक्ता के पास X वस्तु की OM मात्रा तथा Y वस्तु की ON मात्रा रहती है। यहाँ हम

मान लें कि किसी कारण Y वस्तु के मूल्य में वृद्धि होती है और X वस्तु के मूल्य में कमी। फलस्वरूप अब Y वस्तु की अपेक्षा X वस्तु सस्ती पड़ती है। ऐसी दशा में Y वस्तु के मूल्य में वृद्धि होने से उपभोक्ता की वास्तविक आय में जो कमी हुई है उस क्षति की X वस्तु के मूल्य में कमी होने के कारण पूर्ति हो जाती है। अतः दोनों वस्तुओं के मूल्यों में परिवर्तन इस प्रकार हुए हैं कि उपभोक्ता की स्थिति पूर्ववत् रहती है और उपभोक्ता एक वस्तु के मूल्य में कमी तथा दूसरे के मूल्य में वृद्धि के

चित्र सं॰ 22

कारण उसी स्थिति में बना रहता है जिसमें कि वह पहले था। तात्पर्य यह है कि उपभोक्ता का सन्तुलन पहले वाले तटस्थता वक्र पर ही बना रहता है। किन्तु यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि उपभोक्ता का सन्तुलन बिन्दु बदल जाता है। Y वस्तु के मूल्य में वृद्धि के कारण वास्तविक आय में हुई कमी (क्षति) X वस्तु के मूल्य में कमी के द्वारा पूरी हो जाती है।[1]

अब इन परिवर्तनों के फलस्वरूप प्रतिस्थापन प्रभाव की उत्पत्ति होती है। Y वस्तु और X वस्तु के सापेक्षिक मूल्यों में परिवर्तन हुआ है किन्तु उपभोक्ता की स्थिति पूर्ववत् ही रहती है।[2] X वस्तु Y वस्तु की अपेक्षा अब सस्ती पड़ती है। इसलिए

1 "This compensating variation is just large enough to cancel out the change in his circumstances caused by the rise in the relative price of Y. He remains at exactly the same position in his scale of preferences (on the same indifference curve) the rise in the price of Y having been compensated for by the rise in his income."

—*Stonier & Hague*

2 "The relative price of X and Y have changed, whilst the compensating variation in income had ensured that the consumer is neither better nor worse off than he was before."

—*Stonier & Hague*

उपभोक्ता Y वस्तु के स्थान पर X वस्तु की खरीद की मात्रा में वृद्धि करता है और वह अपनी आय का ज्यादा भाग X वस्तु पर व्यय करता है तथा Y वस्तु पर पहले की अपेक्षा कम व्यय करता है। परिणामस्वरूप उपभोक्ता की सन्तुष्टि पूर्ववत् बनी रहती है क्योंकि वह परिवर्तित स्थिति में भी उसी तटस्थता वक्र पर बना रहता है जहाँ कि वह पहले था। केवल सन्तुलन बिन्दु का स्थान बदल जाता है। Q के स्थान पर अब उपभोक्ता Q_1 पर चला जाता है। Q और Q_1 दोनों एक ही तटस्थता वक्र पर हैं और इस पर चलना प्रतिस्थापन प्रभाव का सूचक है। उपभोक्ता Y के स्थान पर X का अधिक उपभोग करता है क्योंकि X वस्तु अपेक्षाकृत सस्ती है। प्रतिस्थापन प्रभाव का प्रदर्शन सदैव एक ही तटस्थता वक्र पर एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु पर चल कर किया जा सकता है।[1]

(iii) आय तथा प्रतिस्थापन का दुहरा प्रभाव (The Dual Effect) यह एक तर्कयुक्त तथ्य है कि सभी मूल्य-परिवर्तनों को आय प्रभाव द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। उदाहरणार्थ मूल्य में कमी होने पर यह कहा जा सकता है कि उपभोक्ता
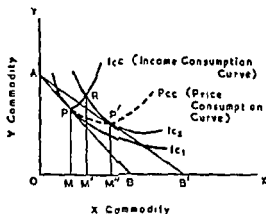
चित्र–23

की वास्तविक आय में वृद्धि हो गयी है जबकि मूल्य में वृद्धि होने से उपभोक्ता की वास्तविक आय में कमी होती है। इस कारण-परिणाम के तथ्य को सत्य मानने पर यह कहा जा सकता है कि मूल्य-परिवर्तनों को सर्वप्रथम आय-परिवर्तनों के रूप में स्पष्ट किया जा सकता है। मूल्य तथा आय में होने वाले परिवर्तनों के प्रभावों को चित्र सं 23 में स्पष्ट किया गया है।

1 "A substitution effect can always be represented as a movement along an indifference curve."

—*Stonier & Hague*

किसी एक वस्तु की कीमत का प्रत्यक्ष परिवर्तन दोनों वस्तुओं के संयोगों का अनुपात बदल कर मूल्य रेखा का ढाल बदल देता है। इसका कारण स्पष्ट है, जब किसी वस्तु (X वस्तु) की कीमत गिरती है तो इसकी मांग की मात्रा एक तरफ आय प्रभाव की शक्ति और दिशा पर निर्भर करती है और दूसरी तरफ प्रतिस्थापन प्रभाव पर निर्भर करती है। X वस्तु की कीमत घटने पर उपभोक्ता के लिए उसकी माग बढ़ेगी। साथ ही X वस्तु के मूल्य के गिरने के कारण मूल्य रेखा का ढाल भी AB से बदल कर AB हो जाता है। अतः X वस्तु का मूल्य गिरने पर उपभोक्ता प्रारम्भिक सन्तुलन स्थिति P से नवीन सन्तुलन स्थिति P पर चला जाता है। लेकिन इसको आय उपभोग-वक्र (Income Consumption Curve) पर P से R तक एक मिश्रित गति के रूप में देखना अधिक उचित होगा। आय उपभोग वक्र पर P से R तक जाना आय प्रभाव कहलाता है तथा उदासीनता वक्र IC पर R से P तक जाना प्रतिस्थापन प्रभाव कहलाता है। जब उपभोक्ता कीमत उपभोग वक्र (Price Consumption Curve) पर P से P तक जाता है तो X वस्तु की माँग OM से OM हो जाती है। वास्तव में X वस्तु की माग में OM में MM की वृद्धि तो आय प्रभाव का परिणाम है और शेष M M' प्रतिस्थापन प्रभाव का परिणाम हैं। ऐसा होने का कारण यह है कि सामान्यतया प्रतिस्थापन प्रभाव तथा आय प्रभाव दोनों ही धनात्मक होते हैं। ये दोनों इस तरह कार्य करते हैं कि किसी भी वस्तु की कीमत गिरने पर उसकी खरीद बढ़ जाती है।

अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि आय प्रभाव अथवा मूल्य प्रभाव में से किसका अधिक प्रभाव पड़ा है? इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है क्योंकि इन दोनों प्रवृत्तियों का सापेक्ष महत्त्व उन अनुपातों पर निर्भर है जिनमें उपभोक्ता अपने व्यय को इन दोनों वस्तुओं को खरीदने पर बाँटेगा। X वस्तु के मूल्य में कमी होने पर उपभोक्ता की स्थिति किस सीमा तक अच्छी हो जाती है यह इस बात पर निर्भर है कि मूल्य परिवर्तन के पहले वह X वस्तु की कितनी मात्रा का उपभोग करता था। यदि उसकी सम्बन्धित आय के अन्तर्गत X वस्तु का उपभोग अधिक था तो अब उसकी स्थिति पहले की तुलना में काफी अच्छी होगी। ऐसी स्थिति में आय प्रभाव अधिक शक्तिशाली होगा। परन्तु यदि पहले X वस्तु के उपभोग की मात्रा कम थी तो उपभोक्ता का लाभ कम होगा और प्रतिस्थापन प्रभाव आय प्रभाव को शक्तिहीन बना देगा। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सामान्यतः घटिया वस्तुओं को छोड़कर अन्य वस्तुओं की दशा में **प्रतिस्थापन प्रभाव आय प्रभाव से प्रबल होता है।**

(iv) घटिया वस्तुएं (Inferior Goods) तथा गिफ्न का विरोधाभास (Giffen Paradox) सामान्य रूप से आय प्रभाव तथा प्रतिस्थापन प्रभाव के

कारण किसी वस्तु की कीमत घटने पर उसकी अधिक मात्रा खरीदी जाती है। प्रतिस्थापन प्रभाव के कारण हमेशा किसी भी वस्तु की कीमत गिरने पर उसकी अधिक मात्रायें खरीदी जाने की प्रवृत्ति होगी। परन्तु आय प्रभाव हमेशा धनात्मक (Positive) नहीं हो सकता अर्थात् यह आवश्यक नहीं है कि मूल्य कम होने तथा आय बढ़ने पर उपभोक्ता कम कीमत वाली वस्तु की अधिक मात्रा खरीदे। वह उस वस्तु की वास्तव में कम मात्रा भी खरीद सकता है। ऐसी स्थिति में आय प्रभाव ऋणात्मक होता है।

उपर्युक्त स्थिति प्रायः घटिया वस्तुओं की खरीद के सम्बन्ध में उत्पन्न होती है। इसका कारण यह है कि कुछ घटिया वस्तुओं की खरीद उपभोक्ता की आय के बढ़ने पर भी बढ़ने के स्थान पर घट जाती है। वास्तव में आय बढ़ने पर उपभोक्ता की आर्थिक स्थिति में सुधार होता है। वह घटिया वस्तुओं के स्थान पर अच्छी वस्तुएं खरीदने लगता है जिससे मूल्य घटने पर घटिया वस्तु कम मात्रा में खरीदी जाती है। ऐसी स्थिति में आय प्रभाव ऋणात्मक कहा जायगा। परन्तु इस स्थिति में भी यदि वह इतना कमजोर हो कि प्रतिस्थापन प्रभाव को जो धनात्मक होता है नहीं गिरा सके तो उस वस्तु की अधिक मात्रा खरीदी जायगी।

परन्तु कुछ वस्तुएँ ऐसी होती हैं जिनकी खरीद के सम्बन्ध में ऋणात्मक आय प्रभाव धनात्मक प्रतिस्थापन प्रभाव से अधिक प्रबल होता है। ऐसी स्थिति में उपभोक्ता वस्तु की कीमत कम होने पर भी उसकी कम मात्रा में तथा कीमत के अधिक होने पर उसकी अधिक मात्रा में खरीदेगा। इस प्रकार की स्थिति उसी समय आती है जबकि वस्तु विशेष पर व्यय किया जाने वाला उपभोक्ता की आय का अंश बहुत बड़ा हो। ऐसी दशा में वस्तु विशेष के मूल्य में कमी होने पर उपभोक्ता की आय में अत्यधिक परिवर्तन हो जाता है।

ऐसी विशेष किस्मों की वस्तुएं, जिनकी मांग इनके सस्ते होने पर कम तथा महंगे होने पर अधिक होती है गिफेन वस्तुयें (Giffin good) कहलाती हैं। ये वस्तुयें घटिया वस्तुयें (Inferior goods) होती हैं। इन वस्तुओं का नाम सर रॉबर्ट गिफेन के नाम से चला आ रहा है। गिफेन ने 19वीं शताब्दी में रोटी का उदाहरण देते हुए कहा था कि रोटी का मूल्य बढ़ने पर भी वह मांस तथा अन्य खाद्य वस्तुओं से सस्ती होती। रोटी की कीमत बढ़ने से निर्धन व्यक्तियों की आय में अधिक [illegible] होगा अतः खाद्य वस्तुओं में रोटी सस्ती होने पर [illegible] अधिक खरीदेंगे। इसके विपरीत रोटी की कीमत कम होने पर उनकी वास्तविक आय बढ़ जायगी और वे रोटी के स्थान पर अन्य अच्छी खाद्य वस्तुओं को भी खरीदने लगेंगे। इसका परिणाम यह होगा कि उनकी रोटी की अधिक की मात्रा [illegible] कम हो [illegible]। [illegible] वस्तु विशेष के [illegible] में कमी होने पर उसकी अधिक की मात्रा में

कमी तथा वस्तु विशेष का मूल्य बढ़ने पर उसकी खरीद की मात्रा म वृद्धि को ही गिफन का विरोधाभास (Giffen s Paradox) कहते है।
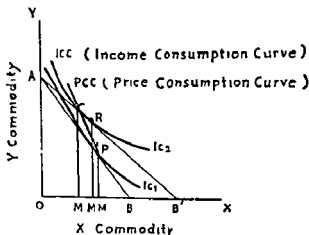
चित्र स० 24

चित्र स 24 म गिफन विरोधाभास को स्पष्ट किया गया है। जब X वस्तु की कीमत घटती है तब आय मे वृद्धि होने पर मूल्य रेखा AB से AB′ तो हो जाती है परन्तु सन्तुलन बिन्दु P स R पर चला जाता है। इसस यह पता चलता है कि X वस्तु की OM मात्रा घटकर OM″ हो जाती है। खरीद म M M की कमी कुल परिणाम क रूप म है क्योंकि अकेले ऋणात्मक आय प्रभाव के फलस्वरूप तो उपभोक्ता X वस्तु की M′M कम मात्रा खरीदता और अकेले धनात्मक प्रतिस्थापन प्रभाव के फलस्वरूप वह M″M मात्रा अधिक खरीदता। अन इन सबका कुल परिणाम यह होगा कि उपभोक्ता X वस्तु की कम मात्रा ही खरीदेगा (OM के स्थान पर OM″) परन्तु धनात्मक प्रतिस्थापन प्रभाव क कारण वह इतनी कम मात्रा नहीं खरीदेगा कि X वस्तु की मात्रा OM से घटकर OM हो जाय। अत यह कहा जाता है कि धनात्मक प्रतिस्थापन प्रभाव ऋणात्मक आय प्रभाव के कारण कम हो जाता है और उपभोक्ता X वस्तु की कीमत कम होने पर उसकी पहले की अपेक्षा कम मात्रा खरीदता है। ऐसी दशायें असाधारण हैं फिर भी ये कभी कभी सम्भव होती हैं।

15 तटस्थता वक्रों से माँग वक्र का निर्माण
(The Derivation of Demand Curves from Indifference Curves)

तटस्थता वक्रों के द्वारा माँग-वक्र (Demand Curve) की रचना की जा सकती है। माँग-वक्र का अभिप्राय एक ऐसे वक्र से है जो किसी वस्तु की माग की गई मात्रा तथा उसके मूल्य के सम्बन्ध को व्यक्त करता है। माँग-वक्र के द्वारा हम

यह ज्ञात होता है कि विभिन्न मूल्यों पर किसी वस्तु की कितनी मात्रा की माँग होगी ? अतः यह स्पष्ट है कि उपभोक्ता की रुचि तथा आय और अन्य वस्तुओं के मूल्य समान रहने पर किसी भी वस्तु के मूल्य में परिवर्तन का प्रभाव उस वस्तु की माँगी गई मात्रा पर पड़ता है। यही कारण है कि किसी वस्तु का माँग-वक्र (Demand Curve) उसके मूल्य उपभोग-वक्र से (Price Consumption Curve) किसी न किसी रूप में सम्बन्धित है। वस्तुतः यदि उपभोक्ता की आय और तटस्थता वक्रों का मानचित्र (Indifference Map) दिया गया हो तो मूल्य-उपभोग वक्र से माँग-वक्र निर्मित किया जा सकता है। इसका कारण यह है कि इन दोनों वक्रों से एक ही प्रकार की सूचना मिलती है। माँग-वक्र यह स्पष्ट करता है कि विभिन्न मूल्यों पर किसी वस्तु की माँग क्या होगी ? मूल्य उपभोग वक्र से यह ज्ञात होता है कि किसी वस्तु के मूल्य में परिवर्तन के परिणामस्वरूप उस वस्तु की उपभोग मात्रा क्या होगी ? इन दोनों सूचनाओं में विशेष अन्तर न होने के कारण ही कुछ अर्थशास्त्री मूल्य-उपभोग वक्र तथा माँग वक्र में कोई अन्तर नहीं मानते। परन्तु वास्तव में इन दोनों में कुछ निम्नलिखित अन्तर हैं

(i) मूल्य-उपभोग-वक्र के द्वारा हम दो वस्तुओं का अध्ययन करते हैं जिनमें से एक वस्तु मुद्रा भी हो सकती है किन्तु माँग वक्र का निर्माण वस्तु के विभिन्न मूल्यों के आधार पर होता है।

(ii) मूल्य उपभोग वक्र किसी वस्तु के मूल्य को मौद्रिक इकाइयों (रुपया पैसा) में नहीं बताता। यह केवल दो वस्तुओं के मूल्य के मध्य अनुपात को ही व्यक्त करता है। किन्तु माँग-वक्र में वस्तु के विभिन्न मूल्यों को व्यक्त किया जाता है। यही कारण है कि माँग वक्र से यह जानकारी प्राप्त करने में सुविधा होती है कि दिए हुए मूल्यों पर किसी वस्तु की कितनी मात्रा माँगी जायगी ?

(iii) मूल्य-उपभोग वक्र यह स्पष्ट करता है कि किसी वस्तु के मूल्य में कमी के कारण उसके आय प्रभाव (Income Effect) तथा प्रतिस्थापन प्रभाव (Substitution Effect) क्या होंगे ? परन्तु माँग-वक्र द्वारा इन प्रभावों की जानकारी सम्भव नहीं होगी।

(iv) किसी वस्तु के मूल्य की जानकारी माँग-वक्र (Demand Curve) पर पूर्ति वक्र (Supply Curve) बनाकर प्राप्त की जा सकती है किन्तु मूल्य उपभोग-वक्र की सहायता से किसी वस्तु का मूल्य निर्धारण सम्भव नहीं है।

माँग-वक्र का निर्माण करने के लिए प्रारम्भिक दिए गए चित्र सं० 25 OY खड़ी रेखा पर मुद्रा को तथा X वस्तु की मात्रा को माप OX आधार रेखा पर की गयी है। KA" KB" KC" KD" मूल्य रेखायें मानी गई हैं जिनको तटस्थता वक्र 1 2 3 4 क्रमशः A B C D बिन्दुओं पर स्पर्श करते हैं। इन चार

विभिन्न सन्तुलन की परिस्थितियों में उपभोक्ता वस्तु की क्रमशः OA′ OB OC′, OD मात्रायें लेता है। यदि हम K A B C तथा D बिन्दुओं को आपस में मिलायें तो मूल्य उपभोग वक्र KD अर्थात् Pcc प्राप्त होगा जिसे हम मूल्य उपभोग वक्र
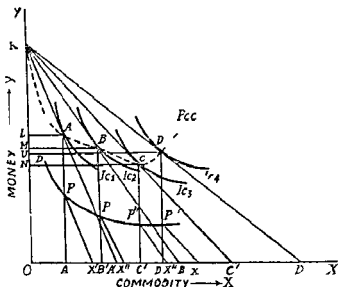
चित्र स 25

(Price Consumption Curve) कहते हैं। OA′ वस्तु के लिए उपभोक्ता KL मुद्रा देने को तत्पर है। इस प्रकार इन विभिन्न मात्राओं के लिए वह प्रति इकाई जो मूल्य देने को तयार है वह इस प्रकार व्यक्त किया है

$$\frac{KL}{OA}\quad \frac{KM}{OB},\ \frac{KN}{OC} \text{ और } \frac{KU}{OD}$$

X वस्तु का मूल्य क्रमशः तेजी के साथ कम होता जाता है जबकि उपभोक्ता K से D बिन्दु पर चलता है। दूसरे शब्दों में विभिन्न मूल्य KA′ KB″ KC और KD के झुकाव के द्वारा स्पष्ट किए गए हैं। चूंकि उपभोक्ता की आय OK निश्चित है जिसे वह खर्च कर सकता है अतएव जब वह A बिन्दु पर है और KL मात्रा खर्च करता है तब वह OL मात्रा बचा लेता है तथा उसे दूसरे उद्देश्यों के निमित्त रख लेता है। ठीक इसी प्रकार B बिन्दु पर KM मात्रा खर्च करता है और OM मात्रा अपने पास रखता है C बिन्दु पर KN तथा D बिन्दु पर KU व्यय करता है। इन सभी तथ्यों का अध्ययन Y अक्ष से किया जा सकता है क्योंकि उपभोक्ता की सम्पूर्ण आय OK निश्चित है। KA″ मूल्य रेखा पर किसी भी बिन्दु से उदाहरणस्वरूप A बिन्दु से यदि हम OX आधार रखा तथा OY खड़ी रेखा पर

लम्ब (Perpendiculars) डाल तो हमें बात का ज्ञान हो जायगा कि उपभोक्ता कितनी मात्रा क्रय करने को तत्पर है तथा वह उसके लिए कितना मुद्रा व्यय करने को तयार है। यदि हम A बिंदु से OX पर AA लम्ब डालते हैं तो ज्ञात होता है कि उपभोक्ता OA मात्रा खरीदना चाहता है तथा OY अक्ष पर AL लम्ब डालें तो पता चलता है कि उपभोक्ता X की OA मात्रा के लिए KL मुद्रा व्यय करने को तयार है। इसी प्रकार यदि KL को OA मात्रा से भाग दें तो हमको जो मूल्य मिलेगा वह मूल्य वही होगा जो कि OK को OA से भाग देने से प्राप्त होता है। इसलिए हमने $\frac{KL}{OA'} = \frac{OK}{OA}$ तथा $\frac{KM}{OB} = \frac{OK}{OB}$ इत्यादि का प्रयोग किया है।

माँग-वक्र इससे अधिक कुछ भी नहीं कहता कि उपभोक्ता की आय निश्चित है। इससे पता चलता है कि X वस्तु खरीदने के बाद उपभोक्ता के पास मुद्रा की कितनी रकम बच जाती है। माँग-वक्र केवल इतना ही कहता है कि दिए हुए मूल्य पर कितनी मात्रा खरीदी जायगी किन्तु मूल्य-उपभोग वक्र यह दिखलाता है कि X वस्तु की एक निश्चित मात्रा खरीदने के लिए सम्पूर्ण व्यय क्या होगा। अतः हमें X वस्तु का मूल्य ज्ञात करने के लिए कुल व्यय में वस्तु की मात्रा से भाग देना होगा। जैसे जब उपभोक्ता OA मात्रा की माँग करता है तब उसके लिए KL रुपया व्यय करता है। इसलिए प्रति इकाई मूल्य $\frac{KL}{OA}$ रुपया हुआ जो $\frac{OK}{OA}$" रुपए के बराबर है। इसी प्रकार प्रत्येक सन्तुलन बिन्दु का पता लगाया जा सकता है। उदाहरणस्वरूप K बिन्दु पर X वस्तु की कोई भी मात्रा नहीं खरीदी जाती तथा व्यय शून्य है। किन्तु जैसे ही उपभोक्ता K से B बिन्दु पर आता है वस्तु का मूल्य कम हो जाता है तथा उस वस्तु पर कुल व्यय की मात्रा बढ़ जाती है। C बिन्दु के बाद X वस्तु की खरीद की मात्रा बढ़ती ही जाती है किन्तु सम्पूर्ण व्यय में कमी आती जाती है। वास्तव में मूल्य उपभोग-वक्र कुल व्यय वक्र है किन्तु यह ऊपर से नीचे की ओर आता है (The pric consumption line is really only a total outlay curve but it is up id• down)।

एक माँग-वक्र खींचने के लिए हमें केवल यही जानने की आवश्यकता होगी कि X वस्तु की एक निश्चित मात्रा खरीदने के लिए उसका प्रति इकाई मूल्य क्या है? इसका पता बड़ी आसानी से लग जाता है। चित्र सं० 25 में दिए गए लम्ब AA' BB CC और DD आधार रेखा (OX) के क्रमशः A B C D बिन्दुओं से खींचे गए हैं। यदि हम AA रेखा पर विचार करें तो X की मात्रा का ज्ञान होगा अर्थात् OA इकाई जो यदि X वस्तु के एक दिए हुए मूल्य पर खरीदी जाती है तो $\frac{KL}{OA} = \frac{OK}{OA'}$ किन्तु X वस्तु का प्रत्येक इकाई का मूल्य क्या है? इसकी

जानकारी हम $\frac{KL}{OA} = \frac{OK}{OA}$ से होती है। किन्तु यह आसान नहीं है कि इस चित्र पर दिखा सकें।

वर्तमान विश्लेषण के लिए X वस्तु की प्रत्येक इकाई के मूल्य की जानकारी प्राप्त करने के लिए AA′ की दाहिनी ओर OX अक्ष पर एक इकाई पर चिह्न लगाते हैं जैसे एक इकाई = A X पर चिह्न लगा लिया गया है।

हम यह मान लें कि X की एक इकाई का प्रतिनिधित्व A X की दूरी से स्पष्ट है और यदि हम X′ से KA के समानान्तर X′P रेखा खींचें तो KA″ का ढाल X का मूल्य दिखायगा। चूंकि KA″ और X P इन दोनों के ढाल समान हैं अतएव ये दोनों X वस्तु की वही प्रति इकाई मूल्य को सूचित करता हैं जबकि X वस्तु की एक इकाई का प्रतिनिधित्व A X करता है तो A′P′ की दूरी X वस्तु की एक इकाई का मूल्य सूचित करती है और उपभोक्ता X वस्तु OA′ मात्रा खरीदता है। अतः P उपभोक्ता के माग वक्र पर एक बिन्दु है जो यह बतलाता है कि उपभोक्ता X की कितनी मात्रा खरीदता है जबकि उसकी लागत A P $\left(=\frac{OK}{OA}\right)$ है। ठीक इसी प्रकार यदि हम X की एक इकाई के लिये B की दायी ओर B X″ दूरी ले लें तथा X से KB″ के समानान्तर X″P खींचें तो X वस्तु का एक इकाई के मूल्य की जानकारी होगी जबकि X वस्तु की OB′ मात्रा खरीदी जाती है। यह मूल्य B′ P $\left(=\frac{OK}{OB}\right)$ होगा। अतः P बिन्दु उपभोक्ता के माग वक्र का एक दूसरा बिन्दु होगा जो यह दिखलाता है कि यदि X वस्तु की एक इकाई की कीमत B P′ है तो उसकी कितनी मात्रा खरीदी जायगी? इसी प्रकार हम P तथा P′ बिन्दु निकाल सकते हैं जिससे उपभोक्ता का X वस्तु की माग की मात्राओं का पता चलता है जबकि उसकी एक इकाई की लागत क्रमश CP″ और D P″ है।

अब हम एक माग वक्र DD खींच सकते हैं। माग वक्र (DD) X वस्तु की मात्रा को प्रदर्शित करता है जो कि उपभोक्ता X के विभिन्न मूल्यों पर खरीदने को तयार है। यह माग वक्र क्रमश P P P तथा P ′ बिन्दुओं से गुजरता है जो इस तथ्य का प्रदर्शन करता है कि विभिन्न मूल्यों पर X वस्तु की कितनी मात्रा की माग होती है? जैसा कि हम देख चुके हैं इस माग वक्र को आसानी से उपभोक्ता के तटस्थता वक्र के आधार पर खींच सकते हैं। *अतः यदि हम P P P″ तथा P ″* बिन्दुओं को मिलाकर बायी ओर D तथा दायी ओर D तक बढ़ावें तो हम उपभोक्ता का माग वक्र प्राप्त होगा।

16 बाजार माँग वक्र (Market Demand Curve)

अब तक हमारा यह विवरण केवल व्यक्ति के माँग-वक्र से सम्बन्धित था। अतः यह व्यक्तिगत माँग-वक्र हुआ। किन्तु अब हम यह देखना है कि बाजार माग

वक्र का स्वरूप क्या होगा ? बाजार माग-वक्र का निर्माण सभी व्यक्तियों के माँग-वक्र के योग से बनता है।
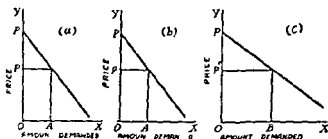
चित्र सं० 26

उपरोक्त चित्र में दो (a व b) व्यक्तिगत माग-वक्र हैं और इन दोनों का सयुक्त रूप (c) चित्र में स्पष्ट है। (a) व (b) व्यक्तिगत माग-वक्र एक समान हैं जो इस बात को प्रदर्शित करते हैं कि OP या इससे अधिक मूल्य पर वस्तु की माँग नहीं होगी। यही तथ्य इन दोनों चित्रों के योग से बने (c) रेखा चित्र से स्पष्ट है। OP से कम सभी मूल्यों पर कुल माँग वक्र (Aggregate demand curve) यह दिखलाता है कि विचाराधीन मूल्य पर व्यक्ति की माग कितनी होती है ? उदाहरण स्वरूप, OP मूल्य पर माँग की मात्रा (a) और (b) दोनों ही चित्रों में OA है तथा चित्र (c) में OP′ मूल्य पर माग की मात्रा OB है जो OA से दुगुनी है (Demand at the price OP is OB which is twice OA) क्योंकि दो व्यक्तिगत माँग-वक्र एक समान हैं तथा किसी भी मूल्य पर बाजार माँग-वक्र की मात्राएं व्यक्तिगत माँग वक्र की मात्राओं के दुगुने के बराबर होंगी। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रत्येक मूल्य पर माँग की लोच इन तीनों माँग-वक्रों में एक ही है। किसी वस्तु के व्यक्तिगत माँग-वक्रों के किसी भी समूह को चाहे व्यक्तियों की संख्या कितनी भी क्यों न हो एक-साथ जोड़ने से उस वस्तु के बाजार माँग-वक्र का पता चलता है अर्थात् व्यक्तिगत उपभोक्ता प्रत्येक मूल्य पर वस्तुओं की जितनी मात्रा खरीदना चाहता है उसको जोड़ देने से उस वस्तु का बाजार माँग-वक्र प्राप्त होता है। बाजार माँग वक्र सामान्यतः दायीं और नीचे की तरफ झुकता है जिस प्रकार व्यक्तिगत माँग-वक्र दायीं और नीचे झुकता है।

17 तटस्थता वक्र विधि की सीमाएं या आलोचना

(Criticism or Limitations of the Indifference Curve Technique)

तटस्थता वक्र विधि का सम्बन्ध क्रम-सूचक अंकों (Ordinal Numbers) से होने के कारण वह उपयोगिता की पुरानी धारणा से जिसका सम्बन्ध संख्या-सूचक अंकों (Cardinal Numbers) से है अधिक अच्छा है। आधुनिक अर्थशास्त्री

माग तथा उपयोगिता विश्लेषण के सम्बन्ध में इसी विधि का प्रयोग करते हैं। इसका इतना महत्त्व होते हुए भी इस विधि की आलोचना की गयी है। ये आलोचनाएं निम्नलिखित हैं

(1) **सन्तुष्टि की परिमाणात्मक मापनीयता अधिक तर्कसंगत है** एफ० एच० **नाइट** (F H Knight) तथा अन्य अर्थशास्त्रियों का यह विचार है कि जब कोई उपभोक्ता अपनी आय को व्यय करने की योजना बनाता है तब वह वस्तुओं के प्रतिस्थापन प्रभावों पर विशेष ध्यान नहीं देता। वह यह नहीं सोचता कि किसी वस्तु की अपेक्षा अन्य वस्तु की अधिक मात्रा क्रय करने पर उसका क्या महत्त्व होगा? वास्तव में इस सम्बन्ध में वह यह सोचता है कि यदि अमुक वस्तु की मात्रा में वृद्धि की जाय तो दूसरी वस्तु की तुलना में कितनी अधिक सन्तुष्टि प्राप्त होगी। वास्तव में यह सन्तुष्टि की गणना एक निश्चित परिमाण में करना चाहता है तथा पूर्ण उपयोगिता के आधार पर ही वस्तु की मात्रा में वृद्धि निश्चित करना चाहता है। अत माग सिद्धान्त को इन तथ्यों पर आधारित करना अधिक तर्कयुक्त प्रतीत होता है।

(2) **अवास्तविक मान्यताए** डा रूबी नारिस (Dr Ruby Norri) ने प्रो० हिक्स (Prof J R Hicks) के माग सिद्धान्त के विश्लेषण की आलोचना करते हुए कहा है कि तटस्थता वक्र पद्धति की सबसे महत्त्वपूर्ण आलोचनाएं स्वयं इसकी मान्यताओं में निहित हैं। आर्थिक सिद्धान्त व्यक्ति के गतिशील जीवन के तथ्यों का विश्लेषण बहुत ही क्षीण रूप में करता है।[1] डा नारिस लिखती हैं कि उपज विभेद (Product Diff rentiation) के कारण वस्तुओं की संख्या में इतनी अधिक वृद्धि हो गयी है कि उपभोक्ता के लिए चुनाव करना कठिन हो गया है।

(3) **संस्थागत मूल्य नियन्त्रण की अपेक्षा** प्रो० हिक्स की एक मान्यता यह भी है कि मूल्य के सामान्य विश्लेषण में संस्थागत मूल्य नियन्त्रण (Institutional Price Controls) अर्थात् मूल्य पर सरकारी नियन्त्रण की अपेक्षा की जा सकती है। परन्तु युद्ध काल अथवा नियोजित अर्थव्यवस्था में इस प्रकार का नियन्त्रण माँग और पूर्ति से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है।

(4) **उपभोक्ता के विवेकशील आचरण की धारणा काल्पनिक है** तटस्थता वक्र विधि में उपभोक्ता के आचरण को विवेकशील माना गया है। यह मान्यता कि उपभोक्ता वस्तुओं के विभिन्न संयोगों में मिलने वाली सन्तुष्टि की कल्पना निरन्तर कर सकता है उचित प्रतीत नहीं होता। तटस्थता वक्र पर व्यक्त संयोग तटस्थता

---

[1] The most important crit cisms of the Indifference Curve System stem from the unreal ty of its assumpt on At b st economic theory can approach only remotely the bew ldering dynamics of daily life

—*Dr Ruby Norris*

सूची के आधार पर निर्मित किए जाते हैं। ये वक्र वस्तुओं के बाजार मूल्यों पर ध्यान नहीं देते। अतः इनको काल्पनिक तथा अज्ञात कहा जा सकता है।

(5) उपभोक्ता की माग पर अन्य बातों के प्रभाव की उपेक्षा—उपभोक्ता में विवेकशीलता की अपेक्षा भावुकता का पुट अधिक है। उपभोक्ता के व्यवहार पर परम्पराओं, रुचियों तथा संस्कृति आदि का भी प्रभाव पड़ता है। तटस्थता वक्र विधि में इन बातों पर ध्यान नहीं दिया जाता है।

(6) वस्तुओं की संख्या में वृद्धि होने पर यह विधि जटिल है—वास्तविक जीवन में उपभोक्ता के समक्ष केवल दो वस्तुओं अथवा सेवाओं के मध्य चुनाव का प्रश्न नहीं उठता। इसके अतिरिक्त विभिन्न संयोगों के लिए मूल्यों को नात तथा स्थिर मान लेना भ्रामक है। जहाँ वस्तुओं की संख्या अधिक है वहाँ उपभोक्ता के पसन्दगी-मान का विन्यास कठिन है। अतः दो या तीन से अधिक वस्तुओं की माग के विश्लेषण के लिए तटस्थता वक्रों का प्रयोग करना सरल नहीं है।

(7) तटस्थता वक्र विशेष परिस्थितियों में पसन्दगी मान को व्यक्त नहीं करते—प्रो० के० ई० बोल्डिंग के अनुसार, ऐसा प्रतीत होता है कि सशक्त पसन्दगी सिद्धान्त के सम्पूर्ण क्षेत्र को सम्मिलित करने के उद्देश्य से वे (तटस्थता-वक्र) वास्तविकता से कहीं अधिक बातों को व्यक्त करते हैं। हम लोग कुछ विशेष परिस्थितियों में चुनाव करते हैं, हम लोग अनेक स्वतन्त्र परिस्थितियों में चुनाव करने की कल्पना भी नहीं करते।[1]

(8) आनुभाविक अध्ययन का आधार नहीं है—तटस्थता वक्र विधि का प्रयोग आनुभाविक अध्ययन एवं शोध (Empirical Study and Research) के लिए नहीं किया जा सकता। सांख्यिकी द्वारा इसके कार्यों की परीक्षा भी सम्भव नहीं है।

(9) तटस्थता मानचित्र अल्पकालीन घटना है—हाले (Hawley) के अनुसार किसी उपभोक्ता का तटस्थता मानचित्र अल्पकालीन घटना है जो बराबर परिवर्तित होता रहता है।[2]

निष्कर्ष

तटस्थता वक्र विधि की उपरोक्त आलोचनाओं एवं सीमाओं के बावजूद भी इस विधि के महत्त्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती। स्वयं डा० नारिस ने प्रो० हिक्स

---

1 "In seeking to cover the whole field of power al preference theory they (the indifference curves) seem to sta e more than what actually exis s in the mind. We make choices in particular situat ons we do not contemplate making choices in an indefinitely large number of situa ions."

—*Prof K E Borlding*

2 "The ind vidual s map of indifference curves may be a short run phenome non subject to frequent and possibly capricious changes"

—*Hawley*

की प्रशंसा करते हुए कहा है कि प्रो हिक्स ने एक ऐसे अर्थशास्त्र का विकास किया है जो पसन्दगी की स्थितियों को सख्या-सूचक अंकों (Cardinal Numbers) के स्थान पर क्रम सूचक अंकों (Ordinal Numb rs) में सम्बन्धित करता है। इस दृष्टि से प्रो हिक्स ने माँग विश्लेषण का माशल के उपयोगितावाद (Hedonism) से उद्धार किया है। डा नारिस के विचार में तटस्थता वक्र की धारणा निश्चय ही परम्परावादी विश्लेषण से श्रेष्ठ है।[1]

कुछ आधुनिक अर्थशास्त्रियों का जिनमें एरिक रोल (Eric Roll) का नाम प्रमुख है यह विचार है कि तटस्थता वक्र विधि कोई नई नहीं है अतएव इसे पहले की विधियों से अच्छी विधि नहीं कहा जा सकता। एरिक रोल के विचार से इस विधि में भी उपयोगिता का व्यक्तिगत तत्व मौजूद है परन्तु उनका यह विचार संकुचित है। प्रो० राबर्टसन (Prof Robertson) के अनुसार तटस्थता वक्र विश्लेषण एक नई बोतल में पुरानी शराब मात्र ही है।[2] प्रो० आमस्टांग (Prof Armstrong) का यह कहना है कि माशल के सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्त का उपयोग किए बिना हिक्स के प्रतिस्थापन की घटती हुई सीमान्त दर के सिद्धान्त (MRS) का ज्ञान प्राप्त करना कठिन है। परन्तु इन आलोचनाओं का खण्डन करते हुए एडवर्ड नेविन ने लिखा है एक अर्थशास्त्री को यह भय नहीं होना चाहिए कि उसके सभी निष्कर्ष अस्पष्ट और अमापनीय उपयोगिता के विचार पर आधारित हैं। तटस्थता वक्र विश्लेषण सन्तुष्टि के मापनीय तथ्य पर ध्यान दिए बिना उपभोक्ता द्वारा प्रदर्शित पसन्दगी का अध्ययन करता है।[3]

20 तटस्थता वक्र का महत्व एव उपयोगिता
(Us fulness of Indifference Curve)

विभिन्न कमियों के बावजूद भी आज माशल के माँग वक्र-विश्लेषण से तटस्थता वक्र विश्लेषण को श्रेष्ठ समझा जाता है। आधुनिक युग में तटस्थता वक्र की पद्धति काफी लोकप्रिय है तथा इसका प्रयोग क्रमश बढ़ता ही जा रहा है। इसकी सहायता से आर्थिक समस्याओं का अध्ययन सरलतापूर्वक किया जा सकता है। तटस्थता वक्र विश्लेषण के माध्यम से माग की लोच एव प्रतिस्थापन उपभोक्ता की

1 "On the whole the indifference curve approach apart from its formal perfection as a mathematical system represents improvement along some l nes and stagnation in others

—Dr Ruby Norris

2 Indifference curve analysis is an old wine in a new bottle

—Prof D H Robertson

3 The econom st need have no fear that all his conclusions are based on the vague and immeasurable concept of utility indifference analysis does not require to attach a quantitative magnitude to the satisfaction derived by consumer from commodities but s mply accepts the preferences expressed n the market place

—Edward Navin

बचत आदि नियमों का सरलतापूर्वक अध्ययन सम्भव है। हिक्स ने उपभोक्ता की बचत को इस विधि के द्वारा स्पष्ट करने का सराहनीय प्रयत्न किया है। इतना ही नहीं मूल्य विश्लेषण के सिद्धान्त में भी इससे लाभ प्राप्त हो सकता है।

वास्तव में तटस्थता वक्र विश्लेषण का प्रयोग अब आर्थिक क्षेत्र की प्रत्येक शाखा में होने लगा है। उपभोग के अतिरिक्त इस विश्लेषण का प्रयोग उत्पादन विनिमय, वितरण तथा कर सिद्धान्त के क्षेत्रों में भी किया जाता है। बोल्डिंग ने तटस्थता-वक्र विधि को आर्थिक विश्लेषण का एक सबल शस्त्र माना है जिसके माध्यम से विभिन्न समस्याओं का हल सम्भव है।[1]

विभिन्न आर्थिक क्षेत्रों में तटस्थता वक्र के निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण प्रयोग हैं

(1) विनिमय के क्षेत्र में प्रयोग तटस्थता वक्र विश्लेषण का प्रयोग विनिमय दर (Exchange Rate) निर्धारित करने में किया जाता है। दो वस्तुओं के मध्य निर्धारित विनिमय-दर सन्तुलन की दशा बतायेगी। इसे ही सन्तुलन विनिमय-दर (Equilibrium Rate of exchange) कहा जाता है। दो वस्तुओं की प्रतिस्थापन सीमान्त-दर (MRS) समान होने पर ही विनिमय सम्भव हो पाता है और इसमें कोई भी उपभोक्ता अपने को ठगा हुआ महसूस नहीं करता।

(2) राशनिंग तथा उपभोक्ता की सन्तुष्टि के पारस्परिक सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिए प्रयोग राशनिंग से उपभोक्ताओं को अधिकतम सतोष नहीं मिल
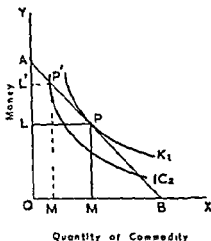
चित्र सं० 27

पाता। उपभोक्ताओं का सन्तोष सीमित तथा कम हो जाता है। राशनिंग के समय व्यक्ति को वस्तु की एक निश्चित मात्रा ही मिल पाती है अधिक मात्रा मिलना कठिन

---

1 "The indifference curve is a powerful weapon of economic analysis. Economics is ultimately the theory of human choices. As such it covers not merely a part of life but the whole. And the indifference curve is the map of human choices." —*Boulding*

है। इस प्रकार उस वस्तु की मात्रा कम मिलना है। ग्रत राशनिग का प्रभाव बहुत कुछ वमा हा होता है जसा कि मूल्य बढ़ने पर होता है। ग्रभिप्राय यह है कि तटस्थता वक्र विश्लेषण के द्वारा इस तथ्य को सिद्ध किया जा सकता कि राशनिग व्यवस्था के ग्रन्तगत उपभोक्ता को वस्तु विशेष की उचित मात्रा कम मिलने लगती है जिससे उस वस्तु से उसको पूर्ण सन्तुष्टि नहीं मिल पाती यद्यपि उसके पास धन की मात्रा बढ जाती है। इस तथ्य को तटस्थता वक्र की सहायता से पृष्ठ 315 पर दिये गये चित्र म व्यक्त किया गया है।

चित्र स 27 म तटस्थता वक्र IC_1 (K_1) राशनिग के पहले का वक्र है जो उपभोक्ता के पूर्ण सतुलन या उसकी सन्तुष्टि को P बिन्दु पर व्यक्त करता है। इस बिन्दु पर उपभोक्ता के पास वस्तु तथा द्रव्य की मात्राम्रों का सयोग इस प्रकार है (OM_x+OL_y) इसका ग्रथ यह है कि वह वस्तु की OM मात्रा खरीदता है तथा मुद्रा की OL मात्रा ग्रपने पास रखता है। परन्तु राशनिग के बाद उस वस्तु की OM मात्रा प्राप्त होने लगती है। वस्तु तथा मुद्रा के सयोग को व्यक्त करने वाला तटस्थता वक्र IC_2 बजट या मूल्य रेखा AB को P पर काटता है। P बिन्दु पर उपभोक्ता वस्तु की OM मात्रा ही खरीद सकता है जो OM मात्रा से कम है यद्यपि उसके पास मुद्रा की मात्रा OL से बढ़कर OL हो जाती है। इसमे यह स्पष्ट है कि उपभोक्ता के पास मुद्रा की मात्रा बढ़ने पर वह वस्तु विशेष से ग्रधिकतम सतुष्टि नही पा सकता ग्रौर न ही वह सन्तुलन बिन्दु पर है। IC_2 तटस्थता वक्र की स्थिति IC_1 तटस्थता वक्र से नीचे की तरफ है। ग्रत इस वक्र पर सयोग का कोई बिन्दु कम सन्तुष्टि स्तर का सयोग होगा।

(3) **करारोपण मे प्रयोग** उपभोक्ताग्रों पर कर लगाते समय तटस्थता वक्र विधि ग्रधिक सहायक होती है। इसके द्वारा यह पता लगाया जा सकता है कि प्रत्यक्ष ग्राय-कर ग्रथवा ग्रप्रत्यक्ष करों (बिक्री कर उत्पादन कर) का वस्तुग्रों के उपभोग की मात्रा पर क्या प्रभाव पड रहा है? इस प्रभाव को जानकर सरकार ऐसे कर लगाती है जिनसे उपभोक्ताग्रों पर कर का भार ग्रधिक न पड़े ग्रौर वे वस्तुग्रों का उचित मात्रा म उपभोग कर सकें। तटस्थता वक्र की सहायता से यह भी पता किया जा सकता है कि विभिन्न प्रकार के करों से उपभोक्ता की कार्यक्षमता पर क्या प्रभाव पड़ता है? क्या सरकारी कर-नीति प्रेरणा (incentives) देती है या नहीं?

(4) **दो विकल्पों के बीच पसन्दगी या प्राथमिकता क्रम निर्धारण मे सहायक** इसका प्रयोग यह पता लगाने के लिए भी किया जा सकता है कि उपभोक्ता ग्राय ग्रौर विश्राम वर्तमान उपभोग तथा भविष्य के उपभोग तरल सम्पत्तिया तथा ग्रन्य प्रकार की सम्पत्तियो म किनको ग्रधिक पसन्द करेगा?

(5) उपभोक्ता की बचत ज्ञात करने में सहायक तटस्थता वक्र विधि की सहायता से सख्या-सूचक उपयोगिता (Cardinal utility) का ज्ञान बगर उपभोक्ता बचत की व्याख्या की जा सकती है।

(6) सूचनांक (Index Number) की समस्या में प्रयोग तटस्थता वक्रों की सहायता से उपभोक्ता का जीवन स्तर तुलनात्मक दृष्टि से ऊंचा है अथवा नीचा, अच्छा है या खराब इसका पता चल सकता है।

(7) उपभोक्ता-सन्तुलन की स्थिति ज्ञात करने में सहायक तटस्थता वक्रों के माध्यम से उपभोक्ता सन्तुलन की स्थिति ज्ञात की जा सकती है। इस सन्तुलन की स्थिति में उपभोक्ता को अधिकतम सन्तुष्टि मिलती है। जिस बिन्दु पर मूल्य रेखा तटस्थता-वक्र की स्पर्श रेखा होती है उस बिन्दु पर उपभोक्ता दो वस्तुओं की मात्राओं के सयोग से अधिकतम सन्तुष्टि पा सकता है। तटस्थता वक्रों की सहायता से ही उपभोक्ता सन्तुलन पर आय प्रतिस्थापन तथा मूल्य के प्रभावों का ज्ञान किया जा सकता है।

(8) उत्पादन के क्षेत्र में प्रयोग जिस प्रकार उपभोग के क्षेत्र में समान सन्तुष्टि वाले सयोगों का प्रदर्शन करने वाले तटस्थता-वक्रों (Iso-utility Curves) का निमाण करके किसी उपभोक्ता के लिए उपभोग्य वस्तुओं का प्राथमिकता क्रम व्यक्त किया जा सकता है, उसी प्रकार उत्पादन के क्षेत्र में समान उत्पादन क्षमता वाले उत्पादन साधनों के सयोगों को ज्ञात करने के लिए समता वक्रों (Iso quant Curves) का निर्माण किया जा सकता है।

प्रश्न व सकेत

1 तटस्थता वक्र रेखाएं मूल बिन्दु (origin) की ओर उन्नतोदर (Convex) क्यों होती हैं? इनकी सहायता से कीमतों में परिवर्तनों का उपभोक्ता की माँग पर पड़े प्रभाव का विवेचन कीजिए।

[सकेत सर्वप्रथम प्रश्न से ही स में तटस्थता वक्र रेखाओं का अर्थ स्पष्ट कीजिए। इसके पश्चात् तटस्थता वक्र रेखा के मूल बिन्दु के प्रति उन्नतोदर (Convex) होने की विशेषता का विवेचन कीजिए। अन्त में कीमत प्रभाव की व्याख्या कीजिए।]

2 तटस्थता वक्र रेखाओं से आप क्या समझते हैं। उनकी सहायता से माँग रेखा को निकालिए।

3 चित्रों की सहायता से तटस्थता वक्र रेखाओं के विचार की व्याख्या कीजिए। उपयोगिता विचार के ऊपर यह कहाँ तक सुधार है?

[सकेत प्रथम भाग में उदाहरण व रेखाचित्रों की सहायता से तटस्थता वक्र रेखाओं को स्पष्ट कीजिए। द्वितीय भाग में यह स्पष्ट कीजिए कि कहाँ तक यह उपयोगिता विश्लेषण के ऊपर सुधार है।]

4 क्या उपयोगिता मापनीय (Measurable) है ? यदि यह मापनीय नहीं है तो उपभोक्ता के चुनाव सिद्धान्त (Theory of Consumer's Choice) में इस कठिनाई को कैसे दूर कर सकते हैं ?

[संकेत सर्वप्रथम उपयोगिता के मापन में कठिनाइयों का उल्लेख कीजिए। इसके पश्चात् स्पष्ट कीजिए कि तटस्थता-वक्र रेखाओं की सहायता से इस कठिनाई को किस प्रकार दूर किया जा सकता है।]

5 किसी वस्तु के मूल्य में कमी पर आय व प्रतिस्थापन प्रभाव (Income and Substitution Effect) का स्पष्ट उल्लेख कीजिए।

6 उदासीनता वक्र टेक्नीक की सहायता से उपभोक्ता की सामान्य माँग-वक्र का निर्माण कीजिए। माँग-वक्र किन परिस्थितियों में पीछे की ओर गिरती होगी ?

15

माँग तथा माँग का नियम
(Demand and Law of Demand)

"The demand for anything at a given price is the amount of it, which will be bought per unit of time at that price."

—B rham

आर्थिक विश्लेषण में माँग तथा पूर्ति की अवधारणा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसीलिए प्रायः यह कहा जाता है कि यदि किसी तोते को अर्थशास्त्र के हरेक प्रश्न के उत्तर में माँग एवं पूर्ति को रटा दिया जाय तो वह एक अच्छा अर्थशास्त्री बन सकता है।[1]

समस्त उत्पादन-व्यवस्था माँग पर आधारित है। उपभोक्ताओं की व्यक्तिगत माँग, समाज की सामाजिक माँग, राष्ट्र की राष्ट्रीय माँग, यहाँ तक कि विभिन्न देशों की माँगों की मात्राओं के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय माँग की पूर्ति करने के लिए ही किसी देश को वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाने के लिए आवश्यक प्रेरणाएँ प्राप्त होती हैं।

माँग का अर्थ (Meaning of Demand)

अर्थशास्त्र में किसी इच्छा (desire) तथा आवश्यकता (need) मात्र को माँग (demand) नहीं कहा जाता, क्योंकि केवल इच्छा मात्र से ही कोई वस्तु या सेवा प्राप्त नहीं हो जाती। वस्तुतः जब उपभोक्ता किसी वस्तु या सेवा की इच्छा पूर्ति के लिए मूल्य के रूप में उचित प्रतिफल (Consideration) देने के लिए तत्पर तथा समर्थ होता है तभी उसकी इच्छा प्रभावकारी मानी जाती है। अतः 'मूल्य से सम्बन्धित प्रभावकारी इच्छा (Effective desire related to price) को ही अर्थशास्त्र में माँग कहा जाता है। मूल्य के अतिरिक्त माँग का सम्बन्ध समय की एक निश्चित इकाई या अवधि (Unit or period of time) से भी होता है। अतः

1 "Teach a parrot to say Supply and Demand in reply to every question and he will be a good economist."

बेनहम के अनुसार एक दिए गए मूल्य पर किसी वस्तु की माँग उसकी वह मात्रा है जो उस मूल्य पर किसी समय विशेष पर क्रय की जायगी।

माँग के उपयुक्त अर्थ से यह ज्ञात होता है कि माग के निम्नलिखित तीन तत्त्व हैं

(1) माँग का प्रभावोत्पादक इच्छा (Effective desire) **होना** केवल प्रभावोत्पादक इच्छा ही माँग होती है। अत माँग म भी आवश्यकता की तरह (i) इच्छा (ii) पर्याप्त क्रय शक्ति या धन तथा (iii) क्रय शक्ति या धन व्यय करन की तत्परता का होना आवश्यक है।

(2) माँग का मूल्य से सम्बन्ध होना माँग का मूल्य से सम्बन्ध होना अनिवाय है (Demand in Economics, always means demand at a *price*)। *किसी भी वस्तु या सेवा की माँग उसके मूल्य के सन्दर्भ म ही व्यक्त की* जाती है। इसका कारण यह है कि बदलते हुए मूल्यों पर माग अर्थात् वस्तु की खरीदी जाने वाली मात्रा बदला करती है।

इस सम्बन्ध म मिल (Mill) का कथन उल्लेखनीय है उनके अनुसार माँग का अभिप्राय किसी वस्तु की उस मात्रा से है जिसके लिए माग की जाती है लेकिन यह जानना चाहिए कि यह निश्चित मात्रा नहीं होती है बल्कि साधारणत यह मूल्य के अनुसार परिवर्तित होती रहती है।[1]

इसी आधार पर क्यरनेस (Cairnes) ने भी माँग की परिभाषा इस प्रकार प्रस्तुत की है कोयल की माँग का अथ कोयल की उस मात्रा से नहीं होता जिसकी लोगों को आवश्यकता है अथवा जिस वे प्राप्त करना चाहते यह तो प्रभावी माग होती है तथा उस मात्रा द्वारा प्रकट होती है जिस लोग किसी निश्चित मूल्य पर खरीदने को तयार हैं।[2]

किन्तु इस परिभाषाओं म माँग पर केवल मूल्य का ही प्रभाव बतलाया है जबकि इस पर समय का प्रभाव भी पडता है। अत ये अपूर्ण परिभाषायें हैं।

---

1 We must mean by the word demand the quantity demanded and remember that this is not a priced quantity but in general varies according to value

—*Mill*

2 "Demand for coal does not mean the amount of coal which people need or would like to have but the effective demand the amount which people are willing to buy at some specified price

—*Cairnes*

(3) **समय की अवधि से सम्बन्ध होना** माग का हमेशा एक निश्चित समय की इकाई या अवधि, जैसे प्रतिदिन, प्रति सप्ताह प्रति महीने या प्रति वर्ष, के सन्दर्भ में उल्लेख किया जाता है। अतः यह कहा जाता है कि **माग निश्चित मूल्य पर तथा किसी विशेष समय मे होती है** (Demand is at a price and at a time)। इस सम्बन्ध में बेनहम द्वारा पूर्व में दी गई परिभाषा का उल्लेख किया जा सकता है।

उपर्युक्त तत्त्वों पर बाबर (Bober) तथा मेयर्स (Meyers) का निम्न लिखित परिभाषाओं से अच्छा प्रकाश पड़ता है

बाबर के अनुसार "माग से हमारा आशय एक दी हुई वस्तु की उन विभिन्न मात्राओं से है जो उपभोक्ता किसी एक बाजार मे, किसी दिए गए समय मे विभिन्न मूल्यों पर अथवा विभिन्न आयो पर अथवा सम्बन्धित वस्तुओ के विभिन्न मूल्यों पर क्रय करेंगे।"[1]

मेयर्स के अनुसार, किसी वस्तु की माँग किसी निश्चित समय मे सभी सम्भव मूल्यों पर उस वस्तु की उन मात्राओं की सूची है जिन्हें खरीदने के लिए क्रेता तत्पर होंगे।'[2]

इस प्रकार माँग को समझने हेतु निम्नांकित उदाहरण को लिया जा सकता है

उदाहरण

1 कल की माँग 10 क्विन्टल है

2 कल की माग एक रुपय किलो पर 10 क्विन्टल है या

3 कल की माँग 1 रुपय किलो पर जयपुर में प्रतिदिन 10 क्विटल है।

उपर्युक्त तीनों उदाहरणों में उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर तीसरा उदाहरण ही उपयुक्त एवं पूर्ण है क्योंकि इसमें वस्तु की मात्रा कीमत व समयावधि का उल्लेख है।

माँग तथा प्रभावकारी माँग (Effective Demand) मे अन्तर माँग किसी एक निश्चित मूल्य पर किसी वस्तु की खरीदी जाने वाली मात्राओं या

---

1 By dem nd we mean the various quantities of a given commodity or service which consumers would buy in one market in a given period of time at various prices or at various incomes or at various prices of related goods

—*Bober*

2 The demand for a good is a schedule of the amounts that buyers would be willing to purchase *at all possible prices at any one instant of time*

—*Meyers*

सख्याग्रो को बताती है जबकि **प्रभावकारी माग** किसी व्यक्ति द्वारा उस वस्तु की वास्तव म खरीदी गई सख्या या मात्रा को बतलाती है ।

माग तथा ग्रावश्यकता मे ग्रन्तर
(Difference between Demand and Want)

ग्रथशास्त्र म प्रभावकारी इच्छा को माग तथा **ग्रावश्यकता** दोना ही कहा जा सकता है किन्तु माग का ग्रथ ग्रावश्यकता स भिन्न होने के कारण माग को एसी प्रभावकारी इच्छा कहत है जिसका सम्बध मूल्य तथा समय विशेष से होता है। वस्तत माँग की **मूल्य से सम्बन्धित ग्रावश्यकता** (Want related to price) भी कहा जा सकता है। **मिल क ग्रनुसार, माग शब्द से हमारा ग्रभिप्राय निश्चय ही माग की मात्रा स होना चाहिए ।** इस ग्रथ म माँग उसी समय व्यक्त की जा सकती है जबकि उस मूल्य के साथ सम्बद्ध किया जाता है। ग्रावश्यकता केवल एक ऐसी प्रभावकारी इच्छा है जिसके पीछे क्रय शक्ति तथा वस्तु को खरीदने की तत्परता मात्र ही रहती है। इसका मूल्य एव समय से सम्बन्ध नही होता।

माँग के प्रकार
(Kinds of Demand)

किसी भी वस्तु या सेवा हेतु माग की मात्रा प्राय तीन बातो पर निमर करती है

(i) किसी वस्तु या सेवा की कीमत
(ii) उपभोक्ता की ग्राय तथा
(iii) सम्बन्धित वस्तुग्रा की कीमतें ।

ग्रत इन्ही तीनो बातो के ग्राधार पर **प्रो० बाबर ने** माग क तीन प्रकार बतलाये गये हैं

1 मूल्य माँग (Price Demand)
2 ग्राय माँग (Income Demand) तथा
3 ग्राडी या तिरछी माग (Cross Demand) ।

उपयुक्त माँग के प्रकार का सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है

1 मूल्य माँग (Price Demand)

माँग के विश्लेषण के मूल्य माग का ग्रत्यधिक महत्त्व है। किसी भी वस्तु की मूल्य माँग एक निश्चित समयावधि म उस वस्तु की उन माँग मात्राग्रा को बतलाती है जो विभिन्न परिकल्पित मूल्यो पर उपभोक्ता क्रय करने का तयार होंगे। माँग को प्रभावित करने वाल घटका को मूल्य माँग के ग्रध्ययन म स्थिर मान

लिया जाता है। ये घटक आय रुचि फैशन आदि होते हैं जिनमें भविष्य में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं होगा।
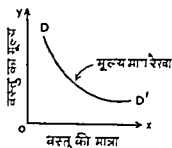
चित्र सं० 28

प्रस्तुत रेखाचित्र में माँग-वक्र DD ऊपर बायें से नीचे दाहिनी ओर गिर कर इसके ऋणात्मक ढाल को बतलाता है। इसका तात्पर्य यह है कि मूल्य के घटने पर माँग बढ़ती है और मूल्य के बढ़ने पर माँग घटती है। एक उपभोक्ता की इस प्रकार की माँग व्यक्तिगत माँग कहलाती है, जबकि उपभोक्ताओं की सामूहिक माँग बाजार माँग कहलाती है।

2 आय माँग (Income Demand)

आय माँग में आशय वस्तुओं तथा सेवाओं की उन मात्राओं से होता है जो एक उपभोक्ता एक निश्चित समय में उनके तथा सम्बन्धित वस्तुओं के मूल्यों के समान (यथावत्) रहने पर आय के विभिन्न स्तरों पर क्रय करने को तैयार है। आय माँग के अध्ययन में वस्तु के मूल्यों के साथ-साथ उपभोक्ता की रुचि फैशन आदत व स्वभाव आदि को स्थिर मान लिया जाता है। प्रसिद्ध जर्मन अर्थशास्त्री ऐंजिल के नाम पर आय माँग रेखा को ऐंजिल रेखा (Engel Curve) भी कहा जाता है।

आय माँग में उपभोक्ताओं की आय तथा वस्तुओं की माँगी गई मात्राओं के सम्बन्ध में व्यक्त किया जाता है।

विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं के लिए आय माँग भी विभिन्न प्रकार की हो सकती है। यह वस्तुओं और सेवाओं की प्रकृति पर निर्भर करती है। जब उपभोक्ता की आय कम होती है तो वह अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं को ही पूरी कर पाता है। जैसे-जैसे उपभोक्ता की आय में वृद्धि होती है वह अपनी बढ़ी हुई आय को आरामदायक तथा विलासिता सम्बन्धी वस्तुओं पर व्यय करता है। इस दृष्टि से वस्तुओं और सेवाओं को दो भागों में बाँटा जा सकता है

(i) श्रेष्ठ या उत्तम वस्तुएँ (Superior Goods)

इस प्रकार की वस्तुओं की माँग उपभोक्ता की आय बढ़ने के साथ-साथ बढ़ती है तथा उसकी आय घटने के साथ-साथ घटती है। इसलिए आय माँग रेखा बायें से दायें को ऊपर उठती हुई होती है जो नीचे दिए गए चित्र से स्पष्ट है

श्रेष्ठ वस्तुएं

वस्तुओं की माग
चित्र स 29
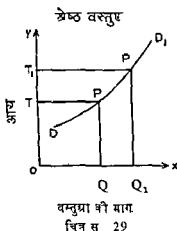
इस चित्र में आय माग वक्र DD_1 द्वारा व्यक्त किया गया है। OT आय स्तर पर माग केवल OQ है। किन्तु OT आय स्तर वृद्धि के साथ ही माँग भी बढ़कर OQ_1 हो जाती है।

(ii) निकृष्ट वस्तुए (Inferior Goods)

ऐसी वस्तुओं और सेवाओं की माग आय बढ़ने के साथ साथ घट जाती है तथा आय घटने के साथ-साथ बढ़ जाती है। इस श्रेणी में साधारणत आवश्यक आवश्यकताओं जैसे मोटा कपड़ा मोटा अनाज आदि की पूर्ति करने वाली वस्तुएं आती हैं। इन वस्तुओं की पूर्ति हर हालत में होना अनिवार्य माना जाता है। आय बढ़ने पर इनकी माँग में कमी होने का कारण यह है कि उपभोक्ता आय में वृद्धि होने पर बढ़ी हुई आय को अपेक्षाकृत श्रेष्ठ वस्तुओं पर व्यय करना अधिक पसन्द करता है। इन वस्तुओं की आय माँग रेखा बायें से दायें ऊपर से नीचे की ओर गिरती है। यह पृष्ठ स० 325 पर दिए गए चित्र से स्पष्ट होता है।
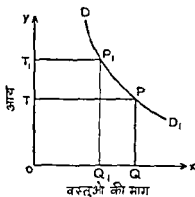
चित्र सं० 30

इस चित्र मे मांग वक्र DD_1 द्वारा प्रकट किया गया है। जब उपभोक्ता का OT आय स्तर है तो वस्तु की माग OQ है। ज्योही उपभोक्ता का आय-स्तर बढ़कर OT_1 हो जाता है वस्तु की मांग भी घटकर OQ_1 रह जाती है।

3 आड़ी मांग या तिरछी मांग (Cross Demand)

एक वस्तु की मांग केवल उस वस्तु के मूल्य या उपभोक्ता की आय से ही प्रभावित नहीं होती बल्कि अन्य सम्बन्धित वस्तुओं की कीमतो से भी प्रभावित होती है। इसीलिए **आड़ी मांग या तिरछी मांग किसी वस्तु की उन मात्राओं को व्यक्त करती है जो अन्य बातों के समान रहने पर उपभोक्ता एक निश्चित समय मे उससे सम्बन्धित वस्तुओं के मूल्यो मे परिवर्तन होने पर क्रय करने को तत्पर है।"** इस प्रकार तिरछी मांग एक वस्तु की मांगी गई मात्राओं तथा उस वस्तु से सम्बन्धित वस्तु के मूल्यों मे परिवर्तन के सम्बन्ध को व्यक्त करती है।

उदाहरणार्थ लिमका की तिरछी माग लिमका के लिए मांगी जाने वाली उन विभिन्न मात्राओं को बतलाती है जो कैम्पाकोला के मूल्यों मे परिवर्तन होने पर क्रय की जाती है। घनिष्ट रूप मे सम्बन्धित वस्तुओं को दो भागों मे विभक्त किया जा सकता है

(i) प्रतिस्थापन या प्रतियोगी वस्तुएँ (Substitute or Competing Goods)

इस प्रकार की वस्तुओं को एक के स्थान पर दूसरे का अथवा चाय के स्थान पर काफी का प्रयोग कोका-कोला के स्थान पर कैम्पाकोला का प्रयोग किया जा सकता है। प्रतिस्थापन वस्तुओं के मूल्य तथा उनकी मांगी गई मात्रा के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। यदि एक वस्तु के मूल्य मे वृद्धि होती है तो प्रतिस्थापन वस्तु की मांग मे भी वृद्धि होती है। इसके विपरीत उस वस्तु के मूल्य मे कमी होने पर प्रतिस्थापित वस्तु के मांग मे भी कमी हो जाती है। इसका स्पष्टीकरण नीचे रेखाचित्र मे किया गया है
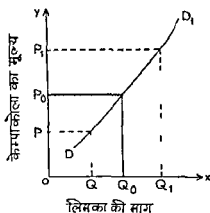
चित्र स० 31

इस रेखाचित्र म DD_1 माग वक्र यह प्रदर्शित करता है कि प्रतिस्थापन वस्तु केम्पाकोला के मूल्य म परिवतन से लिमका की माग म भी परिवतन होता है। *केम्पाकोला के मूल्य म P_0 से P_1 की वृद्धि हो जाती है तो लिमका की माँग म* भी Q_0Q_1 की बढ़ोतरी हो जाती है। यदि केम्पाकोला का मूल्य घटकर OP रह जाता है तो लिमका की माग भी घटकर OQ रह जाता है।

(ii) **पूरक वस्तुए** (Complementary Goods)

इस प्रकार की वस्तुएँ एक-दूसरे की पूरक या सहयोगी होती हैं। एक के अभाव में दूसरे का प्रयोग असम्भव होता है। उदाहरण के लिए पेन स्याही चीनी दूध कार व पेट्रोल आदि इसी प्रकार की पूरक वस्तुएँ हैं। **पूरक वस्तुओं के मूल्य तथा मांगी गई मात्रा में विपरीत सम्बन्ध होता है।** पूरक वस्तुओं म किसी एक वस्तु का मूल्य बढ़ने पर दूसरी वस्तु की माग स्वत ही कम हो जाती है। इसे नीचे दिए गए रेखाचित्र द्वारा व्यक्त किया गया है
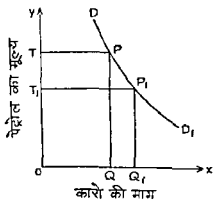
चित्र स० 32

प्रस्तुत रेखा चित्र म ज्यो ज्यो पेट्रोल के मूल्य म वद्धि होती जाती है, त्यो-त्यो कार की माँग भी कम होती जाती है। जब पेट्रोल के मूल्य बढ़कर OT_1 से OT हो गया, तो कार की माँग भी OQ_1 से घटकर OQ रह गई।

माग के अ य प्रकार
(Other Kinds of Demand)

उपयु क्त माँग क प्रकार के अलावा माँग के तीन अ य प्रकार भी हैं जो इस प्रकार है

(i) सयुक्त माग (Joint Demand)

जब कोई व्यक्ति अपनी आवश्यकता की पूर्ति हेतु दो या दो से अधिक वस्तुओ की माँग एक साथ करता है तो उसे सयुक्त माँग' कहा जाता है जसे कार तथा पेट्रोल की माँग पेन तथा स्याही की माँग चाय चीनी तथा दूध की माँग इत्यादि। इनके मू यो म परिवतन का एक दूसरी वस्तु की माँग पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है।

(ii) व्युत्पन्न माँग (Derived Demand)

जब एक वस्तु की माँग इसलिए की जाती है कि वह दूसरी वस्तु के उत्पादन म उत्पादन साधन के रूप मे काय करे तो ऐसी माँग को व्युत्पन्न माँग कहते है। अ य श दो म, जब एक वस्तु की माँग इसलिए की जाती है कि उसकी सहायता से किसी अन्य वस्तु का उत्पादन किया जाता है तो उस वस्तु की माँग व्युत्पन्न माँग कहलायगी। जसे जब श्रम की माँग अ य वस्तुओ क उत्पादन हेतु इट तथा चूने की माँग मकान निर्माण हेतु की जाती है तब यह व्युत्पन्न माँग कहलायेगी।

(iii) सामूहिक अ मिश्रित माँग (Composite or Collective Demand)

ऐसी वस्तुओ की माँग जिन्हे अनेक प्रयोगो म लाया जा सके, मिश्रित या सामहिक माँग कहलाती है। उदाहरणाथ कोयला, पानी विद्युत, परिवहन सेवाएँ आदि की माँग सामूहिक माँग है।

माँग सूची
(Demand Schedule)

(i) व्यक्तिगत माँग सूची वह सूची जो एक उपभोक्ता द्वारा किसी दिए गए समय में एक काल्पनिक बाजार में विभिन्न मूल्यों पर खरीदी जाने वाली वस्तु की विभिन्न मात्राओं को दिखलाती है व्यक्तिगत माँग सूची (Individual D mand Schedule) कहलाती है। यह सूची किसी वस्तु या सेवा के मूल्य तथा उसकी माँगी गई मात्रा के फलनीय सम्बन्ध (Functional relationship) को व्यक्त करती है।[1]

---

1 Relationship between price and quantity bought is called the demand schedule or demand curve

—*Semuelson*

(ii) **उद्योग या बाजार माँग सूची** (Industry or Market Demand Schedule) सभी उपभोक्ताओं की एक निश्चित समय पर व्यक्तिगत माग सूचियों में दी गई वस्तु विशेष की विभिन्न मूल्यों पर कुल खरीदी जाने वाली विभिन्न मात्राओं के योगों से तयार की गई सूची उद्योग या बाजार माग सूची कहलाती है। मान लीजिए X Y और Z तीन व्यक्तियों की माँग सूची निम्न है

व्यक्तिगत और बाजार माग सूची

व्यक्तिगत माग-सूचियाँ (दैनिक)				बाजार माँग-सूची (दैनिक)	
मूल्य प्रति (इकाइ) रु०	मांगी गई इकाइयों की मात्राए			मूल्य प्रति इकाई रु०	कुल मागी गयी इकाइयों की मात्राएँ
	X	Y	Z		
6	2	3	1	6	6
5	4	5	3	5	12
4	6	8	4	4	18
3	8	10	7	3	25
2	10	13	11	2	34
1	12	18	14	1	44

उपर्युक्त बाजार माग सूची अनुमानों पर आधारित तथा काल्पनिक है क्योंकि वास्तविक जीवन में बाजार माग-सूची तयार करना असम्भव है। इस सम्बन्ध में हम केवल यह व्यक्त कर सकते हैं कि मूल्य के घटने पर वस्तु की माग की मात्रा बढ़ेगी तथा मूल्य-वृद्धि से माग की मात्रा घटेगी। माँग को निर्धारित करने वाले तत्वों में परिवर्तन होते रहते हैं। इसके साथ ही ऐसी कोई सन्तोषजनक विधि भी नहीं है जिसके द्वारा यह ज्ञात किया जा सके कि प्रचलित मूल्य पर कितना अधिक अथवा कितनी कम माँग होगी? उस समय तक इस तथ्य को ज्ञात करने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता जब तक कि अन्य परिस्थितियाँ (मौद्रिक आय-स्तर सहित) समान रहती है। माँग-सूची तो केवल इस बात की जानकारी प्रदान करती है कि किसी समय विशेष पर एक ही बाजार में पूर्ण बाजार (Perfect Market) होने पर केवल एक ही मूल्य प्रचलित होता है।

माँग अनुसूची के सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण तथ्य माग सूची के बारे में निम्न बातें विशेष ध्यान देने योग्य हैं

1 माँग सूची का निर्माण अन्य बातों के समान रहने की मान्यता पर आधारित है अर्थात् उपभोक्ताओं की आय रुचि स्थानापन्न वस्तुओं की कीमतों

आदि को स्थिर मान लिया जाता है तथा केवल वस्तु विशेष की कीमत में ही परिवर्तन होता है किन्तु व्यावहारिक जीवन में ऐसा नहीं होता है।

2 माँग-सूची का ठीक ठीक निर्माण बहुत ही कठिन है क्योंकि निश्चित समय में बाजार में किसी वस्तु की एक ही कीमत होती है जिस पर उसकी एक निश्चित मात्रा में माँग होती है। यदि मूल्य इससे भिन्न होता है तो कितनी संख्या में माँग होगी ? इसका अनुमान लगाना कठिन हो जाता है।

3 बाजार माँग की सूची का निर्माण वैयक्तिक माग की सूची की अपेक्षा और भी कठिन होता है। इसका कारण यह है कि सम्पूर्ण उपभोक्ताओं का तीन अथवा चार श्रेणियों में विभाजन सम्भव नहीं है।

4 बाजार में व्यवहार में अपूर्ण प्रतियोगिता होती है। अत सभी विक्रेताओं द्वारा माँगे गये मूल्यों का ज्ञान सभी क्रेताओं को नहीं हो पाता। ग्राहकों की यह अनभिज्ञता भी बाजार की माँग-सूची को प्रभावित करती है।

5 मार्शल के अनुसार व्यक्तिगत माँग-सूची की तुलना में बाजार की माग सूची अधिक निरन्तर तथा समतल होती है। एक व्यक्ति के बाजार व्यवहार अनियमित हो सकते हैं किन्तु ये अनियमितताएँ या वक्र (Kinks) या कोन बाजार की माग-सूची में अधिक क्रेताओं के होने के कारण समतल हो जाते हैं।

6 व्यक्तिगत माँग सूचियाँ तथा बाजार माग सूचियाँ एक-दूसरे पर निर्भर हैं तथा एक दूसरे को प्रभावित करती हैं। वैयक्तिक माँग-सूचियों के गणितात्मक योग से बाजार की माँग सूची का निर्माण नहीं करना चाहिए। कुल व्यवहार का एक सांख्यिकी अनुमान इस दिशा में अधिक सहायक व सरल होता है।

7 वैयक्तिक तथा बाजार माग-सूचियों को समय तत्व भी प्रभावित करता है, क्योंकि मूल्य-परिवर्तन के बाद अधिक समय मिलने पर उपभोक्ताओं द्वारा अपनी माँग में समायोजन का पर्याप्त अवसर प्राप्त हो जाता है। इसीलिए अधिक समय में माग लोचदार होती है जबकि अल्प समय में माँग कम लोचदार होती है।

माँग सूची का महत्व

व्यावहारिक जीवन में माँग-सूचियों का काफी महत्व है। इसके द्वारा उत्पादकों को माल की किस्म व मात्रा तथा उसके मूल्य निर्धारण में सहायता मिलती है। अपने लाभ को अधिकतम करने के लिए एकाधिकारी माँग-सूची को ही ध्यान में रखता है। एक वित्त मन्त्री माँग-सूची के द्वारा कर लगाते समय करों के परिणाम स्वरूप वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि होने से कर-दाताओं की माँग में होने वाली कमी की प्रकृति पर भी ध्यान रखता है। यहाँ तक कि वह बजट' का निर्माण भी देशवासियों की माँग सूची के आधार पर ही करता है।

माँग वक्र
(Demand Curve)

माँग-सूची का चित्रीयकरण माँग-वक्र कहलाता है।'[1] माँग-वक्र द्वारा माँग सूची में दी गयी माँग की मात्राओं को रेखा चित्र द्वारा भी प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकार किसी वस्तु के मूल्य तथा उसकी क्रय की जाने वाली मात्राओं के सम्बन्ध को व्यक्त करने वाले रेखाचित्र पर अंकित वक्र माँग-वक्र कहलाता है। जैसा कि नीचे दिए गए चित्र में स्पष्ट है शीर्ष (vertical) अक्ष (OY axis) पर वस्तु विशेष के विभिन्न मूल्यों (प्रति इकाई) को अंकित किया गया है तथा क्षैतिज (horizontal) अक्ष (OX axis) पर वस्तु की विभिन्न मात्रायें प्रदर्शित की गई हैं। दिए गए चित्र में माँग-सूची से एक माँग-वक्र खींचा गया है। इस वक्र को देखने पर यह ज्ञात होगा कि यह वक्र भी 'उपयोगिता वक्र' (Utility Curve) के ही अनुरूप है।
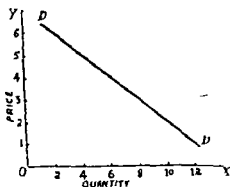
चित्र संख्या 33

ऊपर दिए गए चित्र में माँग-वक्र का रूप एक सीधी रेखा के सदृश है किन्तु इसके कई अन्य रूप भी हो सकते हैं। वह उन्नतोदर (Convex) अथवा नतोदर (Concave) अथवा उसका आंशिक भाग एक रूप में तथा शेष भाग किसी अन्य रूप में हो सकता है। उसका चाहे जो रूप हो अधिकांश माँग वक्रों की ढाल सदैव दायीं तरफ नीचे की ओर होती है।

माँग रेखा के सम्बन्ध में मान्यतायें
(Assumptions about Demand Curve)

माँग रेखा के सम्बन्ध में प्रमुख मान्यतायें इस प्रकार हैं

1 माँग-वक्र केवल स्थिर स्थिति को ही प्रकट करता है। यह एक समयावधि में होने वाले माँग-परिवर्तनों को नहीं बतलाता है। माँग-वक्र कुछ मूल्यों को भी स्थिर मानकर चलता है जो कि वास्तव में बाजार में नहीं पाये जाते हैं।

[1] "...Picturization of the demand schedule is called the demand curve."
—Samuelson

2 माँग-वक्र म उपभोक्ता के स्वभाव तथा रुचि म किसी प्रकार के परिवतन होने को नही माना जाता है अर्थात् उपभोक्ता का स्वभाव तथा रुचि को स्थिर माना जाता है।

3 माँग-वक्र के सम्बन्ध म उपभोक्ता की मौद्रिक आय (Money Income) भी स्थिर मान ली जाती है।

4 मूल्य तथा माँग के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध के बारे म परिवतनो म निरन्तरता या अत्यन्त सूक्ष्म परिवतन होने की मान्यता की जाती ह, किन्तु व्यावहारिक जीवन म ऐसा नही पाया जाता है।

5 एक निरन्तर माँग-वक्र की यह भी मान्यता होती है कि एक वस्तु की अत्यन्त छोटी छोटी इकाइया उपलब्ध होती हैं हालाकि यह मानना भी वास्तविक नही है।

माग सूची एव माग वक्र में अन्तर
(Distinction between Demand Schedule and Demand Curve)

माँग-सूची एव माँग वक्र म निम्नलिखित प्रमुख अन्तर पाया जाता हैं

1 माग सूची के निर्माण मे अको का सहारा लेना पडता है, जबकि माग वक्र के निर्माण में रेखाओ का सहयोग लना पडता ह।

2 माग की सूची क्रेता के अधिमाना (Preferences) का प्रत्यक्ष तथा माग वक्र उसका अप्रत्यक्ष निरूपण है। अन्य शब्दो म माग सूची को देखने मात्र स ही कीमत एव माग का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है किन्तु माँग वक्र स नही।

3 वयक्तिक माग सूची तथा बाजार की माग-सूची म अन्तर देखने मात्र स ही स्पष्ट हो जाता है किन्तु वयक्तिक माँग वक्र और बाजार माँग वक्र म एसा अन्तर आसानी स नही किया जा सकता।

4 माँग-वक्र का निर्माण माँग-सूची के आधार पर ही किया जाता है।

5 माँग-वक्र म मुख्यत नीची दाहिनी ओर झुकी होने की प्रवृत्ति पाई जाती है।

माग का नियम
(Law of Demand)

माँग के आशय म यह स्पष्ट हो जाता है कि माँग एव मूल्य म घनिष्ट सम्बन्ध है। किसी वस्तु क मूल्य तथा माँग की जाने वाली उसकी मात्रा के सम्बन्ध को व्यक्त करने वाला नियम माँग का नियम कहा जाता है। यह नियम बतलाता है कि माँग

की जाने वाली मात्रा मूल्य के विपरीत दिशा मे बदलती रहती है ।[1] दूसरे शब्दों मे यदि माँग के अन्य प्रभावक घटक स्थिर रहें तो अधिक मूल्य पर वस्तु विशेष की कम मात्रा खरी ी जाएगी और कम मूल्य पर उसकी अधिक मात्रा क्रय की जाएगी। सम्युएलसन के अनुसार यदि बाजार मे किसी वस्तु की अधिक मात्रा प्रस्तुत की जाय तो अन्य बातो के समान रहने पर वह कम मूल्य पर ही बेची जा सकती है। [2]

प्रो० टामस (Thomas) के अनुसार माँग का नियम यह बतलाता है कि किसी निश्चित समय मे किसी वस्तु अथवा सेवा की माँग चालू मूल्य पर ऊंचे मूल्य की अपेक्षा अधिक तथा नीचे मूल्य की अपेक्षा कम होती है। [3]

प्रो० मार्शल (Marshall) ने माग के नियम की व्याख्या इस प्रकार की है माग की मात्रा मूल्य म कमी के साथ-साथ घटती जाती है।"[4]

इस प्रकार सरल भाषा म माग के नियम क बारे म यह कहा जा सकता है कि यदि अन्य बातें समान रह तो किसी वस्तु अथवा सेवा क मूल्य मे बढ़ोतरी होने स उसकी माग मे कमी होती है और मूल्य मे कमी होने से माग म बढ़ोतरी होती है। अत माँग तथा मूल्य म विपरीत सम्बन्ध होता है।

माग का नियम एक गुणात्मक (Qualitative) न कि परिमाणात्मक (Quantitative) वर्णन है। वह किसी वस्तु की मागी जान वाली मात्रा म परिवतन की दिशा का वर्णन करता है उसके वास्तविक परिमाण (Magnitude) का नहीं। जसे यह कहा जाय कि 100 रुपये प्रति क्विन्टल की दर स किसी समय विशष म (प्रति सप्ताह) गहू की माँगी जान वाली मात्रा 500 क्विन्टल है तो 80 रुपय प्रति क्विटन हो जान पर गहू की माँगी जान वाली मात्रा कितनी होगी ? यह नान

---

1 When the price of a good is raised (at the same time that all other things are held constant) less of it will be demanded People will buy more at lower price and buy less at higher ones

—*Samuelson*

2 Or what is the same thing if a greater quantity of a good is thrown on the market then other things being equal it can be sold only at a lower price

—*Samuelson*

3 At any given time the demand for a commodity or service at the prevailing price is greater than it would be at higher price and less than it would be at a lower price

—*Thomas*

4 The amount demanded increases with a fall in the price and diminishes with a rise in the price

—*Marshall*

करना कठिन होगा। इस नियम के आधार पर केवल इतना ही कहा जा सकता है कि गहू 500 क्विटल स अधिक क्रय किया जायगा। अत यह स्पष्ट है कि मूल्य मे वद्धि या मूल्य मे कमी होने पर माग का नियम केवल माग की मात्रा म क्रमश कमी अथवा वद्धि की ओर ही सकेत करता है। माँग की जाने वाली वास्तविक मात्रा का ज्ञान इसस प्राप्त नही होता। माँग का नियम मूल्य म परिवर्तन होने के कारण माग म होन वाले परिवतन के अनुपात को भी व्यक्त नही करता क्योकि यह अनुपात मूल्य म होन वाले परिवतन क अनुपात म कम या अधिक, या उसके बराबर हो सकता है।

माँग मूल्य से तो प्रभावित होती ही है परन्तु मूल्य के अतिरिक्त कुछ अन्य तत्त्व भी हैं जो माँग को प्रभावित करत ह जस जनसख्या उपभोक्ताओ की रुचि तथा आदतें उनकी आय, सास्कृतिक सामाजिक राजनीतिक एव आर्थिक दशाय सम्बन्धित वस्तुओ के मूल्य आदि। मूल्य परिवतन क साथ यदि इन तत्त्वो मे म किसी एक म भी परिवतन हो जाता है तो उसका माँग की मात्रा पर सामूहिक प्रभाव ज्ञात करना कठिन होगा। उदाहरणस्वरूप यदि गहू का मूल्य कम होन क साथ ही साथ जनसख्या म वद्धि हो जाय तो गहूँ की माग की मात्रा का अनुमान नही लगाया जा सकता। इसलिए माँग के नियम की व्याख्या करते समय इन अन्य तत्वों को स्थिर मान लिया जाता है।

माग के नियम की मान्यताए
(Assumptions of the Law of Demand)

माग के नियम के बारे म कुछ विशेष वाक्याश जस अन्य बातें समान रहे (Other things being equal) या 'यदि माँग की परिस्थितिया एक समान रहे' (The conditions of demand remaining constant) आदि बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं जो कि नियम की मान्यताओ को बतलाते हैं।

माग का नियम जिन तत्वो को स्थिर मान लेता है या जिन मान्यताओ पर आधारित है वे निम्नलिखित हैं

(1) उपभोक्ता की आदतें तथा रुचिया अपरिवर्तित रहें किसी वस्तु की क्रय की जाने वाली मात्रा उपभोक्ता की रुचि तथा आदतो पर निर्भर है। उसकी रुचि तथा आदतो म परिवतन होने पर उपभोग की मात्रा भी परिवर्तित हो जाती है। अत माँग सूची तथा माग वक्र का निर्माण इस आधार पर किया जाता है कि उपभोक्ता की पसन्दगी मान (Scale of preferences) म किसी प्रकार का परिवतन नही होता।

(2) आय यथावत रहे उपभोक्ता की आय म परिवतन होने पर पसन्दगी मान पूर्णतया परिवर्तित हो जाता है। वह उसी मूल्य पर किसी वस्तु को अधिक

मात्रा म क्रय कर सकता है। निधन व्यक्ति की आय म वद्धि हान पर वह निकृष्ट वस्तुओ के स्थान पर अधिक अच्छी वस्तुएँ क्रय करने लगता है।

(3) **अन्य वस्तुओं के मूल्यों का यथावत् रहना** किसी वस्तु के सम्बन्ध म माग का नियम उसी समय लागू होगा जबकि अन्य वस्तुओ (स्थानापन्न तथा पूरक वस्तुओ) के मूल्य यथावत् रहें। इन वस्तुओ के मूल्य म परिवर्तन हो जाने पर वस्तु विशेष की माँग भी परिवर्तित हो सकती है।

(4) **मूल्य मे और परिवतन की आशका न हो** वस्तु विशेष के भावी मूल्य म परिवतन की आशका भी वतमान माँग को प्रभावित करती है। अत नियम की सत्यता के लिए यह आवश्यक है कि भविष्य म मूल्य-परिवतन की सम्भावना न हो।

(5) *वस्तु विशेष की किस्म समान हो* *माग सूची या माँग-वक्र किसी वस्तु* विशेष से ही सम्बन्धित होता है। यदि वस्तु की किस्म म अन्तर होता है तो यह नियम चरितार्थ नहीं होगा अर्थात् वस्तु विशेष प्रतिष्ठारक्षक वस्तुओ की श्रेणी की नहीं होनी चाहिए।

अधिकाश माग वक्रों का ढाल नीचे दाहिनी ओर क्यों होता है ?
(Why most demand curves slope downwards to the right ?)

अथवा

माग के नियम के लागू होने के कारण
(Causes of the Law of Demand)

अथवा

माग के नियम की व्याख्या
(Explanation of the Law of Demand)

इस प्रश्न का उत्तर माँग के नियम की व्याख्या म मिलता है क्योंकि माँग रेखा माग के नियम का सूचक है। अधिकांश माँग का रेखाओ का ढाल दायीं तरफ नीचे की ओर होता है। इसमे यह बात होता है कि माग को प्रभावित करने वाले तत्वो म कोई भी परिवतन न होने पर वस्तु का मूल्य बढने पर उसकी कम तथा मूल्य कम होने पर उसकी अधिक मात्राएँ खरीदी जायेंगी। परन्तु मूल्य बढने पर कम तथा कम होने पर अधिक मात्राएँ क्यो खरीदी जाती है ? इस प्रश्न का उत्तर ही इस बात को स्पष्ट करता है कि माग का ढाल नीचे दाहिनी ओर क्यों होता है ? निम्नलिखित तत्वो की व्याख्या से उक्त प्रश्न का उत्तर स्पष्ट हो जाता है

1 ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता नियम का प्रभाव (Law of Diminishing Marginal Utility Effect) किसी वस्तु के लिए उपभोक्ता द्वारा दिया जाने वाला मूल्य मुद्रा के त्याग की मात्रा को व्यक्त करता है। कोई भी उपभोक्ता

किसी वस्तु को प्राप्त करते समय उसकी सीमान्त उपयोगिता से अधिक त्याग करने को तैयार नहीं होता। ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता नियम यह बताता है कि किसी वस्तु की जितनी ही अधिक मात्राएँ खरीदी जाती हैं, प्रत्येक अतिरिक्त इकाई की सीमान्त उपयोगिता उतनी ही घटती जाती है। इन दोनों विचारों से यह निष्कर्ष निकलता है कि सीमान्त उपयोगिता के क्रमशः घटने से त्याग की मात्रा भी क्रमशः घटती जाती है अर्थात् कम मूल्य होने पर ही किसी वस्तु की अधिक मात्राएँ खरीदी जा सकती हैं। इसके विपरीत यदि मूल्य बढ़ जाता है तो वह केवल इतनी ही इकाइयाँ खरीदेगा जिनकी उपयोगिता (सीमान्त) अधिक होगी। वह मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता तथा वस्तु की सीमान्त उपयोगिता के साम्य का हमेशा ध्यान में रखेगा। वस्तु की इकाई के रूप में प्राप्त की गयी कम सीमान्त उपयोगिता के लिए वह मुद्रा की इकाई के रूप में कभी भी अधिक सीमान्त उपयोगिता का त्याग नहीं करेगा। अर्थात् अन्य बातों के समान रहने पर उपभोक्ता कम कीमत पर किसी वस्तु की अधिक मात्रा और अधिक कीमत पर कम मात्रा खरीदता है। इसका कारण उपयोगिता ह्रास नियम है। इस प्रकार इस तथ्य पर आधारित यदि माँग वक्र खींचा जाएगा तो उसका झुकाव ऊपर से नीचे की ओर दाहिनी तरफ झुकता हुआ होगा।

2 घटते हुए मूल्य नए क्रेताओं को आकर्षित करते हैं किसी वस्तु (मान लीजिए गेहूँ) का मूल्य अधिक होने पर केवल धनी व्यक्ति ही उसे क्रय करेंगे। अधिक मूल्य पर निर्धन व्यक्ति गेहूँ नहीं खरीदेंगे। वे अन्य वस्तुओं (जो बाजरा आदि) से ही अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर लेंगे। इस प्रकार गेहूँ की कम मात्रा खरीदी जाएगी। इसके विपरीत घटते हुए मूल्य पर तो क्रेता उस वस्तु का क्रय करने लगेंगे इनमें से बहुत से नए क्रेता होंगे (जो पहले जौ बाजरा आदि खरीदते थे)। इस प्रकार कम मूल्य पर माँग बढ़ेगी। इन तथ्यों पर आधारित जो माँग वक्र बनाया जाएगा वह नीचे दाहिनी ओर झुकता हुआ होगा।

3 प्रतिस्थापन प्रभाव (Sub titution Effect) यदि दो वस्तुओं का उपयोग एक आवश्यकता की पूर्ति के लिए या एक ही प्रकार से किया जाता है तो ऐसी वस्तुओं को एक दूसरे की प्रतिस्थापक वस्तु कहा जाता है जैसे चाय और कॉफी। यदि चाय का दाम कम हो जाय तथा कॉफी की कीमत पूर्ववत् रहे तो कुछ लोग चाय सस्ती होने के कारण कॉफी के स्थान पर चाय का इस्तेमाल करने लगेंगे। इससे चाय की माँग बढ़ जायगी। इस प्रकार कॉफी का चाय से प्रतिस्थापित किया जायगा। इसे प्रतिस्थापन प्रभाव' कहते हैं। इस प्रतिस्थापन प्रभाव के कारण किसी वस्तु की कीमत गिरने पर उसकी माँग बढ़ जाती है तथा कीमत घटने पर माँग घट जाती है। इस प्रकार माँग के नियम के लागू होने का कारण ज्ञात होता है। अतः प्रतिस्थापन प्रभाव के कारण भी माँग वक्र का झुकाव ऊपर से नीचे की ओर दाहिनी तरफ झुकता हुआ होगा है।

4 आय प्रभाव (Income Effect) किसी वस्तु के मूल्य में कमी होने का अर्थ यह है कि उस वस्तु की पहले जितनी मात्रा कम मुद्रा से क्रय की जा सकती है। उदाहरणार्थ मान लीजिए एक उपभोक्ता घी की कीमत 25 रु० प्रति किलो होने पर 4 किलो घी 100 रु० में खरीदता था। यदि घी का मूल्य 20 रु० प्रति किलो हो जाता है तो घी की उतनी ही मात्रा खरीदने पर उसे 80 रु० व्यय करने पड़ेंगे। इस प्रकार मूल्य के कम होने पर उसका कुल व्यय घी पर 20 रु० कम हो गया। यह बीस रुपये उसके लिए एक प्रकार से आय में वृद्धि की तरह है। इस बचत या आय में वृद्धि का पूरा उपयोग या कुछ भाग का उपयोग वस्तु की अतिरिक्त मात्रा क्रय करने के लिए कर सकता है। इसे आय प्रभाव कहते हैं। यदि कीमत बढ़ती है तो उपभोक्ता पहले जितनी ही मुद्रा व्यय करेगा और वस्तु की कम मात्रा खरीदेगा। बढ़ी हुई कीमत आय घटने के समान है। कम मात्रा खरीदने से वस्तु की माग कम हो जाएगी। अत आय प्रभाव माग के नियम को स्पष्ट करता है अर्थात् यह बतलाता है कि कीमत कम होने पर वस्तु की अधिक मात्रा खरीदी जाएगी। इस प्रकार माँग वक्र का झुकाव बाएं से दाहिने नीचे की ओर होता है।

5 विभिन्न प्रयोग (Various Uses) माग वक्र का नीचे दाहिनी ओर झुकने का एक कारण यह भी है कि किसी वस्तु का मूल्य कम होने पर इसके अनेक प्रयोग आरम्भ हो जाते हैं। उदाहरणार्थ ऊन की कीमत कम हो जाने पर उसके प्रयोग विभिन्न वस्तुओं के निर्माण में होने आरम्भ हो जावेंगे। इसके कारण ऊन की कुल माग में वृद्धि हो जायगी।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि किसी वस्तु के मूल्य में कमी होने से उसकी माग में वृद्धि हो जाती है जिससे वस्तु विशेष का माँग वक्र नीचे दाहिनी ओर झुका रहता है।

माँग के सामान्य नियम के अपवाद
(Exceptions to the General Law of Demand)

कुछ दशाओं में मूल्य अधिक होने पर माँग अधिक और कम मूल्य होने पर माँग कम हो सकती है। इस प्रकार जो माँग वक्र बनेगा वह बाएं से दाएं ऊपर को उठता हुआ होगा। इन दशाओं को माँग का अपवाद कहा जाता है। इस प्रकार के अपवाद के निम्नलिखित कारण है

1 प्रदर्शन उपभोग की वस्तुओं का आकर्षण (Inducement to purchase goods of conspicuous consumption) कुछ वस्तुएं जैसे आभूषण तथा प्रतिष्ठामूलक प्रदर्शनकारी वस्तुएं महगी होने पर भी धनी व्यक्तियों द्वारा अधिक मात्रा में क्रय की जाती हैं। इसके विपरीत मूल्य कम होने पर वे उन्हें खरीदना बन्द कर देते हैं। इस प्रकार मूल्य वृद्धि से माग में वृद्धि तथा मूल्य ह्रास से माँग में कमी हो सकती है।

2 मूल्य वद्धि की सम्भावना कुछ वस्तुएँ एसी होनी हैं जसे अनिवाय आवश्यकताओं की वस्तुएँ जिनकी मूल्य-वृद्धि स उनकी माग कम नहीं होती। एसी किसी वस्तु के बाजार की प्रवत्तियों का अध्ययन करन पर यदि यह आशका हो जाती है कि भविष्य म सट्टे या अधिक लाभ की भावना स विक्रेता वस्तु के मूल्य म और वद्धि करेंगे तो क्रेता प्रचलित अधिक मूल्य पर भी वस्तु की अधिक मात्रा क्रय करने लगते हैं।

3 अज्ञानता की स्थिति (Situation of sheer ignorance) कभी कभी अज्ञानता के कारण भी मनुष्य किसी वस्तु के ऊँचे मूल्य होने पर भी उसे अधिक मात्रा म क्रय करता है। एसी स्थिति म माग का नियम लागू नहीं होता है और माग वक्र नीचे से दायी ओर ऊपर चढ़ता जाता है। इसके लिए **प्रो० बेनहम** ने एक उदाहरण प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार एक तस्वीरों की पुस्तक जिसका मूल्य 10½ शि० था प्रथम महायुद्ध से पहले प्रकाशित हुई थी। उस समय वह अधिक मात्रा म नहीं बिक सकी। दूसरे संस्करण म जब उसका मूल्य 3 पौंड रखा गया तो उसकी काफी प्रतियाँ बिक गई। एसा अज्ञानतावश हो हुआ।

4 गिफिन का विरोधाभास या निकृष्ट वस्तुए (Giffen s Paradox or Inferior goods) निधन व्यक्ति द्वारा क्रय की जान वाली वस्तु निकृष्ट वस्तु कहलाती हैं। यदि उस व्यक्ति की आय म वद्धि हो जाती है तो वह एसी वस्तु की कम मात्रा ही क्रय करेगा। उदाहरणार्थ एक निर्धन व्यक्ति गेहूँ का मूल्य अधिक होने के कारण जौ अधिक मात्रा म क्रय करता है। यदि जौ का मूल्य कम हो जाए और वह जौ की पूर्ववत् मात्रा ही क्रय करे तो उसकी आय का कुछ भाग अपेक्षाकृत अच्छी स्थानापन्न वस्तुओं को क्रय करने के लिए बच रहेगा। अत उपभोक्ता निम्न कोटि की वस्तुओं के मूल्यों म कमी होने पर भी उनकी क्रय की जाने वाली मात्रा म वद्धि नहीं करता। यह एक विरोधाभास है जिसे गिफिन का विरोधाभास (Giffen s Paradox) कहते हैं।

यदि इसका गहन अध्ययन किया जाय तो हमे मालूम होता है कि जब किसी वस्तु का मूल्य गिरता है तो माग पर दुहरा प्रभाव दृष्टिगत होता है (i) प्रतिस्थापन प्रभाव और (ii) आय प्रभाव।

माग पर प्रतिस्थापन प्रभाव हमेशा धनात्मक होता है। इसके कारण सस्ती वस्तु की माग का विस्तार होता है। किन्तु प्रतिस्थापन प्रभाव के साथ-साथ आय प्रभाव भी होता है। इसीलिए घटिया वस्तु के मूल्य म कमी एक प्रकार स उपभोक्ता की आय म वद्धि के समान ही होता है। किन्तु उपभोक्ता यदि इस बचत को घटिया या निकृष्ट वस्तु की अधिक इकाइयाँ खरीदने म ही लगाता है तो यह धनात्मक आय प्रभाव होगा। किन्तु उपभोक्ता इस बची हुई आय का श्रेष्ठ वस्तुओं पर ही व्यय करता है। अत ऊँचे मूल्यों पर भी उनकी अधिक माग होती है। इस

ग्राय का ऋणात्मक प्रभाव कहा जाता है। इस प्रकार गिफिन के विरोधाभास म निकृष्ट या घटिया वस्तुग्रा के सम्बन्ध मे ऋणात्मक ग्राय प्रभाव का जोर धनात्मक प्रतिस्थापन प्रभाव स ग्रधिक होने क कारण वस्तु की कीमत मे कमी होने पर भी घटिया वस्तु की माग बढन क बजाय घटती है।

ग्रत यहा माँग का नियम लागू नही होता।

यहा यह उल्लखनीय है कि सभी निम्न कोटि की वस्तुए 'गिफिन वस्तुए नहा हाती। केवल व ही वस्तुए जिन पर उपभोक्ता *ग्रपनी ग्राय का एक ग्रच्छा भाग* व्यय करता है गिफिन वस्तुए होती है।

किन्तु यह विरोधाभास एक व्यक्ति के सम्बन्ध म सही हो सकता है। सभी उपभोक्ताग्रो की भावनाएँ तथा स्थितिया समान नही होती। ग्रत बाजार माग सूची इस प्रकार की प्रवृत्ति को व्यक्त नही करती।

माग का विस्तार व सकुचन, माग मे वृद्धि व कमी
(Extension and Contraction of Demand Increase and Decrea e in Demand)

ग्राम बोल चाल की भाषा म **माँग मे वृद्धि** (Increase in Demand) तथा **माँग मे विस्तार** (Expansion of Demand) को समानार्थी मानते है। किन्तु ग्रथशास्त्र म इन दोनो मे ग्रन्तर किया जाता है। इसी प्रकार **'माग मे कमी** (Decrease in demand) ग्रौर **माँग मे सकुचन** (Contraction of Demand) म भी ग्रन्तर होता है।

माग का विस्तार तथा सकुचन (Extension and contraction of Demand) ग्रन्य बाता क यथावत् रहने पर किसी वस्तु का मूल्य कम होन पर उसकी ग्रधिक माग का **माग का विस्तार** (Extension or Expansion of Demand) तथा ग्रधिक मूल्य हाने पर कम माना की माग को **माग का सकुचन** कहत हैं। विभिन्न मूल्या पर वस्तु की विभिन्न मात्राग्रो की माँग को उसी माँग वक्र पर विभिन्न बिन्दुग्रा पर ग्रकित या प्रदर्शित किया जाता है। यह ध्यान रहे कि **माग का विस्तार ग्रथवा सकुचन मूल्य परिवतन के कारण होता है न कि माँग की दशाग्रों मे परिवतन होने के कारण।** माँग म इस प्रकार क परिवतन पर उपभोक्ता का कोई निजी प्रभाव नही पडता। वह मूल्य परिवतन के कारण ग्रपनी माँग की मात्राग्रो को परिवर्तित करन को बाध्य होता है। ग्रत इन परिवतनो को उसी माँग वक्र पर ऊपर स नीचे ग्रथवा नीचे स ऊपर की ग्रोर जाकर *स्पष्ट किया जा सकता है जसा कि चित्र म 36 म* दिखलाया गया है।

मूल्य-परिवतन के परिणामस्वरूप माँग की मात्राग्रो म विस्तार ग्रथवा सकुचन माँग रेखा पर प्रदर्शित किया जा सकता है। यह माँग रखा ही उपभाक्ता के

पसन्दगी मान को व्यक्त करने वाले विभिन्न बिन्दुओं का पथ है। P M' मूल्य पर उपभोक्ता वस्तु की OM मात्रा क्रय करता है। यह P M निम्नतम मूल्य है अत इस वस्तु की अधिकतम मात्रा OM क्रय की जायगी। यदि मूल्य M P से बढ़ कर MP हो जाय तो उपभोक्ता वस्तु की OM मात्रा ही क्रय करेगा। इस स्थिति म
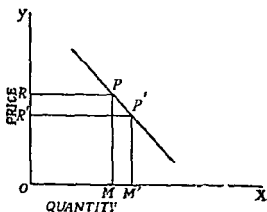
चित्र स० 36

हमने मूल्य रेखा पर दायी तरफ से ऊपर की ओर बायी ओर के झुकाव पर P तथा P बिन्दुओं द्वारा बढ़ते हुए मूल्य पर वस्तु की मात्रा म कमी की दिशा को ज्ञात किया है। अब यदि इसकी विपरीत स्थिति लें तो हम उसी मूल्य रेखा पर ऊपर से नीचे की ओर चलना होगा। P बिन्दु पर उपभोक्ता द्वारा वस्तु के लिए दिया जाने वाला मूल्य अधिक है अतएव वह वस्तु का OM मात्रा क्रय करेगा। परन्तु P पर वस्तु का मूल्य PM है जो PM की अपेक्षा कम है अत उपभोक्ता वस्तु की OM' मात्रा क्रय करेगा। अब यह स्पष्ट है कि मूल्य परिवतन से माग की मात्रा परिवर्तित होती है। उपभोक्ता पहले अपना पसन्दगी (Preferences) निर्धारित कर लेता है और उसके बाद वह मूल्य द्वारा पथ प्रदर्शन प्राप्त करता है।

मांग मे वृद्धि और कमी (Increase and Decrease in Demand)
मूल्य के अतिरिक्त माँग के अन्य कई निर्धारक तत्त्व होते हैं। इनमें से किसी एक में होने वाले परिवर्तन का माग पर पड़ने वाले प्रभाव को ही माँग मे परिवर्तन कहते हैं। माँग म यह परिवर्तन माँग मे वृद्धि अथवा माँग की कमी के रूप म हो सकता है। माँग म वृद्धि या कमी होने पर माँग-सूची तथा माँग-वक्र परिवर्तित हो जाते हैं।

माग मे वृद्धि का आशय यह है कि दिए गए मूल्य पर वस्तु की अधिक मात्रा क्रय की जायगी अथवा वस्तु की पूर्व मात्रा हो मूल्य के अधिक होने पर भी क्रय की जायगी। इस प्रकार की माग म वृद्धि कई कारणो से हो सकती है। उपभोक्ता की आय अथवा उसके परिवार म वृद्धि होने पर उसे मूल्य का ध्यान म रखे बिना वस्तु की मात्रा या माग म वृद्धि करना पडता है। अत मूल्य म वृद्धि की दशा म वस्तु की माग का निर्धारक तत्व मूल्य नहीं होता बल्कि व्यक्ति होता है। वही अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप अपनी माग तथा पसन्दगी मान निर्धारित करने म सक्रिय रहता है। इसके विपरीत माग म कमी का आशय यह है कि यदि मूल्य पूर्ववत् या अपरिवर्तित रहते हैं तो माग की मात्रा कम होगी और यदि माग की मात्रा पूर्ववत् रहती है तो मूल्य कम होंगे। इस प्रकार माग म परिवर्तन होने पर नई पसन्दगी मान निर्धारित करने पर पहले की माग-सूची के स्थान पर एक नयी माग-सूची तैयार की जाती है। जब माग म वृद्धि होगी तो प्रत्येक मूल्य से सम्बन्धित माग की मात्रा पहले की अपेक्षा अधिक होगी। इसी प्रकार माग म कमी होने पर प्रत्येक मूल्य म सम्बन्धित वस्तु की मात्रा पहले से कम होगी। माग वृद्धि से एक नया मांग-वक्र पहले के माग-वक्र की दायी तरफ हटकर एक ऊँची स्थिति पर पहुँच जाता है। माग म कमी प्रदर्शित करने वाला नया माग वक्र पूर्व स्थिति व्यक्त करने वाले माग वक्र की बायीं तरफ नीची स्थिति पर अंकित होता है।

मूल्य मे वृद्धि और कमी को प्रदर्शित करने वाली माग सूची

मूल्य (प्र कि)₹	मूल मांग (Original Demand)	बढ़ी हुई माग (Increased Demand)	कम हुई माग (Decreased Demand)
(i) मूल्य समान रहने पर			
10	40	60	20
(ii) मूल्य बढ़ने पर			
13	40	40	—
(iii) मूल्य घटने पर			
8	40	—	20

उपर्युक्त तालिका के अनुसार माग म वृद्धि तथा मांग म कमी का स्थिति को अग्र पृष्ठ पर दिए गए रेखाचित्रो (क्रमश संख्या 37A और 37B) म प्रदर्शित किया गया है।
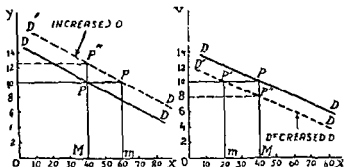
चित्र स० 37A व 37B

चित्र सख्या 37A मे D D वक्र माग म वद्धि की स्थिति को व्यक्त करता है। माँग म परिवतन (वद्धि) के पूव का मूल माँग-वक्र DD है जिस पर P बिन्दु बतलाता है कि 10 रु० प्रति क्विन्टल की दर (PM) स 40 क्विन्टल वस्तु की मात्रा (OM) क्रय की जाती है। अब यदि मूल्य समान रहे लेकिन अन्य किसी तत्त्व के कारण उपभोक्ता 40 क्विन्टल के स्थान पर 60 क्विटल खरीदना चाहे तो उसे ऊँचे वक्र D D के बिन्दु P पर जाना होगा क्योंकि उसी मूल्य, 10 रु० (PM = P'm) पर DD वक्र पर 60 क्विन्टल की मात्रा Om नहीं प्राप्त की जा सकती। इसी प्रकार यदि मूल्य वद्धि अर्थात् मूल्य के 10 रु० स बढ़कर 13 रु० प्रति क्विटल (P M) हो जाने पर 40 क्विन्टल ही माँग हो तो इस मूल्य पर माँग की मात्रा OM को व्यक्त करने वाला बिन्दु (P) DD वक्र पर न होकर नए वक्र D D पर होगा। यह नयी माग रेखा D D ही माँग म वद्धि (Increase in demand) को व्यक्त करती है क्योंकि उपभोक्ता के पसन्दगी मान को व्यक्त करने वाले बिन्दु इस रेखा पर ही अकित होंगे।

चित्र स० 37B माँग म कमी का निदर्श चित्र (Illu tration) है। माँग म परिवतन के पूव 10 रुपय (PM) पर माँग की मात्रा 40 क्विन्टल (OM) है। माँग म परिवतन होने पर यदि 10 रु० क्विन्टल की दर से (अर्थात् PM = P m मूल्य पर) 20 क्विन्टल (Om) की अथवा मूल्य की दर 8 रुपए प्रति क्विन्टल (P M) होने पर 40 क्विन्टल (OM) की माग की जाती है तो ये दोनों ही स्थितियाँ माँग की कमी को बतलाती हैं क्योंकि इन दोनों ही स्थितियों म पसन्दगी मान का प्रदर्शन करने वाले बिन्दु P' तथा P पूव माँग रेखा DD पर अकित P बिन्दु स माँग की कमी को प्रदर्शित करते है।

निष्कर्ष

निष्कर्ष रूप म हम इन वाक्यो को इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं

1 माग मे विस्तार' (Extension of Demand) का आशय कम मूल्य पर वस्तु की अधिक मात्रा क्रय करना होता है जबकि 'माग मे वृद्धि' (Increa e in Demand) का आशय है उसी मूल्य पर वस्तु की अधिक मात्रा क्रय करना, अथवा कम मूल्य पर उतनी ही वस्तु की माँग करना होता है।

2 माँग म सकुचन (Contraction of Demand) का आशय है ऊँचे मूल्यो पर वस्तु की कम मात्रा क्रय करना जबकि माँग मे कमी (Decrease of Demand) का तात्पर्य है उसी मूल्य पर वस्तु की कम मात्रा क्रय करना या कम मूल्य पर वस्तु की उतनी ही मात्रा की माग करना।

3 यहा एक बात यह उल्लेखनीय है कि माँग मे वृद्धि या कमी" का महत्त्व दीर्घकालिक होता है जबकि माग में विस्तार तथा माग सकुचन का महत्त्व अल्पकालिक होता है।

माग मे परिवतन के कारण (Causes of Changes in Demand)

अथवा

माग को प्रभावित करने वाले घटक (Factors Affecting to Demand)

या

माँग के निर्धारक घटक (Determinants of Demand)

स्टिगलर के अनुसार माग के चार निर्धारक तत्त्व हैं (i) वस्तु का मूल्य (ii) उपभोक्ता की आय (iii) प्रतिस्थापक तथा पूरक वस्तुओ के मूल्य और (iv) उपभोक्ता की रुचि तथा अधिमान। माग का नियम यह बतलाता है कि वस्तु के मूल्य को छोडकर यदि अन्य निर्धारक तत्त्व अपरिवर्तित रहे तो मूल्य की विपरीत दिशा म माग की मात्रा म विस्तार या सकुचन होता है। परन्तु इस सम्बन्ध म यह ध्यान रहे कि यह आवश्यक नहीं है कि मूल्य-परिवतन के अनुपात म ही माग की मात्रा म भी विस्तार अथवा सकुचन होगा। परन्तु जब माँग के किसी अन्य निर्धारक तत्त्व म परिवतन होने के कारण स्वय माग प्रभावित होती है अर्थात् पूर्व मूल्य पर ही वस्तु की अधिक या कम मात्राए क्रय की जाती हैं तब हम माग म परिवतन (कमी या वृद्धि) कहते है।

विभिन्न परिस्थितियो को ध्यान म रखते हुए माग म परिवतन के कारणो का उल्लेख अग्रलिखित प्रकार से किया जा सकता है

माँग में परिवतन क कारण

माँग मे वद्धि	माँग मे कमी
1 उपभोक्ता की इच्छाएँ तीव्र हो जाए।	1 उपभोक्ता की इच्छाएँ कम तीव्र हो।
2 उपभोक्ता की आय म वद्धि हो जाय।	2 उपभोक्ता की आय कम हो जाय।
3 स्थानापन्न वस्तुओ क मूल्य बढ जाय।	3 स्थानापन्न वस्तुओ के मूल्य कम हो जाय।
4 पूरक वस्तुओं के मूल्य गिर जाएँ।	4 पूरक वस्तुओ के मूल्य बढ जाय।

इस प्रकार माग म परिवतन केवल मूल्य क कारण ही नही होता बल्कि माग क अन्य और भी निधारक घटक हैं। प्रो० स्टिगलर के माँग निर्धारण के चार घटको क अलावा प्रो० बेनहम (Benham) ने अन्य घटको का भी उल्लेख किया है।

यहाँ माँग म इस प्रकार क परिवतनो क कारणो अथवा माँग के निधारक घटको का ही वणन किया गया है

1 रुचि, आदत अथवा फशन मे परिवतन (Changes in taste habit or fashion) लोगो की रुचि आदत तथा फशन म होन वाल परिवतनो के फल स्वरूप तद्सम्बन्धी वस्तुओ की माँग भी परिवर्तित हो जाती ह। चाय क स्थान पर काफी धोती के स्थान पर पट तथा सूती कपडा के स्थान पर टेरालिन के कपडे का प्रयोग इनके उदाहरण हैं।

2 मौद्रिक तथा वास्तविक आय म परिवतन (Changes in the money and real incomes) लोगो की मौद्रिक आय म परिवतन होन का तात्पय उनक द्वारा अजित मुद्रा, अर्थात् क्रय शक्ति की मात्रा म परिवतन स है जबकि वास्तविक आय म परिवतन का आशय पूव आय स हो क्रय की जान वाली वस्तुओ तथा सेवाओ की मात्रा म परिवतन स है। यदि पहले की अपेक्षा वस्तुएँ सस्ती हो जाती हैं तो उपभोक्ता उन वस्तुओ की पूव मात्रा को कम धन राशि से क्रय करके बची हुई धनराशि स अन्य उत्तम वस्तुए क्रय कर सकता है। इसी प्रकार उसकी मौद्रिक आय बढ़ने पर यदि वस्तुओ के मूल्य यथावत् रह तो उसके पसन्दगी मान म निश्चय ही परिवतन होगे। अत दोनो ही स्थितियो म माँग सूची तथा माँग वक्र म परिवतन हो जायगा। यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि आय म परिवतन का प्रभाव विभिन्न

वस्तुओं की माँग पर भिन्न भिन्न होता है। उदाहरणार्थ अनिवार्य आवश्यकता की वस्तुओं की माँग पर कम तथा आरामदायक व विलासिता की वस्तुओं की माँग पर प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक होता है। आय में परिवर्तन का माँग पर प्रभाव उपभोक्ता की बचत करने की प्रवृत्ति पर भी निर्भर करता है। जब लोगों की बचत करने की प्रवृत्ति अधिक होती है तो उसका परिणाम यह होता है कि लोग बढ़ी हुई आय में अधिक बचत करते हैं और कम व्यय करते हैं जिससे माँग में अधिक वृद्धि नहीं हो पाती है। इसके दूसरी ओर यदि लोगों में बचत करने की प्रवृत्ति कम होती है तो लोग बचत कम करके अधिक व्यय करेंगे और इससे माँग में अधिक वृद्धि होगी।

3 चलन मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन (Changes in the amount of money in circulation) देश में जितनी मुद्रा चलन में होती है उसके परिमाण में परिवर्तन होने पर उसका प्रभाव मुद्रा के मूल्य, वस्तुओं के मूल्यों तथा लोगों की क्रय शक्ति पर पड़ता है। अब लोगों को अपने व्यय को समायोजित करना पड़ता है। मूल्य-वृद्धि के कारण वस्तुओं की माँग कम हो जाती है और लोग कुछ नवीन वस्तुओं की अधिक मात्रा में क्रय करना प्रारम्भ कर देते हैं। इसलिए मुद्रा प्रसार के समय वस्तुओं की माँग बढ़ जाती है जबकि मुद्रा-संकुचन के समय माँग कम हो जाती है।

4 जनसंख्या में परिवर्तन (Changes in population) जनसंख्या में वृद्धि अथवा कमी होने से केवल माँग में ही परिवर्तन नहीं होता वरन् माँग की किस्म में भी परिवर्तन हो जाता है। जिस देश में जनसंख्या तेजी से बढ़ रही होती है वहाँ बच्चों का अनुपात अधिक होगा। इसीलिए वहाँ ऐसी वस्तुओं की माँग अधिक होगी जिन्हें बच्चे ज्यादा पसन्द करेंगे, उदाहरणार्थ खिलौने, बिस्कुट, बच्चा गाड़ियाँ आदि। इसके विपरीत जनसंख्या में यदि कमी होती है तब तो बूढ़ों का अनुपात अधिक होगा और उनकी पसन्द की वस्तुओं की माँग अधिक होगी, जैसे, छड़ियाँ, चश्मे आदि।

5 धन एवं सम्पत्ति तथा आय के वितरण में परिवर्तन (Changes in the distribution of wealth and income) सामाजिक तथा आर्थिक समानता के उद्देश्य से जब सरकार अपनी करनीति द्वारा धनी वर्ग के लोगों की अतिरिक्त क्रय शक्ति को कर के रूप में लेकर उसे निर्धन वर्ग के व्यक्तियों में वितरित कर देती है तब वे लोग भी उन वस्तुओं का क्रय करने में समर्थ होते हैं जिन्हें वे पहले क्रय नहीं कर सकते थे। इस प्रकार धन की असमानता में परिवर्तन होने से माँग में परिवर्तन होता है।

6 प्रतिस्थापक तथा पूरक वस्तुओं के मूल्य में परिवर्तन (Changes in the prices of other goods) किसी वस्तु के मूल्य में परिवर्तन होने पर उसकी प्रतिस्थापक अथवा पूरक वस्तु की माँग में भी परिवर्तन हो जाता है। चाय के मूल्य में वृद्धि होने पर उसकी प्रतिस्थापक वस्तु कॉफी की माँग में वृद्धि होगी। पूरक वस्तु

के सम्बन्ध में यदि मोटर-कार का मूल्य कम हो जाता है तो उसकी मांग बढ़ने पर उसकी पूरक वस्तु पैट्रोल की माग भी बढ जायगी।

7 व्यापार की दशा मे परिवर्तन (Changes in the state of trade) व्यापारिक समृद्धि के काल (Boom period) म मूल्यों म वृद्धि होने पर भी कुछ वस्तुओं की मांग अधिक होती है और मन्दी (Depression) के समय अधिकाश वस्तुओं की मांग कम होती है।

8 बचत करने की प्रवृत्ति में परिवर्तन (Changes in the propensity to save) यदि लोगों म पहले की अपेक्षा बचत करने की प्रवृत्ति अधिक सक्रिय हो जाती है तो निश्चय ही लोगों के पास क्रय शक्ति (मुद्रा) कम होगी। फलस्वरूप लोगों की मांग के स्वरूप म भी परिवर्तन होगा। इसी प्रकार यदि तरलता पसन्दगी (Liquidity Preference) को लोग अधिक महत्त्व देने लगते हैं अर्थात् यदि वे तरल (नकद) सम्पत्तियों को अधिक पसन्द करते हैं तो भी लोगों के पास वस्तुओं को क्रय करने के लिए मुद्रा कम होगी जिससे माग भी कम हो जायेगी।

9 ज्ञान प्रसार (Expansion of knowledge)—आज नवीन आविष्कारों तथा खोजों के कारण ज्ञान का प्रसार हो रहा है। इसके परिणामस्वरूप वस्तु की माग भी प्रभावित होती है। आज विद्युत के विभिन्न प्रयोगों की जानकारी के कारण ही प्लास्टिक के सामान की मांग म वृद्धि हो गई है। विज्ञापन के कारण भी वस्तु की माग बढ जाती है।

10 जलवायु तथा मौसम में परिवर्तन (Changes in climate and season) जलवायु तथा मौसम म परिवर्तन के परिणामस्वरूप भी वस्तु की माग प्रभावित होती है। उदाहरणार्थ जाड़ों म ऊनी कपड़ा तथा पौष्टिक खाद्य पदार्थों की मांग बढ जाती है जबकि गर्मी के मौसम म उनकी मांग घट जाती है।

11 सरकार की नीति (Government Policy) आजकल सरकार की आर्थिक क्षेत्र म बढ़ते हुए हस्तक्षेप के कारण भी उसकी आर्थिक नीतियों के अनुरूप वस्तुओं की मांग म परिवर्तन होता रहता है। सरकार द्वारा प्रेरित उपभोग की वस्तुओं की मांग म वृद्धि होगी जबकि हतोत्साहित वस्तुओं के प्रयोग की माग में कमी होगी।

12 अन्तसम्बन्धी वस्तुओं की मांग मे परिवर्तन (Changes in the demand for inter related goods) कुछ वस्तुए पूर्णतया अन्तसम्बन्धित होती हैं। इस आधार पर मांग के निम्नलिखित तीन रूप हो सकते हैं

(1) व्युत्पन्न मांग (Derived Demand) किसी वस्तु या सेवा की मांग उस समय व्युत्पन्न मांग कहलाती है जबकि किसी दूसरी वस्तु या सेवा की मांग के परिणामस्वरूप उसकी मांग उदय होती है। उदाहरणार्थ रोटी की माग को सन्तुष्ट करने के लिए आटे की मांग का होना स्वाभाविक है। अत आटे की मांग व्युत्पन्न मांग कहलायगी। एक की मांग में वृद्धि से दूसरे की मांग म वृद्धि होगी।[1]

(ii) संयुक्त माँग (Joint Demand) जब दो या अधिक वस्तुएं एक साथ ही किसी वस्तु की माँग की पूर्ति के लिए आवश्यक हों, तो उन सभी वस्तुओं की माँग संयुक्त माँग कहलाती है। उदाहरणार्थ कन्क्रीट (concrete) बनाने के लिए बालू (रेत) सीमेंट तथा बजरी (gravel) तीनों ही वस्तुएं आवश्यक हैं। अतः अन्तिम वस्तु कन्क्रीट की माँग में वृद्धि या कमी होने का प्रभाव सम्बन्धित वस्तुओं की माँग पर भी पड़ेगा।

(iii) समष्टिक माँग या मिश्रित माँग (Composite demand) विभिन्न उद्देश्यों के लिए किसी वस्तु की कुल माँग को समष्टिक या सम्मिश्रित माँग कहते हैं। यह वास्तव में किसी वस्तु की विभिन्न माँगों का योग है। उदाहरण के लिए यदि कोयले की माँग घरेलू ईंधन यातायात के साधनों तथा उद्योग धन्धों में विद्युत शक्ति उत्पादन करने के लिए की जाती है तो इन सभी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कोयले की माँगों के योग को समष्टिक माँग कहेंगे। किसी भी उद्देश्य के लिए कोयले की माँग की मात्रा में संकुचन होने पर उसकी समष्टिक माँग भी कम हो जायेगी अथवा विस्तार होने पर बढ़ जायगी।

इस प्रकार माँग को प्रभावित करने वाली अनेक दशाएं होती हैं जिनमें माँग की स्थिति में भी परिवर्तन हो जाता है।

प्रश्न तथा संकेत

1 माँग की अवधारणा को उपयुक्त उदाहरणों द्वारा समझाइये। किसी वस्तु की माँग को प्रभावित करने वाले घटकों को बतलाइये।

Explain the concept of demand with appropriate examples Discuss factors affecting demand

(संकेत—माँग के अर्थ को उपयुक्त उदाहरण देकर समझाइये तथा अन्त में माँग को प्रभावित करने वाले घटकों का वर्णन कीजिए।)

2 माँग के नियम को समझाइये। अधिकांश माँग वक्र दायें को नीचे की ओर क्यों झुकते हैं? माँग के नियम के अपवाद भी दीजिए

Explain the Law of Demand Why do most demand curves slope downwards to the right? Discuss the exceptions to the Law of Demand

(संकेत—पहले माँग के नियम को समझाइये। इसके बाद माँग के नियम के लागू होने के कारण देते हुए बतलाइये कि माँग वक्र दायें की ओर क्यों झुकता है। अन्त में माँग के अपवाद दीजिए।

3 माँग की वृद्धि तथा माँग में विस्तार' और 'माँग में कमी तथा माँग में संकुचन' में भेद स्पष्ट कीजिए। उन परिस्थितियों को समझाइये जिनमें अन्यान्य मूल्यों में वृद्धि के साथ-साथ माँग में वृद्धि होती है।

Distinguish between Increase in Demand and Expansion of Demand and Decrease in Demand and Contraction of Demand

Bring out those conditions under which demand increases with the increases in price

(सकेत—'माँग म वृद्धि तथा माँग म विस्तार तथा माग म कमी तथा माग म सकुचन के भेद को स्पष्ट कीजिए तथा अन्त म माग क अपवाद समझाइय।)

4 माग के नियम को समझाइय तथा गिफ्नि विरोधाभास की भी व्याख्या कीजिए।

State the Law of Demand and explain Giffen s Paradox.

5 अन्तर स्पष्ट कीजिए

(i) माँग सूची तथा माग वक्र

(ii) मूल्य माग आय माग तथा आडी माग

(iii) माँग म वृद्धि तथा माग विस्तार

(iv) माग म कमी तथा माँग का सकुचन

Distinguish between

(i) Demand Schedule and Demand Curve

(ii) Price Demand Income Demand and Cross Demand

(iii) Increase in Demand and Expansion of Demand

(iv) Dec ease in Demand and Contraction of Demand

6 मूल्य के अलावा कौन-कौन से घटक किसी वस्तु की माग का प्रभावित करत हैं ? समझाइये।

Explain the factors which bring about changes in demand independently of price

16
माँग की लोच
(Elasticity of Demand)

> The elasticity of demand may be defined as the percentage change in the quantity demanded which would result from one percent change in price
>
> —*Boulding*

माग क नियम क अध्ययन से यह विदित होता है कि मूल्य एव माँग म विपरीत सम्बन्ध होता है । यद्यपि माग के नियम से यह भी स्पष्ट होता है कि किसी वस्तु के मूल्य म परिवतन हाने से उसकी माँग मे भी परिवतन होता है किन्तु मूल्य म परिवतन के परिणामस्वरूप सभी वस्तुओ की माँग म एक समान दर से परिवतन नहा होता है । कुछ वस्तुए तो एसी होती हैं जिनके मूल्य म नाम मात्र के परिवर्तन स उनकी माँग म बहुत अधिक परिवतन होता है जबकि कुछ वस्तुओ के मूल्य मे बहुत अधिक परिवतन होने पर भी उनकी माँग म बहुत कम या प्राय कोई परिवतन नहा होता । अत मूल्य म परिवतन के परिणामस्वरूप माँग में जिस दर से परिवतन होता है वही माँग की लोच है । अन्य शब्दा म मूल्य म परिवतन क परिणामस्वरूप माँग म परिवतन की प्रवत्ति को ही माँग की लोच कहा जाता है ।

माँग की लोच का अथ (Meaning of Elasticity)

माग के नियम स स्पष्ट है कि किसी वस्तु की कीमत म कमी या वद्धि होने स उस वस्तु की माँग म वद्धि या कमी होती है । कीमत म परिवतन क फलस्वरूप माँग म जो परिवतन होता है उसे माँग की लोच कहत है अथात् कीमत परिवतन क कारण माँग की प्रतिक्रिया को ही माँग की लोच कहत है । प्रो॰ करनक्रास क शब्दों म कीमत क परिवतन के कारण एक वस्तु की क्रय की मात्रा म जिस दर स परिवतन होता है उस दर को माँग की लोच कहत हैं ।[1] श्रीमती जोन राबिन्सन के

---

1 The elasticity of demand for a commodity is the rate at which the quantity bought changes as the price changes

—*A Cairncross*

अनुसार यदि किसी बिन्दु पर हम माग की लोच ज्ञात करना चाहते हैं तो वह माग के आनुपातिक परिवर्तन और मूल्य के आनुपातिक परिवर्तन के अनुपात द्वारा ज्ञात की जा सकती है अर्थात्

$$\text{माँग की लोच} = \frac{\text{माग म आनुपातिक परिवर्तन}}{\text{कीमत म आनुपातिक परिवर्तन}} = \frac{\dfrac{\text{माँग म परिवर्तन}}{\text{पहले की माँग की मात्रा}}}{\dfrac{\text{कीमत म परिवर्तन}}{\text{पहले की कीमत}}}$$

एक उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए किसी वस्तु की कीमत पाँच रुपया प्रति इकाई होने पर उस वस्तु की 40 इकाइयों की माँग होती है। यदि वस्तु की कीमत घटकर चार रुपया प्रति इकाई हो जाती है तो उस वस्तु की 50 इकाइयों की माग होती है। ऐसी अवस्था म माँग की लोच उपरोक्त सूत्र के अनुसार इस प्रकार ज्ञात की जाएगी।

कीमत	5 रुपए प्रति इकाई	4 रुपए प्रति इकाई
	↓	↓
माँग	40 इकाइया	50 इकाइया

(i) माँग म आनुपातिक परिवर्तन $= \dfrac{\text{माग म परिवर्तन (वृद्धि या कमी)}}{\text{पहले की माग}} \; \frac{10}{40} = \frac{1}{4}$

(ii) कीमत म आनुपातिक परिवर्तन $= \dfrac{\text{कीमत म परिवर्तन (वृद्धि या कमी)}}{\text{पहले की कीमत}} = \frac{1}{5} = \frac{1}{5}$

(iii) माँग की लोच $= \dfrac{\text{माँग म आनुपातिक परिवर्तन}}{\text{कीमत मे आनुपातिक परिवर्तन}} = \dfrac{\frac{1}{4}}{\frac{1}{5}}$

$= \frac{1}{4} \div \frac{1}{5} = \frac{5}{4}$ या 1 25

माँग की लोच को मापने का उपरोक्त समीकरण यदि संकेतों के आधार पर दर्शाया जाय तो वह इस प्रकार होगा

$$e = \frac{\Delta X/X}{\Delta P/P} = \frac{\Delta X \, P}{\Delta P \, X}$$

उपरोक्त सूत्र म

X = माँग की मात्रा

ΔX अर्थात् डेल्टा X = कीमत म परिवर्तन की मात्रा

P = कीमत

ΔP अर्थात् डेल्टा P = कीमत म परिवर्तन

इस प्रकार श्रीमती जान राबिन्सन ने माग की लोच की परिभाषा इस प्रकार दी है माँग की लोच किसी मूल्य अथवा उत्पादन पर मूल्य में थोडे से परिवतन के परिणामस्वरूप क्रय की गई मात्रा के आनुपातिक परिवतन को मूल्य के आनुपातिक परिवतन से भाग देने से प्राप्त होती है।[1]

इस स्थान पर एक बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि माग की लोच सदैव ऋणात्मक होती है क्योंकि माग कीमत परिवतन की दिशा से विपरीत दिशा मे परिवर्तित होती है। परन्तु व्यवहार में माग की लोच के ऋणात्मक होने का उल्लेख नही किया जाता है। इस सम्बन्ध में यह भी स्मरणीय है कि माग की लोच का तात्पय माँग की कीमत लोच से है।

अन्य अर्थशास्त्रियों ने भी माग की लोच को इस प्रकार परिभाषित किया है

प्रो० बोल्डिंग (Boulding) के अनुसार किसी वस्तु के मूल्य मे एक प्रतिशत परिवतन होने से उस वस्तु की माग में जो प्रतिशत परिवतन होगा वही माँग की लोच कहलाती है।[2]

सेम्युअलसन के शब्दों मे माग की लोच का विचार बाजार मूल्य में परिवतन के अन्तर में माँग की मात्रा में परिवतन के अश अर्थात् माग में प्रतिक्रिया के अश को व्यक्त करता है। यह मुख्यत प्रतिशत परिवतन पर निर्भर करता है और कीमत तथा मात्रा को मापने में प्रयोग की जाने वाली इकाइयों से स्वतन्त्र होता है।

प्रो० स्टोनियर एव हेग ने भी माग की लोच के विषय में कहा है कि माँग की लोच किसी वस्तु के मूल्य में कमी के परिणामस्वरूप वस्तु की माग में उत्पन्न होने वाली प्रतिक्रियाशीलता की मात्रा है।

प्रो० मार्शल के शब्दों में किसी वस्तु की माँग की लोच अधिक या कम तब कही जायेगी जब मूल्य में दी हुई कमी होने पर उसकी माँग में अधिक या कम वृद्धि होती है तथा मूल्य में दी हुई वृद्धि होने पर माँग में अधिक या कम कमी होती है।"[3]

---

1 "The elasticity of demand at any price or at any output is the proportional change of amount purchased in response to a small change in price divided by the proportional change in price

—*Mrs J Robinson*

2 he elasticity of demand may be defined as the percentage change in the quantity demanded which would result from one percent change in price

—*Boulding*

3 "The elasticity (or re ponsiveness) of demand in a market is great or small according as the amount demanded increases much or little for a g ven fall in price or d minishes much or little for a given price

—*Marshall*

इस प्रकार विभिन्न अर्थशास्त्रियों के विचार से स्पष्ट है कि माँग की लोच का आशय 'किसी वस्तु के मूल्य मे होने वाले परिवतन के परिणामस्वरूप माँग मे होने वाले परिवर्तनों के पारस्परिक सम्बन्धों से है।'

माग की लोच के प्रकार या प्रकृति
(Kinds or Nature of Elasticity of Demand)

माँग की लोच की प्रवृति तीन प्रकार की हो सकती है (i) माँग की मूल्य-लोच (Price Elasticity of Demand) (ii) माँग की आय लोच (Income Elasticity of Demand) तथा (iii) माँग की आडी या तिरछी लोच (Cross Elasticity of Demand)।

1 माँग की मूल्य लोच (Price Elasticity)

माँग की मूल्य लोच के लिए माँग की लोच या 'माँग की मूल्य लोच' दोनो म से किसी भी एक शब्द समूह का प्रयोग कर सकते है। यदि किसी वस्तु के मूल्य म परिवतन के कारण उस वस्तु की माँग घटती या बढती है तो माँग म परिवतन की सीमा व अनुपात को माँग की मूल्य लोच कहते हैं।

सूत्र के रूप म

$$\text{माग की मूल्य लोच } (^{e}p) = \frac{\text{वस्तु की माँग म आनुपातिक परिवतन}}{\text{वस्तु के मूल्य म आनुपातिक परिवर्तन}}$$

$$^{e}p = \frac{\text{Percentage Change in Demand}}{\text{Percentage Change in Price}}$$

अथवा

$$^{e}p = \frac{\Delta X}{\Delta P} \times \frac{P}{X}$$

यदि वस्तु के मूल्य म प्रतिशत परिवतन कम तथा माँग म प्रतिशत परिवतन अधिक होता है तो माँग लोचदार तथा यदि प्रतिशत परिवतन समान होता है तो माँग लोचदार और यदि मूल्य म प्रतिशत परिवतन माँग म प्रतिशत परिवतन से अधिक होता है तो माँग कम लोचदार होगी।

2 माँग की आय लोच (Income Elasticity)

किसी वस्तु की 'माँग की आय लोच' यह प्रकट करती है कि किसी उपभोक्ता की आय म परिवतन होने पर उसकी माँग पर क्या प्रभाव पडता है? यदि किसी वस्तु के लिए माँग की आय लोच कम है तो इसका अथ होगा कि उपभोक्ता की आय म वृद्धि या कमी का प्रभाव उस वस्तु की माँग की मात्रा पर बहुत कम पडेगा। उदाहरणार्थ आय म वृद्धि या कमी का प्रभाव उपभोक्ता की खाद्य-सामग्री की माँग की मात्रा पर कम पडता है। उसकी आय म यदि कमी हो जाए या वृद्धि हो जाए तो भी आवश्यकतानुसार उसे एक निश्चित मात्रा म खाद्य सामग्री खरीदनी पडेगी। परन्तु कुछ वस्तुओं के लिए आय लोच अधिक हो सकती है जैसे मोटर कार। प्रायम

परिवर्तन के कारण मोटर कार की माग म बहुत अधिक परिवर्तन हो सकता है। इस प्रकार 'आय लोच यह प्रकट करती है कि, अन्य बातें समान रहने पर उपभोक्ता की आय में परिवर्तन के फलस्वरूप उपभोक्ता की माँग मे क्या परिवर्तन होगा। अन्य बातें समान रहने से आशय यह है कि उपभोक्ता की रुचि," आदत फशन वस्तु के मूल्य सम्बंधित वस्तुओं का मूल्य स्थिर होना। माँग की आय लोच निम्नलिखित प्रकार ज्ञात की जा सकती है

$$\text{1 या माग की आय लोच} = \frac{\text{वस्तु की माँग म आनुपातिक परिवर्तन}}{\text{आय म आनुपातिक परिवर्तन}}$$

माँग की आय लोच ज्ञात करने के लिए, निम्नलिखित सूत्र का प्रयोग किया जाता है

$$e_1 = \frac{\dfrac{Q_2 - Q_1}{Q_2 + Q_1}}{\dfrac{Y_2 - Y_1}{Y_2 + Y_1}}$$

इस सूत्र म Y_2 नई आय तथा Y_1 पुरानी आय को प्रकट करते हैं। Q_1 पुरानी मात्रा तथा Q_2 नई मात्रा (वस्तु) का प्रकट करते है।

उपयुक्त सूत्र द्वारा माँग की आय लोच ज्ञात की जा सकती है। सूत्र स स्पष्ट है कि यदि किसी वस्तु की माँग की आय लाच अधिक होगी तो उपभोक्ता की आय म आनुपातिक परिवर्तन की तुलना म वस्तु की माँग म अधिक वृद्धि होती है। जसे यदि उपभोक्ता की आय म 5% वृद्धि हो तथा इसके फलस्वरूप वस्तु की माँग म 10% वृद्धि हो तो माँग की आय लाच $\frac{10}{5} = 2$ होगी जो यह प्रकट करती है कि माँग की आय लोच ऊची है। (यहाँ यह मान लिया गया है कि वस्तुओं की कीमतें पूववत हैं।) इसी प्रकार यदि उपभोक्ता की आय म 2% वृद्धि होती है तथा वस्तु की माँग म 1% वृद्धि होती है तो माँग की आय लोच $\frac{1}{2} = 5$ होगी। अधिकांश वस्तुओं की माँग की आय लोच धनात्मक (Positive) होती है जो यह प्रकट करती है कि आय बढने पर वस्तु की अधिक मात्रा खरीदी जायगी। जिन वस्तुओं की आय लोच ऋणात्मक (Negative) होती है उन्हें घटिया वस्तुयें (Inferior goods) कहते हैं। माँग की मूल्य लोच की हा तरह माँग की आय लोच भी पाच प्रकार की हो सकती है

(1) **माँग की शून्य आय लोच** (Zero income elasticity of demand) इसका अर्थ यह है कि उपभोक्ता की आय म वृद्धि हो जाने पर भी वस्तु पर कुछ व्यय पहले के समान रहता है अर्थात् यदि उपभोक्ता की मौद्रिक आय म वृद्धि हो जाने भी वस्तु की माँग म कोई वृद्धि नहीं होती है।

(ii) माग की ऋणात्मक आय लोच (Negative income elasticity of demand)   यह उस स्थिति को प्रकट करता है जबकि उपभोक्ता की आय म वद्धि हो जाने पर भी वस्तु पर किय जाने वाले कुल व्यय म कमी होती है अर्थात् यदि उपभोक्ता की मौद्रिक आय म वद्धि हो परन्तु वस्तु की मागी जाने वाली मात्रा म कमी हो जाय। ऐसा घटिया वस्तुओं क सम्बन्ध म होता है।

(iii) माग की इकाई आय लोच (Unitary income elasticity of demand)   इसका अर्थ यह है कि उपभोक्ता अपनी आय का जो भाग आय बढने क पहले खच करता था ठीक वही भाग आय बढन क बाद भी खच करता है।

(iv) माग की आय लोच इकाई से अधिक (Income elasticity of demand greater than unity)   सामान्यतया यह किसी विलासिता सम्बन्धी वस्तु के सम्बन्ध म लागू होता है। यदि उपभोक्ता की आय म वद्धि होन पर वह पहले की अपेक्षा अपनी आय का अधिक प्रतिशत भाग किसी वस्तु पर खच करता है तो वह व्यवस्था माग की इकाई स अधिक आय लोच होगी।

(v) इकाई से कम माग की आय लोच (Income elasticity of demand less than unity)   माग की आय लोच सामान्यतया अनिवाय आवश्यकता सम्बन्धी वस्तुओं म इकाई स कम होती है। उपभोक्ता की मौद्रिक आय म वद्धि होने स यदि वस्तु पर किय जाने वाले व्यय म कम आनुपातिक वद्धि हो तो एसी अवस्था म माग की आय की लोच इकाई स कम होती है। उपभोक्ता पहले अपनी आय का जो प्रतिशत भाग एक वस्तु पर खच करता है आय म वद्धि होने पर उस वस्तु पर कम प्रतिशत भाग खच करता है।

व्यावहारिक रूप म मुख्यत तीन प्रकार की माग की आय लोच का प्रयोग किया जाता है

1 माग की धनात्मक आय लोच (Positive e_i)
2 माग की शून्य आय लोच (Zero e_i)
3 माग की ऋणात्मक आय लोच (Negative e_i)
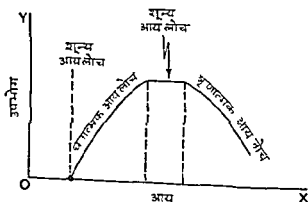
चित्र स० 43

चित्र स० 43 म माँग की विभिन्न ग्राय लोचों को दिखाया गया है।

माँग की ग्राय लोच की स्थिति उपरोक्त चित्र म बहुत कम ग्राय रहने पर कुछ समय तक शून्य होगी। कुछ अधिक ग्राय बढन पर ग्राय का प्रभाव माँग पर पडेगा और लोच धनात्मक होगी। कुछ और ग्राय बढन पर पुन ग्राय का प्रभाव माग पर शून्य हो जायगा। यदि ग्राय म इससे भी अधिक वृद्धि हो जाय तो उपभोक्ता अपने उपभोग का ढग बदल सकता है और माग पर ऋणात्मक प्रभाव पड सकता है।

(3) माग की तिरछी या ग्राडी लोच (Cross Elasticity)

यदि दो स्थानापन्न वस्तुएँ हैं तो उनकी माग परस्पर प्रतिस्पर्धी होगी। *उनकी माग प्रतिस्पर्धी होने के कारण यदि एक वस्तु के मूल्य म वृद्धि होती है तो* दूसरी वस्तु की माग बढ जायगी। एक वस्तु के मूल्य मे परिवतन का दूसरी वस्तु ***के माग पर जो प्रभाव पडता है उसे माग की तिरछी लोच कहते हैं। उदाहरणाथ*** यदि देशी घी के मूल्य म 5/ वृद्धि होने के कारण वनस्पति घी की माग म 10% वृद्धि होती है तो 'तिरछी लोच' इस प्रकार ज्ञात की जायगी।

$$\frac{\frac{100}{5}}{\frac{100}{10}} = \frac{100}{5} \times \frac{10}{100} = 2$$

ग्रत तिरछी लोच = 2 होगी जो यह प्रकट करती है कि घी के मूल्य म कुछ वृद्धि के कारण वनस्पति घी की माग म दुगुनी वृद्धि होगी। *यदि हम उपरोक्त* दो वस्तुओ का क्रमश X व Y मान लें तो तिरछी लोच ज्ञात करने का सूत्र निम्नलिखित होगा

$$\textit{माग की तिरछी लोच} = \frac{\text{X वस्तु की माग म ग्रानुपातिक परिवतन}}{\text{Y वस्तु की कीमत म ग्रानुपातिक परिवतन}}$$

माग की तिरछी लोच ज्ञात करने के लिए ग्राजकल निम्नलिखित सूत्र का प्रयोग किया जाता है।

$$\textit{माँग की तिरछी लोच या } e_x = \frac{\frac{Q_x - Q_{1x}}{Q_x + Q_{1x}}}{\frac{P_y - P_{1y}}{P_y + P_{1y}}}$$

इस सूत्र म P_y तथा P_{1y} स्थानापन्न वस्तु की नई तथा पुरानी कीमतो को प्रकट करते है।

तिरछी लोच द्वारा स्थानापन्न वस्तुओ की निकटता (Closeness) का पता चलता है। किसी वस्तु की बिक्री उस वस्तु की स्थानापन्न वस्तुओ की कीमत से भी प्रभावित होती है। यदि स्थानापन्न वस्तु की कीमत कम है तो विचारणीय

वस्तु की कम मात्रा बची जायगी। यदि माग की तिरछी लाच ऊंचा है, तो इसका कारण यह है कि वस्तुएँ एक दूसरे की नजदीकी स्थानापन्न (Close Substitute) हैं। यदि तिरछी लोच शून्य है तो इसका अर्थ यह है कि वस्तुएँ स्वतन्त्र हैं तथा स्थानापन्न नहीं हैं।

माँग की तिरछी लोच के सम्बन्ध मे प्रमुख बातें

(i) स्थानापन्न वस्तुओं की निकटता या अच्छी स्थानापन्न वस्तुओं की तिरछी लाच धनात्मक या बहुत अधिक होती है। माँग का तिरछी या आडी लोच जितनी अधिक धनात्मक होगी उतनी ही अधिक दो वस्तुएँ परस्पर धनात्मक होगी।

(ii) दो वस्तुयें यदि एक दूसरे की पूर्ण स्थानापन्न वस्तुयें हो तो उनके बीच प्रतिस्थापन का दर समान रहगी। यदि इस परिस्थिति म एक वस्तु की कीमत म परिवतन होता है तो दूसरी वस्तु की प्रतिस्थापन दर अनन्त या असीमित होगी। किन्तु व्यावहारिक जीवन म ऐसी दो वस्तुयें पूर्ण स्थानापन्न वाली नहीं पाइ जाती हैं।

(iii) यदि वस्तुएँ सयुक्त माँग वाली अथवा परस्पर पूरक, जसे—कार-पट्रोल पन स्याही मक्खन रोटी आदि होती है तो माँग की तिरछी लोच ऋणात्मक होती है। माँग की तिरछी लाच का यह ऋणात्मक गुणांक जितना अधिक होगा उतना ही अधिक वह परस्पर पूरक वस्तुओं की अत्यधिक पूरकता का परिचायक होगा।

(iv) यदि तिरछी लाच का गुणांक शून्य (0) होता है, तो इसका आशय यह है कि वे वस्तुयें स्वतन्त्र वस्तुए (independent) हैं व वस्तुए परस्पर पूरक या स्थानापन्न नहीं होती हैं।

माँग की लोच के कुछ अन्य प्रकार भी बतलाय गए हैं। लाच के य प्रकार तटस्थता वक्र विश्लेषण से सम्बन्धित हैं जो इस प्रकार हैं

4 प्रतिस्थापन लोच (Substitution Elasticity)

प्रतिस्थापन लोच तटस्थता वक्र विश्लेषण स सम्बन्धित है। प्रतिस्थापन लोच की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है

यदि उपभोक्ता पहले के समान सन्तुष्टि प्राप्त करना चाहता है तो दिए हुए मूल्य अनुपात के परिवतन के फलस्वरूप एक वस्तु दूसरी वस्तु को जिस सीमा तक प्रतिस्थापित करती है उसे प्रतिस्थापन का लोच कहते हैं। प्रतिस्थापन की प्रक्रिया म वस्तुओं के अनुपात मे परिवर्तन होता है। इस एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए वनस्पति घी तथा शुद्ध घी की दर क्रमश 8 रुपय तथा 16 रुपय प्रति किलोग्राम है। इन कीमतो पर उपभोक्ता 6 किलोग्राम वनस्पति घी तथा 4 किलोग्राम शुद्ध घी खरीदता है। इस प्रकार वनस्पति घी तथा शुद्ध घी को खरीदी जान वाली मात्रा का अनुपात $\frac{6}{4}$ होगा तथा उनका कीमत अनुपात $\frac{8}{16}$ होगा। इस प्रकार वस्तु अनुपात (Commodity ratio) $\frac{3}{2}$ तथा कीमत अनुपात (Price ratio)

$\frac{1}{2}$ होगी। मान लीजिए शुद्ध घी की कीमत बढ़कर 24 रुपये प्रति किलोग्राम हो जाती है तथा वनस्पति घी की कीमत में कोई परिवर्तन नहीं होता है। कीमत में इस परिवर्तन के कारण उपभोक्ता शुद्ध घी का कम प्रयोग करेगा तथा इस कमी की पूर्ति वह अधिक वनस्पति घी खरीद कर करेगा अर्थात् वह शुद्ध घी को वनस्पति घी से प्रतिस्थापित करेगा। यह प्रतिस्थापन किस सीमा तक होगा यह इस बात पर निर्भर है कि शुद्ध घी को वनस्पति घी द्वारा किस सीमा तक प्रतिस्थापित किया जा सकता है। *मान लीजिए वह अब 8 किलोग्राम वनस्पति घी तथा 3 किलोग्राम शुद्ध घी खरीदता है।* अब वनस्पति तथा शुद्ध घी का अनुपात $\frac{8}{3}$ होगा तथा *नया मूल्य अनुपात* $\frac{8}{24}=\frac{1}{3}$ होगा।

ऐसी दशा में प्रतिस्थापन लोच की माप निम्न सूत्र द्वारा की जायगी

$$\text{प्रतिस्थापन लोच} = \frac{\text{X व Y वस्तुओं के प्रयोग अनुपात में आनुपातिक परिवर्तन}}{\text{X व Y वस्तुओं के कीमत-अनुपात में आनुपातिक परिवर्तन}}$$

इस सूत्र के अनुसार वनस्पति घी व शुद्ध घी में आनुपातिक परिवर्तन इस *प्रकार हुआ है—पहले वनस्पति घी व शुद्ध घी का अनुपात $\frac{3}{2}$ था तथा उनका नया* अनुपात $\frac{8}{3}$ है। इस प्रकार इन दोनों में आनुपातिक परिवर्तन का अनुपात $\frac{3}{2}-\frac{8}{3}\div\frac{3}{2}=\frac{7}{9}$।

इसी प्रकार पहले का कीमत अनुपात $\frac{1}{2}$ था तथा नया कीमत अनुपात $\frac{1}{3}$ है। इस प्रकार कीमत अनुपात में आनुपातिक परिवर्तन $=\frac{1}{2}-\frac{1}{3}\div\frac{1}{2}=\frac{1}{3}$ होगा। सूत्र के अनुसार प्रतिस्थापन लोच $=-\frac{7}{9}\div\frac{1}{3}=-\frac{7}{9}\times\frac{3}{1}=\frac{7}{3}$ होगा। (सूत्र के अनुसार प्रतिस्थापन लोच का उत्तर सदैव ऋणात्मक होता है परन्तु सरलता की दृष्टि से ऋण निशान छोड़ दिया जाता है)।[1]

5 **मूल्य प्रत्याशा लोच** (Elasticity of Price Expectations)

मूल्य प्रत्याशा (Price expectations) से माँग कितनी प्रभावित होगी यह मूल्य प्रत्याशा लोच पर निर्भर करती है। लोच का यह विचार 1939 में अंग्रेज अर्थशास्त्री हिक्स (J R Hicks) ने प्रस्तुत किया। मूल्य प्रत्याशा कई कारणों से प्रभावित होती है जैसे राजनैतिक निर्णय वर्तमान तथा नवीन आर्थिक प्रवृत्तियाँ प्रचलित धारणाएं मूल्यों में परिवर्तन सम्बन्धी अनुभव आदि। हिक्स ने मूल्यानुभव *तथा मूल्य प्रत्याशा को एक साथ जोड़ने का प्रयास किया है।*

मूल्य प्रत्याशा लोच वर्तमान मूल्यों में सापेक्षिक परिवर्तन के साथ अनु

---

1 प्रतिस्थापन-लोच का विचार (Concept) कठिन है। स्नातक कक्षाओं के लिये निर्धारित पाठ्यक्रम में इसे सम्मिलित नहीं किया गया है। अतः हमने केवल उदाहरण द्वारा समझाने की चेष्टा की है। गणितीय सूत्र व रेखाचित्र का प्रयोग नहीं किया है।

मानित मूल्यों में सापेक्षिक परिवर्तन का अनुपात है। उदाहरण के लिए एक व्यापारी देखता है कि किसी वस्तु के मूल्यों में 10% वृद्धि हुई है और इस आधार पर वह भविष्य में 20% वृद्धि की आशा करता है तो इस दशा में मूल्य प्रत्याशा लोच 2 हुई। माग की तालिका किसी बाजार में क्रेताओं की मूल्य प्रत्याशा लाच की विभिन्न सीमाएं प्रदर्शित करता है।

अगर मूल्य प्रत्याशा लोच इकाई से ज्यादा है तो मूल्यों में वर्तमान वृद्धि माँग वक्र को दाहिनी तरफ स्थानान्तरित कर देगी। माँग में वृद्धि इसलिए होगी क्योंकि क्रेता भविष्य में और अधिक मूल्य देने की अपेक्षा वर्तमान में अधिक वस्तुएं क्रय करना चाहेंगे। अगर मूल्य प्रत्याशा लाच इकाई से कम या नकारात्मक है तो ऐसी अवस्था में माँग कम हो जायगी। अगर मूल्य प्रत्याशा लाच इकाई के बराबर है तो माँग समान रहेगी इसलिए क्रय योजना परिवर्तित करने की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी।

मूल्य प्रत्याशा लोच

(Elasticity of Price Expectations)

(वर्तमान मूल्य वृद्धि के प्रति क्रेताओं की धारणा)

लोच (Elasticity)	गुणक (Coefficient)[1]	(Remarks)[2]
उच्च (High)	>1	क्रेता भविष्य में बढ़ते हुए मूल्यों की आशा रखते हैं।
इकाई (Unit)	1	क्रेता वर्तमान वृद्धि को अस्थाई मानते हैं।
निम्न (Low)	<1>0	क्रेता वर्तमान वृद्धि को अस्थाई मानते हैं।
शून्य (Zero)	0	क्रेताओं का अनुमान है कि वर्तमान वृद्धि भविष्य में मूल्यों पर कोई प्रभाव नहीं रखती।
नकारात्मक (Negative)	<0	क्रेता वर्तमान वृद्धि की अपेक्षा भविष्य में मूल्यों में गिरावट की धारणा रखते हैं।

1 माना कि अनुमानित मूल्य F है और चालू मूल्य C है तो मूल्य प्रत्याशा लोच का गुणक $\frac{\Delta F}{F} - \frac{\Delta C}{C}$ होगा।

2 यद्यपि विभिन्न क्रेताओं की अलग अलग मूल्य प्रत्याशा लोचें होती हैं। लेकिन उपयुक्त तालिका इस मान्यता पर आधारित है कि बाजार में सभी क्रेताओं की मूल्य प्रत्याशा लोचें समान हैं।

माग की कीमत-लोच की मात्राए या श्रेणिया
(Degrees of Price Elasticity of Demand)

माग की लोच सदव समान नहा होती है। कुछ वस्तुओं की माग की लोच परिस्थिति अनुसार अधिक होती है तथा कुछ की कम होती है। यदि मूल्य परिवतन का किसी वस्तु की माग पर कोई प्रभाव नही पडता है ता उस वस्तु की माग पूण तया बेलोचदार (Inelastic) होती है। इसके विपरीत यदि किसी वस्तु की माग पर मूल्य परिवतन का अत्यधिक प्रभाव पडता है तो उस वस्तु की माग अत्यधिक लोच पूण होती है। व्यावहारिक रूप म सामान्यत य दोनो अवस्थाए नही पाई जाती ह। पूणतया बेलोच (Perfectly Inelastic) तथा अत्यधिक लोचपूण (Perfectly Elastic) के बीच लाच की कई श्रेणियाँ पाई जाती हैं। इस प्रकार लोच की पाँच श्रेणियाँ हो सकती हैं

1 पूणतया लोचदार माग (Perfectly Elastic Demand) जब किसी वस्तु के मूल्य मे बहुत थोडी सी वद्धि होने से उस वस्तु की माग की मात्रा मे अनन्त कमी या मूल्य मे बहुत थोडी कमी होने से माँग में अनन्त वद्धि हो जाती है
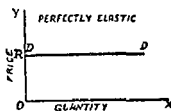
चित्र स० 36

तो ऐसी स्थिति मे माग की लोच पूणतया लोचदार होती है। सामान्यत मूल्य म परिवतन हुए बिना भी माग मे बहुत अधिक परिवतन हो जाता है। रेखाचित्र स० 36 म पूणतया लोचदार माँग वक्र प्रदर्शित किया किया है। इस रखा चित्र म OX अक्ष पर वस्तु की माँग तथा OY अक्ष पर वस्तु के मूल्य को व्यक्त किया गया है। DD माँग वक्र है। OR मूल्य पर ही माग रखा अनन्त हो गई है। पूणतया लोच दार माँग वक्र आधार रेखा OX के समानान्तर होता है।

2 अत्यधिक या सापेक्षतया लोचदार माँग (*Highly or Relatively* Elastic Demand) जब किसी वस्तु के मूल्य मे परिवतन के कारण उसकी माँग में आनुपातिक से अधिक परिवतन होता है तो उस वस्तु की माँग की लोच 'अत्यधिक लोचदार' कही जाती है। जसे यदि किसी वस्तु के मूल्य म 10 कमी होने से
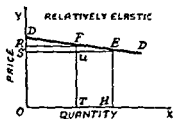
चित्र स० 37

उसकी माग म 25 % वृद्धि हो जाती है (10 स अधिक) तो उस वस्तु की माग अत्यधिक लोचदार कही जाएगी। चित्र स० 37 म 'अत्यधिक लोचदार माग वक्र' दिखलाया गया है। इस रेखाचित्र म DD मांग वक्र अत्यधिक लोचदार मांग की स्थिति को बतलाता है। जबकि कीमत OR थी तो उस समय माग OT थी। किन्तु ज्योही *कीमत घटकर OS हो जाती है तो मांग बढ़कर एकदम OH हो गई।* कीमत म आनुपातिक परिवतन (RS) से मांग म आनुपातिक दर की परिवतन (TH) अधिक है। ऐसी वस्तुओं की मांग की रेखा कम ढालू होती है।

3 लोचदार या एकात्मक लोचदार मांग (Elastic or Unitary Elastic
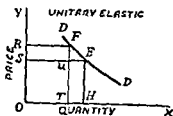
चित्र स० 38

Demand) **जब किसी वस्तु की माग मे मूल्य परिवतन के अनुपात मे परिवतन होता है तो उस वस्तु की मांग को लोचदार मांग कहते हैं** जस किसी वस्तु के मूल्य म 10% कमी होने स उस वस्तु की मांग म ठीक 10 % की वृद्धि हो जाए। एसी मांग की लोच इकाई के बराबर होती है। अत इस एकात्मक लोचदार माग भी कहते हैं। चित्र स० 38 म एसा मांग-वक्र प्रदर्शित किया गया है। इस रेखाचित्र म DD लोचदार मांग वक्र है। इसम OR मूल्य पर मांग OT है। यदि मूल्य कम होकर OS हो जाती है तो मांग बढ़कर OH हो जाती है। इसम मूल्य म आनुपातिक परिवतन RS मांग म आनुपातिक परिवतन TH क समान ही है। लोचदार मांग वक्र मूल्य तथा मांग की आधार रखाओं पर 45° का कोण बनाता है।

4 बेलोच या सापेक्षतया बेलोच माँग (Inelastic or Relatively Inelastic Demand) यदि किसी वस्तु के मूल्य में परिवर्तन के कारण उसकी माँग में बहुत कम परिवर्तन होता है तो ऐसी माँग को बेलोच माँग कहते हैं। सामान्यतः अनिवार्य आवश्यकताओं की वस्तुओं की माँग बेलोचदार या कम लोचदार होती है। इसमें मूल्य-परिवर्तन की अपेक्षा माँग की मात्रा में आनुपातिक परिवर्तन बहुत कम
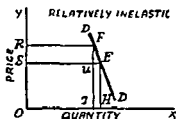
चित्र सं० 39

होता है जैसे मूल्य 50% कम हो जाए तथा माँग की मात्रा केवल 10% हो बढ़े। चित्र सं० 39 में सापेक्षतया बेलोच माँग वक्र प्रदर्शित किया गया है। इस रेखाचित्र में DD माँग वक्र बेलोचदार है। इस पर मूल्य में आनुपातिक परिवर्तन (RS) अधिक होने पर भी माँग में आनुपातिक परिवर्तन (TH) बहुत कम है। बेलोचदार माँग वक्र अधिक ढालू या खड़ी रेखा की तरह होता है। इसे इकाई से कम लोचदार $(e<1)$ माँग भी कहते हैं।

5 पूर्णतया बेलोच माँग (Perfectly Inelastic Demand) यदि किसी वस्तु के मूल्य में बहुत अधिक या अनन्त परिवर्तन होने पर भी उसकी माँग की मात्रा
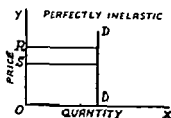
चित्र सं० 40

में कोई परिवर्तन नहीं होता है तो ऐसी माँग को पूर्णतया बेलोच माँग कहते हैं। इस प्रकार की माँग पूर्णतः काल्पनिक होती है। व्यावहारिक जीवन में इस प्रकार की माँग परिलक्षित नहीं होती। चित्र सं० 40 में ऐसी माँग वक्र दिखाया गया है। इस रेखा चित्र में DD माँग वक्र पूर्णतः खड़ी रेखा है। इसमें जब मूल्य OR से घटकर OS हो जाता है तब भी माँग स्थिर रहती है। मूल्य में अत्यधिक परिवर्तन (RS) होने पर भी माँग में आनुपातिक परिवर्तन शून्य है। गणितीय भाषा में पूर्णतः बेलोचदार माँग की माँग की लोच शून्य $(e=0)$ कहा जाता है।

माँग की लोच की उपरोक्त मात्राओं या श्रेणियों को निम्नलिखित गणित के सूत्रों द्वारा भी प्रकट किया जा सकता है

1 पूर्णतया लोचदार (Perfectly Elastic) $(e = \alpha)$
2 अत्यधिक सापेक्षतया लोचदार (Highly Elastic) $(e > 1)$
3 लोचदार या एकात्मक लोचदार (Elastic) $(e = 1)$
4 बेलोच या सापेक्षतया (Inelastic) $(e < 1)$
5 पूर्णतया बेलोच (Perfectly Inelastic) $(e = 0)$

माँग की लोच की इन विभिन्न श्रेणियों का एक साथ एक ही रेखाचित्र में भी बतलाया जा सकता है। जैसा कि चित्र 40A में प्रकट किया गया है
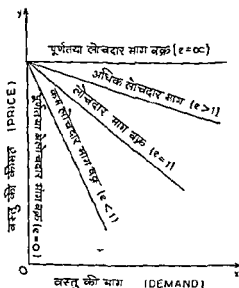
रेखाचित्र स० 40A

माग की लोच मापने की विधियां
(Methods of Measurement of Elasticity)

अर्थशास्त्रियों ने माँग की लोच को मापने की विभिन्न पद्धतियों का उल्लेख किया है। प्रो० फ्लक्स ने जहाँ माँग की लोच को मापने में प्रतिशत रीति का सहारा लिया है वहाँ श्रीमती जान राबिन्सन ने आनुपातिक पद्धति को अपनाया है। प्रो० मार्शल ने माँग की लोच को कुल व्यय विधि से मापा है। इसके साथ ही रेखागणितीय पद्धतियों का भी माँग की लोच को मापने में प्रयोग किया गया है। इस प्रकार माँग की लोच को मापने की मुख्यतः अग्रलिखित विधियों का प्रयोग किया जाता है

1 फ्लक्स की प्रतिशत प्रणाली या आनुपातिक प्रणाली (Flux s Percentage Method or Proportionate Method)।

2 मार्शल की कुल व्यय प्रणाली (Marshall s Total Outlay Method)।

3 बिन्दु लोच प्रणाली (Point Method of Demand)।

4 माग की चाप लोच प्रणाली (Arc Method of Elasticity of Demand)।

1 फ्लक्स की प्रतिशत रीति (Flux s Percentage Method)

फ्लक्स के अनुसार माँग की लोच की माप के लिए माग के प्रतिशत परिवतन मे मूल्य क प्रतिशत परिवतन से भाग देते हैं। फ्लक्स न लोच की माप के लिए निम्नलिखित सूत्र का प्रयोग किया है

$$\text{माग की लोच} = \frac{\text{माग म प्रतिशत परिवतन}}{\text{मूल्य म प्रतिशत परिवतन}}$$

उक्त सूत्र क अनुसार (i) यदि माँग तथा मूल्य म प्रतिशत परिवतन समान हैं तो माग की लोच इकाई (Unity) के बराबर होगी जसे मूल्य मे 10% वद्धि के कारण माँग म 10% की कमी हो जाए (ii) यदि माग मे प्रतिशत परिवतन मूल्य म प्रतिशत परिवतन से अधिक है तो माँग की लोच इकाई से अधिक (More than unity) होगी जस मूल्य म 20% कमी के कारण माँग की मात्रा म 25% वद्धि हो जाए (iii) यदि माग के प्रतिशत परिवतन मूल्य म प्रतिशत परिवतन स कम हो तो माँग की लोच इकाई से कम (Less than unity) होगी जस मूल्य म 20% की कमी क कारण माँग की मात्रा म 15 वद्धि हो जाए।

वास्तव म यह रीति वही है जिस इस अध्याय म लोच को मापने की विधियो म उदाहरण द्वारा समझाया गया है। चाप लोच (Arc elasticity) क अन्तगत जो तीन सूत्र बतलाए गए हैं व सभी आनुपातिक रीति के ही अन्तगत आत है। इसका सामान्य सूत्र निम्नलिखित है

$$\text{माँग की लोच} = \frac{\text{माँग मे आनुपातिक परिवतन}}{\text{कीमत मे आनुपातिक परिवतन}}$$

उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण—

यदि $\frac{\text{माँग में परिवर्तन } 18\%}{\text{मूल्य म परिवर्तन } 9\%} = \frac{2}{1}$ = इकाई स अधिक लोचदार $(e > 1)$

यदि $\frac{\text{माँग में परिवर्तन } 9\%}{\text{मूल्य म परिवतन } 9\%} = \frac{1}{1} = 1$ इकाई क बराबर लोच $(e = 1)$

यदि $\frac{\text{माँग के परिवतन } 9\%}{\text{मूल्य म परिवर्तन } 18\%} = \frac{1}{2}$ = इकाइ स कम लोचदार $(e < 1)$

2 कुल व्यय विधि (*Method of Total Money Outlays*)

इस विधि का प्रतिपादन मार्शल ने किया है। इस विधि द्वारा यह ज्ञात किया जाता है कि माँग की लोच इकाई के बराबर है या इकाई से कम है या इकाई से अधिक है ? (इकाई के सन्दर्भ में लोच ज्ञात करने के कारण इस विधि को मार्शल की इकाई रीति' Marshall s (Unitary Method) भी कहते हैं। इस विधि द्वारा माँग की लोच मापने के लिए वस्तु पर किए गए कुल व्यय (मूल्य परिवर्तन के पूर्व तथा पश्चात) की तुलना की जाती है। निम्नलिखित उदाहरण द्वारा इस विधि का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है

विभिन्न मूल्यों पर माग तथा कुल व्यय

मूल्य प्रति इकाई रु०	प्रथम अवस्था		द्वितीय अवस्था		तृतीय अवस्था	
	माँग की मात्रा	कुल व्यय (रु० में)	माँग की मात्रा	कुल-व्यय (रु० में)	माँग की मात्रा	कुल-व्यय (रु० में)
5	20	100	20	100	20	100
4	25	100	40	160	24	96
3	$33\frac{1}{3}$	100	60	180	27	81

उपरोक्त सारिणी से तीन अवस्थाएं स्पष्ट हैं। तीनों अवस्थाओं में किसी वस्तु का प्रति इकाई मूल्य 5 रु० है तथा इस मूल्य पर माँग की मात्रा 20 रु० है। इसके पश्चात मूल्य घटकर क्रमश 4 रु० व 3 रु० प्रति इकाई हो जाता है। फलस्वरूप माँग बढ़ती है। प्रत्येक अवस्था के दूसरे कालम में कुल व्यय दिखलाया गया है (माँग × मूल्य प्रति इकाई)। इन कुल व्ययों के आधार पर माँग की लोच की माप इस प्रकार की जाएगी

(i) माँग की लोच इकाई के बराबर ($e = 1$) (Elasticity of Demand equal to Unity) यदि मूल्य में परिवर्तन के कारण माँग की मात्रा में इस प्रकार परिवर्तन हो कि कुल व्यय प्रत्येक दशा में समान रहे तो माँग की लोच इकाई के बराबर होगी। उपरोक्त सारिणी के अनुसार, प्रथम अवस्था में मूल्य के घटने पर माँग बढ़कर 25 तथा $33\frac{1}{3}$ हो जाती है। परन्तु कुल व्यय माँग की प्रत्येक मात्रा पर 100 रु० रहता है। अत यहाँ पर माँग की लोच इकाई के बराबर है। (प्रथम बार कुल व्यय की गई रकम से दूसरी बार कुल व्यय की गई रकमों में भाग देने में परिणाम 1 रहता है $\frac{100}{100} = 1$ $\frac{100}{100} = 1$)।

(ii) माँग की लोच इकाई से अधिक ($e > 1$) (Elasticity of Demand more than unity) यदि वस्तु के मूल्य में कमी से माँग इतनी अधिक बढ़ जाए कि कुल व्यय पहले की अपेक्षा अधिक होने लगे, तब माँग की लोच इकाई से अधिक

होगी जसे द्वितीय ग्रवस्था में कुल व्यय 100 रुपए से बढकर 160 रुपए तथा 180 रुपए हो जाता है। यहाँ पर माग की लोच इकाइ से ग्रधिक है।

$$\left(\frac{160}{100} = 1.6 \quad \frac{180}{100} = 1.8\right)$$

(iii) माग की लोच इकाई से कम ($e < 1$) (Elasticity of demand less than unity) यदि वस्तु के मूल्य से कमी होने से माँग मे इस प्रकार वृद्धि हो जिससे कुल व्यय पहले की ग्रपेक्षा कम हो जाए, तो ऐसी ग्रवस्था मे माँग की लोच इकाई से कम होती है। जस तीसरी ग्रवस्था में माग बढ्ने पर कुल व्यय 100 रु० से घटकर 96 रु० तथा 81 रु० हो जाता है। यहा पर माँग की लोच इकाइ से कम है।

$$\left(\frac{96}{100} = .96 \quad \frac{81}{100} = .81\right)$$

रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण यहाँ पर यह ध्यान म रखना चाहिए कि खरीदार व्यय करता है। जो कुछ खरीदार व्यय करता है विक्रेता की वही कुल ग्राय (Total Revenue or TR) है। ग्रत यदि हम कुल व्यय या कुल ग्राय की बात करें तो वस्तुत दानो एक ही हैं। उपयुक्त विवरण के जो निष्कष हैं उन्हे रेखाचित्र द्वारा भी प्रदर्शित किया जा सकता है। चित्र सख्या 41 में माग वक्र इस प्रकार का है जिससे OM = MT यदि हम बिन्दु A से माँग वक्र पर नीचे की ग्रोर चलें तो जहाँ पर ME रेखा माँग रेखा को स्पश करती है ग्रर्थात बिन्दु E तक (यद्यपि माँग की लोच घटती जा रही है) लोच एक से ग्रधिक है। ग्रत इस बिन्दु तक कुल ग्राय (TR) बढ्ती जा रही है। यदि हम इससे भी नीचे की ग्रार चलें तो लोच घटती
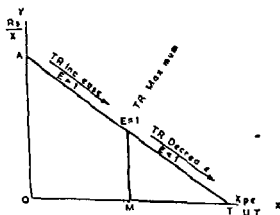
चित्र स 41

जाती है तथा एक से कम रहती है। अतः कुल आय (TR) घटेगी। इसका अर्थ यह हुआ कि जहाँ पर लोच एक के बराबर है वहाँ पर कुल आय अधिकतम है।

ऐसा भी माँग वक्र हो सकता है जिसके प्रत्येक बिन्दु पर माँग की लोच इकाई हो। ऐसी दशा में कीमत बढ़ाई जाए या घटाई जाए कुल-व्यय (या कुल आय)
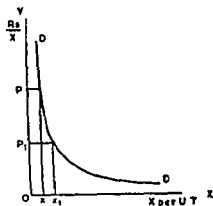
चित्र संख्या 42

समान रहेगा। ऐसा माँग वक्र चित्र संख्या 42 में प्रदर्शित किया गया है। चित्र में DD माँग वक्र ऐसा माँग वक्र है जिसके प्रत्येक बिन्दु पर लोच इकाई है। चित्र से स्पष्ट है कि OP कीमत पर OX मात्रा खरीदी जाती है। इस प्रकार कुल आय ऊँचे आयत के बराबर प्राप्त होती है। यदि कीमत घटाकर OP_1 कर दी जाती है तब OX_1 मात्रा खरीदी जाती है। इस प्रकार जो आयत बनता है उसका क्षेत्रफल, प्रथम आयत के बिल्कुल बराबर है। इससे यह स्पष्ट है कि कीमत कुछ भी हो कुल-व्यय वही रहता।

3 बिन्दु लोच प्रणाली (Point Method)

जब वस्तु के मूल्य में बहुत ही सूक्ष्म परिवर्तन हों तो ऐसी परिस्थिति में परिवर्तन की दर बहुत कम होगी। ऐसी स्थिति में माँग वक्र के किसी बिन्दु पर माँग की लोच ज्ञात करना अधिक उपयुक्त रहता है जिसका कारण यह है कि माँग वक्र के विभिन्न बिन्दुओं पर माँग की लोच भिन्न भिन्न होती है। इसके लिए बिन्दु लोच प्रणाली को अपनाया जाता है।

व्यावहारिक जीवन में हम जानते हैं कि वस्तुओं की कीमतें बड़ी कम मात्राओं में बदलती हैं। किसी वस्तु की कीमत आधा पैसा एक पैसा दो पैसा या कुछ पैसा से बढ़ना या घटना साधारण बात है। यदि मूल्य में इस प्रकार के परिवर्तन बहुत ही कम दर से होते हैं तो ऐसी दशा में हम माँग रेखा के किसी एक बिन्दु पर, माँग की लोच ज्ञात करनी पड़ती है। यह कहा जा सकता है कि बिन्दु लोच एक प्रकार की

चाप लोच है जबकि चाप के दो बिन्दुओं के बीच की दूरी शून्य हो जाती है। जब माग रेखा के एक बिन्दु पर लोच ज्ञात की जाती है तब उस बिन्दु लोच कहते हैं। माग रेखा भी शक्ल के अनुसार दो प्रकार की हो सकती है—प्रथम **सीधी मांग रेखा** (Linear Demand) तथा दूसरा **वक्र** (Curve) के रूप में। इन दोनों दशाओं में मांग की बिन्दु लोच ज्ञात करने की निम्नलिखित विधियाँ हैं जो **मार्शल** ने बतलाई है

1 जब माग रेखा सीधी हो

मांग रेखा के विभिन्न बिन्दुओं पर माग की लोच समान नहीं होती है। **मार्शल** ने माग वक्र के विभिन्न बिन्दुओं पर लोच मापने की अलग विधि बतलाई है। इस विधि को रेखाचित्र द्वारा स्पष्ट किया गया है। चित्र में DD' एक सीधी
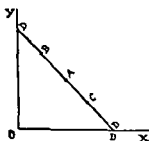
चित्र स० 43

मांग रेखा है जो OX अक्ष तथा OY अक्ष पर D व D' बिन्दु पर मिलती है। DD रेखा पर मध्य बिन्दु A है अर्थात् DA = AD। लोच ज्ञात करने के लिए इस सूत्र का प्रयोग किया जाता है

$$\text{किसी बिन्दु पर मांग की लोच} = \frac{\text{वक्र पर किसी* बिन्दु से D तक की दूरी}}{\text{उसी* बिन्दु के D तक की दूरी}}$$

बिन्दु A वक्र के मध्य में है। अत A बिन्दु पर मांग की लोच $= \frac{AD'}{AD} = 1$ होगी। इसी प्रकार—

B बिन्दु पर माग की लोच $= \frac{BD}{BD}$ तथा

C बिन्दु पर मांग की लोच $= \frac{CD}{CD}$

* जिस बिन्दु पर हम मांग की लोच ज्ञात करना चाहते हैं।

यदि हम माँग रेखा की लम्बाई को हम ध्यान में रखें तो मध्य बिन्दु (A) स नीचे क प्रत्येक बिन्दु पर माँग की लोच इकाई स कम होगी तथा मध्य बिन्दु स ऊपर के प्रत्येक बिन्दु पर माँग की लोच इकाई स अधिक होगी।

सख्यात्मक परिमाण के आधार पर माँग की लोच के तीन भेद किए जा सकते हैं (i) जब लोच की मात्रा एक स अधिक होती है तब माँग को लोचदार (elastic) कहते हैं (ii) जब लोच की मात्रा एक होती है तब उसे इकाई लोच (unitary elastic) कहते हैं तथा (iii) जब लोच की मात्रा एक स कम होता है तब उसे बेलोच (inelastic) कहते हैं। चित्र सख्या 34 म इसे स्पष्ट किया गया है।
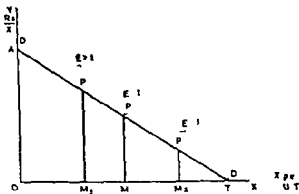
चित्र सख्या 44

DD माँग रेखा है। P बिन्दु माँग रेखा पर एस स्थान पर स्थित है जिसम PD = PD या OM = MT। अत बिन्दु P पर माँग की लोच इकाई (unitary) होगा। माँग रेखा पर P बिन्दु स ऊपर की ओर जितने भी बिन्दु लिए जाएँगे, प्रत्येक बिन्दु पर माँग की लोच एक स अधिक होगी जैसे P_1 बिन्दु पर। यदि ऊपर बढ़ते जाए तो बिन्दु A पर लोच infinity (∞) हो जाएगी। इस प्रकार P बिन्दु स माँग वक्र पर नीचे के सभी बिन्दुओं पर लोच एक स कम होगी जैसे P_2 बिन्दु पर। यदि हम आगे बढ़ते जाए तो बिन्दु T पर माँग की लोच शून्य हो जाएगी।

माँग रेखा सीधी न होने पर

रेखाचित्र स० 44 म माँग वक्र को DD द्वारा प्रकट किया गया है। सामान्यतया माँग वक्र सीधी रेखा के रूप म नहीं होता है। यदि माँग वक्र सीधी रेखा क रूप म नहीं है तो भी हम उक्त सूत्र द्वारा माँग वक्र के किसी बिन्दु पर लोच का नाप सकते हैं। ऐसी अवस्था म हम जिस बिन्दु स माँग की लोच नाप करना चाहते हैं उस बिन्दु स माँग वक्र पर स्पर्श रेखा (Tangent) खीचते हैं। यहाँ पर चित्र द्वारा यह विधि स्पष्ट की गई है।

चित्र म DD माँग वक्र है जिसके A तथा A बिन्दुग्रा A पर माग की लोच ज्ञात करना है। A तथा A बिन्दुग्रा पर माँग वक्र की स्पश रेखाएँ क्रमश PQ' तथा PQ खाची गई हैं। A बिन्दु की स्पश रेखा OX तथा OY को क्रमश Q व P
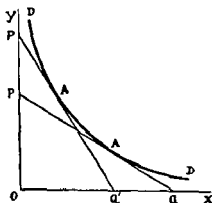
चित्र सख्या 45

बिन्दुग्रो पर काटती है तथा A बिन्दु की स्पश रेखा OX तथा OY को क्रमश Q व P बिन्दुग्रा पर काटती है। सूत्र के ग्रनुसार

A बिन्दु पर माँग की लोच $= \frac{AQ}{AP}$

A बिन्दु पर माग की लोच $= \frac{AQ}{AP}$

चित्र स स्पष्ट है कि A बिन्दु पर माग की लाच A बिन्दु की ग्रपेक्षा ग्रधिक है।

बिन्दु लाच ज्ञात करन म एक ग्रार विधि का भी प्रयोग किया जाता है जिसे चलन कलन प्रणाली (Differential Calculus Method) कहा जाता है। इसम लाच का निम्न सूत्र प्रयाग म लिया जाता ह

$$e_p = \frac{dx}{dp} \quad \frac{p}{x} \left(\frac{dx}{dp} = \frac{\triangle x}{\triangle p} \text{ as } \triangle P \to o \right.$$

ग्रर्थात् $\triangle P$ शून्य की तरफ जाने पर

$$\left. \frac{\triangle x}{\triangle P} = \frac{dx}{dp} \right)$$

इन विधियां द्वारा लोच ज्ञात करने को ज्यामितिक विधि (Geometric Technique) भी कहते हैं। इन्हे मार्शल की बिन्दु विधि' भी कहते हैं।

माँग की चाप लोच
(Arc Elasticity)

जब माँग की लोच माँग रेखा के दो बिन्दुओं के बीच ज्ञात की जाती है तो उसे माँग की चाप लोच (Arc Elasticity) कहते हैं। जब माँग रेखा के किसी एक बिन्दु पर लोच ज्ञात की जाती है तो उसे बिन्दु लोच (Point Elasticity) कहते हैं। इन दोनों प्रकार की लोचों को ज्ञात करने की अलग-अलग विधियाँ हैं।

चाप लोच ज्ञात करने की आवश्यकता — सामान्य रूप से हम पूरी माँग रेखा की लोच ज्ञात करते हैं और यह ज्ञात करते हैं कि किसी वस्तु की माँग पर मूल्य परिवर्तन का क्या प्रभाव पड़ता है। परन्तु इससे विभिन्न दशाओं में पाई जाने वाली वास्तविक स्थिति का पता नहीं चलता है क्योंकि किसी वस्तु की माँग कुछ मूल्य क्षेत्रों (Price Ranges) पर लोचदार (Elastic) हो सकती है तथा कुछ मूल्य-क्षेत्रों पर बेलोचदार (Inelastic)। इसी प्रकार लोच की मात्राएँ (Degrees of elasticity) भी एक मूल्य क्षेत्र से दूसरे मूल्य क्षेत्र पर अलग अलग हो सकती हैं। चित्र संख्या 38 इन तथ्यों को प्रकाश में लाती है।
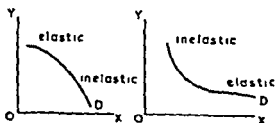
चित्र सं० 38

प्रथम चित्र में ऊँचे मूल्यों पर माँग लोचदार है तथा कम मूल्यों पर बेलोचदार है। दूसरे चित्र में ठीक इसकी विपरीत स्थिति है। व्यावहारिक रूप से इन दोनों प्रकार की माँग रेखाएँ पाई जा सकती हैं। एक ही माँग रेखा के विभिन्न भागों की लोच अलग अलग हो सकती है। इसलिए माँग रेखा के अलग अलग भागों की लोच ज्ञात करना व्यावहारिक दृष्टि से आवश्यक हो जाता है। माँग रेखा पर किन्हीं दो बिन्दुओं के बीच की लोच को चाप लोच कहते हैं।

(2) चाप लोच क्या है ? चाप लोच माग रेखा के एक चाप अर्थात् दो बिन्दुओं के बीच की दूरी मालूम करने के लिए ज्ञात करते हैं जैसे पृ स 371 पर चित्र संख्या 39 में DD माग रेखा पर A व B के बीच माँग की लोच। चाप लोच दो मूल्यों और मात्राओं के एक क्षेत्र (Range) से सम्बन्धित है। जैसे यदि कीमत सौ रुपये प्रति मन है तो चावल की माग 1000 मन है। यदि कीमत घट कर 90 रुपये प्रति मन हो जाए तो माग बढ़कर 1200 मन हो जाती है। यदि हम 90-100 रुपये (Price Range) के लिए माग की मात्राओं के आधार पर माग की लोच ज्ञात करें तो उसे चाप लोच कहेंगे। चाप किसी वक्र के एक भाग को कहते हैं। अतः चाप लोच का अर्थ है माग रेखा के एक भाग के सम्बन्ध में लोच ज्ञात करना। चाप लोच माग रेखा पर दो बिन्दुओं के बीच मध्य बिन्दु पर माँग की लोच बतलाती है (Arc elasticity is the elasticity at the mid point of an arc of a demand)। जब हम माँग रेखा के दो बिन्दुओं के बीच चलते हैं (जैसे पृष्ठ 371 पर चित्र स० 39 में DD रेखा पर A व B बिन्दु) तो इनके बीच बहुत सी माग रेखाएं खींची जा सकती हैं जिनकी वक्रता (Curvature) में विभिन्नताएं होंगी।

अतः हम जब दो बिन्दुओं के बीच लोच या चाप लोच ज्ञात करते हैं तो लोच समूचे चाप से गुजरने वाली माग रेखाओं की लोचों का औसत होती है।

(3) चाप लोच ज्ञात करने के तरीके (Methods of calculating Arc Elasticity) चाप लोच प्रणाली के अन्तर्गत नवीन तथा प्राचीन मूल्य एवं माग के औसत आधार पर माग की लोच निकाली जाती है। चाप लोच ज्ञात करने के लिए तीन निम्नलिखित सूत्रों का प्रयोग किया जाता है

(1) **पहला सूत्र** (First Formula) हम यह जानते हैं कि माग की लोच माग में आनुपातिक परिवर्तन तथा कीमत में आनुपातिक परिवर्तन का अनुपात है। बीजगणित (Algebra) की भाषा में हम कह सकते हैं

$$e = \frac{\frac{\Delta X}{X}}{\frac{\Delta P}{P}}$$

(e = माग की लोच ΔX मात्रा में परिवर्तन ΔP कीमत में परिवर्तन) चित्र संख्या 39 में OX-अक्ष पर खरीदी जाने वाली वस्तु की मात्रा तथा OY अक्ष पर कीमत प्रदर्शित की गई है। OP कीमत पर OX_1 मात्रा खरीदी जा रही है। कीमत घट कर OP से OP_1 हो जाती है तब खरीदी की मात्रा OX से बढ़कर OX_1 हो जाती है। Δ (डेल्टा) कमी या वृद्धि को प्रकट करता है। इस प्रकार ΔX वस्तु की

बढ़ी हुई मात्रा तथा $-\Delta P$ कीमत में हुई कमी को प्रकट करता है। इस प्रकार वस्तु की मात्रा में ΔX परिवर्तन तथा कीमत में $-\Delta P$ परिवर्तन हुआ है। DD
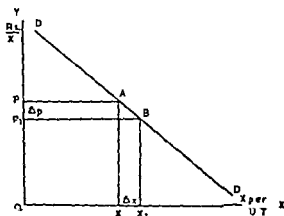
चित्र सं० 39

माँग वक्र है। OP_1 कीमत पर हम माँग वक्र के बिन्दु B पर हैं तथा OP कीमत पर बिन्दु A पर हैं।

एक उदाहरण द्वारा हम उपरोक्त सूत्र के आधार पर चाप लोच स्पष्ट कर सकते हैं।

मान लीजिए चित्र से सम्बन्धित संख्याएँ निम्नलिखित हैं

	P = (कीमत रुपया में)	X = मात्रा मनों में
बिन्दु A पर	100	1000
बिन्दु B पर	90	1200

(क) यदि हम माँग वक्र पर बिन्दु A से बिन्दु B पर आएँ तथा यदि हम सूत्र के प्रयुक्त अक्षरों के स्थान पर संख्याएँ लिख दें तो

$$e = \frac{\frac{\Delta X}{X} = \frac{200}{1000}}{\frac{-\Delta P}{P} = \frac{-10}{100}} = \frac{200}{1000} \times \frac{100}{-10} = -2$$

(ख) यदि हम बिन्दु B से A पर आएँ अर्थात् मान लें कि पहले 90 रु० प्रति मन कीमत पर माँग 1200 मन थी। कीमत बढ़कर 100 रुपये हो जाती है तो माँग घटकर 1000 मन हो जाती है। ऐसी स्थिति में—

$$e = \frac{\frac{\triangle X}{X} = \frac{-200}{1200}}{\frac{\triangle P}{P} - \frac{90}{10}} = \frac{-200}{1200} \times \frac{90}{10} = -1\ 5$$

पहली अवस्था म माग की लोच —2 तथा दूसरी अवस्था म —1 5 है। हम यह ध्यान म रखना चाहिए जब कि हम A से B बिन्दु की ओर तथा B बिन्दु से A बिन्दु की ओर जाते हैं तो इन दो दशाओ म माग की लोच म अन्तर पाया जाता है। इसका कारण यह है कि इन दो दशाओ म मात्रा तथा कीमत के प्रतिशत परिवतनो म अन्तर है।

(ii) **दूसरा सूत्र** (Second Formula) उपयुक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि दोना दशाओ म माग की लोच म पर्याप्त अन्तर है। दोनो बिन्दु एक-दूसरे से जितने ही दूर होग चाप लोच म उतना ही अधिक अन्तर पाया जायगा। अत उपयुक्त सूत्र का प्रयोग उसी समय करना चाहिए **जबकि दोनों बिन्दु एक दूसरे के निकट हो। जब हम बिन्दु A से प्रारम्भ करते हैं तथा फिर बिन्दु B से प्रारम्भ करते हैं तो परिणाम मे बहुत अन्तर पाया जाता है। यही उपयुक्त सूत्र का दोष है।**

अत पहले सूत्र के दोषो स बचने के लिए अन्य सूत्र का प्रयोग किया जाता है जो निम्नलिखित है

$$e = \frac{\frac{\triangle X}{X}}{\frac{\triangle P}{P_1}} = \frac{200}{1000} - \frac{-10}{90} = \frac{200}{1000} \times \frac{90}{-10} = -1\ 8$$

यहाँ पर P_1 दोनो मूल्यो म से कम मूल्य को तथा X दोनो मात्राओ म से कम मात्रा को प्रकट करते हैं। माँग की लोच A और B बिन्दुओ के बीच ज्ञात की गई है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि पहले सूत्र के अनुसार A स B बिन्दु तथा B स A बिन्दु के बीच की माँग की लोच क्रमश 2 व -1 5 थी। दूसरे सूत्र के अनुसार A तथा B बिन्दुओ के बीच माग की लोच -1 8 = जो दोनो के औसत के लगभग है। अत दूसरा सूत्र अधिक विश्वासनीय है। (विद्यार्थियो का यह ध्यान रखना चाहिए कि माँग की लोच ऋण (—) म आती है क्योकि कीमत तथा मात्रा म विपरीत दिशाओ म परिवतन होता है। **परन्तु जब हम माँग की लोच की मात्रा की बात करते हैं तो चिन्ह (—) पर ध्यान नहीं दिया जाता है)** ।

(iii) **तीसरा सूत्र** (Third Formula) माँग की चाप लोच मालूम करने के लिए अन्य सूत्र का भी प्रयोग किया जाता है जो अग्रलिखित हैं

$$e = \frac{\frac{X-X_1}{X+X_1}}{\frac{P-P_1}{P+P_1}}$$

इस सूत्र में उपर्युक्त उदाहरण की संख्या प्रतिस्थापित करने पर

$$e_p = \frac{\frac{1000-1200}{1000+1200}}{\frac{100-90}{100+90}}$$

$$e_p = \frac{\frac{-200}{2200}}{\frac{10}{190}} = \frac{-200}{2200} \times \frac{190}{10} = -1\ 7 \text{ अथवा } 1\ 7$$

इस प्रकार यहाँ माँग की लोच इकाई से अधिक है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ऋणात्मक चिह्न की यहाँ उपेक्षा कर दी जाती है क्योंकि माँग की लोच हमेशा ऋणात्मक ही होती है। इस सूची की एक यह भी विशेषता है कि यदि हम A से B तथा B से A की ओर चलें तो इस प्रकार की जो माँग की लोच होगी वह भी औसतन लगभग – 1 7 के ही बराबर होगी।

माँग की लोच को प्रभावित करने वाले तत्व
(Factors Governing Elasticity)

विभिन्न वस्तुओं की माँग की लोच विभिन्न प्रकार की होती है। किसी वस्तु की माँग अधिक लोचदार होती है, तो किसी वस्तु की कम। वस्तुतः किसी वस्तु की माँग की लोच अनेक घटकों से प्रभावित होती है जिसका विवरण इस प्रकार है

1 वस्तु की प्रकृति (Nature of the commodity) सामान्यतया अनिवार्यताओं (Necessaries) की माँग की लोच कम होती है तथा विलासिताओं (Luxuries) की माँग की लोच अधिक होती है। आराम प्रदान करने वाली वस्तुओं (Comforts) की माँग न तो अधिक लोचदार होती है और न लोचहीन। अनिवार्यताओं के बिना मानव जीवन दुष्कर हो जाता है। उनके बिना काम नहीं चलाया जा सकता। अतः उनके मूल्य में वृद्धि होने पर भी माँग पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। परन्तु आरामदायक वस्तुओं के बिना व्यक्ति जीवित रह सकता है तथा अपनी कार्यक्षमता बनाए रख सकता है। उदाहरणार्थ गेहूँ चावल दाल नमक आदि पर मूल्य परिवर्तन का कोई प्रभाव नहीं होता। इसके विपरीत बढ़िया वस्त्र सूनार टेलीविजन आदि की माँग पर मूल्य-परिवर्तन का काफी प्रभाव पड़ता है।

हालाकि वस्तु की प्रकृति माग की लोच का काफी सीमा तक प्रभावित करती ह किन्तु फिर भी यह नही कहा जा सकता कि विलासिताग्रा का माग हमेशा ही लोचदार होती है तथा अनिवायताओं की माग बेलोचदार होती है। यह तो इस बात पर निभर करती है कि उपभोक्ता अपनी आय का कौन सा भाग वस्तु विशेष पर व्यय करता है।

2 **समय तत्त्व** (Time element) अल्प काल म किसी वस्तु के मूल्य म परिवतन का उसकी माग पर कम प्रभाव पडता है क्योकि उपभोक्ताओ को मूल्य परिवतन की जानकारी तुरन्त नही हो पाती। भविष्य म मूल्य मे और कमी की आशा के कारण भी उपभोक्ता मूल्य म कमी होने पर माँग मे वद्धि नही करते।

3 **उपभोक्ता की आय** (Income level of consum r) एक निधन व्यक्ति की माग अधिकाश वस्तुओ के लिए अधिक लोचदार होती है। इसके विपरीत एक धनी व्यक्ति की माँग कम लोचदार होती ह। इसके साथ ही साथ यह भी स्मरणीय ह कि यदि उपभोक्ता की आय का कम भाग किसी वस्तु के खरीदने म व्यय किया जाता ह तो उस वस्तु की माग कम लोचदार होती ह। इसके विपरीत यदि उपभोक्ता की आय का बडा भाग किसी वस्तु के खरीदने के लिए व्यय किया जाता ह तो उस वस्तु की माग अधिक लोचदार होगी।

4 **उपभोक्ता की आदत** (Habit of the consumer) जिन वस्तुओ के उपभोग करने की आदत पड जाती ह उन वस्तुओ की माग कम लोचदार होती ह जैसे शराब पीने वाले व्यक्ति के लिए शराब के मूल्य म वद्धि का उसकी माग पर बहुत कम प्रभाव पडेगा क्योकि शराब के बिना वह अपना जीवन नीरस समझता ह।

5 **स्थानापन्न वस्तुए** (Substitutes) यदि किसी वस्तु की कई स्थानापन्न वस्तुए हैं तो उस वस्तु की माँग लोचदार होगी क्योकि उस वस्तु के मूल्य म यदि थोडी भी कमी हो जायेगी तो लोग इसकी स्थानापन्न वस्तुओ का उपयोग कम कर इसी को अधिक मात्रा म क्रय करना आरम्भ कर देंगे जिससे इसकी माँग बढ जायगी। उदाहरणाथ चाय और काफी एक दूसरे की स्थानापन्न है। यदि काफी की कीमत बढ जाती ह तो चाय द्वारा काम चलाया जा सकता ह। इस प्रकार काफी का मूल्य बढने पर काफी की माँग बहुत कम हो जाएगी।

6 **वस्तु के विभिन्न उपयोग** (Variety of uses) यदि कोई वस्तु विभिन्न कार्यों म लाई जा सकती ह तो उसकी माग अधिक लोचदार होगी। जैसे बिजली यदि सस्ती दर पर दी जाने लगे तो उसका विभिन्न कार्यों जैसे मशीन चलाने रेडियो बजाने रसोई बनाने कमरा गम करने आदि के लिए उपयोग होने के कारण बिजली की माँग बढ जाएगी। जिस वस्तु का प्रयोग केवल एक काय के लिए किया जाता ह उसकी माँग कम लोचदार होती ह।

किन्तु सम्भव है कि इस प्रकार की वस्तु की माग कुछ प्रयोगो म बेलोचदार तथा कुछ म लोचदार हो। उदाहरणार्थ कोयल का प्रयोग रेल परिवहन तथा खाना बनाने म होता ह। अब कोयले के मूल्य म वृद्धि होने पर रेल परिवहन म तो माग उतनी ही रहती ह किन्तु खाना बनाने म इसकी माग कम हो जावेगी।

7 वस्तु के प्रयोग को स्थगित करना (Possibility of postponement) जिन वस्तुओ का प्रयोग भविष्य के लिए स्थगित किया जा सकता ह उनकी माग अधिक लोचदार होती है। जसे यदि शीतोष्ण जलवायु वाले देश म ऊनी कपडो का मूल्य बहुत अधिक बढ जाता है तो उनकी माग बहुत कम हो जाएगी क्योकि लोग सूती कपडे या पुराने ऊनी कपडे से अपना काम चला लेंगे।

8 सयुक्त माग (Joint Demand) यदि किसी वस्तु का उपयोग अन्य वस्तु के साथ किया जाता है तो उस वस्तु की माग का लोच कुछ अशो म उस अन्य वस्तु की माग का लोच पर निर्भर होगी। एक वस्तु की माग बढने पर उसकी पूरक वस्तु की माग स्वत बढ जाएगी। जसे मोटरो की माग बढने पर पट्रोल की माग स्वत बढ जाएगी। अत एक दूसरे की पूरक वस्तुओ की माग की लोच अधिक होती है।

9 समाज मे धन का वितरण (Distribution of wealth in society) धन का समान वितरण होने पर वस्तुओ की माग अधिक लोचदार होगी तथा असमान वितरण से माग की लोच कम होगी। असमान वितरण होने से समाज म दो वर्ग होगे—धनी तथा गरीब। धनी व्यक्तियो की माग (विलासिता-सम्बन्धी वस्तुओ की) कम लोचदार होती है। दूसरी ओर गरीब व्यक्ति केवल अनिवार्यताओ को ही खरीदते है। अनिवार्यताओ की माग बहुत कम लोचदार होती है। सक्षप म असमान वितरण पर माग कम लोचदार तथा समान वितरण पर माग लोचदार होगी।

10 वस्तु पर व्यय की मात्रा (Amount of expenditure) उपभोक्ता को जिन वस्तुओ पर अपनी आय का बडा भाग व्यय करना पडता है उनकी माग की लोच उतनी ही अधिक होने की सम्भावना रहती है। इसके विपरीत जिन वस्तुओ पर उपभोक्ता को अपनी आय का कम भाग व्यय करना पडता है उनकी माग की लोच कम लोचदार या बेलोचदार होगी। उदाहरणार्थ सूई धागा दिया-सलाई आदि पर आय का बहुत कम भाग व्यय किया जाता है। अत इनकी माग कम लोचदार होगी।

11 उपभोग पर प्रतिबन्ध (Restriction on consumption) जिन वस्तुओ के उपभोग पर प्रतिबन्ध होता है उन्हे निश्चित मात्रा म क्रय न किए जा सकने के कारण उनकी माग कम लोचदार होती है।

12 वस्तुओं के मूल्य स्तर (Price Level) वस्तुओं का मूल्य बहुत ऊँचा या बहुत कम होने पर भी उनकी माँग की लोच कम होती है। परन्तु मूल्य-स्तर का माँग की लोच पर प्रभाव पूरे समाज की माँग तथा वर्ग विशेष की माँग पर अलग अलग पडता है—(i) समाज की सामूहिक माग समूचे समाज की माग बहुत ऊँची अथवा कम कीमत वाली वस्तुओं के लिए कम लोचदार होती है क्योंकि बहुत ऊची कीमत की वस्तुएँ धनी लोग खरीदते हैं। इसी प्रकार बहुत कम कीमत वाली वस्तुएँ सभी लोग खरीदेंगे। सस्ती वस्तुओं की माँग की लोच पर भी मूल्य म थोडे परिवतन का कम प्रभाव पडगा।

(ii) वग विशेष की माग कीमत का समाज के किसी वग विशेष की माग की लोच पर मार्शल के अनुसार इस प्रकार प्रभाव पडेगा माँग की लोच ऊँची कीमतों पर अधिक होती है तथा मध्यम कीमतों पर अधिक या काफी अधिक होती हैं परन्तु कीमत म गिरावट के साथ यह (लोच) कम होती जाती है। यदि कीमत इतनी तेजी म गिरती है कि पूण सन्तुष्टि की दशा आ जाए तब यह (लोच) पूणतया समाप्त हो जाती है।

इस प्रकार उपयुक्त विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि माँग की लोच को प्रभावित करने वाले अनेक घटक हैं। इन तत्त्वों पर सामूहिक रूप से भी प्रभाव पडता है जिनमे यदि कुछ तत्त्व माँग की लोच को बढाते हैं तो कुछ तत्त्व माँग की लोच म कमी लाते है। इस प्रकार किसी भी वस्तु की माग की लोच क्या होगी ? यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता।

माग की लोच का महत्त्व
(Importance of Elasticity of Demand)

माग की लोच का विचार व्यावसायिक फर्मों के मूल्य निर्णयों तथा सरकार द्वारा मूल्य नियन्त्रण की दशा म महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। माग की लोच का विचार मुद्रा के अवमूल्यन के फलस्वरूप निर्यातों से होने वाली आय पर प्रभाव को समझने म सहयोग देता है। यह राजकोषीय नीति म भी अत्यन्त उपयोगी है। इससे अर्थशास्त्र के अनेक सिद्धान्तों तथा समस्याओं की व्याख्या करने म सहयोग मिलता है। इस प्रकार माँग की लोच का विचार अथशास्त्र म सैद्धान्तिक व व्यावहारिक दोनों ही दृष्टिकोणों से महत्त्वपूर्ण है। इसकी मुख्य उपयोगिताए निम्न हैं

I सैद्धान्तिक महत्त्व (Theoretical Importance)

माँग की लोच का सैद्धान्तिक महत्त्व भी अत्यधिक है। यह अथशास्त्र के अनेक सिद्धान्तों की तथा समस्याओं की व्याख्या करने के लिए विश्लेषण के साधन के रूप म प्रयुक्त की जाती है। सवप्रथम मूल्य निर्धारण विशेषकर अपूर्ण प्रतियोगिता तथा एकाधिकार के अन्तगत के सिद्धान्त म माँग की लोच के विचार का अत्यधिक महत्त्व है। माँग की लोच का विचार उस दशा की व्याख्या करने म

सहायक है जिसमें एकाधिकारी द्वारा कीमत विभेद लाभदायक होगा। एकाधिकारी शक्ति के अंश का मापन में भी मूल्य लोच सहायक होता है।

माँग लोच के विचार का दूसरा सैद्धान्तिक महत्त्व यह है कि प्रति मूल्य लोच के आधार पर ही वस्तुएँ स्थानापन्न या पूरक के रूप में वर्गीकृत की जाती हैं। प्रति मूल्य-लोच का आशय अन्य वस्तु की कीमत में आपेक्ष परिवर्तन होने से एक वस्तु की माँगी गई मात्रा में आपेक्ष परिवर्तन से है।

माँग की लोच के विचार का अन्य सैद्धान्तिक महत्त्व यह है कि इसका प्रयोग उत्पादन शुल्क तथा बिक्री कर जैसे अप्रत्यक्ष करों के कर भार की व्याख्या करने में भी किया जाता है।

II माँग की लोच का व्यावहारिक महत्त्व (Practical Importance)

माँग की लोच का व्यावहारिक महत्त्व इस प्रकार है

1. मूल्य निर्धारण में महत्त्व किसी वस्तु का मूल्य उसकी माँग व पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है। किन्तु किसी वस्तु की पूर्ति में वृद्धि या कमी पर वस्तु के मूल्य में कितनी वृद्धि या कमी होगी यह बात माँग की लोच पर निर्भर करती है। यदि वस्तु की माँग बेलोचदार हुई तो पूर्ति में वृद्धि या कमी का मूल्य पर आनुपातिक प्रभाव पड़ेगा। इसी प्रकार एकाधिकार (Monopoly) के अन्तर्गत बेलोचदार माँग वाली वस्तुओं के सम्बन्ध में एकाधिकारी अधिक मूल्य वसूल करने में सफल हो जायगा।

2. सरकारी आर्थिक व वित्तीय नीतियों के लिए माँग की लोच का विचार सरकार को आर्थिक व वित्तीय नीतियाँ निर्धारित करने में सहायता पहुँचाता है। वधानिक मूल्य नियन्त्रण के समय सरकार को माँग की लोच के विचार को ध्यान में रखना पड़ता है। कर लगाते समय सरकार को यह भी देखना पड़ता है कि उसका भार समाज के कौन से वर्ग पर पड़ेगा? यदि बेलोचदार माँग वाली वस्तुओं पर कर लगाया गया तो सरकार को इच्छित आय प्राप्त हो जायगी लेकिन लोचदार माँग वाली वस्तुओं की दशा में ऐसा सम्भव नहीं है।

3. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में दो देशों के मध्य व्यापारिक शर्तें निर्धारित करने में माँग की लोच का सिद्धान्त बहुत महत्त्वपूर्ण है। एक देश की वस्तु का दूसरे देश की वस्तुओं के साथ किस दर पर विनिमय किया जायगा यह बात दोनों देशों में उन वस्तुओं की पारस्परिक लोच (Mutual elasticity) पर निर्भर करती है।

4. विनिमय दर के निर्धारण में माँग की लोच का विचार सरकार को विनिमय दर के निर्धारण में सहायता पहुँचाता है। उदाहरण के लिए, अपनी देश की मुद्रा का अवमूल्यन (Devaluation) और पुनर्मूल्यन (Revaluation) करते समय आयात व निर्यात की लोच को ध्यान में रखना पड़ता है।

5 उत्पत्ति के साधनो का प्रतिफल निर्धारित करने मे माग की लोच का विचार उत्पत्ति के साधनों का प्रतिफल निर्धारित करने के निर्णय का भी प्रभावित करता है। अगर किसी उद्योग विशेष मे श्रम (Labour) की माग बेलोचदार है और स्वचालन (Automation) के लिए कोई क्षेत्र न हो तो ऐसी दशा मे श्रमिक सघ (Trade Unions) अधिक मजदूरी तय कराने मे सफल हो जायेंगे। यही बात अन्य प्रसाधनो के साथ लागू होती है।

6 कीमत विभेद के लिए दो अलग अलग बाजारो मे एक ही वस्तु के अलग अलग मूल्य निर्धारित करते समय माँग की लोच को ध्यान मे रखना पडेगा। इसी प्रकार राशिपातन के समय यह विचार बहुत सहायक सिद्ध होता है।

7 किसी उद्योग को सार्वजनिक महत्त्व (Public Utility) वाला उद्योग घोषित करना कौन से उद्योग को सार्वजनिक सेवा घोषित किया जाए यह निर्णय लेने मे माँग की लोच का विचार सहायक सिद्ध होता है। यदि जीवनोपयोगी वस्तु जिसकी माग बेलोचदार है किसी एकाधिकारी के नियन्त्रण मे है तो ऐसी वस्तु के उत्पादन व व्यापार को सरकार को अपने हाथ मे ले लेना चाहिए।

8 परिवहन की भाड़े की दर निश्चित करने मे प्रयोग यदि कोई वस्तु ऐसी है जिसके परिवहन की माग लोचदार है तो परिवहन भाडे की दर कम रखी जावेगी और यदि बेलोचदार है तो ऊची दर निश्चित की जायगी। अन्य शब्दो मे परिवहन वस्तु के भाडे की दर उतनी ही तय की जाती है जितनी कि वह वस्तु वहन कर सके।

9 माग की लोच का सिद्धान्त सम्पन्नता के मध्य दरिद्रता के विरोधाभास को स्पष्ट करता है। अधिक अच्छी फसल तुलनात्मक रूप मे बुरी फसल की अपेक्षा कृषकों को कम प्रतिफल प्रदान करती है। नष्ट होने वाली वस्तुओ (Perishable Commodity) के सम्बन्ध मे यह बात अधिक अच्छी तरह स्पष्ट होती है।

इस प्रकार माग की लोच का विचार सैद्धान्तिक व व्यावहारिक दोनो ही दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण है।

माग की लोच तथा क्रमागत उपयोगिता ह्रास नियम

(Elasticity of Demand and the Law of Diminishing Utility)

माँग की लोच और क्रमागत उपयोगिता ह्रास नियम मे घनिष्ट सम्बन्ध पाया जाता है। क्रमागत उपयोगिता ह्रास नियम यह बतलाता है कि किसी वस्तु की पूर्ति बढने के साथ ही सीमान्त उपयोगिता घटने लगती है तथा पूर्ति मे कमी होने के साथ ही सीमान्त उपयोगिता बढ़ती है। किन्तु सभी प्रकार की वस्तुओ की सीमान्त उपयोगिता मे घटने की दर समान नही होती है। अनिवार्य वस्तुओ जैसे नमक आदि से शीघ्र सन्तुष्टि प्राप्त हो जाने के कारण सीमान्त उपयोगिता शीघ्र ही घट जाती है। इनके मूल्यो मे कितना ही परिवर्तन क्यो न हो इनकी माँग मे परिवर्तन नही होता। अत इनकी माँग बेलोचदार होती है।

इसके विपरीत आरामदायक तथा विलासिताओं की वस्तुओं से शीघ्र सन्तुष्टि प्राप्त न होने के कारण उनकी सीमान्त उपयोगिता में धीरे धीरे कमी होती है। इनके मूल्यों में मामूली सी कमी हो जाने पर ही इनकी माँग में काफी वृद्धि हो जाती है तथा मूल्यों में थोड़ी सी बढ़ोतरी होने पर इनकी माँग अत्यधिक कम हो जाती है। अतः ऐसी वस्तुओं की माँग लोचदार होती है।

इस प्रकार उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिन वस्तुओं से शीघ्र सन्तुष्टि मिल जाती है उन वस्तुओं की उपयोगिता शीघ्र गिर जाती है और उनकी माँग बेलोचदार होती है तथा जिन वस्तुओं में शीघ्र सन्तुष्टि नहीं मिलती उनकी उपयोगिता धीरे धीरे गिरती है और उनकी माँग लोचदार होती है। इस प्रकार क्रमागत उपयोगिता ह्रास नियम और माँग की लोच में घनिष्ट सम्बन्ध पाया जाता है।

माँग की लोच तथा उपभोक्ता की बचत

(Elasticity of Demand and Consumer's Surplus)

उपभोक्ता की बचत पर माँग की लोच का भी प्रभाव पड़ता है। उन वस्तुओं से उपभोक्ता को अधिक बचत प्राप्त होती है जिनकी माँग कम लोचदार होती है। इसके विपरीत जिन वस्तुओं की माँग लोचदार या अधिक लोचदार होती है उपभोक्ता को कम बचत प्राप्त होती है। अनिवार्य आवश्यकताओं जैसे अनाज, नमक, दियासलाई का मूल्य प्रायः नीचा होता है और उपभोक्ता इनके लिए अधिक मूल्य चुकाने को तत्पर रहता है जबकि वास्तविक मूल्य कम चुकाता है। अतः इनसे उपभोक्ता को अधिक बचत प्राप्त होती है और इनकी माँग लोच बेलोचदार या कम लोचदार होती है। इसके विपरीत विलासिताओं की वस्तुओं का मूल्य ऊँचा रहता है जिससे उपभोक्ता को कम बचत प्राप्त होती है और इनकी माँग की लोच भी लोचदार होता है। इस प्रकार माँग की लोच उपभोक्ता की बचत को प्रभावित करती है।

प्रश्न तथा संकेत

1 माँग की लोच क्या है? आप उसे कैसे मापेंगे? बताइए कि विभिन्न आयों पर माँग की लोच किस प्रकार परिवर्तित होती है?

What is the elasticity of demand? How is it measured? Explain how the elasticity of demand changes at the various levels of income

[संकेत—सर्वप्रथम माँग की लोच के अर्थ को स्पष्ट कीजिए। इसके पश्चात् इसके मापन की विभिन्न विधियों की विवेचना कीजिए। अन्त में माँग की लोच पर आय के परिवर्तन के प्रभाव को स्पष्ट कीजिए।]

2 माँग की लोच कैसे मापी जाती है? एकाधिकारी मूल्य निर्धारण में माँग की लोच का महत्त्व समझाइए।

How is elasticity of demand measured ? Explain the importance of elasticity of demand in the determination of monopoly price

[संकेत—प्रश्न के दूसरे भाग के उत्तर के लिए एकाधिकार सम्बन्धी अध्याय देखिए।]

3 कीमत लोच (Price elasticity) तथा आय लोच (Income elasticity) में अन्तर स्पष्ट कीजिए तथा कीमत लोच को मापने की विभिन्न विधियाँ बताइए।

Distinguish between price elasticity and income elasticity Discuss the main methods adopted to measure the elasticity of price

[संकेत—दोनों का अन्तर स्पष्ट करिए तथा लोच मापने की विधियों को समझाइए।]

4 माँग की लोच क्या है ? निम्न अंक तालिका की सहायता से तीनों परिस्थितियों में माँग की लोच निकालिए तथा यह समझाइए कि उनमें अन्तर क्यों है ?

	प्रति इकाई मूल्य (रुपयों में)	माँग की मात्रा (किलो ग्राम में)
परिस्थिति 1	10	30
	8	36
परिस्थिति 2	10	30
	8	35
परिस्थिति 3	10	30
	8	38

What is elasticity of demand ? Find out the elasticity of demand with the help of following table ? Why is the difference among them ? Explain

	Per Unit Price (in Rupees)	Amount of Demand (in Kilogram)
Stage I	10	30
	8	36
Stage II	10	30
	8	35
Stage III	10	30
	8	38

[सकेत—प्रथम भाग म मांग की लोच के ग्राशय को स्पष्ट कीजिए। द्वितीय भाग म माँग की लाच का मापन की ग्रानुपातिक रीति की व्याख्या कीजिए। ग्रन्त म ताना दशाग्रो म $\frac{Q-Q_1}{Q+Q_1} \Big/ \frac{P-P_1}{P+P_1}$ के प्रयोग म उत्तर निकालिए।]

5 माग की नाच मापन के विभिन्न तरीकों का विवरण दीजिए। क्या माँग वक्र की गहरी ढाल उसकी लोच का सूचक है ? यदि हा, तो क्यों ?

Discuss the main methods adopted to measure the elasticity of demand Is the steepness of demand curve indicator of elasticity ? Why ?

6 माँग की लाच का सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम तथा उपभोक्ता की बचत स सम्बन्ध बताइये।

Explain the relation of elasticity of demand with the Law of Diminishing Utility and Consumer s Surplus

7 माँग की लाच का निर्धारित करने वाले घटकों का उल्लेख कीजिए।

Describe the determinant factors of elasticity of demand

8 लाच की विभिन्न श्रेणियाँ क्या हैं ?

What are the various degrees of elasticity ?

समस्याएँ
(Problems)

1 ग्रक्टूबर, 1967 का माउण्ट ट्रामपोर्ट कारपोरेशन न मार्ग भाड़ा किसी निश्चित दूरी क लिए 25 रु० स 30 रु० कर दिया। एक महीने की ग्रवधि म व्यापार की मात्रा (Volume of business) 20 58 000 रुपय स घटकर 19 25 000 रुपय हो गई।

(ग्र) यह मानत हुए कि व्यापार की मात्रा म सम्पूर्ण गिरावट मूल्य-वृद्धि क कारण हुई है माँग की लाच निर्धारित कीजिए।

(ब) यह मान्यता ग्रधिक वास्तविक क्या नहीं है ?

2 क्या नाबदार वस्तु की दशा म किसी वस्तु पर किया जान वाला कुल व्यय मूल्य म वद्धि या कमी स घटता-बढ़ता है ? यदि एसा है, तो क्या ?

3 किसी वस्तु के मूल्य म परिवतन स उसकी माँग की लाच परिवतन क तुरन्त बाद की ग्रपेक्षा दीघकाल म ग्रधिक क्या होती है ? स्पष्ट कीजिए।

4 किन दशाग्रो म तिरछी लोच (Cross Elasticity) ऋणात्मक, धनात्मक ग्रौर बहुत ग्रधिक (Very High) होती है ?

5 यदि किसी वस्तु की मूल्य लोच (Price Elasticity) कम है तो उसकी ग्राय की लोच (Income Elasticity) भी कम होगी। क्यों ?

6 किसी वस्तु के भविष्य में मूल्य गिरने की धारणा का उस वस्तु की चालू माग पर क्या प्रभाव पडेगा ? विभिन्न प्रकार की लोचो की मान्यता के ग्राधार पर इसे स्पष्ट कीजिए।

7 यदि एक व्यक्ति जिसकी मासिक ग्राय 1 000 रुपये है एक सप्ताह में 4 किलोग्राम घी खरीदता है और जब उसकी ग्राय 1 200 रुपये हो जाती है तो वह 5 किलोग्राम घी प्रति सप्ताह खरीदने लगता है। ऐसी स्थिति में ग्राय की लोच क्या होगी ?

8 ग्राम का भाव 2 रुपये से बढकर 2 रुपये 50 पसे प्रति किलोग्राम हो जाने पर एक व्यक्ति अगूर का उपभोग 1 किलोग्राम से बढाकर 1 50 किलोग्राम कर देता है। बताइए तिरछी लोच क्या होगी ?

17

पूर्ति, पूर्ति का नियम तथा पूर्ति लोच

(Supply Law of Supply and Elasticity of Supply)

> The behaviour of producers (businessmen) in making available quantities of want satisfying goods and services assumes a vital economic significance
>
> —A L Gillow

पूर्ति का अर्थ
(Meaning of Supply)

पूर्ति का अर्थ किसी वस्तु अथवा सेवा की उस मात्रा से है जो उत्पादकों द्वारा एक समय विशेष में विभिन्न मूल्यों पर बाजार में बिक्री के लिए प्रस्तुत की जाती है। मेयर्स (Meyers) के अनुसार, "हम पूर्ति को किसी वस्तु की उन मात्राओं की सूची के रूप में परिभाषित कर सकते हैं जो किसी समय विशेष पर अथवा किसी समय विशेष जैसे एक दिन एक सप्ताह आदि, में जिसमें पूर्ति की दशाएं यथावत रहती हैं सभी सम्भव मूल्यों पर विक्रय के लिए प्रस्तुत की जाएगी।"[1]

पूर्ति की उपर्युक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि मांग की गयी मात्रा की तरह पूर्ति की मात्रा भी मूल्य का फलन (Function) है। मांग की तरह यह भी समय तथा मूल्य के साथ परिवर्तित होती है। वस्तुतः पूर्ति माल के स्टॉक से भिन्न है। पूर्ति का अभिप्राय किसी वस्तु की उस मात्रा से है जो बाजार में बिक्री के लिए वास्तव में लायी जाती है परन्तु स्टॉक का अर्थ वस्तु की उस मात्रा से है जो बिक्री के लिए अल्पावधि की सूचना पर बाजार में प्रस्तुत की जा सकती है।

प्रो० बेनहम के अनुसार पूर्ति का तात्पर्य वस्तु की उस मात्रा से लगाया

---

1 We may define supply as a schedule of the amount of a goods that would be offered for sale at all possible prices at any one instant of time or during any one period of time for example a day a week and so on in which the conditions of supply remain the same

—Meyers

जाता है जो प्रति समय इकाई में बिक्री के लिए उपलब्ध है।[1]

इस प्रकार पूर्ति से आशय उस मात्रा से है जो उत्पादक या विक्रेता किसी समय एक निश्चित मूल्य पर बेचने को तैयार होता है।

पूर्ति का नियम
(The Law of Supply)

माग के सामान्य नियम की तरह पूर्ति का सामान्य नियम भी वस्तु तथा सेवा की मात्रा तथा उसके मूल्य के फलनीय सम्बन्ध (Functional Relationship) को प्रकट करता है। माग तथा पूर्ति के सामान्य नियमों में आधारभूत अन्तर यह है कि जबकि मूल्य कम होने पर माग की मात्रा में वृद्धि होती है पूर्ति की मात्रा मूल्य में वृद्धि होने पर बढती है। इस प्रकार **पूर्ति का सामान्य नियम यह बतलाता है कि मूल्य अधिक होने पर पूर्ति की मात्रा अधिक होगी तथा मूल्य कम होने पर पूर्ति की मात्रा कम होगी।**

पूर्ति का नियम मूल्य तथा मात्रा के मध्य सकारात्मक सम्बन्ध (Positive Relation) निर्धारित करता है। इसका कारण यह है कि किसी वस्तु की पूर्ति उस मूल्य पर निर्भर है जो उत्पादक उसके लिए प्राप्त कर सकते हैं। उत्पादकों द्वारा अधिक मात्रा में वस्तु का उत्पादन किए जाने पर उत्पादन-लागत बढती है (सामान्यत)। अत अधिक मूल्य प्राप्त होने पर ही उत्पादक अधिक मात्रा में वस्तुओं का उत्पादन कर सकते हैं। यदि मूल्य में वृद्धि होती है तो उत्पादन अधिक लाभकारी होता है और पूर्ति में भी वृद्धि होती है। इसके विपरीत यदि मूल्य में कमी होती है तो अतिरिक्त उत्पादन लागत न मिलने के कारण उत्पादन लागत कम हो जाती है जिसके फलस्वरूप पूर्ति की मात्रा में कमी आ जाती है।

पूर्ति के नियम की मान्यताएं
(Assumptions of the Law of Supply)

माँग के नियम की भांति पूर्ति का नियम भी कुछ मान्यताओं पर निर्भर करता है। अन्य बातें स्थिर रहें वाक्य इस नियम की मान्यताओं को ही स्पष्ट करता है। ये मान्यताएं निम्नलिखित हैं

1. उत्पत्ति के साधनों के मूल्य यथावत् रहने चाहिए।
2. क्रेताओं तथा विक्रेताओं की आय स्थिर रहे।
3. उनकी रुचि तथा वरीयता भी स्थिर रहना चाहिए।
4. उत्पादकों एवं विक्रेताओं के तकनीकी ज्ञान में वृद्धि नहीं होनी चाहिए।
5. वस्तु के मूल्य में अधिक परिवर्तन की आशंका न हो।
6. वस्तु की मूल्य में थोड़े परिवर्तन भी पूर्ति में परिवर्तन लाते हैं।

---

2 "Supply may mean also the amount offered for sale per unit of time
—*Benham*

पूर्ति के नियम के लागू होने के कारण
(Reasons for Application of the Law)

इस नियम के लागू होने के कारण निम्न है

1 मूल्य वृद्धि कीमतो म वृद्धि से उत्पादको तथा विक्रेताओ को अधिक लाभ मिलता है जिसस वे पूर्ति बढाते हैं।

2 नवीन उत्पादको का प्रवेश कम मूल्य की स्थिति म जो उत्पादक वस्तुओ का उत्पादन ही नहा करत थ व उस उत्पादन का बाजार म पूर्ति बढाने म समथ हो जात है।

3 दीर्घकाल मे पूर्ति माँग के अनुरूप हो सकती है किन्तु अल्प काल म नही।

4 मूल्य घटने पर उत्पादको तथा विक्रेताओ को हानि होती है या लाभ कम हो जाते हैं। अत व वस्तु की पूर्ति घटा देते हैं।

इस प्रकार मूल्यो म वृद्धि या कमी के परिणामस्वरूप उत्पादको तथा विक्रेताओ का होन वाल लाभ की मात्रा म परिवतन ही इस नियम के क्रियाशील होने का प्रमुख कारण है।

पूर्ति के नियम के अपवाद
(Exceptions to the Law of Supply)

कुछ विशेष परिस्थितियो म यह नियम लागू नही होता जिनका विवेचन इस प्रकार है

1 भविष्य मे मूल्य मे अधिक वृद्धि या कमी की सम्भावना होने पर यह नियम क्रियाशील नही होगा।

2 कलात्मक वस्तुओं की पूर्ति कीमत क घटन या बढन पर नहा घटती बढ़ती है।

3 नीलामी की वस्तुओं की पूर्ति पर भी मूल्य परिवतन का प्रभाव नही होता है।

4 विकासशील देशों मे श्रम-पूर्ति भी अनक प्रकार से पूर्ति क नियम का अपवाद बन जाती है।

5 कृषि पदार्थों की पूर्ति (बाढ अकाल क समय) मूल्य परिवतनो स प्रभावित नहा होती।

पूर्ति के निर्धारक तत्त्व
(Determinants of Supply)

लिप्से (Lipsey)[1] क अनुसार किसी वस्तु की वह मात्रा जिसका उत्पादक उत्पादन तथा विक्रय करना चाहगे, निम्नलिखित बातो पर निभर है

(1) वस्तु विशेष क मूल्य का प्रभाव अन्य बातो क समान रहन पर किसी वस्तु का मूल्य जितना ही अधिक होगा, उस वस्तु का उत्पादन उतना ही अधिक लाभप्रद होगा। अत मूल्य अधिक होन पर पूर्ति भी अधिक होगी।

---

1 Richard G Lipsey An Introduction to Positive Economics pp 68 69

(2) **अन्य वस्तुओं के मूल्यों का प्रभाव** किसी वस्तु की पूर्ति अन्य वस्तुओं के मूल्यों से प्रभावित होती है। सामान्यत अन्य वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि के फलस्वरूप उत्पादक उस वस्तु के उत्पादन के लिए पहले की तरह प्रोत्साहित नहीं होते जिसके मूल्य में वृद्धि नहीं होती। अत अन्य बातों के समान रहने पर अन्य वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि होने पर किसी ऐसी वस्तु की पूर्ति जिसका मूल्य अपरिवर्तित है कम होगी।

(3) **उत्पादन साधनों के मूल्यों का प्रभाव** उत्पादन के किसी साधन के मूल्य में वृद्धि होने पर यदि वस्तु विशेष के उत्पादन में उस साधन को अधिक मात्रा में प्रयोग में लाया जाता है तो उस वस्तु की उत्पादन लागत में अधिक वृद्धि हो जाती है। इसके विपरीत यदि उस साधन का प्रयोग कम होना है तो उत्पादन लागत में कम वृद्धि होती है। उदाहरणार्थ भूमि के मूल्य में वृद्धि होने पर उसका प्रभाव गेहूँ के उत्पादन पर अधिक पड़ेगा जबकि मोटर गाडियों की उत्पादन लागत पर बहुत ही कम प्रभाव पड़ेगा। इस प्रकार उत्पादन के किसी एक साधन का मूल्य परिवर्तन उत्पादन की विभिन्न दिशाओं की सापेक्ष लाभकारिता (Relative Profitability) में भी परिवर्तन लायगी। परिणामस्वरूप उत्पादक एक उत्पादन दिशा से किसी अन्य दिशा की ओर अग्रसर होने लगेंगे। इस प्रकार विभिन्न वस्तुओं की पूर्ति में भी परिवर्तन होने लगेंगे।

(4) **उत्पादन की तकनीकी विधि में परिवर्तन** उत्पादन की वतमान विधियों में तकनीकी विकास होने पर चाहे उत्पादित वस्तु का मूल्य अपरिवर्तित ही क्यों न रहे उत्पादक उत्पादन की मात्रा बढ़ाने तथा उसे बेचने के लिए प्रेरित होते है।

(5) **उत्पादकों की रुचियों का प्रभाव** किसी वस्तु की उत्पादन मात्रा में उत्पादकों की रुचियों पर निर्भर है। यदि उत्पादक किसी वस्तु विशेष के उत्पादन में ही विशेष रुचि लेते हैं तथा किसी अन्य वस्तु के उत्पादन के प्रति अनिच्छुक होते है तो यह स्वाभाविक है कि उत्पादकों द्वारा प्रथम वस्तु का उत्पादन अधिक मात्रा में किया जायगा।

पूर्ति की सूची
(Supply Schedule)

एक ऐसी तालिका जो विभिन्न मूल्यों पर किसी वस्तु की पूर्ति मात्रा को व्यक्त करती है पूर्ति की सूची कहलाती है। इस सूची का निर्माण करते समय यह मान लिया जाता है कि पूर्ति को प्रभावित करने वाले अन्य तत्त्व अपरिवर्तित रहते हैं। यदि इस प्रकार की तालिका एक विक्रेता द्वारा विभिन्न मूल्यों पर प्रस्तुत की जाने वाली वस्तु की मात्राओं में तयार की जाती है तो उसे **व्यक्तिगत पूर्ति सूची** (Individuals Supply Sch dule) कहा जाता है। किसी वस्तु बाजार में विभिन्न उत्पादक विक्रेताओं द्वारा बिक्री के लिए प्रस्तुत की गई मात्राओं के योग से

तयार की गयी तालिका बाजार की पूर्ति सूची (*Supply Schedule of the Market*) कहलाती है। एक व्यक्तिगत पूर्ति सूची नीचे दी जा रही है

पूर्ति सूची

मूल्य (प्रति इकाई) रु०	पूर्ति (व्यक्तिगत विक्रेता द्वारा) इकाइयाँ	समस्त विक्रेताओं द्वारा
6		1 200
5	10	1 000
4	8	800
3	6	600
2	4	400
1	2	200

उपर्युक्त सूची से स्पष्ट है कि जब प्रति इकाई मूल्य 6 रु० है तो व्यक्तिगत उत्पादक अथवा विक्रेता बाजार में 12 इकाइयाँ बेचने के लिए प्रस्तुत करता है। *बाजार-पूर्ति को व्यक्त करने वाले खाने (Column 3) को देखने पर भी यह स्पष्ट* है कि अधिकतम मूल्य (6 रु०) पर अधिकांश उत्पादक अधिकतम मात्रा में (1,200 इकाइयाँ) वस्तु की पूर्ति करते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वे उत्पादक जो अभी तक इस वस्तु विशेष के उत्पादन में संलग्न नहीं थे अब लाभ प्राप्त करने की आशा में उसके उत्पादन एवं पूर्ति में संलग्न हो गये हैं। उपर्युक्त सूची से यह भी ज्ञात होता है कि मूल्य के गिरने पर पूर्ति की मात्रा घटती जाती है। यहाँ तक कि जब मूल्य घट कर 1 रुपया हो जाता है तब पूर्ति की मात्रा न्यूनतम अर्थात् 200 इकाइयाँ ही रह जाती है। इसका अर्थ यह है कि बहुत से उत्पादक इस मूल्य पर अपने उत्पादन-व्यय की पूर्ति करने में असमर्थ हैं। अतः उन्होंने वस्तु विशेष का उत्पादन करना स्थगित कर दिया है, जिससे बाजार में उस वस्तु की मात्रा कम हो गयी है।

पूर्ति वक्र
(Supply Curve)

पूर्ति के अन्य निर्धारक तत्वों के समान रहने पर मूल्य व पूर्ति की मात्रा के मध्य सम्बन्ध को प्रदर्शित करने वाला वक्र पूर्ति वक्र कहलाता है।[1] सैम्युएलसन

---

1 The supply curve shows the relationship between price and quantity supplied under the assumption that the other determinants of supply are constant

—*Fergusson Kreps*

के अनुसार पूर्ति सूची या पूर्ति वक्र का तात्पय उस सम्बन्ध से है जो बाजार मूल्य तथा उन मात्राओं के जिनकी पूर्ति उत्पादक करने के लिए तत्पर हैं मध्य होता है।[1] पूर्ति सूची से समकों का रेखाचित्र में अंकित करने पर पूर्ति वक्र (SS) नीचे दिए गए चित्र स० 40 के अनुसार होगा। OX अक्ष वस्तु की मात्राएँ तथा OY अक्ष प्रति इकाई मूल्य व्यक्त करता है। पूर्ति वक्र को देखने पर ज्ञात होता है कि सामान्यत उसका ढाल (Slope) ऊपर की ओर दक्षिण पश्चिम से उत्तर पूर्व को दाहिनी तरफ होता है (Normally ri es upward and to the right from south west to north east)। इसका कारण यह है कि जैसे-जैसे वस्तु के प्रति इकाई (Quantity) बाजार मूल्य में वृद्धि होती जाती है वैसे वैसे उत्पादक पूर्ति की मात्राओं को बढ़ाता जाता है। एक रुपया प्रति इकाई मूल्य पर वह केवल वस्तु की इकाइयां बेचने के लिए तत्पर होता है परन्तु जब बाजार मूल्य 4 5 अथवा 6 रुपया प्रति इकाई हो जाता है तब वह बाजार में क्रमश 8 10 या 12 इकाइयां प्रस्तुत करने के लिए तत्पर होता है।

व्यक्तिगत उत्पादक फर्म का पूर्ति वक्र यह प्रदर्शित करता है कि यह विभिन्न मूल्यों पर वस्तु की कितनी मात्राएं बेचने के लिए तत्पर है। **बाजार पूर्ति वक्र** (Market Supply Curve or Supply Curve of an Industry) यह प्रदर्शित
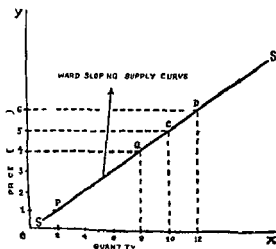
चित्र स० 40

करता है कि विभिन्न मूल्यों पर किसी उद्योग में लगी उत्पादक फर्मों द्वारा बिक्री के

1 By the Supply Schedule or Curve is meant the relation between market price and the amounts that producers are willing to supply
—*Samuelson*

वस्तु का उत्पादन करने के लिए विभिन्न उत्पादनकारी इकाइयों द्वारा उत्पादन मात्रा पर किए जाने वाले कुल व्यय की धनराशियाँ भी अलग अलग होती हैं। उत्पादन-लागत भिन्न होने के कारण ही प्रति इकाई औसत कुल लागत तथा सीमान्त लागत भी भिन्न होती हैं। उत्पादन मूल्य (Product Price) कम होने पर अकुशल इकाइयाँ उत्पादन करना बन्द कर देती हैं। मूल्य के सीमान्त लागत के तुल्य या उससे अधिक होने पर अकुशल इकाइयाँ भी अपनी कार्यक्षमता में वृद्धि करने में समर्थ हो जाती हैं। अतः यह स्पष्ट है कि कुल उत्पादन तथा बिक्री के लिए प्रस्तुत की गयी उत्पादन की मात्रा और उत्पादन मूल्य में परिवर्तनों का प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। पूर्ति का नियम भी इसी तथ्य [illegible] [illegible] है क्योंकि यह स्थिति सामान्यतया अल्पावधि पूर्ति के सम्बन्ध में पायी जाती है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि अल्प अवधि में कुल पूर्ति में विस्तार उसी समय सम्भव हो सकता है जबकि प्रत्येक फर्म अधिकतम लाभ की आशा में अपनी उत्पादन मात्रा का विस्तार करे। यही कारण है कि **अल्पअवधि में व्यक्तिगत फर्म का सीमान्त लागत-वक्र** (Marginal co t curve) **उसका पूर्ति वक्र** (Supply curve) **भी होता है।** अतः सम्पूर्ण उद्योग विशेष के अल्पावधि पूर्ति-वक्र (Short run supply-curve) उद्योग में संलग्न समस्त फर्मों द्वारा प्रत्येक सीमान्त-लागत स्तर पर वस्तु की उत्पत्ति मात्राओं का जोड़ कर ज्ञात किया जाता है। वस्तुतः पूर्ति-वक्र के सम्बन्ध में यह स्थिति अल्प अवधि तथा पूर्ण स्पर्द्धा में पायी जाती है क्योंकि लाभ में अधिकतम वृद्धि के अन्तर्गत यह सिद्धान्त निहित है कि सीमान्त लागत सीमान्त आय के बराबर होनी है। चूँकि एक पूर्ण प्रति स्पर्द्धी फर्म (Perfectly competitive firm) को असीमित लोचदार माँग-वक्र (Infinit-ly ela tic d mand curv-) के अनुसार अपनी पूर्ति को समायोजित करना पड़ता है क्योंकि सीमान्त आय बाजार मूल्य के बराबर होती है। अतः यह स्पष्ट है कि यदि फर्म अधिकतम लाभ प्राप्त करती है तो सीमान्त लागत भी बराबर होती है।

(iii) **दीर्घ अवधि में** (In th long run) दीर्घ अवधि में उत्पादन मान (Scale of production) में परिवर्तन करना सम्भव होता है। मितव्ययिताओं अथवा अमितव्ययिताओं के कारण पूर्ति मूल्य ह्रासमान (Decreasing) वर्द्धमान (Increasing) या समान (Con tant) हो सकता है। निर्माणकारी उद्योगों को आन्तरिक तथा बाह्य मितव्ययिताओं की सुविधाएँ उत्पादन मात्रा में विस्तार के कारण प्राप्त होती हैं। इन उद्योगों के दीर्घकालीन पूर्ति वक्र का झुकाव नीचे की ओर नीचे की तरफ होगा। कृषि उद्योग में उत्पादन की मात्रा में वृद्धि करने पर अनेक अमितव्ययिताओं के कारण पूर्ति वक्र का झुकाव ऊपर की ओर दायीं तरफ होगा। कुछ अन्य उद्योगों में मितव्ययिताओं तथा अमितव्ययिताओं के सन्तुलित हो जाने पर उनका पूर्ति वक्र उत्पादन अक्ष (Output axis) के समानान्तर होगा।

दीर्घकाल मे उद्योग म संलग्न फम उत्पादन की माँग की पूर्ति करने के उद्देश्य स व्यक्तिगत रूप से अपने उत्पादन मान तथा उपकरणो म वद्धि करती है। यदि वस्तु की बाजार मूल्य अधिक होता है तो नयी फम उस उद्योग मे प्रवेश करती है। विपरीत स्थिति म अर्थात् बाजार मूल्य कम होने पर कई फर्में उत्पादन-काय स्थगित कर देती है। वस्तुत दीर्घकाल के पूर्ति वक्र का आकार फर्मों की सरचना म आवश्यक समायोजनाओ के पश्चात् लागत परिवतनो पर निभर है।

चित्र सख्या 41 विभिन्न अवधि म पूर्ति रेखा का स्वरूप प्रकट करता है। अवधि जितनी ही लम्बी होगी पूर्ति उतनी ही लोचदार होगी (i) चित्र म S_1S_1 पूर्ति रेखा पूर्णतया बेलोचदार है जो अत्यन्त ही अल्प काल (Very short period) से सम्बन्धित है। एसी दशा म कीमत म वद्धि होने पर भी पूर्ति नही बढेगी। (ii) S_2S_2 पूर्ति रेखा अल्पकाल (Short Period) स सम्बन्धित है। कीमत म वद्धि होने पर पूर्ति म वद्धि होगी। (iii) S_3S_3 दीघकाल (Long Period) से सम्बन्धित है। कीमत म वद्धि होन पर दीर्घकाल म पूर्ति म और भी अधिक वद्धि होगी।

Time and Elasticity of Supply

चित्र स० 41
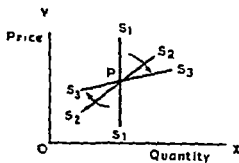
पूर्ति मे परिवतन
(Change in the Supply)

मूल्य परिवतनो के परिणामस्वरूप पूर्ति की मात्राओ म परिवतन को मूल पूर्ति वक्र पर ही प्रदर्शित किया जाता है। इसका कारण यह है कि किसी वस्तु के मूल्य म वद्धि होन स बिक्री के लिए प्रस्तुत की गई मात्रा मे वद्धि होन का तात्पर्य यह नहीं है कि उस वस्तु की पूर्ति म भी वद्धि हो गई है। इसी प्रकार मूल्य ह्रास स होन वाली पूर्ति की मात्रा म कमी का अर्थ भी पूर्ति की कमी नहीं है। ये परिवतन पूर्ति के नियम म अन्तर्निहित (Inherent) हैं। इन परिवतनो स केवल

यह संकेत मिलता है कि वर्तमान अल्प अवधि की पूर्ति में उत्पत्ति और प्रदाय (Offerings) में वृद्धि के कारण विस्तार या संकुचन हुआ है या नहीं।

वस्तुत पूर्ति में परिवर्तन उस समय होता है जब मूल्यों के क्रम में प्रत्येक मूल्य पर वस्तु की प्रस्तुत की गई मात्राएं आगे या पीछे की ओर सरक जाती है। जब दिए हुए मूल्यों पर अपेक्षाकृत अधिक मात्राएं अथवा दी हुई मात्राएँ अपेक्षाकृत कम मूल्यों पर प्रस्तुत की जाती हैं तब पूर्ति बढ जाती है। जब दिए हुए मूल्यों पर अपेक्षाकृत कम मात्राएं अथवा दी हुई मात्राएं अपेक्षाकृत अधिक मूल्यों पर प्रस्तुत की जाती हैं तब पूर्ति घट जाती है। इन परिवर्तनों को नयी पूर्ति सूची तथा नए पूर्ति वक्रों द्वारा व्यक्त किया जाता है। नीचे दिए गए चित्र म० 42 में S_1S_1 मूल पूर्ति वक्र (Original Supply Curve) है। पूर्ति में वृद्धि होने पर यह दायी ओर विचलित (Shift) होकर S_3S_3 की स्थिति प्राप्त कर लेता है तथा पूर्ति में कमी (Decrease) होने पर यह स्थिति मूल वक्र S_1S_1 की बायी ओर एक नये वक्र S_2S_2 रूप में निर्मित होता है।
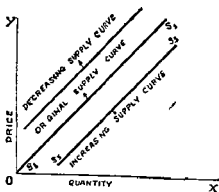
चित्र स 42

पूर्ति में परिवर्तन के कारण पूर्ति में वास्तविक परिवर्तन जिसके फलस्वरूप पूर्ति सूची तथा पूर्ति वक्र में भी परिवर्तन होते हैं दीर्घ अवधि में ही होते है क्योंकि एक लम्बी अवधि में ही सभी उत्पादन साधन परिवर्तनशील हो सकते है। दीर्घकाल में उत्पादक को वर्तमान संयन्त्रों का विस्तार एवं आधुनिकीकरण करने का समय मिल जाता है। दीर्घ अवधि में ही उत्पादकों को अप्रचलित तथा अकुशल संयन्त्रों को हटाने तथा समाप्त करने का अवसर मिलता है। पूर्ति में परिवर्तन होने के निम्नलिखित कारण है

(1) **तकनीकी परिवर्तन** (Technological Changes) उत्पादन के क्षेत्र में तकनीकी विकास होने से पूर्ति कई प्रकार से प्रभावित होती है (1) इसके द्वारा पुरानी वस्तु की अपेक्षा एक अच्छी नयी वस्तु का उत्पादन होने से, पुरानी वस्तु

की तुलना म नयी वस्तु की माग तथा तदनुसार पूर्ति म वद्धि हो जाती है, (ii) किसी वस्तु क उत्पादन की तकनीक म विकास एव सुधार होने से प्रति इकाई लागत कम हो जाती है, जिसम उत्पादकों को दिए हुए मूल्यो पर पहले की अपेक्षा पूर्ति की मात्राओ म अधिक वद्धि करने का प्रोत्साहन मिलता है।

(2) **युद्ध (War) तथा अन्य दवी आपत्तियाँ** (Other Natural Calamities) युद्धकाल म अर्थव्यवस्था सैनिक सवाओ तथा युद्ध सम्बन्धी वस्तुओ क उत्पादन पर केन्द्रित हो जाती है। फलस्वरूप उपभोग सामग्रियो तथा सेवाओ की पूर्ति कम हो जाती है। दवी आपत्तियो जस अनावृष्टि अतिवृष्टि बाढ आदि के फलस्वरूप भी उत्पादन मात्रा कम हो जाती है।

(3) **प्राकृतिक साधनो का ह्रास अथवा उनकी खोज** (Depletion or Discovery of Natural Resources) नये प्राकृतिक व भौतिक साधनो की खोज क परिणामस्वरूप कम मूल्य पर उनके सुलभ होन स उनक द्वारा निर्मित वस्तु की प्रति इकाई लागत कम होती है जिसस इन वस्तुओ की पूर्ति म वद्धि होती है। इसके विपरीत प्राकृतिक साधनो के नष्ट हो जाने पर पूर्ति कम हो जाती है।

(4) **उत्पादन साधनो के मूल्यो मे वद्धि** उत्पादन साधनो क मूल्यो म वद्धि होने पर उत्पादन क साधनो की पडत (Resource Inputs) महँगी पडती है जिसके फलस्वरूप वस्तु की प्रति इकाई लागत भी बढ जाती है। मूल्य क यथावत् रहने पर पूर्ति कम हो जाती है।

(5) **सरकार की कर तथा व्यापारिक नीतियाँ** यदि सरकार उत्पादको तथा व्यवसायियो पर कई प्रकार के कर तथा प्रतिबन्ध लगाती है तो निश्चय ही सम्बन्धित वस्तुओ की पूर्ति म कमी हो जाएगी। किसी वस्तु पर आयात कर म वृद्धि होने स उसकी पूर्ति कम हो जायगी।

(6) **परिवहन एव सन्देश वाहन के साधनो मे विकास** इन साधनो म विकास होने पर बाजार का क्षेत्र अधिक विस्तृत हो जाता है जिसस न केवल आयात म वद्धि होती है बल्कि उत्पादको को उत्पादनक्षमता बढाने का प्रोत्साहन मिलता है।

पूर्ति की लोच
(Elasticity of Supply)

(i) **अर्थ** पूर्ति का नियम किसी वस्तु क मूल्य परिवर्तन के प्रति उसक (उस वस्तु क) उत्पादक की प्रतिक्रिया की दिशा को स्पष्टत बतलाता है। अधिक मूल्यो पर अधिक उत्पादन तथा कम मूल्यो पर कम उत्पादन किया जाता है। परन्तु पूर्ति का नियम उत्पादक की प्रतिक्रिया क अंश या सीमा (Degree) को व्यक्त नही करता। अत पूर्ति की लोच यह ज्ञात कराती है कि अधिक मूल्य पर कितनी अधिक मात्रा अथवा कम मूल्य पर कितनी कम मात्रा म उत्पादन किया जाता है।

(ii) **लोच की किस्में** पूर्ति की लोच पाँच प्रकार की हो सकती है

(1) इकाई लोच या सम लोच (Unit Elasticity) पूर्ति की इकाई लाच (Unit Elasticity) उस समय होती है जब किसी वस्तु का मूल्य-परिवतन होने पर उत्पादित तथा बिक्री के लिए प्रस्तुत की गई मात्रा म परिवतन प्रत्यक्ष अनुपात म होता है। सम लोच उत्पादक की अनुक्रियाशीलता की लोचदार (Elastic) तथा बलोच (Inelastic) सीमाओं (Degree) की विभाजन रखा है।

(2) लोचदार पूर्ति (Elastic Supply) पूर्ति उस समय लोचदार होती है जबकि मूल्य-परिवतन क कारण उत्पादक की अनुक्रियाशीलता सम लोच की स्थिति की अनुक्रियाशालना स अधिक होती है अर्थात् जब मूल्य-परिवतन के कारण वस्तु की उत्पादित तथा प्रस्तुत की गयी मात्रा म प्रत्यक्ष अनुपाती परिवतन अधिक होता है।

3 बेलोच पूर्ति (Inelastic Supply) जब उत्पादक की अनुक्रियाशीलता क अश म इकाई लोच (Unit elasticity) क विपरीत परिवतन होता है तब इस बलोच पूर्ति कहते हैं। बेलोच पूर्ति होने पर मूल्य परिवतन के कारण वस्तु की उत्पादित तथा प्रस्तुत की गई मात्रा म प्रत्यक्ष अनुपाती परिवतन कम होता है।

4 पूर्णतया लोचदार पूर्ति (Perfectly Elastic Supply) पूर्ति पूर्णतया लोचदार उस समय होती है जब वतमान मूल्य पर वस्तु की असीमित मात्रा की पूर्ति की जाती है।

5 पूर्णतया बेलोच पूर्ति (Perfectly Inelastic Supply) जब मूल्य म किसी परिवतन का बिक्री के लिए प्रस्तुत की गयी मात्रा पर कोई प्रभाव नहीं पडता तब पूर्ति पूर्णतया बलोचदार कहलाती है।

पूर्ति की लोच की माप
(Measurement of Supply Elasticity)

अर्थशास्त्र मे पूर्ति की लोच ϵ (e) द्वारा व्यक्त की जाती है। [ϵ एक ग्रीक अक्षर है जिसे Epsilon कहा जाता है जो पूर्ति की लोच को व्यक्त करता है]। पूर्ति की लोच को ज्ञात करने के लिए निम्नलिखित सूत्र (Formula) का प्रयोग किया जाता है जो पूर्ति की मात्रा म आनुपातिक परिवतन की माप करता है

$$\text{पूर्ति की लोच} = \frac{\text{मात्रा म आनुपातिक परिवतन}}{\text{कीमत म आनुपातिक परिवतन}} = \frac{\frac{\Delta\phi}{\phi}}{\frac{\Delta\sigma}{\sigma}}$$

$$= \frac{\Delta\phi}{\Delta\sigma} \times \frac{\sigma}{\phi}$$

$$\text{लोच} = \left(\frac{\text{मात्राओं म अन्तर}}{\text{मात्राओं का योग}}\right) \left(\frac{\text{मूल्यों का योग}}{\text{मूल्यों म अन्तर}}\right)$$

$$\left[\epsilon = \left(\frac{\text{Difference in quantities}}{\text{Sum of quantities}}\right) \left(\frac{\text{Sum of prices}}{\text{Difference in prices}}\right)\right.$$

चित्र स० 43

करता है कि पूर्ति लोचदार है। (iii) गहरा ढलाव (Steep slope) जैसा कि चाप BC में है लोचहीनता (inelasticity) को प्रकट करता है। (i) OP से कम कीमत पर विक्रेता कुछ भी नहीं बेचेंगे। (ii) OP कीमत पर वे OQ_1 मात्रा बेचेंगे। (iii) OQ_1 से अधिक मात्रा बेचने के लिए कीमत OP से अधिक होनी चाहिये। (iv) कीमत कितनी ही ऊँची हो विक्रेता OQ_2 से अधिक मात्रा नहीं बेचेंगे।

पूर्ति की लोच की ज्यामिति माँग की लोच से कुछ भिन्न होती है नीचे के चित्र में बिन्दु B पर इकाई लोच है। इस बिन्दु पर बिन्दु O से खींची गई सीधी रेखा स्पर्श रेखा है। यदि बिन्दु O से रेखा खींची जाये तथा यह एक सीधी रेखा के रूप में हो तो पूर्ति वक्र का ढाल चाहे कुछ भी हो उसकी लोच इकाई होगी (पूरी रेखा पर)।

चित्र संख्या 44 बेलोच पूर्ति वक्र को प्रकट करता है। मान लीजिये पहले कीमत PB है तथा बाद में बढ़ कर कीमत QC हो जाती है। अत
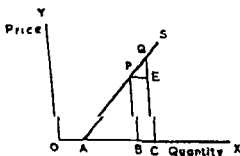
चित्र स० 44

पूर्ति की लोच = $\frac{\text{मात्रा में आनुपातिक परिवर्तन}}{\text{कीमत में आनुपातिक परिवर्तन}}$ या

$$E_s = \frac{BC}{OB} \div \frac{QC}{PB} = \frac{BC}{OB} \times \frac{PB}{QC}$$

अन्तिम अक्षरों को हम $\frac{PE}{QE} \times \frac{PB}{OB}$ भी लिख सकते हैं। चूँकि PBA तथा QEP त्रिभुज एक ही प्रकार के हैं अतएव

$\frac{PE}{QE} = \frac{AB}{PB}$ इसलिए $E_s = \frac{AB}{PB} \times \frac{PB}{OB} = \frac{AB}{OB}$

चूँकि AB OB से छोटा है अत एव $\frac{AB}{OB}$ इकाई (एक) से कम है। इस प्रकार पूर्ति बेलोच है। यदि AB = OB के हो जिससे $E = 1$ हो तो पूर्ति-वक्र प्रारम्भ बिन्दु O से गुजरना चाहिए। यदि AB OB से लम्बा है जिसस $E_s > 1$ तब पूर्ति वक्र मूल्य अक्ष (Price Axis) को काटेगा।

यदि पूर्ति रेखा एक वक्र (Curve) के रूप में है तो पूर्ति वक्र के किसी भी बिन्दु पर लोच ज्ञात करने के लिए उस बिन्दु पर स्पर्श रेखा (Tangent) खींच कर लोच ज्ञात करते हैं।

(ii) पूर्ति की लोच और अवधि का सम्बन्ध पूर्ति की लोच की उपर्युक्त व्याख्या अल्प अवधि के सन्दर्भ में की गई है। परन्तु पूर्ति की लोच की माप दीर्घ अवधि के सन्दर्भ में भी की जा सकती है। वस्तुत दीर्घ अवधि में पूर्ति अपेक्षाकृत अधिक लोचदार होती है क्योंकि इस अवधि में उत्पादकों को अपने उत्पादन-साधनों मशीन उपकरण आदि में परिवर्तन करने के लिये अधिक समय मिल जाता है।

(v) अल्प अवधिपूर्ति की लोच के निर्धारक तत्त्व अल्प अवधि में पूर्ति-लोच का सबसे महत्त्वपूर्ण निर्धारक तत्त्व वह प्रतिशत है जो स्थायी लागत' व कुल लागत' का होता है (Fixed cost as a per cent of total cost)। यदि सापेक्ष रूप से स्थायी लागत पूर्ण लागत से अधिक होती है तो उत्पादक को हानि पर भी उत्पादन करते का प्रलोभन रहता है। इसका कारण यह है कि उत्पादन करने में उसकी हानि न्यूनतम हो जाती है। कम मूल्य होने पर परिवर्तनशील लागतों के अधिकांश भाग की पूर्ति हो जाती है। यदि उत्पादन निरन्तर होता रहता है तो स्थायी लागतों के कुछ अंश की पूर्ति सम्भव हो जाती है क्योंकि उत्पादन-कार्य स्थगित करने पर स्थायी लागत पूर्ण हानि के रूप में परिवर्तित हो जायगी ऐसी स्थिति में पूर्ति के बेलोच होने की प्रवृत्ति पायी जाती है। यदि स्थायी लागत कुल लागत की तुलना में कम होती है तो पूर्ति लोचदार होता है।

(vi) दीर्घ अवधि में पूर्ति की लोच को निर्धारित करने वाले दो महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं

(1) उत्पादन-साधनों के वैकल्पिक उपयोगों के अवसरों का होना (The alternative opportunities available to the production factors) यदि किसी वस्तु के उत्पादन में प्रयुक्त उत्पादन-साधनों के उपयोग के लिये अन्य आवश्यक अवसर वर्तमान होते हैं तो उस वस्तु के मूल्य के कम होने तथा प्राप्य आय में कमी होने पर स्थान परिवर्तन कर देते हैं। वे साधन उस वस्तु के उत्पादन में प्रयुक्त किये जाते हैं जिसका मूल्य अधिक होता है तथा साधनों के विचलन (Shifts) से उनकी आय बढ़ जाती है। अतः किसी वस्तु के उत्पादन साधनों के प्रयोग के जितने अधिक विस्तृत अवसर वर्तमान रहते हैं वस्तु की पूर्ति उतनी ही अधिक लोचदार होती है। इस प्रकार के अवसरों में कमी होने पर पूर्ति अधिक बेलोच होती है।

(2) उत्पादन-साधनों की गतिशीलता (Mobility of production factors) वैकल्पिक प्रयोग के अवसरों के होने के साथ ही साथ उत्पादन-साधनों का गतिशील होना भी आवश्यक है। साधनों में जितनी अधिक गतिशीलता होगी उतनी ही अधिक लोचदार उस वस्तु की पूर्ति होगी जिसके उत्पादन एवं निर्माण में उन साधनों को प्रयुक्त किया जाता है।

पूर्ति के अन्य प्रकार

(अ) संयुक्त पूर्ति (Joint Supply) सामान्यतः कई वस्तुएं एक-साथ उत्पादित की जाती हैं। किसी एक वस्तु की पूर्ति में परिवर्तन का प्रभाव किसी अन्य वस्तु की पूर्ति पर पड़ना स्वाभाविक है जैसे कोयले की गैस और कोयला। इस प्रकार की पूर्ति संयुक्त पूर्ति कहलाती है। संयुक्त पूर्ति की दशा में किसी एक वस्तु की मांग में वृद्धि होने पर संयुक्त उत्पाद (Joint Product) की पूर्ति में भी वृद्धि हो जाती है जिससे संयुक्त उत्पाद का मूल्य गिरने लगता है।

(ब) सम्मिश्रित या संग्रथित पूर्ति (Composite Supply) किसी एक मांग की पूर्ति कई वस्तुओं की पूर्ति द्वारा की जा सकती है। उदाहरणार्थ चाय कॉफी दूध आदि की पूर्ति पेय पदार्थों की मांग को सन्तुष्ट करने के लिए सम्मिश्रित या संग्रथित पूर्ति कही जायगी।

प्रश्न तथा संकेत

1 पूर्ति की लोच का आशय स्पष्ट कीजिये। पूर्ति की लोच को मापने की विधि बताइये।

What do you mean by Elasticity of Supply How is it measured ?

/

[संकेत—प्रश्न के प्रथम भाग म पूर्ति की लोच का आशय स्पष्ट कीजिये और द्वितीय भाग म इसको मापने की प्रमुख विधियाँ बतलाइये।]

2 पूर्ति से आप क्या समझते हैं ? निम्न म अन्तर स्पष्ट कीजिये
(अ) पूर्ति म वृद्धि तथा पूर्ति म विस्तार' (ब) पूर्ति म कमी तथा पूर्ति म सकुचन'।

Define Supply Distinguish between (a) Increase in supply and Expansion of supply (b) Decrease in supply and Contraction of supply

3 पूर्ति का अर्थ स्पष्ट कीजिये और इसे प्रभावित करने वाले विभिन्न तत्त्वो का स्पष्टीकरण कीजिये।

Explain clearly the meaning of supply Discuss the various Determinants of supply

[संकेत—प्रश्न के प्रथम भाग म पूर्ति का अर्थ स्पष्ट कीजिये तथा द्वितीय भाग म इसे प्रभावित करने वाले विभिन्न तत्त्वो का विवेचन कीजिये।]

4 पूर्ति के नियम की व्याख्या कीजिए। वे कौन-से तत्त्व हैं जो पूर्ति को प्रभावित करते हैं ?

State the Law of Supply What are the factors which affect the supply of a commodity ?

[संकेत—प्रथम भाग म पूर्ति के नियम की पूर्ण व्याख्या कीजिये। द्वितीय भाग का उत्तर प्रश्न 3 के द्वितीय भाग के समान होगा।]

5 पूर्ति की लोच को प्रभावित करने वाले तत्त्व तथा इनकी विभिन्न श्रेणियों को बताइये।

Discuss the factors which effact elasticity of supply and explain the degrees of elasticity of supply

6 पूर्ति के विभिन्न निर्धारक घटको की व्याख्या कीजिये।

Discuss the various determinants of supply

[संकेत—इसका उत्तर प्रश्न 3 के द्वितीय भाग के समान होगा।]

7 Write short notes on (संक्षिप्त टिप्पणियाँ दीजिए)

(i) पूर्ति सूची (Supply Schedule)

(ii) पूर्ति वक्र (Supply Curve)

(iii) पूर्ति म परिवर्तन (Shift in Supply)।

समस्याएँ
(Problems)

1 अग्रलिखित तथ्यों के आधार पर अल्पकाल म एक फर्म की पूर्ति सूची तैयार कीजिये

उत्पादन इकाइयाँ	परिवर्तनशील लागत रु०	उत्पादन इकाइयाँ	परिवर्तनशील लागत रु०
1	22	6	85
2	32	7	110
3	40	8	155
4	50	9	205
5	65	10	310

2 निम्न लागत समंकों के आधार पर दीर्घकाल में एक उद्योग का पूर्ति-वक्र बनाइये

	उद्योग का कुल उत्पादन (इकाइयाँ)	प्रत्येक फर्म के लिए निम्नतम औसत लागत रु०
1	5 00 000	470
2	10 00 000	520
3	15 00 000	550
4	20 00 000	590
5	25 00 000	630
6	30 00 000	660

उत्पादन
(PRODUCTION)

बेनहम (Benham) ने एक स्थल पर कहा है अमृत की वर्षा अब स्वर्ग से नहीं होती Manna no longer falls from heaven। इस कथन से उत्पादन का महत्त्व स्पष्टतः परिलक्षित होता है। आवश्यकता प्रयास-सन्तुष्टि के चक्राकार प्रवाह में प्रयास अधिक महत्त्वपूर्ण है। आवश्यकता एवं सन्तुष्टि की काल्पनिक धारणाएँ उत्पादन द्वारा ही मूर्त रूप ग्रहण करती हैं। भूमि श्रम पूँजी संगठन तथा साहस के पारस्परिक सहयोग एवं समन्वय द्वारा ही उत्पादन सम्भव होता है। राष्ट्र की आर्थिक समृद्धि समाज के भौतिक कल्याण तथा व्यक्ति के आर्थिक अभ्युदय का उद्गम-स्रोत उत्पादन ही है।

18

उत्पादन तथा उत्पादन के साधन

(Production and Factors of Production)

> Practically man does nothing but pull press carry or otherwise mechanically force things into new forms or new places All these activities result in the production of wealth
>
> —*Penson*

उपभोग के अन्तर्गत हम उन समस्याओं तथा सिद्धान्तों की व्याख्या कर चुके हैं जिनके द्वारा मानव अपने सीमित साधनों से अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करना चाहता है। किन्तु अधिकतम सन्तुष्टि के लिए मानव को अनेक प्रयास करने पड़ते हैं जिससे उसकी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि होती है। मानव जिन प्रयासों से धन का उत्पादन करता है उनका अध्ययन अर्थशास्त्र में उत्पादन विभाग के अन्तर्गत किया जाता है। इस विभाग के अन्तर्गत इस बात का अध्ययन किया जाता है कि उत्पत्ति के विभिन्न साधन जैसे भूमि, श्रम पूँजी संगठन तथा साहस किस तरह से आपसी सहयोग द्वारा आवश्यकताओं की सन्तुष्टि हेतु वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन करते हैं।

उत्पादन आर्थिक प्रगति का प्रतीक है। किसी भी देश का आर्थिक विकास उसकी उत्पादन की मात्रा और उत्पादन के बढ़ने की दर पर निर्भर है। उत्पादन की मात्रा तथा प्रकृति उत्पादन के मूल साधनों की पूर्ति द्वारा शासित होती है। विभिन्न प्राकृतिक साधनों का पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होना कुशल श्रम का होना अधिक मात्रा में पूँजी की प्राप्ति लोगों में प्रबन्ध व संगठन योग्यता तथा जोखिम उठाने की प्रवृत्ति और उन्नत व वैज्ञानिक उत्पादन प्रणाली उत्पादन की मात्रा एवं प्रकृति के निर्धारक तत्त्व हैं।

उत्पादन का अर्थ (Meaning of Production)

सामान्यतः उत्पादन का अर्थ किसी भौतिक वस्तु का सृजन या निर्माण करना ही माना जाता है। एडम स्मिथ तथा अन्य प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने उत्पादन का इसी अर्थ में परिभाषित किया है। परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्र में उत्पादन का

भौतिक वस्तुओं का निर्माण कहकर परिभाषित करना एक संकुचित दृष्टिकोण समझा जाता है। आधुनिक अर्थशास्त्रियों का यह मत है और यह एक सर्वविदित वैज्ञानिक तथ्य भी है कि भौतिक पदार्थ (Matter) प्रकृति द्वारा प्रदान किए जाते हैं। मनुष्य न तो किसी पदार्थ का सृजन करता है और न ही उसे नष्ट कर सकता है। वह अपनी आवश्यकता के अनुसार किसी पदार्थ की उपयोगिता का सृजन एवं उपयोगिता में वृद्धि कर सकता है। मार्शल के अनुसार "मनुष्य भौतिक वस्तुओं का सृजन नहीं कर सकता। यह मानसिक तथा नैतिक क्षेत्र में नये नये विचारों को जन्म भले ही दे सकता है परन्तु जब भौतिक वस्तुओं के निर्माण की बात आती है तो वह केवल उपयोगिता का ही सृजन या निर्माण कर सकता है।"[1]

मार्शल के उपरोक्त कथन को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। एक बढ़ई एक लकड़ी के लट्ठे में मेज बनाकर एक नए पदार्थ को जन्म नहीं देता बल्कि केवल अपने श्रम तथा औजारों की सहायता से लकड़ी को मेज का रूप देकर उसमें अतिरिक्त आर्थिक उपयोगिता का सृजन करता है। अतः उसका यह कार्य उत्पादन कहा जाएगा। इस उदाहरण को लेकर ही मार्शल ने उत्पादन का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है "इस भौतिक संसार में मनुष्य अधिक से अधिक यह कर सकता है कि या तो वह पदार्थ को इस प्रकार पुनः व्यवस्था कर दे कि वह पहले की अपेक्षा अधिक उपयोगी हो जाय या इस सम्बन्ध में कुछ आवश्यक कार्य करे जिससे प्रकृति उसे अधिक उपयोगी बना दे जैसे भूमि में बीज डालने पर प्राकृतिक शक्तियाँ उसे नया जीवन प्रदान करती हैं।"[2]

मार्शल के उपर्युक्त स्पष्टीकरण के आधार पर उपयोगिता सृजन करने को ही अर्थशास्त्र में उत्पादन कहा गया है। कुछ आधुनिक अर्थशास्त्री पेंसन फेयर चाइल्ड[3] एली[4] तथा फ्रेजर[5] भी उत्पादन का अर्थ उपयोगिता का सृजन करना

---

1 Man cannot create material things In the mental and moral world indeed he may produce new ideas but when he is said to produce material things he really produces utility

—*Marshall*

2 All that man can do in th s physical world is either to readjust matter so as to make it more useful as when he makes a log of wood into a tabl or to put in the way of being made more useful by nature as when he puts seed where the forces of nature make it burst into life

—*Marshall*

3 Production consists of creation of utility in wealth

—*Fairchild*

4 Production means creation of economic utility

—*Ely*

5 If consum ng means extracting utility from producing means putting util ty into "

—*Fraser*

(Creation of utility) ही बताते हैं। पेंसन के अनुसार, 'धन या सम्पत्ति के उत्पादन का अर्थ किसी पदार्थ का निर्माण करना नहीं है, अपितु किसी उपलब्ध पदार्थ में मानवीय आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने की योग्यता, क्षमता अथवा शक्ति का निर्माण करना होता है। इसी प्रकार फेयर चाइल्ड के अनुसार धन में उपयोगिता की रचना ही उत्पादन है।[6] प्रोफेसर जे० के० मेहता ने उपयोगिता के सृजन के स्थान पर उपयोगिता में वृद्धि करने को उत्पादन माना है।

अधिकांश आधुनिक अर्थशास्त्री उत्पादन के उपरोक्त अर्थ से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार व्यापक दृष्टि से अर्थशास्त्र में उत्पादन का अर्थ केवल सीमित मात्रा में प्राप्त वस्तुओं, सेवाओं और साधनों में अतिरिक्त उपयोगिता का सृजन करना ही नहीं है वरन् उपयोगिता के सृजन या उपयोगिता में वृद्धि के साथ-साथ विनिमय मूल्य (Price) का होना भी आवश्यक है। प्रोफेसर टामस (Thomas) के अनुसार उत्पादन से आशय भौतिक साधनों व सेवाओं में मूल्य वृद्धि या विनिमय शक्ति में वृद्धि अर्थात् मूल्यों के सृजन (Creation of Values) से है। यदि किसी वस्तु की उपयोगिता में तो वृद्धि कर दी जाय परन्तु उसका विनिमय मूल्य न हो (अर्थात् उसमें विनिमय शक्ति की वृद्धि न की जाय) तो इस उपयोगिता वृद्धि के कार्य को अर्थशास्त्र में उत्पादन नहीं कहा जायगा। अतः उपयोगिता रखने वाली आर्थिक वस्तुओं का निर्माण ही उत्पादन कहलाता है। उत्पादन के अन्तर्गत उपयोगिता में वृद्धि तथा विनिमय क्षमता या मूल्य वृद्धि करने की दोनों ही क्रियाएँ एक साथ ही की जाती हैं।

अतः आधुनिक अर्थशास्त्री फेयर चाइल्ड, कम्परनकास मेयस आदि उत्पादन को टामस के मतानुसार ही परिभाषित करते हैं। इन अर्थशास्त्रियों का यह कहना है कि किसी वस्तु में मूल्य का सृजन कर देने पर उसकी विनिमय-क्षमता में वृद्धि हो जाती है जिससे उसके बदले में पहले की अपेक्षा अधिक वस्तुएं प्राप्त होने लगती हैं। मूल्यों का सृजन आर्थिक वस्तुओं में ही किया जा सकता है क्योंकि ये वस्तुएँ ही मानव की आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने की क्षमता रखती हैं। अतः **उत्पादन का अर्थ वस्तुओं में 'आर्थिक उपयोगिताओं का सृजन (Creation of economic utilities) है न कि केवल 'उपयोगिता का सृजन या उपयोगिता में वृद्धि'। उत्पादन के अन्तर्गत मूल्य का सृजन तथा आर्थिक उपयोगिता का सृजन' दोनों ही क्रियाएं एक ही साथ की जाती हैं।**

उपयोगिता सृजन की विधियाँ (Methods of creation of utility)

किसी भी वस्तु या पदार्थ में उपयोगिता सृजन करने अथवा उसकी उपयोगिता में वृद्धि करने की कई विधियाँ[7] हैं। ये विधियाँ अग्रांकित हैं

(1) **रूप परिवर्तन करके (Change of form)** जब किसी पदार्थ के वर्तमान रूप, रंग और आकार को बदल कर उसकी उपयोगिता में वृद्धि कर दी जाती

है तब इस रूप परिवर्तन द्वारा उत्पादन करना या उपयोगिता में वृद्धि करना कहा जाता है। इस प्रकार के उत्पादन से पदार्थ पहले की अपेक्षा अधिक लाभदायक एवं उपयोगी हो जाता है और उसके मूल्य तथा उसकी विनिमय-साध्यता में वृद्धि हो जाती है। उदाहरण के लिए बढ़ई लकड़ी का मेज कुर्सी पलंग आदि का रूप देकर दर्जी कपड़े का पैंट बुशर्ट आदि का रूप देकर कुम्हार मिट्टी को घड़े मटके आदि का रूप देकर आर्थिक उपयोगिता का सृजन करते हैं।

(2) स्थान परिवर्तन करके (Change of place) जब किसी वस्तु को किसी एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजकर उसकी उपयोगिता में वृद्धि की जाती है। तब इस स्थान-परिवर्तन द्वारा उत्पादन कहते हैं। स्थान-परिवर्तन से उपयोगिता की वृद्धि इसलिए होती है कि जिस स्थान से वह वस्तु भेजी जा रही है वहाँ अधिक मात्रा में होने के कारण उसकी उपयोगिता कम है परन्तु जहाँ वह वस्तु भेजी जा रही है वहाँ उस वस्तु की उपयोगिता अधिक है। स्थान-परिवर्तन से किसी वस्तु में स्थान-मूलक उपयोगिता (Place utility) का सृजन होता है। उदाहरण के लिए खानों में पड़ा कोयला जब फैक्ट्री में या रेलों के इंजन चलाने के लिए अन्य स्थानों पर ले जाया जाता है तब उसमें स्थान मूलक उपयोगिता का सृजन होता है। नदी से रेत लाकर शहर में बिक्री करने में अधिक उपयोगिता का सृजन होता है। इस प्रकार की उपयोगिता का सृजन करने में यातायात के साधनों का अत्यधिक महत्त्व है।

(3) समय परिवर्तन करके (Change of time) कुछ वस्तुएँ ऐसी होती हैं जो पुरानी होने पर ही अधिक उपयोगी या मूल्यवान मानी जाती हैं जैसे पुराना चावल पुरानी शराब। इनके अतिरिक्त वस्तुओं का संचय अथवा संग्रह करके भी उनकी उपयोगिता अथवा उनके मूल्य में वृद्धि की जा सकती है। उदाहरण के लिए गेहूँ की फसल कटने पर माँग की तुलना में उसकी पूर्ति (Supply) अधिक होने पर उसका मूल्य कम होता है। परन्तु उसका मूल्य समय के व्यतीत होने के साथ-साथ बढ़ता जाता है। उसको संग्रह करके उसकी उपयोगिता में वृद्धि की जाती है। इस प्रकार किसी वस्तु का संचय करके विभिन्न वस्तुओं के व्यापारी संग्रहकर्ता कोल्ड स्टोरेज के मालिक आदि द्वारा उसमें समय या काल मूलक उपयोगिता (Time utility) का सृजन किया जाता है।

(4) अधिकार परिवर्तन द्वारा (Change of possession) किसी वस्तु का हस्तान्तरित करके उस वस्तु में अधिकार मूलक उपयोगिता (Pos ession Utility) का सृजन किया जाता है। इस प्रकार की उपयोगिता के सृजन में हस्तान्तरित वस्तु की उपयोगिता में वृद्धि हो जाती है क्योंकि एक ही वस्तु की उपयोगिता

म वृद्धि हो जाती है क्योकि एक ही वस्तु की उपयोगिता विभिन्न व्यक्तियों के लिए अलग अलग होती है। उदाहरणार्थ, एक दुकानदार के लिये उसके द्वारा बेचे जाने वाली वस्तु की कोई उपयोगिता नही है परन्तु क्रेता अर्थात् उपभोक्ता के अधिकार म आने पर उसी वस्तु की उपयोगिता अधिक हो जाती है। इसी प्रकार एक पुस्तक के विक्रेता से पुस्तक जब छात्र या शिक्षक के अधिकार म आ जाती है तो उसकी उपयोगिता बढ जाती है। इस प्रकार उत्पादक व उपभोक्ता के बीच सक्रिय बिचौलिय दलाल, एजेंट विज्ञापनकर्ता मुद्रा का निर्माण करने वाले बैंक सेवा तथा बीमा सेवा देने वाले परिवहन व सचार म सलग्न व्यक्ति अधिकार परिवर्तन द्वारा उपयोगिता मे वृद्धि कर उत्पादन-कार्य करते हैं।

(5) सेवा द्वारा (By performing services) सेवा द्वारा उत्पादन या प्रदान की गयी उपयोगिता सेवा-मूलक उपयोगिता कहलाती है। डाक्टर शिक्षक वकील सगीतज्ञ अपनी सेवाओ को बेचकर अपने व्यक्तिगत गुणो की उपयोगिताओ म वृद्धि करते हैं। व्यक्तिगत गुण या व्यक्तिगत सेवाय दिखायी नही देती। अत कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि प्रदान की गयी इन सेवाओ को उत्पादन की श्रेणी म नही रखना चाहिए। परन्तु इन सेवाओ म उपयोगिता अर्थात् आवश्यकताओ को सतुष्ट करने की क्षमता होने के कारण इनका विनिमय करना उत्पादन माना जाता है।

(6) ज्ञान द्वारा उपयोगिता (By increasing knowledge) किसी वस्तु की उपयोगिता का ज्ञान अन्य व्यक्तियो को कराना ज्ञान प्रसार द्वारा उत्पादन कहलाता है। ज्ञान प्रसार द्वारा किसी वस्तु म उत्पन्न की गयी अतिरिक्त उपयोगिता ज्ञानमूलक उपयोगिता (Knowledge utility) कहलाती है। जैसे सनलाइट साबुन की विशेषता का ज्ञान न होने पर किसी व्यक्ति के लिए उसकी उपयोगिता कम होगी। परन्तु यदि विज्ञापन द्वारा उसकी विशेषताओ का ज्ञान उसे करा दिया जाय तो उसकी उपयोगिता उसके लिए अधिक हो जायेगी। व्यापारी दुकानदार उत्पादक समाचार-पत्र प्रकाशक आदि व्यक्ति विभिन्न प्रकार के विज्ञापनो द्वारा वस्तुओ की जानकारी करा कर उपयोगिता म वृद्धि द्वारा उत्पादन का कार्य करते हैं।

उपयुक्त विधियो द्वारा वस्तुओं एवं सेवाओं से उपयोगिता का सृजन या उसकी उपयोगिताओं मे वृद्धि करने वालों को उत्पादक (Producer) कहा जाता है।

उत्पादन प्रक्रियाओं को निम्नलिखित वर्गों म रखा गया है

(i) निस्सरण उद्योग (Extractive Industries) इन उद्योगो के अन्तर्गत कृषि द्वारा कच्चे माल का उत्पादन करना भूमि के अन्दर से खनन करके अनेक प्रकार की धातुए निकालना तथा मछली पकडना आदि कार्य सम्मिलित हैं।

(ii) निर्माणकारी उद्योग (Manufacturing Industries) इन उद्योगो म कच्चे माल का रूप परिवर्तन करके विभिन्न प्रकार की वस्तुओ के निर्माण सम्बन्धी कार्य करते हैं।

(iii) व्यापारिक सेवाएं (Commercial Services) इनके अन्तर्गत निर्मित वस्तुओं के विक्रय एवं वितरण सम्बन्धी कार्यों में लगे व्यापारियों, बैंकों, सन्देशवहन तथा परिवहन के साधनों, बीमा कम्पनियों आदि की सेवाओं को सम्मिलित किया जाता है।

(iv) प्रत्यक्ष सेवाएं (Direct Services) इसके अन्तर्गत वे सेवाएं आती हैं जो प्रत्यक्ष रूप से उपभोक्ताओं को प्राप्त होती हैं, जैसे डाक्टर, वकील, अध्यापक, घरेलू नौकर, सम्पादक आदि की सेवाएँ।

उत्पादन की मात्रा निर्धारित करने वाले तत्व
(Factors Determining Volume of Production)

उत्पादन की मात्रा एवं कुशलता अर्थात् उत्पादन की मात्रा में वृद्धि तथा अच्छी किस्म की वस्तुओं का उत्पादन अनेक तत्वों पर निर्भर है। सामान्यतः उत्पादन की मात्रा तथा किस्म को प्रभावित करने वाले तत्वों को दो भागों में बाट सकते हैं I आन्तरिक तत्व तथा II बाह्य तत्व।

I आन्तरिक तत्व (Internal Factors) इनके अन्तर्गत (i) उत्पादन साधनों की कार्य कुशलता तथा (ii) उत्पादन-साधनों को उत्पादन-कार्य में अनुकूलतम अनुपात में जुटाना शामिल है। उत्पादन विशेष में प्रयुक्त साधन कार्यकुशल है तो उत्पादन अधिक मात्रा में होगा।

किसी देश में एक निश्चित समय में उत्पादन की मात्रा तथा उत्पादन कुशलता को निर्धारित करने वाले प्राथमिक तथा आधारभूत तत्वों के अन्तर्गत वहाँ पर उपलब्ध (अ) प्राकृतिक साधन जैसे उपजाऊ भूमि, खनिज पदार्थ, विभिन्न प्रकार की धातुएं, जलवायु, तापक्रम आदि, (ब) श्रम—कुशल तथा परिश्रमी श्रमिक (स) पूंजी तथा (द) उत्पादन के कुशल संगठन एवं उसकी कुशल व्यवस्था की योग्यता को सम्मिलित करते हैं। यदि ये सभी साधन पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होते हैं तो देश में उत्पादन की मात्रा भी अधिक होती है। परन्तु उत्पादन की मात्रा निर्धारित करते समय इन साधनों की मात्रा पर ही ध्यान नहीं दिया जाता वरन् उनके गुणों तथा कार्यकुशलता को ध्यान में रखना आवश्यक होता है। यदि ये साधन अधिक कार्यकुशल हैं तो उत्पादन की मात्रा अधिक होगी तथा उत्पादित वस्तुओं की किस्म भी अच्छी होगी। इसके साथ ही प्राप्त साधनों को अनुकूलतम (Optimum) तथा उचित अनुपात में एकत्र तथा समायोजित करने पर ही उत्पादन की मात्रा में वृद्धि सम्भव हो सकती है। अतः कार्यकुशल साधनों की उचित व्यवस्था भी उत्पादन को प्रभावित करती है।

II बाह्य तत्व (External Factors) उत्पादन साधनों की कार्यकुशलता काफी सीमा तक बाह्य तत्वों द्वारा भी प्रभावित होती है। इनके अन्तर्गत प्राकृतिक, भौतिक तथा मानवीय तत्वों को शामिल करते हैं। इनका विवेचन इस प्रकार है

1 **वैज्ञानिक तथा तकनीकी ज्ञान का उपलब्ध होना** उत्पादन की मात्रा वैज्ञानिक तथा तकनीकी ज्ञान की उन्नति तथा उसके प्रयोग पर निर्भर है। यदि किसी देश में उत्पादन के क्षेत्र में नयी एवं आधुनिक उत्पादन विधियों, यन्त्रों आदि का उपयोग किया जाता है और औद्योगिक तथा कृषि क्षेत्रों में वैज्ञानिक तरीकों को अपनाया जाता है तो निश्चय ही उस देश की उत्पादन मात्रा अधिक होगी (जैसे इंगलैंड और अमरिका में)। अतः किसी देश की उत्पादन मात्रा को निश्चित करते समय इस तत्त्व का ध्यान में रखना आवश्यक है। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि श्रमिकों तथा प्रबन्धकों को तकनीकी शिक्षा हेतु उचित सुविधाएं प्रदान की जायें।

2 **सन्देशवाहन तथा यातायात के साधनों का विकास** उत्पादन मात्रा को निर्धारित करने में यातायात तथा सन्देशवाहन के साधनों का भी महत्त्व है। यदि डाक तार और टेलीफोन की विस्तृत सुविधायें उपलब्ध हों तो उत्पादकों और उपभोक्ताओं के पारस्परिक सम्पर्क स्थापित करने में सरलता होती है तथा व्यापारिक क्षेत्र का विस्तार होता है। आयात के साधनों—रेल सड़क वायु तथा जल यातायात का विकास होने पर उत्पादन को अनेक स्थानों और देशों में भेजने की सुविधायें उपलब्ध होती हैं जिससे उत्पादन की मात्रा को बढ़ाने की योजनाएं कार्यान्वित की जा सकती हैं। इसके अतिरिक्त यातायात के साधन उत्पादन के साधनों—कच्चा माल श्रम तथा पूंजी—को गतिशील बनाते हैं। अनुत्पादक क्षेत्रों से उत्पादक क्षेत्रों में जाने पर उनकी कार्य एवं उत्पादन क्षमता में वृद्धि हो जाती है जिससे देश की उत्पादन शक्ति बढ़ जाती है।

3 **बैंकिंग तथा साख व्यवस्था का विकास** बैंकिंग तथा साख-संस्थायें सम्पूर्ण उत्पादन प्रणाली के लिए धन एवं पूंजी की व्यवस्था में सहायक होती हैं। आधुनिक युग में साख अथवा ऋण पूंजी की उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि नकद पूंजी की। बैंकिंग तथा साख-संस्थाओं का समुचित एवं आवश्यक विकास सम्पूर्ण औद्योगिक तथा व्यापारिक यन्त्र को चलाता है तथा उत्पादन की मात्रा में वृद्धि करने में सहायक होता है। इन संस्थाओं का अधिक विकास होने तथा अधिक से अधिक मात्रा में पूंजी प्राप्त होने से इंगलैंड अमरिका तथा अन्य विकसित पश्चिमी देशों में औद्योगिक उत्पादन एवं आर्थिक विकास अधिक हुआ है।

4 **कच्चे माल की उपलब्धि** यदि उत्पादन को आवश्यक कच्चा माल नियमित रूप में पर्याप्त मात्रा में तथा सस्ती कीमत पर मिलता रहे तो उत्पादन की मात्रा तथा कुशलता में निश्चय ही वृद्धि होगी।

5 **अनुसंधान एवं अन्वेषण की सुविधाएं** उत्पादन की मात्रा तथा कुशलता में वृद्धि पर अनुसंधान तथा अन्वेषण का भी व्यापक प्रभाव पड़ता है। अनुसंधान के द्वारा उत्पादन तकनीक में सुधार किया जा सकता है तथा उत्पादन की नवीन

रीतिया की खोज की जा सकती है। उत्पादन तकनीक म सुधार स उत्पादन लागत को भी कम किया जा सकता है। ग्रत फर्मों एव उद्योगपतियो को ग्रनुसधान व ग्रन्वेषणा पर ग्रधिक बल दन चाहिए।

6 **राजनतिक तत्त्व** देश की सरकारी नीति उत्पादन की मात्रा निर्धारित करती है। यदि दश की सरकार उत्पादन को बढाने के लिए ग्रावश्यक शिक्षा ग्रार्थिक तथा ग्रन्य प्रकार की सहायता ग्रावश्यक जानकारी ग्रादि प्रदान करती है तो उत्पादन की मात्रा म वद्धि होती है। इसके विपरीत सरकार का ग्रनावश्यक हस्त क्षेप ग्रार्थिक एव ग्रौद्योगिक विकास को रोक देता है। इनके ग्रतिरिक्त कुछ ग्रन्य राजनतिक परिस्थितियाँ जस ग्रान्तरिक शान्ति तथा सुरक्षा भी उत्पादन की मात्रा को निर्धारित करने मे ग्रपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

7 **ग्रन्य प्राकृतिक तत्त्व** उत्पादन मात्रा पर कुछ ग्रन्य प्राकृतिक घटनाग्रो का भी प्रभाव पडता है। उदाहरणार्थ वर्षा का न होना बाढ भूकम्प महामारी टिड्डियो का ग्राक्रमण ऐस दवी प्रकोपो से उत्पादन मात्रा कम हो जाती है। प्राकृतिक शक्तियो के नियन्त्रण तथा मानव हित ग्रौर ग्रार्थिक विकास म उनके उचित प्रयोग स ही उत्पादन मात्रा म वद्धि होती है।

प्रोफेसर बेनहम न उत्पादन मात्रा को प्रभावित करने वाल उपयुक्त तत्त्वो को निम्नलिखित तीनो वर्गों म रखा है

(i) **प्राकृतिक शक्तियाँ या घटक** (Natural factors) बाढ भूचाल ग्रनावृष्टि तथा ग्रन्य दवी एव प्राकृतिक प्रकोप।

(ii) **वज्ञानिक उन्नति** तकनीकी ज्ञान का विकास तथा वज्ञानिक ग्राविष्कार एव उनका प्रयोग।

(iii) **उत्पादन के साधनो की उपलब्धता तथा उनको उपयोग में लाने की विधियाँ** भूमि श्रम तथा पूँजी की ग्रधिकाधिक मात्रा यातायात के साधन बकिंग तथा साख-व्यवस्था तथा इन साधनों का नियोजित उपयोग।

उत्पादन का महत्त्व (Importance of Production)

उत्पादन ग्रार्थिक विकास एव प्रगति का प्रतीक है। किसी भी देश का ग्रार्थिक विकास उसकी उत्पादन की मात्रा ग्रर्थात् ग्रार्थिक उपयोगिताग्रो म वद्धि तथा करने की दर पर निभर है। मनुष्य की ग्रावश्यकताग्रो की सन्तुष्टि का केन्द्र बिन्दु भी उत्पादन ही है। ग्रत यह स्पष्ट है कि व्यक्तिगत तथा सामाजिक दोनो ही दृष्टि कोणो स उत्पादन का विशेष महत्त्व है क्योकि उपभोग ग्रौर उत्पादन एक ही क्रिया क दो पहलू हैं। जो उत्पादक है वह उपभोक्ता भी है। ग्रत एक समाज म उत्पादन की मात्रा म जितनी ग्रधिक वद्धि होगी उतनी ही ग्रधिक व्यक्तिगत ग्रावश्यकताग्रो की पूर्ति सम्भव हो सकेगी।

उत्पादन के उपयुक्त महत्त्व को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है

(1) व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति उत्पादन आवश्यकता की अप्रत्यक्ष सन्तुष्टि है। इसका अर्थ यह है कि कोई व्यक्ति वस्तुओं अथवा सेवाओं का उत्पादन एवं विनिमय करके अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है क्योंकि इन उत्पादित वस्तुओं या सेवाओं के बदले में जो मूल्य (धन) उसे प्राप्त होता है उससे वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए अन्य व्यक्तियों द्वारा उत्पादित वस्तुएं एवं सेवाएं प्राप्त कर पाता है। अतः व्यक्तियों द्वारा जितना अधिक उत्पादन किया जायगा, उतना ही अधिक उन्हें विनिमय मूल्य प्राप्त होगा और उसी अनुपात में उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति सम्भव हो सकेगी।

(2) राष्ट्रीय आय में वृद्धि किसी देश की राष्ट्रीय आय में वृद्धि वहां वस्तुओं एवं सेवाओं की उत्पादन की मात्रा में वृद्धि होने पर सम्भव हो सकती है। राष्ट्रीय आय और सामान्य कल्याण (General welfare) में घनिष्ट सम्बन्ध माना जाता है। अतः राष्ट्रीय आय (वस्तुओं एवं सेवाओं के उत्पादन) में वृद्धि होने पर न केवल लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सकेगी वरन् देश के आन्तरिक एवं विदेशी व्यापार का विकास भी सम्भव हो सकेगा, जिसके फलस्वरूप राष्ट्रीय आय में और भी अधिक वृद्धि होगी। अतः यह स्पष्ट है कि उत्पादन किसी देश की आर्थिक उन्नति एवं उसके उसके आर्थिक विकास का केन्द्र बिन्दु है।

(3) व्यक्तिगत एवं सामान्य जीवन-स्तर का ऊँचा होना किसी देश विशेष के राष्ट्रीय उत्पादन या आय में वृद्धि होने पर व्यक्तिगत आय में वृद्धि होती है। यदि उस देश में वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन कम होता है तो न केवल राष्ट्रीय आय कम होने के कारण सामान्य जीवन-स्तर वरन् व्यक्तिगत जीवन-स्तर भी नीचा होगा क्योंकि वहाँ के लोगों की आय कम होगी और उनको अपनी आवश्यकतानुसार वस्तुएं एवं सेवाएं उपलब्ध नहीं होंगी।

(4) राजस्व (राज्य को करों से प्राप्त आय) में वृद्धि राज्य अनेक उत्पादित वस्तुओं पर कर लगाकर आय प्राप्त करता है जैसे उत्पादन कर बिक्री कर आदि। देश विशेष में जितना अधिक उत्पादन होगा, उतनी ही अधिक कर के रूप में राज्य को आय प्राप्त हो सकेगी। अतः राज्य की आय में वृद्धि तथा उसके द्वारा सामाजिक कल्याण में वृद्धि के लिए उत्पादन की मात्रा में वृद्धि अत्यन्त आवश्यक है।

(5) उत्पादन प्रक्रिया उन्नत होती है अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से भी उत्पादन का विशेष महत्त्व है। विकसित राष्ट्रों के आर्थिक सहयोग के कारण अविकसित तथा पिछड़े राष्ट्रों की उत्पादन प्रक्रिया भी उन्नत होती है।

जिस साहसी (Entrepreneur or Enterpriser) कहते है होना आवश्यक है। साहस को उत्पादन के साधनो म एक अलग साधन के रूप म स्थान प्रदान करने का श्रय जे बी० से तथा अमरिकी अर्थशास्त्रियो को है। पुराने अर्थशास्त्री इसको व्यवस्था का ही एक अग मानते थे।

साधनों के वर्गीकरण की समीक्षा

(Analysis of the classification of factors of production)

उत्पादन के साधना के वर्गीकरण के सम्बन्ध म अर्थशास्त्रियो म मतभेद है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो द्वारा निर्धारित उत्पादन के साधनो के वर्गीकरण म कुछ परिवतन किए गये हैं। अत इन परिवतनो का क्रमबद्ध विवेचन करना आवश्यक है

1 प्रारम्भिक वर्गीकरण—उत्पादन के दो मौलिक साधनों की मान्यता
प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो न कुल उत्पादन के विभाजन के आधार पर उत्पादन के तीन साधनो को स्वीकार किया था। उनका विचार था कि उत्पादन से प्राप्त फल तीन भागो म बाटा जाता है **प्रथम भाग भूमि को, दूसरा भाग श्रम को और अतिम भाग पूजी को** प्राप्त होता है। उन्होंने भूमि को निष्क्रिय (Passive) साधन तथा श्रम को सक्रिय (Active) साधन माना था। परन्तु **प्रो० चपमैन तथा जे० एस० मिल** ने उत्पादन के दो ही साधनो पर विशेष बल दिया था। उनके अनुसार भूमि और श्रम ही उत्पादन के मौलिक साधन हैं क्योकि भूमि अर्थात् प्राकृतिक साधनो के न होने पर उत्पादन नही हो सकता और भूमि के होने पर भी श्रम के न रहने पर उपयोगिता का सजन असम्भव है। अत इन दोनो साधनो के रहने पर ही उत्पादन काय सम्भव हो पाता है। इनके अतिरिक्त पूजी, जो उत्पादन का महत्वपूर्ण परन्तु गौण साधन है भूमि और श्रम की सयुक्त उपज (Joint Product) का वह शेष भाग माना गया है जो उपभोग के पश्चात् उत्पादन के लिए बच रहता है। वह उत्पादन का मौलिक साधन नही है। भूमि और श्रम के रहने पर पूजी प्राप्त हो सकती है परन्तु पूजी की कल्पना इन दोनो की अनुपस्थिति म नही की जा सकती।

इसी आधार पर इन अर्थशास्त्रियो ने सगठन को भी उत्पादन के एक अलग साधन के रूप म स्वीकार नही किया। उनके विचार म सगठन विशिष्ट श्रम है जिस श्रम के अन्तगत ही सम्मिलित किया जा सकता है। परन्तु पन्सन (Penson) के विचार से उत्पादन का प्रत्येक साधन आवश्यक है। हा इतना अवश्य है कि अलग अलग समय तथा औद्योगिक विकास की विभिन्न अवस्थाओ म अलग अलग साधनो का अलग अलग महत्व रहता है।

2 मार्शल द्वारा उत्पादन के साधनो का वर्गीकरण—उत्पादन के चार साधनों के सम्बन्ध म मान्यता मार्शल ने उत्पादन के चार साधन बतलाए हैं—भूमि

श्रम, पूँजी और संगठन। बाद में संगठन को भी दो भागों में उपविभाजित कर दिया गया—प्रबन्ध तथा साहस। इस प्रकार उत्पादन के पाँच साधन मान गये हैं—भूमि, श्रम, पूँजी संगठन और साहस। आधुनिक विचारधारा इस वर्गीकरण के ही पक्ष में है। इस वर्गीकरण अर्थात् उत्पादन के पाँच साधनों के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार किए जाने के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिए जाते हैं

(i) आधुनिक उत्पादन प्रणाली में पूँजी, भूमि तथा श्रम से भी अधिक महत्त्वपूर्ण साधन है। वर्तमान औद्योगिक युग में भूमि एवं श्रम जैसे उत्पादन के साधनों का उपयोग पूँजी पर निर्भर है। श्रम के स्थान पर मशीनों का प्रयोग करके श्रम के महत्त्व को कम किया जा सकता है और भूमि की कमी की पूर्ति उपलब्ध प्रकृति-दत्त वस्तुओं के समुचित प्रयोग द्वारा सम्भव हो सकती है।

(ii) उत्पादन के कार्य को नियन्त्रित करने तथा भूमि, श्रम और पूँजी की इकाइयों को व्यवस्थित करके कम से कम लागत पर अधिक से अधिक उत्पादन प्राप्त करने के उत्तरदायित्व की पूर्ति एक कुशल प्रबन्धक ही कर सकता है। इस विशिष्ट श्रम के रूप में मानवीय श्रम के अन्तर्गत सम्मिलित करना उचित नहीं है।

(iii) प्रत्येक उत्पादन-कार्य में जोखिम तथा हानि की सम्भावनायें बनी रहती हैं। अन्य सभी साधनों को प्रदान करने वाले साधक—भूमिपति श्रमिक पूँजीपति तथा प्रबन्धक—में से प्रत्येक साधक उत्पादन-कार्य में भविष्य की अनिश्चितता एवं हानि से दूर रहना चाहता है। वह तो कुल उत्पादन में अपने अंश की ओर से निश्चिन्त हो जाना चाहता है। हानि से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। साहसी इस अनिश्चितता एवं हानि की सम्भावनाओं तथा जोखिम का भार उठाता है। इस प्रकार वह उत्पादन को अपना महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान करता है। अतः साहस भी उत्पादन के एक स्वतन्त्र साधन के रूप में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

3 कुछ आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार उत्पादन के साधन अनगिनत हैं कुछ आधुनिक अर्थशास्त्री उपयुक्त वर्गीकरण से सहमत नहीं हैं। इनमें **विक्स्टीड बेनहम तथा डेवन पोर्ट के नाम उल्लेखनीय हैं। प्रोफेसर बेनहम के अनुसार "कोई भी इकाई जो किसी भी स्तर पर उत्पादन-कार्य में सहायता दे वही उत्पादन का साधन है।"[1]** भूमि अनेक प्रकार से प्रयोग में लायी जाती है जैसे कृषि-योग्य भूमि शहरी भूमि जिसका प्रयोग गृह निर्माण के लिए किया जाता है, औद्योगिक क्षेत्र की भूमि जिसका प्रयोग औद्योगिक भवनों के निर्माण के लिए ही

---

1 Anything which contributes towards output is a factor of production ..... any ingredient which goes into the productive process at any stage is a factor of production."

—*Benham*

होता है। अत विभिन्न प्रकार की भूमि को एक ही वर्ग म रखना उचित नहीं है और विभिन्न प्रकार की भूमि को अलग-अलग उत्पादन का साधन मानना चाहिए। इसी प्रकार पू जी म सम्मिलित रेल का इजन केवल रेल चलाने के लिए ही प्रयुक्त किया जाता है जबकि सूती वस्त्र उद्योग म प्रयुक्त मशीनों का प्रयोग केवल सूती वस्त्रों के बनाने के लिए ही किया जा सकता है। इन दोनों को एक ही वर्ग—पूजी—म सम्मिलित करना असैद्धान्तिक है। अत इन विभिन्न विशेषताओं तथा उपयोगिता वाले साधनों को समान मानकर उन्ह कुछ विशेष वर्गों म रखना सैद्धान्तिक रूप से गलत है। इन सभी साधनों—भूमि श्रम पूँजी साहस जिनम सगठन भी सम्मिलित है—उत्पादन का अलग अलग एवं स्वतन्त्र साधन मानना अधिक वैज्ञानिक तथा यथार्थ होगा।

उपयुक्त विचार एव मत के अनुसार उत्पादन के पाच साधन ही नहीं वरन् अनेक साधन हो सकते हैं। परन्तु जैसा कि बेनहम ने आगे स्पष्ट किया है आर्थिक समस्याओं के विश्लेषण के लिए इन उत्पादन साधनों की सख्या म कुछ कमी की जा सकती है। यदि एक ही गुण एव प्रकार वाले साधनों को एक ही वर्गों म या वर्ग म रख दिया जाय तो साधनों की सख्या कम हो सकती है।

परम्परागत वर्गीकरण के विरुद्ध एक आक्षेप यह भी है कि कुछ साधनों को मौलिक मानकर उन्ह अन्य साधनों से पृथक कर देना उचित नहीं है। बेनहम का यह मत है कि मौलिकता के आधार पर भूमि को पू जी से अलग एक साधन मानना उपयुक्त नहीं है। यह ठीक है कि भूमि प्रकृति द्वारा प्रदान की जाती है और पूँजी मनुष्य द्वारा निर्मित की जाती है। परन्तु भूमि की उत्पादकता तथा उपयोगिता म वृद्धि मानव प्रयासों के द्वारा ही सम्भव हो पाती है। यदि भूमि को साफ करके उसको कृषि योग्य अथवा शहरी क्षेत्र या औद्योगिक क्षेत्र म परिवर्तित कर दिया जाय तो यह भूमि पू जी कहलायगी। परन्तु प्रकृति द्वारा दी गयी भूमि और मनुष्य द्वारा नया रूप देन पर उपलब्ध भूमि म भेद करना कठिन होगा। अत दोनों म जो थोडा सा मौलिक अन्तर हो उसको ध्यान म रखकर भूमि को भी पू जी के अन्तर्गत शामिल किया जा सकता है। इसी प्रकार श्रम की कार्यकुशलता म वृद्धि करके उस भी अधिक उपयोगी बनाया जा सकता है। इस आधार पर केवल मौलिक या प्रकृति-प्रदत्त उपहार होने के कारण भूमि और श्रम को अलग श्रेणियों म रखना ठीक प्रतीत नहीं होता।

4 **नवीन वर्गीकरण उत्पादन के दो साधन विशिष्ट (Specific) तथा अविशिष्ट (Non specific)** उपयुक्त मतभेदों के कारण उत्पादन के पाच साधनों की सख्या को कम करने की दिशा म और भी अन्य प्रयत्न किए गए हैं। **आस्ट्रियन अर्थशास्त्री वीजर (Wieser)** ने उत्पादन के समस्त साधनों को दो विस्तृत श्रेणियों—विशिष्ट (Specific) तथा अविशिष्ट (Non specific) म रखा है। जिन

साधनों का उपयोग केवल किसी एक विशिष्ट कार्य के लिए ही किया जा सकता है तथा जो साधन गतिशील नहीं होते उन्हें विशिष्ट साधन (Specific factors) कहते हैं जैसे रेल का इंजन केवल एक विशिष्ट कार्य—गाडी चलाने—के लिए ही उपयोगी माना जाता है उसे जूट या चीनी मिल में मशीनों को चलाने के लिये प्रयोग में नहीं लाया जा सकता। अत यह एक विशिष्ट साधन माना जायगा। इसके विपरीत जिनस साधनों का उपयोग विभिन्न कार्यों के लिए किया जा सकता है तथा जो गतिशील होते हैं उन्हें अविशिष्ट साधन (Non-specific factors) कहते हैं जैसे एक शक्ति-यन्त्र (बिजली की मोटर) जिसका प्रयोग कहीं पर भी किया जा सकता है। परन्तु इस सम्बन्ध में भी यही कहा जाता है कि किसी साधन की विशिष्टता तथा अविशिष्टता उसके प्रयोग पर निर्भर करती है। यह साधन का मौलिक गुण नहीं है। इस गुण को उत्पादन-कार्य के लिए साधन के साथ जोड दिया जाता है। श्रम को चाहे मशीन चलाने के लिए प्रयोग में लाया जाय सगठन कार्य के लिए वह श्रम ही कहलायगा। इसके साथ ही साथ कोई साधन विशिष्ट अथवा अविशिष्ट थोडे ही समय के लिए रह सकता है। जब तक कोई भूमि बेकार पडी है तब तक वह अविशिष्ट है क्योंकि उसका प्रयोग किसी भी कार्य—मकान बनाने दुकान बनाने पार्क बनाने आदि—के लिए किया जा सकता है। परन्तु जब उसका प्रयोग मकान बनाने के लिए ही किया जाता है तब वह विशिष्ट साधन कहा जाता है।

उत्पादन के साधनों के बारे में निष्कर्ष उपरोक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि उत्पादन के साधनों का पाँच वर्ग-सम्बन्धी परम्परागत वर्गीकरण ठीक नहीं है फिर भी इसे अस्वीकार करना उचित नहीं है। अर्थशास्त्र की वर्तमान विषय-सामग्री उत्पादन के साधनों के इस प्रकार के वर्गीकरण पर ही आधारित है। हालाँकि एक दृष्टि से उत्पत्ति के साधनों को विशिष्ट तथा अविशिष्ट भागों में बाँटना उचित ही है किन्तु यह वर्गीकरण सदैव सही नहीं उतरता। यह वर्गीकरण अल्पकाल में तो उचित ठहरता है किन्तु दीर्घकाल में सभी साधन 'अविशिष्ट' हो जाते हैं। वस्तुत विशिष्टता तथा अविशिष्टता तो एक प्रकार का गुण होता है जिसे किसी भी साधन के साथ सलग्न किया जा सकता है। अत उत्पादन के साधनों को पाँच भागों में बाँटना अधिक सरल तथा अर्थशास्त्र के विद्यार्थियों के लिए उपयोगी है। सभी उत्पादनकारी साधनों को एक-साथ सम्मिलित करके अथवा उनका सूक्ष्म वर्गीकरण करके अलग अलग अध्ययन करना कठिन एव जटिल होगा तथा अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों को पुन नया रूप देने की आवश्यकता होगी।

उत्पादन के साधनों का सापेक्षिक महत्त्व
(Relative Importance of Factors of Production)

उत्पादन के साधनों के वर्गीकरण की समीक्षा के बाद हमारे सामने यह प्रश्न उठता है कि इन पाँचों साधनों का सापेक्षिक महत्त्व क्या है ? अर्थात् इन साधनों में कौन-सा साधन सर्वाधिक महत्त्व का है और कौन-सा कम महत्त्व का ? वास्तव

म यह कहना एक दुष्कर काय है कि अमुक साधन सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण है क्योंकि प्रत्येक साधन का अपना स्थान है। फिर भी निष्कर्ष रूप म यह कहा जा सकता है कि भूमि तथा श्रम उत्पादन के मौलिक तथा आधारभूत साधन हैं जबकि पूँजी सगठन तथा साहस उत्पादन के वकल्पिक साधन है क्योंकि इनसे उत्पादन कुशलता म वद्धि होती है किन्तु उत्पादन इनके अभाव म भी हो सकता है।

भूमि जिसम नदियाँ खनिज पदाथ वन इत्यादि प्राकृतिक उपहारो को सम्मिलित करते हैं किसी भी देश के आर्थिक विकास एव उत्पादन वद्धि के लिए आवश्यक है। जिस देश म इन प्राकृतिक उपहारो की जितनी बाहुल्यता होती है उस देश की उतनी ही प्रगति सम्भव होती है। सयुक्त राज्य अमरिका तथा सोवियत रूस की समृद्धि म इन्ही प्राकृतिक उपहारो का योगदान है।

किसी देश म प्राकृतिक साधनो की बाहुल्यता ही पर्याप्त नही होती बल्कि इनके उपयोग हेतु श्रम पूँजी व साहस की भी आवश्यकता होती है। इनके अभाव म प्राकृतिक साधनो से सम्पन्न राष्ट्र भी पिछड सकता है। भारत इसका एक उदाहरण है।

आज की आधुनिक औद्योगिक अर्थव्यवस्था म बड पमाने पर उत्पादन किया जाता है जिसके लिए बडी मात्रा म पूँजी का प्रयोग आवश्यक है। बड पमाने पर उत्पादन हेतु आधुनिकतम यन्त्र कल पुर्जे मशीनें कुशल श्रमिक तथा अन्य सेवाओं की आवश्यकता पडती ह। पूँजी के अभाव म इनकी व्यवस्था असम्भव होती है। आधुनिक युग म पूँजी का महत्त्व भूमि तथा श्रम स भी अधिक है। बडे पमाने के उत्पादन की अवस्था म अत्यधिक जटिलता भी बढ जाती ह। अत कुशलतापूवक उत्पादन व्यवस्था सचालन करने के लिए कुशल प्रबन्ध का होना भी आवश्यक है। कुशल प्रबन्ध के अभाव म उत्पादन प्रक्रिया भी छिन्न भिन्न हो जाती है उत्पादन स्तर भी गिर जाता है तथा लागत बढ जाती है। अत कुशल प्रबन्ध या सगठन भी उत्पादन का महत्त्वपूर्ण साधन है।

आज के इस औद्योगिक और वज्ञानिक युग म जीवन परिवतनशील है और इस परिवतनशीलता के कारण व्यावसायिक तथा औद्योगिक जोखिम म निरन्तर वद्धि हो रही है। इन जोखिमो को सहन करने तथा अनिश्चितता के दायित्व को वहन करने के लिए साहस का भी अत्यधिक महत्त्व है। किसी भी देश की औद्योगिक तथा आर्थिक प्रगति बिना अनुभवी तथा योग्य साहसियो के सम्भव नही होती है। अत साहस भी उत्पादन का एक महत्त्वपूर्ण साधन है।

हो सकता है किसी देश के आर्थिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं म उत्पत्ति के साधनो का महत्त्व भिन्न भिन्न रहा हो। सभ्यता के प्रारम्भ म उत्पादन के केवल दो ही साधन—भूमि एव श्रम—महत्त्वपूर्ण माने जाते थे। उस समय मनुष्य अपने जीवन निर्वाह के लिए मुख्य रूप म प्राकृतिक वस्तुओं तथा शक्तियों पर ही निभर रहता था। आखेट युग म भूमि का अधिक महत्त्व था किन्तु कृषि व हस्त

कला युग में भूमि के साथ श्रम का भी महत्त्व बढ़ने लगा। धीरे धीरे आदि मानव ने अपने प्रयत्नों को सफल बनाने के लिए कुछ औजारों का प्रयोग प्रारम्भ किया। इस पूंजी की सत्ता दी गई। इसी प्रकार आज की औद्योगिक प्रयव्यवस्था में कुशल प्रबन्ध तथा साहस का भी महत्त्व बढ़ गया है। इसीलिए आधुनिक उत्पादन प्रणाली में यह कहना उचित होगा कि उत्पादन के पाँचों साधनों का अत्यधिक महत्त्व है। सभी साधन अपने अपने स्थान पर महत्वपूर्ण हैं।

क्या समस्त आर्थिक क्रियायें उत्पादन तथा उपभोग के अन्तर्गत आ जाती हैं ?
(Do Production and Consumption Exhaust all Economic Activities ?)

साधारणत अर्थशास्त्र को चार भागों में विभक्त किया जाता है। इनमें राजस्व का अध्ययन नहीं किया जाता है क्योंकि राजस्व में सरकार की वे क्रियायें आती हैं जिनसे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मानव की उपभोग उत्पादन विनिमय तथा वितरण की क्रियाएं प्रभावित होती हैं।

यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो यह स्पष्ट रूप से विदित हो जाता है कि वितरण तथा विनिमय की क्रियाओं का समावेश वास्तव में उत्पादन के अन्तर्गत हो जाता है। विनिमय की क्रिया व्यक्ति मूलक उपयोगिता तथा वितरण की क्रिया स्थान मूलक उपयोगिता का निर्माण करती है। इस प्रकार ये क्रियायें भी एक प्रकार से उत्पादन क्रियाएँ ही हैं।

इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य उत्पादक तथा उपभोक्ता दोनों ही होता है। इसका कारण यह है कि बिना उपभोग के उत्पादन व्यर्थ है और बिना उत्पादन के उपभोग नहीं हो सकता। इसीलिए दोनों परस्पर आश्रित व घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं।

इसके अलावा वितरण तथा विनिमय की क्रियाएँ उपभोग के लिए साधन के रूप में हैं। उपभोक्ता की आवश्यकता की पूर्ति उत्पादन विनिमय व वितरण के द्वारा ही सम्भव होती है।

अन्त निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि सूक्ष्म तथा गहन दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट है कि मानव की समस्त क्रियाओं का समावेश उत्पादन तथा उपभोग के अन्तर्गत ही हो जाता है।

प्रश्न व संकेत

1 उत्पादन का अर्थ बताइए। वे कौन-कौन से तत्त्व हैं जो किसी समय में एक देश के उत्पादन की मात्रा को प्रभावित करते हैं ?

What is the meaning of product on ? What a e the fac o s which determine the volume of production at any given time in a country ?

[संकेत—सर्वप्रथम उत्पादन का अर्थ स्पष्ट कीजिए। इसके बाद उत्पादन की मात्रा को प्रभावित करने वाले तत्त्वों का वर्णन कीजिए।]

2 उत्पादन उपयोगिताओं का सृजन है। विवेचना कीजिए।

Production is the creation of utilities Disscuss

[सकेत—यह बताइये कि अर्थशास्त्र म उत्पादन का अर्थ उपयोगिता का सृजन करना है और वह कितनी प्रकार की उपयोगिता सृजन करता है जैसे रूप मूलक समय मूलक स्वामित्व मूलक स्थान मूलक आदि। उदाहरणा द्वारा स्पष्ट कीजिये।]

3 उत्पादन क्या है ? उत्पादन के साधन कौन-कौन से हैं ? इन साधनो म सर्वाधिक महत्वपूर्ण साधन कौन सा है ?

What is production ? What are the factors of production ? Which of the factors is most important ?

[सकेत—उत्पत्ति का अर्थ लिख कर उत्पत्ति के पाचो साधनो का वर्णन करें। अन्त म उपयुक्त उदाहरण देते हुए यह बताइये कि उत्पादन के सभी साधनो का अपने स्थान पर महत्व है।]

4 उत्पादन का आर्थिक अर्थ क्या है ? क्या उत्पादन तथा उपभोग के अन्तर्गत मनुष्य की सभी आर्थिक क्रियाए आ जाती हैं ?

What is the economic meaning of production ? Do production and consumption exhaust all the economic activities of man ?

[सकेत—प्रश्न के दूसरे भाग म उत्पादन व उपभोग के अन्तर्गत आने वाली आर्थिक क्रियाए बताइये।]

5 केवल भूमि तथा श्रम ही उत्पादन के अनिवार्य साधन है। इस कथन की समीक्षा कीजिए।

Land and labour are the only indispensable factors of production Discuss

[सकेत—उत्पादन के साधनो के सम्बन्ध म विभिन्न अर्थशास्त्रियो के विचार दीजिए।]

19

भूमि तथा भूमि की क्षमता
(Land and Efficiency of Land)

> By land is meant not merely land in the strict sense of the word but whole of materials and the forces which nature gives freely for man s aid in land and water in air and light and heat
>
> —*Marshall*

भूमि का अर्थ (Meaning of Land)

भूमि उत्पादन का प्रमुख साधन है। साधारण भाषा में भूमि का अर्थ भूमि की सतह तथा मिट्टी से है परन्तु अर्थशास्त्र में 'भूमि' का अर्थ अधिक व्यापक है। अर्थशास्त्र में भूमि का अभिप्राय उन समस्त पदार्थों एवं शक्तियों से है जो पृथ्वी की सतह पर उसके नीचे तथा ऊपर प्रकृति द्वारा निःशुल्क उपहारस्वरूप प्रदान की जाती है। इस विस्तृत अर्थ में भूमि के अन्तर्गत भूमि की सतह के अतिरिक्त अन्य सब प्राकृतिक साधनों जैसे हवा धूप वर्षा नदी झरने पहाड़ वन समुद्र जीव जन्तु वनस्पतियाँ खनिज पदार्थ आदि भी सम्मिलित हैं। प्रोफेसर मार्शल ने भूमि के इसी अभिप्राय को अपनी परिभाषा में व्यक्त किया है जो इस प्रकार है

"भूमि का अर्थ शब्द के वास्तविक अर्थ में, केवल भूमि से ही नहीं है वरन उन सभी पदार्थों और शक्तियों से है जो प्रकृति मनुष्य की सहायता के लिए पृथ्वी भूमि और पानी वायु प्रकाश और उष्णता के रूप में निःशुल्क प्रदान करती है।'[1]

इस प्रकार मार्शल की परिभाषा के अनुसार भूमि के अन्तर्गत वे सभी पदार्थ एवं साधन आते हैं जिन्हें प्रकृति ने निःशुल्क उपहारस्वरूप प्रदान किया है जैसे—

(i) पृथ्वी की ऊपरी सतह जिस पर हम रहते हैं तथा चलते फिरते हैं।

(ii) पृथ्वी की सतह पर पाये जाने वाले प्राकृतिक पदार्थ जैसे समुद्र वन पहाड़ नदी झील इत्यादि।

---

1 By land is meant not merely land in the strict sense of the word but the whole of the materials and the forces which nature gives freely for man s aid in land and water in air and light and heat.

—*Marshall*

(iii) पृथ्वी की सतह के निचले भाग में पाये जाने वाले खनिज पदार्थ तथा अन्य प्रकार की वस्तुएं।

(iv) प्राकृतिक शक्तियां जैसे जलवायु सूर्य की रोशनी इत्यादि। प्रो० केयरनक्रास (Cairncross) जैसे अर्थशास्त्री जलवायु सूर्य की रोशनी आदि को भूमि के अन्तर्गत शामिल नहीं करते हैं क्योंकि इस पर किसी का स्वामित्व या अधिकार नहीं होता।

पेंसन ने भी भूमि के सम्बन्ध में इसी प्रकार का मत प्रकट किया है। किन्तु प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने इस शब्द का उपयोग विभिन्न अर्थों में किया है। इन अर्थशास्त्रियों में से कुछ का यह मत है कि प्रकृति की उदारता के कारण इससे मिला उपहार ही भूमि है। रिकार्डो (Ricardo) ने भी इसे प्रकृति का निःशुल्क या स्वतन्त्र उपहार (Free Gift of Nature) ही माना है परन्तु वह अपने पूर्ववर्ती विचारकों की इस बात से सहमत नहीं है कि प्रकृति उदार है।

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने प्रारम्भ में भूमि की मौलिक तथा नष्ट होने वाली शक्तियों को ही भूमि माना था। बाद में उन्होंने कृषि-योग्य भूमि के सम्बन्ध में उसकी मिट्टी की उर्वरा शक्ति गैर-कृषि के सम्बन्ध में उसके स्थान (Space) तथा उसकी स्थिति के मूल्य (Site value) वायु जल और सूर्य के प्रकाश को भूमि के अन्तर्गत सम्मिलित किया। परन्तु मार्शल ने अपनी उपर्युक्त परिभाषा में भूमि का प्रयोग अधिक व्यापक अर्थ में किया। मार्शल तथा पेंसन की परिभाषाओं में यह निष्कर्ष निकलता है कि भूमि के अन्तर्गत केवल उन्हीं पदार्थों तथा शक्तियों को सम्मिलित किया जा सकता है जिनको मनुष्य अपने श्रम द्वारा निर्मित नहीं करता है क्योंकि मनुष्य द्वारा निर्मित वस्तुएँ पूँजी के अन्तर्गत सम्मिलित की जाती है। इसी विचारधारा की अन्य परिभाषाएं इस प्रकार हैं

प्रो० फ्रेजर (Fraser) के शब्दों में भूमि उन सभी प्राकृतिक साधनों से सम्बन्धित है जिनसे आय होती है अथवा जिनका विनिमय मूल्य होता है। इनसे उन प्राकृतिक साधनों का भाव प्रकट होता है जो वास्तव में अथवा सम्भाव्य रूप से लाभदायक तथा दुर्लभ हैं।'[1]

भूमि के अर्थ के सम्बन्ध में आधुनिक विचार

आधुनिक अर्थशास्त्रियों जे० के० मेहता (भारतीय अर्थशास्त्री) तथा वीजर (आस्ट्रियन अर्थशास्त्री) ने भूमि को उत्पादन का एक अलग साधन नहीं माना है।

---

1 Land stands for all natural resources which yield income or which have exchange value It reflects those natural resources which are useful and scarce

—*Fraser*

उनका यह विचार है कि यदि हम उत्पादन के साधनों को उनके प्रयोग की विशिष्टता के आधार पर वर्गीकृत कर दें तो भूमि की विशेषताएँ प्रत्येक साधन में दृष्टिगोचर होती हैं। यदि कोई साधन किसी एक विशिष्ट काम के लिए ही प्रयोग में आए तो उसे विशिष्ट साधन (Specific factor) कहा जायगा। अन्य उपयोग में आने वाला साधन अविशिष्ट साधन (Non-specific factor) कहा जा सकता है। आधुनिक विचारधारा के अनुसार 'भूमि एक विशिष्ट साधन है' या वह किसी साधन में विशिष्ट तत्त्व (Specific element) को या किसी वस्तु के विशिष्टता पक्ष को बताता है। इस आधार पर प्रत्येक साधन में 'भूमि पहलू' या 'भूमि तत्त्व' (Land aspect) वर्तमान रहता है। यहाँ पर 'भूमि का पक्ष' होने का अर्थ यह है कि उस साधन के विभिन्न उपयोग न होने के कारण उसके वैकल्पिक उपयोग (Alternative uses) का ध्यान में नहीं रखना पड़ता और न ही उसमें कोई त्याग की भावना ही निहित होती है।[1] दूसरे शब्दों में यदि कोई साधन एक ही प्रयोग में इस्तेमाल किया जाता है और इस सीमा तक वह दूसरे प्रयोग में नहीं माँगा जा सकता है तो वह वर्तमान प्रयोग के लिए विशिष्ट है। यदि कोई भी साधन एक ही प्रयोग में न आकर दूसरे प्रयोग में भी माँगा जाता है तो उसमें भूमि तत्त्व का अभाव होता है।

उक्त आधार पर ही आधुनिक अर्थशास्त्री भूमि के 'विशिष्टता तत्त्व' पर बल देते हैं। इनके अनुसार किसी भी साधन में 'विशिष्टता तत्त्व' ही भूमि है। अतः यह आवश्यक नहीं कि 'भूमि' को ही विशिष्टता तत्त्व होने के कारण 'भूमि' माना जाय। यदि उत्पादन के किसी अन्य साधन में 'विशिष्टता तत्त्व' वर्तमान हो तो वह साधन विशिष्ट माना जा सकता है और यह कहा जा सकता है कि उस साधन में भूमि तत्त्व वर्तमान है। अतः भूमि नामक साधन का दो अलग नहीं बनाया जा सकता।

किन्तु आगे चलकर प्रो० मेहता ने यह स्वीकार किया है कि भूमि की इस नवीन परिभाषा तथा प्राचीन अर्थशास्त्रियों की परिभाषा में कोई अन्तर नहीं है। प्रो० मेहता के अनुसार पुरानी परिभाषा के अनुसार भूमि एक निःशुल्क उपहार है जबकि आधुनिक परिभाषा के अनुसार इसका कोई दूसरा प्रयोग नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि वस्तु का एक ही प्रयोग है जिसमें इसको प्रयुक्त किया जा सकता है, प्रयोग करने में कोई त्याग नहीं करना पड़ता। अतः वह वस्तु निःशुल्क एक उपहार है।[2]

---

1 A factor of production therefore appears in its land aspect when it is considered as rendering its service without any sacrifice or cost.

—J K Mehta

2 "It will be seen that the modern definition of land does not differ from the old definition. The old definition says that land is a free gift, the modern definition says that it has no other use. If there is no other use it simply means that there is no sacrifice involved in making the only use to which the thing can be put and no sacrifice means that it is free, it is a gift."

—J K Mehta

वास्तव में प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने पूँजी और भूमि में अन्तर स्पष्ट करने के लिए भूमि की एक विशेषता– सीमितता' –जिसे आधुनिक अर्थशास्त्री विशिष्टता कहते हैं पर ही जोर दिया था। प्राचीन अर्थशास्त्रियों की यह भूल थी कि उन्होंने भूमि को ही केवल विशिष्ट माना था जबकि आधुनिक अर्थशास्त्री भूमि को ही नहीं बल्कि अन्य उत्पादन साधनों को भी विशिष्ट मानते हैं क्योंकि इनके अनुसार कोई भी साधन विशिष्टता का गुण ग्रहण कर सकता है।

भूमि की विशेषताएँ (Characteristics of Land)

1 भूमि प्रकृति की निःशुल्क देन है (Free Gift of Nature) भूमि प्रकृति द्वारा प्रदान किया गया एक स्वतन्त्र उपहार है। इसका सृजन तथा निर्माण मनुष्य नहीं करता। मनुष्य इसे बिना किसी व्यय के प्रकृति से स्वतन्त्र रूप में प्राप्त करता है। मानव समाज को इसके लिए कोई मूल्य नहीं देना पड़ता। बाद में वह उसमें सुधार करके उसे अधिक उपयोगी बना लेता है। इस सम्बन्ध में मार्शल ने कहा है कि वे भौतिक पदार्थ जो अपनी उपयोगिता के लिए मानवीय श्रम के ऋणी हैं पूँजी के अन्तर्गत रखे जाते हैं और वे पदार्थ जो किसी प्रकार से उसके ऋणी नहीं है भूमि के अन्तर्गत आते हैं।[1]

2 भूमि की मात्रा सीमित है (Limited in Quantity) भूमि की मात्रा अथवा उसका परिमाण सीमित है। उसकी मात्रा में किसी प्रकार वृद्धि या कमी नहीं की जा सकती। जिस सीमा या परिमाण में प्रकृति ने अपने उपहार दे रखे हैं वे निश्चित हैं जैसे पृथ्वी का क्षेत्रफल प्रकृति द्वारा निर्धारित एवं निश्चित कर दिया गया है। मनुष्य न तो उसको घटा सकता है और न ही उसको बढ़ा सकता है। यही कारण है कि भूमि की पूर्ति पूर्णतया बेलोचदार मानी जाती है। कुछ आलोचकों ने यह तक प्रस्तुत किया है कि भूमि का क्षेत्रफल समुद्र झीलों तालाबों को सुखाकर बढ़ाया जा सकता है परन्तु यह तर्क ठीक नहीं है। भूमि अर्थात् धरातल तो पहले से ही वहाँ वर्तमान है। मनुष्य उस स्थान के पानी को सुखाकर केवल उसकी उपयोगिता में वृद्धि ही करता है।

3 भूमि अविनाशी है(Indestructible) भूमि कभी भी नष्ट नहीं होती। पृथ्वी की सतह पर कभी-कभी कुछ आवश्यक परिवर्तन होते रहते हैं जैसे पहाड़ों के स्थान पर समतल भूमि का हो जाना नदियों का सूख जाना आदि। परन्तु इन परिवर्तनों का यह अर्थ नहीं है कि भूमि नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार भूमि की

---

1 Those material things which owe their usefulness to human labour being classed under capital and those which owe nothing to it being classed as land

—*Cairncross*

उवरा शक्ति म कमी होन पर यह कहना कि भूमि नष्ट हो गई है गलत है। प्रकृति स्वय प्राकृतिक तत्वों को प्रदान करके उसकी उवरा शक्ति म वद्धि करती है।

4 भूमि अचल एव स्थिर (Immovable) है भूमि स्वभाव स ही स्थिर एव अचल है। इसको एक स्थान स दूसर स्थान पर नहीं ले जाया जा सकता। अत इसम गतिशीलता का अभाव है। किसान के खेतों खानों वन नदियों आदि का किसी अन्य स्थान पर स्थानान्तरण नहीं किया जा सकता।

5 भूमि निष्क्रिय (Passive) है भूमि का यह प्राकृतिक गुण है कि वह स्वाभाविक रूप स जड एव निर्जीव है। वह उत्पादन-काय में स्वय सक्रिय भाग नहीं ले सकती। श्रम का सहयोग प्राप्त करन पर ही उत्पादन म उसका सहयोग मिलता है।

6 भूमि के गुणों में विभिन्नता (Variability) स्थिति तथा उवरा शक्ति के विचार स सभी भूमि एक सी नहीं है। कृषि-योग्य भूमि म ही कुछ अत्यधिक उपजाऊ कुछ औसत दर्जे की तथा कुछ कम उपजाऊ होती है। स्थिति के विचार स भी भूमि म विभिन्नता पाई जाती है जैसे शहर के निकट की भूमि तथा शहर से दूर की भूमि। इसी प्रकार अन्य क्षेत्रों म कुछ खानों म अधिक खनिज पदार्थ होता है और कुछ म कम वर्षा कहीं अधिक होती है तो कहीं पर कम। अत विभिन्नता भी भूमि का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण है।

7 भूमि का कोई पूर्ति मूल्य नहीं होता (Land has no supply price) मार्शल के अनुसार भूमि का क्षेत्र निश्चित है मनुष्य का इस पर कोई नियन्त्रण नहीं है वह पूर्णतया माँग स अप्रभावित रहती है। (अर्थात इस पर माँग का कोई प्रभाव नहीं पड़ता), इसका कोई उत्पादन-व्यय नहीं होता इसका कोई पूर्ति मूल्य नहीं होता जिस पर इसका उत्पादन किया जाय।[1] इस आधार पर भी कहा गया है कि भूमि का पूर्ति मूल्य इसके प्रचलित मूल्य को प्रभावित नहीं करता।

8 भूमि उत्पत्ति ह्रास नियम के (Law of Diminishing Returns) आधीन है भूमि की एक विशेषता यह है कि यदि भूमि के किसी टुकड़े पर श्रम तथा पूँजी की अधिकाधिक मात्रा म प्रयोग किया जाय तो उत्पादन घटती हुई दर पर प्राप्त होगा। आधुनिक अर्थशास्त्रियों के मत म उद्योगों म भी परिस्थितियों के अनुसार उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होने की प्रवत्ति दृष्टिगत होती है। रिकार्डो तथा मार्शल आदि के विचार स कृषि म ही उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होता है।

---

1 The area of the earth is fixed man has no control over it it is wholly unaffected it has no cost of production there is no supply price at which it can be produced"

—*Marshall*

9 भूमि उत्पादन का एक अपरिहार्य साधन (Land is an indisp nsable factor of production) चाहे भूमि स्वयं कुछ भी उत्पादन न करे उसके बिना उत्पादन सम्भव नहीं होता है। भूमि के अभाव में उत्पादन के अन्य साधन भी निष्क्रिय रहते हैं।

10 भूमि का महत्व उसकी स्थिति विशेष पर निर्भर है (Land s impor tance dep nds on it location) भूमि का महत्व उसकी स्थिति पर निर्भर करता है। ग्रामीण क्षेत्रों की तुलना में नगरों की भूमि अधिक मूल्यवान होती है।

भूमि के लक्षणों की समीक्षा

(1) भूमि का नया अर्थ आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने भूमि के उपर्युक्त लक्षणों में से कुछ की कड़ी आलोचना की है। उनके विचार से भूमि को प्रकृति का निःशुल्क उपहार मानना, उसकी मात्रा सीमित मानना तथा उसे अचल व अविनाशी समझना उचित नहीं है।

(2) भूमि का वर्ग भेद ठीक नहीं है भूमि प्रकृति की देन है। इस सम्बन्ध में कुछ अर्थशास्त्रियों का यह मत है कि केवल इस आधार पर वस्तुओं को दो वर्गों—मनुष्य द्वारा बनाई गई तथा प्रकृति द्वारा प्रदान की गई वस्तुओं—में बाँट देना ठीक नहीं है। प्रत्येक पदार्थ मानव श्रम तथा पूँजी द्वारा सँवारने के बाद ही उपयोगी होता है। प्रत्येक वस्तु अन्तिम रूप में प्रकृति की देन ही है। अतः इस प्रकार का वर्ग भेद ठीक मालूम नहीं होता और भूमि को इस आधार पर पूँजी तथा उत्पादन के अन्य साधनों से अलग रखना ठीक नहीं है।

(3) भूमि अविनाशी है यह कहना ठीक नहीं है भूमि के उपजाऊपन के अविनाशी होने के सम्बन्ध में भी यह कहा जाता है कि किसी भी भूमि पर निरन्तर खेती करने पर उसकी उत्पादन मात्रा क्रमशः घटती जाती है। इससे यह सिद्ध होता है कि भूमि की कार्यक्षमता उसी प्रकार कम होती है जिस प्रकार मानव श्रम या पूँजी की। अतः यह कहना कि भूमि अविनाशी है ठीक नहीं है।

(4) भूमि को स्थिर मानना ठीक नहीं है भूमि की स्थिरता का लक्षण केवल इस तथ्य पर ही आधारित है कि भूमि का स्थान-परिवर्तन सम्भव नहीं है। परन्तु गतिशीलता का अभिप्राय केवल स्थान-परिवर्तन से नहीं है बल्कि उसके विभिन्न प्रयोग से भी है। यदि किसी भूमि का प्रयोग कृषि से हटाकर स्कूल निर्माण में किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि भूमि स्थिर नहीं बल्कि गतिशील है। अतः उसे स्थिर मानना ठीक नहीं है।

(5) भूमि की मात्रा में वृद्धि भी सम्भव है आर्थिक दृष्टिकोण से उपलब्ध प्राकृतिक साधनों से उत्पादन मात्रा में वृद्धि करके भी भूमि की मात्रा में वृद्धि करना भी कर सकते हैं। भूमि पर गहन खेती करके तथा किसी एक मकान के ऊपर अनेक

मजिन सया करके स्थान की न्यूनता दूर की जा सकती है तथा उपयोगिताओं या उत्पादन में वृद्धि की जा सकती है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि भूमि की मात्रा में वृद्धि या कमी सम्भव नहीं है।

(6) भूमि निःशुल्क प्राप्त नहीं होती है भूमि उतनी ही मूल्यवान तथा विनिमय साध्य है जितने कि उत्पादन के अन्य साधन। यह कहना ठीक है कि मानव जाति को भूमि प्रकृति की ओर से निःशुल्क अर्थात् मूल्य चुकाये बगैर प्राप्त होती है परन्तु उस पर एक बार अधिकार प्राप्त कर लेने पर उसका अधिकारी बिना मूल्य लिए उसके प्रयोग का अधिकार किसी अन्य व्यक्ति को नहीं देता। इसके अतिरिक्त यदि यह मान भी लिया जाय कि कोई भूमि बिना मूल्य लिए प्राप्त हो गई है तो भी उसमें विभिन्न प्रयोगों का गुण होने के कारण 'अवसर लागत (Opportunity Cost) का तत्त्व मौजूद है। इस तत्त्व के आधार पर यह कहा जाता है कि भूमि का प्रयोग किसी एक कार्य के लिए ही करने पर उसके दूसरे प्रयोग का त्याग करना पड़ता है।

भूमि की कार्यक्षमता या उत्पादकता
(Efficiency or Productivity of Land)

भूमि की उत्पादन शक्ति या उसकी उत्पादकता को ही भूमि की कार्यक्षमता कहते हैं। उसकी कार्यक्षमता किसी उत्पादन कार्य के लिए उसकी उपयुक्तता तथा उसके द्वारा उत्पादित मात्रा के आधार पर निर्धारित की जाती है। यदि भूमि के एक टुकड़े से किसी अन्य टुकड़े की अपेक्षा अधिक उत्पादन किया जाता है तो यह कहा जायगा कि भूमि के पहले टुकड़े में अधिक उत्पादकता है और दूसरे टुकड़े में कम। कार्यक्षमता के आधार पर भी यह कहा जा सकता है कि पहले टुकड़े में दूसरे टुकड़े की अपेक्षा अधिक कार्यक्षमता है।

भूमि के सम्बन्ध में कार्यक्षमता या उत्पादनशीलता शब्द का सापेक्षिक (Relative) अर्थ में प्रयोग किया जाता है। वास्तव में किसी भी साधन के सम्बन्ध में इस शब्द का प्रयोग सापेक्षिक अर्थ में ही होता है, क्योंकि कार्यक्षमता बिना तुलनात्मक व्याख्या के बात नहीं की जा सकती। भूमि के विषय में भी जब तक हम इसके दो टुकड़ों में प्राप्त उत्पादन की मात्रा की तुलना नहीं करते, तब तक यह नहीं कह सकते कि भूमि का अमुक टुकड़ा दूसरे टुकड़े से अधिक उत्पादक या कार्यक्षम है।

भूमि की कार्यक्षमता को प्रभावित करने वाले तत्त्व
(Factors affecting Efficiency of Land)

भूमि की उत्पादनशीलता या कार्यक्षमता को प्रभावित करने वाले निम्न लिखित तत्त्व हैं

1 भूमि के मौलिक गुण (Natural Conditions) भूमि की उत्पादन क्षमता उसके मौलिक एवं प्राकृतिक गुणों पर निर्भर है। भूमि का यह मौलिक गुण

उसकी उर्वरा शक्ति है। यदि किसी भूमि में उर्वरा शक्ति है तो उसकी उत्पादकता अधिक होगी। यह उर्वरा शक्ति अन्य अनेक प्राकृतिक तत्त्वों से प्रभावित होती है जैसे भूमि विशेष की प्रकृति उसकी रचना मिट्टी की किस्म उसमें रासायनिक एवं सजीव तत्त्वों की उपस्थिति आदि।

2 **स्थिति** (Location) भूमि की कार्य क्षमता उसकी स्थिति से प्रभावित होती है। आजकल वस्तुओं का उत्पादन माँग की पूर्ति करने के लिए ही नहीं किया जाता बल्कि देश के विभिन्न क्षेत्रों की यहाँ तक कि विदेशी माँग की पूर्ति के लिए भी किया जाता है। अतः भूमि की कार्यक्षमता इस बात पर भी निर्भर है कि उसकी उत्पादन-लागत में बिक्री खर्च या वितरण व्यय किस मात्रा में सम्मिलित है। यदि भूमि रेल और यातायात के अन्य साधनों तथा शहरों व मण्डियों से दूर है तो उत्पादित वस्तु को अन्य स्थानों पर ले जाने में व्यय अधिक होगा जिससे भूमि की कार्यक्षमता कम हो जायगी।

3 **भूमि में सुधार** (Improvements) भूमि की उत्पादकता पर उसके सम्बन्ध में मनुष्य द्वारा किए गए सुधारों का भी प्रभाव पड़ता है। मनुष्य इन सुधारों के द्वारा भूमि के दोषों तथा प्राकृतिक असुविधाओं जैसे भूमि का क्षरण खेतों में अनावश्यक जल का एकत्र होना आदि को दूर करके भूमि की कार्यक्षमता में वृद्धि करता है। इसी प्रकार अच्छी खाद व अच्छे बीज का प्रयोग करके फसलों के हेर फेर से सिंचाई का प्रबन्ध करके भूमि के मौलिक गुणों में वृद्धि करके तथा वनारोपण आदि द्वारा भूमि की उत्पादकता को बढ़ाया जा सकता है। अतः यह स्पष्ट है कि मनुष्य अपने प्रयत्नों द्वारा भूमि में सुधार करके उसकी कार्यक्षमता में वृद्धि करता है।

4 ***संगठन की कार्यकुशलता*** (*Organisational Efficiency*) भूमि का उचित उपयोग ही भूमि को अधिक सक्रिय एवं उत्पादक बना सकता है। यह कार्य भूमि का संगठनकर्त्ता करता है। वह भूमि को उपयुक्त कार्य में लगाकर उसे अधिक उत्पादनशील बनाता है। यदि उसका उपयोग उचित ढंग से न किया जाय अर्थात् जिस कार्य के लिए वह अधिक उपयुक्त है यदि उसका उपयोग उस कार्य के लिए नहीं होता है तो यह निश्चित है कि उसकी उत्पादकता अपेक्षाकृत कम होगी। यदि भूमि का संगठनकर्त्ता भूमि का मालिक भी है तो वह अधिक श्रम तथा पूँजी लगाकर भूमि की उत्पादकता तथा कार्यक्षमता को बढ़ाने में अधिक रुचि लेगा।

5 **भूमि का समुचित उपयोग** (Proper use of land) भूमि की कार्यक्षमता बहुत कुछ उसके समुचित उपयोग पर भी निर्भर करती है। जो भूमि जिस कार्य के लिए उपयुक्त होती है यदि उसको उसी कार्य में प्रयोग किया जाता है तो इससे अवश्य ही उसकी कार्यक्षमता अधिक होगी। यदि कोई भूमि जूट की कृषि के

लिए उपयुक्त है और यदि उसमें जूट के स्थान पर कपास की खेती की जावे तो निश्चय ही उत्पादन कम होगा। इस प्रकार भूमि की कार्यक्षमता बहुत कुछ उसके समुचित उपयोग पर भी निर्भर करती है।

6 अन्य परिस्थितियाँ किसी देश की सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियाँ भी भूमि की कार्यक्षमता को प्रभावित करती है। समाज में भूमि पर कार्य करने वालों का स्थान एवं महत्व उनकी आर्थिक दशा सामाजिक नियम तथा सरकार की नीति—ये कुछ ऐसे प्रभावकारी तत्त्व हैं जो भूमि की कार्यक्षमता में कमी या वृद्धि करते हैं।

भूमि की उपज बढ़ाने की विधियाँ

भूमि की उपज बढ़ाने की दो विधियाँ हैं (i) विस्तृत खेती तथा (ii) गहन या गहरी खेती।

(i) विस्तृत खेती (Extensive Cultivation) विस्तृत खेती खेती करने की वह विधि है जिसके अनुसार उपज बढ़ाने के लिए किसी एक भूमि पर ही श्रम और पूँजी की मात्राओं को बढ़ाने के स्थान पर अतिरिक्त भूमि का उपयोग किया जाता है। इस विधि को अपनाने पर उत्पादन में वृद्धि करने के लिए किसान भूमि का क्षेत्र बढ़ाता जाता है परन्तु श्रम तथा पूँजी उसी अनुपात में नहीं बढ़ाता। यह विधि उन देशों में अपनायी जाती है जहाँ जनसंख्या कम होती है तथा भूमि की मात्रा अधिक होती है।

(ii) गहन या गहरी खेती (Intensive Cultivation) गहन खेती खेती करने की वह विधि है जिसके अनुसार उपज बढ़ाने के लिए भूमि के विस्तार या उसकी मात्रा को बढ़ाए बिना श्रम और पूँजी की मात्राओं को बढ़ाकर वर्तमान भूमि से ही अधिक उत्पादन प्राप्त किया जाता है। इसका अर्थ यह कि इस विधि के अन्तर्गत भूमि का क्षेत्र नहीं बढ़ाया जाता बल्कि श्रम तथा पूँजी की मात्राएँ बढ़ायी जाती हैं। यदि किसान अपनी 4 बीघे की भूमि से ही अधिक उत्पादन चाहता है तो उसे अच्छे बीज अच्छी खाद तथा नये कृषि-यन्त्रों का प्रयोग करना होगा। वैज्ञानिक ढंग से खेती करने पर उसकी भूमि का क्षेत्र सीमित रहने पर भी उत्पादन पहले की अपेक्षा अधिक होगा। गहन खेती की विधि केवल उन्हीं देशों में अपनायी जा सकती है जहाँ जनसंख्या अधिक होती है और जहाँ जनसंख्या की तुलना में भूमि की पूर्ति कम होती है। भारत ऐसा ही देश है जहाँ पर गहन खेती की विधि ही अपनायी जा सकती है।

निष्कर्ष खेती की इन दोनों विधियों का एक ही उद्देश्य है कम से कम लागत पर अधिक से अधिक उत्पादन। किसान चाहे विस्तृत खेती को अपनाये चाहे गहन खेती को वह यह देखता है कि उत्पादन के तीनों प्रमुख साधनों भूमि श्रम

और पूजी म से किसको स्थिर रखा जाए तथा किसमे वृद्धि की जाय जिससे उसे कम से कम लागत पर अधिक से अधिक उत्पत्ति प्राप्त हो सके। यदि वह यह समझता है कि भूमि का क्षेत्र बढ़ाने पर तथा पूँजी और श्रम को उसी अनुपात म न बढ़ाने पर भूमि से प्राप्त उत्पत्ति अधिक होगी तो वह विस्तृत खेती की विधि अपनाता है। इसकी विपरीत दशा म वह गहन खेती को अपनाता है।

क्या भूमि पूँजी है ?
(Is Land Capital ?)

क्या भूमि पूजी है ? इस प्रश्न के उत्तर म हम निम्न तर्क प्रस्तुत कर सकते हैं

1 **भूमि को पूजी नहीं माना जा सकता** यहा हम निम्न विशेषताओ के आधार पर यह तर्क प्रस्तुत कर सकते है कि भूमि को पूँजी नहीं माना जा सकता है। ये तर्क इस प्रकार हैं

(i) **भूमि प्रकृति प्रदत्त नि शुल्क उपहार है** किन्तु पूँजी मानव के त्याग तथा परिश्रम का परिणाम है।

(ii) **भूमि की कोई उत्पादन लागत नहीं होती** किन्तु पूजी की उत्पादन लागत होती है।

(iii) **भूमि की पूर्ति स्थिर होती है** किन्तु पूजी की पूर्ति कम अधिक होती रहती है।

(iv) **भूमि अविनाशी है** जबकि पूजी का नष्ट होना सम्भव हो सकता है।

(v) **भूमि गतिशील नहीं होती** किन्तु पूजी गतिशील है।

2 **भूमि और पूजी एक ही है** यहा हम निम्न विशेषताओ के आधार पर यह तर्क प्रस्तुत कर सकते हैं कि भूमि और पूजी म कोई अन्तर नही हैं

(i) व्यक्तिगत दृष्टि से देखा जाय तो भूमि को उपयोग योग्य बनाने म मनुष्य को श्रम तथा पूजी का विनियोग करना पडता है। इस प्रकार **भूमि प्रकृति का नि शुल्क उपहार नहीं रह जाती बल्कि यह भी मानवीकृत है।**

(ii) भूमि को उपयोग योग्य बनाने म **लागत** लगानी पडती है। अत पूजी **की भांति भूमि की भी लागत हो जाती है।**

(iii) **भूमि की पूर्ति को भी स्थिर नहीं** कहा जा सकता क्योंकि भूमि पर **गहन खेती करके या बहु मजले भवन का निर्माण करके भूमि की प्रभावोत्पादक पूर्ति को बढ़ाया** जा सकता है। अत पूजी की भाति भूमि की पूर्ति को भी घटाया-बढ़ाया जा सकता है।

(iv) पूजी **की भाति भूमि भी नाशवान है** क्योंकि भूमि के **लगातार प्रयोग** करने म उसकी उवराशक्ति का नाश होता है।

(v) भूमि का भी एक प्रयोग से हटाकर दूसरे प्रयोग म हस्तान्तरित किया जा सकता है। अत **भूमि भी पूँजी की भाति गतिशील है।**

इस प्रकार उपयुक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भूमि और पूँजी में आर्थिक दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है किन्तु आर्थिक विश्लेषण की दृष्टि में दोनों का अलग अलग अस्तित्व मानना ही श्रेयस्कर रहेगा क्योंकि दोनों में कुछ मौलिक अन्तर है। यदि गति की दृष्टि से देखा जाय तो एक प्रमुख अन्तर यही है कि पूँजी की अपेक्षा भूमि की पूर्ति बहुत धीमी गति से बढ़ती है। अतः भूमि पूँजी नहीं हो सकती।

भूमि का महत्त्व

प्रोफेसर एली ने भूमि के महत्त्व को इसके तीन कार्यों द्वारा स्पष्ट किया है

1 भूमि उत्पादन का आधार है सम्पूर्ण उत्पादन क्रिया भूमि पर निर्भर है। भूमि पर रहने के लिए मकान बनाये जाते हैं और कल-कारखानों को स्थापित करने तथा चलाने के लिए भूमि ही स्थान प्रदान करती है।

2 **प्राथमिक उद्योगों (Primary Industries) का आधार** भूमि कृषि का आधार है। भूमि के न रहने पर खेती करना असम्भव है। भूमि के अन्तर्गत उसकी उर्वरा शक्ति भी सम्मिलित है जिसकी सहायता से ही कृषि पदार्थ प्राप्त होते हैं। जलवायु भी भूमि का ही एक अङ्ग है जो कृषि के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। मछली उद्योग तथा वन उद्योग भी भूमि पर ही निर्भर हैं।

3 **औद्योगिक एवं आर्थिक विकास का आधार** भूमि की सतह के नीचे अमूल्य एवं आवश्यक खनिज पदार्थों का भण्डार है। लोहा कोयला ताम्बा चाँदी सोना तथा अन्य खनिज पदार्थों को प्रदान करके भूमि देश के लिए औद्योगिक आधार तैयार करती है जिस पर देश का आर्थिक विकास निर्भर है। विद्युत शक्ति को उत्पन्न करने वाली नदियाँ भूमि ही प्रदान करती है। अन्य सभी प्राकृतिक साधन एवं पदार्थ जो भूमि के अङ्ग हैं किसी न किसी रूप में उत्पादन के आधारभूत एवं मौलिक साधन के रूप में प्रयुक्त होते हैं।

4 **व्यापारिक सुविधाओं का आधार** अनेक व्यापारिक सुविधाओं जैसे यातायात तथा सन्देश वाहन के साधनों का विकास भूमि पर निर्भर है। यदि धरातल की बनावट ठीक तथा समतल है तो इन साधनों का विकास सम्भव होगा अन्यथा नहीं।

उपर्युक्त कारणों से ही भूमि को उत्पादन का आधारभूत एवं महत्त्वपूर्ण साधन माना जाता है। भूमि के आधार पर ही आधुनिक लगान सिद्धान्त का निर्माण किया गया है। अवसर लागत विशिष्टता के गुण आदि का आधार भूमि-तत्त्व है।

प्रश्न व संकेत

1 भूमि की एक उपयुक्त परिभाषा दीजिए तथा उन तत्त्वों की विवेचना कीजिए जिन पर भूमि की उत्पादकता निर्भर करती है।

Give a suitable definition of Land and discuss the factors on which the productivity of land depends

[सकत प्रश्न क प्रथम भाग म भूमि की परिभाषा दीजिए तथा दूसरे भाग म उन तत्त्वा का जिन पर भूमि की उवरता निभर करती है विवेचन कीजिए ।]

2 भूमि की परिभाषा दीजिए । क्या यह उत्पान्न का एक साधन है ? यह पूजी स किस प्रकार भिन्न है ?

Difine land Is it a factor of production ? How does it differ from capital ?

3 अर्थशास्त्र म उत्पादन का क्या अथ होता है ? उत्पादन क साधन के रूप म भूमि की विशेषताए तथा महत्त्व बताइए ।

What is meant by production in Economics ? State the peculiarities and importance of land as a factor of production

[सकत उत्पादन का अथ बताइए तथा प्रश्न क द्वितीय भाग म भूमि की विशेषताए तथा महत्त्व बताइए ।]

4 सक्षिप्त टिप्पणी दीजिए

Write short notes on

(i) भूमि प्रकृति का नि शुल्क उपहार है ।

Land is a *free gift of nature*

(ii) विस्तृत तथा गहन कृषि ।

Extensive and intensive cultivation

20

श्रम व श्रम की कार्यक्षमता
(Labour and its Efficiency)

> The term labour must be held to include the very highest professional skill of all kinds as well as the labour of all skilled workers and artisans and we must include also not only that results in the permanent form but also that renders srrvices which perish in the act
>
> —*Nicholson*

उत्पादन का दूसरा महत्त्वपूर्ण तथा क्रियाशील साधन श्रम है। प्राकृतिक साधनों के उपलब्ध होने पर भी यदि किसी देश में मानव श्रम का अभाव है तो वहाँ आर्थिक विकास की योजनाएँ शीघ्र पूरी नहीं की जा सकती। आर्थिक विकास की नवीन विचारधाराओं के अनुसार आर्थिक विकास या तो श्रम के अधिक होने अथवा पूँजी के निर्माण से ही सम्भव हो सकता है। व्यापारवादी अर्थशास्त्रियों के अनुसार राष्ट्रीय समृद्धि के लिए श्रम के परिमाण में वृद्धि पर विशेष बल दिया था। प्रत्येक आर्थिक विचारधारा में उत्पादन के महत्त्वपूर्ण साधन के रूप में श्रम विचारणीय विषय रहा है।

श्रम का अर्थ (Meaning of Labour)

आम बोल चाल की भाषा में श्रम से आशय ऐसे किसी भी प्रयास से है जो किसी कार्य को करने के लिए किया जाता हो। किन्तु अर्थशास्त्र में श्रम शब्द का प्रयोग एक विशेष अर्थ में किया जाता है।

मार्शल के अनुसार अर्थशास्त्र में श्रम का अभिप्राय "किसी भी मानसिक अथवा शारीरिक परिश्रम से है जो पूर्णतया अथवा आंशिक रूप से कार्य से प्राप्त होने वाले प्रत्यक्ष आनन्द के अतिरिक्त किसी अच्छाई के लिए किया जाता है।"[1]

---

1 "Any exertion of mind or body undergone partly or wholly with a view to some good other than the pleasure derived directly from the wo k is called labour

—*Marshall*

टामस ने माशन की परिभाषा को अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है वे समस्त शारीरिक तथा मानसिक काय जो किसी पुरस्कार की आशा मे किए जाते हैं श्रम के अन्तगत आते हैं।[1] जेव स न श्रम के अन्तगत केवल मनुष्य के उमा शारीरिक एव मानसिक श्रम को सम्मिलित किया है जिससे मनुष्य को दुख एव कष्ट का अनुभव होता है। जेवन्स की इस परिभाषा का समथन माशल ने भी किया है। उनके अनुसार 'श्रम का आशय मनुष्य के आर्थिक काय से है, चाहे वह हाथ से किया जाए या मस्तिष्क से।'[2] प्रो० निक्लसन ने सभी प्रकार के मानवीय श्रम को श्रम के अन्तगत सम्मिलित किया है श्रम शब्द म सभी प्रकार की उच्चतम व्यावसायिक कुशलताओ के साथ ही साथ अकुशल श्रमिको तथा कारीगरो क परिश्रम का भी सम्मिलित करना चाहिए। हम इसके अन्तगत केवल उन व्यक्तियो के परिश्रम को ही सम्मिलित नही करना चाहिए जो सामान्य रूप स व्यवसाय म लग हो वरन् उन व्यक्तियो के परिश्रम को भी सम्मिलित करना चाहिए जो शिक्षा ललित कलाओ साहित्य विज्ञान न्याय प्रशासन तथा अनेक प्रकार की राजकीय सेवाओ मे लगे हो। हमे न केवल उस परिश्रम को सम्मिलित करना चाहिए जिसके परिणामस्वरूप कोई स्थायी उत्पादन होता हो बल्कि उस श्रम को भी सम्मिलित कर लेना चाहिए जिसके फलस्वरूप ऐसी सेवाए प्रदान की जाती हैं जो पूरी होते ही नष्ट हो जाती है।[3]

श्रम के उपरोक्त अर्थ स यह स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र म श्रम का अभिप्राय उन व्यक्ति-समूहो की श्रम शक्ति स है जो उत्पादन कार्यों के लिए उपलब्ध होता है।

---

1 Lobour connotes all human effort of body or mind which is undertaken in the expectation of reward

—*Thomas*

2 By labour is meant the economic work of man whether done with the hand or the head

—*Marshall*

3 The term labour must be held to include the very highest professional skill of all kinds as well as he labour of unskilled workers and artisans we must include not only the labour of those engaged in business in the ordinary sense of the term but that of those employed in education in fine arts in literature in science in the administration of ju tice and in governments in all its branches and we must include also not only that results in the permanent form but also that renders services which perirh in the act

—*Nicholson*

अत जैसा कि बनहम (Benham) ने कहा है श्रम का आशय श्रमिकों की सेवाओं से है न कि श्रमिकों से क्योंकि उनकी सेवा को ही उत्पादन घटक (Input) का एक अंग माना जाता है। कोई भी नियोक्ता श्रमिकों की सेवाओं तथा कायशील वस्तुओं की माग करता है न कि व्यक्तियों के रूप में श्रमिकों की।" वस्तुत व्यक्तियों की सेवायें ही उत्पादन-काय में सहायक होती हैं। इस प्रकार उत्पादन की सम्भावनाओं पर विचार करते समय श्रम के अन्तर्गत उन सभी व्यक्तियों का कायकाल तथा सेवाओं का सम्मिलित किया जाता है जो उत्पादन-कार्यों में लगे हुए हैं अथवा काम करने के लिए इच्छुक हों। किसी भी देश की प्रमुख समस्या वहाँ पर उपलब्ध श्रम शक्ति के अधिकतम उपयोग की होती है तथा इसी आधार पर वहा उत्पादन की मात्रा तथा आर्थिक विकास की योजनाएं बनायी जाती हैं।

श्रम की परिभाषाओं से यह ज्ञात होता है कि श्रम के लिए निम्नलिखित बातों का होना आवश्यक है

(i) श्रम के अन्तर्गत केवल मनुष्य के परिश्रम को ही सम्मिलित किया जाना चाहिए। पशुओं तथा मशीनों द्वारा प्रदान की गई सेवाएँ श्रम के अन्तर्गत नहीं आता।

(ii) सभी प्रकार के मानव परिश्रम को चाहे उसका सम्बन्ध मनुष्य के शरीर से हो अथवा मस्तिष्क से श्रम कहा जाता है तथा

(iii) अर्थशास्त्र में श्रम कहे जाने के लिए यह आवश्यक है कि उसका उद्देश्य आर्थिक लाभ प्राप्त करना हो। अप्रत्यक्ष आनन्द या मनोरंजन के लिए किया गया परिश्रम अर्थशास्त्र में श्रम नहीं माना जाता है।

श्रम का वर्गीकरण (Classification of Labour)

अर्थशास्त्र में श्रम का कई आधारों पर वर्गीकरण किया गया है। इनमें तीन प्रमुख हैं।

(1) उत्पादक तथा अनुत्पादक श्रम
(2) कुशल तथा अकुशल श्रम, तथा
(3) मानसिक एवं शारीरिक श्रम।

इनका विस्तृत विवेचन इस प्रकार है

(1) उत्पादक श्रम (Productive Labour) और अनुत्पादक श्रम (Unproductive Labour) किस प्रकार के श्रम को उत्पादक तथा किस प्रकार के श्रम को अनुत्पादक माना जाय ? इस बात पर अर्थशास्त्रियों में मतभेद रहा है। अर्थशास्त्रियों ने इन नाना तरह के श्रम में जो भेद या अन्तर की रेखा निश्चित की है वह इस प्रकार है

(i) वाणिज्यवादी अर्थशास्त्रियों (Mercantilists) का मत चूँकि इन अर्थशास्त्रियों का लाभ उद्देश्य देश में सोना (Gold) की मात्रा को बढ़ाना था इसलिए इनके अनुसार केवल वह श्रम जिसके द्वारा निर्यात के लिए वस्तुएँ तैयार

की जाती थी उत्पादक श्रम कहलाता था और अन्य सभी प्रकार का श्रम अनुत्पादक था।

(ii) **प्रकृतिवादी** (Physiocrats) का मत था कि वह श्रम जो प्राथमिक उद्योगो (Primary industries) तथा व्यवसायो के उत्पादन कार्यो म लगा हो वही उत्पादक श्रम है और बाकी कामो म लगा हुआ श्रम अनुत्पादक है। इन अर्थ शास्त्रियो का कहना था कि कृषि खानो से धातु निकालना मछली पकडना आदि कुछ ऐसे उद्योग एव व्यवसाय हैं जिनम प्रकृति मनुष्य की मदद करती है और उसकी मेहरबानी की वजह से ही उत्पादन बढता है। अत इन उद्योगो म लगा श्रम उत्पादक है। परन्तु अन्य प्रकार के कार्यो जस सेवाए व्यापार अन्य औद्योगिक तथा निर्माण काय म प्रकृति मदद नही करती है। उत्पादक उत्पादन के लिए अपनी मेहनत पर निर्भर है। अत इन कामो म लगा श्रम अनुत्पादक है।

(iii) **प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों** (Classical Economists) का मत प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो म एडम स्मिथ तथा जे० एस० मिल न केवल उसी श्रम को उत्पादक माना जो भौतिक और मूर्त पदार्थों (Material and tangible goods) का उत्पादन करता था। उनके विचार से भौतिक तथा अमूर्त पदार्थो का उत्पादन करने वाला श्रम अनुत्पादक श्रम है। श्रम को इस आधार पर उत्पादक तथा अनुत्पादक वर्गों म रखने पर ऐसे लोगो के श्रम को जो अन्न वस्त्र मेज बर्तन मशीनो आदि भौतिक वस्तुओ का उत्पादन करते हैं उत्पादक श्रम कहा जाता है परन्तु ऐसे व्यक्तियो का श्रम जो वकील डाक्टर अध्यापक गायक घरेलू नौकर पुजारी कलाकार आदि के रूप म केवल अपनी सेवायें बेचते हैं अनुत्पादक श्रम कहा जाता है।

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री श्रम को एक वस्तु (Commodity) **की ही तरह मानते थे।** उनके विचार से किसी भी व्यक्ति की सेवा या श्रम को किसी वस्तु की तरह बेचा या खरीदा जा सकता है। इस प्रकार उनके अनुसार विनिमय की विशेषता के कारण श्रम का मूल्य माँग पूर्ति के नियम द्वारा निर्धारित की जा सकता है। परन्तु यह विचारधारा गलत है। इस युग म दासो का क्रय विक्रय अवैध माना जाता है। इसका कारण यह है कि मनुष्य के साथ वस्तु की तरह व्यवहार नही किया जाता। श्रम के साथ स्वय श्रमिक बिक जाता है। उसका व्यक्तित्व समाप्त हो जाता है। इसके साथ ही वस्तु की पूर्ति माँग के अनुसार घटायी बढायी जा सकती है परन्तु श्रमिको की संख्या अथवा श्रम की मात्रा आवश्यकतानुसार न तो शीघ्र ही बढायी जा सकती है और न ही वह घटायी जा सकती है। श्रम मशीनो तथा वस्तुओ की तरह किसी अन्य वस्तु स प्रतिस्थापित (Substitute) भी नही किया जा सकता। वह वस्तुओ की तरह न तो गतिशील (Mobile) है और न ही निष्क्रिय। उसकी भावनायें उसकी परिस्थितियाँ तथा उसके विचार उसे गतिशील बनाते हैं। श्रम का

प्रयोग ही उसे सक्रिय बनाता है। इसका प्रयोग न होने पर उसे संचय भी नहीं किया जा सकता। इन कारणों से श्रम को भी वस्तु मानना ठीक नहीं होगा।

(iv) वर्तमान विचारधारा (Modern Concept) आधुनिक अर्थशास्त्रियों का मत उपर्युक्त दोनों मतों से अलग है। उनका कहना है कि उत्पादन का उद्देश्य उपयोगिता का सृजन एवं निर्माण या उसमें वृद्धि करना है। अतः वह श्रम जो मूर्त अथवा अमूर्त रूप में उपयोगिता या आवश्यकता की पूर्ति करने की शक्ति का सृजन या उसमें वृद्धि करने के लिए किया जाता है उत्पादक श्रम कहलाता है। वह श्रम जिससे न तो उपयोगिता या आवश्यकता की पूर्ति करने की शक्ति का सृजन ही होता है और न उपयोगिता में वृद्धि ही होती है **अनुत्पादक श्रम** कहा जाता है। **इस प्रकार वर्तमान मत के अनुसार वही श्रम उत्पादक श्रम कहा जा सकता है जिसके करने पर मनुष्य वास्तव में अपने उद्देश्य में सफल हो जाय।** यदि वह श्रम करने पर भी अपने उद्देश्य में सफल नहीं होता है तो उसका श्रम अनुत्पादक होता है। यदि वह अपने परिश्रम में कुछ सीमा तक ही सफल हो जाता है तो जिस सीमा तक वह सफल होगा उस सीमा तक ही किया गया श्रम उत्पादक होगा और बाकी अनुत्पादक। कुछ ऐसे व्यक्ति भी होते हैं जिनका श्रम न तो उत्पादक (Productive) होता है और न अनुत्पादक (Unproductive) बल्कि **उत्पादन विरोधी'** (Dis productive) होता है। टाजिग ने इस उत्पादक विरोधी श्रम को भी अनुत्पादक माना है। इन तीनों प्रकार के श्रम को निम्नलिखित उदाहरणों में स्पष्ट किया जा सकता है

यदि कोई व्यक्ति दीर्घकाल तक परिश्रम करने के बाद एक पुस्तक लिख कर समाप्त करता है और उसकी पुस्तक प्रकाशित हो जाती है तो उसका श्रम उत्पादक कहलायेगा। परन्तु यदि पुस्तक प्रकाशित नहीं होती है और उसके द्वारा की गयी सारी मेहनत बेकार हो जाती है तो उसका श्रम अनुत्पादक कहा जायगा। टाजिग के अनुसार चोर, ठग, समाज शोषक तथा अन्य व्यक्तियों के श्रम पर पलने वाले व्यक्तियों को अनुत्पादक श्रमिक कहते हैं। परन्तु वास्तव में ये व्यक्ति समाज विरोधी हैं। अतः इनके श्रम को उत्पादन विरोधी श्रम कहना ही अधिक उपयुक्त होगा।

परन्तु वर्तमान विचारधारा के अर्थशास्त्रियों में कुछ ऐसे भी अर्थशास्त्री हैं (प्रो० बेनहम आदि) जिनका मत है कि श्रम के ध्येय या उद्देश्य की सफलता के आधार पर उत्पादक तथा अनुत्पादक वर्गों में बाँटना ठीक नहीं है। इन अर्थशास्त्रियों का यह मत है कि यदि कोई काम करने पर श्रमिक को आय प्राप्त होती हो अर्थात् उसके द्वारा मूल्य-सृजन हो तो ऐसे श्रम को उत्पादक श्रम कहना चाहिए और यदि किसी कार्य के करने पर आय प्राप्त नहीं होता हो या मूल्य सृजन नहीं हो तो उसे अनुत्पादक श्रम मानना चाहिए। इस सम्बन्ध में **प्रोफेसर बेनहम** ने कहा है "किसी भी व्यक्ति के दृष्टिकोण से यदि उसका श्रम उसको आय का

साधन हो, तो वह उत्पाद श्रम है। यह प्रश्न कि वह सामाजिक दृष्टिकोण से भी उत्पादक है या नहीं सामाजिक दार्शनिकों के सोचने की बात है न कि अर्थशास्त्रियों के। [1]

(2) कुशल तथा अकुशल श्रम (Skilled and Unskilled Labour)

जिन मानसिक अथवा शारीरिक श्रम को पूरा करने के लिए विशेष शिक्षा तथा योग्यता की आवश्यकता पड़ती है उसे कुशल श्रम कहते हैं। इसके विपरीत जो श्रम बिना किसी विशेष शिक्षा के किया जाता है उसे अकुशल श्रम कहते हैं। डाक्टर तथा इन्जीनियर का श्रम कुशल श्रम है लेकिन एक कुली और घरेलू नौकर का श्रम अकुशल श्रम है। कोई श्रम कुशल है अथवा अकुशल यह देश अथवा काल पर निर्भर है। भारत जैसे विकासशील देश का कुशल श्रम अमरिका जैसे विकसित देश के लिए अकुशल श्रम हो सकता है।

श्रमिकों की मजदूरी का निर्धारण इसी वर्गीकरण के आधार पर किया जाता है। सामान्यतया एक कुशल श्रमिक एक अकुशल श्रमिक की अपेक्षा अधिक मजदूरी प्राप्त करता है। इसका कारण यह है कि कुशल श्रमिक की उत्पादकता (Productivity) अकुशल श्रमिक से अधिक होती है। परन्तु कुशल तथा अकुशल श्रम का अन्तर औद्योगिक विकास शिक्षा प्रसार तथा श्रमिकों के प्रशिक्षण की विशेष सुविधाओं द्वारा दूर किया जा सकता है।

(3) मानसिक तथा शारीरिक श्रम (Mental and Physical Labour)

जब किसी काम को पूरा करने में शारीरिक शक्ति की अपेक्षा मानसिक शक्ति का अधिक प्रयोग किया जाता है तब ऐसे श्रम को मानसिक श्रम कहते हैं। इसके विपरीत किसी काम के करने में जब मस्तिष्क की अपेक्षा शरीर से अधिक काम लिया जाता है तब यह श्रम शारीरिक श्रम कहलाता है। अध्यापक का श्रम मानसिक श्रम है परन्तु एक कुली का श्रम शारीरिक श्रम है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि प्रत्येक मानसिक कार्य करने के लिए शारीरिक श्रम आवश्यक है और कोई भी शारीरिक कार्य बिना मस्तिष्क का प्रयोग किए सम्भव नहीं सकता। अतः पूर्ण शारीरिक श्रम सम्भव नहीं है।

श्रम की विशेषताएं (Peculiarities of Labour)

श्रम में कुछ ऐसी मौलिक एवं स्वाभाविक विशेषताएँ हैं जिनके कारण वह उत्पादन के अन्य साधनों से भिन्न माना जाता है। इसका मुख्य कारण यह है कि

---

1 From the standpoint of the individual his work is productive if it procures him an income The que tion whether a particular kind of work is productive from the standpoint of the community is really a question for social philosophers not economists

—*Benham*

श्रम करने वाला श्रमिक एक चेतन प्राणी है जबकि अन्य साधन जड़-पदार्थ हैं। श्रम उपयोगिताओं का सृजन श्रमिक (*श्रमिकों*) *लिए ही करता है। अतः वह उत्पादन* का साधन और साध्य दोनों ही माना जाता है। इस आधार पर श्रम की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं

1 श्रम और श्रमिक एक-दूसरे से अलग नहीं किए जा सकते (Inseparable) श्रम और श्रमिक एक-दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते। श्रमिक के रहने पर ही उसका श्रम प्राप्त होता है। श्रमिक की अनुपस्थिति में उसकी सेवायें प्राप्त नहीं की जा सकतीं। किसी स्थान पर कार्य करने के लिए तैयार होने पर मजदूर या श्रमिक को स्वयं वहां जाकर काम करना पड़ता है। अतः पूँजी और भूमि की तरह श्रम अपने मालिक (श्रमिक) से अलग अपना कोई अस्तित्व नहीं रखता। *यही कारण है कि श्रमिक को अपना श्रम बेचने के लिए कार्य-स्थान पर* स्वयं जाना पड़ता है तथा उसकी गतिशीलता में रुकावट आती है।

2 श्रम पर श्रमिक तथा समाज के नैतिक स्तर का भी प्रभाव श्रम पर श्रमिक तथा समाज के नैतिक स्तर का भी प्रभाव होता है। यदि समाज का नैतिक स्तर ऊंचा होता है तथा श्रमिक का काम के प्रति निष्ठा होती है तो देश में आर्थिक विकास भी तीव्र गति से होता है। इसके विपरीत यदि समाज में भ्रष्टाचार व्याप्त होता है तो देश में भी अपेक्षित आर्थिक प्रगति नहीं हो पाती है।

3 श्रम स्वयं शीघ्र नाशवान है श्रमिक का श्रम बिक्री योग्य वस्तु है। यदि हर रोज का श्रम बेचा न जाय तो वह धन की तरह इकट्ठा नहीं किया जा *सकता। अन्य शब्दों में यदि कोई श्रमिक एक दिन काम न करे तो उस दिन का* श्रम नष्ट हो जाता। समय के बीतने ही उस दिन काम में न लाया गया श्रम भी बेकार हो जाता है। यही कारण है कि श्रमिक अपना श्रम बेकार बर्बाद नहीं होने देता। वह उन किसी भी कीमत पर बेचने के लिए तैयार हो जाता है। इस वजह से ही यह कहा जाता है कि श्रम बहुत ही नाशवान है।

4 मालिकों के मुकाबले में श्रम की सौदा करने की ताकत कमजोर होती है (Weak bargaining power) काम में न लगने पर श्रम के बेकार हो जाने के कारण ही मालिक श्रमिकों की अपने श्रम को पूरा बेचने की मजबूरी का नाजायज फायदा उठाते हैं और उनके श्रम को कम से कम कीमत या मजदूरी पर खरीद लेते हैं। श्रमिकों में संगठन की कमी होने की वजह से वे काफी समय तक इन्तजार भी नहीं कर सकते। यही कारण है कि उन्हें मालिकों द्वारा दी जाने वाली मजदूरी को स्वीकार करना पड़ता है। मालिक श्रम के इस गुण का फायदा उठाकर उनको कम मजदूरी देना चाहते हैं तथा उनका शोषण करते हैं।

5 श्रम की पूर्ति में बढ़ोतरी या कमी जल्दी ही नहीं की जा सकती मजदूरों की पूर्ति की मात्रा जनसंख्या पर तथा उनके गुण तथा उनकी कार्य-कुशलता

पर निर्भर है। जनसंख्या तथा कार्य कौशल में बढोतरी जल्दी न हो सकने से थोड़े ही समय में श्रम की पूर्ति जल्दी ही नहीं बढ़ायी जा सकती।

6 वस्तु की भाँति श्रम निरन्तर सेवा नहीं दे सकता मनुष्य यन्त्र या मशीन नहीं है। अतः श्रमिक यन्त्रों तथा मशीनों की भाँति निरन्तर कार्य नहीं कर सकता है। मनुष्य की आयु अधिक होने पर उसके कार्य करने की शक्ति भी कम हो जाती है।

7 श्रम उत्पादन का सक्रिय साधन है श्रम उत्पादन का सक्रिय साधन है क्योंकि श्रम ही दूसरे सभी साधनों को उत्पादन के कार्यों में लगाता है। श्रम के बिना साधन स्वयं उत्पादन नहीं कर सकते। खुद काम न करने वाले (निष्क्रिय) साधनों में भूमि पूंजी इत्यादि शामिल है।

8 श्रम में पूंजी विनियोग भी सम्भव हैं श्रम को अधिक योग्य तथा कुशल बनाने के लिए प्रशिक्षण शिक्षा आदि में काफी पूंजी का विनियोग करना पड़ता है। यदि श्रमिक अधिक कुशल शिक्षित तथा योग्य होते हैं तो वे अधिक उत्पादन कर सकते हैं। इसलिए श्रम को मानवीय पूंजी कहा जाता है। श्रम में विनियोजित पूँजी को निकाला नहीं जा सकता।

9 श्रम में बुद्धि तथा निर्णय शक्ति का होना प्रो० केरनक्रास (Prof Cairncross) का कहना है कि उत्पादन-साधनों में श्रम ही एक ऐसा साधन है जिसमें बुद्धि तथा निर्णय शक्ति है। यही कारण है कि वह दूसरे सभी साधनों को संगठित करता है और मजदूर के रूप में उन पर काम करके उनकी उपयोगिता बढ़ाता है। यह यन्त्र की तरह नहीं है। अतः कोई दूसरा साधन उसकी जगह नहीं ले सकता।

10 श्रमिक का श्रम ही बेचा जा सकता है श्रमिक नहीं जैसा कि मार्शल ने कहा है श्रमिक अपने श्रम को बेचता है, अपने आपको नहीं। इसका मतलब यह है कि श्रमिक अपने शरीर तथा अपनी कार्य कुशलता का हमेशा मालिक बना रहता है। वह अपने शरीर की मेहनत तथा कार्य कुशलता को जिसे वह बिक्री योग्य वस्तु समझता है ही बेचता है। कार्य-कुशलता रूपी पूँजी वह अपना श्रम बेचकर धीरे धीरे वसूल करता है। इसके साथ ही साथ उसकी यह सम्पत्ति उससे अलग भी नहीं की जा सकती। वह उसके शरीर के साथ गतिशील रहती है।

11 श्रम भूमि और संगठन की तुलना में अधिक गतिशील है भूमि को स्थिर परन्तु श्रम को गतिशील माना जाता है। इसका कारण यह है कि भूमि का स्थान नहीं बदला जा सकता है परन्तु श्रम को स्वयं अपने काम की जगह पर जाना पड़ता है। वह व्यवसाय अथवा स्थान आसानी से बदल सकता है। परन्तु पूंजी की तुलना में श्रम को कम गतिशील माना है।

12 श्रम की पूर्ति पर अन्य वस्तुओं की पूर्ति की तरह मजदूरी का प्रभाव नहीं पड़ता अर्थशास्त्र में पूर्ति का नियम यह बतलाता है कि किसी वस्तु

का मूल्य बढ़ने पर उसकी पूर्ति बढ़ती है और उसका मूल्य घटने पर उसकी पूर्ति कम हो जाती है। परन्तु श्रम के सम्बन्ध में यह नियम लागू नहीं होता है। श्रमिक की मजदूरी अधिक होने पर भी श्रमिकों की पूर्ति कम हो जाती है क्योंकि बहुत से श्रमिक काफी मजदूरी कमा लेने पर कुछ दिन काम से घर हाजिर रहकर आराम करना चाहते हैं।

मजदूरी कम होने पर भी श्रम की पूर्ति बढ़ सकती है। श्रमिक अधिक से अधिक काम करके अपनी आमदनी बढ़ाने के लिए तयार रहता है। उसके परिवार के अन्य सदस्य भी पारिवारिक आय बढ़ाने के लिए काम करने के लिए तयार रहते हैं। इससे श्रम की पूर्ति बढ़ जाती है। भारतीय श्रम की यह खास विशेषता है।

13 श्रम की श्रेष्ठता श्रमिक की वंशानुगतता पर निर्भर है श्रमिक के माता पिता योग्य चरित्रवान दूरदर्शी हैं तो वह गुणात्मक दृष्टि से अन्य श्रमिकों से श्रेष्ठ होगा। इसकी विपरीत स्थिति में वह अन्य श्रमिकों से अपेक्षाकृत कम श्रेष्ठ होगा।

14 श्रमिक एक साथ उत्पादक एवं उपभोक्ता दोनों होता है भूमि तथा पूँजी उत्पादन के ऐसे साधन हैं जो केवल उत्पादन में ही सहायक होते हैं। इन साधनों को पूर्ति करने वाले उत्पादित वस्तु के बेचने पर मिली कीमत का एक छोटे से छोटा भाग उपभोग के लिए प्रयोग में लाते हैं। परन्तु श्रमिक न केवल उत्पादन करता है बल्कि साथ ही साथ उसका उपभोग भी करता है।

निष्कर्ष श्रम की उपयुक्त विशेषताओं के आधार पर ही उसके परिमाण सम्बन्धी पहलू (Quantitative Aspect) तथा गुण सम्बन्धी पहलू (Qualitative Aspect) पर विचार जा किया सकता है।

(i) परिमाण सम्बन्धी पक्ष या पहलू (Quantitative Aspect) श्रम श्रमिक से अलग नहीं है। अत श्रम की मात्रा श्रमिकों की संख्या के बढ़ने पर ही सम्भव है। श्रमिकों की संख्या जनसंख्या के बढ़ने पर ही निर्भर करती है परन्तु जनसंख्या में वृद्धि तथा श्रम की पूर्ति (Supply of Labour) धीरे धीरे ही कई वर्षों में सम्भव हो पाता है। श्रम की पूर्ति जनसंख्या के सिद्धान्त पर आधारित है।

श्रमिकों की पूर्ति कार्य-कुशलता बढ़ाकर भी की जा सकती है। इस प्रकार श्रम की तत्कालीन मांग की आंशिक पूर्ति सम्भव हो पाती है। परन्तु इसमें भी थोड़ा समय लगता है। श्रम की मांग शीघ्र न बढ़ सकने के कारण ही कभी-कभी जब इसकी मांग अधिक होती है तब इसकी मजदूरी बढ़ जाती है। परन्तु मांग कम होने पर श्रम की तत्कालीन पूर्ति घटाया नहीं जा सकती। अत मजदूरी कम हो जाती है।

जहाँ तक श्रम की मांग का सवाल है यह एक व्युत्पन्न मांग (Derived demand) है। इसका कारण यह है कि श्रम उत्पादन होने पर ही उपयोगिता

रखता है। उसकी उत्पादकता की सहायता से आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली उपभोग वस्तुओं का उत्पादन सम्भव हो पाता है। यदि उसमे उत्पादकता या कार्य करने की शक्ति न हो तो उसकी माग नही होगी।

(ii) गुण सम्बन्धी पक्ष या पहलू (Qualitative Aspect) यह पक्ष श्रमिको की कार्यक्षमता से सम्बन्धित है। श्रमिको की कार्यक्षमता उचित शिक्षा, उचित मजदूरी काम मे कम घण्टे तथा आराम की सुविधायें देकर तथा श्रम मे मानवीय तत्त्वो का विकास करके बढायी जा सकती है। इस सम्बन्ध मे भी श्रम को श्रमिक से अलग नही होने वाले लक्षण को ध्यान मे रखा जाता है।

इस प्रकार श्रम की विशेषताओ का प्रभाव श्रम की माग पूर्ति कार्य करने की दशाओ आदि पर प्रभाव पडता है। इसे हम निम्न प्रकार स्पष्ट कर सकते है

1 श्रम की माग उत्पादकता के कारण होती है।

2 श्रम की पूर्ति धीरे धीरे बढ़ती है। इसकी पूर्ति जनसख्या के सिद्धान्त पर आधारित है।

3 श्रम की पूर्ति कुशलता बढाकर भी की जा सकती है।

4 श्रम की मजदूरी पर भी प्रभाव होता है

(i) श्रम नाशवान होने के कारण श्रमिक की मोल भाव शक्ति कम होती है जिससे उसे मजदूरी कम मिल पाती है

(ii) श्रम सघो का निर्माण कर श्रमिक की मोल भाव शक्ति बढ जाती है

(iii) सामाजिक रीति रिवाजो का भी मजदूरी पर प्रभाव होता है।

5 श्रमिक के हितो की सुरक्षा हेतु श्रम कल्याण तथा सामाजिक सुरक्षा के कार्यों का प्रोत्साहन दिया जाता है।

6 श्रम कानूनो का निर्माण काम करने के घण्टे कार्य करने की परिस्थितिया मजदूरी दरे क्षति पूर्ति भत्ता अनिवार्य बीमा आदि की व्यवस्था के लिए होता है।

क्या श्रम को एक वस्तु की भाति माना जा सकता है?
(Can a labour be treated as commodity ?)

इस सम्बन्ध मे प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो का विचार था कि श्रम एक वस्तु की भाति है और श्रम को भी वस्तु के समान बाजार मे बेचा तथा खरीदा जा सकता है और उसका मूल्य माग तथा पूर्ति की शक्तियो द्वारा निर्धारित होता है। किन्तु यह मान्यता अनुचित है। श्रम को एक वस्तु की भाति नही माना जा सकता। इसके निम्न कारण है

1 श्रम सजीव है जबकि वस्तु निर्जीव श्रम सजीव होता है इसलिए श्रम को श्रमिक से पृथक नही किया जा सकता। इसके अतिरिक्त श्रमिक अपने श्रम को बेचता है न कि अपने आपको। अत श्रम पर उन सभी बातो का प्रभाव पडता है

जितना कि श्रमिक स्वयं के शरीर तथा आचार विचार एवं धार्मिक बातों पर पड़ता है। श्रमिक विक्रय वस्तु तो बजाज नहीं है। वस्तु का विक्रेता से अलग किया जा सकता है। वस्तु की बिक्री के बाद विक्रेता को उसके उपयोग का भी चिन्ता नहीं रहती। अतः श्रम को एक वस्तु नहीं माना जा सकता।

2 वस्तु की पूर्ति शीघ्र ही घटाई बढ़ाई जा सकती है किन्तु श्रम की नहीं वस्तु का पूर्ति मशीनों से उत्पादन कर शीघ्र बढ़ाई जा सकती है और उत्पादन कम कर घटाई भी जा सकती है किन्तु श्रमिकों की पूर्ति इस प्रकार शीघ्र घटा-बढ़ा नहीं सकते।

3 वस्तुओं का मूल्य मांग तथा पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है जबकि श्रम की मजदूरी उसकी मांग की मात्रा पर ही निर्भर करती है।

4 वस्तुओं के समान श्रम एक निर्जीव वस्तु नहीं है निर्जीव होने के कारण वस्तु की कोई भावनाएं नहीं होती जबकि श्रमिक विभिन्न भावनाओं से प्रेरित होते हैं अतः श्रम बेचते समय श्रमिक उनका ध्यान रखता है।

5 वस्तुओं को काफी समय तक संग्रह किया जा सकता है किन्तु श्रम का संचय सम्भव नहीं होता है।

6 वस्तु गतिशील अधिक होती है जबकि श्रम कम गतिशील होता है।

इस प्रकार उपयुक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि श्रम को वस्तु की भांति नहीं माना जा सकता है। श्रम की विशेषताओं के कारण सरकार का हस्तक्षेप आवश्यक हो जाता है।

श्रम की कार्यक्षमता
(Efficiency of Labour)

किसी देश में श्रम की पूर्ति दो प्रकार से बढ़ाई जा सकती है (i) जनसंख्या में वृद्धि द्वारा तथा (ii) उपलब्ध श्रम शक्ति की कार्यक्षमता में वृद्धि द्वारा। श्रमिकों की उत्पादन-क्षमता में वृद्धि कर उनकी संख्या में कमी की पूर्ति की जा सकती है। अतः वर्तमान आर्थिक विकास नीति में श्रम की कार्यक्षमता में वृद्धि को अधिक महत्त्व प्रदान किया जाता है।

श्रम की कार्यक्षमता का अर्थ

एक निश्चित समय में अन्य बातों के समान रहने पर, श्रमिक द्वारा अधिक मात्रा में अथवा उत्तम किस्म की या दोनों प्रकार से वस्तुओं का उत्पादन करने की शक्ति योग्यता तथा क्षमता को श्रम की कार्यक्षमता कहते हैं। श्रम की कार्यक्षमता एक सापेक्ष व तुलनात्मक धारणा है। हम समान दशाओं में दो श्रमिकों द्वारा किए गए कार्यों की तुलना करके ही यह ज्ञात कर सकते हैं कि कौन-सा श्रमिक अधिक कार्यकुशल है। यदि एक श्रमिक समान परिस्थितियों में दूसरे श्रमिक से अधिक वस्तुएं या उनसे अच्छी किस्म की वस्तुएं उत्पादित करता है तो निश्चित रूप

से यह कहा जा सकता है कि पहला श्रमिक दूसरे श्रमिक की तुलना मे अधिक योग्य एव अधिक कार्य कुशल है। अत समान परिस्थितियो मे एक निश्चित समय में, किसी श्रमिक द्वारा मात्रा मे अधिक या किस्म मे अच्छी अथवा मात्रा तथा किस्म दोनो मे ही अधिक व अच्छी वस्तुओ को उत्पन्न करने की शक्ति को श्रम की कार्य क्षमता कहा जाता है।

श्रम की कार्यक्षमता का तुलना एक ही प्रकार के कार्य तथा समान परिस्थितियो म की जाती है। यदि सूती मिलो के श्रमिको का कार्यक्षमता की तुलना लोहे तथा इस्पात के कारखाना के श्रमिको की कार्यक्षमता से की जाय तो दोनो के कार्यों की प्रकृति तथा स्वभाव म अन्तर होने के कारण कार्य क्षमता की तुलना करना ठीक नही होगा। इस प्रकार श्रम की कार्यकुशलता उसका उत्पादकता या उत्पादनशीलता (Productivity) के आधार पर जानी जाती है। प्रत्येक श्रमिक की उत्पादकता की तुलना एक निश्चित समय तथा क्षेत्र म औसत या सीमान्त उत्पादकता स की जाती है। यदि किसी श्रमिक द्वारा औसत या सीमान्त उत्पादन स अधिक मात्रा म या उत्तम वस्तु या अधिक मात्रा म उत्तम वस्तु का उत्पादन किया जाता है तो उस अधिक कार्यकुशल श्रमिक कहा जाता है। यदि उसके द्वारा औसत या सामान्त उत्पादन के बराबर ही उत्पादन किया जाता है ता उस औसत या कार्यकुशल श्रमिक कहते है परन्तु जब कोई श्रमिक औसत उत्पादन स कम मात्रा म या औसत किस्म स खराब वस्तुओ का उत्पादन करता है तब उस अयोग्य एव अकुशल श्रमिक कहा जाता है।

औसत या सीमान्त उत्पादकता का निर्धारण दो प्रकार से किया जाता है— उत्पादित वस्तुओ की मात्रा के आधार पर तथा लागत के आधार पर। उदाहरणार्थ किसी गत समय विशेष म उत्पादन के अन्य साधनो म परिवर्तन किए बिना यदि 3 श्रमिको द्वारा 30 इकाइयाँ उत्पादित की जाती हैं और अलग अलग प्रथम श्रमिक 8 इकाइयाँ द्वितीय श्रमिक 10 इकाइया तथा तृतीय श्रमिक 12 इकाइया उत्पादित करता है तो उनका औसत उत्पादन 10 इकाइयो के तुल्य हुआ। इस स्थिति म पहला श्रमिक अकुशल दूसरा श्रमिक कार्यकुशल तथा तीसरा श्रमिक अन्य दोनो श्रमिको की अपेक्षा अधिक कार्यकुशल कहा जायगा। इसी प्रकार यदि अन्य उत्पादन साधनो म परिवर्तन किये बिना चौथे श्रमिक को लगा दिया जाय और उसकी उत्पादकता 9 इकाइयो के बराबर ही हो तो कुल उत्पादन म 9 इकाइयो की वृद्धि होने पर सामान्त उत्पत्ति 9 के बराबर होगी। इस स्थिति म दूसरा तथा तीसरा श्रमिक अधिक कार्यकुशल कहा जाएगा चौथे श्रमिक की कार्यकुशलता सामान्त कही जाएगी और पहला श्रमिक अकुशल माना जायगा।

लागत के आधार पर यह निर्धारित किया जाता है कि किसी वस्तु के उत्पादन म हानि वान लाभ की तुलना श्रम स की जाती है। यदि उत्पादित वस्तुओ की बिक्री से प्राप्त मूल्यो म से अन्य साधनो के पारितोषिक (rewards) घटाने के

बाद इस प्राय श्रमिक की मजदूरी के बराबर हो रह जाती है अथवा कम हो जाती है तो श्रम को कार्यकुशल नहीं कहा जा सकता। ऐसी स्थिति में यह कहा जा सकता है कि उत्पादन कम होने से लाभ कम हुआ है। उत्पादन कम होने का अर्थ यह है कि श्रम की कार्यक्षमता या कार्य-कुशलता कम है। **अन्य बातों के समान रहने पर लाभ में वृद्धि कार्यक्षमता में वृद्धि को व्यक्त करती है तथा लाभ में कमी कार्य-क्षमता में कमी बताती है।** अतः श्रम की कार्यकुशलता उस पर किए जाने वाले व्यय में तथा उससे प्राप्त होने वाले लाभ की तुलना के आधार पर अन्य बातों के समान रहने पर ही निर्धारित की जाती है।

श्रम की कार्य-क्षमता को प्रभावित करने वाले तत्त्व
(Factors Affecting the Efficiency of Labour)

श्रमिकों की उत्पादकता तथा कार्य क्षमता पर कई बातों का प्रभाव पड़ता है। विभिन्न देशों में श्रम की कार्यक्षमता को प्रभावित करने वाले कारण भी अलग अलग होते हैं। पेंसन ने इस विभिन्नता के कारणों के सम्बन्ध में कहा है— **श्रम की कार्यकुशलता आंशिक रूप से मालिक या नियोक्ता पर तथा आंशिक रूप से श्रमिकों पर आंशिक रूप से संगठन पर और आंशिक रूप में व्यक्तिगत प्रयत्न पर, अंशतः श्रमिक को प्रदान किए गए औजारों यन्त्रों आदि पर और कुछ अंश तक श्रमिक द्वारा उन उपकरणों को प्रयोग करने की दक्षता तथा परिश्रम पर निर्भर है।**[1] श्रम की कार्यक्षमता को प्रभावित करने वाले तत्त्वों को चार वर्गों में रखा जा सकता है (1) श्रमिकों के व्यक्तिगत गुण (2) देश की परिस्थितियाँ (3) कार्य करने की परिस्थितियाँ (4) संगठन एवं प्रबन्ध की योग्यता तथा (5) विविध।

(1) श्रमिकों के व्यक्तिगत गुण (Individual Qualities)

(i) पैतृक तथा जातीय गुण (Hereditary and Racial Qualities) श्रमिक पर वातावरण परम्पराओं का भी प्रभाव पड़ता है। माता-पिता के स्वस्थ सम्पन्न योग्य तथा बुद्धिमान होने पर उनके बच्चों में निस्सन्देह कार्यक्षमता तथा काम करने की योग्यता अधिक होगी। जन्म से ही अच्छे वातावरण में रहने वाला श्रमिक अधिक कार्यकुशल होगा। परन्तु आजकल श्रम की कार्यक्षमता का निर्धारित करने वाले तत्त्वों को जातीय तथा पैतृक गुणों को अधिक महत्त्व नहीं प्रदान किया जाता। उचित प्रशिक्षण द्वारा किसी भी जाति के व्यक्ति को योग्य एवं कुशल श्रमिक बनाया जा सकता है।

---

1 "Efficiency of labour depends partly on the employer and partly on the employed partly on organisation and partly on individual effort partly on tools machinery etc., with which the worker is supplied and partly on his own skill and industry in making use of them."

—Pens n

(ii) स्वास्थ्य (Health) श्रमिक का स्वास्थ्य ही उसकी पूंजी है क्योंकि उसकी कार्यक्षमता उसी पर आधारित है। यदि श्रमिक स्वस्थ है तो वह अधिक से अधिक कार्य करने पर भी नहीं थकता जिससे उसकी उत्पादनशीलता अधिक होती है।

(iii) सामान्य तथा विशेष शिक्षा (General and special education) श्रमिकों की कार्यक्षमता पर उनकी शिक्षा दीक्षा का अधिक प्रभाव पडता है। शिक्षित व्यक्ति अपना कार्य ठीक प्रकार से समझने तथा करने की क्षमता रखता है जबकि अशिक्षित व्यक्ति किसी भी कार्य को समझने तथा करने में काफी समय लेता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक कार्य में विशेष कुशलता की आवश्यकता भी होती है। इसके लिए श्रमिकों का विशेष रूप से प्रशिक्षित होना आवश्यक है। अपनी योग्यतानुसार तकनीकी शिक्षा प्राप्त करने पर श्रमिक अधिक कार्यकुशल होता है। व्यावसायिक तथा तकनीकी शिक्षा प्रत्यक्ष रूप से श्रमिक की कार्यक्षमता को प्रभावित करती है।

हमारे देश में श्रमिकों के लिए सामान्य तथा विशेष शिक्षा की अधिक सुविधाएं नहीं हैं। इसी कारण भारतीय श्रमिकों की कार्यक्षमता का स्तर निम्न है।

(iv) नैतिक गुण (Moral virtues) देश के अन्दर नैतिकता का स्तर ऊँचा होने पर श्रमिक सच्चाई और ईमानदारी से कार्य करता है। यदि देश में सर्वत्र भ्रष्टाचार बेईमानी और अनैतिक कार्यों का ही बोलबाला हो तो श्रमिक वर्ग आत्मविश्वास खो देता है। उसमें कर्तव्यपरायणता की कमी आ जाती है। यदि देश में गरीबी अधिक है तो श्रमिक अनैतिकता का शिकार हो जाता है। इससे उसकी कार्यक्षमता कम हो जाती है। शिक्षित होने के साथ साथ श्रमिक के सच्चरित्र होने पर भी उसकी कार्यक्षमता अधिक होती है।

(v) सामान्य बुद्धि (General intelligence) श्रमिक की कार्यक्षमता पर उसकी सामान्य बुद्धि का भी गहरा प्रभाव पडता है। यदि एक श्रमिक के विचारों में दृढ़ता है तो वह तीव्र गति से कार्य कर सकता है ठीक निर्णय ले सकता है। जिसकी स्मरण शक्ति अच्छी है वह दूसरे श्रमिक की अपेक्षा कुशल होगा।

(2) देश की परिस्थितियां

(i) जलवायु देश या क्षेत्र की जलवायु श्रमिकों की कार्यक्षमता को प्रभावित करती है। गर्म देश में रहने वाला श्रमिक सुस्त और आलसी होता है जबकि शीत जलवायु आनन्दप्रद और शक्ति वर्द्धक होने के कारण श्रमिकों को अधिक परिश्रमी बनाती है।

(ii) सामाजिक वातावरण जहाँ पर जातीय परम्पराओं के अनुसार कार्यों के चुनाव के सम्बन्ध में प्रतिबन्ध होते हैं तथा श्रमिक की गतिशीलता उनसे प्रभावित होती है और संयुक्त कुटुम्ब का बोझ भी उसे उठाना पडता है वह ऐसे सामाजिक वातावरण में रहने वाले श्रमिक की कार्यक्षमता कम होती है। पश्चिमी राष्ट्रों में

व्यक्तिवादी (Individualism) मान्यताओं का यह लाभ हुआ है कि श्रमिक व्यक्तिगत उन्नति के लिए अधिक प्रयास करता है।

(iii) **राजनतिक परिस्थितियाँ** श्रम की काय क्षमता पर देश की राजनतिक परिस्थितियों का भी प्रभाव पड़ता है। यदि देश स्वतन्त्र है तो वहाँ के श्रमिक अपने कर्तव्यों का पालन ठीक ढंग से करते हैं। स्वतन्त्र होने पर वे देश के प्रति अपने कर्तव्यों और दायित्वों को समझते हैं। अत उनकी काय-क्षमता अधिक होती है। देश में राजनतिक अशान्ति तथा अव्यवस्था का प्रभाव भी श्रमिक की काय-क्षमता पर पड़ता है। शान्ति और सुरक्षा का वातावरण रहने पर काय करने में श्रमिकों की रुचि अधिक होती है जिससे उनकी उत्पादिता में वद्धि होती है।

(3) **काय करने की परिस्थितियाँ**

(i) **काय में रुचि तथा काय करने की इच्छा** श्रमिक की काय-क्षमता उस समय अधिक होती है जब वह अपने काय में अधिक रुचि लेता है। उसकी रुचि के अनुसार काय होने पर वह उसे मन लगाकर करता है जिससे वह अधिक काम कर पाता है। इस प्रकार की इच्छा उसी समय उत्पन्न हो सकती है जबकि वह काय उसकी आन्तरिक योग्यता एव रुचि के अनुकूल हो। अत श्रमिकों की काय क्षमता में वद्धि करने के लिए उनकी मानसिक स्थिति का अध्ययन आवश्यक होता है। जहाँ औद्योगिक मनोविज्ञान (Industrial Psychology) के आधार पर श्रमिकों की मनोदशा का अध्ययन करके उनके लिए अनुकूल वातावरण उत्पन्न किया जाता है वहाँ श्रमिकों को अपनी इच्छा एव रुचि के अनुसार काम मिलने पर उनकी काय क्षमता अधिक होती है।

(ii) **उचित पारिश्रमिक तथा अन्य सुविधायें** यदि श्रमिक उचित मजदूरी प्राप्त करता है तो वह अपने रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठा सकता है। यदि उसे पौष्टिक भोजन हवादार मकान तथा बीमारी के समय चिकित्सा आदि के लिए पर्याप्त मजदूरी मिलती है तो उसका स्वास्थ्य ठीक रहेगा और उसकी काय-क्षमता बढ़ेगी। जहाँ पर बोनस पेंशन तथा लाभ विभाजन सम्बन्धी योजनाएँ अपनायी जाती हैं वहाँ श्रमिक अधिक काय करते हैं। इसी प्रकार सामाजिक सुरक्षा के अन्तर्गत प्रान्त वालों बीमा योजनाएँ तथा आर्थिक सहायता की योजनाओं की व्यवस्था होने पर श्रमिक को काय करने के लिए अधिक प्रेरणा मिलती है तथा उसकी काय क्षमता बढ़ जाती है। भविष्य में उन्नति की आशा भी उसकी काय क्षमता में वद्धि करती है। श्रमिक के स्वास्थ्य पर काय के घण्टों तथा काय-स्थान के वातावरण का अधिक प्रभाव पड़ता है। यदि श्रमिक का काय-स्थान स्वच्छ हवादार व प्रकाश युक्त नहीं है तो इसका श्रमिक के स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है तथा उसकी काय क्षमता कम होती है।

(iii) **काय की स्वतन्त्रता** जिस श्रमिक को अपने काय करने हेतु पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान कर दी जाती है वह अधिक काय कुशलता के साथ अपना काय करता है। इसका कारण यह है कि वह अपने उत्तरदायित्व का अनुभव करता है।

(iv) **अच्छे औजार, उपकरण तथा उत्पादन की वज्ञानिक प्रणाली** यदि श्रमिकों को अच्छे किस्म का कच्चा माल अच्छे औजार तथा उपकरण प्राप्त हों और उत्पादन के अन्य साधनों के साथ श्रम का उचित सामजस्य हो तो श्रमिक की काय क्षमता निश्चित रूप से अधिक होगी। उत्तम तथा वज्ञानिक उत्पादन प्रणाली भी श्रमिक की काय क्षमता म वद्धि करती है।

(v) **काय के घण्टे** श्रमिक कई घण्टे लगातार काम करने पर थक जाता है। इससे उसकी काय क्षमता घट जाती है। यदि श्रमिकों को कुछ घण्टे काम करने के बाद थोडा आराम कर लेने दिया जाय तो *उससे उनकी काय क्षमता बढेगी।* इसके अतिरिक्त यदि प्रति सप्ताह काम करने के घण्टों म कमी कर दी जाय तथा सप्ताह के अन्त म मनोरजन व आराम के लिए पर्याप्त समय दिया जाय जसा कि कई पश्चिमी देशों म किया गया है तो भी श्रमिकों की काय क्षमता बढेगी।

(vi) **श्रम कल्याण तथा सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था** मजदूरों की काय क्षमता पर मालिकों तथा सरकार द्वारा उनके कल्याण तथा सामाजिक सुरक्षा के लिए प्रदान की गई सुविधाओं का भी प्रभाव पडता है। किसी देश म इनकी पूर्ण व्यवस्था होने पर श्रमिकों की काय क्षमता एव काय कुशलता अधिक होती है। राज्य बीमा वद्धावस्था पेंशन बीमारी तथा दुघटना म आर्थिक सहायता प्रोविडेन्ट फण्ड तथा ग्रेच्यूटी आदि के होने पर श्रमिक को भविष्य की चिन्ता नही रहती। वह अपने वतमान पारिश्रमिक म अपने जीवन स्तर को ऊचा उठाकर अपनी काय क्षमता म वद्धि करता है।

(vii) **भविष्य मे उन्नति की आशा** यदि श्रमिक को भविष्य म अपनी पदोन्नति की आशा रहती है तो वह कडा महनत करता है तथा उसका श्रम भी श्रेष्ठ होता है। इसके विपरीत यदि श्रमिक को भविष्य म पदोन्नति की आशा नही रहती है तो वह कडी महनत नही करता है।

(4) सगठन एव प्रबन्ध की योग्यता

(i) **अच्छा सगठन** यदि श्रमिकों को उनकी योग्यता तथा इच्छा के अनुसार काम पर लगाया जाता है उत्पादन के अन्य साधनों के साथ श्रम का उचित अनुपात म समायोजन किया जाता है श्रम विभाजन की वज्ञानिक ढग पर व्यवस्था की जाती है *उनकी नियुक्ति उपयुक्त ढग से की जाती है तो श्रमिकों की काय क्षमता* म वृद्धि होती है।

(ii) **श्रमिकों तथा मालिकों के बीच अच्छा सम्बन्ध** मालिक और श्रम के मध्य सम्बन्ध ठीक रहने पर लोकतन्त्रीय प्रणाली के आधार पर सह प्रबन्ध काय-समितियां

आदि की व्यवस्था को स्वीकार करने पर तथा श्रमिकों की रुचि तथा उनकी प्रतिक्रियाओं पर विशेष ध्यान देने पर श्रमिक मालिक के हितों का ध्यान में रखते हैं तथा अधिक काम करते हैं। उनकी सर्वोच्च शक्ति को उचित मान्यता प्रदान करने पर श्रमिकों की कार्य-क्षमता निःसन्देह बढ़ती है।

(5) विविध

(i) श्रमिक संघों (Trade Unions) का प्रभाव श्रमिक संघों का भी श्रम की कार्य-कुशलता पर प्रभाव पड़ता है। ये संघ श्रमिकों को संगठित करके उनके मालिकों से उनकी मांगों की पूर्ति कराने में सहायक होते हैं जिससे श्रमिक और भी निश्चिन्त रह कर अपना कार्य करने में अधिक समय देता है। इन संघों द्वारा श्रमिकों की शिक्षा-दीक्षा, उनके स्वास्थ्य, मनोरंजन आदि की व्यवस्था भी की जाती है। हड़ताल, तालाबन्दी आदि आन्दोलन के समय संघ आर्थिक सहायता भी प्रदान करते हैं। इस प्रकार श्रमिक संघ श्रमिकों के मानसिक, नैतिक, शारीरिक और आर्थिक स्तर को ऊँचा रखने में सहायक होते हैं। इन गुणों का विकास होने पर श्रमिक की कार्य-क्षमता में वृद्धि होती है।

(ii) श्रमिकों में अधिक गतिशीलता यदि श्रमिक एक ही स्थान तथा व्यवसाय में स्थायी रूप से काम नहीं करते बल्कि हमेशा व्यवसाय या पेशा बदलते रहते हैं तो उनकी कार्य क्षमता कम हो जाती है।

उपर्युक्त तत्वों एवं परिस्थितियों के अनुकूल होने पर श्रमिक की कार्य क्षमता में वृद्धि होती है। उचित मजदूरी, काम करने की अनुकूल दशाएं, कारखाने के अन्दर प्राप्त सुविधाएं, देश का सामान्य वातावरण, श्रमिक के संस्कार, उचित जीवन स्तर, आवश्यक प्रशिक्षण, अच्छी उत्पादन प्रणाली, अच्छा प्रबन्ध, सरकार तथा अन्य संस्थाओं द्वारा किए गए श्रम कल्याण-सम्बन्धी कार्यों और श्रमिक को प्राप्त सुविधाएं तथा सम्मान आदि का श्रमिक की कार्य क्षमता पर प्रभाव पड़ता है। श्रमिकों की उच्च कार्य क्षमता राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि कर राष्ट्र को समृद्धिशाली बनाती है।

भारतीय श्रम की कार्यक्षमता
(Efficiency of Indian Labour)

अमरिका, ब्रिटेन, जर्मनी, जापान आदि के श्रमिकों से भारतीय श्रमिक की तुलना कर यह कहा जाता है कि भारतीय श्रम की कार्य क्षमता अत्यन्त ही कम है। भारत, अमरिका तथा लंकाशायर (ब्रिटेन) में सूती वस्त्र उद्योग में प्रति एक हजार तकुओं पर काम करने वाले श्रमिकों की औसत संख्या 22 4 5 तथा 6 7 है लोहा इस्पात उद्योग में अमरिका के श्रमिक की उत्पादिता भारतीय श्रमिक से दस गुनी है। इसी प्रकार कोयला उद्योग में भारतीय श्रमिक का उत्पादन अमरिका के श्रमिक के उत्पादन का केवल $\frac{1}{?}$ तथा ब्रिटेन के श्रमिक के उत्पादन का केवल $\frac{1}{?}$ भाग

है। य तथ्य सत्य हैं परन्तु भारतीय श्रमिक को अन्य औद्योगिक देशों के श्रमिकों की तुलना में बहुत ही कम वास्तविक मजदूरी प्राप्त होती है उसका जीवन-स्तर निम्न है काम करने की दशाएं अच्छी नहीं हैं उसे वे सुविधाएं वातावरण मशीन तथा उपकरण प्राप्त नहीं हैं जो अन्य विकसित देशों के श्रमिकों को प्राप्त हैं। अतः भारतीय श्रमिक की कार्य क्षमता की तुलना अन्य विकसित देशों के श्रमिकों की कार्य क्षमता से करना भारतीय श्रमिक के प्रति अन्याय करना है। सन् 1946 में नियुक्त श्रम जांच समिति तथा द्वितीय विश्व युद्ध काल में नियुक्त अमरिकी मिशन (Grady Mission) ने यह विचार व्यक्त किया था कि भारतीय श्रमिक की कम कार्य क्षमता के सम्बन्ध में व्यक्त मत निराधार हैं। यदि भारतीय श्रमिक की काम करने की दशाएं मजदूरी उपकरण प्रबन्ध व्यवस्था तथा सुविधाएं विकसित देशों के समान हों तो उसकी कार्य क्षमता किसी भी देश के श्रमिक से कम नहीं है। अनुकूल सुविधाएं प्रदान कर उसकी कार्य क्षमता में आशातीत वृद्धि की जा सकती है।

परन्तु वस्तुतः भारतीय श्रमिक की कार्य क्षमता कम है। इसके कारणों तथा उनको दूर करने के उपायों पर नीचे प्रकाश डाला गया है।

1 जातीय कारण भारत में पेशों तथा कार्यों का वर्गीकरण जाति के आधार पर किया गया है। अतः प्रत्येक व्यक्ति अपनी जाति के अनुसार ही काम करता है। यह दोष शिक्षा के प्रसार से दूर होता जा रहा है।

2 मकानों का अभाव भारतीय श्रमिकों के लिए मकानों की व्यवस्था अत्यन्त शोचनीय है। भारतीय श्रमिकों के मकान गन्दी बस्तियों में होते हैं उनमें जगह का भी अभाव होता है। अतः श्रमिकों के लिए उनकी कार्यकुशलता में वृद्धि हेतु स्वच्छ एवं हवादार मकानों की व्यवस्था करना अनिवार्य है।

3 कर्तव्यपालन की इच्छा का अभाव भारतीय श्रमिक गरीब है उसकी मजदूरी बहुत ही कम है तथा अधिकांश श्रमिक अशिक्षित हैं। इन कारणों से भारतीय श्रमिक अपने कर्तव्यों के प्रति उदासीन रहता है।

उचित मजदूरी तथा शिक्षा के द्वारा यह दोष दूर किया जा सकता है। उनके जीवन-स्तर को ऊंचा उठाकर उनमें कर्तव्य पालन की भावना उत्पन्न की जा सकती है।

4 जलवायु तथा स्वास्थ्य एक तरफ गरीबी के कारण भारतीय श्रमिक का स्वास्थ्य ठीक नहीं है दूसरी तरफ भारत की गर्म जलवायु अधिक श्रम के प्रतिकूल है। यदि श्रमिकों को सन्तुलित भोजन के लिए पर्याप्त वेतन मिले वह हवादार मकानों में रहे तथा उसकी कार्य क्षमता रक्षक आवश्यकताएं पूरी होती रहें तो उसकी कार्य-क्षमता निश्चित रूप से बढ़ेगी। गर्म जलवायु में भी यदि काम करने के स्थान का वातावरण गर्मी के दिनों में ठण्डा रखा जाय तो कार्य-क्षमता में वृद्धि होगी।

5 शिक्षा तथा प्रशिक्षण भारतीय श्रमिक अधिकतर अशिक्षित है। वे कार्य-सम्बन्धी विशेष शिक्षा के अभाव में अधिक कार्यकुशल नहीं होते।

यदि भारतीय श्रमिकों को सामान्य तथा तकनीकी शिक्षा प्रदान की जाये तो वे भी अपनी कार्य-क्षमता को बढ़ा सकते हैं। इस दिशा में सरकार ने पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत आवश्यक व्यवस्था की है जिससे श्रमिकों की कार्य क्षमता पहले की अपेक्षा बढ़ी है।

6 मजदूरी तथा कार्य करने की दशायें अन्य विकसित देशों की तुलना में भारतीय श्रमिक की मजदूरी बहुत ही कम है। कार्य करने के स्थान उपयुक्त नहीं हैं। न तो वहाँ उचित प्रकाश की व्यवस्था है और न हवादार तथा साफ-सुथरे हैं। कार्य के घण्टे भी यहाँ अधिक हैं। एक भारतीय श्रमिक को एक सप्ताह में 48 घण्टे काम करना पड़ता है जबकि पश्चिमी देशों में श्रमिक को 36 से 40 घण्टे तक ही काम करना पड़ता है। आराम तथा मनोरंजन के अवसर नहीं मिलने के कारण, भारतीय श्रमिक की कार्य क्षमता कम हो जाती है।

यदि सरकार मजदूरी भुगतान न्यूनतम मजदूरी फैक्टरी अधिनियम की व्यवस्थाओं का पालन करने पर कड़ी नजर रखे तो इन दिशाओं में आवश्यक सुधार हो सकते हैं जिससे श्रमिकों की कार्य क्षमता बढ़ सकती है।

7 अच्छी मशीनों का अभाव भारत में अच्छी तथा आधुनिक मशीनों की कमी है। श्रमिकों को ऐसी मशीनों पर काम करने के अवसर न मिलने से निश्चय ही उनकी कार्य क्षमता कम होगी।

यदि देश में आधुनिक मशीनों का प्रयोग किया जाय तथा श्रमिकों को उनको चलाने के लिए ट्रेनिंग दी जाये तो भारतीय श्रमिकों की कार्य क्षमता तथा कुशलता में आवश्यक वृद्धि होगी। भारत में स्वतन्त्रता के पश्चात् नये-नये उद्योगों के विकास तथा अच्छी मशीनों तथा औजारों के प्रयोग से भारतीय श्रमिकों की कार्य कुशलता में वृद्धि हुई है।

8 श्रम-कल्याण तथा सामाजिक सुरक्षा यद्यपि भारत में भी श्रमिकों के कल्याण तथा सामाजिक सुरक्षा (Social Security) के लिए अनेक व्यवस्थायें की गयी हैं तथा सरकार द्वारा दुर्घटना क्षतिपूर्ति श्रमिक राज्य बीमा निगम आदि पास भी किये गये हैं फिर भी पश्चिमी देशों की तुलना में ये व्यवस्थायें कम हैं। यदि सामाजिक सुरक्षा की योजना में विस्तार कर दिया जाय तो भविष्य की ओर से निश्चिन्त होकर भारतीय श्रमिक भी अपना जीवन-स्तर ऊँचा उठाकर अपनी कार्य क्षमता को बढ़ाने में समर्थ होगा।

9 योग्य संगठनकर्त्ताओं का अभाव भारत में ऐसे कुशल तथा योग्य संगठनकर्ताओं की कमी है जो श्रमिकों को उनकी रुचि तथा योग्यता के अनुसार काम बाँटकर उनकी उत्पादन मात्रा को बढ़ायें। वैज्ञानिक प्रबन्ध तथा श्रमिकों के प्रबन्ध के सम्बन्ध में उचित शिक्षा प्राप्त करने पर संगठन के इस दोष को दूर किया

जा सकता है। इससे श्रम मालिक संघर्ष भी समाप्त होगा तथा श्रमिकों की भावनायें भी बदल जायगी। फलस्वरूप श्रमिकों को अधिक कार्य करने की प्रेरणा मिलेगी।

10 श्रम संघ (Trade Unions) श्रम संघों (Trade Unions) का भारत में कम विकास हुआ है। इसके अतिरिक्त इनको मिल मालिकों की तरफ से कोई प्रोत्साहन भी नहीं मिलता। अधिकांश श्रम-संघ ठीक ढंग से संगठित भी नहीं हैं। उन पर राजनैतिक प्रभाव अधिक है। अतः वे श्रमिकों की कार्य क्षमता बढ़ाने में किसी प्रकार से सहायक नहीं होते।

श्रम संघों को अधिक शक्तिशाली बनाने के लिए प्रयत्न किये जाने चाहिए तथा राजनीति से दूर रहकर मिल मालिकों से उनके साथ मिलकर पारस्परिक मन भेद दूर करने के उपाय करने चाहिए जिससे श्रमिकों की कार्य क्षमता में वृद्धि हो सके। भारत में भी रस्किन कालेज आफ आक्सफोर्ड की भांति श्रम कॉलेजों की स्थापना की जानी चाहिए। कलकत्ता में Asian Trade Union College की स्थापना इस दिशा में एक प्रयास है।

श्रम की गतिशीलता
(Mobility of Labour)

उत्पादन के साधनों में श्रम सबसे अधिक गतिशील साधन माना जाता है। विभिन्न समयों में आर्थिक, राजनैतिक तथा धार्मिक कारणों से व्यक्ति-समूहों ने स्थान तथा देश परिवर्तन किया है। निर्धनता के कारण रोजगार के स्थानों की खोज करने की इच्छा उनको स्थान परिवर्तन करने के लिए बाध्य करती है। नवयुवकों में भी अच्छे पारिश्रमिक की उच्च आकांक्षा स्थान, उद्योग तथा व्यवसाय परिवर्तित करने की प्रेरणा प्रदान करती है। परन्तु श्रम की गतिशीलता उतनी तीव्र नहीं है जितनी कि पूंजी की। वही श्रम जो विशेषतया प्रशिक्षित होता है अधिक कुशल कार्यों को पूरा करने के लिए योग्य समझा जाता है। उसकी मांग एक स्थान पर अधिक होने के कारण उसमें व्यावसायिक गतिशीलता अधिक नहीं होती। परन्तु अकुशल श्रम स्थिर नहीं रहता। उसको किसी अन्य स्थान की ओर सरलतापूर्वक स्थानान्तरित किया जा सकता है। एक उद्योग से दूसरे उद्योग में भी श्रम की गतिशीलता अधिक हो सकती है क्योंकि सभी उद्योगों में कुछ कार्य जैसे लिपिकों, विक्रेताओं, लेखाकारों (Accountant), टाइपिस्टों, चपरासियों आदि के कार्य समान प्रकृति के होते हैं। अतः अधिक पारिश्रमिक प्राप्त होने पर श्रम एक उद्योग से किसी अन्य उद्योग की ओर अग्रसर होने के लिए शीघ्र ही तत्पर हो जाता है।

श्रम की गतिशीलता को प्रभावित करने वाले कई कारण हैं। यद्यपि व्यक्तियों में स्थान परिवर्तन करने की क्षमता रहती है फिर भी बहुत से ऐसे व्यक्ति हैं जो कार्य के लिए किसी दूसरे स्थान पर जाना पसन्द नहीं करते। वे उन स्थानों पर ही रहना पसन्द करते हैं जहां वे बड़े हुए हैं, जहां उनके सगे-सम्बन्धी तथा मित्र हैं। वे उन स्थानों को इसलिए भी नहीं छोड़ना चाहते क्योंकि ग्राम की अपेक्षा

स्थानान्तरण में होने वाले व्यय के अधिक होने की सम्भावना होती है। विभिन्न क्षेत्रों की भाषा तथा वहाँ के रीति रिवाज, रहन सहन आदि में भिन्नता होने के कारण भी श्रम अधिक गतिशील नहीं हो पाता।

श्रम उसी समय अधिक गतिशील हो सकता है जबकि उसमें विशेष प्रशिक्षण तथा शिक्षा के द्वारा अधिक कार्यकुशलता हो। जहाँ पर राज्य अथवा नियोक्ता श्रमिकों के कुशल प्रशिक्षण की व्यवस्था करता है वहाँ का श्रम अधिक गतिशील होता है। परन्तु जब प्रशिक्षण की व्यवस्था स्वयं व्यक्तियों को अपने साधनों से करनी पड़ती है तब वे इस शिक्षा में कोई विशेष दिलचस्पी नहीं लेते। प्रशिक्षण में पूँजी की लागत तथा भविष्य में ब्याज-सहित उस पूँजी के वापस मिलने की सम्भावना के तथ्यों पर विचार करके ही वह कार्य कुशलता प्राप्त करने की योजना बनाता है। यदि उसे अधिक लाभ मिलने की आशा नहीं होती तो वह अकुशल रहकर गतिहीन हो जाता है।

श्रम की गतिशीलता के सम्बन्ध में यह कथन सर्वथा उचित है कि यदि श्रम पूर्णतया गतिशील होता तो माँग में परिवर्तन अथवा तकनीकी प्रगति होने पर बेरोजगारी की समस्या उत्पन्न नहीं होती। संरचनात्मक बेरोजगारी (Structural unemployment) का प्रमुख कारण श्रम की गतिहीनता ही है। अतः माँग में परिवर्तन अथवा तकनीकी प्रगति होने पर अतिरिक्त श्रम को किसी अन्य उद्योग धन्धे या व्यवसाय में लगाकर श्रम को गतिशील बनाया जा सकता है तथा तकनीकी बेरोजगारी दूर की जा सकती है।

श्रम की गतिशीलता (Mobility of Labour) का अर्थ

श्रम की गतिशीलता श्रम की क्रियाशीलता के रूप में एक महत्वपूर्ण क्रिया है। गतिशीलता का तात्पर्य परिवर्तन से लिया जाता है। अतः श्रमिक की गतिशीलता का अर्थ किसी एक स्थान तथा व्यवसाय से दूसरे स्थान तथा व्यवसाय में जाने से लगाया जाता है।

प्रो० थॉमस (Thomas) के मतानुसार, "श्रम की गतिशीलता का तात्पर्य उसकी एक व्यवसाय या धन्धे से दूसरे व्यवसाय या धन्धे में जाने की क्षमता तथा तत्परता से लगाया जाता है।"[1]

श्रम की गतिशीलता के स्वरूप
(Forms of Mobility of Labour)

श्रम की गतिशीलता निम्न प्रकार की होती है

(1) भौगोलिक गतिशीलता (Geographical Mobility) जब श्रमिक एक स्थान से दूसरे स्थान पर चला जाता है तो उसे भौगोलिक गतिशीलता कहते

1 By the mobility of labour is meant its ability and willingness to move from one trade or occupation to another. —*Thomas*

हैं। भौगोलिक गतिशीलता स्थायी एव अस्थायी दोनों ही प्रकार की हो सकती है। जब श्रमिक एक स्थान को हमेशा के लिए छोड देता है तो उसे स्थायी भौगोलिक गतिशीलता कहते हैं। यदि यह स्थान परिवर्तन कुछ ही समयावधि के लिए है तो यह अस्थायी भौगोलिक गतिशीलता कहलाती है।

(2) व्यावसायिक गतिशीलता (Occupational Mobility) यदि श्रमिक एक व्यवसाय या उद्योग से दूसरे व्यवसाय या उद्योग को चला जाता है तो इसे व्यावसायिक गतिशीलता कहते हैं जैसे एक श्रमिक इस्पात उद्योग को छोडकर भारी मशीनरी के कारखाने में चला जाता है। व्यावसायिक गतिशीलता में वेतन के आधार पर वर्गीय गतिशीलता होती है जैसे कम वेतन वाले स्थान को छोडकर अधिक वेतन वाले स्थान पर श्रमिक का चला जाना है।

(3) वर्गीय गतिशीलता (Grade Mobility) इस तरह की गतिशीलता वेतन भोगी श्रमिकों में होती है। प्रत्येक व्यवसाय या धंधे में श्रमिकों को वेतन के आधार पर अलग अलग वर्गों में बाटा जाता है। यदि श्रमिक एक वर्ग से दूसरे वर्ग को स्थानान्तरित होता है तो इसे वर्गीय गतिशीलता कहेंगे। वर्गीय गतिशीलता को दो भागों में बाटा जा सकता है

(i) समवर्गीय गतिशीलता यदि श्रमिक एक धंधे या व्यवसाय को छोडकर दूसरे व्यवसाय या धंधे में उसी वेतन वर्ग में जाता है तो यह समवर्गीय गतिशीलता है। उदाहरणार्थ यदि एक प्राध्यापक निजी शिक्षण संस्था से राजकीय शिक्षण संस्था में जाता है तो यह समवर्गीय गतिशीलता होगी।

(ii) *विभिन्न वर्गीय गतिशीलता* जब श्रमिक एक उद्योग या व्यवसाय को छोडकर दूसरे धंधे या व्यवसाय में अपेक्षाकृत ऊँचे या निम्न वेतन क्रम में जाता है तो इसे विभिन्न वर्गीय गतिशीलता कहेंगे। जैसे एक प्राध्यापक का बन जाना या एक प्राचार्य का प्राध्यापक बन जाना इसी प्रकार की गतिशीलता है।

श्रम की गतिशीलता के कारण
(Causes of Mobility of Labour)

अथवा

श्रम की गतिशीलता को प्रोत्साहित करने वाले तत्व
(Factors Encouraging Mobility of Labour)

श्रम की गतिशीलता के उपर्युक्त प्रकारों को कई तत्व प्रभावित करते हैं जो निम्नलिखित हैं

(1) **भौगोलिक गतिशीलता के कारण** भौगोलिक गतिशीलता **आर्थिक एव सामाजिक** कारणों से प्रभावित होती है। (i) **आर्थिक कारणों** से यह गतिशीलता श्रमिकों द्वारा दूसरे स्थान पर नौकरी की तलाश से प्रभावित होती है। भारत के गाँवों में रोजगार की सुविधाएं उपलब्ध न होने के कारण श्रमिक वर्ग

शहरों में रोजगार की सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए गाँवों को छोड़ देते हैं। (ii) सामाजिक कारणों से यह गतिशीलता समाज की परिस्थितियों द्वारा प्रभावित होती है। समाज में वर्ग भेद उत्पन्न हो जाने के कारण या व्यक्तियों की जाति में विभाजन होने के कारण यह गतिशीलता उत्पन्न होती है। भारत में सामाजिक कारणों से व्यक्तियों के बीच गतिशीलता की मात्रा अधिक है। (iii) राजनैतिक कारणों से श्रमिक की गतिशीलता उस समय होती है जब उसे एक स्थान पर राजनैतिक प्रगति के अवसर उपलब्ध नहीं हैं।

(2) **व्यावसायिक गतिशीलता के कारण**—व्यावसायिक गतिशीलता साधनों की उत्पत्ति के कारणों से प्रभावित होती है जैसे (i) **कार्य की दशाएँ**—यदि श्रमिकों को कार्य करने के लिए किसी उद्योग में अच्छी सुविधाएँ प्राप्त होती हैं तो वह उस उद्योग में चला जाता है। ये सुविधाएँ कारखाने में उपयुक्त वातावरण के कारण उत्पन्न होती हैं। (ii) **उच्च वेतन एवं प्रगति**—जिन कारखानों में श्रमिकों को ऊँचा वेतन प्राप्त होगा तथा जहाँ पर उन्नति के अधिक अवसर प्राप्त होंगे श्रमिक उन्हीं कारखानों में कार्य करना पसन्द करेगा। (iii) **स्थायित्व**—यदि किसी कारखाने में श्रमिकों को स्थायी नौकरी प्राप्त हो जाती है तो वे अस्थायी नौकरी को छोड़ना पसन्द करेंगे।

(3) वर्गीय गतिशीलता के कारण

वर्गीय गतिशीलता में श्रमिक अपनी योग्यता के आधार पर कम वेतन वाले स्थान से अधिक वेतन वाले स्थान पर जाना पसन्द करेगा। इस प्रकार की वर्गीय गतिशीलता श्रमिकों के लिए वेतन के आधार पर विभिन्न वर्गों (Grades) में शुरू होती है। यह गतिशीलता निम्न कारणों से प्रभावित होती है:

(i) **योग्यता में वृद्धि होना**—जब एक श्रमिक शिक्षा तथा प्रशिक्षण द्वारा अपनी योग्यता में वृद्धि कर अपने वर्तमान पद से उच्च पद पर चला जाता है तो गतिशीलता आ जाती है। उदाहरण के लिए एक प्राध्यापक यदि पी०एच० डी० या डी० लिट्० कर लेता है तो वह प्रोफेसर पद पर जा सकता है। (ii) **मालिक की कृपा**—श्रमिक से प्रसन्न मालिक खुश होकर पदोन्नति और नाराज होकर पदावनति भी कर सकता है। (iii) **अन्य वर्गों में रोजगार के अधिक अवसर**—जब उच्च वेतन शृंखला में अधिक पद खाली हों तो रोजगार सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं और श्रमिक उच्च वेतन श्रेणी में जाने का प्रयास करता है।

श्रम की गतिशीलता में बाधक तत्त्व
(Factors Hindering Mobility of Labour)

उत्पादन के अन्य साधनों की अपेक्षा श्रम कम गतिशील है। कतिपय अप्राकृतिक तत्त्वों के कारण यह गतिशीलता और भी कम हो जाती है—

(1) **क्षेत्रीय विभिन्नता** एक ही देश में विभिन्न क्षेत्र होने के कारण तथा इन क्षेत्रों में रहन सहन भाषा रीति रिवाज तथा खान पान में बहुत अधिक अन्तर होने के कारण श्रम की गतिशीलता भारत जैसे महान् राष्ट्र में अधिक सीमित हो जाती है क्योंकि भारतीय समाज एक परम्परावादी समाज है और इस प्रकार के क्षेत्रीय तत्त्व गतिशीलता को सीमित करते हैं।

(2) **पारिवारिक सम्बन्ध** श्रमिकों को अपने परिवार से स्नेह होने के कारण तथा एक ही जगह कई वर्षों तक रहने के कारण उस स्थान में अधिक लगाव हो जाता है। अतः इस प्रकार के पारिवारिक स्नेह होने के कारण श्रम की गतिशीलता सीमित हो जाती है।

(3) **सामाजिक तत्त्व** श्रमिकों की गतिशीलता को सामाजिक तत्त्व बहुत ही सीमित कर देते हैं। इन सामाजिक तत्त्वों में जाति प्रथा तथा संयुक्त परिवार प्रणाली आदि सम्मिलित होते हैं। इस प्रकार के रीति रिवाज भारत के परम्परावादी समाज में बहुत अधिक प्रचलित है।

(4) **गरीबी** श्रमिकों की गरीबी भी गतिशीलता को सीमित कर देती है। भारतवर्ष में जहाँ कुल आबादी के 40 प्रतिशत व्यक्तियों का न्यूनतम जीवन-स्तर भी नहीं है श्रमिक एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने के व्यय को भी सहन नहीं कर सकता। अतः भारत जैसे समाज में यह कारण भी गतिशीलता को सीमित कर देता है।

(5) **अशिक्षा** श्रमिकों के अशिक्षित होने के कारण वे दूसरे स्थानों पर प्रचलित रोजगार की सुविधाओं वेतन-मान आदि का ठीक प्रकार से ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। अतः श्रमिकों की अज्ञानता गतिशीलता को सीमित कर देती है।

(6) **यातायात या संदेशवहन के साधनों का अपर्याप्त विकास** यातायात व सन्देशवहन के साधनों का पर्याप्त रूप से विकास नहीं होने के कारण श्रमिक एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं पहुँच पायगा जिससे श्रमिक की गतिशीलता सीमित हो जायगी। भारत में इस प्रकार की बहुत समस्याएं पाई जाती हैं क्योंकि एक अर्द्ध विकसित राष्ट्र होने के नाते भारत में यातायात के साधनों का पर्याप्त रूप से विकास नहीं हो पाया है।

(7) **तकनीकी ज्ञान का अभाव** कभी-कभी तकनीकी ज्ञान तथा कौशल के अभाव के परिणामस्वरूप भी श्रमिक एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय में नहीं जा पाते। भारतीय श्रमिकों में तकनीकी ज्ञान की कमी होने के कारण ही उनकी गतिशीलता निम्न होती है।

(8) **महत्त्वाकांक्षा की कमी** यदि श्रमिकों में उन्नति की भावना प्रबल होती है तो जहाँ भी उन्नति व ऊँचे वेतन की आशा होगी वहाँ जाने को वे तत्पर

हाग । भारतीय श्रमिक निधनता बुरे स्वास्थ्य तथा भाग्यवादिता के कारण महत्त्वा काभी नही हाते जिसस उनम गतिशीलता की कमी हानी है ।

(9) धार्मिक तत्त्व श्रमिका म धार्मिक आस्थाआ क कारण भी गतिशीलता कम होती है । भारत का श्रमिक पाकिस्तान की धर्मान्धता क कारण ही वहा जाने का तत्पर नही हाता ।

(10) नगरो की दूषित पर्यावरण औद्योगिक नगरा म खाद्य पदार्थ आवास शिक्षा स्वास्थ्य आदि समस्याएँ हाने क कारण श्रमिक वहा जान स कतरात है । बम्बई कलकत्ता कानपुर आदि औद्योगिक नगर इसक उदाहरण है ।

भारत मे श्रम गतिशीलता को बढाने के उपाय

(1) नियोजन कार्यालयो की स्थापना मे वद्धि नियाजन कार्यालय श्रमिका का रोजगार अवसरो का ज्ञान दिलाकर उनकी गतिशीलता म वद्धि कर सक्त ह ।

(2) शिक्षा व प्रशिक्षण की व्यवस्था शिक्षा प्रसार स पारिवारिक स्नेह तथा सामाजिक रूढिवादिता कम हा जाता है जिससे गतिशीलता म बढोतरी हो जाती है । तकनीकी शिक्षा व उचित प्रशिक्षण द्वारा भी श्रम की गतिशीलता म वद्धि हाती है ।

(3) परिवहन एव सचार-व्यवस्था यदि सस्ती शीघ्रगामी तथा सुलभ होती है तो श्रम की गतिशीलता म वद्धि हो सकती है ।

(4) शान्ति एव सुरक्षा व्यवस्था स भी श्रम का गतिशीलता म वद्धि की जा सकती ह ।

(5) औद्योगिक उन्नति होन पर भी श्रम गतिशीलता म बढोतरी हाती है ।

(6) श्रम कल्याण तथा सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था होन पर श्रम की गतिशीलता म अत्यधिक बढोतरी होती है । इस प्रकार यदि भारत म उपयुक्त उपाया पर ध्यान दिया जाये तो श्रम गतिशीलता म काफी वद्धि हा सकती है ।

श्रम की पूर्ति
(Supply of Labour)

श्रम की पूर्ति से आशय श्रम क कुल कायशाल घटा जो उत्पादन हतु दन को तत्पर हा स है । इस प्रकार पारिश्रमिक प्राप्ति की दृष्टि स जो श्रम किया जाता है वह श्रम पूर्ति कहा जाता है । किसी देश की श्रम पूर्ति उस देश की जनसख्या म कायशील जनसख्या की मात्रा तथा श्रमिको की कायकुशलता पर निभर करता है ।

इस प्रकार किसी दश म श्रम की कुल पूर्ति म (1) दश की कुल जनसख्या (ii) जनसख्या म कायशीलता जनसख्या का अनुपात (iii) प्रति व्यक्ति काय शाल घण्टा की सख्या तथा (iv) श्रमिक की कायक्षमता शामिल हाती है ।

प्रश्न व सकेत

1 श्रम की विशेषताए क्या हैं ? व श्रमिको की मजदूरी को कस प्रभावित करती है ?

What are the peculiarities of labour ? How do these affec its remuneration ?

2 उत्पादन के साधन के रूप म श्रम के महत्व की व्याख्या कीजिए । क्या श्रम के साथ वस्तु जसा बर्ताव किया जा सकता है ?

Discuss the importance of labour as a factor of production Can labour be treated as a commodity ?

3 श्रम की कायक्षमता म आप क्या समझत हैं ? उसे प्रभावित करन वाल तत्वो की विवेचना कीजिए ।

What do you mean by effi iency of labour ? Discuss the factors affecting the same

4 श्रम का वर्गीकरण कीजिए । भारत म श्रम की कायक्षमता म वद्धि के सुझाव दीजिए ।

Classify labour Sugg t ways and means to improve the efficiency of labour in India

5 श्रम की गतिशीलता म आपका क्या आशय है ? श्रम की गतिशीलता के क्या कारण हैं तथा गतिशीलता के बाधक तत्वो की विस्तृत व्याख्या कीजिए ।

What do you understand by the term Mobility of Labour Discuss the causes that encourage mob lity of labour

6 अन्तर समझाइए

Distinguish between

(i) उत्पादक तथा अनुत्पादक श्रम
(Productive and Unproductive Labour)

(ii) कुशल तथा अकुशल श्रम
(Skilled and Unskilled Labour)

(iii) व्यावसायिक तथा वर्गीय श्रम की गतिशीलता ।
(Occupational and Grade Mobility)

7 श्रम की गतिशीलता कस बढ़ायी जा सकती है ? भारतीय श्रमिक की गतिशीलता कस बढ़ सकती है ?

How can mobility of labour b encouraged ? Suggest measures to encourage the mobility of labo ir in Ind ia

---

21

श्रम-विभाजन तथा उद्योगों का स्थानीयकरण

(Division of Labour & Localisation of Industries)

From the point of view of the individual the division of labour is specialisation but from the point of view of society it is co operation

—*Henery Clay*

श्रम विभाजन
(Division of Labour)

वर्तमान उत्पादन व्यवस्था में श्रम विभाजन या विशिष्टीकरण (Specialisation) का विशेष महत्त्व है। श्रम विभाजन द्वारा ही श्रम की कार्य-कुशलता तथा उत्पादन क्षमता में वृद्धि हो गयी है। मानव समाज के लिए श्रम विभाजन नया नहीं है। मानव समाज तथा सभ्यता का विकास पारस्परिक सहयोग और कार्यों के विशिष्टीकरण के आधार पर ही हुआ है। हाँ प्रारम्भ में श्रम विभाजन व्यक्ति व परिवार तक सीमित था परन्तु आर्थिक विकास के साथ-साथ श्रम विभाजन का क्षेत्र भी बढ़ता गया। आधुनिक काल में श्रम विभाजन के द्वारा ही श्रम का उचित एवं अधिकतम उपयोग किया जाने लगा है। बड़े पैमाने पर उत्पादन तथा बड़े-बड़े औद्योगिक संस्थान श्रम विभाजन तथा विशिष्टीकरण के ही परिणाम हैं। केवल इतना ही नहीं प्रत्येक देश अपनी क्षमता तथा भौतिक साधनों की उपलब्धता के आधार पर एक आर्थिक इकाई बन गया है। प्रत्येक देश में उसके विभिन्न भागों में भिन्न भिन्न वस्तुओं के उत्पादन का कार्य विशिष्टीकरण के आधार पर विभाजित कर दिया गया है।

श्रम विभाजन का अर्थ
(Meaning of Division of Labour)

किसी वस्तु के उत्पादन के कार्य को कई विधियों तथा उप विधियों में बाँट कर प्रत्येक विधि अथवा उप विधि सम्बन्धी कार्य को अलग-अलग व्यक्तियों अथवा

समूहो द्वारा अपनी अपनी रुचि एव योग्यता के अनुसार पूरा करना ही श्रम विभाजन है। प्रो० वाटसन (Watson) के शब्दो म 'उत्पादन की किसी क्रिया को विभिन्न उपक्रियाओं मे विभाजित कर प्रत्येक विशिष्ट साधन का उसी उप क्रिया मे लगाना जिसके लिए वह कुशल हो और फिर सबके उत्पादन को मिला कर उपभोग की अपेक्षित वस्तु तयार करना ही श्रम विभाजन है।'[1] एच० एल० हैन्सन के अनुसार श्रम विभाजन का अर्थ क्रियाओ का विशिष्टीकरण है। इस प्रकार श्रम विभाजन के अन्तगत प्रत्यक वस्तु के उत्पादन या निर्माण का काय विभिन्न उप क्रियाओ म विभाजित कर दिया जाता है। इसके पश्चात प्रत्यक विशिष्ट साधन को उसी उप क्रिया म लगाया जाता है जिसम वह कुशल होता है। अन्त म सब उप क्रियाओ से प्राप्त उत्पादन को मिला कर उपयोग की वस्तु प्राप्त कर ली जाती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि *श्रम विभाजन और विशिष्टीकरण एक दूसर से सम्बन्धित हैं।* श्रम विभाजन विशिष्टीकरण को जन्म देता है और विशिष्टीकरण के द्वारा ही श्रम विभाजन सम्भव हो पाता है। परन्तु विशिष्टीकरण का क्षेत्र अधिक विस्तृत है। वह श्रम के अतिरिक्त अन्य साधनो से भी सम्बन्धित है। जब प्रत्यक व्यक्ति का उसकी रुचि शिक्षा तथा योग्यता के अनुसार काय सौंप कर उसम काय पूरा कराया जाता है तब इसे श्रम विभाजन कहते हैं। परन्तु जब किसी अन्य साधन को किसी विशष काय के लिए ही प्रयोग म लाया जाता है तब ऐसे प्रयोग को उस साधन विशष का विशिष्टीकरण कहते है। जसे पूजी के विशिष्टीकरण का अर्थ यह है कि पूजी किसी विशेष काय के लिए ही प्रयोग म लाई जाती है क्षत्रीय विशिष्टीकरण का अर्थ है कि कोई एक क्षत्र किसी एक विशेष वस्तु के उत्पादन म ही कुशल है।

अत हम कह सकते हैं कि श्रम विभाजन का उद्दश्य है किसी काय को छोटे छोटे विभागो तथा उप विभागो म बाँट दिया जाय कि प्रत्यक श्रमिक को उसकी योग्यतानुसार काय मिल जाय। श्रम विशिष्टीकरण की यह प्रक्रिया ही श्रम विभाजन है।

श्रम विभाजन के रूप
(Kinds of Division of Labour)

श्रम विभाजन के निम्नलिखित विविध रूप हैं

1 साधारण या व्यावसायिक श्रम विभाजन (Simple or Occupational Division of Labour)
2 जटिल श्रम विभाजन (Complex Division of Labour) तथा

---

1 Production by division of labour consists in splitting up the productive process into its component parts concentrating *specialised* factors on each subdivision and combining their output into the particular forms of consumption output required

—*Watson*

3 प्रान्तिक या भौगोलिक श्रम विभाजन (Tarritorial or Geographical Division of Labour) ।

1 साधारण या व्यावसायिक श्रम विभाजन (Simple or Occupational Division of Labour) श्रम विभाजन का यह रूप अत्यन्त प्राचीन तथा सबस सरल व साधारण है। इसम प्रत्यक व्यक्ति कई वस्तुओं का उत्पादन करने के स्थान पर अपनी रुचि और योग्यता के अनुसार किसी एक काय या व्यवसाय का चुनाव कर लेता है। यह प्रारम्भ स अन्त तक उसी काय को करने म लगा रहता है। इस प्रकार के श्रम विभाजन म विभिन्न व्यक्ति-समूहों म पेशों तथा व्यवसायों का विभाजन कर दिया जाता है। विशिष्टीकरण के आधार पर प्रत्यक व्यक्ति-समूह एक ही प्रकार की वस्तु का उत्पादन करता है। कृषक केवल कृषि पदार्थों का कुम्हार मिट्टी के बतनों का लुहार लोहे की वस्तुओं का और इसी प्रकार अन्य व्यावसायिक वग अपनी अपनी वस्तुओं के उत्पादन म कुशल हो जाते हैं। भारतीय जाति व्यवस्था इसी प्रकार के श्रम विभाजन का प्रतीक है। प्रो० थामस (Thomas) के अनुसार जब कोई काय एक व्यक्ति के लिए बहुत बडा कठिन या भारी हो और उसे दो या दो स अधिक व्यक्ति एक ही प्रकार स काम करते हुए सम्पन्न करने मे सहयोग करें तो इस सरल श्रम विभाजन कहा जाता है। जस कई व्यक्तियों द्वारा खेत जोतना या फसल काटना सरल श्रम विभाजन है।

(2) जटिल श्रम विभाजन (Complex Division of Labour) बाद म उत्पादन की मात्रा म वृद्धि करने के लिए प्रत्यक व्यवसाय या पेशे की उत्पादन व्यवस्था को विभिन्न विभागों म बाँट दिया गया। पहले इस प्रकार का विभाजन 'पूर्ण क्रियाओं या विधियों' म किया गया। उदाहरणाथ कपडा तयार करने की सम्पूर्ण उत्पादन व्यवस्था पूर्ण विधियों म इस प्रकार विभाजित की गयी—कपास का उत्पादन किसी एक व्यक्ति समूह के द्वारा किया गया कपास को ओटने का काय दूसरे व्यक्ति समूह को सौंपा गया धुनाई तीसरे व्यक्ति-समूह को सूत कातना चौथे और सूत स कपडा बुनने का काम पाचवें समूह द्वारा किया जाने लगा। प्रत्यक विधि अपने म पूर्ण मानी जाती है और एक विधि स उत्पादित वस्तु दूसरी विधि के लिए कच्चे माल के रूप म प्रयोग म लाई जाती है।

मशीनों के आविष्कार के फलस्वरूप प्रत्यक पूर्ण विधि का विभाजन[1] अनेक उपविधियों एव उपक्रियाओं म कर दिया गया और प्रत्यक उपविधियों को यन्त्रों द्वारा पूर्ण करना सम्भव हो गया। कपडा बुनने का काय अनेक उपविधियों म विभाजित होने पर विभिन्न प्रकार की मशीनों का प्रयोग किया जाने लगा। श्रम विभाजन का यह रूप अपूर्ण क्रियाओं मे श्रम विभाजन[2] कहलाता है। एडम स्मिथ न इस प्रकार

1 Division of labour into comple e processes
2 Division of labcur into incomplete processes.

व श्रम विभाजन को ही अधिक महत्त्व दिया है। उनके अनुसार यदि एक पिन बनाने का कार्य 18 उपविधियों में विभक्त कर दिया जाय तो निश्चय ही पिनों की उत्पादिता में अधिक वृद्धि होगी। इस प्रकार के जटिल श्रम विभाजन में प्रत्येक उपविधि या उपक्रिया द्वारा उत्पादित इकाई को सम्मिलित करने पर ही पूर्ण वस्तु तैयार होती है। इसमें सभी उपविधियों तथा विभागों का सहयोग आवश्यक होता है।

(3) **प्रादेशिक या भौगोलिक श्रम विभाजन** (Territorial or Geographical Division of Labour) किसी स्थान पर उत्पादन के विभिन्न साधनों के उपलब्ध होने से वहां उद्योग या व्यवसाय विशेष के केन्द्रीयकरण अथवा स्थानीयकरण को प्रादेशिक या भौगोलिक श्रम विभाजन कहा जाता है। उद्योगों का स्थानीयकरण ही प्रादेशिक या भौगोलिक श्रम विभाजन कहलाता है। उत्तर प्रदेश तथा बिहार में चीनी उद्योग पश्चिमी बंगाल में जूट उद्योग भौगोलिक या प्रादेशिक श्रम विभाजन है।

श्रम-विभाजन का विकास
(Evolution of Division of Labour)

आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था में श्रम विभाजन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सभ्यता के विकास की प्रारम्भिक अवस्था में मनुष्य की आवश्यकताएं सीमित होने के कारण श्रम विभाजन का अभाव था। किन्तु जैसे जैसे मनुष्य की आवश्यकताएं बढ़ती गई वैसे वैसे उसकी आत्म निर्भरता समाप्त होती गई और वह केवल उसी कार्य को करने लगा जिसमें वह निपुण था तथा अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु अन्य पर निर्भर रहने लगा। यहीं से वस्तु विनिमय प्रथा चालू हुई और श्रम-विभाजन प्रणाली का सूत्रपात हुआ। समाज के विभिन्न व्यक्ति अपनी योग्यता क्षमता तथा शिक्षा के अनुसार व्यवसाय अपनाने लगे। मुद्रा के प्रयोग ने श्रम विभाजन को और पेचीदा बना दिया है। आधुनिक भौतिक सभ्यता के विकास के साथ साथ आवागमन के साधनों में प्रगति हुई और कालान्तर में एक सम्पूर्ण भौगोलिक क्षेत्र राष्ट्र अथवा देश ही आर्थिक इकाई बन गया और सम्पूर्ण देश को स्वावलम्बी बनाने हेतु उसके विभिन्न प्रदेशों के मध्य राष्ट्रीय आवश्यकता की भिन्न भिन्न वस्तुओं के उत्पादन या निर्माण का कार्य विभाजित होने लगा। इस प्रकार श्रम विभाजन की प्रारम्भिक अवस्था में सरल श्रम विभाजन था बाद में पूर्ण श्रम विभाजन तथा आज कल अपूर्ण श्रम विभाजन प्रचलन में है। आज श्रम विभाजन का रूप अन्तर्राष्ट्रीय हो गया है।

श्रम विभाजन के लाभ
(Advantages of Division of Labour)

श्रम विभाजन के लाभों को अग्रलिखित तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है

(अ) उत्पादन के दृष्टिकोण से लाभ
(Advantages from the view pointof Production)

श्रम विभाजन से स्वयं की उत्पादन शक्ति में वृद्धि होती है। इससे अनेक प्रकार की उत्तम एवं श्रेष्ठ वस्तुओं का उत्पादन भी सम्भव हो पाता है। इस वर्ग के अन्तर्गत निम्नलिखित लाभों का उल्लेख किया जा सकता है

(1) उत्पादन की मात्रा में वृद्धि (Increase in output) श्रम विभाजन द्वारा जब समस्त उत्पादन प्रणाली को छोटी से छोटी उपक्रियाओं में विभाजन कर दिया जाता है और एक व्यक्ति किसी एक ही कार्य में कुशल हो जाता है तब निःसन्देह वह अधिक वस्तुओं का उत्पादन करता है। इस प्रकार श्रम विभाजन द्वारा प्रति व्यक्ति उत्पादन की मात्रा अधिक होती है और कुल उत्पादन की मात्रा में वृद्धि होती है।

(2) लागत-व्यय में कमी (Decrease in the cost of production) एक व्यक्ति द्वारा कम समय में ही अधिक वस्तुओं के उत्पादन किये जाने पर उत्पादन की लागत कम हो जाती है।

(3) उत्पादित वस्तुओं का उत्तम होना (Bett r quality) एक ही वस्तु के उत्पादन में विशिष्टता प्राप्त कर लेने पर श्रमिक द्वारा उत्पादित वस्तु अधिक अच्छी एवं श्रेष्ठ होती है।

(4) मशीनों का अधिक प्रयोग (Increas-d use of machinery) जिस एक वस्तु की सम्पूर्ण उत्पादन क्रिया को विविध और अनेक उपक्रियाओं में विभाजित कर देने पर कार्य इतना सरल हो जाता है कि उसको पूरा करने के लिए मशीनों का प्रयोग अधिक सम्भव हो जाता है। मशीनों के प्रयोग होने से श्रमिक कम समय में अधिक उत्पादन करते हैं। इससे उनके समय तथा श्रम की बचत होती है। उन्हें आराम करने तथा मनोरंजन के लिए काफी समय मिल जाता है। इससे उनकी कार्य कुशलता तथा उत्पादन क्षमता में वृद्धि होती है।

(5) मितव्ययिता (Economy) श्रम विभाजन से समय, औजारों तथा माल की अधिक बचत होती है। एक प्रकार का कार्य करने के कारण श्रमिक को एक ही प्रकार के औजारों का प्रयोग करना पड़ता है। इससे औजारों को उठाने रखने तथा एक स्थान से दूसरे स्थान पर आने जाने में समय नष्ट नहीं होता। एक ही प्रकार का काम करने के लिए एक श्रमिक को एक ही तरह के औजार को रखना पड़ता है। यदि श्रम विभाजन न हो तो उसे विभिन्न प्रकार की उत्पादन प्रक्रियाओं के लिए विभिन्न प्रकार के औजारों को रखना पड़ेगा। फलस्वरूप एक प्रकार के औजारों का प्रयोग किये जाने पर अन्य औजार बेकार पड़े रहेंगे। किसी एक काम में कुशलता प्राप्त कर लेने पर श्रमिक औजार तथा कच्चे माल का उचित रूप में प्रयोग

करता है। इससे माल के नष्ट होने की सम्भावनाएं कम हो जाती हैं क्योंकि कच्चे माल की बर्बादी नहीं होती तथा उन पर अपव्यय नहीं होता।

(6) **समय की बचत** (Saving of time) श्रम विभाजन के अन्तर्गत श्रमिक एक ही उपक्रिया में निरन्तर एक ही यन्त्र का प्रयोग करता रहता है जिससे काय तथा यन्त्रों को बदलने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। इससे समय की काफी बचत होती है।

(7) **आविष्कारों को प्रोत्साहन** (Encouragement to inventions) श्रम विभाजन में श्रमिक एक ही प्रकार का काय निरन्तर करते रहने से दक्ष हो जाता है। वह इसकी कमियों को जान लेता है और सुधार का सुझाव देता है। इससे आविष्कारों को प्रेरणा मिलती है।

(8) **विशेषज्ञों की सेवा का लाभ** (Advantage of experts services) श्रम विभाजन में व्यक्ति को उसकी योग्यता का पूरा उपयोग करने का अवसर मिलता है। अतः विशेषज्ञों की सेवा का लाभ श्रम विभाजन में ही सम्भव है।

(9) **प्रमापित उत्पादन** (Standardised production) श्रम विभाजन में मशीनों तथा यन्त्रों से प्रमापित उत्पादन सम्भव होता है।

(10) **बारीक तथा कठिन काम भी सुगमतापूर्वक होना** (Minute and difficult task possible) श्रम विभाजन के कारण प्रमुख मशीनों व यन्त्रों की सहायता से बारीक से बारीक तथा कठिन से कठिन काय भी सुगमतापूर्वक कर लिया जाता है।

(ब) समाज के दृष्टिकोण से लाभ
(Advantage from the view point of society)

श्रम विभाजन से सम्पूर्ण समाज या अर्थ व्यवस्था भी लाभान्वित होती है

(1) **आविष्कारों तथा नवीन क्रियाओं में उन्नति** (Inventions and innovations) श्रम विभाजन से आविष्कारों तथा उत्पादन-काय को नये तरीके से करने की विधियों को खोजने में भी सहायता मिलती है। एक व्यक्ति जब एक ही प्रकार का काय करने में निरन्तर लगा रहता है तब वह उस काय को करने की विधि में सुधार एवं उन्नति करने के लिए स्वयं प्रयत्नशील रहता है। इस प्रकार या तो स्वयं उसके द्वारा या उसके सुझावों के आधार पर नये आविष्कार तथा नव प्रवर्तन (Innovations) किये जाते हैं।

(2) **रोजगार के अवसरों का विस्तार** (Extension of employment opportunities) श्रम विभाजन द्वारा काय का विभाजन हो जाने तथा मशीनों का अधिकाधिक प्रयोग होने से अधिक व्यक्तियों को रोजगार मिलने लगता है। इससे देश में बेरोजगारी की समस्या दूर हो जाती है क्योंकि वस्तु की लागत कम होने के कारण उसकी खपत बढ़ जाती है तथा उत्पादन अधिक मात्रा में करने के लिए अधिक श्रमिकों की आवश्यकता पड़ती है।

(3) कुशल साहसियों की अभिवृद्धि (Increased entrepreneurship) जटिल श्रम विभाजन म प्रचण्ड उपविधि म समन्वय स्थापित करने के लिए कुशल साहसी तथा सगठनकर्त्ताओं की आवश्यकता पडती है। इनकी सख्या म वृद्धि होने पर देश म उद्योग धन्धो का विकास होता है।

श्रमिकों के दृष्टिकोण से (Advantage from the view point of labourers)

श्रमिको के दृष्टिकोण स श्रम विभाजन से निम्नलिखित लाभ प्राप्त होते हैं

(1) **श्रम की दक्षता मे वृद्धि** श्रम विभाजन होने पर प्रत्येक श्रमिक को उसकी रुचि तथा योग्यतानुसार काय बाट देने पर उन काय को निरन्तर करते रहने से वह कुशल हो जाता है।

(2) **काय विभाजन मे सुविधा** श्रम विभाजन द्वारा काय प्रणाली अनेक विधियो तथा उपविधियो म विभाजित कर देने पर श्रमिको म उनकी रुचि एव योग्यता के अनुसार काय का विभाजन करने म सुविधा होती है। इससे श्रमिको की बुद्धि का विकास होता है। रुचि के अनुसार काय मिलने पर मन लगाकर काम किया जाता है और शारीरिक परिश्रम अधिक कठिन प्रतीत नही होता। इसके अतिरिक्त मशीनों का प्रयोग किए जाने स मनुष्य अपनी रुचि की मशीन पर ही काय करता है।

(3) **प्रशिक्षण मे सुविधा** श्रम विभाजन द्वारा काय को अनेक प्रक्रियाओ म उपविभाजन एव विशिष्टीकरण हो जाने स किसी भी व्यक्ति को उस प्रक्रिया म प्रशिक्षण प्राप्त करने म कम समय एव धन लगाना पडता है तथा कम परिश्रम करना पडता है।

(4) **श्रम की गतिशीलता मे वृद्धि** श्रम विभाजन से उत्पादन क्रिया के मशीनीकरण हो जाने स तथा मशीनो की सचालन विधियाँ समान होने से श्रमिको को कहीं पर भी काय करने म कोई कठिनाई नही होती। अत वे अधिक मजदूरी प्राप्त करने के उद्देश्य स अधिक गतिशील होते हैं।

(5) **पारिश्रमिक मे वृद्धि** एक ही प्रकार का काय करने पर श्रमिक अधिक वस्तुए पैदा करता है जिसस उसकी मजदूरी म अधिक वृद्धि हो जाती है। इसस उसका जीवन स्तर ऊँचा उठता है।

(6) **सहयोग एव सहकारिता की भावना** श्रम विभाजन ने वृहद् उत्पादन प्रणाली को जन्म दिया है। इसम काय करने वाले श्रमिको म सहयोग तथा सगठन की भावना उत्पन्न हुई है। एसके अतिरिक्त एक ही सस्थान म अनेक श्रमिको को काय विधियो के सम्बन्ध तथा सहयोग स एक वस्तु का उत्पादन होता है जिसके कारण काय करने म श्रमिको म सहयोग की भावना जाग्रत होती है।

(7) **कुशल प्रबन्धक बन जाना** श्रमिक और अधिक कुशल तथा दक्ष होने पर वह कुशल प्रबन्धक बन जाता है।

(8) **श्रमिकों में उत्तरदायित्व की भावना** (Sense of responsibility) जब श्रमिक एक ही उपक्रिया द्वारा उत्पादन करता रहता है तो कार्य का सम्पूर्ण भार उसी पर होने के कारण उसमें उत्तरदायित्व की भावना उत्पन्न हो जाती है।

(9) **श्रमिक के रहन सहन का स्तर उन्नत होना** (Increased Standard of Living) श्रम विभाजन के कारण श्रमिक की कार्यकुशलता बढ जाती है जिससे उसे अधिक पारिश्रमिक मिलने लगता है। इस प्रकार श्रमिक का जीवन स्तर उन्नत हो जाता है।

(10) **श्रम संगठनों का विकास** (D velopm nt to trade unions) श्रम विभाजन बड़े पैमाने के उत्पादन पर ही सम्भव होता है। बड़े पैमाने के उत्पादन में हजारों श्रमिक एक साथ मिल जुल कर कार्य करते हैं। उनके हित सामूहिक होते है। अत वे अपने हितों की सुरक्षा करने के लिए श्रम संघों का निर्माण करते है।

(11) **शारीरिक परिश्रम में कमी** (Lesser physical labour) श्रम विभाजन में मशीनों का अधिक प्रयोग होता है। अत भारी कार्य मशीनों से होते रहने के कारण श्रमिक के शारीरिक परिश्रम में कमी हो जाती है।

(12) **कार्य को सीखने में सरलता** (Easy to learn task) श्रम विभाजन में कार्य को छोटे छोटे भागों में बांट दिया जाता है। अत श्रमिक को इस छोटे कार्य भाग को सीखने में आसानी रहती है।

श्रम विभाजन से हानियाँ (Disadvantages of Division of Labour)

जहाँ पर श्रम विभाजन से अनेक लाभ हैं वहीं उससे अनेक हानियाँ भी है। यह ठीक है कि श्रम विभाजन द्वारा बड़े पैमाने पर उत्पादन सम्भव हो सका है लेकिन देश की उत्पादन क्षमता में वृद्धि हो जाने तथा अनेक वस्तुओं का उत्पादन होने से ही मानव जीवन सुखमय नहीं हो जाता। श्रम विभाजन के अन्तर्गत कार्य का विभाजन विभिन्न विधियों तथा उपविधियों में कर देने से मशीनों का उपयोग सम्भव हुआ है जिससे व्यक्तिगत एवं सामाजिक उत्पादकता में वृद्धि हुई है परन्तु उसमें निम्नलिखित हानियाँ भी हुई है

(1) **कार्य में नीरसता** (Monotony) जब श्रमिक एक ही विधि अथवा उपविधि सम्बन्धी कार्य को निरन्तर करता है तब वह कार्य उसके लिए नीरस हो जाता है कार्य करने में श्रमिक रुचि नहीं लेता और इसका प्रभाव उसकी उत्पादन क्षमता पर प्रभाव पड़ता है।[1]

---

1 The man whose whole life is spent in performing a few simple opera tions has no occasion to exert his understanding he generally becomes as stupid and ignorant as is possible for a human creature to become

—*Adam Smith*

(2) **उत्तरदायित्व की भावना का अभाव** (Lack of individual responsibility) प्रत्येक श्रमिक द्वारा उत्पादित की जाने वाली वस्तु के एक अंश या भाग का निर्माण करने से वह अपने उत्तरदायित्व के प्रति पूर्ण रूप से सजग नहीं रहता। अनेक कार्यों का सम्पादन अनेक व्यक्तियों द्वारा किए जाने पर किसी भी दोष के लिए किसी एक श्रमिक को उत्तरदायी ठहराना कठिन हो जाता है।

(3) **मनुष्य यन्त्र के समान हो जाता है** श्रमिक एक ही प्रकार का कार्य करते रहने पर यन्त्र सदृश हो जाता है। न तो उसको कार्य करने में कोई आनन्द आता है और न ही उसका मानसिक विकास हो पाता है। उसका व्यक्तित्व विकसित नहीं हो पाता। उसकी कार्य करने की प्रेरणा तथा निर्णय शक्ति समाप्त हो जाती है। श्रमिक स्वयं कार्य करने के लिए स्वतन्त्र भी नहीं रहता। उसकी कुशलता तथा उसका ज्ञान सीमित हो जाता है। एक ही प्रकार का कार्य करते रहने के कारण श्रमिक एक ही कार्य में कुशल हो जाता है। जिस कारण उसकी गतिशीलता अधिक व्यापक एवं विस्तृत नहीं हो पाती।

(4) **बेरोजगारी का भय** ऐसी स्थिति में यदि उसका काम छूट जाता है या जब तक इस जैसा ही काम नहीं मिलता है तब तक वह बेकार या बेरोजगार हो जाता है।

(5) **स्त्रियों तथा बच्चों का शोषण** श्रम विभाजन से सामाजिक हानियाँ भी होती हैं। कार्य का अनेक सरल विधियों एवं उपविधियों में विभाजन हो जाने से स्त्रियों और बच्चों को नियुक्त किया जाता है और उनको कम मजदूरी देकर उनका शोषण किया जाता है।[1]

(6) **वर्ग संघर्ष** एक ही संस्थान में अनेक श्रमिकों की नियुक्ति होने से अपने सामान्य हितों के लिए उनमें संगठन होना स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त बड़े पैमाने पर उत्पादन व्यवस्था में श्रमिकों की संख्या अधिक होने के कारण श्रमिक और मालिक के बीच निकट सम्बन्ध नहीं रहता। फलस्वरूप श्रमिक वर्ग और मालिकों के मध्य हमेशा संघर्ष होता है हड़ताल, घेराव तथा तालाबन्दी इसके दुष्परिणाम हैं।

(7) **पारस्परिक निर्भरता से कार्य का रुक जाना** कार्य का विभाजन सरल विधियों में होने पर व्यक्तिगत कुशलता का कोई महत्त्व नहीं रहता। प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे के कार्य पर इतना अधिक आश्रित होता है कि किसी एक श्रमिक के अनुपस्थित रहने पर सम्पूर्ण कार्य रुक जाता है।

(8) **अत्यधिक उत्पादन** श्रम विभाजन बड़े पैमाने पर उत्पादन करने पर ही लाभप्रद होता है। किसी वस्तु का बड़े पैमाने पर उत्पादन वर्तमान माँग की पूर्ति

---

1 Division of labour in the workshop of the capitalist leads to exploitation of women and children

—*Karl Marx*

के लिए नहीं बल्कि भविष्य की माग की पूर्ति के लिए भी किया जाता है। भविष्य में वस्तु की माग पूर्वानुमान के अनुसार नहीं होने पर उद्योग विशेष में मन्दी आ जाती है जिससे लाभ के स्थान पर हानि होने लगती है।

(9) श्रमिकों की स्वतन्त्रता में कमी (Loss of freedom among workers) श्रम विभाजन के कारण श्रमिक का ज्ञान तथा उसकी कार्यकुशलता में अति सीमितता आ जाती है। इससे उनकी स्वतन्त्रता का हनन होता है। इसका कारण यह है कि उसे प्रबन्धक की इच्छानुसार ही काय करना पड़ता है। इससे उसकी गतिशीलता में भी कमी आती है।

(10) कुशलता के अनुसार पारिश्रमिक नहीं (No wage according to efficiency of labour) श्रम विभाजन के अन्तर्गत क्रियाओं और उपक्रियाओं में काय के विभाजन के परिणामस्वरूप कुशल तथा अकुशल श्रमिक में अन्तर करना कठिन हो जाता है। सभी को समान पारिश्रमिक मिलता है। अतः कुशल श्रमिक अपनी योग्यता के अनुसार पारिश्रमिक प्राप्त नहीं कर पाता।

(11) वगवाद को प्रोत्साहन (Encouragement to sectionalism) श्रम विभाजन में श्रम विशिष्टीकरण के परिणामस्वरूप श्रमिकों के विशिष्ट तथा अविशिष्ट दो वर्ग बन जाते हैं। विशिष्ट वर्ग अपने आपको ऊंचा गिनने लगता है। इस प्रकार उनमें आपसी द्वेष बढ़ने लगती है।

श्रम विभाजन के उपर्युक्त विवेचित दोषों में से अधिकांश दोषों का निवारण कारखाना प्रणाली में सुधार लाकर तथा बड़े पैमाने के उत्पादन के दोषों को दूर करके किया जा सकता है। श्रम विभाजन के लाभ इसके दोषों की अपेक्षा अधिक है।

श्रम विभाजन की सीमाएं (Limitations of Division of Labour)

श्रम विभाजन की कुछ सीमाएं है। इनके कारण श्रम विभाजन का अधिक विस्तार सम्भव नहीं हो पाता। ये सीमाएं निम्नलिखित है

(1) **काय का तकनीकी उपविभाजन सीमित होना** बहुत से कार्यों का उपविभाजन एक निश्चित सीमा तक ही सम्भव है। तकनीकी दृष्टिकोण से उनका आगे उपविभाजन करना सम्भव नहीं हो सकता।

(2) **श्रम विभाजन व्यवसाय के स्वभाव पर निर्भर है** श्रम विभाजन उत्पादन की किसी एक विधि में ही सम्भव है। विभिन्न प्रकृति वाली उत्पादन विधियों में अलग अलग श्रम विभाजन की योजना कार्यान्वित की जा सकती है। सम्पूर्ण व्यवसाय के लिए श्रम विभाजन की योजना निर्धारित करते समय यह देखना आवश्यक होता है कि किन क्रियाओं तथा उपक्रियाओं में समन्वय स्थापित किया जा सकता है। जिनमें इस प्रकार का समन्वय नहीं हो सकता वे स्वभावतः उत्पादन या व्यवसाय की अलग प्रक्रियाएं मानी जाती हैं। उदाहरणार्थ कृषि क्षेत्र में प्रत्येक काय एक दूसरे से भिन्न

है। परन्तु एक कपड़े के मिल में प्रत्येक प्रक्रिया एक दूसरे पर निर्भर है। उनमें समन्वय स्थापित करके श्रम विभाजन सम्भव हो सकता है।

(3) **बाजार की सीमा तथा पूँजी की उपलब्धि** एडम स्मिथ ने श्रम विभाजन की दो सीमाओं का उल्लेख किया है बाजार का क्षेत्र तथा पूँजी की उपलब्धि क्योंकि श्रम विभाजन का उद्देश्य विशिष्टीकरण द्वारा अधिकाधिक वस्तुओं का उत्पादन करना है। परन्तु इस उद्देश्य की पूर्ति उसी समय लाभदायक होती है जबकि उत्पादित वस्तु की माँग पर्याप्त अधिक व्यापक तथा नियमित हो।[1] यदि माँग का क्षेत्र या बाजार सीमित है तो श्रम विभाजन द्वारा उत्पादन साधनों का उचित उपयोग नहीं हो सकेगा। श्रम विभाजन के कारण अधिक कच्चा माल तथा मशीनों उपकरणों आदि की आवश्यकता होती है जिनके लिए पर्याप्त पूँजी की उपलब्धि आवश्यक है। अतः बाजार तथा पूँजी द्वारा श्रम विभाजन की सीमाएं निर्धारित होती हैं। यदि किसी देश में पूँजी निर्माण अधिक मात्रा में नहीं होता है तो पूँजी की कमी के कारण मशीनें आदि नहीं खरीदी जा सकती। परिणामस्वरूप श्रम विभाजन अपेक्षित सीमा तक सम्भव नहीं हो सकेगा।

(4) **व्यापारिक सुविधाएँ** किसी देश में उत्पादित वस्तुओं की बिक्री के लिए आवश्यक सुविधाओं का होना आवश्यक है। यदि देश में यातायात के साधनों का समुचित विकास होता है तो अधिक वस्तुओं का उत्पादन करने में उत्पादकों को लाभ होगा क्योंकि वे इन साधनों द्वारा विस्तृत बाजार में माल बेच सकेंगे। यदि ये सुविधाएँ नहीं हैं तो श्रम विभाजन से कोई लाभ नहीं होगा।

(5) **माँग की स्थिरता तथा उत्पादन की नियमितता** जिन उद्योगों के उत्पादन की माँग सामयिक (S asonal) होती है वहाँ न तो उत्पादन के पैमाने का ही विस्तार किया जा सकता है और न ही श्रम विभाजन आगे बढ़ सकता है।

(6) **संगठन की कुशलता** श्रम विभाजन का रूप भी संगठन की कुशलता पर ही निर्भर है क्योंकि उसी को उत्पादन क्रिया के समस्त कार्यों की देखभाल करना होता है।

श्रम विभाजन की आवश्यक शर्तें (Requisites of Division of Labour)

उपर्युक्त सीमाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि श्रम विभाजन के लिए निम्नलिखित बातों का होना आवश्यक है

(1) **लोगों के पास पर्याप्त क्रय शक्ति का होना** श्रम विभाजन में बड़े पैमाने पर उत्पादन होता है। यदि लोगों की आय कम होगी तो अधिक मात्रा में उत्पादन करने के कोई लाभ नहीं होगा। अतः लोगों के पास क्रय शक्ति (आय) होने पर ही श्रम विभाजन सफल होगा।

---

1 Division of labour is limited by the extent of the market"

—*Adam Smith*

(2) **मौद्रिक विनिमय की सुविधा** श्रम विभाजन की सफलता के लिए यह भी आवश्यक है कि मौद्रिक अर्थव्यवस्था (Money Economy) हो जिससे लोग अपनी उत्पादित वस्तुओं का विनिमय मुद्रा में कर सकें। ऐसा होने पर ही श्रमिक या उत्पादक अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकेंगे।

(3) **यन्त्रों का प्रयोग** श्रम विभाजन विधि में अन्तर्गत छोटी-से छोटी विधियों तथा उपविधियों में विभाजित कर दिया जाता है। अतः यन्त्रों का प्रयोग करने पर ही ये उपक्रियाएँ अनेक व्यक्तियों द्वारा पूरी की जा सकती हैं।

(4) **पारस्परिक सहयोग की भावना** श्रम विभाजन का आधार है—कई व्यक्तियों के द्वारा उत्पादित वस्तुओं को मिलाकर एक वस्तु तैयार करना। श्रम विभाजन के अन्तर्गत काम करने वाले वर्गों में पारस्परिक सहयोग होने पर ही सम्भव हो सकता है। एक श्रम-वर्ग का कार्य दूसरे श्रम वर्ग के कार्य से इस प्रकार जुड़ा हुआ है कि सभी वर्गों के कार्यों को मिला कर ही काम पूरा होता है।

(5) **बाजार का विस्तृत होना** (Wide Market) श्रम विभाजन की सफलता के लिए बाजार न केवल राष्ट्र तक ही विस्तृत होना चाहिए बल्कि उसका विस्तार विदेशों तक भी होना चाहिए। इसका कारण यह है कि श्रम विभाजन वस्तुओं को बड़े पैमाने पर तथा अधिक मात्रा में उत्पादित करने पर ही लाभप्रद होता है। अतः जितना अधिक बाजार विस्तृत होगा उतना ही अधिक श्रम विभाजन का प्रयोग भी किया जायगा।

(6) **लगातार उत्पादन** (Continuous production) श्रम विभाजन के लिए उत्पादन का लगातार जारी रहना आवश्यक है। उत्पादन सम्बन्धी सभी क्रियाएं अन्तर्सम्बन्धित हैं। यदि सभी कार्य या क्रियाएं एक साथ नहीं चलती हैं तो उनमें अन्य में समन्वय स्थापित नहीं किया जा सकेगा। इससे एक लाभ यह भी होता है कि श्रमिक बेकार नहीं रहते।

(7) **श्रमिकों की संख्या तथा प्रबन्धक की संगठन-क्षमता** श्रम विभाजन के अन्तर्गत किसी काम को कई विधियों तथा उपविधियों में बाँट देने पर उन क्रियाओं को करने के लिए अधिक संख्या में श्रमिकों का होना आवश्यक है। परन्तु उन श्रमिकों से अधिक मात्रा में उत्पादन प्राप्त करने के लिए यह भी आवश्यक है कि प्रबन्धक या संगठनकर्ता प्रत्येक श्रमिक को उसकी रुचि योग्यता तथा कुशलता के आधार पर कार्य सौंपे।

(8) **श्रम विभाजन के लिए सामाजिक वातावरण** श्रम विभाजन एक नयी उत्पादन व्यवस्था तथा आर्थिक संस्थाओं एवं सम्बन्धों को जन्म देता है। अतः उसकी सफलता के लिए यह आवश्यक है कि पुरानी तथा परम्परागत व्यवस्था के स्थान पर नयी व्यवस्था को स्वीकार करने के लिए सामाजिक वातावरण भी हो।

उद्योगों का स्थानीयकरण
(Localisation of Industries)

स्थानीयकरण का अर्थ (Meaning of Localisation of Industries)

किसी स्थान क्षेत्र या प्रदेश में एक ही प्रकार की औद्योगिक इकाइयों का केन्द्रित होना उद्योगों का स्थानीयकरण कहलाता है। उद्योगों के स्थानीयकरण को प्रादेशिक श्रम विभाजन (Territorial Division of Labour) या क्षेत्रीय विशिष्टीकरण भी कहते हैं। इस प्रकार उद्योगों के स्थानीयकरण के अन्तर्गत हम इस तथ्य का अध्ययन करते हैं कि किसी क्षेत्र विशेष में एक ही प्रकार से उद्योग या उद्योगों का केन्द्रीयकरण क्यों होता है? प्राकृतिक साधनों यातायात की सुविधाओं आदि बातों को ही ध्यान में रखकर अलग अलग राज्यों अथवा प्रदेशों में भिन्न भिन्न उद्योगों का विभाजन किया जाता है जैसे लंकाशायर (ब्रिटेन) में सूती वस्त्र उद्योग भारत में प्रारम्भ में बम्बई में सूती वस्त्र उद्योग तथा कलकत्ता के आस पास जूट उद्योग का केन्द्रीयकरण प्रो० राबर्टसन के अनुसार खास खास क्षेत्रों में खास-खास उद्योगों के आकर्षित होने चिपके रहने तथा बढ़ते जाने की प्रवृत्ति को उद्योगों का स्थानीयकरण कहते हैं।[1]

स्थानीयकरण का सिद्धान्त (Theory of Localisation)

उद्योगों के स्थानीयकरण के सम्बन्ध में कई विद्वानों ने अपने सिद्धान्त बनाये हैं। उनमें वेबर (Alfred Weber) का सिद्धान्त उल्लेखनीय है।

वेबर का सिद्धान्त उद्योगों के स्थानीयकरण के सम्बन्ध में वेबर का सिद्धान्त प्रसिद्ध है। उन्होंने निगमन द्वारा इस समस्या का अध्ययन किया है तथा उन सामान्य कारणों का उल्लेख किया है जिनके कारण विभिन्न क्षेत्रों में उद्योगों का स्थानीयकरण होता है। उनके अनुसार उद्योगों के स्थानीयकरण को प्रभावित करने वाले कारणों को दो भागों में बाँटा जा सकता है **(अ) प्रमुख कारण तथा (ब) गौण कारण।**

1 प्रमुख कारण या क्षेत्रीय कारण (Regional Factors) विभिन्न उद्योगों की लागत के स्वरूप का अध्ययन कर वेबर ने दो प्रकार की लागतों — परिवहन-लागतों तथा श्रम लागतों—को उद्योगों के स्थानीयकरण का प्रमुख कारण माना है। उन्होंने बतलाया है कि जिन स्थानों पर ऐसी परिवहन-सुविधाएं प्राप्त हों जिनसे उद्योग के लिए कच्चा माल तथा उद्योग द्वारा निर्मित पक्के माल को प्राप्त करने तथा भेजने में परिवहन व्यय न्यूनतम पड़ता है वहाँ पर उद्योग विकास

---

1 "Localisation of industry is the propensity of particular trades to cling and breed and cluster in particular localities."

—Robertson

का केन्द्रीयकरण होना है। कच्चे माल दो प्रकार के होते हैं—(i) वे जो सर्वत्र प्राप्त होते हैं (Universal) जैसे मिट्टी आदि तथा (ii) वे कच्चे माल जो क्षेत्र विशेष में ही पाये जाते हैं (Localised) जैसे खनिज पदार्थ। वेबर ने सर्वत्र प्राप्त कच्चे माल को Ubiquities तथा दूसरी श्रेणी के कच्चे माल को स्थानीय (Localised) कहा है। स्थानीय कच्चे मालों का उद्योगों के स्थानीयकरण पर अधिक प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार कच्चे माल को भी दो अन्य श्रेणियों में बाटा जा सकता है—शुद्ध (Pure)—रुई, ऊन आदि तथा भार खोने वाले (Weight losing)—कोयला तथा अन्य खनिज पदार्थ। वस्तुओं का निर्माण करते समय उत्पादन प्रक्रिया में जिन कच्चे मालों की तोल पहले से कम हो जाती है उन कच्चे मालों वाले स्थानों पर उनसे सम्बन्धित उद्योगों का केन्द्रीयकरण होता है। जैसे इस्पात उद्योग का केन्द्रीयकरण उस स्थान पर होगा जहाँ लोहे की खानें हैं क्योंकि एक निश्चित मात्रा में इस्पात बनाने के लिए कई गुने अधिक कच्चे लोहे की आवश्यकता होती है। कच्चा लोहा भार खोने वाला कच्चा माल होता है। प्रयुक्त कच्चा माल तथा उससे निर्मित पक्के माल के अनुपात को वेबर ने पदार्थ संकेत (Material index) कहा है। यदि किसी वस्तु का पदार्थ संकेत अधिक है अर्थात् कच्चा माल अधिक वजनदार तथा अन्तिम उत्पाद हल्का है तो सम्बन्धित उद्योग का स्थानीयकरण उस स्थान पर होगा जहाँ वह कच्चा माल मिलता है। इसके विपरीत यदि पदार्थ संकेत कम है अर्थात् कच्चा माल हल्का परन्तु अन्तिम उत्पाद अधिक वजनदार है तो सम्बन्धित उद्योग का स्थानीयकरण उस स्थान पर होगा जहाँ निर्मित वस्तुओं का उपभोग अधिक होता है।

कुछ ऐसे भी कारण हो सकते हैं जिनकी वजह से उद्योग विशेष का केन्द्रीयकरण न्यूनतम परिवहन वाले स्थान पर न होकर दूसरे स्थान पर हो। जैसे यदि किसी स्थान पर श्रम-लागत इतनी कम है कि अतिरिक्त परिवहन व्यय की पूर्ति श्रम लागत होने के कारण हो जाती है तो सम्बन्धित उद्योग का स्थानीयकरण कच्चे माल वाले स्थान पर न होकर सस्ते श्रम वाले स्थान पर होगा।

2 गौण कारण वेबर ने गौण कारणों के दो भेद किए हैं—केन्द्रीयकरण अथवा स्थानीयकरण के तत्त्व (Agglomerating) तथा विकेन्द्रीयकरण के तत्त्व (Deglomerating)। प्रथम का सम्बन्ध उद्योगों के केन्द्रीयकरण से प्राप्त लाभों से है जिनके कारण वाह्य मितव्ययिताएँ (External Economies) प्राप्त होती हैं जिसमें उद्योगों का एक स्थान पर केन्द्रीयकरण होता है। ऐसी भी स्थिति हो सकती है जबकि उद्योगों के विकेन्द्रीयकरण से अधिक लाभ प्राप्त होता हो जैसे बम्बई में करों में जब अधिक वृद्धि हो गयी तो सूती वस्त्र उद्योग का विकेन्द्रीयकरण प्रारम्भ हुआ। इन कारणों को वेबर ने विकेन्द्रीयकरण के तत्त्व कहा है।

आजकल उद्योगों की स्थिति (Location) सम्बन्धी निर्णय अधिकतम कार्यक्षमता तथा उचित वितरण की दृष्टि से किया जाता है। केवल कच्चे माल की प्राप्ति या न्यूनतम परिवहन-व्यय को ही ध्यान में नहीं रखा जाता है। आर्थिक नियोजन के इस युग में पिछड़े हुए सभी क्षेत्रों का विकसित करने का प्रयास किया जाता है। आजकल क्षेत्रीय नियोजन (Regional Planning) का महत्त्व बढ़ गया है। अतः किस उद्योग की स्थापना कहाँ की जाए? इसका निर्णय आर्थिक सामाजिक तथा सुरक्षा-सम्बन्धी परिस्थितियों एवं कारणों को ध्यान में रखकर किया जाता है। न्यूनतम उत्पादन-लागत तथा अधिकतम लाभ को ही ध्यान में नहीं रखा जाता। पहले उद्योगों की स्थापना करते समय साहसी अपने हित का ध्यान रखता था परन्तु अब उद्योगों की स्थापना करते समय राष्ट्रीय हित को भी ध्यान में रखा जाता है।

स्थानीयकरण के कारण (Causes of Localisation)

उद्योग धन्धों के स्थानीयकरण के सम्बन्ध में हमने अल्फ्रेड वेबर द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन किया है।

उद्योगों के स्थानीयकरण के कई कारण हो सकते हैं। इन कारणों का सापेक्षिक महत्त्व है। एक साहसी किसी उद्योग के लिए स्थान का चुनाव करते समय इन कारणों का ही ध्यान में नहीं रखता बल्कि वह व्यावसायिक दृष्टिकोण भी अपनाता है। सामान्यतः निम्नलिखित कारण किसी उद्योग के स्थानीयकरण को प्रभावित करते हैं

I प्राकृतिक कारण (Natural Causes),

II आर्थिक कारण (Economic Causes) तथा

III अन्य कारण (Oth r causes)।

I प्राकृतिक कारण (Natural or Physical Causes)

(1) जलवायु आदि प्राकृतिक कारणों के अन्तर्गत जलवायु, प्राकृतिक सुविधाओं आदि को सम्मिलित किया जाता है। प्रारम्भ में इन सुविधाओं के उपलब्ध होने पर ही किसी स्थान पर उद्योग धन्धों का केन्द्रीयकरण होता है। उदाहरण के लिए कृषि द्वारा प्राप्त कच्चे माल से सम्बन्धित उद्योगों के स्थानीयकरण में जलवायु का (जैसे सूती वस्त्र उद्योग) महत्त्वपूर्ण हाथ है।

(2) कच्चे माल की प्राप्ति कुछ उद्योग केवल कच्चे माल की उपज के स्थान पर ही स्थापित किए जाते हैं। इन उद्योगों को प्राकृतिक उपज-सम्बन्धी उद्योग (Natural Product Industries) कहा जाता है जैसे कागज, लोहा आदि उद्योग। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि इन उद्योगों का केन्द्रीयकरण कच्चे माल की उपज के स्थान पर ही हो। अन्य सभी सुविधाओं के उपलब्ध होने पर उद्योग

विशेष की स्थापना दूसरे स्थानों पर भी की जा सकती है तथा कच्चे माल की पूर्ति स्थानान्तरण द्वारा की जा सकती है।

(3) शक्ति के स्रोत शक्ति के स्रोतों की निकटता भी उद्योगों के स्थानीयकरण का एक प्रमुख कारण है। विद्युत् शक्ति के विकास के पूर्व कोयला ही शक्ति का प्रमुख स्रोत था। कोयले का परिवहन व्यय अधिक होने के कारण कई औद्योगिक संस्थाओं की स्थापना कोयले की खानों के निकटवर्ती क्षेत्रों में हो की गयी।

II आर्थिक कारण (Economic Cause)

आर्थिक कारणों के अन्तर्गत निम्नलिखित सुविधाएं सम्मिलित हैं

(1) मण्डियों तथा बाजार की निकटता बहुत से उद्योग धन्धे उन स्थानों पर स्थापित किए जाते हैं जहां पर निर्मित वस्तुओं की खपत आसानी से हो सकती हो। इस सम्बन्ध में दो बातों पर ध्यान दिया जाता है—प्रथम तो यह है कि यदि निर्मित वस्तुओं को उपभोक्ताओं तक लाने में अधिक व्यय करना पड़ता है तो उनका उपभोक्ताओं के निकट रहना अधिक लाभप्रद है द्वितीय यह है कि उद्योग धन्धे के समीपवर्ती स्थानों में जन सख्या अधिक होनी चाहिए जिसमें वहाँ पर उत्पादित वस्तुओं की खपत अधिक हो सके।

(2) परिवहन की सुविधाएं वह स्थान उद्योग धन्धे की स्थापना करने के लिए अधिक उपयुक्त माना जाता है जहां तक कच्चे माल को लाने तथा जहाँ से निर्मित वस्तुओं को वितरित करने के लिए परिवहन की सुविधाएं उपलब्ध होती है। परिवहन की सुविधाओं को ध्यान में रखते समय इस तथ्य को भी दृष्टिगत रखना पड़ता है कि कच्चे माल को प्राप्त करने तथा निर्मित माल के वितरण पर न्यूनतम व्यय हो क्योंकि यदि ये व्यय अधिक होंगे तो वस्तु की लागत अधिक हो जायगी। उत्पादन लागत ज्ञात करते समय इस तथ्य पर विचार करना आवश्यक हो जाता है कि कच्चे माल को लाने पर अधिक व्यय होगा या निर्मित माल के वितरण पर। यदि कच्चे माल को लाने पर परिवहन व्यय कम होता है और निर्मित माल को मण्डियों तथा बाजारों तक भेजने पर अधिक व्यय करना पड़ता है तो उद्योग धन्धे मण्डियों तथा बाजार के निकट स्थापित किए जाते हैं। इसके विपरीत यदि निर्मित माल के वितरण पर किए जाने वाले परिवहन व्यय की अपेक्षा कच्चे माल को उत्पादन स्थान तक लाने में अधिक परिवहन व्यय करना पड़ता हो तो उद्योग धन्धों को कच्चे माल के उपज स्थान के निकट ही स्थापित करना लाभप्रद होता है।

(3) सस्ते श्रम के मिलने की सुविधा जिन उद्योगों में श्रम की अधिक आवश्यकता होती है तथा श्रम गतिशील नहीं होता उनका केन्द्रीयकरण प्रायः ऐसे स्थानों पर होता है जहाँ अधिक मात्रा में सस्ता परन्तु कार्य-कुशल श्रम उपलब्ध होता है। श्रम-लागत कम होने से वस्तुओं का उत्पादन व्यय कम हो जाता है। परन्तु इस

दूर करने के लिए सरकार द्वारा उद्योगों के विकेन्द्रीयकरण को विशेष महत्त्व दिया जाता है। इसके लिए सरकार नगरों तथा ग्रामीण क्षेत्रों का विकास करती है तथा औद्योगिक बस्तियों की स्थापना करने एवं बसाने में सहायता करती है। सार्वजनिक सुविधाएँ प्रदान करने की व्यवस्था सरकार द्वारा की जाती है। इस प्रकार उद्योग धंधों के स्थान निर्धारण में सरकार सक्रिय रूप से भाग लेकर उद्योग धंधों के केन्द्रीयकरण के स्थान पर उनके विकेन्द्रीयकरण को अधिक महत्त्व प्रदान कर रही है।

स्थानीयकरण के लाभ (Advantages of Localisation of Industries)

किसी एक क्षेत्र या स्थान पर एक ही प्रकार के उद्योग का केन्द्रीयकरण हो जाने पर सामान्यतः निम्नलिखित लाभ होते हैं

(1) **बड़े पैमाने पर उत्पादन तथा उद्योगों का आकार बड़ा होना** किसी उद्योग का एक स्थान पर केन्द्रीयकरण हो जाने पर औद्योगिक संस्थानों (फर्मों) का आकार बड़ा होता है। आकार बड़ा होने पर उनमें उत्पादन बड़े पैमाने पर होता है। उदाहरण के लिए यदि अहमदाबाद–बम्बई क्षेत्र को छोड़कर सूती वस्त्र की मिलें किसी दूसरी जगह स्थापित न की जाय तो उस क्षेत्र की मिलों को सूती वस्त्रों की पूर्ति करनी पड़ेगा। ऐसी स्थिति में उन मिलों का आकार बड़ा होगा तथा उन्हें बड़े पैमाने पर उत्पादन करना होगा। इससे स्पष्ट है कि उद्योगों के स्थानीयकरण से ही विशिष्टीकरण तथा श्रम विभाजन के लिए भी उपयुक्त अवसर मिलते हैं जिससे उद्योगों को आन्तरिक मितव्ययिताएं (Internal Economies) प्राप्त होने लगती है।

(2) **स्थान की ख्याति से वस्तु की ख्याति मे वृद्धि** किसी उद्योग के एक स्थान पर केन्द्रित होने पर उस स्थान की कीर्ति के साथ वहाँ पर उत्पादित वस्तुएँ भी प्रसिद्ध हो जाती है जिससे उनकी बिक्री अधिक होती है जैसे कलकत्ता का जूट का सामान।

(3) **सहायक उद्योगों का विकास** किसी एक स्थान पर एक ही प्रकार की औद्योगिक इकाइयों के स्थानीयकरण के कारण उस उद्योग के सहायक उद्योगों का विकास भी होता है जिससे वहाँ छोटे छोटे व्यवसाय भी पनपने लगते हैं।

(4) **अवशिष्ट या गौण पदार्थों का उपयोग** अवशिष्ट पदार्थों से अनेक प्रकार की नयी वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है जैसे लोहे और इस्पात के कारखानों से प्राप्त अवशिष्ट पदार्थों से टक आदि के निर्माण के लिए सहायक उद्योग स्थापित हो जाते है।

(5) **सामूहिक तकनीकी सहायता** एक ही प्रकार की औद्योगिक इकाइयों का स्थानीयकरण होने पर सामूहिक रूप से प्राविधिक शिक्षण केन्द्र तथा अनुसंधान केन्द्र एवं प्रयोगशालाओं की स्थापना की जा सकती है। सामूहिक रूप से इन बाह्य

रहन-सहन की लागत (Cost of living) बढ़ जाती है। मजदूरी कम होने पर मूल्य वृद्धि से जीवन स्तर नीचे गिर जाता है।

(3) **देश का असन्तुलित आर्थिक विकास** कुछ उद्योगों के देश के कुछ ही स्थानों तथा क्षेत्रों में केन्द्रित हो जाने से देश के अन्य भाग आर्थिक दृष्टि से पिछड़ जाते हैं। इससे देश का सन्तुलित आर्थिक विकास (Balanced economic growth) नहीं हो पाता। स्थानीय बेरोजगारी हमेशा एक समस्या बनी रहती है। पिछड़े क्षेत्र विकसित क्षेत्रों पर अपनी आवश्यकताओं के लिए निर्भर रहते हैं। इसका समाज पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता।

(4) **युद्धकालीन सुरक्षा की कमी** उद्योगों का केन्द्रीयकरण किसी एक स्थान पर होने से युद्ध के समय देश की आर्थिक एवं औद्योगिक व्यवस्था सुरक्षित नहीं रहती। यदि हवाई हमलों से औद्योगिक केन्द्र नष्ट कर दिये जाते हैं तो देश की सम्पूर्ण औद्योगिक व्यवस्था नष्ट हो जाती है।

(5) **श्रमिक और मालिक संघर्ष** उद्योगों का स्थानीयकरण एक ही स्थान पर होने से वहाँ श्रमिकों की संख्या अधिक होती है। वे संगठित होकर मालिकों से अपनी मांगों के लिए सामूहिक हड़ताल करने में सफल होते हैं। मालिक भी मिलकर श्रमिकों के विरुद्ध मोर्चाबन्दी करते हैं तथा तालाबन्दी (Lock out) का सहारा लेते हैं।

(6) **अन्य दोष** किसी उद्योग विशेष के स्थानीयकरण से वहाँ विशेष प्रकार के श्रम की आवश्यकता होती है। ऐसे श्रम की पूर्ति आवश्यकतानुसार न होने से श्रमिकों की मजदूरी अधिक होती है। श्रम की कमी की पूर्ति स्त्रियों तथा बच्चों द्वारा सम्भव नहीं हो पाती। लोहा तथा इस्पात उद्योग में विशेष कुशलता प्राप्त श्रमिक ही कार्य करते हैं। इस उद्योग में श्रमिकों के परिवार के अन्य सदस्यों के लिए रोजगार के अवसर नहीं मिलते।

इन दोषों के अतिरिक्त उद्योगों के स्थानीयकरण से बाद में चलकर उसी स्थान पर बाह्य मितव्ययिताओं की सुविधाओं का मिलना कम हो जाता है। किसी स्थान पर बहुत सी औद्योगिक इकाइयों के स्थापित हो जाने के बाद भी परिवहन के साधनों का विकास नहीं होने पर उनकी कमी महसूस होने लगेगी। परिणामस्वरूप माल-ढुलाई व्यय बढ़ जायगा जिससे वस्तुओं की लागत बढ़ जायगी। औद्योगिक क्षेत्र का विकास होने पर भूमि का कीमत भी बढ़ेगी। इसी प्रकार माल पूँजी आदि की बढ़ती हुई माँग से ब्याज की दर भी बढ़ जायगी। इन सब का प्रभाव उत्पादित वस्तु के मूल्य पर पड़ेगा। वस्तुओं के महंगे होने का कारण यह है कि बाह्य मितव्ययिताओं के स्थान पर एक ही जगह उद्योगों का अधिक स्थानीयकरण बाह्य अमितव्ययिताओं (External diseconomies) को जन्म देता है।

निष्कर्ष यद्यपि उपयुक्त लाभों को कुछ सीमा तक नियोजित केन्द्रीयकरण की नीति अपना कर दूर किया जा सकता है फिर भी देश के सन्तुलित आर्थिक विकास तथा सुरक्षा की दृष्टि से उद्योगों का विकेन्द्रीयकरण ही सब तरह से उपयुक्त है। उद्योगों के विकेन्द्रीयकरण से देश के सभी क्षेत्र किसी न किसी रूप में आर्थिक दृष्टि से अपना महत्त्व रखेंगे और उनमें आत्मनिर्भरता की भावना उत्पन्न होगी। साथ ही सभी क्षेत्र पारस्परिक सहयोग और एकता की भावना से देश का आर्थिक विकास करने के लिए प्रयत्नशील रहेंगे। प्रत्येक क्षेत्र को एक दूसरे से सम्बन्धित करने के लिए परिवहन तथा सन्देश वहन के साधनों का समुचित विकास सम्भव हो सकेगा। स्थानीय व्यक्तियों को अपने घर के निकट ही काम मिल सकेगा जिससे उनका जीवन स्तर ऊँचा उठेगा। शहरीकरण तथा गन्दी औद्योगिक बस्तियों की समस्याएँ दूर होंगी तथा युद्ध के समय किसी एक स्थान के उद्योगों के नष्ट हो जाने पर भी देश की आर्थिक एवं औद्योगिक व्यवस्था पूर्णतया प्रभावित नहीं होगी। उद्योगों के विकेन्द्रीयकरण से प्रत्येक क्षेत्र औद्योगिक इकाई (Industrial Unit) माना जायगा जहाँ बिजली की शक्ति का प्रयोग करने पर मशीनों का प्रयोग सम्भव हो सकेगा। छोटे पैमाने पर या घरेलू उद्योगों का विकास भी देश के आर्थिक विकास में अपना पूर्ण सहयोग प्रदान कर सकेगा। इस प्रकार किसी देश विशेषकर विकासशील देश की आर्थिक उन्नति उद्योगों के विकेन्द्रीयकरण से ही सम्भव हो सकती है।

प्रश्न तथा संकेत

1. श्रम विभाजन का क्या अभिप्राय है? श्रम विभाजन किन परिस्थितियों में सम्भव है?

What do you mean by division of labour? Point out the main features or pre-requisites of division of labour.

[संकेत—श्रम विभाजन का अर्थ स्पष्ट कीजिए तथा उन दशाओं का वर्णन कीजिए जिनमें श्रम विभाजन सम्भव है।]

2. श्रम विभाजन से आप क्या समझते हैं? इसके लाभों एवं हानियों का विवेचना कीजिए।

What do you understand by Division of Labour? Discuss the merits and demerits of Division of Labour.

[संकेत—प्रथम भाग में श्रम विभाजन का अर्थ समझाइए तथा श्रम विभाजन से विभिन्न वर्गों को होने वाले लाभों व हानियों का वर्णन कीजिए।

3. श्रम विभाजन [illegible] समझाइए। क्या श्रम विभाजन एक मिश्रित वरदान है?

Explain the meaning of Division of Labour Is division of labour an unmixed blessing ?

[सकेत—प्रश्न के दूसर भाग म श्रम विभाजन क गुण तथा दोष का वरान करत हुए यह बतलाइए कि यह ग्रमिश्रित वरदान नहा है क्योकि इसक लाभा क साथ दोष भा हैं।]

4 श्रम विभाजन का क्या ग्रथ है ? इसका उदय कस हुग्रा ? इसका वर्गी करण भी कीजिए।

What do you mean by division of labour ? How did it originate ? Give its forms also

[सकत—श्रम विभाजन का ग्रथ व उदय क कारण समझाइए। ग्रन्त म श्रम विभाजन का वर्गीकरण बतलाइए।]

5 उद्योगा क स्थानीयकरण का क्या ग्रथ है ? उद्योगा क स्थानीयकरण की दशाग्रा का उल्लख कीजिए।

What is the meaning of Localisation of industries ? Discuss the conditions of Localisation of Industries

---

22

जनसंख्या के सिद्धान्त

(Theories of Population)

> The relationship of population growth to economic development is interesting and complex. A growing population almost invariably leads to an increasing total output but it also makes for a greater number of persons among whom the output must be divided......There are more productive hands, but there are also more mouths to feed
>
> —*Richard T Gill*

श्रम की पूर्ति का मात्रा-सम्बन्धी पक्ष (Quantitative Aspect) जनसंख्या से सम्बन्धित है। यही कारण है कि समय-समय पर जनसंख्या की समस्या पर विभिन्न विद्वानों तथा अर्थशास्त्रियों ने अपने विचार प्रकट किए हैं। व्यापारवादी अर्थशास्त्रियों की यह धारणा थी कि राष्ट्रीय समृद्धि के लिए अधिक से अधिक उत्पादन आवश्यक है। अधिक उत्पादन श्रमिकों की संख्या में वृद्धि द्वारा ही सम्भव हो सकता है। अतः उन्होंने जनसंख्या की वृद्धि को अधिक महत्त्व दिया था। बाद में बढ़ती हुई जनसंख्या को ईश्वरीय वरदान मानने लगे।[1] क्वेसने (Quesnay) तथा उनके अनुयायी प्रकृतिवादी अर्थशास्त्रियों ने जनसंख्या की वृद्धि को एक 'प्राकृतिक व्यवस्था' (Natural Order) कह कर यह विचार प्रस्तुत किया था कि जनसंख्या जीवन निर्वाह के साधनों के द्वारा अर्थात् प्रकृति के द्वारा, स्वयं सीमित कर दी जाती है अतः उसकी वृद्धि एक गम्भीर समस्या नहीं है।

इंग्लैण्ड के इतिहास में उस समय अत्यधिक जनसंख्या को सदा लाभदायक माना जाता था। अत्यधिक जनसंख्या का भय लोगों ने कभी माना ही नहीं क्योंकि लोगों का यह मानना था कि देश की जनसंख्या भरण-पोषण के उपलब्ध साधनों के द्वारा सीमित होती रहेगी।

---

1 Increasing population was regarded as a blessing of the Almighty

एडम स्मिथ ने जनसंख्या के एक अलग सिद्धांत का प्रतिपादन नहीं किया था। उनकी यह धारणा थी कि जनसंख्या माँग तथा पूर्ति के सिद्धांत के अनुसार स्वयं सामंजस्य की स्थिति में आ जाती है।

माल्थस प्रथम अर्थशास्त्री थे जिन्होंने जनसंख्या के विभिन्न पहलुओं पर गम्भीरता से विचार किया। उन्होंने स्वयं अपने देश तथा अन्य देशों की जनसंख्या का विश्लेषणात्मक अध्ययन करके एक निश्चित सैद्धांतिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया जिसके फलस्वरूप जनसंख्या के सम्बन्ध में एक नयी विचारधारा प्रारम्भ हुई।

माल्थस के सिद्धान्त के बाद भी जनसंख्या के अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। जनसंख्या के प्रमुख सिद्धांत निम्नलिखित हैं

1 माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त (Malthusian Theory of Population)।

2 सर्वोत्तम जनसंख्या का सिद्धांत (Optimum Theory of Population)।

3 जैवकीय जनसंख्या सिद्धान्त (Biological Theory of Population)।

4 जनसंख्या का संक्रमण सिद्धान्त (Theory of Demographic Transition)

5 शुद्ध पुनरुत्पादन दर का सिद्धांत (Theory of Net Re production Rate)।

उपर्युक्त सभी सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन इस अध्याय में किया गया है

माल्थस का जनसंख्या सिद्धांत
(Malthusian Theory of Population)

जनसंख्या का प्रथम सिद्धान्त प्रतिपादित करने का श्रेय **थामस राबर्ट माल्थस** (Thomas Robert Malthus) को है जिसका विवरण उन्होंने सन् 1798 में अपने एक प्रकाशित निबन्ध[1] में किया था। इस लेख में माल्थस ने अपने देशवासियों का तीव्र गति से बढ़ती हुई जनसंख्या के गम्भीर परिणाम के प्रति संकेत किया था। माल्थस स्वयं एक निराशावादी पादरी थे। उनको सामान्य लोगों के कष्टों एवं दुखों को निकट से देखने तथा उनका अध्ययन करने का अवसर मिला था। उस समय इंगलैण्ड तथा सारे यूरोप की जनसंख्या बहुत ही तेजी से बढ़ रही थी। फ्रांस के साथ युद्ध के कारण खाद्यान्नों की कमी हो गई थी तथा उनके मूल्य निरन्तर बढ़ रहे थे। सभी जगह गरीबी और भुखमरी थी। इंगलैण्ड में औद्योगिक क्रांति का पूरा पूरा विकास नहीं हो पाया था जिससे देश में व्यापक बेकारी फैली हुई थी। इन

1 An Essay on the Principles of Population as it affects the future improvement of Society

सब कारणों से लोगों का जीवन स्तर निरन्तर नीचे की ओर गिर रहा था। इन सब कष्टों के होते हुए भी जनसंख्या बराबर बढ़ रही थी।

माल्थस एक निराशावादी व्यक्ति थे। उन्हें जनसंख्या की तीव्र वृद्धि से मानव-समाज पर घोर विपत्ति आने की आशंका होने लगी। उसी समय (सन् 1793 ई० में) विलियम गाडविन (William Godwin) की एक पुस्तक (Enquiry concerning Political Justice and its Influence on Morals and Happiness) प्रकाशित हुई जिसमें मानव समाज के उज्ज्वल भविष्य की कल्पना की गई थी। माल्थस ने इस झूठी कल्पना का खण्डन करने के लिए अपना लेख प्रकाशित किया। उसमें उन्होंने यह स्पष्ट किया कि जनसंख्या में तीव्र गति से वृद्धि होने के कारण मानव समाज का भविष्य निराशामय तथा अन्धकारपूर्ण है अतएव आने वाली घोर विपत्ति से बचने के लिए जनसंख्या की तीव्र वृद्धि को रोकना आवश्यक है।

माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त की मान्यताए
(Assumptions of the Malthusian Theory)

माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त निम्न मान्यताओं पर आधारित है —

1 मनुष्य की प्रजनन शक्ति (Fecundity) अपार है,

2 जीवन स्तर तथा जनसंख्या मे प्रत्यक्ष सम्बन्ध है,

3 कृषि क्षेत्र मे उत्पत्ति ह्रास नियम (Law of Diminishing Returns) लागू होने के कारण खाद्यान्न की पूर्ति अपेक्षाकृत धीमी गति से होती है

4 मानव की प्रजनन शक्ति सामान्यत स्थिर रहती है।

माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त (Malthusian Law of Population)

उपर्युक्त मान्यताओं के आधार पर माल्थस ने जनसंख्या के सिद्धान्त को इस प्रकार व्यक्त किया है

"उत्पादन की विधियों की एक दी हुई स्थिति के अन्तर्गत जनसंख्या में जीवन निर्वाह के साधनों से अधिक तेजी से बढ़ने की प्रवृत्ति होती है।"[1]

माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त की व्याख्या
(Explanation of Malthusian Law of Population)

जनसंख्या के इस सिद्धान्त की व्याख्या करने के लिए माल्थस द्वारा निम्न लिखित तीन आधार प्रस्तुत किए गए

(1) श्रम की माँग या खाद्य सामग्री मे वृद्धि की दर जनसंख्या में वृद्धि होने पर उपभोक्ताओं की संख्या में वृद्धि होती है। उनको जीवित रखने के लिए

---

1 "In a given state of the arts of production population tends to outrun subsistence
—*Malthus*

खाद्य पदार्थों के उत्पादन में वृद्धि होना आवश्यक है। मनुष्य के आर्थिक प्रयत्नों के बदले में प्रकृति जो खाद्य सामग्री देती है उसके आधार पर ही जनसंख्या (श्रम) की प्रभावकारी माग निर्धारित होती है। परन्तु भूमि की उर्वरा शक्ति सीमित है तथा उस पर क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होने कारण भूमि से कम उत्पत्ति प्राप्त होता है। अत कई देशो मे खाद्य पदार्थों के उत्पादन का अध्ययन करने के बाद माल्थस ने यह कहा कि खाद्य पदार्थों मे इस गति से वृद्धि नहीं होती जिस गति से जनसंख्या बढ़ती है। उनका कहना था कि खाद्य पदार्थों मे वृद्धि अकगणित या माध्य श्रेणी (Arithmetical Progression) अर्थात् 1 2 3 4 के हिसाब से होती है।

(2) श्रम की पूर्ति या जनसंख्या मे वृद्धि की दर यदि जनसंख्या को बढ़ने के लिए स्वतन्त्र छोड दिया जाय और उसकी तेजी से बढ़ने की दर म किसी प्रकार की रुकावट न हो तो जनसंख्या ज्यामिति या गुणोत्तर श्रेणी (Geometrical Progression) म अर्थात् 1 2 4 8 16 के अनुसार वृद्धि की प्रवृत्ति पायी जाती है। उनका कहना था कि **मनुष्य मे सन्तानोत्पत्ति की शक्ति अपार है।** इस कारण यदि जनसंख्या के बढने की प्रवृत्ति में कोई रुकावट न हो तो किसी देश की जनसंख्या वहा पर उपलब्ध जीवन निर्वाह के साधनो की मात्रा की तुलना मे कहीं अधिक तेजी से बहुत जल्दी बढ़ेगी।

(3) जनसंख्या एव खाद्य सामग्री मे असन्तुलन माल्थस ने खाद्य पदार्थों के उत्पादन तथा जनसंख्या की वृद्धि को प्रभावित करने वाले कारणो को एक-दूसरे से अलग रखकर गणित की सहायता से यह सिद्ध किया कि जनसंख्या मे बिना किसी रुकावट के ज्यामितिक रीति से वृद्धि होने पर वह हर **25 वर्ष मे दुगुनी** हो जाती है परन्तु खाद्य पदार्थों का उत्पादन अकगणित श्रेणी म बढ़ने के कारण उनमे जनसंख्या के अनुपात मे बहुत कम वृद्धि होती है।[1] **माल्थस ने इस आधार** पर यह निष्कर्ष निकाला कि 200 वर्षों म जनसंख्या तथा खाद्य पदार्थों की पूर्ति के मध्य 256 9 का अनुपात होगा जबकि 300 वर्षों म यह अन्तर बढ़ कर 4096 13 के अनुपात म हो जायगा। 2 000 वर्षों मे तो दोनो के मध्य इतना अधिक अन्तर एव असन्तुलन हो जायगा जिसकी कल्पना नहीं की जा सकती।

(4) जनसंख्या का निरोध (The Checks of Population) जनसंख्या एव खाद्य सामग्री के असन्तुलन के परिणामस्वरूप जनसंख्या का निरोध या नियन्त्रण अनिवार्य हो जाता है। माल्थस के अनुसार जनसंख्या निरोध के लिए दो प्रकार के उपाय काम मे लिए जा सकते हैं

---

1 By nature human food increases in a slow arithmetical ratio man himself increases in quick geometrical ratio unless want and vice stop him

—*Malthus*

(i) प्राकृतिक या नर्सागक अवरोध (Positive or Natural Checks)
(ii) कृत्रिम या निवारक अवरोध (Preventive Checks)।

माल्थस के शब्दों में 'जनसंख्या को नियन्त्रित कर उसे जीवन निर्वाह के साधनों के समकक्ष करने वाले उपाय दो प्रकार के हैं—नर्सागक अवरोध तथा प्रतिबन्धक निरोध।

जनसंख्या की वृद्धि पर प्राकृतिक या नर्सागक अवरोध (Positive or Natural Checks) माल्थस का विचार था कि जनसंख्या तथा खाद्य पदार्थों की पूर्ति के बीच इस प्रकार के असन्तुलन की स्थिति आ जाने पर प्रकृति स्वयं अवरोध (Check) लगाना प्रारम्भ कर देती है। अकाल, महामारी, भूकम्प, बाढ़ आदि प्राकृतिक आपत्तियों तथा दैवी प्रकोपों द्वारा प्रकृति जनसंख्या का सन्तुलन बनाए रखती है। माल्थस ने इन्हें प्राकृतिक या नर्सागक अवरोध (Positive Checks) की संज्ञा दी है। इन अवरोधों के कारण जनसंख्या अपने आप कम हो जाती है क्योंकि जन्म-दर से मृत्यु-दर अधिक होती है। कुछ समय बाद पुनः जनसंख्या बढ़ने लगती है। खाद्यान्नों की पूर्ति से जनसंख्या के पुनः बढ़ जाने पर नर्सागक प्रतिबन्ध पुनः लागू होते हैं। इस प्रकार जनसंख्या को समायोजित करने वाले प्राकृतिक चक्र (Self Adjusting Malthusian Cycles of Population) के द्वारा खाद्य पदार्थों की पूर्ति के अनुसार जनसंख्या सन्तुलित हो जाती है। इसे 'माल्थसियन चक्र' कहा जाता है। इसे निम्नलिखित वृत्त से समझा सकते हैं
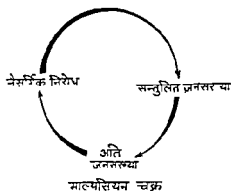
चित्र सं० 45

माल्थस का यह विचार था कि जनसंख्या घटाने की यह प्रवृत्ति भयंकर तथा अत्यधिक कष्टदायक है क्योंकि प्राकृतिक विपत्तियों से लोगों को अत्यधिक कठिनाइयाँ होती हैं। इसके अतिरिक्त इन अवरोधों से जनसंख्या में कमी केवल थोड़े समय के लिए ही होती है। कुछ समय के बाद यह पुनः तीव्र गति से बढ़ने लगता है। अतः माल्थस ने प्राकृतिक एवं दैवी प्रकोपों से बचने के लिए निवारक उपायों पर जोर दिया।

कृत्रिम या निवारक अवरोध (Preventive Checks) माल्थस ने जनसंख्या की वृद्धि को रोकने के लिए मनुष्य द्वारा अपनाए गए कृत्रिम उपायों को निवारक अवरोध' (Preventive Checks) की संज्ञा दी। उनका मत था कि ब्रह्मचर्य देर से विवाह करना आत्म संयम आदि द्वारा मनुष्य जन्म दर को कम कर सकता है जिससे जनसंख्या तथा खाद्य पदार्थों की पूर्ति का सन्तुलन बना रहे। परन्तु माल्थस ने निरोधक उपायों के अन्तर्गत आधुनिक सन्तति निरोधक कृत्रिम विधियों (Brith Control Measures) का उल्लेख नहीं किया था। उन्होंने पादरी होने नाते आत्म संयम और ब्रह्मचर्य पर ही जोर दिया था। सन्तति निरोधक कृत्रिम विधियों के सम्बन्ध में माल्थस के अनुयायियों (Neo Malthusians) ने बाद में विचार प्रस्तुत किया।

माल्थस के सम्पूर्ण जनसंख्या के सिद्धान्त को हम निम्न चार्ट द्वारा भी स्पष्ट कर सकते हैं

चित्र स० 46

माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त की आलोचना
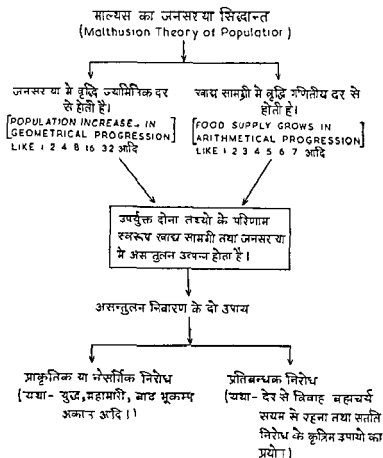
माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त की आलोचना उनके लेख के प्रकाशित होने के बाद में ही प्रारम्भ हो गयी थी। उनके समकालीन विलियम गाडविन (William Godwin) ने तो माल्थस के सिद्धान्त के निराशावादी दृष्टिकोण की तुलना एक भयानक राक्षस से की है जो मानव समाज की आशाओं का हमेशा गला घोटने को तैयार है।[1] उस समय से निरन्तर ही माल्थस की आलोचनाएं की जाती रही हैं। उनके सिद्धान्त की मुख्य आलोचनाएं निम्नलिखित हैं

(1) माल्थस ने भविष्य के वैज्ञानिक आविष्कारों का अनुमान नहीं लगाया माल्थस ने तत्कालीन परिस्थितियों का अध्ययन करके अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन अनुभव प्रणाली (Inductive Method) के आधार पर किया था। वे भविष्य के वैज्ञानिक आविष्कारों, तकनीकी प्रगति तथा औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप होने वाले आर्थिक एवं औद्योगिक विकास और उत्पादन में अत्यधिक वृद्धि का अनुमान नहीं लगा सके थे। यही कारण था कि उन्होंने क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम का भूमि पर लागू करके उत्पादन की क्रमशः घटने वाली मात्रा के आधार पर भविष्य का एक निराशाजनक चित्र प्रस्तुत किया था। कृषि के आधुनिक वैज्ञानिक तरीकों द्वारा अब भूमि की उर्वरा शक्ति में वृद्धि सम्भव है जिससे खाद्य-पदार्थों का उत्पादन अत्यधिक बढ़ाया जा सकता है। उन्होंने आधुनिक वैज्ञानिक प्रगति के कारण यातायात के साधनों का विकास तथा फलस्वरूप खाद्यान्नों की पूर्ति की सुविधा का भी अनुमान नहीं लगाया था।

(2) माल्थस के निष्कर्ष तत्कालीन घटनाओं पर आधारित थे माल्थस ने औद्योगिक क्रान्ति के तात्कालिक परिणामों को ही देखकर यह अनुमान लगाया था कि इसके भावी परिणाम आशाजनक एवं सुखमय नहीं हो सकते। परन्तु उन्होंने यह अनुमान नहीं लगाया कि औद्योगिक विकास होने पर बेरोजगारी, गरीबी आदि समस्याएँ दूर हो जायगी तथा खाद्य पदार्थों के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं का उत्पादन करके उनके बदले में खाद्यान्नों का आयात करके उनकी पूर्ति की जा सकेगी।

(3) माल्थस ने जनसंख्या का सम्बन्ध खाद्यान्नों के उत्पादन से स्थापित किया था इसके अतिरिक्त माल्थस ने जनसंख्या की वृद्धि की तुलना खाद्यान्नों की उत्पादन वृद्धि से ही की थी। मनुष्य अपने भोजन की आवश्यकता की पूर्ति अन्य खाद्य पदार्थों द्वारा भी कर सकता है। उनकी पूर्ति या उत्पादन में भी उसी प्रकार वृद्धि होती है जिस प्रकार जनसंख्या में। अतः जनसंख्या की वृद्धि की तुलना केवल खाद्यान्नों की पूर्ति से करना गलत था। माल्थस को यह चाहिए था कि वे जनसंख्या

1 The black and terrible demon that is always ready to stifle the hope of humanity."

की वृद्धि की तुलना देश के कुल उत्पादन (खाद्यान्नों के उत्पादन औद्योगिक उत्पादन आयात अन्य खाद्य-सामग्रियों का उत्पादन) से करते जिससे वह सही निष्कर्ष निकाल पाते।

(4) **माल्थस का कृषि क्षेत्र मे उत्पत्ति ह्रास नियम के सदैव लागू होने का आधार' गलत था** माल्थस ने क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम भूमि पर तो लागू *किया परन्तु मनुष्य की प्रजनन शक्ति के सम्बन्ध में उन्होने इस नियम का प्रयोग* नहीं किया। उनकी यह मान्यता थी कि मनुष्य की यह शक्ति यथास्थिर तथा अपरिमित है और यदि मनुष्य किसी भी प्रकार एक बडे परिवार को जीवित रखने मे समर्थ हो जाये तो वह जीवन स्तर को ऊंचा उठाने की अपेक्षा अधिक सन्तानोत्पादन करेगा। सम्भवत उन्होंने यह धारणा उस समय के गरीबी कानूनों (Poor Laws) द्वारा प्रदान की गयी आर्थिक सहायता के फलस्वरूप हो रही जनसख्या म वृद्धि के आधार पर बनायी थी। परन्तु कालान्तर में उनकी ये दोनों ही धारणाएं गलत सिद्ध हुई। प्राणिशास्त्र ने वैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर यह सिद्ध कर दिया है कि सभ्यता और संस्कृति का विकास होने पर मनुष्य की प्रजनन शक्ति कम होती जाती है

(5) **जीवन स्तर ऊँचा उठने पर सन्तानोत्पत्ति की इच्छा कम होने लगती है** सामाजिक तथा आर्थिक तथ्यों ने भी अब यह प्रमाणित कर दिया है कि मनुष्य का जीवन-स्तर ऊंचा उठने पर वह अधिक भौतिक सुखों की कल्पना करता है न कि अधिक सन्तानोत्पत्ति की। ऐसी स्थिति म निवारक अवरोध—देर से विवाह करना आत्म सयम आदि—स्वयं कार्यशील होते हैं। उनको अपनाने की आवश्यकता नही पडती।

(6) **माल्थस का गणितीय आधार ठीक नहीं है** माल्थस ने ज्यामितिक तथा अंकगणित श्रेणियों के आधार पर जनसख्या तथा खाद्यान्नो के उत्पादन म वृद्धि को स्पष्ट करने का प्रयास किया था। परन्तु विभिन्न देशों के जनसंख्या सम्बन्धी आँकडो ने यह सिद्ध कर दिया है कि किसी भी देश म जनसख्या की वृद्धि ज्यामितिक श्रेणी के आधार पर नहीं हुई है। यही कारण है कि उन्होंने अपनी पुस्तक के अन्य सस्करणों म जनसख्या की तुलनात्मक वृद्धि को स्पष्ट करने के लिए इन श्रेणियों (Progressions) का प्रयोग नहीं किया बल्कि यह बतलाया कि खाद्यान्नो के उत्पादन म वृद्धि की गति से कहीं अधिक तेजी से जनसख्या म वृद्धि होती है।

(7) **माल्थस की निराशावादी धारणाए असत्य सिद्ध हुई हैं** माल्थस की धारणा भी असत्य सिद्ध हुई है। माल्थस ने मानव समाज का अन्धकारमय चित्र प्रस्तुत किया था और नैसर्गिक अवरोध के रूप म विश्व पर जिस घोर विपत्ति की भविष्यवाणी की थी वह आज तक किसी भी देश म सत्य नहीं हुई है। इसके विपरीत पाश्चात्य देशो म जनसख्या म वृद्धि के साथ-साथ मनुष्य का जीवन

स्तर ऊँचा उठा है। कुछ देशों में तो जनसंख्या को कम करने के लिए परिवार नियोजन राष्ट्रीय योजना का एक अनिवार्य कार्यक्रम हो गया है। इस प्रकार आदर्श जनसंख्या के सिद्धान्त (Theory of Optimum or Ideal Population) तथा जनांकिकीय परिवर्तन सिद्धान्त (Th ory of Demographic Transition) ने माल्थस की भविष्यवाणी को निराधार सिद्ध कर दिया है।

(8) **मनुष्य केवल उपभोक्ता ही नहीं है उत्पादक श्रम भी है** — कैनन ने माल्थस के इस विचार कि जनसंख्या की वृद्धि विपत्ति सूचक है की आलोचना करते हुए कहा है कि मनुष्य केवल उपभोक्ता के रूप में ही जन्म नहीं लेता वरन् वह उत्पादक (श्रमिक) के रूप में भी आता है (वह मुँह ही लेकर नहीं आता वरन् दो हाथ भी साथ में लाता है)। इसमें देश का श्रम शक्ति बढ़ती है तथा देश की उत्पादन मात्रा में भी वृद्धि होती है।

(9) **माल्थस ने केवल जनसंख्या के आकार पर ही विचार किया था** — इस सम्बन्ध में सेलिगमैन का यह विचार है कि किसी देश की जनसंख्या की समस्या वहाँ की जनसंख्या के आकार से सम्बन्धित नहीं है वरन् उस देश के उत्पादन तथा न्याय संगत वितरण से सम्बन्धित है। यदि किसी देश में उत्पादन के साधनों की कुशलता अधिक है और उसका वितरण उचित रूप में किया जाता है तो निश्चित ही उत्पादन अधिक होगा जिससे जनसंख्या अधिक होने पर भी असन्तुलन की स्थिति उत्पन्न नहीं होगी।

(10) **माल्थस की यह धारणा कि नैसर्गिक अवरोधों (Positive Checks) का होना जनाधिक्य का सूचक है गलत है** — माल्थस की यह धारणा थी कि यदि भूकम्प महामारी अकाल आदि दैवी आपत्तियाँ आती हैं तो यह मानना चाहिए कि वहाँ जनाधिक्य होने पर ही प्राकृतिक समायोजन चक्र (S lf adjusting cycle) चलता है। परन्तु यह धारणा गलत है। जहाँ जनाधिक्य नहीं है वहाँ भी दैवी आपत्तियाँ आती हैं। इसके अतिरिक्त जिन देशों में जनाधिक्य है वहाँ इन आपत्तियों को नियन्त्रित करने के उचित उपाय भी किये जा चुके हैं।

(11) **सम्भोग इच्छा एवं सन्तानोत्पत्ति इच्छा में अन्तर नहीं** — माल्थस ने मैथुन इच्छा तथा सन्तानोत्पत्ति में कोई अन्तर नहीं किया जिसके कारण उन्होंने जनसंख्या वृद्धि को एक स्वाभाविक रूप दे दिया है। किन्तु सम्भोग की इच्छा प्राकृतिक है जबकि सन्तान पैदा करने की इच्छा आर्थिक सामाजिक राजनैतिक तथा धार्मिक तत्त्वों से प्रभावित होती है।

(12) **सरकार की विवेकपूर्ण राष्ट्रीय नीति निर्धारण में असमर्थ** — यह जनसंख्या सिद्धान्त सरकार को विवेकपूर्ण राष्ट्रीय नीति निर्धारित करने हेतु आवश्यक तथ्य प्रस्तुत नहीं करता है।

माल्थस के सिद्धान्त की सत्यता

माल्थस के सिद्धान्त की कई अर्थशास्त्रियों द्वारा कड़ी आलोचना की गई। यद्यपि उन्होंने माल्थस के विचारों को अव्यावहारिक तथा असत्य सिद्ध करने का प्रयत्न किया फिर भी मार्शल टाजिग एली पटन आदि अर्थशास्त्रियों ने उनके सिद्धान्त की सत्यता का समर्थन किया है। **मार्शल के अनुसार भावी परिवर्तनों को नहीं देख सकने के कारण माल्थस के तर्क पुराने अवश्य पड़ गये हैं किन्तु अभी भी ये बड़े परिमाण में तत्वतः सत्य हैं। प्रो० वाकर ने तो यहाँ तक कहा है कि माल्थस का सिद्धान्त इतने अधिक कटु विवादों के बावजूद आज भी अडिग है।"**[1] वास्तविकता तो यह है कि माल्थस की यह धारणा कि यदि जनसंख्या को बढ़ने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय तो बड़ी तीव्र गति से बढ़ेगी सत्य है। विश्व में जिन देशों में जनसंख्या की वृद्धि की गति रुकी है उसमें मनुष्य द्वारा अपनाये गये निरोधक उपायों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ऐसे देश विकसित तथा उन्नतिशील हैं। इन देशों में वैज्ञानिक खोजों के कारण उत्पादन के विभिन्न क्षेत्रों में अधिक विकास हुआ है। वहाँ जनसंख्या जीवन निर्वाह के साधनों में उत्पादन वृद्धि से अधिक तीव्र गति से नहीं बढ़ी है। इसके अतिरिक्त इन देशों में शिक्षा सामाजिक उन्नति तथा जीवन स्तर में अधिक उन्नति होने से भी जनसंख्या कम हुई है। परन्तु अविकसित तथा पिछड़े देशों में जहाँ पर ये उपाय नहीं अपनाये गये हैं और जहाँ धार्मिक तथा सामाजिक दृष्टिकोण से अधिक सन्तानोत्पत्ति पर प्रतिबन्ध नहीं है माल्थस का सिद्धान्त अब भी लागू होता है जैसे भारत चीन आदि देश। माल्थस की यह धारणा भी सत्य प्रतीत होती है कि जनसंख्या तथा खाद्य-पदार्थों की पूर्ति में असन्तुलन होने तथा निवारक उपायों को न अपनाने पर नैसर्गिक अवरोध क्रियाशील होते हैं। **प्रो० वाकर** *तथा सैम्युएलसन का यह विचार है कि माल्थस का सिद्धान्त आज भी प्रत्येक समुदाय पर लागू होता है*[1] तथा एक जीवित प्रभाव है।"[2]

निष्कर्ष प्रो० सैम्युएलसन ने ठीक कहा भी है कि भारत चीन तथा विश्व के अन्य ऐसे भागों में जहाँ जनसंख्या एवं खाद्य पूर्ति में सन्तुलन एक महत्त्वपूर्ण समस्या है जनसंख्या के आचरण को समझने के लिए माल्थस के सिद्धान्त में आज भी सत्यता के तत्त्व वर्तमान हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त कथन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त आज भी विकासशील तथा पिछड़े राष्ट्रों में लागू हो रहा है।

---

1 Malthusianism has stood unshattered impregnable amidst all the controversy that has raged round it —*Walker*

2. It is still a living influence to day —*Samuelson*

इसी के साथ विकसित राष्ट्रों में भी जनसंख्या वृद्धि को रोकने के कृत्रिम साधनों का प्रयोग बन्द कर दिया जाय तो उनमें भी यह सिद्धान्त लागू हो जायगा।

माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त और भारत

(Malthusian Theory of Population and India)

यदि भारतीय सन्दर्भ में सिद्धान्त की क्रियाशीलता पर विचार करें तो हम यह कह सकते हैं कि भारत में यह सिद्धान्त पूर्णतः लागू है। यह निम्न तर्कों से स्पष्ट है :

1 भारत में वर्तमान में जनसंख्या बड़ी तीव्र गति (करीब 2.5 प्रतिशत वार्षिक दर) से बढ़ रही है जबकि खाद्य सामग्री की पूर्ति में वृद्धि इस दर से नहीं हो रही है।

2 भारत की जनसंख्या पिछले 30 वर्षों में लगभग दुगुनी हो गई है। 1941 में जनसंख्या 32 करोड़ थी जो 1971 में 55 करोड़ हो गई।

3 देश में सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियाँ आज भी जन्म दर को बढ़ाने में सहायक हैं। देश में अब भी अल्पायु में ही विवाह करने की प्रथा प्रचलित है। देश में जन्म दर ही नहीं बल्कि मृत्यु दर भी ऊँची है।

4 कृषि अब भी प्राचीनतम तकनीक से ही करने के कारण कृषि में उत्पत्ति ह्रास नियम लागू है।

5 देश में निर्धनता, अज्ञानता व रूढ़िवादिता के प्रभाव के कारण जनसंख्या वृद्धि को रोकने का कृत्रिम उपाय प्रयोग में नहीं लाया जाता है।

6 देशवासियों का अभी भी जीवन-स्तर निम्न है। देश में जनसंख्या रोकने हेतु नैसर्गिक प्रतिबन्ध अब भी क्रियाशील हैं।

7 भारतीय वर्तमान जनसंख्या वृद्धि माल्थस के सिद्धान्त की क्रियाशीलता का परिचायक है।

सर्वोत्तम जनसंख्या का सिद्धान्त

(Theory of Optimum Population)

माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त की कड़ी आलोचनाओं ने जनसंख्या की समस्या पर नये सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से विचार करने के लिए प्रेरणा प्रदान की। आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने माल्थस के इस विचार का खण्डन किया है कि अधिकतम जनसंख्या एक हानिकारक स्थिति है। ये अर्थशास्त्री जनसंख्या की वृद्धि को राष्ट्रीय आय से सम्बन्धित करके यह देखते हैं कि अधिकतम आय के दृष्टिकोण से जनसंख्या का आकार सर्वोत्तम एवं आदर्श है या नहीं। इन अर्थशास्त्रियों ने माल्थस द्वारा प्रयुक्त 'अधिकतम' शब्द के स्थान पर 'आदर्श' शब्द प्रतिस्थापित किया है।

अनुकूलतम सिद्धान्त का आधार सर्वप्रथम सिजविक (Sidgwick) ने अपनी पुस्तक Principles of Political Economy में प्रस्तुत किया। इस सिद्धान्त में अधिकतम उत्पादन क्षमता पर विचार किया गया था। इस आधार पर डा० एडविन

कनन ने अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त (Theory of Optimum Population) का प्रतिपादन किया। तत्पश्चात् राबिन्स डाल्टन तथा कार सौण्डर्स ने इस सिद्धान्त को अधिक व्यापक बनाया।

(1) अनुकूलतम जनसंख्या का अर्थ

अनुकूलतम का अभिप्राय आदर्श (Ideal) से है। जनसंख्या के सम्बन्ध में अनुकूलतम का अभिप्राय जनसंख्या के आदर्श आकार (Ideal Size) से है। वह जनसंख्या जो किसी देश में एक निश्चित समय पर दिए हुए साधनों का अधिकतम उपयोग तथा अधिकतम उत्पादन के लिए आवश्यक हो आदर्श जनसंख्या मानी जाती है। इसका अर्थ यह है कि एक विशेष समय तथा परिस्थिति में अनुकूलतम जनसंख्या का सिद्धान्त जनसंख्या में परिवर्तन तथा प्रति व्यक्ति आय के मध्य सम्बन्ध स्थापित करता है। यह बताता है कि जनसंख्या उसी समय आदर्श या अनुकूलतम समझी जाती है जबकि किसी समय विशेष में प्रति व्यक्ति आय अधिकतम होती है। प्रो० एरिक रोल (Arich Roll) के अनुसार "आदर्शतम जनसंख्या किसी देश की वह जनसंख्या है जो अन्य साधनों की दी हुई मात्रा के सहयोग से अधिकतम उत्पादन कर सके।" कार सौण्डर्स के शब्दों में "आदर्श जनसंख्या वह जनसंख्या है जो अधिकतम आर्थिक कल्याण उत्पन्न करती है। यह आवश्यक नहीं कि अधिकतम आर्थिक कल्याण और प्रति व्यक्ति अधिकतम वास्तविक आय एक ही हो परन्तु व्यावहारिक रूप में दोनों का अभिप्राय एक माना जा सकता है।"[1] अनुकूलतम जनसंख्या का स्पष्टीकरण निम्न सारणी द्वारा किया जा सकता है

निश्चित भूमि में उत्पादन रुपयों में

जनसंख्या	कुल उत्पादन	प्रति व्यक्ति आय
20	400	20
25 आदर्श जनसंख्या	625	25 अधिकतम प्रति व्यक्ति आय
30	660	22

उपर्युक्त तालिका से यह ज्ञात होता है कि निश्चित भूमि का अधिकतम उपयोग उसी समय होता है जबकि जनसंख्या 25 है क्योंकि इस जनसंख्या के रहने पर प्रति व्यक्ति आय अधिकतम है। इससे कम जनसंख्या रहने पर प्रति व्यक्ति आय 25 रु० से कम है और इससे अधिक जनसंख्या होने पर प्रति व्यक्ति आय घट कर 22 रु० हो जाती है।

---

1 The optimum population is that population which produce maximum economic welfare Maximum economic welfare is not necessarily the same as maximum real income per head but for practical purposes they may be taken as equivalent

—*Carr Saunders* World Population

अतः अनुकूलतम जनसंख्या वह है जिसके रहने पर प्रति व्यक्ति आय अधिकतम होती है।

डाल्टन के अनुसार "आदर्श जनसंख्या वह जनसंख्या है जो प्रति व्यक्ति अधिकतम आय देती है।"[1] बोल्डिंग ने आदर्श जनसंख्या की व्याख्या जीवन स्तर के सम्बन्ध में की है। उनके अनुसार "वह जनसंख्या जिस पर जीवन स्तर अधिकतम होता है आदर्श जनसंख्या कहलाती है।"[2] रॉबिन्स ने डाल्टन के विपरीत अधिकतम उत्पादन के माप दण्ड के आधार पर अनुकूलतम जनसंख्या की व्याख्या की है। उन्होंने प्रति व्यक्ति आय के अधिकतम होने तथा धन के न्यायोचित वितरण पर ही जोर नहीं दिया है। उनके अनुसार "वह जनसंख्या जो अधिकतम उत्पादन को सम्भव बनाती है अनुकूलतम या सबसे अच्छी जनसंख्या है।"[3] इस प्रकार रॉबिन्स की परिभाषा के अनुसार अनुकूलतम जनसंख्या का स्तर अधिक ऊँचा है क्योंकि इस स्तर पर जनसंख्या द्वारा उत्पादन तथा उसका उपभोग—दोनों ही बराबर होते हैं।

संयुक्त राष्ट्र संघ ने अपनी जनसंख्या रिपोर्ट में बतलाया है कि "सर्वोत्तम जनसंख्या जनसंख्या की वह मात्रा है जो किसी देश की तत्कालीन तकनीकी तथा आर्थिक दशाओं में प्रति व्यक्ति अधिकतम उत्पादन प्रदान करती है। जब किसी देश की जनसंख्या का उस देश के वर्तमान साधनों तथा तकनीकी ज्ञान के साथ सबसे श्रेष्ठ या आदर्श सम्बन्ध होता है तो सामान्यतः इस देश की जनसंख्या अनुकूलतम होती है।

इस प्रकार उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि सर्वोत्तम जनसंख्या किसी देश में जनसंख्या की वह मात्रा है जिस पर प्रति व्यक्ति वास्तविक आय या उत्पादन अधिकतम होता है।

अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त की आधारभूत मान्यतायें
(Assumptions of th Optimum Theory)

(1) **उत्पादन साधनों में आदर्श समन्वय होना** अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त उत्पादन के नियमों पर आधारित है। उत्पादन के नियमों के अनुसार किसी भी उत्पादक इकाई में प्रयुक्त उत्पादन के साधनों (भूमि, श्रम, पूंजी, संगठन और साहस) में आदर्श समन्वय होने पर ही अधिकतम उत्पादन प्राप्त होता है।

---

1 Optimum Population is that which gives the maximum income per head

2 The population at which the standard of life is maximum is called the Optimum Population

3 The population which just makes the maximum return possible is the Optimum Population

(2) एक बिन्दु के पश्चात उत्पत्ति ह्रास नियम का लागू होना श्रम के अतिरिक्त यदि अन्य साधनों को अपरिवर्तनशील मान लिया जाय तो आदर्श सम्बन्ध के बिन्दु के आने तक श्रमिकों की वृद्धि से श्रम की सीमान्त उत्पादिता तथा प्रति *श्रमिक औसत* उत्पादन में वृद्धि होगी। आदर्श बिन्दु पर उत्पादन अधिकतम होगा। परन्तु अधिकतम उत्पादन के आदर्श बिन्दु के पश्चात् भी यदि श्रमिकों की संख्या में वृद्धि होती है तो श्रम की सीमान्त उत्पादकता तथा प्रति श्रमिक औसत उत्पादन—दोनों ही घटने लगते हैं। यह नियम उत्पादन की सभी इकाइयों पर लागू होता है। अत इसको कनन ने इस प्रकार व्यक्त किया है **किसी एक समय विशेष पर एक निश्चित बिन्दु तक श्रम की वृद्धि होने पर आनुपातिक रूप से अधिक प्रतिफल प्राप्त होते हैं परन्तु यदि उस सीमा से अधिक श्रम की वृद्धि होती है तो आनुपातिक रूप से कम प्रतिफल प्राप्त होने लगते हैं।** [1]

(3) श्रमिक के औसत उत्पादन तथा प्रति व्यक्ति आय में सीधा सम्बन्ध इस नियम के आधार पर ही जनसंख्या की सर्वोत्तम या आदर्श सीमा निर्धारित की गयी है। श्रमिकों की वृद्धि जनसंख्या की वृद्धि से सम्बन्धित है। किन्तु जनसंख्या की एक निश्चित सीमा तक वृद्धि ही प्रति व्यक्ति आय को बढाने में सहायक होती है। जिस बिन्दु पर जनसंख्या के पहुचने के बाद प्रति व्यक्ति आय घटने लगती है वह जनसंख्या की वृद्धि का आदर्श बिन्दु कहलाता है और इस बिन्दु पर जितनी जनसंख्या होती है उस आदर्श सर्वोत्तम या अनुकूलतम जनसंख्या कहते हैं। इस आदर्श जनसंख्या के रहने पर ही उपलब्ध एवं वर्तमान साधनों का अधिकतम उपयोग सम्भव हो पाता है अधिकतम आर्थिक कल्याण की स्थिति उत्पन्न होती है और प्रति व्यक्ति आय अधिकतम होती है।

सर्वोत्तम जनसंख्या सिद्धान्त का उद्देश्य
(Object of the Optimum Theory of Population)

यह सिद्धान्त यह बतलाने का प्रयास करता है कि किसी देश के लिए जनसंख्या का कौन-सा आकार आर्थिक दृष्टि से आदर्श या सर्वोत्तम है। यह जनसंख्या तथा प्रति व्यक्ति आय में परिवर्तन के सम्बन्ध को प्रकट करता है। इसके अनुसार जनसंख्या का आकार वह अनुकूलतम होता है जिस पर प्रति व्यक्ति आय अधिकतम होगी।

जनाभाव (Under population) और जनाधिक्य (Over population)

सर्वोत्तम या आदर्श जनसंख्या से कम जनसंख्या को जनाभाव कहा जाता है। किसी देश में जनाभाव की स्थिति रहने पर वहा वर्तमान साधनों का अधिकतम

---

1 At any given time increase of labour up to a certain point is attended by *increasing proportionate returns* and beyond that point further increase of labour is attended by diminishing proportionate returns
—*Cannon Dr Edwin* Wea th

उपयोग नहीं हो पाता है जिससे वस्तुओं और सेवाओं का अधिकतम उत्पादन न होने के कारण प्रति व्यक्ति वास्तविक आय कम होती है। जब जनसंख्या अनुकूलतम जनसंख्या से अधिक होती है तो वर्तमान साधन प्रति व्यक्ति आय को अधिकतम बनाये रखने के लिए पर्याप्त होते हैं। वस्तुओं और सेवाओं के रूप में औसत उत्पादन कम होने से प्रति व्यक्ति आय भी कम हो जाती है। आर्थिक दृष्टिकोण से ये दोनों ही स्थितियाँ किसी देश के लिए उचित नहीं मानी जातीं।

अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त की व्याख्या

इस प्रकार सर्वोत्तम जनसंख्या का सिद्धान्त इस तथ्य को बतलाता है कि किसी देश के प्राकृतिक साधनों के समुचित उपयोग हेतु एक निश्चित मात्रा में उत्पादन के साधनों की आवश्यकता होती है। श्रम भी उत्पादन का एक महत्त्वपूर्ण साधन है। अतः प्राकृतिक साधनों के उचित विदोहन के लिए निश्चित मात्रा में जनसंख्या की जरूरत होती है। अतः जनसंख्या की वह मात्रा जिससे साधनों का समुचित उपयोग हो सके तथा प्रति व्यक्ति आय अधिकतम हो सर्वोत्तम जनसंख्या कहलाती है।

इस प्रकार सर्वोत्तम जनसंख्या सिद्धान्त के अनुसार किसी देश में जनसंख्या की निम्नलिखित तीन स्थितियाँ हो सकती हैं —

(i) जनाभाव (Under population)

(ii) आदर्श जनसंख्या (Optimum population) तथा

(iii) जनाधिक्य (Over population)।

इनका विस्तृत विवेचन ऊपर समझा दिया है।

अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त का स्पष्टीकरण अगले पृष्ठ पर दिए गए रेखाचित्र (सं० 47) द्वारा किया गया है इस चित्र में AP प्रति व्यक्ति वास्तविक आय या औसत उत्पादन वक्र है। OY अक्ष पर औसत उत्पत्ति या प्रति व्यक्ति आय तथा OX अक्ष पर जनसंख्या को प्रदर्शित दिखाया गया है। OK तक जनसंख्या की वृद्धि होने पर औसत उत्पादन में वृद्धि होती जाती है और जब जनसंख्या K बिन्दु पर पहुँच जाती है तब OK जनसंख्या होने पर औसत उत्पादन तथा प्रति व्यक्ति आय KR होती है जो अधिकतम सीमा को व्यक्त करती है। अतः OK अनुकूलतम या आदर्श जनसंख्या है क्योंकि R की बायी और बायी ओर AP वक्र नीचे की तरफ झुका हुआ है जो यह व्यक्त करता है कि औसत उत्पत्ति या प्रति व्यक्ति आय KR से कम है। जब तक जनसंख्या OK नहीं होती तब तक जनसंख्या की वृद्धि वांछनीय है, क्योंकि जनसंख्या में प्रत्येक वृद्धि से AP वक्र ऊपर की ओर जाने की प्रवृत्ति रखता है जिससे यह ज्ञात होता है कि जनाभाव की दशा में जनसंख्या में वृद्धि होने पर, औसत उत्पादन तथा प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि होगी। परन्तु OK जनसंख्या होने पर जब प्रति व्यक्ति आय अधिकतम (KR) हो जाती है, तब OK के

पश्चात् जनसख्या मे वृद्धि होने पर AP वक्र R की दायी ओर झुकने लगता है जिससे यह ज्ञात होता है कि जनाधिक्य होने पर औसत उत्पादन तथा प्रति व्यक्ति आय कम होने लगती है। अतः जनाभाव तथा जनाधिक्य दोनो ही ठीक नही हैं।
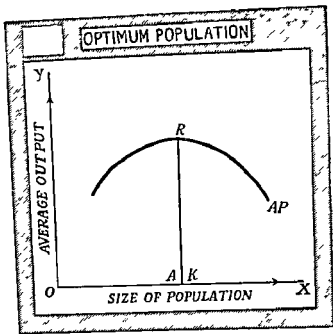
चित्र म० 47

इस प्रकार उपर्युक्त रेखाचित्र के विवरण से निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं

1 अनुकूलतम जनसख्या वह जनसख्या है जहा पर उत्पत्ति की वृद्धि समाप्त होती है तथा उत्पत्ति ह्रास क्रियाशील होना प्रारम्भ कर देता है।

2 अनुकूलतम जनसख्या से कम जनसख्या को 'जनाभाव' की स्थिति तथा अनुकूलतम से अधिक जनसख्या को अति जनसख्या की स्थिति कहते हैं।

जनाभाव तथा जनाधिक्य का निर्धारण

आदर्श जनसख्या के बिंदु से कोई भी विचलन (Deviation) जनसख्या मे **समायोजन अभाव** (Mal adjustment) उत्पन्न करता है। यह समायोजन अभाव जनाभाव या जनाधिक्य के रूप मे हो सकता है। यदि वास्तविक जनसख्या आदर्श जनसख्या से कम होती है तब यह ऋणात्मक समायोजन अभाव अथवा जनाभाव कहलाता है क्योंकि इस जनाभाव को दूर करने के लिए जनसख्या मे वृद्धि वाछनीय होती है। परन्तु जब वास्तविक जनसख्या आदर्श जनसख्या से अधिक होती है तब

होना का अन्तर धनात्मक समायोजन अभाव (Positive Mal adjustment) या जनाधिक्य कहलाता है जो अधिकतम आर्थिक कल्याण की दृष्टि से वाछनीय नहीं है। अत जब वास्तविक जनसंख्या आदर्श जनसंख्या के बराबर होती है तभी वह अधिकतम आर्थिक कल्याण प्रदान करती है।

समायोजन अभाव की मात्रा की माप
(Measurement of the degree of mal adjustment)

जनाभाव तथा जनाधिक्य की मात्रा को मापन के लिए डाल्टन (Dalton) ने एक सूत्र (Formula) का निर्माण किया है जो इस प्रकार है

$$M = \frac{A - O}{O} \quad \text{अथवा म अ} = \frac{\text{व} - \text{अ}}{\text{अ}}$$

यहाँ M या स अ का अर्थ समायोजन का अभाव (Mal adjustment) है, A या व का अर्थ वास्तविक जनसंख्या तथा O या अ का अभिप्राय आदर्श जनसंख्या से है। यदि किसी देश में वास्तविक तथा आदर्श जनसंख्या क्रमश 1 20 000 तथा 1 00 000 मान ली जाय तो उपयुक्त सूत्र के अनुसार समायोजन अभाव धनात्मक (Positive) होगा $\frac{1\ 20\ 000 - 1\ 00\ 000}{1\ 00\ 000} = +\ 2$ जो 2 सीमा तक जनाधिक्य (Over population) व्यक्त करता है। इसके विपरीत, यदि आदर्श जनसंख्या 1,00 000 हो और वास्तविक (Actual) जनसंख्या 1,20,000 तो $\frac{1{,}00\ 000 - 1\ 20\ 000}{1\ 00\ 000} = -\ 2$ ऋणात्मक समायोजन अभाव (Negative mal adjustment) होगा जिससे यह ज्ञात होगा कि देश में जनाभाव (Under population) है। समायोजन अभाव की (जनाधिक्य तथा जनाभाव) ये दोनों ही स्थितियाँ व्यक्ति तथा समाज के अधिकतम आर्थिक कल्याण की दृष्टि से ठीक नहीं हैं।

सर्वोत्तम जनसंख्या के सम्बन्ध मे महत्त्वपूर्ण तथ्य

(1) सर्वोत्तम जनसंख्या बिन्दु स्थिर नहीं होता सर्वोत्तम जनसंख्या सिद्धान्त का बिन्दु सदव स्थिर नहीं रहता है। यह बिन्दु देश में वैज्ञानिक उन्नति नये प्राकृतिक साधनों का अन्वेषण तथा उत्पादन की नवीन तकनीकों का पता लगने के साथ ही बदलता रहता है।

(2) सर्वोत्तम जनसंख्या एक परिमाणात्मक (Quantitative) विचार ही नहीं अपितु गुणात्मक (Qualitative) विचार भी है बोल्डिंग तथा बाई (Bye) जैसे अर्थशास्त्रियों ने यह स्पष्ट किया है कि सर्वोत्तम जनसंख्या ज्ञात करने के लिए जनसंख्या के आकार के साथ जनसंख्या की गुणात्मक विशेषताओं जैसे मनुष्य के चरित्र

स्वास्थ्य आदि पर भी ध्यान दिया जाता है। किन्तु यहा यह उल्लेखनीय है कि गुणात्मक बातो को यदि शामिल करते हैं तो सर्वोत्तम जनसख्या मालूम करना कठिन हो जाता है।

(3) **सर्वोत्तम जनसख्या का सिद्धान्त वस्तुगत आधार (Objective basis) प्रस्तुत करता है** यह सिद्धान्त वस्तुगत आधार प्रदान करता है जिससे यह स्पष्ट होता है कि सर्वोत्तम जनसख्या से जनसख्या अधिक होने पर ही जनसख्या को बढ़ने से रोकना चाहिए।

डाल्टन तथा राबिन्स के विचारों की तुलना सर्वोत्तम एव आदर्श जनसख्या सिद्धान्त को अधिक व्यापक बनाने का *श्रेय डाल्टन तथा राबिन्स को है।* **डाल्टन ने** अपने सूत्र का प्रयोग करके आदर्श और वास्तविक जनसख्या के समायोजन अभाव (Mal adjustment) का मापन का आधार प्रस्तुत किया है परन्तु आदर्श जनसख्या के विषय में उनका दृष्टिकोण केवल प्रति व्यक्ति आय के अधिकतम होने तक ही सीमित है। **राबिन्स** ने आदर्श जनसख्या के सम्बन्ध में सम्पूर्ण समाज को प्राप्त होने वाले अधिकतम प्रतिफल (Maximum return) को आधार माना है। इस प्रकार डाल्टन के विचार से **किसी भी देश में किसी समय विशेष पर जनसख्या के जिस आकार पर प्रति व्यक्ति आय अधिकतम होती है उसी को आदर्श जनसख्या कहा जा सकता है।** राबिन्स के अनुसार जिस जनसख्या के रहने पर अधिकतम राष्ट्रीय आय या प्रतिफल प्राप्त हो वह जनसख्या ही सर्वोत्तम या आदर्श जनसख्या है।

राबिन्स प्रति व्यक्ति अधिकतम आय को महत्त्व नहीं देते। उनके विचार में सामाजिक दृष्टिकोण से राष्ट्रीय आय का अधिकतम होना आवश्यक है जिससे देश में अधिकतम आर्थिक कल्याण की स्थिति उत्पन्न हो सके। उनका मत है कि यदि जनसख्या के किसी विशेष आकार से केवल प्रति व्यक्ति आय ही अधिकतम होती है परन्तु सामाजिक एव आर्थिक कल्याण के लिए वस्तुओ तथा सेवाओ के रूप में अधिकतम प्रतिफल प्राप्त नहीं होते तो उसे आदर्श जनसख्या नहीं कहा जा सकता। ऐसी स्थिति में जनसख्या की वृद्धि उचित है चाहे प्रति व्यक्ति आय अधिकतम सीमा से घटने ही क्यो न लगे। अत राबिन्स के मतानुसार राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था के अधिकतम विकास की दृष्टि में जो जनसख्या आवश्यक तथा वाछनीय हो वही आदर्श जनसख्या है। समाज के हित के लिए व्यक्तिगत हित कल्याण या आय का कुछ न कुछ त्याग आवश्यक है। इस त्याग में देश तथा समाज का लाभ होने पर व्यक्तिगत क्षति की पूर्ति किसी न किसी रूप में अवश्य हो जाती है। इसके अतिरिक्त राबिन्स का यह भी विचार है कि यदि देश की अर्थव्यवस्था को सचालित करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति लाभप्रद कार्य में लगा हुआ है और समाज के अधिकतम आर्थिक कल्याण के लिए वस्तुओ तथा सेवाओ के उत्पादन में यथाशक्ति योगदान देता है तो समाज उसके अधिकाधिक आर्थिक कल्याण के लिए स्वय प्रयत्नशील रहता है।

सर्वोत्तम जनसंख्या सिद्धान्त की माल्थस के सिद्धान्त से तुलना
(Comparison of Optimum Theory of Population with Malthusian Theory)

1 जनसंख्या की समस्या का खाद्य सामग्री के आधार पर नहीं वरन देश की कुल उत्पत्ति के आधार पर अध्ययन माल्थस का सिद्धान्त जनसंख्या को केवल खाद्य सामग्री से सम्बन्धित करके ही किसी देश के लिए जनसंख्या को अधिकतम मानता है। परन्तु अनुकूलतम सिद्धान्त जनसंख्या का सम्बन्ध देश के कुल उत्पादन से स्थापित करता है। अतः वह जनसंख्या की अधिकतम सीमा के स्थान पर सर्वोत्तम जनसंख्या का उल्लेख करता है।

2 जनसंख्या की वृद्धि अवाछनीय नहीं है वरन कुछ सीमा तक वाछनीय भी है माल्थस ने किसी भी देश के लिए खाद्य पदार्थों की पूर्ति तथा जनसंख्या की वृद्धि के मध्य असन्तुलन में घोर विपत्ति की कल्पना की है। परन्तु 'अनुकूलतम सिद्धान्त किसी देश के वर्तमान साधनों के अधिकतम प्रयोग के लिए जनसंख्या की प्रत्येक वृद्धि को उस सीमा तक वाछनीय मानता है जिस बिन्दु तक अधिकतम सामाजिक व आर्थिक कल्याण तथा प्रति व्यक्ति अधिकतम आय की स्थिति उत्पन्न होती है।

3 जनसंख्या के परिमाण सम्बन्धी पहलू (Quantitative Aspect) के साथ साथ गुण सम्बन्धी पहलू (Qualitative Aspects) को भी महत्त्व देना प्रत्येक व्यक्ति केवल खाने के लिए मुख ही लेकर नहीं आता वरन् काम करने के लिए दो हाथों के साथ भी आता है इस मान्यता के आधार पर अनुकूलतम सिद्धान्त यह निर्धारित करता है कि प्रत्येक व्यक्ति न केवल अपने जीवन को बनाये रखने के लिए प्रयत्नशील रहता है बल्कि वह अधिकाधिक काम इसलिए करता है जिससे प्रति व्यक्ति आय तथा सामाजिक एव आर्थिक कल्याण अधिकतम हो सके। जनसंख्या की वृद्धि के सम्बन्ध में यह एक आशावादी दृष्टिकोण है।

माल्थस का सिद्धान्त मनुष्य के जीवित रहने के लिए प्रति व्यक्ति न्यूनतम आय पर ही जोर देता है। माल्थस के विचारों से जनसंख्या की वृद्धि से उपभोक्ताओं की वृद्धि होती है परन्तु खाद्य पदार्थों का उत्पादन अपेक्षाकृत कम होता है। इस प्रकार अर्थव्यवस्था केवल निर्वाह अर्थव्यवस्था (Subsistence Economy) मात्र ही रह जाती है। इस प्रकार जनसंख्या में तीव्र वृद्धि होने पर भविष्य कष्टमय हो जाता है। परन्तु बोल्डिंग, आर० टी० बाई० आदि अर्थशास्त्रियों ने अनुकूलतम जनसंख्या के विचार में परिमाणात्मक तथा गुणात्मक दोनों पहलुओं पर जोर दिया है। इन अर्थशास्त्रियों ने प्रति व्यक्ति आय के स्थान पर जीवन-स्तर पर जोर दिया है। इसका अर्थ है कि एक तरफ जनसंख्या की वृद्धि से प्रति व्यक्ति आय तो बढ़ती ही है परन्तु वृद्धि होने पर भी उसका आकार इतना ही हो जिससे मानव समाज का आर्थिक तथा सामाजिक जीवन उच्चतम हो सके।

4 सर्वोत्तम जनसंख्या सिद्धान्त प्रावैगिक दृष्टिकोण पर आधारित है जबकि माल्थस का सिद्धान्त नहीं माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त उत्पत्ति ह्रास नियम तथा भूमि की सीमितता पर आधारित होने के कारण स्थैतिक है जबकि सर्वोत्तम जनसंख्या सिद्धान्त म सर्वोत्तम जनसंख्या बिन्दु कोई स्थिर बिन्दु नहीं है। अत यह प्रावैगिक धारणा है।

5 नैसर्गिक अवरोधों के न रहने पर भी जनाधिक्य हो सकता है माल्थस के सिद्धान्त के अनुसार किसी देश म जनाधिक्य की कसौटी महामारी अकाल आदि दैवी विपत्तियां हैं। यदि य नैसर्गिक अवरोध किसी देश म लागू हो रहे हों तो वहां जनाधिक्य अवश्य होगा। परन्तु अनुकूलतम सिद्धान्त के अनुसार इन नैसर्गिक अवरोधों के न रहने पर भी यदि प्रति व्यक्ति आय अधिकतम न हो तो यह कहा जा सकता है कि वहां जनाधिक्य है। इसम जनाधिक्य की कसौटी प्रति व्यक्ति आय का अधिकतम सीमा म घटना है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त की अपेक्षा सर्वोत्तम जनसंख्या अधिक व्यावहारिक प्रावैगिक तथा आशावादी है। वास्तव म यह जनसंख्या के सम्बन्ध म एक सन्तुलित तथा विवेकपूर्ण विचार प्रस्तुत करता है। किन्तु इसी के साथ सर्वोत्तम जनसंख्या सिद्धान्त म भी सर्वोत्तम जनसंख्या के आकार को मालूम करना भी कठिन है। इसस इस सिद्धान्त की व्यावहारिक उपयोगिता भी कम हो जाती है। वास्तव म दोनों ही सिद्धान्त अपूर्ण तथा अपर्याप्त है। अत यह कहा जाता है कि जहां माल्थस का जनसंख्या **सिद्धान्त अत्यधिक निराशावादी है वहां सर्वोत्तम जनसंख्या का सिद्धान्त आशावादी** है किन्तु इनमे कोई भी सिद्धान्त एक पूर्ण सिद्धान्त नहीं है।'

अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त की आलोचना
(Criticisms of the Optimum Theory of Population)

1 यह एक सिद्धान्त नहीं है अनुकूलतम जनसंख्या का सिद्धान्त वस्तुत कोई सिद्धान्त नहीं है। वस्तुत यह जनसंख्या की वृद्धि के सम्बन्ध म **क्या और कैसे** प्रश्नों का उत्तर नहीं देता यह तो केवल आदर्श अथवा सर्वोत्तम जनसंख्या के सम्बन्ध म एक निश्चित दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। यह सिद्धान्त किसी समय एक देश म जनाभाव है या जनाधिक्य की स्थिति बताता है। इसस यह मालूम होता है कि जनसंख्या आर्थिक दृष्टि स सर्वोत्तम है या नहीं।

2 आदर्श बिन्दु या आदर्श जनसंख्या ज्ञात करना कठिन है इस सिद्धान्त के अन्तर्गत आदर्श बिन्दु ज्ञात करना कठिन है। **इसका कारण यह है कि अनुकूलतम सिद्धान्त स्थैतिक (Static) सिद्धान्त है।** यह श्रमिकों की संख्या म वृद्धि के अतिरिक्त उत्पादन के अन्य साधनों को स्थिर तथा या स्थिर मान कर जनसंख्या के आदर्श बिन्दु का ज्ञान करता है। परन्तु व्यावहारिक जीवन म समय के परिवर्तन के साथ

अर्थ-व्यवस्था पहले जैसी नहीं रहती। नये नये प्राकृतिक साधनों की खोज, पूँजी तकनीकी ज्ञान श्रमिकों की कार्य कुशलता और उत्पादन के क्षेत्र में नयी विधियों को अपनाने पर देश का उत्पादन बढ़ता है। अधिकतम उत्पादन के लिए आज की आदर्श जनसंख्या भविष्य में आदर्श या सर्वोत्तम नहीं भी हो सकती है। अर्थव्यवस्था का विकास एक गतिशील धारणा है अतएव अर्थ-व्यवस्था में परिवर्तन के साथ अनुकूलतम जनसंख्या भी परिवर्तित होती रहती है जैसा कि चित्र सं० 48 से स्पष्ट है।
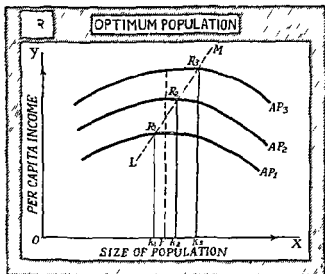
चित्र सं० 48

चित्र सं० 48 में AP_1 AP_2 और AP_3 औसत उत्पादन या प्रति व्यक्ति आय रेखाएं हैं। AP_2 और AP_3 रेखाओं पर R_2 और R_3 बिंदु प्रति व्यक्ति अधिकतम आय व्यक्त करते हैं। ऐसा उसी समय सम्भव हुआ है जबकि नये नये उत्पादन साधनों तथा नवीन विधियों का प्रयोग करने के लिए आदर्श जनसंख्या भी OK_2 तथा OK_3 तक बढ़ी है। इन स्थितियों में ही प्रति व्यक्ति आय अधिकतम सम्भव हो सकी है। इस प्रकार आदर्श जनसंख्या में गतिशीलता को व्यक्त करने वाली रेखा LM यह प्रकट करती है कि गतिशील अर्थ-व्यवस्था में आदर्श जनसंख्या स्थैतिक (Static) नहीं रह सकती है।

यदि वास्तविक जनसंख्या (OK) आदर्श जनसंख्या (OK_1) से अधिक है जैसा कि चित्र से स्पष्ट है तो अर्थ-व्यवस्था में परिवर्तन के पहले तथा बाद दोनों ही परिस्थितियों में वह आदर्श उस समय तक नहीं होगी जब तक कि वह OK_2 न हो

जाय। परिवर्तन के पहले वास्तविक जनसंख्या OK आदर्श जनसंख्या OK_1 से अधिक थी। यह जनाधिक्य की स्थिति व्यक्त करती है। परिवर्तन के पश्चात् वास्तविक जनसंख्या OK अपनी आदर्श जनसंख्या OK से कम है। अत यह जनाभाव की स्थिति व्यक्त करती है। अर्थ व्यवस्था म अन्य सभी भावी परिवर्तनों की स्थितियों म यही क्रम चलता रहेगा।

3 यह सिद्धान्त राष्ट्रीय आय के वितरण पक्ष पर ध्यान नहीं देता अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त केवल प्रति व्यक्ति आय तथा उत्पादन के अधिकतम होने से सम्बन्धित है। वह वस्तुओं तथा सेवाओं के रूप म प्राप्त प्रतिफल या आय के उचित वितरण पर ध्यान नहीं देता। यदि प्रति व्यक्ति आय या औसत उत्पादन के अधिकतम होने पर भी राष्ट्रीय आय कुछ ही व्यक्तियों के हाथों म केन्द्रित हो जाय तो आर्थिक कल्याण की दृष्टि से जनसंख्या को आदर्श नहीं कहा जा सकता।

4 इस सिद्धान्त मे जनसंख्या का अध्ययन केवल आर्थिक दृष्टि से किया जाता है यह सिद्धान्त आदर्श जनसंख्या निर्धारित करते समय केवल उसके आर्थिक पक्ष का ही ध्यान म रखता है। इस प्रकार यह सिद्धान्त संकुचित दृष्टिकोण प्रकट करता है क्योंकि आदर्श जनसंख्या केवल आर्थिक दृष्टि से ही नहीं वरन् सामाजिक राजनैतिक तथा मरणात्मक परिस्थितियों को भी ध्यान म रखकर निश्चित की जानी चाहिए।

5 अधिकतम आय और अधिकतम प्रसन्नता का एक ही अर्थ नहीं है यह सिद्धान्त राष्ट्रीय आय के अधिकतम होने को अधिकतम सुख एवं प्रसन्नता का सूचक मानता है। परन्तु प्रति व्यक्ति आय अधिकतम होने पर भी देश म वास्तविक प्रसन्नता का अभाव हो सकता है। वास्तविक सुख एवं प्रसन्नता देश म स्वस्थ शिक्षित बुद्धिमान तथा अन्तर्भावनाशील (Conscientious) नागरिकों पर निर्भर है।

6 यह सिद्धान्त जनसंख्या की समस्या के सम्बन्ध मे कोई नीति निर्धारित नहीं करता यह सिद्धान्त आदर्श जनसंख्या म कम व अधिक जनसंख्या को व्यक्त करके जनाभाव और जनाधिक्य की अवांछनीयता का उल्लेख तो करता है परन्तु इनको दूर करने के लिए कोई निश्चित निर्देश नहीं देता।

निष्कर्ष यद्यपि सर्वोत्तम जनसंख्या के सिद्धान्त की अनेक कमियों को बतलाया गया है किन्तु इस सिद्धान्त का महत्त्व इस बात म भी निहित है कि इसमे माल्थसियन दानव का भय कम हुआ है। इस सिद्धान्त ने जनसंख्या को सही रूप म समझाने का प्रयास किया है। इस सिद्धान्त ने स्पष्ट कर दिया है कि जनसंख्या म प्रत्येक वृद्धि भयावह नहीं होती बशर्ते कि जनसंख्या वृद्धि के साथ ही आय बढ़ती हो। इस सिद्धान्त की तो यही एक सबसे बड़ी कमी है कि जनसंख्या के अनुकूलतम आकार को ज्ञात करना कठिन है। इसीलिए प्रो हिक्स का यह कथन सही हो है कि **'यह बहुत ही कम महत्त्व का विचार है।'**

अतिजनसंख्या को रोकने के उपाय (Measures to check over population)

अतिजनसख्या व न्यून जनसख्या का अर्थ तो विगत पृष्ठो म स्पष्ट कर दिया है । जसा कि स्पष्ट है कि अतिजनसख्या देश क आर्थिक विकास मे बाधक है । इसके कारण देश म बचत कम होगी जिसस विनियोग भी कम होगा जिसके परिणामस्वरूप देश का आर्थिक विकास अवरुद्ध हो जावगा । अत अति जनसंख्या को रोकने का प्रयास किया जाना चाहिए । अति जनसख्या की समस्या प्राय अविकसित देशा म होती है । इस रोकने के लिए निम्नलिखित प्रमुख उपाय काम म लिये जा सकते हैं

1 **तीव्र औद्योगिक विकास किया जाय** कोलिन क्लार्क किंग्सले डेविस आदि अथशास्त्रियो न जनसख्या वद्धि को रोकने हेतु तीव्र औद्योगिक विकास पर जोर दिया है । औद्योगिक विकास अप्रत्यक्ष रूप स जनसख्या को कम करन म सहायक है । औद्योगिक विकास से लोगो का जीवन स्तर ऊंचा उठता है । उच्च जीवन स्तर को बनाये रखने क लिए परिवार छोटा रखने की प्रेरणा मिलती है ।

2 **कृषि उत्पादन मे वद्धि** कृषि म आधुनिक तकनीको का प्रयोग करके तथा भूमि कटाव को रोककर कृषि उत्पादन म वद्धि करन का प्रयास करना चाहिए ।

3 **परिवार नियोजन अपनाना** जनता को परिवार सीमित रखन के लाभा स अवगत कराया जाना चाहिए । जन्म दर का कम रखन हेतु भी विभिन्न प्रकार के कृत्रिम साधना के सम्बन्ध म व्यापक पमाने पर प्रचार करना आवश्यक है ताकि व उनका प्रयोग कर सकें ।

4 **विकृत मस्तिष्क वाले तथा सदव अस्वस्थ रहने वाले व्यक्तियो के विवाह पर रोक** जनसख्या का गुणात्मक दृष्टि स स्तर ऊचा उठाने हेतु इस प्रकार के व्यक्तियो के विवाह पर रोक लगा देना चाहिए । स्वस्थ एव विवेकशील जनसख्या का होना अपरिहार्य होता है ।

5 **जनसख्या से सम्बन्धित आकड** भी उचित जनसख्या नीति हेतु एकत्रित करना आवश्यक है ।

6 **शिक्षा तथा सामाजिक सुधार** भी जनसख्या रोकने हेतु आवश्यक है ।

जवकीय जनसख्या सिद्धान्त
(Biological Theory of Population)

जनसख्या की वद्धि के सम्बन्ध म कुछ खोज जीव शास्त्र के विद्वानो (Biologists) न भी की है । उनके अनुसार जनसख्या पहले धीरे धीरे बढ़ती है । इसके पश्चात् बड़े वेग स बढन लगती है । इसके पश्चात् वह स्थिर हो जाती है या घटन लगती है । घटने की गति भी एक निश्चित बिन्दु तक तीव्र रहती है । उसके पश्चात् वह पुन बढ़ना प्रारम्भ कर देती है । परन्तु इस प्रकार जनसख्या के पुन घटने की

प्रवृति जिस बिन्दु से प्रारम्भ होती है वहां जनसंख्या पहले जितनी थी उससे अधिक ही रहती है।

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन अमेरिका के जीव शास्त्र के विद्वान प्रोफेसर रेमण्ड पल ने सन् 1925 में फल की मक्खियों की वृद्धि के अध्ययन के आधार पर किया था। उनका मत था कि प्रारम्भ में जीवन निर्वाह के साधनों के अभाव होने के कारण जनसंख्या में वृद्धि नहीं होती या धीमी गति से होती है। उसके पश्चात् आर्थिक कठिनाइयों को दूर होने तथा जीवन निर्वाह के साधनों और सभ्यता का विकास होने पर जनसंख्या तेजी से बढ़ने लगती है। परन्तु यह वृद्धि एक निश्चित सीमा तक ही सम्भव है। सभ्यता की चरम सीमा पर पहुंचने पर उसके बढ़ने का क्रम समाप्त हो जाता है और वह स्थिर हो जाती है या घटने की प्रवृत्ति व्यक्त करती है। प्रो० पल ने जनसंख्या में वृद्धि की प्रकृति का अध्ययन किया है।

यदि जनसंख्या में वृद्धि की इस प्रकृति का रेखाचित्र द्वारा निरूपण किया जाय तो उससे बनने वाला वक्र अंग्रेजी के अक्षर S के समान होता है। इसे गणितीय रूप में **लोजिस्टिक वक्र सिद्धान्त** कहते हैं। अब हम इसे निम्न रेखाचित्र द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं
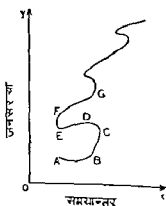
चित्र न० 49

इस रेखाचित्र में प्रारम्भ में जनसंख्या A से B बिन्दु तक तेज गति से बढ़ती है किन्तु B से C बिन्दु तक बहुत ही तेज गति से बढ़ती है। इसके बाद C से D बिन्दु तक जनसंख्या गिरती है किन्तु D से E बिन्दु पर तीव्र गति से गिरती है। इसके बाद यही क्रम चलता रहता है। किन्तु समयावधियों में कुल जनसंख्या बहुत अधिक बढ़ जाती है। इसके बाद जनसंख्या स्थिर हो जाती है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि चाहे जनसंख्या धीमी गति से बढ़े या घटे चाहे तीव्र गति से बढ़े या घटे किन्तु अन्ततः जनसंख्या में वृद्धि की ही रुख

रहता है। पल महोदय ने फ्रांस जर्मनी तथा अमेरिका की जनसंख्या का अध्ययन अपने मत की पुष्टि के लिए किया।

सिद्धान्त का महत्त्व

एक प्रकार से पल महोदय का यह सिद्धान्त भी माल्थस के सिद्धान्त के समान जनसंख्या में निरन्तर बढ़ने की प्रवृत्ति को ही बतलाता है। किन्तु इसके साथ ही यह सिद्धान्त माल्थस के सिद्धान्त के विपरीत भी है, क्योंकि सभ्यता और आर्थिक विकास के साथ ही जनसंख्या बढ़ने के बजाय घट भी सकती है। आधुनिक युग में इस सिद्धान्त की सत्यता ही प्रतीत होती है क्योंकि जीवन स्तर में वृद्धि व सभ्यता के विकास के साथ ही प्रजनन शक्ति कम होने लगती है। यह माल्थस के सिद्धान्त से इसलिए भी श्रेष्ठ है क्योंकि इसमें जनसंख्या में बढ़ोतरी ही होती रहे यह आवश्यक नहीं है। जनसंख्या बढ़ती है फिर गिरती है और पुनः फिर बढ़ती है।

जवकीय सिद्धान्त की आलोचनाएँ
(Criticisms of the Theory)

प्रो० पल का जवकीय जनसंख्या का सिद्धान्त भी शत्य और सर्वत्र लागू नहीं होता है। इस सिद्धान्त की भी प्रमुख आलोचनाएँ इस प्रकार हैं

1 **सिद्धान्त का आधार गलत** प्रो० पल ने पत्त की मक्खियों के अध्ययन के आधार पर जनसंख्या के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। अतः इस सिद्धान्त को मनुष्य पर लागू करना कठिन है।

2 **जवकीय पक्ष (Biological asp ct) की प्रधानता** इस सिद्धान्त में जवकीय पक्ष का ही अध्ययन किया जाता है जबकि इसके अन्तर्गत जनसंख्या के आर्थिक राजनैतिक तथा सामाजिक पक्षों की उपेक्षा की गई है, जो न्यायसंगत नहीं है।

3 **वातावरण परिवर्तन की उपेक्षा** यह सिद्धान्त इस बात पर ध्यान नहीं देता कि वातावरण में परिवर्तन होता है जिसके परिणामस्वरूप मानव के विचारों चरित्र स्वभाव आदि में भी परिवर्तन होता है।

4 **अपूर्ण सिद्धान्त** जनसंख्या समस्या के बारे में पूर्ण विवेचन न होने से यह सिद्धान्त अपूर्ण है।

5 **निराशावादी** यह सिद्धान्त भी माल्थस के समान ही निराशावादी सिद्धान्त है।

निष्कर्ष (Conclusion)

उपर्युक्त सभी आलोचनाओं के बावजूद भी व्यावहारिक जीवन में प्रायः जनसंख्या के विकास का क्रम इसी सिद्धान्त के अनुसार होता है। अतः यह सिद्धान्त व्यावहारिकता के अनुरूप है।

जनसंख्या संक्रमण सिद्धान्त
(Theory of Demographic Transition)

इस सिद्धान्त के प्रतिपादक नोटेस्टीन (Notestein) थामसन (W S Thomson) ब्लेकर (C P Blacker) कोने तथा हूवर आदि आधुनिक अर्थशास्त्री हैं।

जनसंख्या का यह सिद्धान्त आर्थिक विकास तथा जनसंख्या विकास के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार आर्थिक विकास के विभिन्न स्तरों पर जनसंख्या की वृद्धि भिन्न भिन्न होती है।

जनसंख्या विस्फोट की अवधारणा (The Concept of Population Explosion)

जनसंख्या विस्फोट का विचार इसी सिद्धान्त से सम्बन्धित है। अर्थशास्त्र में जनसंख्या विस्फोट का विशिष्ट या तकनीकी अर्थ होता है। सामान्य अर्थ में जनसंख्या विस्फोट से आशय जनसंख्या विकास में बहुत तीव्र गति से बढ़ना होता है। **आर्थिक क्षेत्र में यह विचार उस अवस्था को बताता है जिसमें कि जन्म दर लगभग स्थिर रहती है किन्तु मृत्यु दर में तीव्र कमी हो जाती है और इस प्रकार जन्म दर और मृत्यु दर में बहुत अधिक अन्तर हो जाता है जिसके फलस्वरूप जनसंख्या विस्फोट का रूप में बढ़ती है।**

जनसंख्या विकास की विभिन्न अवस्थाओं का विश्लेषण
(Analysis of the Stages of Population Growth)

जनसंख्या संक्रमण सिद्धान्त के अनुसार जनसंख्या का विकास **चार अवस्थाओं** में होकर होता है जिनका विस्तृत विवेचन इस प्रकार है

1 **कृषि सम्बन्धी व पिछड़ी हुई अर्थ व्यवस्था में जनसंख्या विकास** अर्थ व्यवस्था में इस अवस्था में जन्म दर व मृत्यु दर दोनों ऊंची होती है उनमें स्थिरता होती है और वे एक दूसरे के काफी निकट होती हैं अर्थात् दोनों में अन्तर बहुत कम होता है। अतः जनसंख्या वृद्धि दर निम्न होता है।

2 **आर्थिक विकास प्रक्रिया के प्रारम्भ की अवस्था** आर्थिक विकास की इस अवस्था में मृत्यु दर में तीव्र कमी हो जाती है जबकि जन्म दर या प्रजनन दर ऊंची बनी रहती है। इस प्रकार दोनों दरों में एक बड़ा अन्तर हो जाता है और जनसंख्या तीव्र गति से बढ़ने लगती है।

इस अवस्था में आर्थिक विकास की प्रक्रिया शुरू हो जाने के कारण सामाजिक तथा आर्थिक दशाओं में सामान्य सुधार हो जाता है जिससे मृत्यु दर में तीव्र कमी हो जाती है।

साराशतः इस अवस्था में जन्म दर में कमी में विलम्ब होता है अपेक्षाकृत मृत्यु दर में कमी के। यह विलम्ब ही जनसंख्या में विस्फोटक स्थिति उत्पन्न करता है।

3 विकासशील अर्थव्यवस्था की अवस्था जब अर्थव्यवस्था आर्थिक विकास की एक ऊँची अवस्था म पहुँच जाती है तो समाज म आर्थिक जीवन स्तर म सुधार होने लगता है। पौष्टिक आहार तथा चिकित्सा सुविधाओं म वृद्धि के परिणामस्वरूप मृत्यु दर म काफी कमी आ जाती है। इस अवस्था म लोग परिवार को सीमित आकार को पसन्द करते हैं। अत जन्म दर म भी कमी हो जाती है। इस प्रकार निम्न जन्म-दर तथा निम्न मृत्यु-दर के परिणामस्वरूप जनसंख्या का विकास धीमी गति से होता है।

4 विकसित अर्थव्यवस्था इस अवस्था म आर्थिक विकास की बहुत ऊँची स्थिति प्राप्त हो जाती है। आय एव रोजगार का स्तर भी ऊँचा हो जाता है। इस अवस्था म जीवन-स्तर ऊँचे होने शिक्षा का स्तर बढ़ने तथा जन्म दर का नियन्त्रित करने म कृत्रिम साधनो क प्रयोग होन क कारण जन्म दर म और कमी हो जाती है। मृत्यु दर भी इस अवस्था म नीची हो जाती है। अत समाज म जनसंख्या वृद्धि विकासानुकूल रहती है। जनसंख्या की समस्या नहीं रहती। जनसंख्या विकास की उपर्युक्त चारो अवस्थाओं को निम्न रेखाचित्र द्वारा भी स्पष्ट कर सकते हैं
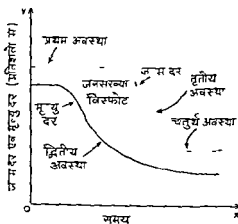
चित्र स० 50

इस रेखाचित्र स स्पष्ट होता है कि द्वितीय अवस्था म जनसंख्या विस्फोट की अवस्था है। चतुर्थ अवस्था म जनसंख्या का विकास स्थायी हो जाता है।

इस प्रकार यह सिद्धान्त सरल तथा औद्योगिक व उन्नत देशो क वास्तविक अनुभवो पर आधारित है। यह सिद्धान्त सारांश रूप म तीन पक्षो की ओर ध्यान दिलाता है

1 मृत्यु-दर म कमी होन का विश्लेषण
2 मृत्यु दर म कमी की तुलना म जन्म-दर म कमी क सम्बन्ध म समय विलम्ब रहता है।
3 जन्म दर म कमी का विश्लेषण।

जनसंख्या का शुद्ध पुनरुत्पादन दर का सिद्धान्त
अथवा
जनसंख्या का आधुनिक सिद्धान्त
(*Theory of Net Reproduction Rate*)
or
(Modern Theory of Population)

जनसंख्या के इस सिद्धान्त का प्रतिपादन प्रसिद्ध अर्थशास्त्री **कुजिस्की** (Kuzcynsky) ने किया। जनसंख्या का यह सिद्धान्त जनसंख्या मापने की रीति पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है। प्रो० पर्ल ने जन्म मृत्यु दर **वाइटल इण्डक्स** (Pearl s Vital Index) की सहायता से जनसंख्या की भावी प्रवृत्ति को मापने का प्रयास किया था किन्तु यह उतना सन्तोषजनक तथा उपयुक्त प्रतीत नहीं होता जितना बाह्य रूप से प्रतीत होता है। इसीलिए प्रो० कुजिस्की ने स्पष्ट किया कि किसी देश में जनसंख्या को वाइटल इण्डक्स के द्वारा मापना असम्भव है। अतः उन्होंने शुद्ध पुनरुत्पादन दर सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

सिद्धान्त का कथन एवं विश्लेषण प्रो० कुजिस्की ने अपने शब्दों में स्पष्ट किया कि **किसी देश में जनसंख्या की वृद्धि या कमी देश में जन्म एवं मृत्यु दर के अन्तर पर निर्भर नहीं करती बल्कि यह उन स्त्रियों की संख्या पर निर्भर करती है जो बच्चे पैदा करने की अवस्था में पहुँच चुकी हैं।** इसीलिए इस सिद्धान्त के अनुसार जनसंख्या विकास की स्थिति का ज्ञान जनसंख्या की **शुद्ध पुनरुत्पादन दर** से हो सकता है।

शुद्ध पुनरुत्पादन दर वह दर है जिस पर कोई स्त्री अपने आप को पुनरुत्पादित करती है।

शुद्ध पुनरुत्पादन दर की गणना में ध्यान देने योग्य बातें

इस दर की गणना करने में निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना आवश्यक है

1 उन स्त्रियों की संख्या ज्ञात की जाती है जो सन्तान उत्पन्न के आयु वर्ग में आती है। अन्य शब्दों में 15 से 45 वर्ष या 15 से 50 वर्ष की उम्र वाली स्त्रियों की गणना की जाती है।

2 इस आयु-वर्ग की स्त्रियों के कितनी लड़कियाँ होने की सम्भावना है।

3 पैदा होने वाली लड़कियों में से सन्तानोत्पत्ति की आयु प्राप्त करने के पहले ही मरने वाली लड़कियों की संख्या तथा अविवाहित रहने वाली स्त्रियों की संख्या तथा सन्तान उत्पन्न की आयु में विधवा होने वाली और पुनर्विवाह न करने वाली स्त्रियों की संख्या की गणना की जाती है।

4 दूसरे (2) क्रम की संख्या में से तीसरे (3) क्रम की संख्या घटाओ। शेष स्त्रियों की संख्या वह संख्या होगी जो लड़कियों के रूप में सन्तान उत्पन्न करेंगी।

5 चौथे (4) क्रम का पहले (1) क्रम के साथ जो अनुपात है वही अनुपात शुद्ध पुनरुत्पादन दर होती है।

उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण शुद्ध पुनरुत्पादन दर सिद्धान्त से जनसंख्या की तीन स्थितियाँ—स्थिरता, जनाभाव तथा जनाधिक्य—हो सकती हैं। प्रारम्भ में यदि हम यह मान लें कि 1 000 औरतें 1,000 लड़कियों को जन्म देती हैं जो सन्तानोत्पादन आयु (15 से 45-50 वर्ष) तक जीवित रहती हैं तो वास्तविक पुनरुत्पादन दर 1 होगी जो यह व्यक्त करेगी कि जनसंख्या स्थिर है। यदि 1 000 औरतें 1 000 लड़कियाँ पैदा करती हैं जिनमें से 800 ही सन्तानोत्पादन की आयु में जीवित रहती हैं तो यह दर 1 से घटकर $\frac{800}{1000} = 0\ 8$ हो जायगी जो जनाभाव की स्थिति को व्यक्त करती है। परन्तु यदि सन्तान पैदा करने वाली 1 000 औरतों की पूर्ति 1 200 औरतों द्वारा हो जाती है तो पुनरुत्पादन दर $\frac{1200}{1000} = 1\ 2$ हो जायगी जिससे यह ज्ञात होगा कि जनसंख्या में वृद्धि हो रही है।

सिद्धान्त का मूल्यांकन (Evaluation of the Theory)

1 इस सिद्धान्त में 'सन्तानोत्पादन क्षमता' तथा वास्तविक सन्तानोत्पत्ति में अन्तर की जानकारी प्राप्त होती है। मानव की सन्तानोत्पत्ति की शक्ति अपार होने के बावजूद भी लड़कियों की कुसमय में मरने, शादी न करने, विधवा विवाह न करने, सन्तति निरोध के कृत्रिम साधनों के प्रयोग करने आदि के कारण सन्तानोत्पत्ति दर कम होती है। इस प्रकार यह सिद्धान्त सन्तानोत्पत्ति क्षमता तथा वास्तविक सन्तानोत्पत्ति में भेद स्पष्ट करता है।

2 अधिकांश विकसित राष्ट्रों में शुद्ध पुनरुत्पादन दर एक के बराबर या एक से कम है जो जनसंख्या की स्थिरता की प्रवृत्ति को बतलाता है। इस प्रकार यह सिद्धान्त जनसंख्या में वृद्धि, कमी तथा स्थिरता की तीनों स्थितियों को बतलाता है तथा माल्थस की इस बात का खण्डन करता है कि जनसंख्या में तेजी से बढ़ने की प्रवृत्ति होती है।

3 इस सिद्धान्त के द्वारा जनसंख्या विकास को मापने की विश्वसनीय तथा उपयुक्त विधि उपलब्ध होती है। इससे जनसंख्या वृद्धि के नियन्त्रण में सफलता प्राप्त की जा सकती है।

4 यह जनसंख्या का सिद्धान्त न होकर जनसंख्या विकास को मापने की विधि है। यह जनसंख्या के अन्य पहलुओं पर तो विचार ही नहीं करता।

जनसंख्या की वृद्धि को ज्ञात करने की अन्य विधियाँ

जनसंख्या की वृद्धि को ज्ञात करने की अन्य विधियाँ भी प्रयोग में लायी जाती हैं जिनमें पर्ल का वाइटल इंडेक्स (Pearls Vital Index) की विधि विशेष रूप से उल्लेखनीय है

(अ) पर्ल का वाइटल इंडक्स (Pearl s Vital Index)

इस विधि के द्वारा जनसंख्या म वद्धि या कमी को बच्चा के जन्म तथा उनकी मृत्यु की दरा के आधार पर ज्ञात किया जाता है। प्रो० पर्ल के अनुसार जनसंख्या हमेशा बहुत तेजी स नही बढ़ती है। यदि किसी देश म अधिक बच्चे उत्पन्न हो रहे हैं परन्तु उनकी मृत्यु दर कम है तो निश्चित ही वहा जनसंख्या बढ़ेगी। परन्तु यदि बच्चा की जन्म दर कम हो और उनकी मृत्यु दर अधिक हो तो जनसंख्या घटेगी। यदि बच्चा की जन्म दर तथा मृत्यु दर समान हो अर्थात् जितने बच्चे जन्म लेते हो उतने ही मर जाते हों तो जनसंख्या स्थिर रहेगी। इस प्रकार इस सिद्धान्त के आधार पर जनसंख्या का यदि ग्राफ पर दिखाया जाय तो अंग्रेजी अक्षर S के आकार की एक रेखा बनगी जिसे लाजिस्टिक रेखा (Logistic Curve) कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार आर्थिक दृष्टि स श्रम की पूर्ति के सम्बन्ध म यह ज्ञात किया जा सकता है कि यदि जन्म लेन वाले बच्चे एक निश्चित आयु तक नहीं मरते तो श्रम बाजार म एक निश्चित समय के पश्चात् नये श्रमिकों की वद्धि किस सीमा तक हो सकती है? जब किसी देश म चिकित्सा सुविधाओं के विकास तथा औषधि विज्ञान की प्रगति के कारण शिशु मरणशीलता (Infantile Mortality) कम होती है तब तक निश्चित अवधि के पश्चात् देश म जनसंख्या अधिक होगी।

आलोचना एव दोष जनसंख्या म कमी व वद्धि को ज्ञात करने की यह विधि दोषपूर्ण है। इस विधि के अन्तगत जनसंख्या म कमी या वद्धि के सम्बन्ध म निकाले गये निष्कर्ष निश्चित रूप म ठीक नहीं होते क्योंकि यह सिद्धान्त इस पक्ष पर ध्यान नहीं देता कि कितने बच्चे शिशु मरणशीलता की आयु पार कर जाते हैं तथा व उस आयु पर पहुच जाते हैं जिस पर व बच्चे उत्पन्न कर सकें। हो सकता है कि वे शिशु मरणशीलता की आयु तो पार कर लें परन्तु बच्चे उत्पन्न करने की आयु प्राप्त करने के पूर्व ही उनकी मृत्यु हो जाय। वाइटल इंडक्स विधि इस तथ्य पर ध्यान नही देती।

जनसंख्या तथा श्रम-पूर्ति
(Population and Labour Supply)

जनसंख्या के सम्बन्ध म नवीनतम विचारधारा के अन्तर्गत इस तथ्य एव समस्या पर विचार किया जाता है कि किसी देश की जनसंख्या म सक्रिय श्रम की पूर्ति किस सीमा तथा अनुपात म की जाती है और देश की अर्थ व्यवस्था का किस सीमा तक विकसित किया जाय ताकि श्रम की उत्पादकता का अधिकतम किया जा सके? इसी आधार पर नियोजित अर्थ-व्यवस्था का ढाचा खड़ा किया जाता है रोजगार के अधिक स अधिक स्रोतों का विकास किया जाता है तथा श्रम की सहायता स राष्ट्रीय तथा व्यक्तिगत आय को अधिकतम करने के प्रयत्न किये जाते हैं।

अर्थशास्त्रियों ने जनसंख्या की समस्या के अध्ययन म विशेष रुचि इसलिए दिखायी है कि वह श्रम शक्ति का स्रोत है। जनसंख्या म वद्धि होने पर ही एक

निश्चित अवधि के पश्चात् श्रमिकों की संख्या में वृद्धि सम्भव है। इसी तथ्य के आधार पर जनसंख्या तथा अर्थ व्यवस्था में सन्तुलन एवं समन्वय स्थापित करने के लिए जनसंख्या नीति तथा आर्थिक नीति निर्धारित की जाती है। जनसंख्या का आर्थिक विकास से घनिष्ट सम्बन्ध है। किसी समय विशेष में एक देश की जनसंख्या पर वहाँ की अर्थ व्यवस्था का प्रभाव पड़ता है। इसके साथ ही साथ जनसंख्या सम्बन्धी समस्याएं उस देश के आर्थिक विकास की नीति का निर्धारित करने में सहायक होती है। इन दोनों ही दृष्टिकोणों का समन्वय जनाधिक्य परिवर्तन के सिद्धान्त में किया गया है और इस सिद्धान्त के अनुसार ही अब जनसंख्या की समस्या का अध्ययन किया जाता है।

जनसंख्या की वृद्धि तथा आर्थिक विकास
(Population Growth and Economic Development)

किसी भी देश के आर्थिक विकास में जनसंख्या वृद्धि का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। जनाभाव तथा जनाधिक्य दोनों ही स्थिति आर्थिक विकास में बाधक होती है।

जनाभाव तथा आर्थिक विकास
(Under Population and Economic Development)

जनाभाव की स्थिति से आशय यह है कि जनसंख्या देश के उत्पादक साधनों के पूर्ण शोषण के लिए अपर्याप्त है। प्रो० हिक्स (Hicks) के अनुसार जनाभाव एक देश की अर्थ व्यवस्था के विकास में निम्न दो प्रकार से बाधक होता है

1 देश में एसे अनेक निर्माण-कार्य होते है जिनमें श्रम की काफी आवश्यकता होती है उदाहरण के लिए रेलों पुलों, सड़कों आदि के निर्माण में। यदि जनाभाव होता है तो इनका निर्माण-कार्य या तो सम्भव नहीं हो पायगा या निर्माण बहुत धीमी गति से होगा।

2 जनाभाव के कारण देश में विशिष्टीकरण तथा बड़े पैमाने के उत्पादन के कार्य में भी बाधा आती है तथा औद्योगिक वस्तुओं के बाजार संकीर्ण होने से देश के उत्पादन को प्रोत्साहन नहीं मिल पाता है।

किन्तु प्रो० हिक्स का यह भी कहना है कि जनाभाव के उपयुक्त दोष एक सीमा तक व्यापार से कम हो सकते हैं। एक जनाभाव वाला देश कुछ वस्तुओं के उत्पादन में स्थिति के अनुसार विशिष्टीकरण कर सकता है तथा उत्पादन आधिक्य को अन्य देशों को बेचकर उन देशों से वे वस्तुएं प्राप्त कर सकता है जिनका उत्पादन वह स्वयं नहीं करता है। किन्तु यह उल्लेखनीय है कि विदेशी व्यापार द्वारा विशिष्टीकरण एक सीमा तक ही बढ़ाया जा सकता है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि एक सीमा तक जनसंख्या में वृद्धि होना आवश्यक है ताकि सम्बन्धित देश के निर्माण कार्यों को क्रियान्वित किया जा सके। इससे बड़े पैमाने के उद्योग व विशिष्टीकरण भी सम्भव हो सकेगा।

जनाधिक्य तथा आर्थिक विकास
(Over Population and Economic Development)

किसी देश के आर्थिक विकास म जनाधिक्य की स्थिति भी अनेक प्रकार से बाधा उत्पन्न करती है जिनका विवरण इस प्रकार है

1 जनाधिक्य के साथ-साथ उत्पादन क्षेत्र म उत्पत्ति ह्रास नियम (Law of Diminishing Returns) लागू होने के कारण उत्पादन म भी कमी होने लगती है।

2 जनाधिक्य के कारण जीवन स्तर म भी ह्रास होने लगता है जिसके परिणामस्वरूप लोगो को भीषण गरीबी और कठिनाइयो का सामना करना पडता है।

3 जनाधिक्य के कारण देशवासियो की औसत प्रति व्यक्ति आय बहुत कम होती है जिससे उनकी बचत शक्ति कम हो जाती है और पूंजी निर्माण म भी बाधा उपस्थित हो जाती है।

इस प्रकार जनाधिक्य की स्थिति भी आर्थिक विकास क क्षेत्र म अत्यधिक कठिनाइया प्रस्तुत करती हैं। किन्तु जनाधिक्य की यह कठिनाई अविकसित तथा अर्द्ध विकसित देशो म ही लागू होती है। विकसित देशो मे तो इससे लाभ ही मिलता है क्योकि जनसख्या वृद्धि स वहा बडे पमाने की बचत प्राप्त होने लगती है।

अविकसित अर्थव्यवस्था मे जनसख्या की समस्या

अविकसित अर्थव्यवस्था वह है जिसमे मनुष्य केवल जीवित रहने के लिए कृषि व प्राथमिक उद्योग को ही महत्त्व देता है। अर्थव्यवस्था की रूढिवादिता एव पुरानी परम्पराओ को अधिक महत्त्व दिया जाता है और मनुष्य भाग्यवादी होता है। वह कृषि के अतिरिक्त अन्य किसी उद्योग का विकास स्वय करने के लिए प्रयत्नशील नही रहता। राष्ट्रीय आय कम होती है और प्रति व्यक्ति आय न्यूनतम रहती है। बौद्धिक वज्ञानिक तथा आर्थिक विकास न होने के कारण शारीरिक श्रम द्वारा ही आय की वृद्धि सम्भव हो पाती है। पारिवारिक आय तथा सुरक्षा के लिए परिवार म अधिक सदस्यो का होना आवश्यक हो जाता है जिसस देश म जन्म दर अधिक होती है। परन्तु जीवन-स्तर नीचा होने के कारण तथा बडे परिवार के लिए पर्याप्त मात्रा म जीवन निर्वाह के साधन न होने के कारण नैसर्गिक अवरोध कार्यशील रहते हैं जिसम मृत्यु दर भी अधिक रहती है। इस प्रकार अविकसित अर्थ यवस्था से (1) जन्म दर तथा मृत्यु दर दोनो ही अधिक होती हैं (2) पारिवारिक आय म वृद्धि करने के लिए लोग कम उम्र से ही उत्पादन कार्यों म सक्रिय रूप मे भाग लेने लगते हैं (3) जनसख्या म शिशुओ का अनुपात अधिक होता है यद्यपि जनसख्या शीघ्र बढती जाती है परन्तु मृत्यु दर अधिक होने के कारण कार्यशील आयु (15-60) वाले अधिक लोग जीवित नही रहते जिसम जनसख्या म

कार्यशील श्रम शक्ति का अभाव रहता है (4) स्त्रियां आर्थिक क्रियाओं में भाग नहीं लेतीं जिससे देश के उत्पादक श्रम का भाग व्यर्थ चला जाता है (5) जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि होने से प्रति व्यक्ति आय और भी घटती जाती है जिसके फलस्वरूप बचत का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। बचत न होने के कारण देश के आर्थिक विकास के लिए आवश्यक पूँजी का निर्माण करना कठिन हो जाता है तथा (6) मनुष्य का औसत जीवन काल कम होने के कारण देश में श्रम शक्ति कम रहती है।

प्रश्न तथा संकेत

1 माल्थस के सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए तथा उसकी सीमाएँ बताइए।

Critically examine the Malthusian Theory of Population What are its limitations ?

[संकेत—प्रश्न को तीन भागों में विभक्त कर प्रथम भाग में माल्थस का जनसंख्या पर विचार प्रस्तुत कीजिये। द्वितीय भाग में इसकी आलोचना दीजिए और तीसरे भाग में माल्थस के सिद्धान्त की व्यावहारिकता पर प्रकाश डालिए।]

2 अनुकूलतम जनसंख्या के सिद्धांत को बताइए तथा उसकी विवेचना कीजिए।

Explain Optimum Theory of Population and discuss it

[संकेत—सर्वप्रथम अनुकूलतम जनसंख्या के सिद्धान्त का अर्थ बताइये। द्वितीय भाग में इसकी प्रमुख आलोचनाएँ बताते हुए निष्कर्ष दीजिए।]

3 माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त निराशावादी है तथा अनुकूलतम जनसंख्या का सिद्धान्त आशावादी है। परन्तु उनमें से कोई भी एक पूर्ण जनसंख्या का सिद्धांत नहीं है।' इस कथन की विवेचना कीजिए।

The Malthusian Theory of Population in pessimistic and Optimum Theory of Population is optimistic but none of them is an adequate theory of population Discuss

[संकेत—सर्वप्रथम माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए। द्वितीय भाग में अनुकूलतम जनसंख्या के सिद्धान्त की संक्षिप्त विवेचना कीजिए। तृतीय भाग में दोनों सिद्धान्तों की तुलना कीजिए। अन्त में निष्कर्ष दीजिए और बताइए कि दोनों ही सिद्धान्त अपूर्ण हैं।]

4 एक देश की जनसंख्या के विकास तथा उसके आर्थिक विकास के बीच सम्बन्ध की व्याख्या कीजिए।

Examine the relation between the growth of population of a country and its economic development

[संकेत—प्रश्न म जनसख्या वद्धि का आर्थिक विकास के साथ सम्ब ध स्पष्ट कीजिए।]

5 जनांकिकीय संक्रमण सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।

Explain the Theory of Demographic Transition

6 जनसख्या के विशुद्ध पुनरुत्पादन दर सिद्धान्त की विस्तार पूर्वक आलोच नात्मक समीक्षा कीजिए।

Discuss critically in detail the Net Reproduction Rate Theory of Population

7 जनसख्या क जैवकीय सिद्धान्त का आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए।

Critically examine the Logistic Curve Theory of Population

8 जनसख्या की समस्या केवल आकार का ही नहीं वरन् कुशल उत्पादन तथा न्यायोचित वितरण की समस्या है। इस कथन की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

The problem of population is not merely of size but also of efficient production and equitable distribution Examine critically

9 अनुकूलतम जनसख्या क सिद्धान्त को समझाइए। क्या यह माल्थस के सिद्धान्त स उत्तम है?

Explain the Optimum Theory of Population to it better than the Malthusian Theory ?

23

पूँजी तथा पूँजी निर्माण
(Capital and Capital Formation)

> The proximate causes of economic growth are the effort to economize the accumulation of knowledge and its application and the accumulation of capital
>
> —*Arthur Lewis*

पूंजी वर्तमान उत्पादन-व्यवस्था का आधार है। बड़े पैमाने पर उत्पादन नयी तथा आधुनिक तकनीकी विधियों का प्रयोग विशिष्टीकरण तथा उन्नत एवं वैज्ञानिक उत्पादन प्रणाली पूँजी के बिना सम्भव नहीं हैं। इसीलिए वर्तमान उत्पादन को पूँजीमूलक उत्पादन कहते हैं। चाहे किसी भी प्रकार की अर्थ व्यवस्था हो (पूँजीवादी या समाजवादी) पूँजी के अभाव में आधुनिक उत्पादन सम्भव नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं है कि आर्थिक विकास के लिए पूँजी ही सब कुछ है। पूँजी आर्थिक विकास के लिए आवश्यक तत्त्व है परन्तु पर्याप्त तत्त्व नहीं है।[1]

पूँजी का अर्थ
(Meaning of Capital)

सामान्यतया लोग पूँजी शब्द का प्रयोग धन या सम्पत्ति के अर्थ में करते हैं, परन्तु अर्थशास्त्र मे इस शब्द का प्रयोग कई अर्थों मे किया जाता है। पहले के अर्थशास्त्री पूँजी के स्थान पर स्टाक (Stock)[2] शब्द का प्रयोग करते थे। एडम स्मिथ के अनुसार पूँजी स्टाक का वह भाग है जिससे कोई व्यक्ति आय प्राप्त करने की आशा करता है। प्रो० मार्शल के अनुसार प्रकृति की निःशुल्क देन के अतिरिक्त वह समस्त सम्पत्ति जिससे आय प्राप्त होती है पूँजी कहलाती है।

---

1 Capital is a necessary but not a sufficient condition of progress
—*Nurkse*

2 स्टॉक का अभिप्राय पुराने अर्थशास्त्रियों के अनुसार उत्पादक के लिए उपभोग सम्बन्धी वस्तुओं यन्त्र औजार तथा मुद्रा से है।

चपमैन (Chapman) के अनुसार "पूँजी धन का वह भाग है जिससे आय प्राप्त होती है अथवा जो आय प्राप्त करने मे सहायक होता है अथवा ऐसा करने के लिए उपयोग मे लाया जाता है।" प्रोफेसर बेनहम ने पूँजी शब्द का प्रयोग विस्तृत अर्थ म किया है। उनके शब्दो म वतमान समस्त पूँजी (प्रकृति के मौलिक उपहार के अतिरिक्त) पिछले वर्षो की उत्पत्ति का भाग है। वह मृतकाल की उत्तराधिकार म मिली सम्पत्ति (Heritage) है। यह वह उत्पादन है जिसका अभी तक प्रयोग नहीं किया गया है जिसको बेकार समझकर परित्याग नही कर दिया गया है और जिसका अभी तक उपयोग भी नही किया गया है। सामाजिक उत्पादन म से सामाजिक उपभोग को घटाने के पश्चात शेष अश को ही एक समाज की निर्मित पूँजी अथवा बचत या उसका विनियोग कहते है।[1] फिशर के अनुसार पूजी वह सम्पत्ति है जो मनुष्य द्वारा किये गये पहले के श्रम का परिणाम है परन्तु जिसका उपयोग साधन के रूप म अधिक धन उत्पादन के लिए किया जाता है। (Capital is the product of past labour but which is used as means of further production) बाह्म बावर्क (Bohm Bawark) ने मनुष्य के श्रम द्वारा उत्पादित होने के कारण पूँजी को उत्पादन का उत्पादित साधन' (*Produced means of production*) माना है।

कुछ अन्य अर्थशास्त्रियो ने भी पूँजी की निम्नलिखित परिभाषा दी है

प्रो० हिक्स (Hicks) के मतानुसार पूँजी मे किसी समय विशेष पर उपस्थित वे सभी वस्तुए एव सेवाए सम्मिलित होती है जिन्ह भविष्य की आवश्यकताओ की सन्तुष्टि हेतु उपयोग म लाया जाता है।

प्रो० स्टोनियर तथा हेग ने भी लगभग इन्ही बातो को दोहराया है जो बाह्म बावर्क ने कहा है। उनके अनुसार पूँजी शब्द का प्रयोग उत्पादन के उन सभी उपकरणो के लिए किया जाता है जिन्हे मनुष्य जान-बूझ कर भविष्य म उत्पादन उद्देश्य से बनाता है।

पूजी की उपयुक्त परिभाषाओ स ज्ञात होता है कि पूजी के निम्नलिखित मुख्य तत्त्व हैं

(1) पूँजी प्रकृति का निशुल्क उपहार नहीं है। यह मनुष्य द्वारा निर्मित या उत्पादित होती है।

---

1 All our present capital (apart from any original gifts of nature) formed *part of the output of some former years* It is a heritage from the past It is output which has not yet been used up discarded consumed The capital formation or investment or saving of a community during any year is its output during that year *minus* its consumption during that

—*Benham*

(ii) पूँजी मनुष्य के पूर्व श्रम का फल है जिसका प्रयोग अधिक धन का उत्पादन करने के लिए किया जाता है।

(iii) सभी पूँजी सम्पत्ति है, परन्तु वे सभी वस्तुएं जो सम्पत्ति कहलाती है पूँजी नहीं हैं। सम्पत्ति का वह भाग ही पूँजी है जो अतिरिक्त सम्पत्ति या धन का उत्पादन करने के लिए प्रयोग में लाया जाता है।

पूँजी के भेद
(Kinds of Capital)

पूँजी एक विस्तृत शब्द है क्योंकि पूँजी का प्रयोग भिन्न भिन्न कार्यों के लिए किया जाता है। उत्पादन कार्य में ही इसका प्रयोग कई प्रकार से किये जाने के कारण इसके निम्नलिखित भेद किये गये हैं

1 स्थायी पूँजी (Fixed Capital) इसके अन्तर्गत समस्त स्थायी अचल तथा टिकाऊ सम्पत्तियाँ जैसे फैक्टरी गोदाम कार्यालय दुकान यन्त्र एवं कल औजार कृषि-यन्त्र एवं उपकरण परिवहन तथा सन्देश-वाहन के साधन आदि जो विभिन्न उद्योगों एवं व्यापारों में स्थायी रूप से प्रयोग में लाये जाते हैं सम्मिलित हैं। मिल (Mill) के अनुसार अचल या स्थायी पूँजी वह है जो टिकाऊ होती है तथा जिससे कुछ समय तक बराबर आय मिलती रहती है।[1]

2 चल पूँजी (Floating Capital) के अन्तर्गत उन समस्त वस्तुओं को शामिल किया जाता है जो वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन करने के लिए एक ही बार प्रयोग में आने के बाद अपना रूप परिवर्तित कर देती हैं जैसे कच्चा माल इंधन उत्पादन विधियों में प्रयुक्त अर्द्धनिर्मित वस्तुएं उत्पादकों तथा व्यापारियों के पास कच्चे माल अर्द्धनिर्मित वस्तुओं का स्टाक आदि। इस प्रकार मिल (Mill) के अनुसार चल पूँजी वह है जो उत्पादन में एक ही बार के प्रयोग से उत्पादन में अपना सारा कार्य समाप्त कर लेती है।[2]

3 कार्यशील पूँजी (Working Capital) का अभिप्राय उस मुद्रा से है जिसका उपयोग उत्पादक द्वारा व्यवसाय चलाने के लिए किया जाता है।

4 उत्पादन तथा उपभोग पूँजी (Production and Consumption Capital) अतिरिक्त धन के उत्पादन में सहयोग देने वाली पूँजी उत्पादक पूँजी

---

1 Fixed capital is that which exists in durable shape and the return to which is spread over a period of corresponding duration

—*Mill*

2 Circulating capital is that which fulfils the whole of its office in production in which it is engaged by a single use

—*Mill*

कहलाती है। अत वे सभी वस्तुए जो उत्पादन कार्य में श्रम की सहायता करती हैं जैसे मशीन कच्चा माल आदि पूँजी के अन्तर्गत आती हैं। इसके विपरीत श्रमिकों की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली वस्तुए जो अप्रत्यक्ष रूप में उत्पादन कार्य में सहायक होती हैं उपभोग पूजी कहलाती है।

इनके अतिरिक्त उपभोक्ताओं के पास की टिकाऊ वस्तुएँ तथा उपभोक्ताओं द्वारा संग्रह की गयी उपभोग वस्तुओं को भी पूँजी कहा जा सकता है। बेनहम का यह विचार है कि उपभोक्ताओं के पास का समस्त सम्पत्तियां चाहे वे टिकाऊ एव अचल हो या न हो यदि मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए प्रयोग में लायी जाती हैं और यदि उनका मूल्य मुद्रा के मापदण्ड से निर्धारित किया जा सकता है तो इनको धन या पूजी की संज्ञा दी जा सकती है। इस आधार पर उपभोक्ताओं के मकान मोटरकार टेलिविजन फर्नीचर यहाँ तक कि पहनने के कपड़े तथा संग्रहीत खाद्य पदार्थों को भी पूँजी के अन्तर्गत शामिल किया जा सकता है परन्तु व्यावहारिक दृष्टिकोण से इनको पूजी कहना उपयुक्त नहीं है।

5 भौतिक तथा व्यक्तिगत पूजी (Material and Per onal Capital) वह पूँजी जो मूर्त (Concrete) तथा स्थूल (Tangible) रूप में मौजूद रहती है तथा जो विनिमय साध्य होती है अर्थात् एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को हस्तान्तरित की जा सकती है जैसे मशीन औजार माल आदि भौतिक पूँजी कहलाती है। व्यक्तिगत पूजी का अर्थ मनुष्य के व्यक्तिगत गुणों से है जो अमूर्त तथा अहस्तान्तरणीय (Non transferable) होते हैं। इस पूजी के अन्तर्गत श्रमिकों की कार्यकुशलता तथा व्यक्तियों की योग्यताएं सम्मिलित की जाती हैं।

6 विशिष्ट तथा अविशिष्ट पूजी (Specialised and Non Specialised Capital) वह पूजी जो किसी कार्य विशेष के लिए ही प्रयोग में लायी जाती है जैसे रेल का इंजिन विशिष्ट पूजी (Speciali ed or sunk capital) कहलाती है। चूकि इस पूजी को किसी अन्य कार्य के लिए प्रयोग में नहीं लाया जा सकता इसलिए इसको एक अर्थी पूँजी भी कहा जाता है। परन्तु उस पूँजी को जो कई कामों में प्रयोग की जा सकती है जैसे नकद रुपया बहु अर्थी या अविशिष्ट पूँजी (Floating or non specialised) पूँजी कहते हैं। अविशिष्ट पूजी अधिक गतिशील होती है क्योंकि इसको कहीं पर किसी भी काम में लगाया जा सकता है।

7 पारिश्रमिक पूजी तथा सहायक पूजी (Remunerative Capital and Subsidiary Capital) श्रमिकों को दी गयी नकद मजदूरी पारिश्रमिक पूजी (Remunerative Capital) कहलाती है। वह पूँजी जो उत्पादन कार्य में सहायक होती है सहायक पूजी (Subsidiary Capital) कहलाती है जैसे मशीन औजार आदि।

8 व्यक्तिगत पूँजी (Individual Capital) सामाजिक पूँजी (Social Capital) राष्ट्रीय पूँजी (National Capital) तथा अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी (International Capital) अधिकार के आधार पर वह पूँजी जिस पर किसी एक व्यक्ति का अधिकार होता है व्यक्तिगत पूँजी कहलाता है जैसे मकान फर्नीचर आदि। उस पूँजी को जिस पर सारे समाज का अधिकार होता है जैसे सडक पार्क आदि सामाजिक पूँजी कहते है। राष्ट्र के अधिकार में रहने वाली सम्पत्तियाँ तथा व्यक्तिगत एव सामाजिक पूँजी राष्ट्रीय पूँजी कही जाती है। परन्तु जब किसी पूँजी पर किसी एक राष्ट्र का अधिकार नहीं होता बल्कि सभी राष्ट्रों का अधिकार होता है जैसे एक निश्चित सीमा के बाद वायु मार्ग समुद्री मार्ग आदि तो उसे अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी कहते है।

9 स्वदेशी तथा विदेशी पूँजी (Internal and Foreign Capital) देश के साधनों से अर्जित पूँजी जिस पर देशवासियों का व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप में अधिकार होता है आन्तरिक पूँजी कहलाती है। इसके विपरीत जो पूँजी विदेशों से प्राप्त की जाती है वह विदेशी पूँजी कहलाती है।

अत अर्थशास्त्र में उन समस्त सम्पत्तियों या उस धन को ही पूँजी कहना ठीक होगा जो वस्तुओं तथा सेवाओं के उत्पादन में सहायक हो। इस प्रकार मशीन भवन परिवहन के साधन कच्चा माल अर्द्ध निर्मित वस्तुएँ ईंधन का स्टॉक तथा सार्वजनिक या सामाजिक उपयोग की सम्पत्तियाँ जैसे अस्पताल शिक्षण संस्थाएँ बाँध नहर गैस बिजलीघर बन्दरगाह आदि को पूँजी के अन्तर्गत सम्मिलित किया जाता है। ये सम्पत्तियाँ पूँजी इसलिए कही जाती हैं क्योंकि ये सब भूमि और श्रम के सम्मिलित प्रयत्न से प्राप्त की गयी हैं तथा इनका प्रयोग उत्पादन के साधनों के रूप में किया जाता है। यह प्रतिफल श्रमिकों के श्रम के सक्रिय सहयोग से ही प्राप्त होता है। अत कार्ल मार्क्स ने पूँजी को श्रम का ही फल माना है। परन्तु इस सम्बन्ध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि किसी भी पूँजीगत सम्पत्ति (Capital Assets) का उत्पादन या निर्माण पहले से निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आवश्यक एव निश्चित निर्णय के अनुसार ही किया जाता है। श्रम और भूमि के सम्बन्ध में इस प्रकार का कोई पूर्व निर्धारित निर्णय नहीं होता है। यही कारण है कि पूँजी को भूमि तथा श्रम से भिन्न माना गया है।

पूँजी तथा सम्पत्ति, मुद्रा, भूमि व श्रम में अन्तर (Difference between Capital and Property, Money, Land and Labour)

वर्तमान अर्थशास्त्रियों ने पूँजी का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया है तथा यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि पूँजी सम्पत्ति मुद्रा भूमि व श्रम से किस प्रकार भिन्न है। अग्रलिखित खण्ड में यह अन्तर स्पष्ट किया गया है

1 पूँजी तथा सम्पत्ति-सम्बन्धी अधिकार-पत्र या विलेख (Title of Ownership or Deed) सामान्यतया पूँजी के अन्तर्गत उन अधिकार पत्रों या विलेखों (Titles of Ownership or Deeds) को शामिल किया जाता है जो किसी आय का उत्पादन करने वाली पूंजीगत सम्पत्ति से सम्बन्धित हैं। इनके अतिरिक्त पूंजी का अभिप्राय ऋण-पत्रों (Bonds) अंशों एवं स्टाक (Shares and Stock) प्रतिभूतियों (Securities) आदि से भी है। पूँजीवादी देश में पूँजीगत सम्पत्तियों पर व्यक्तिगत अथवा कम्पनी के अंशधारियों का अधिकार होता है। फर्म की सम्पत्तियों पर साझीदारों की पूंजी की मात्रा ही उनके स्वामित्व का परिचायक होती है। साम्यवादी तथा समाजवादी देश में देश की समस्त सम्पत्तियों या पूँजी पर राष्ट्र का अधिकार होता है।

परन्तु इस सम्बन्ध में दो बातों पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है प्रथम तो यह कि उत्पादन के सम्बन्ध में केवल वास्तविक पूंजीगत सम्पत्तियों (Real Capital Assets) को ही पूंजी माना जाता है क्योंकि उत्पादन के साधन के रूप में वास्तविक पूंजीगत सम्पत्तियों का ही प्रयोग किया जाता है न कि उनके अधिकार पत्रों का द्वितीय यह कि पूंजीगत सम्पत्तियों के अधिकार पत्रों के हस्तान्तरण या अंशों एवं ऋण पत्रों के क्रय विक्रय का अन्तिम लक्ष्य उत्पादन के लिए पूँजीगत सम्पत्तियों को प्राप्त करना ही होता है। उदाहरणार्थ यदि किसी वस्तु के उत्पादन के लिए बैंक से ऋण प्राप्त किया जाय तो प्राप्त धन को यन्त्र भवन कच्चा माल आदि में परिवर्तित कर लिया जायगा। केवल ऋण पूंजी से वस्तुओं का उत्पादन सम्भव नहीं हो सकेगा। पूंजी की गणना करते समय ऋण के लिए दी गयी स्वीकृति का अस्तित्व केवल हिसाब किताब के लिए ही होता है। उत्पादन के लिए उस ऋण से प्राप्त की गयी पूंजीगत सम्पत्तियों को ही पूंजी माना जायगा। इसी प्रकार अंशों तथा ऋण-पत्रों का निर्गमन करने पर प्राप्त धन से कम्पनी स्थायी तथा कार्यशील सम्पत्तियाँ क्रय करती है और अपनी पूंजी को वास्तविक पूँजीगत सम्पत्तियों में परिवर्तित कर लेती है। इन वास्तविक सम्पत्तियों की सहायता से ही औद्योगिक उत्पादन अथवा बड़े पैमाने पर व्यापारिक कार्य किया जाता है।

2 मुद्रा और पूंजी मुद्रा (Money) सम्पत्ति और धन (Wealth) का ही एक रूप है। व्यक्ति व्यक्ति-समूह कम्पनी अथवा राष्ट्र की पूंजीगत सम्पत्तियों के मूल्य मुद्रा में ही व्यक्त किये जाते हैं परन्तु उत्पादन के साधन के रूप में पूंजी और मुद्रा को एक नहीं माना जाता है। पूंजी का अर्थ वास्तविक पूंजीगत सम्पत्तियों से ही लगाया जाता है क्योंकि उत्पादन के लिए नकद धन या तरल सम्पत्ति (Liquid Assets) के रूप में मुद्रा कोई महत्त्व नहीं है। पूंजी के रूप में उसका वास्तविक प्रयोग तो उसे पूंजीगत सम्पत्तियों में परिवर्तित करके ही सम्भव हो पाता है।

3 भूमि और पूंजी कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि भूमि को पूंजी के अन्तर्गत ही सम्मिलित करना चाहिए। यह ठीक है कि भूमि प्रकृति का एक निःशुल्क उपहार है परन्तु उस पर समाज राष्ट्र या व्यक्ति का अधिकार होता है। उसके प्रयोग का अधिकार उसका मूल्य चुकाये बिना प्राप्त नहीं होता। अतः उसका मूल्य होने के कारण उसे पूंजी ही मानना चाहिए। इसके अतिरिक्त भूमि जिस रूप में प्राप्त होती है उसी रूप में उसका प्रयोग नहीं किया जाता। उसे उत्पादन के योग्य बनाने के लिए उस पर कुछ न कुछ धन व्यय करना पड़ता है। अतः वह मूल्यवान सम्पत्ति के रूप में पूंजी की श्रेणी में रखी जाती है। परन्तु जिन विद्वानों का यह मत है कि भूमि पूंजी नहीं है उनका यह कहना है कि भूमि प्रकृति की देन है जो नष्ट नहीं होती जबकि पूंजी मनुष्य के श्रम द्वारा पैदा होती है तथा नष्ट हो जाती है। भूमि के स्थायित्व के कारण भी उसे पूंजी से भिन्न माना गया है क्योंकि पूंजी में स्थान तथा उपयोग सम्बन्धी गतिशीलता दोनों ही हैं जबकि भूमि में इस गुण का अभाव है।

4 पूंजी तथा आय पूंजी तथा आय में भी अन्तर होता है। पूंजी आय प्राप्त करने का स्रोत है जबकि आय मनुष्य को मिलने वाली समस्त प्राप्तियाँ हैं। इसी प्रकार पूंजी एक संचित कोष है जबकि आय एक प्रवाह है। जिस प्रकार पूंजी आय से प्राप्त होती है उसी प्रकार आय को बचाकर यदि उत्पादन कार्य में लगा दिया जाता है तो वह पूंजी होती है।

5 श्रम और पूंजी पूंजी श्रमिकों के पूर्व परिश्रम का फल है। अतः उत्पादन के साधन के रूप में पूंजी की अपेक्षा श्रम का महत्त्व अधिक है। एक व्यक्ति का शारीरिक अथवा मानसिक श्रम आय प्राप्त करने में सहायक होता है। इस आधार पर यह कहा जाता है कि मनुष्य के श्रम एवं गुण को व्यक्तिगत पूंजी की संज्ञा दी जा सकती है। परन्तु पूंजी की तरह श्रम में वृद्धि सम्भव नहीं होती। गतिशीलता का अभाव तथा क्षयशीलता के दोषों के कारण श्रम को पूंजी की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। श्रम के सम्बन्ध में पूर्व आयोजित निर्णय भी नहीं लिया जा सकता। श्रमिकों के कार्य-कौशल पर व्यय किये गये धन को वापस प्राप्त नहीं किया जा सकता जबकि पूंजी का विनियोजन करने के लिए पूर्व निर्णय लेना सम्भव होता है तथा विनियोजित पूंजी उत्पादित वस्तुओं के रूप में पुनः वापस प्राप्त हो जाती है। इन कारणों के आधार पर ही पूंजी श्रम से भिन्न होती है।

पूंजी की विशेषताएँ
(Characteristics of Capital)

(1) निष्क्रिय घटक पूंजी उत्पादन का एक निष्क्रिय घटक है। भूमि की तरह पूंजी के होने पर भी यदि श्रम न हो तो पूंजी का कोई महत्त्व नहीं होगा

यही कारण है कि कार्ल मार्क्स आदि विद्वानों ने श्रम को अधिक महत्त्व प्रदान किया है।

(2) मनुष्य कृत साधन पूंजी उत्पादन का एक मनुष्य-कृत साधन है। यह मनुष्य के पूर्व श्रम का फल है तथा उसके भूतकालीन उत्पादन का अंश है जो भविष्य में उत्पादन के लिए बचत के रूप में रखा जाता है।

(3) पूंजी में उत्पादकता होती है वह सम्पत्ति ही पूंजी है जो अतिरिक्त धन सम्पत्ति का उत्पादन करती है। अतः पूंजी उत्पादक होती है। यही कारण है कि उत्पादक पूंजी की मांग करते हैं।

(4) अनिवार्य साधन नहीं है पूंजी को उत्पादन का अनिवार्य साधन नहीं कहा जा सकता क्योंकि पूंजी के रहने पर भी यदि आधारभूत साधन—भूमि और श्रम—उपलब्ध नहीं हो तो उत्पादन कार्य सम्भव नहीं हो सकता। परन्तु आज के युग में बड़े पैमाने पर उत्पादन तथा तकनीकी उत्पादन के लिए पूंजी को अनिवार्य साधन माना जाता है।

(5) पूंजी बचत का परिणाम है मानव जिस धन का उत्पादन करता है उसका सम्पूर्ण भाग उपभोग में व्यय नहीं होता है। अतः कुछ भाग बचा कर अधिक आय प्राप्त करने की दृष्टि से उत्पादन कार्यों में लगा दिया जाता है जिसे पूंजी कहा जाता है। अतः स्पष्ट है कि पूंजी बचत का परिणाम है।

(6) पूंजी परिवर्तनशील है पूंजी की मात्रा में वृद्धि अथवा कमी सरलता से की जा सकती है। उसके सम्बन्ध में पूर्व निर्णयों के आधार पर पूंजी निर्माण की योजनाएं कार्यान्वित की जाती हैं। राष्ट्रीय आय में वृद्धि तथा व्यक्तिगत एवं सामाजिक बचत को बढ़ाकर पूंजी भी बढ़ायी जा सकती है। इसके विपरीत व्यक्तिगत उपभोग तथा सामाजिक उपभोग में वृद्धि करके पूंजी में आवश्यकतानुसार कमी भी की जा सकती है।

(7) पूंजी अस्थायी साधन पूंजी भूमि की तरह स्थायी (Permanent) साधन नहीं है। एक निश्चित समय तक प्रयोग करने के बाद पूंजी जैसे मशीन नष्ट हो जाती है। अतः उसका फिर से उत्पादन करना पड़ता है अथवा उसकी पूर्ति नये सिरे से करनी पड़ती है।

(8) पूंजी गतिशील साधन है उत्पादन के साधनों में सबसे अधिक गतिशील साधन पूंजी है। उसको विभिन्न कार्यों के लिए उपयोग में लाया जा सकता है तथा विश्व के किसी स्थान पर सरलतापूर्वक भेजा जा सकता है। पूंजी के उपलब्ध होने पर देश का आर्थिक विकास सम्भव हो पाता है।

पूंजी का महत्त्व
(Importance of Capital)

वर्तमान उत्पादन व्यवस्था में पूंजी का स्थान अत्यधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है। यद्यपि पूंजी उत्पादन का एक निष्क्रिय साधन है फिर भी भूमि और श्रम

को काय म लगान म पूँजी ही सहायक होती है। पू जी मशीन आदि की सहायता स ही श्रम की उत्पादकता बढ़ती है, मनुष्य भौतिक साधनों का पूर्ण लाभ उठा पाता है। बड़े पमाने पर उत्पादन पू जी की सहायता स ही सम्भव हो सका है। तथा श्रम विभाजन और तकनीकी विधियों के प्रयोग पू जी की ही देन है। पू जी ही उत्पादन की प्रक्रियाओं को जारी रखती है क्योकि वस्तुएँ निमित होने के फौरन बाद ही नही बिक पाती। एसी स्थिति म उत्पादित वस्तुओं म लगी पू जी कुछ समय तक फसी रहती है। अत द्रव्य के रूप म पूँजी उत्पादन काय को निरंतर बनाये रखने मे सहायक होती है। उपभोक्ता वा भी अपने जीवन निर्वाह क साधन प्राप्त होत रहत है। उत्पादन क साथ ही साथ वस्तुओ की बिक्री तथा कच्चे माल खरीदने के लिए पू जी की आवश्यकता पडती है। बिक्री क लिए यातायात तथा सदेशवहन क साधन आवश्यक ह जो पू जी क ही रूप ह। कच्चा माल भी पूँजी हो है और उस प्राप्त करन क लिए भी पू जी क रूप म नकद धन की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आधुनिक उत्पादन व्यवस्था म पूँजी का अत्यन्त महत्वपूर्ण एव अनिवाय स्थान है।

पूँजी की आवश्यकता प्रत्यक प्रकार की अथ व्यवस्था म पडती है। चाहे वह साम्यवादी अथ व्यवस्था हो या पूँजीवादी। दोनो ही अथ व्यवस्थाओ म अधिकतम राष्ट्रीय उत्पादन का लक्ष्य पूँजी के बिना प्राप्त नहीं किया जा सकता। देश म पूर्ण रोजगार की स्थिति लान क लिए नये नय उद्योग धधो को स्थापित करना आवश्यक है। ये उद्योग धधे पू जी के अभाव म स्थापित नही किये जा सकते। पू जी के नही रहन पर न तो व्यक्तिगत आय ही बढ सकती है और न ही लोगो का जीवन स्तर ही ऊचा उठ सकता है। कोई भी देश चाह वह विकसित (Developed) हो अल्प विकसित (Under developed) हो या अविकसित (Undeveloped) हो पू जी क बगर आर्थिक एव औद्योगिक विकास की योजनाएँ पूरी नही कर सकता।

पूँजी के काय
(Functions of Capital)

आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था बडे पमाने की व्यवस्था है जिसम पूँजी का सहयोग नितान्त आवश्यक है। पूँजी क द्वारा उत्पादन ही नही होता बल्कि उपभोग तथा विनिमय सम्बन्धी अनेक व्यय को पूँजी द्वारा ही सम्पन्न किया जाता है। वतमान आर्थिक जगत् म पू जी अनेक प्रकार क कार्यो का सम्पादन करती है जिनका वर्णन इस प्रकार है

1 उत्पादन की व्यवस्था करने हेतु उत्पादन-काय म भवन, मशीन, यन्त्रो शक्ति के साधनो कच्च माल आदि की आवश्यकता होती है। इन सबकी व्यवस्था पू जी के द्वारा ही सम्भव होता है।

2 उत्पादन की निरन्तरता उत्पादन प्रक्रिया म निरन्तरता बनाय रखने का काय पूँजी ही करती है क्योकि उत्पादन म जब तक उत्पादित माल से आय प्राप्त न हो तब तक पू जी द्वारा ही उत्पादन चालू रखा जाता है।

3 श्रम उत्पादकता मे वृद्धि पूँजी द्वारा श्रम उत्पादकता म भी वृद्धि की जा सकती है। एक तो पू जी द्वारा श्रमिको क शिक्षण व प्रशिक्षण की व्यवस्था कर उनके उत्पादन की शक्ति म बढोतरी की जाती है दूसर पू जी के माध्यम स उपन्‍न घ उपकरण मशीन आदि अधिक मात्रा द्वारा और अच्छी किस्म का माल का उत्पादन करना सम्भव पाता है।

4 उत्पत्ति की बिक्री की व्यवस्था करन मे पू जी द्वारा ही उत्पत्ति का उपभोक्ता तक पहुँचाने म मदद ली जाती है। यातायात एव सचार साधन विज्ञापन आदि की व्यवस्था पू जी के द्वारा ही सम्भव हो पाती है।

5 जीवन निर्वाह व्यवस्था वस्तु क उत्पादन तथा उपभोग क बीच कुछ समयान्तर होता है। इस दौरान श्रमिको का जीवन निर्वाह की व्यवस्था मजदूरी भुगतान करक पू जी द्वारा ही की जाती है।

पूँजी की कार्यकुशलता
(Efficiency of Capital)

पू जी का मुख्य काय उद्योगा की उत्पादन शक्ति को बढाना है। परन्तु यह पू जी की कार्यकुशलता पर निभर करता है तथा पू जी की कार्यकुशलता निम्नलिखित तीन बातो पर निभर करती है

1 पू जी के प्रयोग की उपयुक्तता (Suitability) पू जी की कार्यकुशलता इस बात पर निभर करता है कि पू जी का जिस काय म प्रयोग हो रहा है उसक लिए वह उपयुक्त है या नही। पूँजी का प्रयोग मुख्यत यन्त्र कच्च पदाथ तथा कारखाने के भवन आदि क रूप म होता है। अत विभिन्न व्यवसायो म पूँजी का प्रयोग इसकी उपयुक्तता क अनुसार करने पर ही उसका कुशलता म वृद्धि होती है। उदाहरणाथ छोटे भवन म बडा यन्त्र लगाने पर पू जी का कार्यकुशलता कम होगी।

2 पू जी का सदुपयोग (Better use) विभिन्न धधो म उपयुक्त एव अच्छी पूँजी का प्रयोग करना चाहिए। किन्तु पूँजी का सदुपयोग तभी हो सकता है जब इसे प्रयुक्त करन क लिए कुशल श्रमिक हो। इसीलिए पूँजी की कार्यकुशलता बहुत कुछ श्रमिको पर निभर करती है। उदाहरणाथ अच्छी मशीनो के प्रयोग हेतु कुशल एव दक्ष श्रमिक होने चाहिए।

3 उचित प्रबन्ध (B tter management) पू जी की *कार्यकुशलता* सुयोग्य व्यवस्था पर भी निभर करती है। यदि प्रबन्धकर्ता कुशल है तो वह श्रमिको क मध्य काय का विभाजन उचित रूप स करेगा यन्त्रो को उचित प्रयोग

म लगा तथा कारखाने आदि की देखभाल भी ठीक प्रकार स करेगा जिससे पू जी की उत्पादन क्षमता म वद्धि होगी ।

अत पूँजी की काय-क्षमता उपयुक्त बातो म प्रभावित होती है । पूँजी की कायकुशलता देश मे शान्ति सुरक्षा तथा आर्थिक विकास की अनुकूल परिस्थितियों के होन पर भी बढती है । शान्ति व व्यवस्था के अभाव म पूँजी की कायकुशलता कम होती है ।

पूँजी निर्माण तथा पूँजी सचय
(Capital Formation and Capital Accumulation)

आर्थिक विकास के लिए पूँजी निमाण एव पूँजी सचय अत्यन्त आवश्यक है । पू जी निर्माण का अथ देश म अतिरिक्त उत्पादन के उत्पादित साधनों (Produced means of further production) अर्थात् उत्पादक वस्तुओ की मात्रा मे वद्धि म होता है । धन बचाकर उत्पादन कार्यों म लगाने की प्रक्रिया ही पूँजी निर्माण की प्रक्रिया कहलाती है । प्रो० नर्कसे (Prof Nurkse) क अनुसार 'पूँजी निर्माण का अथ यह है कि समाज अपनी वतमान उत्पादन क्रियाओं द्वारा तत्कालीन उपभोग की इच्छाओं और आवश्यकताओ की पूर्ति ही नहीं करता बल्कि वह उनका एक भ श पू जीगत सम्पत्तियो के बनाने के लिए भी प्रयुक्त करता है । औजार तथा उपकरण, यन्त्र तथा परिवहन की सुविधाएँ, कल और यन्त्र वास्तविक पूँजी के रूप हैं जो उत्पादन प्रयत्नों के प्रभाव मे अधिक वद्धि कर सकते हैं ।'[1] यह इसी समय सम्भव हो सकता है जब कि समस्त वतमान राष्ट्रीय उत्पादन या आय का उपभोग न किया जाय और उसके एक भाग या अश को बचत म रूप म सचित किया जाय । परन्तु पूँजी निर्माण के लिए केवल बचत का सचय ही काफी नही है । उसका उचित विनियोजन (Investment) भी आवश्यक है जिससे प्रति वष अतिरिक्त पूँजीगत सम्पत्तियो जसे औद्योगिक मशीनो भूमि कृषि-यन्त्रो तथा औजारो, सिचाइ तथा परिवहन के साधना, का निर्माण एव उत्पादन सम्भव हो सक । विकसित तथा विकासोन्मुख (Developed and Developing) दोना प्रकार के देशा म जहा पूँजी निर्माण तथा पूँजी विस्तार या पूँजी की पूर्ति म वद्धि करना आवश्यक होता है राष्ट्रीय उत्पादन क कुछ अश को बचाना आवश्यक है जिसम पूँजी निर्माण तथा पू जी सचय की क्रिया बराबर चलती रहे ।

---

1 The meaning of capital formation is that society does not apply the whole its current productive activity to the needs and desires of immediate consumption but directs a part of it to the making of capital goods tools and instruments machines and transport facilities plants and equipment all the various forms of real capital that can greatly increase the efficiency of productive efforts

—Prof R Nurkse

किसी भी देश म पूंजी निमाण एक निश्चित अवधि म विशुद्ध विनियोग की मात्रा पर निभर करता है तथा विशुद्ध विनियोग का सम्बन्ध वास्तविक पूंजी निर्माण से होता है।

देश म पूंजी निमाण उस देश की आन्तरिक बचत एव विनियोग पर निभर करता है। किन्तु विदेशी पूंजी के आयात म भी पूंजी निमाण होता है।

पूंजी निर्माण (Capital Formation) तथा पूंजी के सचय (Accumulation of Capital) के सम्बन्ध म क्रमश पूंजी गहन (D ep ning of Capital) तथा पूंजी विस्तार (Capital sparse or widening of capital) की विधियो का उल्लेख किया जाता है।

पूंजी गहन विधि का अभिप्राय पूंजी निर्माण से है। इस विधि के अन्तगत व्यक्ति तथा समाज की बचत को एकत्र करके वतमान पूंजीगत सम्पत्तियों की सहायता से अतिरिक्त पूंजी मशीन औजार आदि का उत्पादन किया जाता है। यह प्रक्रिया बराबर चलती रहती है जिसस न केवल पुरान तथा अप्रचलित मशीनो तथा पूंजीगत सम्पत्तियो के स्थान पर नयी पूंजीगत सम्पत्तियो का प्रयोग सम्भव हो पाता है बल्कि नय-नय उद्योगो को स्थापित करन के लिए भी मशीनो आदि का उत्पादन सम्भव होता है। विकसित देशो म जहा पूंजी पर्याप्त मात्रा म उपलब्ध होती है अभिनवीकरण (Rationalisation) की योजनाए पूंजी निमाण द्वारा ही कार्यान्वित की जाती हैं। परन्तु एक विकासशील (Developing) देश म जहा औद्योगिक विकास के लिए बुनियादी (Basic) उद्योगो तथा औद्योगिक ढाचे के आधार (Infra stucture) परिवहन व शक्ति के साधन आदि का निर्माण करना आवश्यक होता है वहा पूंजी निर्माण का आशय इन समस्त उद्योगो के लिए नयी मशीनो तथा नये साधनो का निर्माण एव उत्पादन से है। इन कार्यों के लिए पूंजी विस्तार की विधि अपनायी जाती है।

पूंजी विस्तार का अथ है पूंजी की कमी की पूर्ति करना। पूंजी की पूर्ति देश म वास्तविक बचत का निमाण करके तथा लोगो की बचत को एकत्र करके बढाई जा सकती है। किन्तु देश म पर्याप्त मात्रा म बचत न होने पर पूंजी की पूर्ति विकसित तथा धनी राष्ट्रो से ऋण एव सहायता लेकर बढायी जा सकती है। इस प्रकार देश की आन्तरिक बचत (Domestic savings) तथा विदेशी आर्थिक सहायता स पूंजी की मात्रा बढ़ती है। उसका प्रयोग पूंजीगत सम्पत्तियो के निमाण के लिए किया जाता है। बाद म चलकर य पूंजीगत सम्पत्तिया ही पूंजी निमाण अर्थात् अतिरिक्त पूंजी के उत्पादन म सहायक होती हैं। इस प्रकार नयी औद्योगिक तथा व्यापारिक सस्थाओ को स्थापित करने कृषि को आधुनिक तरीके स विकास करन यातायात के साधनो का बढ़ान नयी-नयी वस्तुओ का उत्पादन करन तथा रोजगार बढ़ान के लिए प्रारम्भिक अवस्था म पूंजी विस्तार की तथा बाद म पूंजी

निर्माण की विधियाँ अपनायी जाती हैं। वास्तव में एक विकासशील देश के लिए पूँजी विस्तार एक मजबूत प्रेरक शक्ति है जो पूँजी निर्माण की विधियों को शक्ति प्रदान कर आगे बढ़ाती है।

पूँजी विस्तार तथा पूँजी निर्माण में सम्बन्ध में बचत का प्रश्न वास्तविक बचत से है। वास्तविक बचत व्यक्तियों तथा फर्मों द्वारा आय में से बचाये गये उस अंश को कहते हैं जो प्रतिदिन पूँजीगत सम्पत्तियों के उत्पादन के लिए अलग कर दी जाती है। इस बचत का समुचित विनियोजन आवश्यक है। इसके साथ ही साथ लोगों में बचत करने की इच्छा एवं प्रवृत्ति भी होनी चाहिए। वास्तविक बचत से पूँजी निर्माण तभी सम्भव हो सकता है जबकि देश में निजी तथा सार्वजनिक क्षेत्रों को पूँजी निर्माण के लिए वित्तीय तथा साख की सुविधाएँ प्राप्त हों। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि उपलब्ध बचत का विनियोजन पूँजीगत सम्पत्तियों के निर्माण के लिए ही किया जाय।

पूँजी निर्माण का अनुमान किसी भी देश में किसी एक निश्चित अवधि में कुल पूँजी निर्माण का अनुमान केवल इस आधार पर ही नहीं लगाया जा सकता कि उस अवधि में कितनी अतिरिक्त पूँजीगत सम्पत्तियों का उत्पादन तथा निर्माण हुआ है। इसमें आयात की गयी पूँजीगत सम्पत्तियों को भी सम्मिलित किया जाता है। इस प्रकार पूँजीगत सम्पत्तियों में वृद्धि का अनुमान निम्नलिखित विधि से ज्ञात किया जा सकता है

कुल पूँजी निर्माण = { उत्पादित पूँजीगत सम्पत्तियाँ + आयात की गयी पूँजीगत सम्पत्तियाँ }

Gross Capital Formation = {(Produced Means of Production + Imports of Capital Assets)}

परन्तु वास्तविक पूँजी निर्माण ज्ञात करने या पूँजीगत वस्तुओं में वास्तविक वृद्धि जानने के लिए यह आवश्यक है कि उपर्युक्त कुल पूँजी निर्माण में से पूँजीगत सम्पत्तियों पर ह्रास के रूप में हुई क्षति को घटा दिया जाए। इस प्रकार वास्तविक पूँजी निर्माण की गणना निम्नलिखित विधि से की जाती है

वास्तविक पूँजी निर्माण = { (उत्पादित पूँजीगत सम्पत्तियाँ + आयात की गयी पूँजीगत सम्पत्तियाँ) − वर्तमान पूँजीगत सम्पत्तियों में ह्रास }

Net Capital Formation = { (Produced Means of Production + Imports of Capital Assets) − Depreciation on existing Capital Assets }

एक अविकसित देश में कुल उत्पादन में से कुछ अंश बचाकर पूँजी निर्माण की प्रक्रिया सम्पादित करने पर यह आवश्यक नहीं है कि पूँजीगत सम्पत्तियों में

वद्धि हा। एमे देश म वतमान पू जीगत सम्पत्तिया का अधिकतम तथा अकुशल प्रयोग होन पर मशीनो तथा पू जीगन सम्पत्तिया म ह्रास और टूट फूट अधिक होगी जिसके फलस्वरूप वास्तविक पूँजी निर्माण कम होगा।

पू जी निर्माण के सम्बन्ध म हम बचत और विनियोग का अध्ययन करत है और इनके आधार पर ही पू जी निर्माण की समस्त प्रक्रियाओ का अध्ययन एव विवेचन करत हैं। पूँजी निर्माण के लिए बचत तथा विनियोग आवश्यक है। यहाँ पर बचत और विनियोग का अभिप्राय राष्ट्रीय बचत तथा राष्ट्रीय विनियोगो स है। कुल राष्ट्रीय विनियाग की गणना केवल उत्पादित पू जीगत सम्पत्तियो के मूल्या के योग के आधार पर ही नही की जाती। उसम उन धनराशिया को भी सम्मिलित किया जाता है जो उत्पादन के सहायक साघना एव पूँजीगत सम्पत्तियो (Capital Assets) को प्राप्त करने के लिए नियोजित प्राप्त वित्तीय ऋणा एव दायित्वा क शोधन तथा सरकारी एव सामाजिक विनियोग पर व्यय की जाती है

कुल विनियोग = { पूँजीगत सम्पत्तियो म वास्तविक वद्धि (निजी क्षेत्र म)
+ सामाजिक एव सावजनिक पूँजीगत सम्पत्तियो म वृद्धि
+ वित्तीय ऋणा एव दायित्वा म वद्धि }

परन्तु शुद्ध एव वास्तविक विनियाग (Net Investment) को ज्ञात करत समय दो बातो पर ध्यान दना चाहिए (1) वतमान सम्पत्ति क क्रय विक्रय पर तथा (2) ऋणो द्वारा उत्पादित पू जीगत सम्पत्तिया का मूल्य निर्धारित करन म वित्तीय दायित्वा की मौद्रिक राशि पर।

जब कोई व्यक्ति अपनी सम्पत्ति बेचता है तब यह देखना चाहिए कि वह उस प्राप्त राशि का उपयोग किस प्रकार करता है? यदि वह उस धन का प्रयोग उपभोग क लिए करता है तो पू जीगत सम्पत्ति म वद्धि नही होती। यह उनके लिए निर्विनियाग (Dis investment) है। जब वित्तीय ऋण एव दायित्वा के द्वारा पू जीगत सम्पत्तिया का निर्माण किया जाता है तब पूँजीगत सम्पत्तियो की वास्तविक वद्धि ज्ञात करन के लिए उनके मूल्य म इन दायित्वा का घटा देना चाहिए। अत

शुद्ध विनियाग = कुल विनियोग − (निर्विनियोग + वित्ताय ऋण एव दायित्व)

पूँजी निर्माण की अवस्थाएँ
(Stages of Capital Formation)

पू जी निर्माण एक सामाजिक प्रक्रिया है जिसके अन्तगत निम्नलिखित तीन अवस्थाए स्पष्ट रूप स देखन को मिलती हैं

1 **वास्तविक बचत का निर्माण** पू जी निर्माण हेतु सवप्रथम वास्तविक बचत आवश्यक है। इसका तात्पय यह है कि साधना का उपभाग पर कम व्यय कर वास्तविक बचत म वद्धि करना आवश्यक है। अत लोगो म सवप्रथम अपनी आय के कुछ भाग की बचत करन की इच्छा व क्षमता का होना आवश्यक है।

2 बचत एकत्र करना पूँजी निर्माण की द्वितीय अवस्था में देश में लोगों की बचत एकत्र करने हेतु बैंक, बीमा कम्पनियों, डाकघरों आदि की भी व्यवस्था होनी चाहिए। साथ ही इन बचतों को विनियोगकर्ताओं तक भी पहुँचाने की व्यवस्था होनी चाहिए।

3 बचतों को वास्तविक पूँजीगत साधनों में बदलना जन विश्वास होने पर ही वित्तीय संस्थाएँ जनता से बचतों को एकत्र करने में समर्थ हो सकती हैं। अतः देश में कुशल तथा योग्य व ईमानदार साहसी उद्यमी व व्यापारी भी होने चाहिए। इस प्रकार के व्यक्तियों द्वारा उचित ढंग से किये गये विनियोग से ही उत्पादन में वृद्धि होती है। उत्पादन बढ़ने से लोगों की आय बढ़ेगी जिससे बचत क्षमता बढ़ेगी और इसके फलस्वरूप पूँजी का निर्माण होगा।

पूँजी निर्माण तथा पूँजी सचय को प्रभावित करने वाले तत्व
(Factors Affecting Capital Formation and Capital Accumulation)

किसी भी देश में पूँजी निर्माण पूँजी के संचय द्वारा ही सम्भव होता है। पूँजी निर्माण के लिए वास्तविक बचत (Real savings) का होना आवश्यक है। वास्तविक बचत लोगों की आय और उपभोग पर निर्भर है। परन्तु किसी देश में बचत एवं विनियोग को प्रभावित एवं निर्धारित करने वाले कई तत्व होते हैं जिनके आधार पर पूँजी संचय द्वारा पूँजी निर्माण सम्भव होता है। इन तत्वों को निम्नलिखित तीन वर्गों में रखा जा सकता है (i) **बचत करने की शक्ति या क्षमता** (Power or capacity to save) (ii) **बचत करने की इच्छा** (Willingness to save) तथा (iii) **बचत करने की दशायें** (Conditions to save or Opportunity to save)। इसे हम एक चार्ट के रूप में भी स्पष्ट कर सकते हैं

पूँजी निर्माण को प्रभावित करने वाले तत्व
(Factors Affecting Capital Formation)

1 बचत करने की क्षमता (Capacity to save)	2 बचत करने की इच्छा (Willingness to save)	3 बचत करने की दशाए (Opportunity to save)
(i) प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता	(i) मानसिक प्रवृत्तियाँ	(i) देश में शान्ति एवं सुरक्षा
(ii) समाज में धन का वितरण	(ii) सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थितियाँ	(ii) विनियोजन की सुविधाएँ
(iii) उत्पादन के साधनों की कार्यक्षमता	(iii) पारिवारिक स्नेह	(iii) योग्य ईमानदार व कुशल व्यवसायी
(iv) सरकारी नीति	(iv) ब्याज दर	(iv) मुद्रा मूल्य में स्थिरता
(v) व्यापार की समृद्धता	(v) परोपकारी भावना	(v) बैंकिंग एवं वित्तीय
	(vi) व्यावसायिक सफलता की इच्छा	
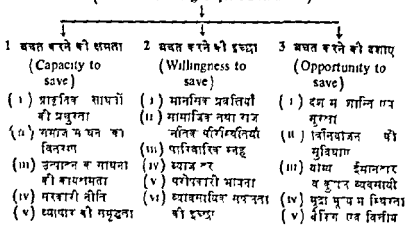
(2) **बचत करने की इच्छा** (Willingness to save) पूँजी सचय एव पूजी निर्माण के लिए देश मे बचत करने की शक्ति का होना ही काफी नही है बल्कि लोगो म अपनी आय के एक अश को बचाने की इच्छा का होना अधिक महत्त्वपूर्ण तथा आवश्यक है। बचत करने की इच्छा लोगो की मानसिक प्रवत्तिया तथा सामाजिक एव राजनीतिक परिस्थितियो पर निर्भर है।

(i) **मानसिक प्रवत्तियो** के अन्तगत मनुष्यो की दूरदर्शिता तथा उसके स्वभाव को सम्मिलित किया जाता है। एक दूरदर्शी व्यक्ति अपनी वतमान आय का अधिक से अधिक भाग बचाकर रखना चाहता है जिसस वह भावी अनिश्चित एव आकस्मिक व्यया की पूर्ति करने म समर्थ हो सके। यदि किसी देश म अधिक से अधिक व्यक्ति अपनी आय मे से कुछ भाग बचाते रहते हैं तो वहा पर बचत की मात्रा अधिक होगी। कुछ व्यक्तियो म अपनी आय के एक अश का बचाने की आदत होती है। व अन्य व्यया की तरह अपनी आय म से एक निश्चित भाग बचाने को भी अधिक महत्त्व देते हैं। जिस देश के व्यक्तियो म बचत करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होगी, वहा बचत अधिक होगी और जहाँ लोग अधिक फिजूल-खर्ची होगे वहा बचत कम होगी।

(ii) **सामाजिक तथा राजनतिक परिस्थितियाँ** यदि किसी देश मे *सामाजिक प्रतिष्ठा लोगो के पास एकत्र धन एव एश्वय के आधार पर निर्धारित की* जाती है तो यह स्वाभाविक है कि वहाँ के लोगा म धन-सग्रह करने की इच्छा बलवती होगी। इसके अतिरिक्त लोग राष्ट्रीय हितो की सुरक्षा तथा देश के आर्थिक विकास की भावनाओ से प्रेरित होकर भी अपनी आय का कुछ भाग बचाने के लिए प्रयत्नशील होते हैं।

(iii) **पारिवारिक स्नेह** पारिवारिक प्रेम भी पूँजी सचय की इच्छा को प्रभावित करता है। जिन्हें अपने परिवार के लोगा स अधिक स्नेह होता है व उन आश्रिता के भविष्य के सुख के लिए बचत करने लगते हैं।

(iv) **ब्याज दर** जो लोग ब्याज द्वारा आय प्राप्ति हतु बचत करते है, वे लोग ऊँची ब्याज-दर पर अधिक बचत करने का प्रयास करते हैं *तथा निम्न ब्याज दर* होने पर बचत की इच्छा नही रखते हैं।

(v) **परोपकारी भावना** लोगो म जितनी परोपकारी भावना तीव्र होगी उतनी ही बचत की अधिक इच्छा होगी।

(vi) **व्यावसायिक सफलता की इच्छा** *प्रत्येक व्यवसायी की यह कामना* होती है कि उस अपने व्यापार म सफलता मिले। इसके लिए वह पूँजी सचय करता है।

(3) बचत करने की दशाएं (Conditions to save)

(i) **देश में शान्ति एवं सुरक्षा** बचत करने की क्षमता और इच्छा कुछ आधारभूत शर्तों पर निर्भर है। यदि देश में शान्ति और सुरक्षा होती है, व्यक्तिगत सम्पत्ति के संग्रह पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होता है तथा जन जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए सरकार आवश्यक प्रबन्ध एवं व्यवस्था करने के लिए सजग तथा जागरूक रहती है तो लोगों में भी अपनी आय को बचाने की इच्छा होती है।

(ii) **विनियोजन की सुविधाएं** देश में सुरक्षित विनियोग की सुविधाओं के होने पर लोग बचत करने के लिए प्रोत्साहित होते हैं। इन सुविधाओं के न होने पर लोग अपनी बचत को अनुत्पादक सम्पत्तियों जैसे आभूषणों उपभोग वस्तुओं आदि में विनियोजित कर देते हैं। अतः बचत को प्रोत्साहित करने के लिए देश में बैंकिंग व्यवस्था का समुचित विकास होना आवश्यक है। बीमा कम्पनियाँ जीवन बीमा व सम्पत्तियों का बीमा करके लोगों की बचत को संग्रह करती हैं। प्राविडेण्ट फण्ड अनिवार्य बीमा अनिवार्य बचत वार्षिक जमा आदि की सुविधाएं उपलब्ध होने पर भी व्यक्तिगत बचत में वृद्धि होती है।

(iii) **योग्य ईमानदार व कुशल व्यवसायी** प्रत्येक देश में लोग अपनी बचत का विनियोजन उद्योगपतियों व्यापारियों को उधार देकर करना चाहते हैं। यदि देश में योग्य ईमानदार तथा कुशल साहसी उद्योगपति व्यवसायी अधिक संख्या में होते हैं तो लोग अधिक बचत करेंगे।

(iv) **मुद्रा मूल्य में स्थिरता** यदि किसी देश में बचत को प्रोत्साहित करना हो तो यह आवश्यक है कि कीमतों में अधिक उतार-चढ़ाव न हो तथा मुद्रा का मूल्य भी स्थिर रहे। मुद्रा-स्फीति की दशा में लोगों को मुद्रा के रूप में बचतों का वास्तविक मूल्य बहुत कम मिलेगा। अतः लोग बचत नहीं करेंगे।

(v) **बैंकिंग एवं वित्तीय संस्थाएं** यदि बचतकर्ता व्यावसायिक या औद्योगिक जोखिम से दूर रहना चाहते हैं तो ऐसे बचतकर्त्ताओं की बचतों को एकत्रित कर गतिशील बनाने में बैंकिंग एवं वित्तीय संस्थाओं का महत्त्वपूर्ण हाथ होता है। जिन देशों में इन वित्तीय संस्थाओं की सुविधा अधिक होती है उन देशों में पूँजी निर्माण को अधिक प्रोत्साहन मिलता है।

बचत की उपर्युक्त सुविधाओं के होने के साथ-साथ देश में बचत को विनियोजित करने के लिए सुरक्षित व्यापारिक एवं औद्योगिक संस्थाओं का भी होना आवश्यक है। यदि व्यापारिक तथा औद्योगिक संस्थान अपने लाभ का एक अंश स्वतः व्यापार अथवा उद्योग में विनियोजित करते हैं तो इसे विनियोग को प्रत्यक्ष विनियोग कहा जाता है। परन्तु जब उद्योगपति तथा व्यापारी अन्य लोगों की बचत को प्राप्त करके अपने उद्योग तथा व्यापार का विकास व विस्तार करते हैं तब

लोगा की बचन के ऐस विनियोग को प्रत्यक्ष विनियोग कहते हैं। अप्रत्यक्ष विनियोग के लिए देश म मुद्रा तथा ग्रश बाजारो विनियोग-न्यासो बीमा कम्पनिया ग्रादि का होना ग्रावश्यक है। य संस्थाएँ लोगा की बचत को सग्रह करके उसे गतिशील बनाती हैं जिससे पूँजी निर्माण म सहायता मिलती है।

पूँजी निर्माण मे राज्य का योगदान
(Government and Capital Formation)

पूँजी निर्माण पर सरकार की व्यापारिक एव ग्रौद्योगिक नीति का भी ग्रधिक प्रभाव पडता है। इस नीति मे सरकार निम्नलिखित बाता का ध्यान म रखती है

(1) विदेशी पूँजी जिस देश म स्वतन्त्र व्यापार की नीति ग्रपनायी जाती है वहा बचत की क्षमता कम होन पर पूँजी की कमी की पूर्ति विदेशी पूँजी के ग्रायात द्वारा सम्भव हो जाती है। विदेशो म पू जीगत सम्पत्तियो का ग्रायात करक दश म पूँजी निर्माण किया जाता है। एक ग्रविकसित राष्ट्र ग्रपनी ग्रार्थिक व्यवस्था क नवनिमाएा की प्रारम्भिक स्थिति म पू जी निर्माण के लिए विदेशी पूँजी की सहायता की नीति ग्रपनाता है।

(2) व्यावसायिक नीति एक विकासोन्मुख देश ग्रपनी व्यावसायिक नीति द्वारा विलासिता की वस्तुग्रा के उपभोग को कम करने के सम्बन्ध म ग्रावश्यक प्रनिबन्ध लगाता ह। इसके फलस्वरूप उपभाग की विदेशी वस्तुग्रा के स्थान पर पूँजीगत सम्पत्तियो के क्रय पर ग्रधिक बल दिया जाता है जिसमे देश म विलासिता की वस्तुग्रा का ग्रायान बन्द हो जाता है ग्रौर पूँजीगत सम्पत्तिया का ग्रायात बढ जाता है।

(3) बचत योजनाएँ तथा कर नीति पूँजी-सचय के लिए सरकार ग्रल्प बचत योजनाग्रा द्वारा एच्छिक बचत (Voluntary savings) को प्रोत्साहन देती है। बचत की मात्रा म ग्रावश्यकतानुसार वद्धि न होन पर सरकार कभी-कभी ग्रनिवाय बचत योजनाग्रा (Compulsory Saving Schemes) को भी लागू करती है। इनके ग्रतिरिक्त लोगो की ग्राय म से कुछ ग्रश प्राप्त करन के लिए सरकार ग्रपनी वित्तीय एव कर नीतियो मे ग्रावश्यक परिवतन करती है। प्रत्यक्ष व ग्रप्रत्यक्ष कर लगा कर लोगो के उपभोग को कम कर दिया जाता है जिससे राज्य की ग्राय म वद्धि हो सके।

(4) घाटे की ग्रथव्यवस्था द्वारा (Deficit Financing) सरकार घाटे की ग्रथ व्यवस्था द्वारा भी पूँजी विस्तार या धन की व्यवस्था करती है। इससे मुद्रा प्रसार होता है। परन्तु य दानो ही स्थितियाँ सामान्य जनता के लिए ठीक नही हैं।

(5) वित्तीय तथा बैंकिग सस्थाग्रों का विस्तार सरकार बैंकिग सस्थाग्रा को व्यवस्थित करके उनका विस्तार करती है जिसस बचत तथा विनियोग की

सुविधायें सभी स्थानो पर मिल सकें। इनके अतिरिक्त सरकार औद्योगिक एव कृषि वित्त की पूर्ति करने के लिए कई वित्तीय सस्थाए स्थापित करती है।

(6) **औद्योगिक नीति** सरकार देश म पूँजी निर्माण के लिए सावजनिक क्षेत्र का विकास करती है जिसस देश का औद्योगिक विकास हो सके।

(7) **पूँजी निर्माण मे श्रम का उचित उपयोग** एक अविकसित देश म जहा पर पू जी की तुलना म श्रम अधिक मात्रा मे उपलब्ध हो वहा श्रम के अधिकतम सहयोग स पू जी का विस्तृत प्रयोग करके पू जी का निर्माण सम्भव हो सकता है। बेरोजगार व्यक्तियो को काम देकर अनेक प्रकार की सामाजिक पूँजीगत सम्पतियां का निर्माण किया जा सकता है। उनकी आय बढ़ने पर देश म क्रय शक्ति बढ़ती है अनेक उद्योग धन्धे पनपते हैं लोगा की आय म वृद्धि होती है और इस प्रकार पूँजी निर्माण म सहायता मिलती है। अविकसित तथा अल्प विकसित राष्ट्रो के लिए **प्रोफेसर नर्क्से** (Prof Nurkse) ने आर्थिक विकास की योजनाओ म श्रम द्वारा पू जी निमाण विधि को अधिक महत्त्व दिया है।

भारत में पूँजी निर्माण
(Capital Formation in India)

भारत तथा अय अल्प विकसित देशा म पूँजी की कमी के साथ-साथ पूँजी निर्माण की गति भी बडी धीमी है। कुछ देश ऐसे होते हैं जिसम श्रम की मात्रा अधिक होती है और कुछ म पूँजी का आधिक्य। पू जी का आधिक्य होन पर उसका उचित उपयोग आवश्यक है। यदि उसका उपयाग आर्थिक विकास के लिए किया जाय तथा उन सस्थाओ को स्थापित किया जाय जो इस दिशा म सक्रिय सहयोग प्रदान कर सकें तो निश्चय ही पू जी के निर्माण तथा सचय म सहायता मिलेगी। परन्तु अधिकाश अल्पविकसित दशा म पू जी की कमी होती है। इस कमी के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं

(i) **लागों का निधन होना** भारत म पू जी सचय करने की इच्छा के सभी तत्वा के रहते हुए भी पू जी के सचय की दर बहुत ही कम है। यहाँ के लोग दूरदर्शी है उनम पारिवारिक स्नेह के कारण धन बचाने की इच्छा भी है ब्याज की दर भी ऊची है तथा लाग यह भी जानते हैं कि धन सचय स उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा भी बढेगी परन्तु इतना होने हुए भी आय कम होन के कारण वे धन बचा नही पाते। अत भारत म बचत की दर कम होने से पू जी सचय तथा पूँजी निर्माण की गति भी धीमी है।

(ii) **बचत करने की शक्ति** बचत करने की शक्ति कई बाता से प्रभावित होती है। यदि लोगा की आय कम है तो उनकी बचत करन की शक्ति नहीं के बराबर होगी। इसके अतिरिक्त मुद्रा प्रसार के कारण आवश्यक वस्तुओं के मूल्य अधिक होन स लोगो की बचत करने की शक्ति कम हो जाती है। इसका प्रमुख

कारण है कि आय का बहुत बड़ा हिस्सा अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति करने पर ही खर्च हो जाता है। आय के कम होने का प्रमुख कारण जनसंख्या में लगातार वृद्धि है। राष्ट्रीय उत्पादन में इसकी तुलना में वृद्धि कम होने से राष्ट्रीय आय कम होती है जिससे प्रति व्यक्ति आय भी कम हो जाती है। इसका प्रभाव राष्ट्रीय बचत पर भी पड़ता है। ये सब दशायें भारत में पायी जाती हैं। इन कारणों के परिणाम स्वरूप ही भारत में बचत की शक्ति बहुत ही कम है।

(iii) **बचत करने की सुविधायें** स्वतन्त्रता के पहले भारत में बैंकिंग तथा वित्तीय संस्थाओं की कमी के कारण बचत करने की सुविधाओं का अभाव था। स्वतन्त्रता के पश्चात् विशेषकर आर्थिक नियोजन काल के प्रारम्भ होने के बाद से इन संस्थाओं को व्यवस्थित करके इनका विस्तार किया गया। आन्तरिक बचत को एकत्र करने के लिए कुछ अनिवार्य बचत योजनाएं चालू की गयी हैं बैंकों की बहुत सी शाखाएं खोली गयी हैं जीवन बीमा का विस्तार किया गया है सरकारी वित्तीय संस्थाएं स्थापित की गयी है अधिक ब्याज वाले सरकारी ऋण पत्र बाण्ड्स आदि जारी करके लोगों को बचत करने के लिए प्रोत्साहन दिया गया है। परन्तु इतना होने हुए भी भारत जैसे विशाल देश के लिए ये सुविधाएं एवं प्रोत्साहन कम हैं। औद्योगिक क्षेत्र का पूरा विकास नहीं होने के कारण राष्ट्रीय आय कम है ग्रामीण क्षेत्र अब भी अविकसित हैं जिससे वहां की जनता को बचत की सभी सुविधाएँ प्राप्त नहीं है।

(iv) **धन का असमान वितरण** भारत तथा अन्य अल्प विकसित देशों में बचत की दर कम होने का एक कारण यह भी है कि समाज में धन का असमान वितरण है। समाज का एक वर्ग तो अधिक धनी है तथा अधिकांश लोग गरीब है। धनी वर्ग ही बचत करने में समर्थ है परन्तु यह वर्ग भी उपभोग वस्तुओं तथा अनुत्पादक सम्पत्तियां जैसे मकान भूमि, आभूषण तथा विलासिता की वस्तुओं, पर अपनी बचत खर्च कर देता है। इसका असर राष्ट्रीय बचत की दर पर पड़ता है।

(v) **निर्धनता के अन्य प्रभाव** भारत जैसे अल्प विकसित देशों में निर्धनता का दुश्चक्र (Vicious circle of poverty) न केवल बचत की इच्छा तथा बचत की शक्ति को प्रभावित करता है बल्कि श्रमिकों की कार्य क्षमता तथा कार्य-कुशलता को भी कम करता है। निर्धन लोग न तो उचित शिक्षा ही प्राप्त कर पाते हैं और न ही अपना जीवन स्तर ऊँचा उठाकर कार्य कुशल हो पाते है। गरीबी के अन्य प्रसार प्रभावों (Spread effects) में वस्तुओं की मांग कम होना मांग कम होने से उत्पादन मात्रा कम होना उत्पादन मात्रा कम होने से औद्योगिक विकास का रुक जाना रोजगार के साधनों का न होना पूँजी निर्माण में कमी होना आदि प्रभाव गिनाये जा सकते है। इससे यह स्पष्ट है गरीबी का कुचक्र ही पूँजी संचय तथा

निर्माण के लिए बाधक है। निधनता के दुश्चक्र को हम निम्न चित्र द्वारा भी स्पष्ट कर सकते हैं
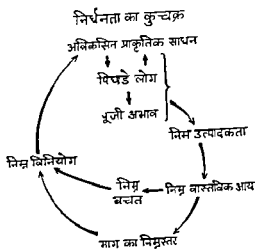
चित्र स० 51

अत राष्ट्रीय सरकार को आर्थिक तथा औद्योगिक विकास की योजनाओं को चालू करना चाहिए जैसा कि भारत सरकार ने किया है। प्रारम्भ में उसे विदेशों से ऋण एवं वित्तीय सहायता लेकर औद्योगिक विकास का ढांचा खड़ा करना चाहिए। इसके साथ ही साथ कर-नीति के द्वारा लोगों की आय का थोड़ा भाग पूंजी निर्माण के लिए प्राप्त करना चाहिए। बीमा बैंकिंग तथा अन्य वित्तीय सस्थाओं का विकास करना चाहिए। इनके अतिरिक्त जनता के दृष्टिकोण आचरण भावनाओं तथा व्यापारिक एवं औद्योगिक नीतियों में परिवर्तन करना चाहिए जिससे लोग भविष्य में सुखी जीवन व्यतीत करने की इच्छा से प्रेरित होकर वर्तमान आय में से कुछ न कुछ अवश्य बचायें। सरकार को देश में औद्योगिक तथा आर्थिक विकास के लिए एक आधार (Infra structure) भी तैयार करना होगा। यह ढांचा यद्यपि आय देने वाला नहीं है फिर भी इस ढांचे के बन जाने से राष्ट्रीय आय बढ़ाने वाले कई उद्योग धन्धे पनपने लगते हैं। यातायात शक्ति आदि की सुविधाएं उद्योग धन्धों तथा व्यापार के विकास एवं विस्तार में सहायक होती हैं।

भारत की तीन पंचवर्षीय योजनाओं की अवधि में इन दिशाओं में आवश्यक कार्यक्रम पूरे किये गये हैं। कई बुनियादी उद्योगों के स्थापित हो जाने से पूंजी निर्माण की प्रक्रियाएं प्रारम्भ हो गयी हैं। परन्तु लोगों में बचत की प्रवृत्ति (Propensity to save) पूरी तरह से विकसित नहीं हो पायी है। इसके प्रमुख

कारए हैं बढती हुई जनसख्या तथा बन्त हुए मू य। इन दोनो दोषो का दूर करने पर ही नागो की बचत दर म वद्धि हो सक्ती है। ग्रत सरकार को पूँजी मचय तथा पूँजी निर्माए के लिए इन दोना समस्याग्रा का दूर करन के लिए ग्रावश्यक उपाय करने चाहिए।

प्रश्न व सकेत

1 पूँजी की परिभाषा दीजिए। इसकी मुख्य मुन्य विशेषताएँ क्या हैं ? समझाइय।

Define the term capital What are its chief characteristics ? Explain

[सकेत—पूँजी की परिभाषा देकर इसकी विशेषताग्रो का उल्लेख कीजिए।]

2 पूजी शब्द की व्याख्या कीजिए। पूँजी व भूमि ग्राय श्रम ग्रादि के मध्य का क्या ग्रन्तर है ? समझाइए।

Define the term capital What is the difference between capital and land income labour etc

[सकेत—पूँजी शब्द को परिभाषित करिय इसके बाद इनमे ग्रन्तर स्पष्ट करिय।]

3 पूँजी के महत्त्व एव कार्यो का उल्लेख कीजिए।

Describe the importance and functions of capital

[सकेत—पूँजी के महत्त्व ग्रौर कार्यों का समझाइये।]

4 पूँजी निमाए क्या है ? पूँजी निर्माए को प्रोत्साहित करने वाल तत्त्वा की व्याख्या कीजिए।

What is capital formation ? Discuss the factors that influence capital formation

[सकेत—प्रश्न के प्रथम भाग मे पूजी निर्माए को समझाइये। प्रश्न के दूसरे भाग म पूँजी निर्माए को प्रभावित करने वाल तत्त्वा को समझाइये।]

5 किसी देश म पूँजी निर्माए किन किन तत्त्वो स प्रभावित होता है ? भारत म पूँजी निर्माए की गति धीमी क्यो है ?

What factors influence capital formation in India ? Why is the rate of capital formation slow in India ?

[सकत—पूँजी निर्माए भारत म धीमा क्यो है ? कारएो सहित उल्लेख करिये।]

6 ग्राधुनिक उत्पादन-व्यवस्था म पूँजी का क्या योगदान है ? पूँजी की ग्रभिवद्धि को प्रोत्साहित करने वाल तत्त्वा की व्याख्या कीजिए।

Discuss the role of capital in modern production systems What are the factors which promote the growth of capital ?

7 पूंजी निर्माण से क्या अभिप्राय है ? अर्द्ध विकसित देशों में पूंजी निर्माण की दर नीची क्यों है ? ऐसे देशों में पूंजी निर्माण में सरकार के योगदान की विवेचना कीजिए।

What do you understand by capital formation ? Why is rate of capital formation slow in under-developed countries ? Describe the role of Government in capital formation in under-developed countries

8 संक्षिप्त टिप्पणी दीजिए

(i) पूंजी की कार्यकुशलता

(ii) पूंजी का वर्गीकरण

(iii) पूंजी निर्माण की अवस्थाएं तथा

(iv) भूमि को पूंजी क्यों नहीं माना जा सकता ?

Give short notes on

(i) Efficiency of capital

(ii) Classification of capital

(iii) Stages of capital formation and

(iv) Why land cannot be called capital ?

24

सगठन तथा साहस
(Organisation and Enterprise)

> Organisation is a harmonious adjustment of specialised parts for the accomplishment of some common purpose or purposes
>
> —*Haney*

सगठन तथा सगठनकर्ता
(Organisation and Organiser)

अर्थ तथा महत्त्व (*Meaning and Importance*)

अर्थ उत्पादन काय केवल उत्पादन के तीन प्रमुख साधनो—भूमि श्रम तथा पूँजी—स अपने आप पूरा नही हो जाता। इन साधनो को एकत्र करके उनका सर्वोत्तम एव अनुकूलतम अनुपात (Optimum proportion) म समायोजन (Adjustment) या सयुक्त (Combine) करना आवश्यक होता है। इसी काय को सगठन अथवा व्यवस्था (Organisation) कहा जाता है। हैने (Haney) के अनुसार **किसी निश्चित उद्देश्य अथवा उद्देश्यो को प्राप्त करने के लिए उत्पादन के प्राप्त साधनो को सर्वोत्तम विधि से सयोजित करने के काय को सगठन कहते हैं।** इसस यह स्पष्ट है कि उत्पादन के काम का एक निश्चित उद्देश्य होता है। यह उद्देश्य है—न्यूनतम लागत पर अधिकतम उत्पादन (Maximum production at minimum cost)। यह उद्देश्य विभिन्न साधनो म सर्वोत्तम सयोग तथा सहयोग स्थापित करने पर ही पूरा किया जा सकता है।

अत यह कहा जाता है कि उत्पादन-काय म सगठन का विशेष महत्त्व है। अत सगठन एव व्यवस्था भी उत्पादन का एक प्रमुख साधन है। वास्तव म यह सम्पूर्ण उत्पादन-काय की सचालन शक्ति है क्योकि यह मनुष्य की वह कुशल मानसिक तथा शारीरिक श्रम शक्ति है जो उत्पादन की समस्त प्रक्रियाओ का सचालन तथा निर्देशन करती है। बाई के अनुसार एक व्यापारिक सस्था (उपक्रम) का यह सारा काय वास्तव म श्रम का ही रूप है क्योकि यह आय अथवा धन पाने के लिए किया गया मानसिक प्रयास है। किन्तु यह अन्य प्रकार के श्रम से भिन्न एक

ऐसा श्रम है जिसके लिए विशेष गुणों तथा योग्यता की आवश्यकता पड़ती है। यही कारण है कि यह स्वयं में उत्पादन का एक साधन माना जाता है।[1] इस प्रकार की विशेष योग्यता रखने वाला व्यक्ति व्यवस्थापक प्रबन्धक या संगठनकर्ता (Organiser) कहलाता है क्योंकि वह उत्पादन के विभिन्न साधनों के प्रभावपूर्ण सहयोग द्वारा समस्त उत्पादन कार्य को सुव्यवस्थित ढंग से संगठित करता है।

संगठन का महत्त्व (Importance) आधुनिक उत्पादन-व्यवस्था में संगठन का विशेष महत्त्व है। इसका कारण यह है कि वर्तमान उत्पादन व्यवस्था श्रम विभाजन विभागीयकरण यन्त्रीकरण तथा विशिष्टीकरण पर आधारित है। कार्यों का अलग अलग व्यक्तियों में विभाजन होने पर उनमें प्रभावपूर्ण सामंजस्य एवं सहयोग का होना आवश्यक है। कुशल संगठन द्वारा ही विभिन्न उत्पादन प्रक्रियाओं का श्रमिकों की योग्यता अनुभव तथा कार्य शक्ति के अनुसार संगठित करके श्रम विभाजन तथा विशिष्टीकरण का अधिकतम लाभ उठाया जा सकता है। वस्तुतः संगठन का उद्देश्य उत्पादन कार्य तथा उत्पादन-सुविधाओं को उचित रूप से संगठित करना है। हनरी फ्योल ने इस सम्बन्ध में कहा है "**एक व्यापार को संगठित करने का अभिप्राय उसको कार्यशील बनाने के लिए उसको प्रत्येक उपयोगी साधन प्रदान करने से है कच्चा माल उपकरण पूँजी श्रम।**"[2]

संगठन उत्पादन के साधनों को अधिक प्रभावकारी बनाता है न्यूनतम लागत पर अधिकतम लाभ प्राप्त करने में सहायक होता है तथा उत्पादन प्रक्रियाओं को निश्चितता तथा कार्य क्षमता प्रदान करता है। कुशल संगठन उत्पादन संस्था की समस्याओं को सुलझा कर उसका विकास तथा विस्तार करता है। आधुनिक उत्पादन बड़े पैमाने पर होने के कारण उसकी समस्याओं तथा कठिनाइयों को दूर करने का श्रेय कुशल संगठन को ही है। संगठन प्रत्येक उत्पादन व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है चाहे वह पूँजीवादी अर्थव्यवस्था हो अथवा समाजवादी या साम्यवादी। समाजवादी अर्थव्यवस्था में इसका अत्यधिक महत्त्व है क्योंकि सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था नियोजित ढंग से संचालित की जाती है। पूँजीवादी व्यवस्था में प्रतिस्पर्द्धात्मक लागत पर बड़े पैमाने पर उत्पादन उसी समय लाभकारी हो सकता है जबकि संगठनकर्ता उत्पादन के साधनों में प्रभावकारी सहयोग स्थापित करे। मिश्रित अर्थव्यवस्था (Mixed Economy) में सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्रों

---

1 All this work of business enterprise is really a form of labour for it is mental effort devoted to the acquisition of wealth or income But it is a labour of a type so distinct from other kinds and calls for such unique qualities that it is usually regarded as a factor of production in itself

—*Bye*

2 To organize a business is to provide it with everything useful to its functioning raw materials tools capital personnel

—*Henri Fayol* General and Industrial Management

(Public and private sectors) की उत्पादन नीति म समन्वय कुशल सगठनकर्ता ही बनाये रख सकता है। समाजवादी तथा मिश्रित अर्थव्यवस्था म राष्ट्रीय सरकार स्वय सगठनकर्ता एव व्यवस्थापक का काय करती है। अत आधुनिक उत्पादन व्यवस्था म आन्तरिक तथा बाह्य मितव्ययिताओं (Internal and external economies) का लाभ उठाने के लिए सगठन तथा कुशल व्यवस्था का होना बहुत आवश्यक है।

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो ने सगठन के महत्त्व को स्वीकार किया था परन्तु व इसको श्रम का ही एक अङ्ग मानते थे। उनके अनुसार उत्पादन कार्य का सचालित करने के लिए किया जाने वाला कुशल मानसिक श्रम उत्पादक श्रम था। उन्होंने इसको उत्पादन का एक अलग साधन नहीं माना था। इसका कारण यह था कि प्राचीन उत्पादन व्यवस्था का केन्द्र बिन्दु एक ही व्यक्ति होता था। चूँकि उस भी अपने उत्पादन कार्य को सगठित करने के लिए एक योजना के अनुसार काय करना पड़ता था। अत उसको सगठन शक्ति को उसके अन्य कार्यों का ही एक पहलू माना जाता था। परन्तु औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् उत्पादन व्यवस्था म क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। फलस्वरूप उसम उत्पादन व्यवस्था के लिए विभिन्न साधनो के प्रभावकारी सहयोग एवं समन्वय की आवश्यकता पड़ी। उद्यमी या साहसी को भूमि के लिए भूमिपति पर श्रम के लिए श्रमिको पर तथा पूँजी के लिए पूजीपति पर आश्रित होना पड़ा। एक निश्चित उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए इन साधनो को एकत्र करने तथा उनम प्रभावकारी सहयोग स्थापित करने के लिए उचित व्यवस्था, सगठन तथा प्रबन्ध की आवश्यकता महसूस हुई। साहसी केवल उत्पादन का उद्देश्य ही निर्धारित करता था परन्तु उस उद्देश्य को पूरा करने के लिए कुशल सगठन एव व्यवस्था का जन्म हुआ। इसस पहल एक ही व्यक्ति सगठन सम्बन्धी काय करता था तथा जोखिम भी उठाता था। परन्तु धीरे धीरे उद्यमी (Entrepreneurs) ने यह महसूस किया कि उत्पादन साधनो म मैत्रीपूर्ण सन्तुलन एव समायोजन स्थापित करने का काय व नहीं कर सकते। अत व्यवसाय सगठन का काय सगठनकर्ता को सौंप दिया गया। इस प्रकार सगठन एक महत्त्वपूर्ण साधन बन गया।

सगठनकर्ता के काय (Functions of an Organiser)

सगठनकर्ता एक कुशल व्यवस्थापक तथा प्रबन्धक होता है। व्यापारिक *अथवा उत्पादन-इकाई का स्वामी साहसी और सचालक स्वय भी हो सकता है या* वह एक कुशल वेतन भोगी (Salaried) व्यक्ति को सगठनकर्ता या प्रबन्धक के रूप म नियुक्त कर सकता है। नाना विभिन्न स्थितियो मे उत्पादन व्यवस्था के सगठन के लिए सगठनकर्ता को निम्नलिखित काय करने पड़ते हैं

(1) निश्चित उद्देश्य की प्राप्ति के लिए योजना बनाना सगठनकर्ता सबस पहले साहसी द्वारा निश्चित किय गए उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उत्पादन

व्यवस्था की भावी रूपरेखा तयार करता है। इसके अन्तगत वह वस्तु की सम्भावित माग क अध्ययन क आधार पर वस्तु की किस्म तथा मात्रा निर्धारित करता है तथा उत्पादन सम्बन्धी कामो की योजना बनाता है।

(2) **उत्पादन के साधनो को एकत्र करना** वस्तु की किस्म तथा उत्पादन मात्रा निश्चित कर लेने के बाद वह भूमि श्रम तथा पूँजी की मात्राएँ आवश्यकतानुसार कम से कम लागत पर खरीदने के लिए आवश्यक प्रबन्ध करता है। ये साधन जिन व्यक्तियो तथा सस्थाओ म खरीदे जा सकते है उनसे वह सौदा करता है। इसक बाद सौदे के अनुसार निश्चित किये गये मूल्य का भुगतान करने के लिए आवश्यक प्रबन्ध भी वही करता है।

(3) **विभिन्न साधनो म प्रभावकारी सहयोग स्थापित करना** उत्पादन के आवश्यक साधनो की व्यवस्था कर लेने के बाद सगठनकर्त्ता उनम अनुकूलतम सहयोग स्थापित करने की नीति निधारित करता है। प्रतिस्थापन के नियम (Law of Substitution) के आधार पर वह विभिन्न साधनो के समन्वय का सर्वोत्तम अनुपात निर्धारित करता है। इसके लिए वह बाजार म वस्तु की माग तथा तुलनात्मक मूल्य का अध्ययन करता है। इसके बाद वह अपनी उत्पादन लागत ज्ञात करके अनुपातो म हेर फेर करता है तथा कम स कम लागत पर वस्तु के उत्पादन की व्यवस्था करता है।

(4) **आवश्यक यन्त्र उपकरण तथा कच्चे माल को क्रय करना** वह उत्पादन-काय को चलाने के लिए आवश्यक सामग्रिया यन्त्र-कल तथा उपकरणो को खरीदने का प्रबन्ध करता है। इस सम्बन्ध म वह इस बात पर विशेष ध्यान देता है कि खरीदी जाने वाली सामग्रियाँ अच्छी हो तथा यन्त्र एव कल उत्पादन-काय के लिए उपयोगी हो और उनकी कायक्षमता अधिकतम हो।

(5) **श्रम सगठन** सगठनकर्ता का एक महत्त्वपूर्ण काय श्रम को सगठित करना भी है। उसे श्रमिको की रुचि योग्यता तथा कायक्षमता क अनुसार काय विभाजन करना पडता है। उसे यह भी देखना पडता है कि श्रम-पडत-उत्पाद अनुपात (Labour input output ratio) तथा पूजी पडत-उत्पाद अनुपात (Capital input output ratio) म क्या अन्तर है। दोनो अनुपात म जिस अनुपात स उसे लाभ होता है उसी क अनुसार वह अपनी उत्पादन व्यवस्था को सगठित करता है। श्रमिक वग का सगठित करने तथा उनकी उत्पादकता को बढाने के लिए वह प्रेरणात्मक योजना की रूपरेखा भी तयार करता है।

(6) **उत्पादन व्यवस्था का प्रशासन** उत्पादन व्यवस्था का सुचारु रूप से सचालित करने के लिए वज्ञानिक प्रबन्ध (Scientific Management) के सिद्धान्तो के आधार पर वह विभागीयकरण (D partmentalisation) पारस्परिक सम्पक (Communication) तथा अधिकारों की सुपुर्दगी (Delegation of authority)

के नियमों का अनुपालन करने की योजनाएँ बनाता है। इन नियमों को कार्य रूप में लागू करने तथा कर्मचारियों में संस्था के प्रति रुचि एवं उत्साह को उत्पन्न कर निश्चित नीतियों का प्रभावी ढंग से पालन होता है। विभिन्न संस्थाओं—बैंक, बीमा कम्पनियों, उत्पादकों तथा व्यापारिक संस्थाओं आदि—से सम्पर्क बनाये रखना भी संगठनकर्ता का उत्तरदायित्व है।

(7) **वितरण व्यवस्था**—उत्पादन के पश्चात् संगठनकर्ता का कार्य उत्पादित वस्तु की बिक्री की व्यवस्था करना भी है। बाजार तथा लागत के आधार पर वह अपनी संस्था के माल का मूल्य निर्धारित करता है तथा इसको विभिन्न क्षेत्रों में भेजने की व्यवस्था करता है। उसकी बिक्री, माल भेजने की विधि, मूल्य भुगतान आदि के सम्बन्ध में आवश्यक नीति निर्धारित करता है। बिक्री से सम्बन्धित सभी समस्याओं जैसे विज्ञापन, वितरण-नीति, प्रतिस्पर्द्धात्मक मूल्य निर्धारण, रुचि, फैशन आदि के सम्बन्ध में मांग में परिवर्तन आदि का अध्ययन करना तथा अवसर से लाभ उठाने वाली नीति निर्धारित करना भी संगठनकर्ता का ही कार्य है।

(8) **अन्य कार्य**—संगठनकर्ता को उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त उत्पादन सम्बन्धी नई-नई विधियों, नवीनतम मशीनों, नये बाजार क्षेत्रों, औद्योगिक उत्पादन तथा बिक्री-नीतियों का ज्ञान रखना पड़ता है जिससे वह अपनी संस्था के विकास तथा लाभ की वृद्धि करने में सफल हो सके।

कुशल संगठनकर्ता के गुण

किसी उत्पादक-संस्था का अधिकतम लाभ उसी समय प्राप्त हो सकता है जब कि उसमें प्रयोग में आने वाले उत्पादन के सभी साधनों का प्रभावकारी सामंजस्य हो। यह उसी समय सम्भव हो सकता है जबकि संगठनकर्ता की सम्पूर्ण उत्पादन व्यवस्था ठीक हो तथा उसका प्रबन्ध कुशल हो। इस प्रकार संस्था के विशाल रहने पर ही उत्पादन मांग निर्धारित की जा सकती है तथा आन्तरिक एवं बाह्य मितव्ययिताओं का पूर्ण लाभ उठाया जा सकता है। शेल्डन (Sheldon) ने संगठन के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए कहा है कि "संगठन व्यक्ति तथा व्यक्ति समूहों द्वारा आवश्यक बुद्धि तथा योग्यता द्वारा किये जाने वाले कार्यों की संयोजन विधि है, जिसके द्वारा कर्त्तव्यों को संगठित करने पर उपलब्ध प्रयत्नों का कुशल, नियमित, धनात्मक तथा संयुक्त रूप से सर्वोत्तम उपयोग सम्भव हो जाता है।"[1] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सम्पूर्ण उत्पादन व्यवस्था की संचालन शक्ति संगठनकर्ता में निहित

---

1 Organization is the process of combining the work which individuals and groups have to perform with the faculties necessary for its execution so that the duties so formed provide the best channels for efficient systematic positive and co ordinated application of the available effort.

—*Oliver Sheldon*

है। उसमें यह शक्ति उसके कुछ निजी गुणों के कारण होती है जिनको वह प्रशिक्षण तथा अनुभव द्वारा अधिक कुशल बना लेता है। उसके ये गुण निम्नलिखित हैं

(1) **दूरदर्शिता** (Foresight) व्यवस्थापक को दूरदर्शी होना चाहिए। उसमें सम्भावित माँग का अनुमान लगाने की क्षमता होनी चाहिए। यदि वह इन प्रश्नों—किस वस्तु का उत्पादन किया जाय? किस मात्रा में उत्पादन किया जाय? कब उत्पादन किया जाय?—का हल निकालने में असमर्थ है तो वह कुशल व्यवस्थापक नहीं बन सकता। उसे स्पर्द्धात्मक बाजार में अधिकतम लाभ प्राप्त करना होता है। अतः उसमें मितव्ययिताओं का अनुमान लगाकर लाभ उठाने की क्षमता व कुशलता होनी चाहिए।

(2) **संगठन शक्ति** (Organising Capacity) एक कुशल व्यवस्थापक उत्पादन व्यवस्था का 'मस्तिष्क एवं बुद्धि' (Head and brain) है। उसमें उत्पादन के समस्त साधनों में उचित समन्वय स्थापित करने तथा विभिन्न उत्पादन प्रक्रियाओं में सामंजस्य स्थापित करने की क्षमता होनी चाहिए।

(3) **विशिष्ट तकनीकी ज्ञान तथा अनुभव** (Technical Education and Experience) संगठनकर्ता उसी समय सम्पूर्ण उत्पादन-व्यवस्था को संगठित कर सकता है जबकि उसमें तकनीकी योग्यता हो। उत्पादन संस्थान के विभिन्न विभागों के कार्य-संचालन के लिए प्रत्येक विषय की जानकारी तथा अनुभव होना आवश्यक है। तकनीकी तथा विशेष शिक्षा से उसकी बुद्धि विकसित होती है तथा अनुभव द्वारा उसमें निर्णय शक्ति का विकास होता है।

(4) **श्रम संगठन की क्षमता** (Labour Organisation Capacity) व्यवस्थापक की कुशलता श्रमिकों को संगठित करने की योग्यता पर निर्भर है। विशेष रुचि, योग्यता तथा कुशलता के अनुसार वैज्ञानिक ढंग से कार्य विभाजन करने की योग्यता यदि संगठनकर्ता में है तो वह सम्पूर्ण उत्पादन व्यवस्था के विभिन्न अंगों में सहकारिता की भावना उत्पन्न कर सकता है। इसके अतिरिक्त उसमें सहानुभूति एवं सहयोग की भावना भी होनी चाहिए। चरित्र तथा स्वभाव आदर्श होने पर ही वह अपने सहयोगियों को संस्था के मूल उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए प्रेरणा प्रदान कर सकता है।

(5) **विश्वास दिलाने की योग्यता** (Ability to inspire confidence) व्यवस्थापक का प्रमुख कर्तव्य उत्पादन व्यवस्था के उद्देश्य को निर्धारित करना तथा उस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए योजना बनाना है। उस योजना की सफलता के लिए उसे साहसी तथा उत्पादन के अन्य साधनों में विश्वास की भावना उत्पन्न करने की योग्यता होनी चाहिए। उसे सरकारी ऋण प्रदान करने वाली संस्थाओं तथा ऋण पत्रधारियों आदि में यह विश्वास उत्पन्न करना होता है कि उसकी संस्था अधिकतम

लाभ प्राप्त करने में सफल होगी। श्रमिकों में भी यह विश्वास उत्पन्न करना आवश्यक होता है कि वह उनकी योग्यता एवं कठिनाइयों के प्रति जागरूक है।

उपयुक्त गुणों के रहने पर एक कुशल सगठन अपनी संस्था की उत्पादन व्यवस्था को वैज्ञानिक ढंग से व्यवस्थित एवं सगठित कर सकता है। वर्तमान युग में सगठन (एवं सगठनकर्त्ता) के महत्त्व का अनुमान एण्ड्रयू कार्नेगी (Andrew Cornegie) के इन शब्दों से लगाया जा सकता है

Take away our factories take away our trade our avenues of transportation our money Leave us nothing but our corporation and in four years we shall have established overselves

साहस या उपक्रम
(Enterprise)

Engaging in risky ventures is an essential characteristic of entrepreneurship even though in contemporary large corporation this function is not typically combined with managerial activities

—*William Fellner*

प्रत्येक उत्पादन कार्य तथा व्यवसाय में जोखिम (Risk) का तत्त्व निहित है। उत्पादन छोटा हो या बड़ा उसे अनिश्चितता (Uncertainty) का सामना करना पड़ता है। उत्पादन का उद्देश्य उपभोक्ताओं की माँग को पूरा करना है। किसी भी उत्पादन इकाई को स्थापित करने से पहले सम्भावित माँग का अनुमान लगाना पड़ता है। आधुनिक औद्योगिक सगठन का कार्य इतना जटिल है कि उत्पादन के उद्देश्य को निश्चित करने, उद्योग को स्थापित करने तथा उत्पादन का काम शुरू करने में कुछ समय लगना निश्चित है। समय तत्त्व के कारण उत्पादन-सम्बन्धी जोखिम के बढ़ जाने की सम्भावना रहती है। हो सकता है उस समय में माँग में परिवर्तन हो जाय या नये प्रतियोगी उसी वस्तु का उत्पादन आरम्भ कर दें जिससे लाभ कम होने या हानि की सम्भावना बढ़ जाती है। यदि उत्पादक का माँग सम्बन्धी अनुमान गलत सिद्ध हुआ (मान लीजिए माँग कम हो गई) तो उसे हानि उठानी पड़ सकती है। अतः व्यवसाय में अनिश्चितता एवं जोखिम की तत्त्व प्रत्येक दशा में मौजूद है। जो भी व्यक्ति या संस्था इस जोखिम को उठाता है या अनिश्चितता का सामना करता है उसे साहसी या उद्यमी (Entrepreneur) कहते हैं। **इस प्रकार व्यवसाय को जोखिम तथा अनिश्चितताओं को वहन करने वाले को साहसी कहा जाता है तथा जोखिम वहन करने का काम साहस कहलाता है।**

उद्यमी कौन है? (Who is an Entrepreneur?)

सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि जो भी व्यक्ति उत्पादन सम्बन्धी जोखिम और अनिश्चितता को उठाता है या सहन करता है उसे उद्यमी उपक्रमी

या साहसी की मना नी जा सकती है। परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्रियों (विशेषतया शुम्पीटर) ने उद्यमी को केवल जोखिम उठाने वाला या अनिश्चितता वहन करने वाला मात्र ही नहीं माना है बल्कि उसे नवीन विधियों का प्रयोगकर्ता (Innovator) भी माना है। प्रश्न उठता है—कौन सी उत्पादन प्रणाली नवीन है? यदि किसी नयी खान की गयी मशीन या उत्पादन विधि द्वारा पहली बार उत्पादन किया जाय तो निश्चित रूप में यह कार्य (Innovation) माना जाएगा। अत उत्पादन-कार्य को नय तरीके म करन वाला व्यक्ति वास्तविक अर्थों म साहसी माना जाएगा। परन्तु यदि किसी अल्प विकसित देश म एक व्यक्ति अमरिका म प्रयोग की जान वाली आधुनिकतम मशीन को मगाता है तथा पहली बार उत्पादन के लिए अपने देश म उसका प्रयोग करता है तो क्या हम ऐसे व्यक्ति को उपक्रमी कहेंगे? किसी व्यक्ति को उपक्रमी कहे जाने के लिए निश्चित मापदण्ड नहीं है। यह देश तथा काल पर निर्भर है। एक व्यक्ति को किसी उद्यम विशेष के कारण एक पिछड़े हुए देश म शुम्पीटर के अनुसार साहसी' कहा जा सकता है (Innovator के रूप म) तथा उसी व्यक्ति को एक विकसित देश म साहसी नहीं भी कहा जा सकता है। अत साहस सम्बन्धी मानदण्ड विभिन्न प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं म अलग अलग है।

एक विकसित देश म उपक्रमी उस व्यक्ति को कहते हैं जो अर्थ व्यवस्था म किसी नयी विधि का सबसे पहले प्रयोग करता है इस निर्माण के किसी क्षेत्र म ऐसी उत्पादन विधि अपनाना जिसे पहले नहीं अपनाया गया है किसी ऐसी वस्तु का उत्पादन करना जिससे उपभोक्ता पूर्व परिचित नहीं है कच्चे माल के नये स्रोत का उपयोग करना तथा नये बाजार की खोज आदि।[1] अत विकसित अर्थव्यवस्था म वही व्यक्ति उपक्रमी कहा जा सकता है जो सर्वथा नयी विधि वस्तु बाजार या कच्चे माल के स्रोत का उद्योग करता है। परन्तु उपक्रमी सम्बन्धी इस परिभाषा को अल्प विकसित अर्थ व्यवस्था के सन्दर्भ में लागू नहीं किया जा सकता। ऐसी अर्थ-व्यवस्था म सामान्यत उस व्यक्ति को उपक्रमी कहा जाता है जो किसी भी प्रकार के उद्योग या व्यवसाय (नया या पुराना) की स्थापना करता है तथा जोखिम व अनिश्चितता का भार उठाता है। ऐसे देशों म उद्योग धन्धे भी परम्परावादी (Traditional) होते हैं साहसी सामान्यतया नये क्षेत्रों म उद्योगों की स्थापना नहीं करते। अत एक अल्प विकसित देश म वह

---

1 The entrepreneur in an advanced economy is an individual who introduces something new into the economy a method of production not yet tested by experience in the branch of manufacture concerned a product with which consumers are not yet familiar a new source of new markets and the like

—*Joseph A Schumpeter*

व्यक्ति भी श्रेष्ठ साहसी कहा जाएगा जो किसी पिछड़े हुए क्षेत्र में उद्योग की स्थापना करता है या पूँजी का विनियोजन परम्परागत उद्योग में न करके ऐसे उद्योग में करता है जो देश के लिए अधिक उपयोगी है (जैसे उपभोक्ता उद्योगों के स्थान पर उत्पादक उद्योगों या आधारभूत उद्योगों की स्थापना करना)। इस प्रकार उत्पादन के साधनों को एकत्र कर उत्पादन के काम या व्यवसाय का प्रारम्भ करने वाला व्यक्ति जो अंतिम रूप में जोखिम उठाता है उपक्रमी है। उद्योग या विधि नई है या पुरानी इस तथ्य पर ध्यान नहीं दिया जाता। उपक्रमी का सम्बन्ध जोखिम से ही है। पूँजी के अभाव, संकुचित बाजार, नए विनियोजन पर कम लाभ प्राप्ति, परिवहन के साधनों तथा अन्य सुविधाओं (Infra structures) की कमी के कारण अल्प विकसित दशा में उद्योग स्थापित करने में जोखिम तत्त्व अधिक रहता है।

साहसी उत्पादन साधन के रूप में
(Entrepreneur as a Factor of Production)

पुरातन अर्थशास्त्री साहस को उत्पादन का अलग तथा स्वतन्त्र साधन नहीं मानते थे। एडम स्मिथ की मान्यता थी कि पूँजी का स्वामी प्रबन्धक तथा साहसी (Owner Manager Entrepreneur) वस्तुतः एक ही व्यक्ति था। स्मिथ ने साहसी को उत्पादन का स्वतन्त्र साधन नहीं माना। जे० बी० से प्रथम अर्थशास्त्री थे जिन्होंने उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में इस विषय पर अपना विचार प्रकट किया तथा यह कहा कि 'साहसी' उत्पादन का स्वतन्त्र साधन है। से ने कहा कि साहसी की सेवाओं द्वारा ही उत्पादन तथा वितरण सम्भव होते हैं। भूमि, श्रम, पूँजी तथा वस्तु की माँग होते हुए भी यदि कोई साहसी उद्योग प्रारम्भ नहीं करता है तो न तो उत्पादन साधनों की माँग होगी और न उपभोक्ताओं की माँग की पूर्ति ही की जा सकेगी। इस प्रकार साहसी वह मध्यस्थ है जो आय का सृजन तथा वितरण दोनों ही कार्य करता है। से के इन विचारों को समुचित मान्यता मिली। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में तथा बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में औद्योगिक एवं वाणिज्यिक विकास बड़ी तेजी से हुआ। बड़े पैमाने के उत्पादन तथा जटिल श्रम विभाजन के कारण प्रबन्ध सम्बन्धी कार्य स्वामित्व एवं उपक्रम-सम्बन्धी कार्यों से अलग होता गया। अतः अब साहस को उत्पादन का एक स्वतन्त्र तथा अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण साधन माना जाने लगा है। भूमि का लगान, श्रम की मजदूरी, पूँजी पर ब्याज तथा प्रबन्ध के लिए वेतन देकर, मूल्य ह्रास आदि की व्यवस्था करने के पश्चात् उत्पादन में प्राप्त जो भी आय बचता है वह (लाभ) साहसी को प्राप्त होती है। **इस प्रकार लाभ वह आय है जो साहसी को प्राप्त होती है।**

शुम्पीटर ने 'साहस' को उत्पादन का अत्यन्त ही प्रमुख साधन माना है। उनके अनुसार किसी भी अर्थ व्यवस्था के विकास के लिए साहसी का होना

आवश्यक है। साहसी वह व्यक्ति है जो सदा नवीनतम वैज्ञानिक एवं प्राविधिक विधियों का प्रयोग समाज के लिए करता है तथा व्यावसायिक प्रशासन एवं प्रबन्धन से सम्बन्धित वैज्ञानिक विधियों का उपयोग करता है। इस प्रकार साहसी आर्थिक विकास का जनक है। शुम्पीटर के विचारों में अब सभी अर्थशास्त्री सहमत हैं। इस प्रकार साहस को अब उत्पादन के स्वतन्त्र साधन के रूप में मान्यता प्राप्त है।

साहसी तथा संगठनकर्ता में अन्तर (Entrepreneur and Organiser)

साहसी तथा संगठन का कार्य एक ही व्यक्ति कर सकता है। इसलिए प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने इनमें भेद नहीं किया था। परन्तु आधुनिक विचारधारा के अनुसार साहस तथा संगठन उत्पादन के दो स्वतन्त्र साधन माने जाते हैं। इन दोनों में निम्नलिखित अन्तर स्पष्ट है

(1) **जोखिम तथा अनिश्चितता का भार उठाना** साहसी का कार्य जोखिम तथा उत्पादन-सम्बन्धी अनिश्चितता वहन करना है जबकि संगठनकर्ता का कार्य विभिन्न उत्पादन-साधनों में उचित समन्वय स्थापित करना तथा आदर्श अनुपात में उनका प्रयोग करना है। उसका सम्बन्ध जोखिम तथा व्यावसायिक अनिश्चितताओं से नहीं है।

(2) **पारिश्रमिक या पुरस्कार** दोनों के पारिश्रमिक या पुरस्कार में भी अन्तर है। संगठनकर्ता वेतन और साहसी लाभ का अधिकारी है। संगठनकर्ता को वेतन मिलना अनिवार्य है जबकि साहसी का लाभ अनिश्चित है। हानि होने की अवस्था में लाभ का प्रश्न ही नहीं उठता।

(3) **साहसी तथा संगठनकर्ता का दायित्व** साहसी तथा संगठनकर्ता छोटे व्यवसाय में एक ही व्यक्ति हो सकता है परन्तु उसे एक ही समय दो प्रकार की विशिष्ट सेवाएँ—'जोखिम तथा प्रबन्ध-सम्बन्धी'—प्रदान करनी पड़ेंगी। सामान्यतः एकाकी उत्पादक वस्तुतः साहसी तथा 'प्रबन्धक' दोनों होता है। साझेदारी में भी ये दोनों कार्य उचित विभाजन द्वारा किये जा सकते हैं। परन्तु **संयुक्त पूँजी कम्पनी में साहसी तथा संगठनकर्ता अलग अलग होते हैं।** वहाँ अंशधारी कम्पनी के वास्तविक स्वामी होते हैं तथा जोखिम का दायित्व उन्हीं का होता है परन्तु प्रबन्धक का कार्य नियुक्त कर्मचारी करते हैं। कम्पनी का स्वामित्व प्रबन्ध से अलग होता है।

साहसी तथा पूँजीपति में अन्तर (Entr pren ur and Capitalist)

यह आवश्यक नहीं कि साहसी व्यवसाय को चलाने के लिए पूँजी भी दे। ऐसी स्थिति में साहसी और पूँजीपति दो अलग अलग व्यक्ति होते हैं। साहसी पूँजीपति से पूँजी लेता है तथा उसकी पूँजी पर ब्याज देता है। पूँजीपति को जोखिम से कोई मतलब नहीं है। उसे ब्याज के रूप में उसकी आय निश्चित होती है जबकि

साहसी की ग्राय ग्रनिश्चित है। एक छोटे व्यवसाय में साहसी ही पूँजीपति और पूँजीपति ही साहसी होता है। परन्तु यह ग्रावश्यक नहीं कि सभी साहसी पूँजीपति हों या सभी पूँजीपति साहसी भी हों। एक बड़े व्यवसाय में विशेषकर एक कम्पनी में पूँजीपति साहसी से सर्वथा भिन्न होते हैं।

साहसी या उद्यमी के कार्य (Functions of Entrepreneur)

साहसी उद्योग का ग्राधार-स्तम्भ है। उत्पादन इकाई की सफलता प्रमुखतः साहसी की दूरदर्शिता, निर्णय लेने की योग्यता तथा क्षमता और उसके सामान्य बौद्धिक स्तर पर निर्भर है। वह उद्योग के प्रमुख निर्णायक, उत्पादन-साधनों के समन्वयकर्ता तथा जोखिम-वाहक के रूप में कार्य करता है। उसके कार्यों का अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों के ग्रन्तर्गत किया जा सकता है

(i) जोखिम सम्बन्धी कार्य (Risk taking Functions) जोखिम वहन करना साहसी का प्रमुख कार्य है। उद्योग की सफलता या असफलता का ग्रन्तिम दायित्व साहसी पर ही पड़ता है। यह कार्य अत्यन्त ही कठिन है तथा इसको भार उठाने के लिए ग्रत्यधिक क्षमता एवं कुशलता की ग्रावश्यकता पड़ती है। जोखिम उठाने के कारण ही इस पुरस्कार के रूप में लाभ प्राप्त होता है।

(ii) निर्णय तथा समन्वय सम्बन्धी कार्य (Decision making and Co-ordination) निर्णय तथा समन्वय-सम्बन्धी कार्य उद्योग की स्थापना के पूर्व तथा जब उद्योग स्थापित हो रहा हो, उस समय करने पड़ते हैं। ये कार्य निम्नलिखित हैं

(1) उद्योग का चुनाव उद्यमी को इस बात का निर्णय लेना पड़ता है कि वह किस प्रकार के उद्योग की स्थापना करे? इस सम्बन्ध में निर्णय लेते समय उद्यमी उपभोक्ताग्रों की भावी माँग ग्रावश्यक पूँजी, उत्पादन-साधनों की उपलब्धि तथा मात्रा लाभ की सम्भावनाग्रों से प्रभावित होता है।

(2) वस्तु का चुनाव उद्योग का चुनाव करने के पश्चात् उद्यमी को इस सम्बन्ध में निर्णय लेना पड़ता है कि वह चुने हुए उद्योग में सम्बन्धित किस वस्तु का तथा कितनी मात्रा में उत्पादन करे ग्रथवा उद्योग में सम्बन्धित किस उत्पादन क्रिया को ग्रपनाए? जैसे यदि वह लोहा उद्योग में प्रवेश करना चाहता है तो इस सम्बन्ध में निर्णय लेना पड़ेगा कि वह खान से लोहा पत्थर (Iron-ore) निकालने का काम करेगा या केवल लोहा निर्माण कार्य करेगा या इस्पात बनाएगा या ये सभी कार्य करेगा।

(3) उत्पादन-केन्द्र का चुनाव उद्योग की स्थापना किस स्थान पर की जाए? यह भी निर्णय साहसी को लेना पड़ता है। सामान्यतः कच्चे माल की निकटता, बाजार की उपलब्धि, परिवहन एवं ग्रन्य सेवाएँ तथा सुविधाएँ, शक्ति के

साधन और कुशल श्रम की प्राप्ति आदि बातों को ध्यान में रखकर उत्पादन-स्थान के सम्बन्ध में साहसी निर्णय लेता है।

(4) **उत्पादन इकाई का आकार तथा उत्पादन पैमाना** साहसी बड़े औद्योगिक संस्थान की स्थापना करेगा या छोटे ? उत्पादन बड़े पैमाने पर किया जाएगा या छोटे पैमाने पर ? इस सम्बन्ध में भी पूर्व निर्णय की आवश्यकता पड़ती है। इस विषय में निर्णय लेते समय सम्भावित माँग, उपलब्ध पूँजी, लाभ तथा संस्थान के अनुकूलतम आकार आदि को ध्यान में रखना पड़ता है।

(5) **उत्पादन साधनों का संग्रह तथा समन्वय** साहसी उत्पादन के आवश्यक साधनों को आवश्यक मात्रा में एकत्रित करता है तथा उनका प्रयोग ऐसे अनुपात में करता है जिसमें उत्पादन साधनों की क्षमता का अनुकूलतम उपयोग हो सके तथा उत्पादन व्यय न्यूनतम हो सके।

(iii) **प्रबन्ध-कार्य** (Managerial Functions) साहसी उद्योग की आधारशिला एवं प्राण होते हैं। वह प्रबन्ध व्यवस्था के सम्बन्ध में भी निर्णय लेता है तथा महत्त्वपूर्ण कर्मचारियों की नियुक्ति करता है। वह स्वयं भी एक प्रबन्धक के रूप में कार्य कर सकता है। एकाकी स्वामित्व होने पर सामान्यतः प्रबन्ध व्यवस्था साहसी ही करता है। संयुक्त पूँजी कम्पनी में स्वामित्व एवं प्रबन्ध एक दूसरे से अलग होते हैं। स्वामित्व अंशधारियों का होता है तथा प्रबन्ध एवं नीति सम्बन्धी निर्णय तथा उनका कार्यान्वयन संचालक मण्डल करते हैं।

(iv) **वितरण कार्य** (Distributive Functions) उत्पादन साधनों के सहयोग से उत्पादन किया जाता है। अतः उत्पादित वस्तु उत्पादन-साधनों के संयुक्त प्रयास का परिणाम है। इस संयुक्त उत्पाद (Product) का विभिन्न साधनों में किस अनुपात में वितरण किया जाय ? यह कार्य भी साहसी को ही करना पड़ता है। सामान्यतः उत्पादन साधकों को दिया जाने वाला पुरस्कार या पारिश्रमिक उनकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर होता है।

साहसी के गुण (Qualities)

साहसी के उपयुक्त कार्यों से स्पष्ट है कि उत्पादन में उसका सबसे ऊँचा स्थान है। वह केवल जोखिम तथा अनिश्चितता को उठाने वाला ही नहीं है वरन् एक प्रबन्धक दूरदर्शी नीति निर्माता तथा नई उत्पादन विधियों का प्रयोग करने वाला (Innovator) भी है। साहसी का कार्य अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण एवं उत्तरदायित्व पूर्ण है। इन समस्त **कार्यों का सफलतापूर्वक सम्पादन वही साहसी कर सकता है जिसमें निम्नलिखित आवश्यक गुण हों**

(i) **उच्च बौद्धिक स्तर** साहसी का बौद्धिक स्तर ऊँचा होना चाहिए जिससे वह व्यवसाय सम्बन्धी सभी बातों को अच्छी तरह समझ सके।

(ii) **सामान्य योग्यता** साहसी को शिक्षित होना चाहिए जिससे उसे

3 (अ) साहसी तथा संगठनकर्ता के अन्तर को स्पष्ट कीजिए।
(ब) उत्पादन कार्य में जोखिम उठाने का कार्य किस व्यक्ति द्वारा किया जाता है ? स्पष्ट कीजिए।
(a) Distinguish between oragniser and entrepreneur
(b) Who does the job of risk taking in production ? Explain

[संकेत (ब) भाग ब के उत्तर के लिए इस अध्याय के द्वितीय भाग 'साहस या उपक्रम' को देखिए।]

4 साहसी से आपका क्या अभिप्राय है ? साहसी के कार्यों की विवेचना कीजिए। आधुनिक अर्थव्यवस्था में उसके महत्त्व को समझाइए।

What do you mean by the entrepreneur ? Discuss his functions Estimate his importance in the modern economic organisation

[संकेत साहसी का अर्थ कार्य तथा महत्त्व बतलाइए।]

25
उत्पादन का पैमाना
(Scale of Production)

> I would prize every invention of science made for the benefit of all The heavy machinery for work of public utility which cannot be undertaken by human labour has its inevitable place I can have no consideration for machinery which is meant either to enrich the few at the expense of the many or without cause to displace the useful labour of many
>
> —*Mahatma Gandhi*

उत्पादन का पैमाना
(Scale of Production)

उत्पादन का प्रमापीकरण आधुनिक उत्पादन प्रणाली की विशेषता मानी जाती है। परन्तु स्वयं प्रमापीकरण भी श्रम विभाजन एवं विशिष्टीकरण (Specialisation) का ही फल है। प्रमापीकरण के कारण ही उत्पादन के पैमाने को बढ़ाना आवश्यक हो जाता है जिससे उत्पादन की औसत लागत कम होती है तथा प्रमापित वस्तुओं का लगातार उत्पादन सम्भव हो पाता है। उत्पादन के पैमाने को बढ़ाने पर विशिष्टीकरण तथा प्रमापीकरण की योजनाएँ भी सफल हो पाती हैं तथा साथ ही आधुनिकतम मशीनों एवं वैज्ञानिक आविष्कारों का प्रयोग करने के लिए प्रोत्साहन प्राप्त करता है। इस सम्बन्ध में यह भी कहा जाता है कि व्यावसायिक इकाइयों के आकार के सम्बन्ध में दिए गए तर्कों पर विचार करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि विशिष्टीकरण तथा प्रमापीकरण निश्चय ही छोटी फर्म की अपेक्षा बड़ी फर्म की सुविधाओं में वृद्धि करते हैं।'

यह माना जाता है कि प्रत्येक उपक्रमी (Entrepreneur) अपनी उत्पादन इकाई के आकार को बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील रहता है। परन्तु जिस क्रम में उत्पादन की विभिन्न क्रियाओं के विशिष्टीकरण पर ही विशेष ध्यान दिया जाता है उसी व्यावसायिक इकाई का विस्तार छोटा होने पर भी यह सफलता प्राप्त कर

सकती है। अत पैमाने के आधार के सम्बन्ध में—इस प्रश्न पर कि उसका आकार बड़ा हो या छोटा—विचार करना आवश्यक है।

उत्पादन के पैमाने का अर्थ (Meaning of Scale of Production)

उत्पादन के पैमाने से आशय उत्पादन करने वाली इकाई के आकार तथा उसके उत्पादन की मात्रा से लिया जाता है। अत सामान्यतया आकार तथा मात्रा की दृष्टि से उत्पादन का पैमाना दो प्रकार का होता है

(1) बड़े पैमाने का उत्पादन (Large Scale of Production) तथा

(2) छोटे पैमाने का उत्पादन (Small Scale of Production)।

बड़े पैमाने पर उत्पादन
(Large Scale Production)

अर्थ (Meaning)

जब किसी उद्योग में उत्पादन के साधनों का प्रयोग बड़ी मात्रा में करने के लिए उत्पादन इकाइयों का आकार (Size) बड़ा होता है तब ऐसे व्यावसायिक संगठन को 'बड़े पैमाने पर उत्पादन' कहा जाता है। जब किसी उद्योग विशेष में उत्पादन इकाइयों की संख्या में वृद्धि होने पर उस उद्योग का आकार बड़ा हो जाता है तब उसे बड़े पैमाने का उत्पादन कहा जाता है। अत बड़े पैमाने पर उत्पादन व्यवस्था का आशय उद्योग या उत्पादन इकाइयों के आकार में विस्तार से है। इसका अर्थ यह है कि बड़े पैमाने पर उत्पादन की व्यवस्था करने पर तथा उत्पादन के साधनों का प्रयोग बड़ी मात्रा में किए जाने पर उत्पादन की मात्रा बड़ी होगी। हवाई जहाज या समुद्री जहाज बनाने वाले कारखानों का आकार बड़ा होने पर भी उत्पादन मात्रा अधिक नहीं होती।

अत बड़े पैमाने पर उत्पादन (Large Scale Production) बड़ी मात्रा में उत्पादन (Mass Production) से भिन्न है। जबकि बड़ी मात्रा में उत्पादन की व्यवस्था किसी वस्तु की समान इकाइयों के प्रमाणीकरण पर जोर देती है तब बड़े पैमाने पर उत्पादन-व्यवस्था उत्पादन इकाई के आकार के विस्तार पर विशेष ध्यान देती है। इसके अतिरिक्त बड़े पैमाने पर उत्पादन-व्यवस्था को आन्तरिक तथा बाह्य मितव्ययिताएँ या बचतें (Internal and External Economies) प्राप्त होती हैं जबकि बड़ी मात्रा में उत्पादन-व्यवस्था को अन्तर्गत केवल आन्तरिक बचतें (Internal Economies) ही प्राप्त होती हैं। प्रो मार्शल के अनुसार बड़े पैमाने पर उत्पादन आन्तरिक तथा बाह्य बचतों के कारण ही सम्भव हो पाता है। रॉबर्टसन ने भी इन मितव्ययिताओं या बचतों को बड़े पैमाने पर उत्पादन की व्यवस्था का मूल कारण माना है। उनके अनुसार बड़े पैमाने पर उत्पादन की विधि का अपनाना उसके शासन एवं प्रबन्ध की मितव्ययिताएँ ही आधुनिक व्यावसायिक इकाई के आकार को निर्धारित करती हैं।

आन्तरिक तथा बाह्य मितव्ययिताएं या बड़े पमाने के उत्पादन से लाभ
(Advantages of Internal and External Economies)

आन्तरिक मितव्ययिताएं (Internal Economies)

आन्तरिक मितव्ययिताओं या बचतों का अभिप्राय उन सुविधाओं से है जिनके फलस्वरूप किसी फर्म या उत्पादन इकाई की औसत उत्पादन-लागत कम हो जाती है। ये सुविधाएं या बचतें फर्म या उत्पादन इकाई की उत्पादन व्यवस्था तथा उसके प्रबन्ध में उचित विस्तार व विकास द्वारा ही प्राप्त होती हैं।

प्रो० कथरनकास के अनुसार "आन्तरिक मितव्ययिताएं वे हैं जो एक कारखाने या फर्म को प्राप्त होती हैं ये अन्य फर्मों के कार्यों पर आश्रित नहीं होतीं। ये फर्म के उत्पादन के पमाने में वृद्धि का परिणाम हैं और इनको तब तक प्राप्त नहीं किया जा सकता जब तक कि उत्पादन में वृद्धि न हो। ये किसी भी प्रकार के आविष्कारों का परिणाम नहीं हैं परन्तु ये उत्पादन की प्रचलित विधियों का परिणाम हैं जिनको एक छोटी फर्म प्रयोग में लाकर लाभ नहीं उठा सकती।

इनका सम्बन्ध उन बाहरी परिस्थितियों तथा तत्त्वों से नहीं है जो किसी उद्योग विशेष के प्रसार व विकास को प्रभावित करते हैं। वस्तुतः कोई फर्म विशेष या उत्पादन इकाई जब अपनी पुरानी विधियों को ही उत्तम ढंग से व्यवस्थित करके अपने आकार को बढ़ाकर उत्पादन मान अथवा उत्पादन के परिमाण में वृद्धि करती है तब उसकी औसत उत्पादन लागत कम होने लगती है। इससे पहले उत्पादन इकाई की उत्पादन क्षमता का पूरा पूरा उपयोग नहीं होने से साधनों के प्रयोग में मितव्ययिताएँ प्राप्त नहीं हो पाती। परन्तु उत्पादन मान में वृद्धि करने पर आन्तरिक मितव्ययिताएँ स्वतः प्राप्त होने लगती हैं क्योंकि सभी साधनों का पूरा उपयोग होने लगता है और उत्पादन-व्यय कम होने लगता है। आन्तरिक मितव्ययिताएँ निम्न लिखित प्रकार की होती है

(1) तकनीकी मितव्ययिताएँ (Technical Economies)

तकनीकी मितव्ययिताएं उत्पादन की उत्तम तकनीकों, बड़ी मशीनों के प्रयोग विशिष्टीकरण तथा श्रम विभाजन के प्रयोग द्वारा प्राप्त की जा सकती है। इस प्रकार **तकनीकी मितव्ययिताएँ चार तरीकों से प्राप्त होती हैं**

(i) उत्पादन व्यवस्था के विस्तार से किसी उत्पादन इकाई का विस्तार होने पर बड़ी मशीनों का प्रयोग सम्भव हो पाता है तथा कम व्यय पर अधिक मात्रा में वस्तुओं का उत्पादन किया जा सकता है। छोटी मशीनों के स्थान पर बड़ी मशीनों का प्रयोग मितव्ययी माना जाता है।

(ii) प्रक्रियाओं को सम्बद्ध करके (Linking Processes) व्यापार तथा उत्पादन व्यवस्था के आकार का विस्तार करने पर विभिन्न उत्पादन प्रक्रियाओं

एवं विधियों का एक ही स्थान पर सम्बद्ध किया जा सकता है। शक्कर उद्योग में गन्ने के उत्पादन के लिए फार्म व्यवस्था चीनी मिल के द्वारा ही की जा सकती है। इससे कच्चा माल क्रय करने तथा उसे लाने से सम्बन्धित व्यय में मितव्ययिता हो सकती है।

(iii) उत्तम तकनीक (Superior Technique) उत्पादन की उत्तम तकनीकी विधियां स्वचालित तथा शक्ति द्वारा संचालित यन्त्रों के प्रयोग से कम व्यय पर अधिक मात्रा में वस्तुओं का उत्पादन होता है। हाथ से चलाये जाने वाले यन्त्रों पर अधिक व्यय होता है तथा उत्पादन की मात्रा सीमित होने के कारण प्रति इकाई उत्पादन लागत भी अधिक होती है।

(iv) विशिष्टीकरण में वृद्धि (Increased Specialisation) श्रम विभाजन तथा विशिष्टीकरण के लाभ उत्पादन इकाई के आकार में विस्तार होने पर ही प्राप्त हो सकते हैं। जब तक उत्पादन व्यवस्था में प्रसार नहीं होता तब तक श्रम विभाजन मितव्ययी नहीं हो सकता क्योंकि प्रत्येक विशिष्ट अथवा कार्य-कुशल व्यक्ति की कार्यक्षमता का पूर्ण उपयोग सम्भव नहीं हो पाता।

(2) प्रबन्ध सम्बन्धी मितव्ययिताएं (Managerial Economies)

बड़े पैमाने पर उत्पादन व्यवस्था में वैज्ञानिक प्रबन्ध तथा प्रबन्ध व्यवस्था में आवश्यक सुधार करके इस प्रकार की मितव्ययिताएं प्राप्त की जा सकती है। वैज्ञानिक प्रबन्ध द्वारा उचित व्यक्तियों को उचित कार्य देने पर श्रमिकों की कार्यक्षमता बढ़ायी जा सकती है। परन्तु इस प्रकार का कार्य विभाजन तथा कार्यों का विशिष्टीकरण **व्यावसायिक संगठन के विस्तार अथवा संस्थाओं को एक कुशल व्यवस्थापक के अन्तर्गत लाने पर** ही सम्भव हो सकता है और तभी प्रबन्ध सम्बन्धी मितव्ययिताएँ प्राप्त की जा सकती हैं। एक छोटी संस्था में एक ही व्यक्ति पर समस्त कार्यों का उत्तरदायित्व होने के कारण उसका काफी समय उन कार्यों में नष्ट हो जाता है जिनका कोई आर्थिक महत्त्व नहीं होता। एक बड़ी संस्था में **प्रबन्ध सम्बन्धी कार्यों का विभाजन कई विशेषज्ञों द्वारा किया जा सकता** है जिससे प्रत्येक कार्य सुव्यवस्थित ढंग से संचालित होता है और उसमें मितव्ययिता सम्भव हो पाती है। बड़े पैमाने पर उत्पादन व्यवस्था होने पर ही श्रम विभाजन ऊर्ध्व (Vertical) और क्षैतिज (Horizontal) दोनों ही प्रकार से सम्भव होता है तथा दोनों के लाभ प्राप्त हो सकते हैं।

(3) वाणिज्यिक मितव्ययिताएं (Commercial Economies)

वाणिज्यिक मितव्ययिताओं के अन्तर्गत बड़े पैमाने पर क्रय विक्रय वस्तुओं के वितरण विज्ञापन आदि में प्राप्त होने वाली मितव्ययिताएँ सम्मिलित हैं। एक बड़ी उत्पादक संस्था के लिए बड़ी मात्रा में कच्चा माल ईंधन मशीनों आदि का क्रय करने पर विशेषज्ञों की सहायता प्राप्त की जा सकती है। इससे ये वस्तुएं अच्छी

तथा उचित मूल्य पर प्राप्त की जा सकती हैं। इन वस्तुओं को अधिक मात्रा में क्रय करने पर परिवहन-व्यय में भी मितव्ययिता होती है। अधिक मात्रा में वस्तुओं का विक्रय करने पर भी अनेक प्रकार के व्ययों में भी बचत होती है। इसके अतिरिक्त बड़े पमाने पर व्यापार करने पर विज्ञापन लाभप्रद होता है अन्यथा इस पर किया गया व्यय व्यापारिक लाभ को काफी मात्रा में कम कर देता है। एक बड़ा उत्पादक ही प्रयोग एवं अनुसंधान की व्यवस्था कर सकता है तथा विशेषज्ञों की सेवाओं का उपयोग कर सकता है। इससे वह अपना उत्पादन बढ़ा सकता है तथा अवशिष्ट पदार्थों का सदुपयोग करके इन सुविधाओं का मितव्ययी बना सकता है।

(4) वित्तीय मितव्ययिताएँ (Financial Economies)

एक बड़ी उत्पादन संस्था को अधिक मात्रा में पूँजी तथा साख की सुविधाएँ उपलब्ध होती हैं। वह पूँजी कम ब्याज पर प्राप्त कर सकती है तथा उनका बड़ी मात्रा में उपयोग करके विनियोजकों के विनियोगों को अधिक लाभप्रद बना सकती है।

(5) जोखिम सहन करने सम्बन्धी मितव्ययिताएँ (Risk bearing Economies)

एक बड़े संस्थान में छोटे संस्थान की अपेक्षा जोखिम सहन करने की क्षमता अधिक होती है। इसका कारण यह है कि छोटे संस्थान में समस्त जोखिम एक या कुछ व्यक्तियों द्वारा ही सहन किया जाता है परन्तु एक बड़ी संस्था में जोखिम कई व्यक्तियों में बट जाता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न प्रकार की तथा अधिक मात्रा में वस्तुओं का उत्पादन करने पर भी हानि की सम्भावनाएँ कम हो जाती हैं। कई बाजारों में वस्तुओं की बिक्री करने पर विभिन्न विधियों द्वारा उनका उत्पादन करने पर तथा विभिन्न क्षेत्रों से कच्चा माल क्रय करने पर भी जोखिम बँट जाता है।

आन्तरिक मितव्ययिताओं की प्राप्ति के कारण

फर्मों को जो आन्तरिक मितव्ययिताएं प्राप्त होती हैं उसके दो प्रमुख कारण हैं

(i) साधनों की अविभाज्यताएँ (Indivisibilities) तथा
(ii) विशिष्टीकरण (Specialisation)।

साधनों की अविभाज्यता
(The Indivisibility Concept)

बड़े पमाने के उत्पादन से उपरोक्त मितव्ययिताएँ प्राप्त होने का प्रमुख कारण यह है कि उत्पादन के साधनों की क्षमता का समुचित एवं पूर्ण उपयोग बड़े पमाने के उत्पादन द्वारा सम्भव हो पाता है। कुछ साधन ऐसे होते हैं जिनका विभाजन नहीं किया जा सकता तथा जब तक उनकी पूरी क्षमता का उपयोग नहीं किया जाय तब तक उत्पादन सम्बन्धी मितव्ययिताएँ प्राप्त नहीं की जा सकतीं। उदाहरण के लिए मान लीजिए एक बड़ी मशीन की उत्पादन क्षमता प्रतिदिन 1 000 वस्तुएं तैयार करने की है परन्तु वस्तु की माँग कम होने के कारण या अन्य साधनों की कमी के

कारण यदि पाँच सौ वस्तुओं का ही उत्पादन किया जाता है तो इसका अर्थ यह होगा कि मशीन की पूर्ण क्षमता का उपयोग नहीं किया जा रहा है। उसकी आधी क्षमता का उपयोग करने पर भी उस पर किये जाने वाले अन्य खर्चों में कमी नहीं की जा सकती। इस मशीन की देख-रेख करने के लिए एक व्यक्ति रखा जायगा, मशीन चलाने के लिए पूर्ण क्षमता के बराबर ही विद्युत शक्ति की आवश्यकता होगी, मशीन पूरा स्थान घेरेगी आदि आदि। इन व्ययों में कोई कमी नहीं होगी। ये सभी व्यय 500 वस्तुओं पर बाँटे जाएँगे। इस प्रकार उत्पादन लागत अधिक पड़ेगी। यदि उक्त मशीन की पूरी क्षमता का उपयोग किया जाय तो समस्त व्यय 1 000 वस्तुओं पर बाँटे जाएँगे। इस प्रकार पहले की अपेक्षा ये व्यय प्रति इकाई आधे ही रह जाएँगे। एक दूसरा उदाहरण भी दिया जा सकता है। एक छोटे शहर में बस-सेवा प्रारम्भ की जाती है। इसे चलाने के लिए कम से कम एक निश्चित संख्या में बसों व कर्मचारियों की आवश्यकता पड़ेगी। सड़कों की मरम्मत आदि पर व्यय करना पड़ेगा। जनसंख्या की कमी के कारण यात्री कम होंगे जिससे बसों का पूरा क्षमता का उपयोग नहीं किया जा सकेगा, परन्तु बस-सेवा सम्बन्धी व्ययों में कोई कमी नहीं होगी। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि कुछ साधन ऐसे होते हैं जिन्हें विभाजित नहीं किया जा सकता। अतः ज्यों-ज्यों इनकी उत्पादन क्षमता का उपयोग बढ़ाया जाता है त्यों-त्यों उत्पादन लागत प्रति इकाई कम होती जाती है। अतः बड़े पैमाने के उत्पादन से प्राप्त होने वाली मितव्ययिताएँ उत्पादन-साधनों की अविभाज्यता के ही परिणाम हैं।

श्रीमती जोन राबिन्सन, फ्रैंक नाइट आदि अर्थशास्त्रियों का कहना है कि उत्पादन पैमाने से प्राप्त होने वाली मितव्ययिताएँ साधनों की अविभाज्यता के ही परिणाम हैं। श्रीमती जोन राबिन्सन ने कहा है, "यदि उत्पादन के समस्त साधन रेत की भाँति अन्तिम रूप से विभाज्य हों तो बड़े पैमाने के उत्पादन से प्राप्त होने वाले सभी लाभों के साथ किसी भी वस्तु का कम से कम मात्रा में भी उत्पादन सम्भव है।"[1]

विशिष्टीकरण
(Specialisation)

प्रो० चेम्बरलिन इस मत से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि बड़े पैमाने के उत्पादन से प्राप्त लाभ उत्पादन साधनों की अविभाज्यता के ही कारण नहीं प्राप्त होते बल्कि विशिष्टीकरण एवं प्राविधिक विधियों के उपयोग बड़े पैमाने के उत्पादन

1 "If all the factors of production were finely divisible like sand it would be possible to produce smallest output of any commodity with all the advantages of large scale industry."

—*Economies of Imperfect Competition* p 433

द्वारा सम्भव होता है। अत उत्पादन साधनों का सुचारु रूप से प्रयोग साधनों का अविभाज्यता विशिष्टीकरण एवं वैज्ञानिक विधियों के प्रयोग के कारण होता है।

जब एक फर्म का आकार बड़ा हो जाता है तो व्यक्ति विशेष कार्य में विशिष्टता प्राप्त कर लेता है जिसके परिणामस्वरूप प्रति व्यक्ति उत्पादन अधिक होता है और प्रति वस्तु लागत भी कम हो जाती है।

इसी प्रकार फर्म के आकार में वृद्धि होने से अवशिष्ट यन्त्रों के स्थान पर विशिष्ट यन्त्रों का प्रयोग करके उत्पादन कुशलता को बढ़ाया जाता है।

यदि उद्योग का पैमाना बहुत बड़ा हो जाता है तो उत्पादन की प्रत्येक उप क्रिया को अलग अलग फर्में करने लगेंगी जिससे उत्पादन कुशलता में वृद्धि होगी और वस्तु की उत्पादन लागत कम होगी।

बाह्य मितव्ययिताएँ
(External Economies)

किसी एक उद्योग का विस्तार होने के कारण सम्पूर्ण उद्योग को प्राप्त होने वाली उन सभी मितव्ययिताओं को जिनका लाभ प्रत्येक सदस्य इकाई को सम्मिलित रूप से प्राप्त होता है बाह्य मितव्ययिताएं कहते हैं। किसी उद्योग या व्यवसाय का विकास होने से उत्पादन क्षेत्र में ही कच्चे माल यन्त्र एवं औजार तथा तकनीकी प्रविधियों आदि के मिलने में सुविधा होती है। उस क्षेत्र में कच्चे माल के उत्पादन की व्यवस्था की जाती है। यन्त्रों तथा औजारों के निर्माण तथा उनकी मरम्मत आदि के लिए उद्योग धन्धे स्थापित किये जाते हैं जिससे वे वस्तुएं कम मूल्य पर प्राप्त की जा सकें। औद्योगिक विस्तार होने पर तकनीकी प्रविधियों की खोज तथा उनके ज्ञान के प्रसार के लिए व्यापारिक जर्नल (Trade Journals) का प्रकाशन सम्भव हो सकता है। अवशिष्ट पदार्थों का सदुपयोग होने पर उत्पादन इकाइयों को अधिक लाभ होता है।

एक ही प्रकार के उद्योग की कई उत्पादन इकाइयों का एक ही स्थान पर केन्द्रीयकरण होने से उनको सम्मिलित रूप से कुशल श्रम सस्ता परिवहन तथा साख की सुविधाएँ प्राप्त होने लगती है। ये सभी इकाइयाँ तकनीकी ज्ञान तथा प्रविधियों के विकास का लाभ उठा पाती है। प्रत्येक इकाई को इसके लिए अलग अलग अनुसन्धान शालाएँ खोलने की आवश्यकता नहीं होती।

उपर्युक्त विधियों से प्राप्त मितव्ययिताएँ बाह्य मितव्ययिताएं कहलाती है। **सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि वे समस्त मितव्ययिताएँ जो किसी फर्म विशेष की उत्पादन वृद्धि पर निर्भर न होकर समस्त उद्योग की उत्पादन वृद्धि पर निर्भर होती हैं बाह्य मितव्ययिताएँ कहलाती हैं।** उदाहरणार्थ किसी उद्योग में एक नयी फर्म प्रवेश करती है। इसका परिणाम यह होगा कि उस उद्योग की सभी

फर्मों की प्रति इकाई उत्पादन लागत पहले की अपेक्षा कम होगी। इस प्रकार पुरानी फर्मों को जो अतिरिक्त लाभ प्राप्त होगा उसका कारण नयी फर्म का प्रवेश है। अतः इस प्रकार प्राप्त लाभ फर्मों के लिए बाह्य मितव्ययिता कहलायेगा। इसको एक उदाहरण द्वारा और स्पष्ट किया जा सकता है। नयी फर्म या फर्मों के प्रवेश के कारण मशीनों की माँग बढ़ेगी। मशीन निर्माणकारी उद्योग अब अधिक मात्रा में मशीनों का उत्पादन कर सकेगा जिससे फर्मों को पहले की अपेक्षा सस्ते मूल्य पर मशीनें प्राप्त होने लगेंगी जो फर्मों के *लिए बाह्य मितव्ययिता है*।

बाह्य मितव्ययिताओं की प्रकृति तथा स्वरूप के सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों में मतभेद है।[1] बाह्य मितव्ययिताएं कई प्रकार से प्राप्त हो सकती हैं

(i) **आकार की शक्ति के कारण** (Strength through size) आकार में वृद्धि से प्राप्त क्षमता के कारण भी बाह्य मितव्ययिताएँ प्राप्त हो सकती हैं। जैसे बड़ा उद्योग कई प्रकार के अतिरिक्त व्यय करके लाभ प्राप्त कर सकता है। कई फर्में मिल कर शोध-कार्य, यातायात व्यय, विज्ञापन व्यय आदि में मितव्ययिता ला सकती हैं।

(ii) **अनुकूलतम आकार में परिवर्तन द्वारा** बड़े पैमाने के उद्योग के कारण फर्म के अनुकूलतम आकार में परिवर्तन हो सकता है जिसके कारण पुनर्गठन द्वारा फर्म नया अनुकूलतम आकार ग्रहण कर और मितव्ययिता प्राप्त कर सकती है। ऐसी मितव्ययिता को **राबर्टसन** (Robertson) ने आन्तरिक बाह्य मितव्ययिताएँ (Internal External Economies) कहा है क्योंकि इस प्रकार प्राप्त की गई मितव्ययिताएँ फर्म तथा उद्योग दोनों के आकार पर निर्भर हैं।

(iii) **वित्तीय बाह्य मितव्ययिताएं** (Pecuniary External Economies) उद्योग में विनियोग के कारण उद्योग की क्षमता में वृद्धि होती है तथा उद्योग द्वारा उत्पादित वस्तु की लागत कम होती है। उद्योग में प्रयुक्त उत्पादन साधनों की माँग में वृद्धि के कारण अल्पकाल में उनकी कीमत बढ़ जाती है। इस प्रकार उत्पादन के साधन के स्वामियों को लाभ प्राप्त होता है जिसे वित्तीय बाह्य मितव्ययिता कहते हैं।

(iv) **बड़े आकार के कारण उद्योग के राष्ट्रीय महत्व के फलस्वरूप प्राप्त बाह्य मितव्ययिताएं** यदि कोई उद्योग बहुत बड़ा हो जाता है तो उसका राष्ट्रीय महत्व बढ़ जाता है। यदि उस उद्योग की दशा किसी कारण से खराब होने लगे तो

---

1 Definitions of external economies are few and unsatisfactory. It is agreed that they mean services rendered freely (without compensation) by one producer to another but there is no agreement on the nature and form of these services or on the reason for their being free.

—*Tibor Scitovsky*

इसका प्रभाव नागो की आय तथा रोजगार पर पडगा। अत सरकार उस उद्योग की रक्षा के लिए सरक्षण आदि क रूप म सहायता दती है। इस प्रकार सरकार स उद्योग को विभिन्न सुविधाए प्राप्त हागी। ये समस्त सुविधाए सामूहिक रूप स उपलब्ध होने के कारण बाह्य मितव्ययिताए कहलाती है।

इस प्रकार बड पमान क उत्पादन द्वारा विभिन्न प्रकार की आन्तरिक तथा बाह्य मितव्ययिताए प्राप्त होती है। बाह्य मितव्ययिताए दो प्रकार से प्राप्त हो सकती हैं प्रथम उद्योग के विकास द्वारा जस सरकार स प्राप्त सुविधाएँ आदि तथा द्वितीय उद्योग स सम्बन्धित अन्य शाखाओं क विकास क कारण अर्थात् उद्योग क बाहर विकास होने क कारण जसे–परिवहन साधनो क विकास स प्राप्त लाभ। द्वितीय प्रकार की बाह्य मितव्ययिताओं (परिवहन साधनो के विकास आदि) का आर्थिक विकास म महत्त्वपूर्ण स्थान है। जसे कृषि क विकास क कारण उद्योगो का विकास तथा उद्योगो क विकास क कारण कृषि का विकास होता है। इन दोनो के विकास म साथ ही साथ परिवहन साधनो का विकास होता है। अत आर्थिक विकास म बाह्य मितव्ययिताओं का विशष महत्व है क्याकि वे अथ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों की अन्तनिर्भरता को प्रकट करती है।[1]

उपयुक्त विवरण स स्पष्ट है कि बड पमाने क उत्पादन द्वारा विभिन्न प्रकार की आन्तरिक तथा बाह्य मितव्ययिताए प्राप्त होती है। आन्तरिक मितव्ययिताएँ उत्पादन साधनो की अविभाज्यता क परिणामस्वरूप मिलती हैं। बाह्य मितव्ययिताओं के कारण बड पमाने के उत्पादक को अधिक लाभ प्राप्त होता है जिससे अन्य उद्यमी भी उद्योग म प्रवश करते है। अत बड पमाने का उत्पादन आधुनिक आर्थिक विकास का आधार है।

बड़े पमाने के उत्पादन की हानियाँ
(Diseconomies of Large Scale Production)

(1) कारखाना प्रणाली के दोष बड पमाने पर उत्पादन व्यवस्था म मशीनो का अधिकाधिक प्रयोग किया जाता है तथा श्रम विभाजन द्वारा काय वितरण किया जाता है जिसस बकारी श्रम मालिक सघष आदि दोषो के पलने की सम्भावना रहती है। भावी माँग यदि ठीक प्रकार अनुमानित न की गयी तो मितव्ययिताओ के स्थान पर सम्पूर्ण व्यवस्था अलाभकारी हो जाती है। बडे पमाने के उद्योग म बहुत बडी सख्या म श्रमिक काय करत हैं आवास समस्या खडी हो जाती है और गन्दी बस्तियाँ स्थापित हो जाती हैं।

---

1 External economies are of crucial importance in the theory of economic development since they represent the dependence of change at one point upon simultaneous change at other points

—*Maurice Dobb*

(2) **उत्पादन व्यय के बढ़ने की सम्भावना** अमितव्ययिताओं के अन्य कारण भी हैं। किसी फर्म के विस्तार से सम्भव है कि उत्पादन व्यय में कमी होने के स्थान पर उसमें वृद्धि हो जाए। इसमें मितव्ययिता के स्थान पर अमितव्ययिता होती है। इसके अतिरिक्त उत्पादन संस्थान का विस्तार एक निश्चित सीमा तक ही मितव्ययी होता है। इस सीमा के आगे कुशल श्रम तथा पूंजी की कमी होने से ब्याज की दर अधिक हो जाने तथा स्थान का अभाव हो जाने से किराये आदि के बढ़ने से उत्पादन लागत में वृद्धि हो सकती है जिससे बड़े पैमाने पर उत्पादन करने से मितव्ययिता प्राप्त होने के स्थान पर अमितव्ययिताएं प्राप्त होने लगती हैं।

(3) **बाजार पर एकाधिकार** बड़ी संस्थाओं को स्थापित करने का सबसे बड़ा दोष यह है कि वे बाह्य मितव्ययिताएं प्राप्त करने के लिए मिलकर बाजार पर एकाधिकार स्थापित कर लेती हैं। इस प्रकार वे अपना संघ बनाकर उपभोक्ताओं से अधिक से अधिक मूल्य वसूल करने में समर्थ होती हैं।

(4) **छोटे तथा घरेलू उद्योगों का पतन** बड़े पैमाने पर उत्पादन की इकाइयों के स्थापित होने पर छोटे तथा घरेलू उद्योगों का पतन होने लगता है। आन्तरिक तथा बाह्य मितव्ययिताओं के कारण यदि बड़ी उत्पादन इकाइयों की लागत व्यय कम होता है तो उनकी उत्पादित वस्तुएं सस्ती बिकती हैं जबकि छोटे या घरेलू उद्योगों द्वारा उत्पादित वस्तुओं की लागत अधिक होने से वस्तुएं अधिक महँगी होती हैं। बिक्री कम होने के कारण इन उद्योगों का धीरे धीरे पतन होने लगता है।

(5) **प्रमाणीकरण के दोष** वस्तुओं का प्रमाणीकरण हो जाने से उपभोक्ताओं की रुचियों पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। उत्पादक जिस प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन करते हैं उपभोक्ताओं को उन्हीं वस्तुओं को खरीदना पड़ता है।

(6) **श्रम विभाजन तथा मशीनों के प्रयोग से हानियां** बड़े पैमाने का उत्पादन श्रम विभाजन या विशिष्टीकरण तथा मशीनीकरण का कारण और परिणाम दोनों हैं। अतः बड़े पैमाने पर उत्पादन व्यवस्था में श्रम विभाजन तथा मशीनों के प्रयोग से होने वाली हानियां उठानी पड़ती हैं। बेकारी, कार्य की नीरसता, मनुष्य का यन्त्रवत होना, कार्यकुशलता का सीमित विकास आदि इन हानियों के कुछ उदाहरण हैं।

(7) **व्यक्तिगत रुचि की उपेक्षा** बड़े पैमाने के उद्योगों में बड़ी मात्रा में वस्तुओं का उत्पादन होता है। अतः प्रायः वस्तुओं का प्रमाणीकरण करना होता है। अतः इन उद्योगों में व्यक्तिगत रुचि पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता।

(8) **अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष** बड़े पैमाने के उद्योगों को अपना अतिरिक्त माल बेचने हेतु प्रायः विदेशी बाजारों पर आश्रित रहना पड़ता है। विदेशों में उन्हें अन्य बड़े उत्पादकों से संघर्ष करना पड़ता है। कभी कभी यह संघर्ष राजनीति से भी प्रभावित हो जाता है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय तनाव बढ़ जाता है।

(9) **धन का असमान वितरण** — बड़े पैमाने पर उत्पत्ति होने के फलस्वरूप राष्ट्रीय आय का अधिकांश भाग कुछ ही लोगों के पास चला जाता है। अतः धन के वितरण में असमानता बढ़ती है।

बड़े पैमाने के उत्पादन की सीमाएँ
(Limitations of Large Scale Production)

यद्यपि बड़े पैमाने पर उत्पादन तथा व्यापार का विस्तार करना लाभप्रद होता है फिर भी इसके विस्तार की कुछ सीमाएँ हैं। वित्तीय प्रबन्ध तथा बाजार सम्बन्धी कठिनाइयों के कारण उत्पादन संस्था अपना विस्तार करने में असमर्थ होती है। ये सीमाएँ निम्नलिखित हैं :

(1) **पूँजी सम्बन्धी अथवा वित्तीय सीमाएँ** — उत्पादन का मान बढ़ाने के लिए अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है। पूँजी का पर्याप्त मात्रा में मिलना कठिन हो जाता है। अतः उत्पादन असीमित मात्रा तक नहीं बढ़ाया जा सकता है।

(2) **उत्पादन के साधनों के मूल्यों में वृद्धि** — उत्पादन के परिमाण में वृद्धि होने पर पूँजी के अतिरिक्त अन्य साधनों की अधिकाधिक माँग होने पर मजदूरी, कच्चे माल के मूल्य, लगान आदि में वृद्धि हो जाती है जिससे उत्पादन की मात्रा एक निश्चित सीमा तक ही बढ़ाना लाभप्रद होता है।

(3) **उद्योग की प्रकृति** — कुछ उद्योगों को बड़े पैमाने पर करना लाभप्रद होता है जैसे बिजली तथा गैस उत्पादन और लोह इस्पात उद्योग आदि। परन्तु कुछ ऐसे उद्योग-धन्धे हैं जिनमें उत्पादित वस्तु की किस्म, कारीगरी आदि पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता पड़ती है — सीमित पैमाने पर ही संगठित करना ठीक रहता है।

(4) **बाजार सम्बन्धी सीमाएँ** — उन्हीं वस्तुओं का बड़े पैमाने पर उत्पादन करना लाभप्रद होता है जिनका बाजार विस्तृत होता है। यदि वस्तुओं के विक्रय का क्षेत्र विदेशी बाजारों में भी होता है तो उनके उत्पादन का पैमाना बढ़ाने पर मितव्ययिता प्राप्त होती है। परन्तु जिन वस्तुओं की बिक्री के लिए बाजार सीमित होता है उनका उत्पादन मान छोटा ही रखना अधिक उपयुक्त है।

(5) **प्रबन्ध सम्बन्धी सीमाएँ** — प्रबन्ध सम्बन्धी योग्यता के सीमित होने के कारण भी उत्पादन संस्था का विस्तार एक सीमा तक ही सम्भव है। कोई भी उद्यमी समस्त प्रबन्ध सम्बन्धी समस्याओं का निवारण नहीं कर सकता। वह अपनी क्षमता तथा योग्यतानुसार ही अपनी प्रबन्ध एवं संगठन व्यवस्था का विस्तार कर सकता है उससे अधिक नहीं।

(6) **वस्तुओं के मूल्यों में कमी** — वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि एक निश्चित मात्रा तक ही लाभप्रद होती है। किसी वस्तु की उत्पादन की मात्रा में वृद्धि होने पर उसकी पूर्ति अधिक हो जाती है जिससे उसका मूल्य कम हो जाता है। मूल्य कम

होने पर उत्पादक का लाभ कम होने लगता है। किसी भी उत्पादक के लिए किसी वस्तु का उत्पादन करना उस समय तक लाभप्रद होता है जब तक कि सीमान्त आय सीमान्त लागत के बराबर है।

(7) **उपभोक्ता का स्वभाव** बड़े पैमाने के उद्योगों में अधिकांश वस्तुओं की बिक्री उनके 'ट्रेडमार्क' या ब्राण्ड के आधार पर होती है। इस प्रकार वस्तु का असीमित मात्रा में उत्पादन का एक ही इकाई के रूप में सम्भव नहीं हो सकता है।

(8) **तकनीकी सीमाएं** यन्त्र तथा मशीनों की भी उत्पादन क्षमता की सीमा होती है। आवश्यकता से अधिक उत्पादन करने पर उनकी कार्य क्षमता का पतन हो जाता है।

छोटे पैमाने का उत्पादन
(Small Scale Production)

बड़े पैमाने के उत्पादन की सीमाओं के कारण एक निश्चित स्थिति एवं परिमाण के उपरान्त किसी भी संस्था के आकार को बढ़ाना लाभप्रद नहीं होता। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे क्षेत्र एवं उद्योग भी हैं जिनमें बड़े पैमाने पर उत्पादन करने पर मितव्ययिताएं प्राप्त नहीं हो सकती। वर्तमान युग में भी अनेक उद्योगों में छोटे पैमाने पर उत्पादन किया जाता है और इस प्रकार की छोटी छोटी उत्पादक संस्थाएं अधिक कार्यक्षम एवं कुशल होती हैं।

अर्थ (Meaning)

जब उत्पादन की इकाई का आकार छोटा होता है तथा उसके द्वारा उत्पादन साधनों का प्रयोग थोड़ी ही मात्रा में किया जाता है तब इसे छोटे पैमाने का उत्पादन कहा जाता है। परन्तु उत्पादन इकाई आकार में छोटी है या बड़ी यह किसी देश के आर्थिक विकास के स्तर पर निर्भर करती है।

छोटे पैमाने के उत्पादन के लाभ
(Advantages of Small Scale Production)

(1) **व्यक्तिगत निरीक्षण** कुछ उद्योगों में व्यक्तिगत निरीक्षण का विशेष महत्त्व होता है। व्यक्तिगत कार्य कौशल पर निर्भर रहने वाले उद्योगों एवं कार्य को छोटे पैमाने पर संगठित करना लाभप्रद होता है। उदाहरणार्थ स्वर्णकार जौहरी आदि व्यक्तियों के कार्यों में व्यक्तिगत निरीक्षण अधिक महत्वपूर्ण है।

(2) **कलात्मक वस्तुओं का उत्पादन** कलात्मक वस्तुओं का बड़े पैमाने पर उत्पादन सम्भव नहीं हो सकता। संगमरमर की कलात्मक वस्तुओं का उत्पादन तथा कसीदाकारी के कार्यों को छोटे पैमाने पर व्यवस्थित करने पर ही सुन्दर एवं कलात्मक वस्तुओं का उत्पादन किया जा सकता है।

(3) **सीमित मांग की वस्तुओं का उत्पादन** जिन वस्तुओं की मांग सीमित होती है उनका छोटे पैमाने पर उत्पादन करना ही लाभप्रद होता है।

(4) उद्योग धन्धों का विकास किसी देश का आर्थिक विकास करने के लिए पहले छोटे पैमाने पर उद्योगों को विकसित करना लाभप्रद होता है। पूँजी तथा प्रबन्ध-सम्बन्धी योग्यता का अभाव होने पर छोटे पैमाने पर संस्थाओं को संगठित करना सहज एवं सुविधाजनक होता है। जिन देशों में श्रम का बाहुल्य होता है वहां छोटे उद्योगों को स्थापित करने पर बेरोजगारी की समस्या का निवारण किया जा सकता है।

(5) व्यक्तिगत प्रभाव एक छोटे पैमाने पर उत्पादन-व्यवस्था को संगठित करने पर उद्यमी श्रमिकों से व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित कर सकता है जिससे वह उनको प्रसन्न रख सकता है और पारस्परिक संघर्ष, हड़ताल, तालाबन्दी आदि की सम्भावनाएं समाप्त हो जाती हैं।

(6) श्रमिकों तथा मालिकों में प्रत्यक्ष सम्बन्ध छोटे पैमाने पर उत्पादन प्रणाली के सम्बन्ध में यह भी कहा जाता है कि यदि किसी उत्पादन इकाई में श्रमिकों तथा मालिकों में प्रत्यक्ष सम्पर्क होना हो तो उसे छोटे पैमाने पर उत्पादन मानना चाहिए। इस प्रकार का सम्पर्क रहने पर श्रम मालिक के संघर्ष की सम्भावना नहीं रहती।

(7) प्रबन्ध में सुविधा छोटे आकार की उत्पादन इकाई का प्रबन्ध तथा संचालन आसानी से किया जा सकता है।

(8) कार्य में स्वतन्त्रता तथा श्रमिकों के व्यक्तित्व का विकास छोटी उत्पादन इकाई में प्रत्येक श्रमिक अपने कार्य के लिए उत्तरदायी एवं स्वतन्त्र होता है। इससे उसके व्यक्तित्व का विकास होता है तथा उसे अपना काम करने के लिए प्रोत्साहन मिलता है।

(9) व्यवसाय के विस्तार में सुविधा आवश्यकता पड़ने पर छोटे पैमाने पर उत्पादन की इकाई का विस्तार आसानी से किया जा सकता है। इसके विपरीत वस्तुओं की मांग कम हो जाने पर उत्पादन इकाई के आकार को छोटा भी किया जा सकता है। अतः इस उत्पादन-व्यवस्था को लोचदार कहा जाता है।

छोटे पैमाने के उत्पादन से हानियां

छोटे पैमाने के उत्पादन में निम्नलिखित हानियां होने की सम्भावना रहती है

(1) आधुनिक उत्पादन विधियों का प्रयोग सम्भव नहीं छोटे पैमाने पर उत्पादन करने पर आधुनिक मशीनों एवं तकनीकी प्रविधियों का उपयोग नहीं किया जा सकता है।

(2) उत्पादन लागत अधिक होना ऐसी संस्था में वस्तु की उत्पादन लागत अधिक होती है क्योंकि श्रम विभाजन एवं विशिष्टीकरण सम्भव नहीं होने जिससे वस्तुओं का उत्पादन कम मात्रा में ही किया जा सकता है।

(3) प्रयोग एव अनुसधान पर अधिक व्यय छोटे पमाने के उद्योग को सगठित करने पर प्रयोग एव अनुसन्धान पर अधिक व्यय करना सम्भव तथा लाभप्रद नही होता।

(4) पूजी तथा साख का अभाव छोटे पमाने पर उत्पादन करने वाली सस्था को सस्ते ब्याज पर पूजी तथा साख के मिलने मे भी कठिनाई होती है।

(5) अवशिष्ट वस्तुओ का प्रयोग सम्भव नही छोटी उत्पादन सस्था अवशिष्ट वस्तुओ का सदुपयोग भी नही कर पाती जिससे उन वस्तुओ के नष्ट हो जाने से वस्तु की लागत बढ़ जाती है।

छोटे पमाने पर स्थापित उद्योग तथा आर्थिक विकास

एक विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था मे छोटे उद्योगो का महत्त्वपूर्ण स्थान है। परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि औद्योगिक दृष्टि से विकसित राष्ट्रो मे छोटे व्यवसायो का कोई स्थान नही है। सयुक्त राज्य अमरिका जापान पश्चिमी जर्मनी स्विटजरलैड ग्रेट ब्रिटेन आदि देशो मे आज भी छोटे उद्योगो को महत्त्व दिया जाता है। भारतवर्ष मे भी लाखो लोग छोटे तथा कुटीर उद्योगो से अपनी जीविका उपार्जित करते है।

छोटे उद्योगो को विकसित करने के निम्नलिखित कारण है

(1) बेकारी समस्या का निवारण उद्योगो का विकास करके अनेक बेरोजगार व्यक्तियो को काम पर लगाया जा सकता है जिसमे देश की बेरोजगारी समस्या का निवारण किया जा सकता है। घरेलू उद्योगो का विकास एव प्रसार करके कृषि क्षेत्र मे लगे हुए व्यक्तियो के बेकार समय को कार्यशील बनाया जा सकता है।

(2) पूजी का सदुपयोग छोटे उद्योगो मे अधिक पूजी की आवश्यकता नही होती। अत एक विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था राष्ट्रोपयोगी तथा सार्वजनिक हित के उद्योगो के अतिरिक्त अन्य उद्योगो को छोटे पमाने पर स्थापित करके उपलब्ध पूजी का अधिक उपयोगी उद्योगो मे विनियोजित किया जा सकता है।

(3) पूजी का प्रतिफल शीघ्र प्राप्त होना छोटे पमाने के उद्योगो को स्थापित करने पर विनियोजित पूजी का प्रतिफल शीघ्र ही प्राप्त होने लगता है क्योकि उनमे उत्पादन-कार्य शीघ्र ही प्रारम्भ हो जाता है जबकि बडे उद्योगो मे उत्पादन प्रक्रियाओ का प्रारम्भ करने मे काफी समय लगता है।

(4) स्थानीय कार्यकुशलता का सदुपयोग छोटे तथा घरेलू उद्योगो मे स्थानीय कार्यकुशलता तथा श्रमिको की दक्षता का सदुपयोग किया जा सकता है। एक छोटे उद्योग मे अनेक विशेषज्ञो की आवश्यकता भी नही पडती जिससे उनके अभाव मे भी उत्पादन कार्य सुव्यवस्थित रूप मे सगठित किया जा सकता है।

जहां उनके लाभप्रद उपयोग के अवसर वर्तमान रहते हैं। इस प्रकार उत्पादन साधनों के गतिशील होने पर न केवल उनका उचित प्रयोग ही सम्भव हो पाता है वरन् इन साधनों की अवसर-उपयोगिता में भी वृद्धि होती है। इनके फलस्वरूप देश की उत्पादन क्षमता में वृद्धि होने के साथ ही साथ उत्पादन के प्रत्येक साधन को उचित प्रतिफल प्राप्त होता है।

गतिशीलता का अर्थ

अवसर-लागत तथा उपयोगिता के आधार पर एक व्यवसाय क्षेत्र अथवा उद्योग में किसी उत्पादन साधन के हस्तान्तरण की सुलभता को ही उत्पादन-साधन की गतिशीलता कहते हैं। गतिशीलता का अर्थ किसी साधन के **'स्थान परिवर्तन'** से भी है जिसे **भौगोलिक गतिशीलता** (Geographical mobility) कहते हैं। साधनों की गतिशीलता का प्रमुख कारण यह है कि आर्थिक दशाओं में परिवर्तन कुछ साधनों को एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर अग्रसर होने के लिए प्रेरित करते हैं। इस प्रकार की प्रेरणा प्राप्त करने पर कोई साधन व्यवसाय अथवा स्थान का परिवर्तन किये बिना ही एक उद्योग से दूसरे उद्योग की ओर गतिशील होता है। जब एक साधन किसी एक व्यवसाय से किसी अन्य व्यवसाय की ओर अग्रसर होता है तब इस गतिशीलता में अधिक लाभ या प्रतिफल का उद्देश्य निहित होता है। इस प्रकार की गतिशीलता के लिए यह आवश्यक नहीं है कि साधन उद्योग अथवा स्थान परिवर्तित कर दे। उदाहरणार्थ यदि कम वेतन प्राप्त करने वाला लिपिक (Clerk) उसी औद्योगिक संस्थान में विक्रेता प्रतिनिधि के रूप में कार्य करने लगे तो स्थान अथवा उद्योग का परिवर्तन न होते हुए भी सेवाओं के इस स्थानान्तरण को श्रम की गतिशीलता कहा जायेगा।

गतिशीलता के रूप (Forms of Mobility)

विशिष्टता के आधार पर उत्पादन के साधनों को **विशिष्ट** (specific) तथा **अविशिष्ट** (non specific) वर्गों में रखा गया है। विशिष्टता का तात्पर्य 'अवसर-त्याग' या 'अवसर लागत' (Opportunity cost) से है। श्रम पूंजी संगठन साहस—सभी साधनों में अवसर-लागत का तत्त्व वर्तमान है। इस अवसर लागत के आधार पर ही यह निष्कर्ष निकाला गया है कि इन साधनों के एक से अधिक प्रयोग होने के कारण उनमें स्थान उद्योग क्षेत्र तथा व्यवसाय परिवर्तन करने की प्रवृत्ति पायी जाती है और उनमें गतिशीलता का तत्त्व रहता है। यदि इन साधनों में अविशिष्टता (अवसर त्याग) का तत्त्व नहीं होता तो विभिन्न सेवाओं तथा वस्तुओं के चुनाव तथा उत्पादन के प्रश्न ही नहीं उठते। प्रत्येक समाज विशिष्ट साधनों की उपलब्धता के आधार पर कुछ अपरिवर्तनशील तथा निश्चित एवं विशिष्ट सेवाओं तथा वस्तुओं से ही अपने को सन्तुष्ट करता है क्योंकि विशिष्ट साधनों से सम्भव ही कुछ विशिष्ट वस्तुओं तथा साधनों का उत्पादन किया जा सकता

है। यही कारण है कि गतिशीलता (Mobility) का विशिष्टता (Specificity) से सम्बन्धित करके यह स्पष्ट किया गया है कि विशिष्ट साधनों में गतिहीनता (Immobility) होती है तथा अविशिष्ट साधनों में गतिशीलता (Mobility) पायी जाती है।

अविशिष्ट साधनों की गतिशीलता के अन्य कई रूप भी हैं। किसी उत्पादन इकाई में जब उत्पादन के साधनों का सर्वोत्तम अनुपात (Capital input output or labour input output ratio) को निश्चित कर लेने पर कोई साधन अतिरिक्त हो जाता है तब अवसर लागत के आधार पर वह अधिक उपयोगी क्षेत्रों की ओर अग्रसर या गतिशील होता है। इसी प्रकार यदि किसी साधन को किसी क्षेत्र में अपने साधन या अपनी सेवाओं के बदले कम प्रतिफल प्राप्त होता है तो अधिक लाभ या प्रतिफल की आशा में साधनों का अन्य क्षेत्रों में स्थानान्तरित करने के लिए प्रेरित होता है। साधनों के इस स्थानान्तरण को **उर्ध्वगामी गतिशीलता** (Vertical mobility) कहते हैं। परन्तु जब एक ही व्यवसाय में एक उद्योग का अतिरिक्त साधन किसी अन्य उद्योग में आवश्यक साधन के रूप में स्थानान्तरित होता है तब इस स्थानान्तरण को **क्षैतिज गतिशीलता** (Horizontal mobility) की संज्ञा दी जाती है।

गतिशीलता को प्रभावित करने वाले कारण

उत्पादन साधनों की गतिशीलता को प्रभावित करने वाले कारणों में उनकी मूल्यांकन विधि का सर्वाधिक महत्त्व है। उत्पादित वस्तुओं का उचित तथा अधिक मूल्य ही उद्यमी को नवीन वस्तुओं का उत्पादन करने की प्रेरणा देता है। इसके कारण तकनीकी प्रगति भी सम्भव हो पाती है। अधिक मूल्य के फलस्वरूप श्रमिकों की मजदूरी में वृद्धि होती है जिसके फलस्वरूप श्रमिकों को उपलब्ध रोजगार के अवसरों का लाभ उठाने तथा वहाँ से अधिक वेतन प्रदान करने वाले स्थानों की ओर जाने की प्रेरणा मिलती है। मूल्य विधि ही विनियोजकों को विकासशील उद्योगों में अपनी पूँजी विनियोजित करने की प्रेरणा प्रदान करती है। परन्तु इस सम्बन्ध में साहसियों, विनियोजकों तथा श्रमिकों में भावी अनुमान सही रूप से लगाने की क्षमता होना चाहिए। इसके अतिरिक्त सामाजिक नीति रीति रिवाज धार्मिक विचारधारा तथा व्यक्तिगत प्रवृत्तियाँ भी गतिशीलता को प्रोत्साहित अथवा हतोत्साहित करती हैं। साधनों में गतिशीलता की प्रवृत्ति देश और काल के अनुसार भी बदलती रहती है। एक विकसित देश में उत्पादन के साधनों में गतिशीलता अधिक होती है परन्तु एक अविकसित अथवा स्थैतिक अर्थव्यवस्था में साधनों में गतिहीनता अधिक होती है जिससे देश का आर्थिक विकास अवरुद्ध हो जाता है।

उत्पादन के विभिन्न साधनों की गतिशीलता

उत्पादन के प्रत्येक साधन में किसी न किसी रूप में गतिशीलता का तत्त्व निहित है जैसा कि प्रत्येक साधन के सम्बन्ध में यहाँ उल्लेख किया गया है।

(अ) भूमि (Land) भूमि उत्पादन का एक विशिष्ट स्थिर साधन है। इसको किसी अन्य स्थान पर स्थानान्तरित नहीं किया जा सकता परन्तु इसको वैकल्पिक उद्देश्यों (Alternative purposes) की पूर्ति के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त भूमि के अन्तर्गत सम्मिलित एसे अनेक पदार्थ हैं, जैसे खनिज पदार्थ लकड़ी आदि जिनका प्रयोग स्थान परिवर्तन करने पर ही सम्भव हो पाता है। अत भूमि के सम्बन्ध में यह कहना कि वह स्थिर तथा गतिहीन साधन है गलत होगा।

पृथ्वी की सतह के रूप में भूमि के एक खण्ड (A piece of land) के स्थिर रहने के आधार पर उसे भी विशिष्ट एवं गतिहीन साधन मानना ठीक नहीं है। इस प्रकार की भूमि की उपयोगिता उसकी उत्पादन शक्ति तथा उसके विभिन्न उपयोगों की क्षमता के आधार पर निश्चित की जाती है। पूँजी तथा श्रम के विनियोग से यदि भूमि की उत्पादकता में वृद्धि हो जाती है तथा उस पर अन्य वस्तुओं का उत्पादन भी सम्भव हो पाता है तो उसे गतिशील साधन कहना उपयुक्त होगा। इसी प्रकार यदि भूमि के टुकड़े को कृषि के स्थान पर फैक्टरी या मकान निर्माण के लिए प्रयोग में लाना सम्भव हो तो उसमें अन्य उद्देश्यों की पूर्ति करने की क्षमता होने के कारण उसे गतिशील साधन ही मानना चाहिए।

(ब) श्रम (Labour) उत्पादन के साधनों में श्रम सबसे अधिक गतिशील साधन माना जाता है। विभिन्न समयों में आर्थिक राजनैतिक तथा धार्मिक कारणों से व्यक्ति समूहों ने स्थान तथा देश परिवर्तन किया है। निर्धनता के कारण रोजगार के स्रोतों की खोज करने की इच्छा उनको स्थान परिवर्तन करने के लिए बाध्य करती है। नवयुवकों में भी अच्छे पारिश्रमिक की उच्च आकांक्षा स्थान उद्योग तथा व्यवसाय परिवर्तित करने की प्रेरणा प्रदान करती है। परन्तु श्रम की गतिशीलता भी उतनी तीव्र नहीं है जितनी कि पूँजी की। वही श्रम जो विशेषतया प्रशिक्षित होता है। अधिक कुशल कार्यों को पूरा करने के लिए योग्य समझा जाता है। उसकी माँग एक स्थान पर अधिक होने के कारण उसमें व्यावसायिक गतिशीलता अधिक नहीं होती। परन्तु अकुशल श्रम स्थिर नहीं रहता। उसको किसी अन्य स्थान की ओर सरलतापूर्वक स्थानान्तरित किया जा सकता है। एक उद्योग से दूसरे उद्योग में भी श्रम की गतिशीलता हो सकती है क्योंकि सभी उद्योगों में कुछ कार्य जैसे लिपिकों विक्रेताओं लेखाकारों (Accountants) टाइपिस्टों चपरासियों आदि के कार्य समान प्रकृति के होते हैं। अत अधिक पारिश्रमिक प्राप्त होने पर श्रम एक उद्योग से किसी अन्य उद्योग की ओर अग्रसर होने के लिए शीघ्र ही तत्पर हो जाता है।

श्रम की गतिशीलता को प्रभावित करने वाले कई कारण हैं। यद्यपि व्यक्तियों में स्थान परिवर्तन करने की क्षमता रहती है फिर भी बहुत से ऐसे व्यक्ति हैं जो कार्य

के निए किसी दूसरे स्थान पर जाना पमन्द नही करते। व उन स्थाना पर ही रहना पसन्द करते हैं जहाँ वे बडे हुए हैं जहाँ उनके सगे-सम्बन्धी तथा मित्र हैं। वे उन स्थाना को इसलिए भी नही छोडना चाहते क्योकि लाभ की अपेक्षा स्थानान्तरण म होने वाले व्यय के अधिक होने की सम्भावना होती है। विभिन्न क्षेत्रो की भाषा तथा वहाँ के रीति रिवाज रहन-सहन आदि म भिन्नता हाने के कारण भी श्रम अधिक गतिशील नही हो पाता।

श्रम उसी समय अधिक गतिशील हो सकता है जबकि उसम विशेष प्रशिक्षण तथा शिक्षा के द्वारा अधिक कार्य कुशलता हो। जहाँ पर राज्य अथवा नियोक्ता श्रमिको के कुशल प्रशिक्षण की व्यवस्था करता है वहाँ का श्रम अधिक गतिशील होता है। परन्तु जब प्रशिक्षण की व्यवस्था स्वय व्यक्तियो को अपने साधनो स करनी पडती है तब व इस दिशा म कोई विशेष दिलचस्पी नही लेते। प्रशिक्षण म पूँजी की लागत तथा भविष्य म ब्याज-सहित उस पूँजी के वापस मिलने की सम्भावना क तथ्यो पर विचार करके ही वह कार्य-कुशलता प्राप्त करने की योजना बनाता है। यदि उस अधिक लाभ मिलने की आशा नही होती तो वह अकुशल रहकर गतिहीन हो जाता है।

श्रम की गतिशीलता के सम्बन्ध म यह कथन सर्वथा उचित है कि यदि श्रम पूर्णतया गतिशील होता तो माँग म परिवर्तन अथवा तकनीकी प्रगति होने पर बेरोजगारी की समस्या उत्पन्न नही होती। सरचनात्मक बेरोजगारी (Structural unemployment) का प्रमुख कारण श्रम की गतिहीनता ही है। अत माँग म परिवर्तन तथा तकनीकी प्रगति होने पर अतिरिक्त श्रम को किसी अन्य उद्योग क्षेत्र या व्यवसाय म लगाकर श्रम को गतिशील बनाया जा सकता है तथा तकनीकी बेरोजगारी दूर की जा सकती है।

(स) पूँजी (Capital) उत्पादन साधनो म पूँजी सबसे अधिक गतिशील है। परन्तु पूँजी की गतिशीलता पर विचार करत समय विभिन्न प्रकार की पूँजी—स्थायी चल तथा कार्यशील—के सम्बन्ध म अलग अलग विचार करना आवश्यक है क्योकि सभी प्रकार की पूँजी म गतिशीलता समान नही है।

(1) स्थायी पूँजी म स्थिरता तथा विशिष्टता के तत्त्व विद्यमान हैं जिनके कारण ही स्थायी पूँजी को गतिहीन साधन माना जाता है। अधिकांशत स्थायी पूँजी के अन्तर्गत भवन यन्त्र तथा कल सम्मिलित हैं। इनको एक स्थान स उखाड कर दूसरे स्थान पर ले जाना केवल कठिन ही नही है बल्कि इसम लाभ की अपेक्षा व्यय भी अधिक होता है। इसके अतिरिक्त स्थायी सम्पत्तियाँ किसी विशेष उद्देश्य या कार्य के लिए ही प्राप्त की जाती हैं। यदि उनको किसी अन्य प्रकार स उपयोगी बनाने के लिए उनम आवश्यक परिवर्तनो पर धन व्यय किया जाय तो सम्भवत इस व्यय से अधिक लाभ नही होगा। परन्तु इन सम्पत्तियो को अन्य प्रकार से

उपयोगी बनाकर उसकी गतिशीलता में वृद्धि की जा सकती है। उदाहरणार्थ यदि कृषि यन्त्रों का उत्पादन करने वाली मशीनों में आवश्यक परिवर्तन करके उनसे अस्त्र शस्त्रों का निर्माण किया जाने लगे तो यह कहा जायगा कि स्थायी पूँजी भी गतिशील हो गयी है। इसी प्रकार जब भूमि तथा भवन का उपयोग किसी एक कार्य के लिए ही न कर अन्य कार्यों के लिए भी किया जाता है तो यह कहना ठीक होगा कि स्थायी सम्पत्तियों में भी गतिशीलता का तत्व विद्यमान है।

(ii) इसके विपरीत **चल पूँजी** में जिसके अन्तर्गत कच्चा माल ईंधन, स्टाक आदि सम्मिलित है गतिशीलता अधिक होती है। इस पूँजी को उसके मूल उत्पादन स्थान से उन स्थानों को स्थानान्तरित किया जाता है जहाँ उनसे विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन होता है। उनमें दुलभता तथा वैकल्पिक प्रयोगों का प्रयोग रहने के कारण अवसर लागत या अविशिष्टता का तत्व अधिक पाया जाता है। यही कारण है कि वे किसी एक अवसर का त्याग करके किसी अन्य क्षेत्र उद्योग तथा व्यवसाय में अधिक उपयोगी हो सकती है। अवसर-लागत में अनुमान के आधार पर ही उनका निरन्तर स्थानान्तरण होता रहता है। यही कारण है कि चल पूँजी अधिक गतिशील होती है।

(iii) **कार्यशील पूँजी** जिस पूँजी में नकद धन या तरल सम्पत्तियाँ (वित्तीय पूँजी) सम्मिलित होती है वह सबसे अधिक गतिशील होती है। वह न तो स्थिर होती है और न किसी विशिष्ट उद्देश्य के लिए ही उपयोग में लाई जाती है। इसका उपयोग विभिन्न उद्देश्यों के लिए विभिन्न क्षेत्रों में किया जा सकता है। अतः यह एक अविशिष्ट साधन है जिससे अधिकतम लाभ प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार इसमें सर्वाधिक गतिशीलता की प्रवृत्ति पाई जाती है। इसको अधिक गतिशील बनाने का श्रेय बैंकिंग तथा वित्तीय संस्थाओं को है जो एक स्थान के अतिरिक्त वित्तीय भावना को अन्य उत्पादक क्षेत्रों की ओर गतिशील बनाकर उन्हें अधिक उपयोगी बनाने में सहायक होती है।

निष्कर्ष उत्पादन के साधनों की गतिशीलता का प्रश्न अर्थ-व्यवस्था के गत्यात्मक तथा लोचशील होने पर ही उठता है। यदि किसी देश की अर्थ व्यवस्था विकसित होने के साथ साथ गतिशील (Dynamic) होती है तो वहाँ औद्योगिक विकास की नवीन योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए साधनों को नवीन प्रेरणाएँ प्रदान की जाती हैं। इस प्रकार उनको अवसर लागत का अधिकतम लाभ उठाया जाता है। पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था में आर्थिक दशाओं में परिवर्तनों का प्रभाव मूल्य रचना पर पड़ता है जिसके कारण उद्यमी किसी वस्तु विशेष का उत्पादन करने के लिए प्रेरित होते हैं। फलस्वरूप कुछ उत्पादन साधनों को विभिन्न उत्पादन कार्यों में प्रयुक्त किया जाता है। व्यावहारिक रूप में देखने में आता है कि उत्पादन के साधनों की गतिशीलता के कारण बहुत से पुराने उद्योग समाप्त हो जाते हैं तथा

उनके स्थान पर नये उद्योगों का जन्म होता है। यह स्थिति एक अविकसित देश म नही पायी जाती क्योंकि वहा की अर्थ-व्यवस्था स्थिर तथा अपरिवर्तनशील होती है। साधनों की गतिशीलता उसी समय प्रभावकारी होती है जबकि किसी देश म जन सख्या तथा पूजी बढ रही हो। सामाजिक हितो के लिए जब राज्य सार्वजनिक उपयोगिता की पूँजीगत सम्पत्तियो का निर्माण करता है तब साधनो मे अधिक गतिशीलता होती है। आर्थिक नियोजन की राष्ट्रीय नीति अपनाने पर जब निजी क्षेत्र म राष्ट्रीय औद्योगिक नीति के अनुसार ही नये-नये उद्योग धधो को स्थापित करने के लिए लाइसेस लेना आवश्यक होता है तब उत्पादन के कुछ साधनो का गतिशील होना स्वाभाविक है।

प्रश्न तथा सकेत

1 बडे पमाने के उत्पादन से आप क्या समझते है? बडे पमाने के लाभ तथा हानि बतलाइए।

What is meant by large scale production? Explain the advantages and disadvantages of large scale production

[**सकेत**—बडे पमाने के उत्पादन का अर्थ समझा कर उसके लाभ दोषो का विवचन कीजिए।]

2 आतरिक तथा बाह्य मितव्ययिताओ से आप क्या समझते है? इनका महत्व स्पष्ट कीजिए एव उद्योग के आकार के साथ इनका सम्बन्ध बतलाइए।

What do you mean by internal and external economies? Explain their importance Discuss the relation of these economies with the size of industry

[**सकेत**—पहले आतरिक एव बाह्य मितव्ययिताओ का अर्थ समझाइए। इसके बाद विभिन्न प्रकार की आतरिक तथा बाह्य मितव्ययिताओ का उल्लेख करते हुए बाह्य मितव्ययिताओ की प्रकृति तथा स्वरूप का आतरिक मितव्ययिताओ से सम्बन्ध बतलाइए।]

3 उत्पादन के पमाने से क्या आशय है? छोटे पमाने के उद्योग जीवित रहने के कारणो की समीक्षा कीजिए।

What do you mean by scale of production? Describe in detail the reasons of the survival of small scale industries

[**सकेत**—उत्पादन के पमाने का अर्थ समझा कर उत्पादन के पमाने के दोनो प्रकारो को स्पष्ट कीजिए। अन्त म बडे पमाने की हानियाँ बतलाते हुए छोटे पमाने के तथ्यो पर प्रकाश डालिए।]

4 उत्पादन के साधनों की गतिशीलता से आप क्या समझते हैं ? गतिशीलता के रूप और उसे प्रभावित करने वाले तत्त्वों को स्पष्ट कीजिए।

What do you understand by mobility of the factors of production ? Clearly explain various forms of mobility and the factors affecting it

[संकेत—इन्हीं शीर्षकों में दी गई सम्पूर्ण सामग्री दीजिए।]

5 आधुनिक उद्योग बड़े पैमाने पर क्यों संगठित किये जाते हैं ? बड़े पैमाने के उत्पादन की सीमाएं बतलाइए।

Why are the modern industries organised on a large scale ? Indicate the limitations of large scale production

[संकेत—प्रथम भाग में यह स्पष्ट करें कि बड़े पैमाने के उत्पादन में जो आन्तरिक तथा बाह्य मितव्ययिताएँ प्राप्त होती हैं उन्हीं के कारण लागत प्रति इकाई लागत कम बैठती है। अतः बड़े पैमाने की उत्पादन व्यवस्था अपनाई जाती है। अन्त में बड़े पैमाने की सीमाएँ बतलाइए।]

6 'आन्तरिक मितव्ययिताएं अविभाज्यता तथा विशिष्टीकरण का परिणाम है तो बाह्य मितव्ययिताएँ उद्योग के आकार, स्थानीयकरण तथा विशिष्टीकरण का।' इस कथन की समीक्षा कीजिए।

Internal Economies are the result of indivisibility and specialisation while the external economies are the result of the size of industry localisation and specialisation Elucidate

[संकेत—दोनों प्रकार की मितव्ययिताओं के उत्पन्न होने के कारणों के सन्दर्भ में उत्तर दें।]

7 विभिन्न आन्तरिक मितव्ययिताओं तथा उत्पादन पर उनके प्रभाव की व्याख्या कीजिए।

Explain the various kinds of internal economies and their effect on production

26
उत्पादन के नियम
(Laws of Returns)

"While the part which nature plays in production shows a tendency to diminishing returns the part which man plays shows a tendency to increasing returns If the action of the laws of increasing and diminishing returns are balanced we have the law of constant returns"

—*Marshall*

अर्थशास्त्र की मूलभूत समस्याओं में उत्पादन की भी एक समस्या है। उत्पादन के नियम यह इंगित करते है कि एक उत्पादक द्वारा अल्पकाल में उत्पादन के कुछ साधन/साधनों को स्थिर रखकर अन्य साधन/साधनों को परिवर्तित करने पर उत्पादन की मात्रा में किस अनुपात में परिवर्तन होता है। अल्पकाल में कुछ साधन/साधनों की मात्रा को स्थिर रखकर कुछ साधन/साधनों की मात्रा में परिवर्तन से कुल व सीमान्त उत्पादन में घटने या बढ़ने या स्थिर रहने की जो स्थिति उत्पन्न होती है उसका अध्ययन ही उत्पादन के नियमों में किया जाता है। इसके दूसरी ओर दीर्घकाल में उत्पादन के सभी साधनों की उपलब्ध पूर्ति में परिवर्तन सम्भव होता है। इसीलिए उत्पादन में परिवर्तन हेतु दी गई तकनीक के अन्तर्गत सभी साधनों की मात्रा में समानुपातिक परिवर्तन के कारण कुल व सीमान्त उत्पत्ति पर जो प्रभाव पड़ता है उसका अध्ययन पैमाने के प्रतिफल के अन्तर्गत किया जाता है।

उत्पादन फलन
(The Production Function)

किसी वस्तु का उत्पादन करने के लिए उत्पादन के कई साधनों के सहयोग या संयोग (Combination) की आवश्यकता पड़ती है। जिस वस्तु का उत्पादन किया जा रहा है उसे हम उत्पाद (Output) तथा जिन साधनों द्वारा उत्पादन किया जाता है उन्हें हम पड़त (Input) कहते हैं। पड़तों के द्वारा उत्पाद प्राप्त करने में किसी न किसी प्राविधिक स्थिति का प्रयोग किया जाता है। इसलिए पड़त और

उत्पाद का सम्बन्ध प्राविधिक स्थिति से परिसीमित है। अत दी हुई प्राविधिक स्थिति म किसी फम क उत्पाद तथा पडत के सम्बन्धों को उत्पादन फलन (Production Function) कहा जाता है। स्मरण रहे कि उत्पादन फलन की बात हम किसी अवधि के सन्दभ म करते हैं।

किसी भी फम के उत्पादन फलन (Production Function) का निर्धारण प्राविधिक स्थिति द्वारा किया जाता है। जब प्राविधिक प्रगति होती है तो नय पडत उत्पादन के सम्बन्धो का जन्म होता है। सामान्य रूप से पहले से श्रेष्ठ प्रविधि का प्रयोग करने म उन्हीं पडतों द्वारा उत्पादन म वद्धि होती है। उत्पादन म कमी भी हो सकती है जसे भूमि की उवरता कम हो जाने के कारण अन्य पडतो म वद्धि करने पर भी उत्पादन म कमी हो सकता है। अथशास्त्रियो न सांख्यिकीय विधियो द्वारा पडतों तथा उत्पादनो क सम्बन्धो के परिवतनो का व्यावहारिक रूप म अध्ययन किया है। इन अध्ययनो म पी एच डगलस (P H Douglas) तथा सी डब्ल्यू काब (C W Cobb) द्वारा प्रस्तुत अध्ययन प्रसिद्ध हैं। इसे Cobb Douglas Production Function कहते है। इसके द्वारा उत्पादन समता नियम पर प्रकाश पडता है। अथशास्त्र के अन्तगत हम उत्पादन फलन म उत्पाद पडत के दो प्रकार के सम्बन्धो पर ध्यान देते हैं—पहला यदि कुछ पडत (Inputs) स्थिर हैं तथा कुछ पडतें परिवतनशील हैं तो उत्पादन पर क्या प्रभाव पडता है ? दूसरा यदि सभी पडतें परिवतनशील है तो उत्पादन पर क्या प्रभाव पडेगा ? यहाँ पर हम उत्पाद तथा पडत की मात्रा (Physical quantity) की ही बात करते हैं उनकी कीमतों पर ध्यान नहीं देते हैं। किसी फम के उत्पादन की मात्रा (निश्चित अवधि म) दो बातों पर निभर है

(i) उत्पादन की विधि (Technology) तथा (ii) उत्पादन के लिए प्रयोग किये जाने वाली पडतो (Inputs) या साधनो की मात्रा। यदि हम उत्पादन विधि को पूववत् (Constant) मान ले तो उत्पादन मात्रा उत्पादन के साधनो की मात्रा पर निभर करेगी। यदि एक या अधिक साधनो की मात्रा म परिवतन किया जाए तो उत्पादन की मात्रा पर क्या प्रभाव पडेगा ? इस प्रश्न का उत्तर हम उत्पत्ति के नियमो (Laws of Returns) द्वारा मिलता है। अधिक उत्पादन के लिए अधिक साधनो की आवश्यकता पडती है। परन्तु यह भी सम्भव है कि उत्पादन म वद्धि पडत (Inputs) अथवा साधनो की वद्धि के अनुपात म न हो। उत्पादन के तीन नियमो का उल्लेख किया जाता है

1 कुछ समय तक हम यह पाते हैं कि उत्पादन की मात्रा म साधनो की मात्रा म वद्धि करने पर आनुपातिक रूप से कम वद्धि होती है। प्रति इकाई उत्पादन की लागत बढ जाती है। इसे उत्पत्ति ह्रास नियम या लागत वद्धि नियम कहते हैं।

2 कभी-कभी उत्पादन साधनों की मात्रा में वृद्धि करने से कुल उत्पादन में अधिक अनुपात से वृद्धि होती है जिससे प्रति इकाई उत्पादन लागत कम हो जाती है। इसे 'उत्पत्ति वृद्धि नियम' या 'लागत ह्रास नियम' कहते हैं।

3 उत्पादन के साधनों में वृद्धि करने पर जब उत्पादन में भी उसी अनुपात में वृद्धि होती है तब इसे 'उत्पत्ति समता नियम' या 'लागत समता नियम' कहते हैं।

उत्पत्ति ह्रास नियम या परिवर्तनशील अनुपातों का नियम
(Law of Diminishing Returns or Law of Variable Proportions)

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने इस नियम की व्याख्या केवल भूमि के सम्बन्ध में की थी परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्री इस नियम की व्याख्या व्यापक रूप से करते हैं। अतः हम इस नियम की दो प्रकार व्याख्या पाते हैं (i) पुराने अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत व्याख्या तथा (ii) नियम के विषय में आधुनिक मत। हम यहाँ पर इन दोनों दृष्टिकोणों से इस नियम पर प्रकाश डालेंगे।

उत्पत्ति ह्रास नियम की मार्शल द्वारा प्रस्तुत व्याख्या (परम्परावादी व्याख्या)
(Marshallian Version of the Law of Diminishing Returns)

नियम की परिभाषा उत्पादन क्रिया में जब उत्पादन साधनों की क्रमागत इकाइयों द्वारा उत्पादन में क्रमशः ह्रास होता जाता है तो इसे उत्पत्ति ह्रास नियम कहते हैं। मार्शल के अनुसार यदि कृषि-कला में कोई सुधार न हो तो सामान्यतः कृषि में प्रयुक्त श्रम और पूँजी की वृद्धि से कुल उत्पादन में वृद्धि आनुपातिक रूप में कम होगी।[1]

इस परिभाषा का अर्थ यह है कि यदि भूमि के एक टुकड़े पर कृषि उत्पादन के लिए श्रम और पूँजी की मात्राओं में वृद्धि की जाए तो उनकी प्रत्येक वृद्धि की इकाई से प्राप्त सीमान्त उपज अपने पूर्व की इकाई द्वारा प्राप्त सीमान्त उपज से कम होगी अर्थात् यदि श्रम तथा पूँजी की मात्रा दुगुनी या तीन गुनी कर दी जाय तो कुल उत्पादन दुगुना या तीन गुना नहीं होगा बल्कि उत्पादन में आनुपातिक रूप से कम वृद्धि होगी।

उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण

उपर्युक्त तथ्य का स्पष्टीकरण हम अग्रलिखित सारणी से कर सकते हैं

---

1 An increase in the capital and labour applied in the cultivation of land causes in general a less than proportionate increase in the amount of produce raised unless it happens to coincide with an improvement in the arts of agriculture

—*Marshall*

श्रम की विभिन्न इकाइयों द्वारा उत्पादन (क्विटल मे)

भूमि (एकड)	श्रम की इकाइयाँ	कुल उत्पत्ति Total Product	सीमान्त उत्पत्ति Marginal Product	औसत उत्पत्ति Average Product
10	1	100	100	100
10	2	230	130	115
10	3	360	130	120
10	4	480	120	120
10	5	560	80	112
10	6	600	40	100
10	-	620	20	88
10	8	620	0	79
10	9	610	–10	68

मान लीजिए 10 एकड भूमि है। उत्पादन के लिए इस भूमि पर उत्पादन साधन लगाये जाते हैं। भूमि निश्चित मात्रा मे है केवल श्रम व पूँजी ऐसे साधन है जिनकी मात्रा म परिवर्तन किया जाता है। पहले कालम म परिवर्तनशील साधन श्रम की इकाइया दूसरे कालम म कुल उत्पत्ति तीसरे म सीमान्त उत्पत्ति तथा अन्तिम कालम मे औसत उत्पत्ति दिखाई गई है।

नियम की अवस्थाएँ (Stages of the Law)

उत्पादन ह्रास नियम की तीन अलग अलग अवस्थाए है जसा कि ऊपर दी गई सारणी स प्रकट है।

1 **कुल उत्पत्ति ह्रास नियम** (Law of Total Diminishing Returns) सारणी स स्पष्ट है कि सातवें श्रमिक तक कुल उत्पादन म कुछ न कुछ वद्धि होती है परन्तु नवें श्रमिक को लगाने से कुल उत्पत्ति 620 क्विटल स घट कर 610 क्विटल हो जाती है। इस प्रकार नव श्रमिक का काम पर लगाना हानिप्रद है। अत उसकी सवाओं का उपयोग करना किसान के हित म नही है। इसस यह प्रकट होता है कि यदि उत्पादन के एक साधन म वद्धि की जाय तो आरम्भ मे कुल उत्पत्ति धीरे धीरे बढती है परन्तु एक बिन्दु के पश्चात् उस साधन की अधिक इकाइयो को लगाने म कुल उत्पत्ति भी घटने लगती है। इस अवस्था को 'कुल उत्पत्ति ह्रास नियम' कहते हैं।

2 **सीमान्त उत्पत्ति ह्रास नियम** (Law of Diminishing Marginal Returns) सीमान्त उत्पत्ति तीसरे श्रमिक तक बढ रही है। किसान यह जानता है कि यदि वह अतिरिक्त श्रमिकों को काम पर लगाएगा तो सीमान्त उत्पत्ति बढेगी क्योंकि कम श्रमिको से भूमि की उत्पादन-क्षमता का पूरा उपयोग नहीं हो सकेगा।

परन्तु यदि चौथा श्रमिक लगाया जाता है तो सीमान्त उत्पत्ति 130 से घटकर 120 क्विटल हो जाती है। नवें श्रमिक के लगाने पर सीमान्त उत्पत्ति 10 हो जाती है अर्थात् अतिरिक्त श्रमिक अन्य श्रमिकों के काम में बाधा उपस्थित करते हैं। सारिणी में चौथे श्रमिक से लेकर नवें श्रमिक तक सीमान्त उत्पत्ति घटती रहती है। इस अवस्था को सीमान्त उत्पत्ति ह्रास नियम कहते हैं।

3 औसत उत्पत्ति ह्रास नियम (Law of Diminishing Average Returns) तीसरे श्रमिक तक औसत उत्पत्ति अधिकतम है—120 क्विटल। चौथे श्रमिक से औसत उत्पत्ति घटना प्रारम्भ होती है और नवें श्रमिक तक प्रति श्रमिक औसत उत्पादन घटकर 68 क्विटल हो जाता है। सारणी से स्पष्ट है कि तीसरे श्रमिक के पश्चात् सीमान्त उत्पत्ति भी तेजी से घटने लगती है। चौथे श्रमिक पर औसत उत्पत्ति तथा सीमान्त उत्पत्ति समान होगी। उत्पादन का सर्वोत्तम बिन्दु वह होगा जिस पर औसत तथा सीमान्त उत्पादन बराबर होंगे, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से औसत व सीमान्त उत्पादन को समान रखना कभी-कभी सम्भव नहीं हो पाता है। औसत उत्पादन एक सीमा (तीसरे श्रमिक) के पश्चात् घटता जाता है। अतः इसे औसत उत्पत्ति ह्रास नियम' कहते हैं।

नियम की सीमाएँ (Limitations of Law)

'उत्पादन ह्रास नियम' की जो परिभाषा मार्शल ने दी है उसके अनुसार इस नियम की निम्नलिखित सीमाएं है

(i) अपर्याप्त साधन यदि भूमि पर अपेक्षित मात्रा में श्रम पूँजी आदि साधन पहले से नहीं लगाये गये हैं तो प्रारम्भ में यह नियम लागू नहीं होगा। परन्तु अपेक्षित सीमा तक पूँजी आदि लगाने के पश्चात् यदि उत्पादन साधनों की अतिरिक्त इकाइयाँ लगाई जाएँगी तो यह नियम लागू होना प्रारम्भ हो जायगा।

(ii) कृषि प्रणाली में सुधार इस नियम के लागू होने के लिए यह आवश्यक है कि कृषि प्रणाली पूर्ववत् हो उसमें कोई सुधार न किया जाए। यदि पहले की अपेक्षा अच्छे किस्म के बीजों का प्रयोग किया जाता है उत्तम खाद फसल चक्र (Crop Rotation) मशीनों, उत्तम सिंचाई आदि की सुविधाओं का इस्तेमाल किया जाता है तो उत्पादन में वृद्धि होगी। वैज्ञानिक कृषि द्वारा इस नियम के लागू होने की अवधि आगे बढ़ाया जा सकता है परन्तु दीर्घकाल में इन सुधारों के होते हुए भी यह नियम लागू होगा।

(iii) नयी भूमि यदि परती भूमि पर कृषि प्रारम्भ की जाती है तो यह नियम प्रारम्भ में लागू नहीं होगा। पूँजी व श्रम के क्रमागत प्रयोग से प्रारम्भ में उत्पादन में वृद्धि होगी। अतः नयी भूमि के सम्बन्ध में प्रारम्भिक अवस्था में नियम लागू नहीं होगा।

(iv) **अपर्याप्त पूँजी** यदि अपर्याप्त पूँजी का प्रयोग किया है तो अतिरिक्त पूजी लगाने पर उत्पादन म वद्धि होगी।

इस नियम की उपयुक्त सभी सीमाओं का सम्बन्ध अल्पकाल से है। यह नियम स्थैतिक (Static) अवस्था से सम्बन्धित है। यदि कृषि कला म आवश्यक सुधार हो जाते हैं तो यह नियम लागू नहीं होगा। फिर भी दीर्घकाल म यह नियम अवश्य लागू होता है।

नियम की अन्य विशेषताएं (Other Features of the Law)

(1) **नियम की क्रियाशीलता** यह नियम उत्पादन साधनों के सर्वोत्तम सयोग (*Optimum Combination*) की अनुपस्थिति मे ही लागू होता है। व्यावहारिक रूप से उत्पादन साधनों का सर्वोत्तम सयोग बनाये रखना अत्यन्त ही कठिन है क्योंकि कुछ साधन एसे है जिनकी पूर्ति सीमित है तथा उन्हे प्रतिस्थापित (Substitute) करना मनुष्य के अधिकार से परे है। उदाहरण के लिए भूमि एसा ही साधन है। अन्य साधनो की मात्रा बढायी जा सकती है परन्तु 'भूमि' की मात्रा नही बढायी जा सकती है। **सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि जिन उत्पादन क्रियाओं मे प्रकृति का महत्त्वपूर्ण स्थान है उनमें यह नियम अवश्य लागू होगा।** यही कारण है कि यह नियम कृषि पर विशेष रूप म लागू होता है। कृषि म प्रकृति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भूमि का क्षेत्रफल वर्षा मौसम आदि पर मनुष्य का अधिकार नही है। वह इनकी मात्रा व अनुकूलता का नियन्त्रित नही कर सकता है। अत कृषि तथा अन्य ऐसे उद्योगो पर जो प्रकृति पर निर्भर है यह नियम शीघ्र लागू होता है।

इसके विपरीत उन उद्योगो म जिनम मनुष्य की प्रधानता है यह नियम शीघ्र लागू नही होगा। आधुनिक उत्पादन प्रणाली विशिष्टीकरण नवीन आविष्कार श्रम विभाजन आदि द्वारा मनुष्य उत्पादन म आशातीत वद्धि कर सकता है। एसे उद्योगो म मनुष्य प्रकृति पर विजय प्राप्त कर लेता है तथा उत्पादन साधनो का अनुकूलतम सयोग बनाये रखने मे सफल होता है। अत इस नियम के लागू होने की अवधि को भविष्य के लिए टाल दिया जा सकता है। परन्तु मानव प्रधान उद्योगो पर भी अत्यन्त दीर्घकाल म यह नियम अवश्य लागू होगा। इस प्रकार उत्पादन ह्रास नियम सभी उद्योगो पर लागू होता है। **मनुष्य केवल इनके लागू होने की तिथि को भविष्य के लिए टाल सकता है।** इसी आधार पर विकस्टीड ने कहा है कि यह नियम उतना ही व्यापक है जितना जिन्दगी का नियम।

(2) **नियम का सम्बन्ध उपज की मात्रा से है** उत्पादन ह्रास नियम' का सम्बन्ध उपज की मात्रा स है उसके मूल्य से नहीं। हो सकता है मूल्य स्तर म वद्धि होने के कारण पहले की अपेक्षा कम उपज होने पर भी उपज का मूल्य पहले की अपेक्षा अधिक हो। अत हम उपज की मात्राओं की तुलना करते है।

(3) बढ़ती लागतें उत्पादन ह्रास नियम को बढ़ती हुई लागतों का नियम भी कहते हैं। इसका कारण यह है कि उत्पादन की मात्रा कम होने पर प्रति इकाई लागत बढ़ती चली जाती है। हम ज्यों-ज्यों भूमि श्रम तथा पूँजी की इकाइयों का प्रयोग करते जाते हैं, प्रति इकाई लागत भी बढ़ती जाती है। इसलिए इस नियम को बढ़ती हुई लागतों का नियम कहते हैं।

प्रारम्भ में स्थिर साधनों की मात्रा पूर्ववत् रखते हुए जब परिवर्तनशील साधनों की इकाइयों में वृद्धि की जाती है तो उत्पादन अनुपात में अधिक होता है जिसके परिणामस्वरूप सीमान्त लागत (Marginal Cost) तथा औसत लागत (Average Cost) दोनों घटती हैं। किन्तु जब परिवर्तनशील साधनों में निरन्तर बढ़ोतरी की जाती है तो सीमान्त लागत एक समय तो न्यूनतम हो जाती है किन्तु इसके बाद बढ़ने लगती है। इसके बाद औसत लागत भी न्यूनतम होकर बढ़ने लगती है। औसत लागत रेखा के न्यूनतम बिन्दु को सीमान्त लागत रेखा नीचे से काटती हुई ऊपर बढ़ती है।

उत्पत्ति ह्रास नियम—आधुनिक मत
(Law of Diminishing Return—Modern View)

1 परिभाषा आधुनिक अर्थशास्त्री 'उत्पत्ति ह्रास नियम' को एक व्यापक नियम मानते हैं। उनके अनुसार यह नियम केवल 'कृषि' पर ही नहीं वरन् समस्त उद्योगों पर लागू होता है। उन्होंने इस नियम को 'परिवर्तनशील अनुपात का नियम' (Law of Variable Proportions or Law of Proportionality) का नाम दिया है। यह नियम यह प्रकट करता है कि उत्पादन के साधनों के संयोग (Combination) में यदि एक साधन की मात्रा बढ़ाई जाए तथा अन्य साधनों की मात्राएँ स्थिर हों तो कुल उपज एक सीमा के पश्चात् क्रमशः घटती जाएगी।

बेनहम ने इस नियम की इस प्रकार परिभाषित किया है "उत्पादन साधनों के संयोग में एक साधन का अनुपात ज्यों-ज्यों बढ़ाया जाएगा एक सीमा के पश्चात् त्यों-त्यों उस साधन की सीमान्त तथा औसत उपज घटती जाएगी।"[1] श्रीमती जान रॉबिन्सन द्वारा दी गई इस नियम की परिभाषा इस प्रकार है "क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम जैसा कि साधारणतः कहा जाता है यह बतलाता है कि किसी एक उत्पादन साधन की मात्रा निश्चित (यथास्थिर) रखने पर तथा अन्य साधनों की मात्राओं की क्रमागत वृद्धि करने से एक सीमा के पश्चात् उत्पत्ति में घटती हुई दर पर वृद्धि

---

1 "As the production of one factor in a combination of factors is increased after a point the marginal and average product of that factor will diminish."

—Benham

होगी।"[1] ये दोनो परिभाषाए उपयुक्त तथा वैज्ञानिक हैं। इनके अनुसार 'क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम' एक सार्वभौमिक (Universal) नियम है तथा यह किसी भी उद्योग पर लागू किया जा सकता है।

बेनहम तथा श्रीमती जोन राबिन्सन की परिभाषाओं मे अन्तर

प्रसिद्ध अर्थशास्त्री **बेनहम** तथा **श्रीमती जोन राबिन्सन** की परिभाषाए उपयुक्त एव वैज्ञानिक हैं। **जोन राबिन्सन** के अनुसार यदि एक साधन विशेष को स्थिर रखा जाये तथा अन्य साधनों की मात्रा बढा दी जाए तो उत्पत्ति की वृद्धि दर कम होती जाती है। **बेनहम** के अनुसार यदि साधनों को स्थिर रखा जाए तथा एक साधन विशेष की मात्रा बढा दी जाए तो प्राप्त उत्पत्ति की वृद्धि दर कम होती जायेगी। दोनो के विचारो मे दूसरा अन्तर यह है कि **जोन राबिन्सन** के अनुसार सीमान्त उत्पत्ति के घटने के प्रारम्भ के साथ ही क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होना प्रारम्भ हो जाता है जबकि **बेनहम** के अनुसार सीमान्त व औसत उत्पत्ति दोनो के घटने की प्रक्रिया प्रारम्भ होने पर यह नियम लागू होता है।

वस्तुत बेनहम व राबिन्सन के विचारों मे मौलिक अन्तर नही है। हम एक साधन को स्थिर रख तथा अन्य साधनो को परिवर्तनशील रखें या एक साधन को परिवर्तनशील तथा अन्य साधनो को स्थिर रखें दोनो ही अवस्थाओ मे यह नियम लागू होगा। इसके साथ ही साथ एक बिन्दु के पश्चात् सीमान्त तथा औसत उत्पत्ति दोनो मे ही ह्रास प्रारम्भ हो जाता है यद्यपि उनके घटने की गति या दर मे अन्तर होता है तथा उनके घटने की प्रक्रिया के प्रारम्भ होने के समय मे भी अन्तर हो सकता है। **प्रो० लिप्से**[2] तथा **डोनाल्ड स्टीवेन्सन वाटसन** ने इस नियम की परिभाषा बेनहम की ही भाँति दी है। इन्होंने भी एक साधन का परिवर्तनशील तथा अन्य साधनो को यथास्थिर मानकर इस नियम की व्याख्या की है।

इन दोनो अर्थशास्त्रियों के विचारो मे अन्तर को समाप्त करने की दृष्टि से **प्रो० पाल सम्युलसन** ने **उत्पत्ति ह्रास नियम** की परिभाषा इस प्रकार दी है

---

1 The Law of Diminishing Returns as a usually formulated states that with a fixed amount of any one factor of production successive increases in the amount of other will after a point yield a diminishing increment of output

—*Mrs Joan Robinson*
The Economics of Imperfect Competition p 330

2 If increasing amounts of a variable factor are applied to a quantity of the other factors the amount added to the total product by each additional unit of the variable factor will eventually decrease after this point has been reached additional unit of the variable factor will add less to the total product than did previous unit

—*Richard G Lipsey*

यदि स्थिर साधनो की तुलना म अन्य साधनो की मात्रा म वृद्धि की जावे तो इससे उत्पादन म वृद्धि होगी किन्तु एक बिन्दु क बाद साधनो का समान वृद्धियो स प्राप्त अतिरिक्त उत्पादन उत्तरोत्तर कम होता जायेगा।'

प्रो० स्टिगलर (Stigler) के शब्दो मे यदि उत्पत्ति क अन्य साधनो को इकाइयो को स्थिर रख कर किसी एक साधन की समान इकाइयां जोडी जाय तो एक सीमा क बाद सीमान्त उत्पत्ति घट जावेगी।[1]

प्रो० बोल्डिंग (Boulding) क मतानुसार यदि उत्पत्ति की अन्य इकाइयो को स्थिर रखकर किसी एक इकाई की मात्रा म उत्तरोत्तर वृद्धि की जावे तो उस परिवर्तनशील इकाई की सीमान्त भौतिक उत्पत्ति क्रमश घटती जाती है।'[2]

इस प्रकार उपयुक्त परिभाषाओ स स्पष्ट होता है कि चाहे एक साधन को स्थिर रख कर अन्य साधनो की मात्रा म वृद्धि की जाय अथवा अन्य साधनो को स्थिर रख कर एक साधन की मात्रा म वृद्धि की जाये या कुछ साधनो को स्थिर रखकर अन्य साधनो की मात्रा म वृद्धि की जाय एक सीमा क बाद उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होता है।

उदाहरण तथा रेखाचित्र की सहायता से नियम का स्पष्टीकरण

सवप्रथम उत्पत्ति ह्रास नियम की स्पष्ट जानकारी क लिए हम कुल उत्पत्ति सीमान्त उत्पत्ति तथा औसत उत्पत्ति क अर्थ को भी जानना अपरिहार्य होगा।

कुल उत्पत्ति (Total Production) किसी समय विशेष म जो सामूहिक उत्पत्ति होती है वह कुल उत्पत्ति कहलाती है।

सीमान्त उत्पत्ति (Marginal Production) सीमान्त उत्पत्ति कुल उत्पत्ति म होने वाली वह वृद्धि है जो उत्पादन की एक अतिरिक्त इकाई लगाने स होता है।

औसत उत्पत्ति (Average Production) औसत उत्पत्ति कुल उत्पत्ति म प्रयुक्त की गई साधन इकाइयो का भाग देने से प्राप्त होने वाला औसत है।

इस नियम को हम एक उदाहरण द्वारा भी स्पष्ट कर सकते हैं। माना कि एक उद्योगपति अपने कारखाने मे उत्पत्ति के विभिन्न साधनो का प्रयोग कर रहा है

---

1 "If the quality of one productive factor is increased by equel increments the quantities of other productive factors remaining fixed the resulting increments of product will d crease after a certain point.
—*Stigler*

2 As we incre se the quantity of any one input which is combined with a fixed quantity of other inputs the marginal physical productivity of the variable input must eventually eecline"

वह अपनी उत्पत्ति मे वृद्धि हेतु श्रम की उत्तरोत्तर इकाइयो की मात्रा को बढ़ा रहा है। इसकी कुल उत्पत्ति सीमान्त उत्पत्ति तथा औसत उत्पत्ति को निम्न सारणी तथा रेखाचित्र द्वारा स्पष्ट किया गया है

श्रम द्वारा उत्पादन (टनो मे)

श्रम की इकाइयाँ		कुल उत्पत्ति	औसत उत्पत्ति	सीमान्त उत्पत्ति
प्रथम	1	6	6	6
अवस्था	2	18	9	12
	3	33	11	15
द्वितीय	4	40	10	7
अवस्था	5	45	9	5
	6	48	8	3
	7	49	7	1
तृतीय अवस्था	8	40	5	–9

रेखाचित्र स० 52 म ऊपर दी गयी सारणी के समक अकित किये गये हैं। चित्र म तीन अवस्थाएँ (Phases) प्रदर्शित की गई है।
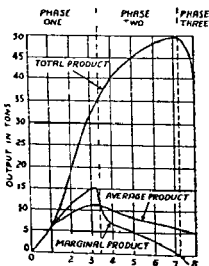
चित्र स० 52

प्रथम अवस्था म परिवतनशील साधन (श्रम) की औसत उत्पत्ति (Average product) बढ़ रही है। इस अवस्था का अन्त अधिकतम औसत उत्पत्ति बिन्दु

(Highest average product point) पर होता है। इस बिन्दु पर औसत उत्पत्ति तथा सीमान्त उत्पत्ति—दोनों बराबर है।

द्वितीय अवस्था में औसत उत्पत्ति कम हो रही है। इस अवस्था का अन्त अधिकतम कुल उत्पत्ति बिन्दु तथा शून्य 'सीमान्त उत्पत्ति' बिन्दु पर होता है। यह स्मरणीय है कि इस अवस्था में भी 'कुल उत्पत्ति' (Total product) में वृद्धि हो रही है तथा औसत उत्पत्ति सीमान्त उत्पत्ति' से अधिक है।

तृतीय अवस्था में कुल उत्पत्ति भी गिरनी प्रारम्भ हो जाती है। औसत उत्पत्ति भी कम होती रहती है तथा सीमान्त उत्पत्ति ऋणात्मक (Negative) हो जाती है।

(i) **औसत उत्पत्ति** (Average product) सारणी से स्पष्ट है कि भूमि के एक टुकड़े पर श्रम की मात्रा बढ़ाई जा रही है। तीन श्रमिकों को लगाने पर प्रति श्रमिक औसत उत्पत्ति अधिकतम है। प्रथम से तीसरे श्रमिक तक औसत उत्पत्ति बढ़ रही है तथा कुल उत्पत्ति भी बढ़ रही है। इसे हम उत्पादन की प्रथम **अवस्था** कह सकते हैं। **दूसरी अवस्था** चौथे श्रमिक से सातवें श्रमिक तक है। इसमें कुल उत्पत्ति में वृद्धि हो रही है यद्यपि प्रति श्रमिक उत्पत्ति घट रही है। **तीसरी अवस्था** आठवें श्रमिक के लगाने पर प्रकट होती है। भूमि के टुकड़े पर अधिकतम कुल उत्पत्ति 49 टन प्राप्त की जा सकती है। आठवां श्रमिक लगाने पर अन्य श्रमिकों के कार्य में भी बाधा पड़ती है तथा कुल उत्पादन भी कम हो जाता है। इस प्रकार तृतीय अवस्था अव्यावहारिक है केवल दूसरी अवस्था ही व्यावहारिक है। दूसरी अवस्था से स्पष्ट है कि यदि श्रम के अनुपात में भूमि की अपेक्षा अधिक वृद्धि की जाती है तो प्रति श्रमिक औसत उत्पत्ति घटती है। (इसी प्रकार यदि श्रम की अपेक्षा भूमि के अनुपात में वृद्धि की जाय तो प्रति एकड़ औसत उत्पत्ति कम होगी।) इससे स्पष्ट है कि यदि एक साधन की मात्रा में वृद्धि की जाय तो एक सीमा के पश्चात् उस साधन की क्रमागत इकाइयों की औसत उत्पत्ति घटती जायगी। यदि एक साधन की मात्रा में 20% वृद्धि की जाय (अन्य साधनों को यथास्थिर रखकर) तो कुल उत्पत्ति' में 20% से कम वृद्धि होगी।

(ii) **सीमान्त उत्पत्ति** (Marginal Product) सीमान्त उत्पत्ति कुल उत्पत्ति में वृद्धि की मात्रा को कहते हैं जो किसी साधन की अतिरिक्त इकाई के लगाने से प्राप्त होती है। सारणी के अन्तिम कालम में श्रम की इकाइयों की सीमान्त उत्पत्ति दिखाई गई है। यदि श्रमिकों की संख्या 2 से बढ़ाकर 3 कर दी जाती है तो श्रम की सीमान्त उत्पत्ति' 33–18 = 15 हो जाती है। यहाँ पर यह स्मरणीय है कि उत्पादन में 15 की वृद्धि केवल तीसरे श्रमिक के ही कारण नहीं है क्योंकि यहाँ पर सभी श्रमिकों की क्षमता समान है।

(iii) औसत व सीमान्त उत्पत्ति में सम्बन्ध सारणी के आधार पर यदि हम औसत उत्पत्ति और सीमान्त उत्पत्ति को रेखाचित्र द्वारा प्रकट करें तो उनकी रूपरेखा चित्र सं० 53 के अनुसार होगी।
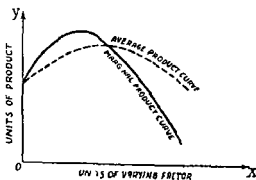
चित्र सं० 53

उपर्युक्त चित्र से स्पष्ट है कि (1) आरम्भ में श्रम की इकाइयां बढ़ाने पर सीमान्त उत्पत्ति औसत उत्पत्ति की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़ने लगती है। (2) बाद में सीमान्त उत्पत्ति औसत उत्पत्ति की अपेक्षा अधिक तेजी से घटने लगती है। (3) एक ऐसा बिन्दु आता है जहां पर औसत उत्पत्ति सीमान्त उत्पत्ति के बराबर होती है। यह बिन्दु अधिकतम औसत उत्पत्ति का बिन्दु होता है। (4) इस बिन्दु के पश्चात् सीमान्त उत्पत्ति और औसत उत्पत्ति दोनों नीचे गिरना प्रारम्भ होती हैं तथा सीमान्त उत्पत्ति के नीचे गिरने की गति तीव्रतर होती है।

औसत व सीमान्त उत्पत्ति का उपर्युक्त पारस्परिक सम्बन्ध सदैव सत्य होता है (यदि औसत उत्पत्ति पहले बढ़ रही हो तथा बाद में घट रही हो)। उपर्युक्त विवरण को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि यदि अन्य साधनों के संयोग में एक उत्पादन-साधन का अनुपात बढ़ा दिया जाय तो एक सीमा के पश्चात् उस साधन की औसत तथा सीमान्त उत्पत्ति कम होनी प्रारम्भ होगी।

क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम के आधुनिक रूप की विवेचना के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि यह नियम समस्त उत्पादन क्रियाओं पर लागू होता है। अतः प्रतिष्ठित अंग्रेज अर्थशास्त्रियों का यह मत भ्रामक तथा त्रुटिपूर्ण है कि यह नियम कृषि पर ही लागू होता है। उत्पत्ति ह्रास नियम की प्रवृत्ति प्रत्येक उद्योग में विद्यमान है। इसके लागू होने के लिए केवल एक शर्त है कि ज्ञान की अवस्था में परिवर्तन न हो।

नियम की मान्यताएं (Assumptions)

उत्पत्ति ह्रास नियम अग्रलिखित मान्यताओं पर आधारित है

(1) **उत्पादन विधि अपरिवर्तनीय** यह मान लिया जाता है कि उत्पान्न विधि म परिवर्तन नहीं होता है अर्थात् प्राविधिक ज्ञान की अवस्था दी हुई होती है। साथ ही साथ यह भी मान लिया जाता है कि उत्पादन-पैमाने की मितव्ययिताएँ प्राप्त नहीं हो रही हैं।[1]

(2) **उत्पादन के मूल्य से सम्बन्ध नहीं** इस नियम म हम उत्पान्न की मात्रा पर ध्यान देते हैं उत्पान्नित वस्तुओं के मूल्यों पर नहीं।

(3) **साधनों का विभाजन सम्भव** यह नियम इस मान्यता पर आधारित है कि उत्पान्न साधनों-कम म कम परिवर्तनशील साधनों (Variable factors)—को छोटी-छोटी समान इकाइयों म विभाजित किया जा सकता है।

(4) **साधनों का पहले से ही उत्तम संयोग** यह नियम यह मानकर चलता है कि उत्पान्न साधनों का संयोग पहले म ही सर्वोत्तम है। यदि किसी साधन की मात्रा आवश्यक मात्रा म कम है तो उस साधन की मात्रा बढ़ाने पर उत्पान्न म कमी के स्थान पर वृद्धि हो सकती है (अन्य साधनों की मात्रा स्थिर रखने पर)।

(5) **एक साधन स्थिर** यह नियम उसी समय लागू होगा जबकि एक साधन स्थिर तथा अन्य साधन परिवर्तनशील हों या कम म कम एक साधन परिवर्तनशील हो।

नियम क लागू होने के कारण (Causes of the Application of the Law)

उत्पत्ति ह्रास नियम के लागू होने के निम्नलिखित कारण हैं

(1) **अल्प काल मे फर्म की लागत** अल्प-काल म यदि कोई फर्म अपनी क्षमता स अधिक उत्पान्न कर रही है तो यह नियम लागू होगा। हम यह जानते हैं कि अल्प-काल म फर्म का औसत लागत वक्र अंग्रेजी के U (यू) की शक्ल का होता है। औसत लागत वक्र का निम्नतम बिन्दु न्यूनतम लागत को प्रकट करता है। यदि कोई फर्म इस बिन्दु की दाहिनी बिन्दु पर उत्पादन कर रही है तो प्रति इकाई उत्पादन लागत बढ़ती है तथा उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होने लगता है। दीर्घकाल म इस नियम के लागू होने के कारण निम्नलिखित हैं

(2) **एक या कुछ साधनों का स्थिर होना** इस नियम के लागू होने का सबसे प्रमुख कारण यह है कि उत्पान्न के एक या कुछ साधनों का स्थिर मान लिया जाता है। यदि उत्पान्न के सभी साधनों म आवश्यक वृद्धि की जा सकती है तब उत्पान्न म आनुपातिक वृद्धि अधिक होगी तथा यह नियम लागू नहीं होगा।

---

1 This assumes that the state of technical knowledge is given and that there are no economies of scale

— *Benham*

(3) **साधनो की कमी** कुछ साधना का पूर्ति सीमित होती है। अत उत्पादन म जब वद्धि की जाती है तब फम के सगठन म परिवतन करते समय सीमित साधना को ध्यान म रखना पडता है। कृषि व्यवसाय म भूमि सीमित होती है। अत यह नियम लागू होता है। अन्य उद्योगो म भी यदि कोई कच्चा माल या मशीन सीमित मात्रा म उपलब्ध है तो यह नियम लागू होने लगता है।

(4) **उत्पादन साधनों का अपूर्ण स्थानापन्न होना** (Imperfect Substitution of Factors) उत्पादन के सभी साधन एक दूसरे के स्थानापन्न नही होते है। यदि हम उन्हे स्थानापन्न मान भी लें तो उन्हे एक सीमा तक ही एक दूसरे से प्रतिस्थापित किया जा सकता है। **श्रीमती जोन राबिंसन** ने कहा है कि यदि एक साधन स्थिर हो तथा अन्य साधनो की पूर्ति पूर्णतया लोचदार हो तो यह बिल्कुल सम्भव है कि उत्पादन का कुछ भाग स्थिर साधन की सहायता म पैदा किया जाये (अन्य परिवतनशील साधना की सहायता से)। जब स्थिर साधन का अन्य साधनो के साथ अनुकूलतम प्रयोग कर लिया जाय तब स्थिर साधन के स्थान पर स्थानापन्न (Substitute) साधन का प्रयोग किया जाय। इस प्रकार स्थिर लागत पर उत्पादन म वद्धि सम्भव है तथा यह नियम लागू होगा। परन्तु व्यावहारिक रूप म साधन एक दूसरे के पूर्ण स्थानापन्न नही होते हैं। अत उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होता है।

उत्पादन ह्रास नियम का क्षेत्र (Scope of the Law)

प्रतिष्ठावादी अर्थशास्त्रियो के अनुसार यह नियम केवल कृषि क्षेत्र म ही लागू हो सकता है किन्तु आधुनिक अर्थशास्त्रियो के अनुसार यह नियम सर्वव्यापी नियम है। यह नियम उत्पादन के हर क्षेत्र म लागू होता है। इनके अनुसार जब उत्पादन के किसी भी क्षेत्र मे एक से अधिक उत्पादन के साधन स्थिर होते हैं और अन्य साधन परिवतनशील तो अनुकूलतम संयोग के बाद सीमान्त उत्पत्ति तथा औसत उत्पत्ति क्रमश घटती है। इस प्रकार यह नियम कृषि क्षेत्र खनन मत्स्य मछली पकडन के उद्योग निर्माणी उद्योग तथा मकान दुकान आदि के निर्माण काय आदि सभी उत्पादन के क्षेत्रो म लागू होता है।

उत्पादन ह्रास नियम का महत्त्व

(Significance of the Law of Diminishing Returns)

यह नियम अर्थशास्त्र के क्षेत्र म एक आधारभूत नियम है। यह अनेक नियमो का भी आधार रहा है। इसका महत्त्व निम्न विवरण से स्पष्ट है

1 **अर्थशास्त्र का आधारभूत नियम** यह नियम उत्पत्ति के हर क्षेत्र—कृषि मछली खनन निर्माणी उद्योग आदि सभी क्षेत्रो म लागू होता है। इसलिए यह नियम सार्वभौमिक है।

2 **माल्थस का जनसंख्या नियम इसी पर आधारित** माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त उत्पादन ह्रास नियम पर ही आधारित है। माल्थस के सिद्धान्त के अनुसार

एक देश म खाद्य सामग्री का उत्पादन जनसख्या वृद्धि स कम होता है। खाद्य-सामग्री म धीमी गति से वृद्धि का कारण ही उत्पादन ह्रास नियम ही है।

3 **रिकार्डो का लगान सिद्धान्त भी इसी नियम पर आधारित** कृषि क्षेत्र म कृषि की गहन पद्धति म जब भूमि के एक निर्धारित टुकडे पर श्रम तथा पूंजी की अधिकाधिक इकाइयो का प्रयोग करत ह तो प्रारम्भिक इकाइयो की अपेक्षा बाद की इकाइयो की उत्पत्ति कम होती है जिसका कारण उत्पत्ति ह्रास नियम का लागू होना है। सीमान्त इकाई और अधि-सीमान्त इकाइयो की उपज म अन्तर को रिकार्डो ने लगान बतलाया है। अत इस नियम के कारण ही यह लगान प्राप्त होता है। ठीक इसी प्रकार विस्तृत खेती म भी श्रेष्ठ भूमि व घटिया भूमि के टुकडो पर समान श्रम व पूंजी की इकाइयो को प्रयोग म लाने के बावजूद भी श्रेष्ठ भूमि पर घटिया भूमि की अपेक्षा जो अधिक उत्पादन होता है लगान है। अत रिकार्डो के सिद्धान्त का आधार भी यही है।

4 **वितरण के सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त का आधार** उत्पादन साधनो के पुरस्कार निर्धारण का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त सीमान्त उत्पादकता का सिद्धान्त है जो कि उत्पादन ह्रास नियम पर ही आधारित है। इस नियम के कारण ही परिवर्तन शील साधन की सीमान्त उत्पादकता घटती है।

5 **इस नियम का प्रतिफल उत्पत्ति का प्रतिस्थापन सिद्धान्त है** प्रत्येक उत्पादनकर्ता उत्पत्ति के साधनो की सीमान्त उत्पत्ति घटने के कारण हो एस बिन्दु पर उनका सयोग बढाता है जहा सबके सीमान्त उत्पत्ति तथा मूल्य का अनुपात बराबर हो।

6 **अनेक आविष्कारों का प्रेरणा स्रोत** इस नियम की क्रियाशीलता की प्रवृत्ति को रोकने के लिए ही नये नये आविष्कारो का जन्म हुआ है।

7 **जनसख्या के प्रवास हेतु उत्तरदायी** एक क्षेत्र म भूमि पर जनसख्या का दबाव बढ़ने के कारण सीमान्त उत्पत्ति घटती है जिसके परिणामस्वरूप जनसख्या एक क्षेत्र से हटकर दूसरे क्षेत्र म प्रवास कर जाती है।

उत्पत्ति वृद्धि नियम या वर्द्धमान प्रतिफल का नियम
(Law of Increasing Returns)

पुराने अर्थशास्त्री यह विचार प्रकट करते थ कि किसी देश के उद्योगो का वर्गीकरण उत्पत्ति के नियमो के आधार पर किया जा सकता है। मार्शल के अनुसार जो उद्योग प्रकृति पर अधिक निर्भर रहते है (जैसे कृषि) उनमे उत्पत्ति ह्रास नियम तथा जो उद्योग मनुष्य के प्रयत्नो पर आधारित होते हैं (जैसे मशीन निर्माण) उनमे उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू होता है। आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने इस धारणा का खण्डन किया है तथा यह विचार व्यक्त किया है कि उत्पत्ति ह्रास नियम तथा उत्पत्ति वृद्धि नियम एक ही प्रकार के तथ्यो पर आधारित नहीं हैं। उत्पत्ति ह्रास नियम म हम कुछ साधनो को स्थिर तथा कुछ साधनो को परिवर्तनशील मानकर व्याख्या करते हैं। इसके विपरीत उत्पत्ति वृद्धि नियम उस स्थिति की व्याख्या करता है जबकि उत्पादन के

सभी साधनों में परिवर्तन होता है। उत्पत्ति ह्रास नियम साधनों के दोषपूर्ण संयोगों की व्याख्या करता है, जबकि उत्पत्ति वृद्धि नियम उत्पादन मान की मितव्ययिताओं (Economies of scale) की व्याख्या करता है। इस प्रकार आधुनिक मत के अनुसार ये दोनों नियम एक दूसरे से भिन्न हैं। ये दोनों नियम दो विभिन्न परिस्थितियों में लागू होते हैं।

उत्पत्ति वृद्धि नियम का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of the Law of Increasing Returns)

क्रमागत उत्पत्ति वृद्धि नियम क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम के पूर्णतया प्रतिकूल है। यदि किसी उद्योग में श्रम पूंजी आदि साधनों की अधिकाधिक इकाइयां लगायी जाएँ तो सम्भव है उत्पादन में लगाये गये साधनों के अनुपात की अपेक्षा अधिक वृद्धि हो। जैसे यदि साधनों की मात्रा में 10% की वृद्धि की जाये तो कुल उत्पादन में 10% से अधिक वृद्धि होगी। दूसरे शब्दों में हम यह सकते हैं कि उत्पत्ति वृद्धि नियम यह बतलाता है कि उद्योग का विस्तार किया जाय तो सीमान्त उत्पादन लागत कम होती जाएगी। प्रो० मार्शल ने इस नियम की क्रियाशीलता का सम्बन्ध उद्योगों के साथ (कृषि के साथ नहीं) स्थापित किया है। उनके अनुसार इस नियम की क्रियाशीलता का प्रमुख कारण श्रम व पूंजी की मात्रा में वृद्धि के फलस्वरूप संगठन का श्रेष्ठतर होना तथा श्रेष्ठ संगठन के फलस्वरूप उत्पादन साधनों की कार्य कुशलता में वृद्धि होती है। चपमैन के अनुसार एक उद्योग का विस्तार करने पर यदि योग्य उत्पादन साधनों का अभाव नहीं है तो अन्य बातों के समान रहने पर उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू होता है।[1] श्रीमती जोन राबिंसन के अनुसार, जब किसी साधन का अधिक मात्रा में प्रयोग किया जाता है तो सामान्यत संगठन में ऐसे सुधार सम्भव हो जाते हैं, जिससे उत्पादन साधन की इकाई (मनुष्य एकड या मुद्रा पूंजी) कार्य-कुशलता में वृद्धि हो जाती है जिससे उत्पादन में वृद्धि करने के लिए उत्पादन साधन की भौतिक मात्रा में आनुपातिक वृद्धि नहीं करनी पडती है।[2] अर्थात् उद्योग में संगठन की कुशलता उत्तम होने पर उत्पादन में उत्पादन साधनों की मात्रा की आनुपातिक वृद्धि की अपेक्षा अधिक वृद्धि होती है।

---

1 The expansion of an industry provided that there is no dearth of suitable agents of production tends to be accompanied other things being equal by increasing returns

—*Chapman*

2 When an increased amount of any factor of production is devoted to a certain use it is often the case that improvements in organisation can be introduced which will make natural units of the factors (men acres or money capital) more efficient so that an increase in output does not require a proportionate increase in the physical amount of the factor

—*Mrs Joan Robinson op cit p 33*

श्रीमती जोन राबिन्सन ने इस नियम के सम्बन्ध में आगे चलकर कहा है कि यह नियम उत्पादन ह्रास नियम की तरह उत्पादन के सभी साधनों के सम्बन्ध में समान रूप से लागू हो सकता है किन्तु उत्पादन ह्रास नियम के विपरीत यह प्रत्येक स्थिति में लागू नहीं होता है। कभी साधनों में वृद्धि करने से कुशलता में सुधार होंगे तथा कभी नहीं भी होगा।[1]

इस प्रकार आधुनिक अर्थशास्त्रियों के मतानुसार उत्पत्ति वृद्धि नियम में

(i) उत्पत्ति वृद्धि संगठन में सुधार के परिणामस्वरूप होती है।

(ii) यदि साधन-साधनों की मात्रा में वृद्धि की जाय तो उत्पत्ति वृद्धि नियम उत्पादन के प्रत्येक क्षेत्र में लागू होता है।

(iii) यह नियम परिस्थितियों के अनुसार अनुकूलता प्राप्त करता है।

(iv) सभी साधनों में एक सीमा तक वृद्धि करने की कल्पना भी इस नियम में है।

नियम का स्पष्टीकरण

इस नियम का स्पष्टीकरण निम्नलिखित उदाहरण द्वारा किया जा सकता है। स्पष्ट है कि उत्पादन साधनों की इकाइयों में वृद्धि करने पर सीमान्त उत्पत्ति तथा औसत उत्पत्ति —दोनों में क्रमशः वृद्धि हो रही है

उत्पादन साधनों की इकाइयों द्वारा उत्पादन

श्रम व पूंजी की इकाइयाँ	कुल उत्पत्ति	सीमान्त उत्पत्ति	औसत उत्पत्ति
1	8	—	8
2	18	10	9
3	32	14	10 6
4	49	17	12 2
5	69	20	13 8

उपर्युक्त तालिका में सीमान्त उत्पत्ति औसत उत्पत्ति की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़ रही है। 'क्रमागत उत्पत्ति वृद्धि नियम' को लागत ह्रास नियम (Law of decreasing costs) भी कहते हैं क्योंकि साधनों की मात्रा बढ़ने पर प्रति इकाई उत्पादन लागत कम होती जाती है।

नियम लागू होने के कारण

(1) **आन्तरिक मितव्ययिताएँ** इस नियम के लागू होने का प्रमुख कारण आन्तरिक मितव्ययिताओं (Internal economies) का पाया जाना है जो अधिकांश दशा में अविभाज्यताओं (Indivisibilities) के कारण प्राप्त होता है। उत्पादन

की मात्रा म ज्यो ज्यो वृद्धि की जाती है अविभाज्य साधनो का त्यो त्यो अधिक उपयोग होने लगता है। अत उत्पादन लागत प्रति इकाई कम होन लगती है। उत्पादन पैमाने का विस्तार करने पर बाह्य मितव्ययिताएँ (External Economies) भी प्राप्त होती है जो उत्पादन लागत को कम कर देती है।

(2) **प्राविधिक मितव्ययिताएं** उत्पादन पैमाने का विस्तार करने पर प्राविधिक मितव्ययिताएं प्राप्त होने लगती हैं। अत उत्पादन लागत अपेक्षाकृत कम होने लगती है।

(3) श्रम विभाजन एव विशिष्टीकरण की योजनाएँ कार्यान्वित की जाती हैं। इमसे भी उत्पादन लागत कम होती है।

(4) **अनुकूलतम आकार** उत्पादन मान बढाने पर फर्म अनुकूलतम आकार (Optimum Size) की ओर अग्रसर होती है। अत अनुकूलतम बिन्दु पर पहुचने तक उत्पादन लागत कम होती है (यह स्मरणीय है कि अनुकूलतम उत्पादन बिन्दु के पश्चात् फर्म का विस्तार करने पर उत्पादन लागत बढती है)।

(5) **साधनों की पूर्ति** यदि उत्पादन के साधन आवश्यक मात्रा म उपलब्ध हो तो उनका प्रयोग आवश्यक अनुपात म किया जा सकता है। ऐसा होने पर उत्पादन मान म परिवर्तन द्वारा लागत को कम करने का प्रयत्न किया जाता है तथा उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू होता है।

उपर्युक्त कारणो के सयोग स उत्पादन लागत म कमी होती है तथा उत्पादन वृद्धि नियम लागू होन लगता है। **जोन राबिन्सन के अनुसार इस नियम के लागू होने के प्रमुख कारण—उत्पादन विधि मे सुधार साधनों की कुशलता में वृद्धि अविभाज्य साधनो का पूर्ण उपयोग तथा विशिष्ट उत्पादन प्रणाली का अपनाया जाना है।**

रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण

क्रमागत उत्पत्ति वृद्धि नियम के लागू होने के कारणो स स्पष्ट है कि यह नियम मुख्यत अविभाज्यताओ (Indivisibilities) के कारण लागू होता है। मान लीजिए कोई एक उत्पादन साधन अविभाज्य (Indivisibl) है तथा अन्य साधन विभाज्य हैं। विभाज्य साधनो म छोटे-छोटे परिमाण म समान लागत पर वृद्धि की जा सकती है। उत्पादन लागत ज्ञात करते समय यदि हम अविभाज्य साधन की लागत की गणना न करें तो प्रति इकाई उत्पादन लागत कुछ सीमा तक समान (Constant) रहगी। ज्यो ज्यो उत्पादन की मात्रा बढायी जायगी अविभाज्य साधन की क्षमता का अधिकाधिक उपयोग होन लगगा। अब यदि हम अविभाज्य साधन की लागत को भी उत्पादन व्यय म सम्मिलित कर लें तो उत्पादन लागत प्रति इकाई कम होगी। अविभाज्य साधन की पूरी क्षमता का उपयोग करने के पश्चात्

भी यदि उत्पादन का पैमाना बढ़ाया जाता है तो 'क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम' लागू होना प्रारम्भ हो जायगा।
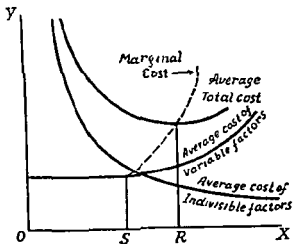
चित्र सं० 54

चित्र सं० 54 में इस तथ्य को प्रदर्शित किया गया है। OX अक्ष पर उत्पादन तथा OY अक्ष पर लागत प्रदर्शित की गई है। चित्र से स्पष्ट है कि अविभाज्य साधन के उत्पादन की प्रति इकाई लागत (Average Cost of Indivisible Factors) को प्रदर्शित करने वाली रेखा एक 'आयताकार अति परवलय' (a rectangular hyperbola) की शक्ल में है जो उत्पादन की मात्रा में वृद्धि के साथ साथ नीचे गिर रही है। अन्य साधनों की औसत लागत OS तक समान है। इसके पश्चात् क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होना प्रारम्भ हो जाता है तथा अन्य साधनों की औसत लागत वक्र (Average Cost Curve of Variable Factors) ऊपर उठना प्रारम्भ हो जाता है। कुल लागत वक्र (Average Total Cost Curve) OR तक नीचे गिरता है (यह स्मरणीय है कि Average Total Cost = Average Cost of Indivisible Factors + Average Cost of Variable Factors) तथा OR के पश्चात् ऊपर उठने लगता है। सीमान्त लागत वक्र OS तक समान (Constant) है उसके पश्चात् ऊपर उठता है तथा Average Total Co t Curve को निम्नतम बिन्दु पर पार करता है (उत्पादन की OR मात्रा के लिए)। यदि लागत में वृद्धि एक सीमा तक पहुँच गयी है तो दूसरे अविभाज्य साधन का प्रयोग करना लाभदायक होगा तथा पुनः उपर्युक्त प्रक्रिया प्रारम्भ हो जायगी।

क्रमागत उत्पत्ति वृद्धि नियम विशेषतया उद्योगों पर लागू होता है क्योंकि—

1 उद्योगों में श्रम विभाजन विशिष्टीकरण मशीनों का प्रयोग निरन्तर अनुसन्धान द्वारा नवीन उत्पादन विधियों की खोज तथा उनका उत्पादन क्रिया में उपयोग और आन्तरिक एव बाह्य मितव्ययिताओं की प्राप्ति अपेक्षाकृत सरल होता है।

2 उद्योगों पर इस नियम के लागू होने का दूसरा प्रमुख कारण उनमें उत्पादन-साधनों की पूर्ति की लोचदार होना है। उत्पादक आवश्यकतानुसार उत्पादन साधनों के अनुपात में परिवर्तन कर सकता है। इस प्रकार वह साधनों के सर्वोत्तम संयोग द्वारा उत्पादन करता है तथा बड़े पैमाने के उत्पादन का लाभ उठाता है। कृषि में एक साधन (भूमि) की लोच बहुत कम होती है। अतः सभी साधनों का सर्वोत्तम अनुपात में संयुक्त करना कठिन होता है। इस प्रकार यह नियम सामान्यतया उद्योग पर ही लागू होता है।

यह स्मरणीय है कि यह नियम उद्योगों पर भी अनिश्चित काल तथा अनिश्चित सीमा तक लागू नहीं होगा। उत्पादन-साधनों की अविभाज्यता से लाभ और आन्तरिक एव बाह्य मितव्ययिताएँ एक सीमा तक ही प्राप्त की जा सकती हैं। अन्त में एक सीमा के पश्चात् उत्पत्ति ह्रास नियम अनिवार्य रूप से लागू होने लगता है।

किन्तु आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार यह नियम कृषि उद्योग यातायात या सामाजिक सेवाओं के निर्माण आदि सभी में एक सीमा तक लागू होता है जब तक कि उन क्षेत्रों में साधनों का सर्वोत्तम संयोग नहीं हो जाता। उत्पादन के प्रत्येक क्षेत्र में आरम्भ में जब साधनों का उचित संयोग नहीं हो पाता तो साधनों की वृद्धि से कुल उत्पादन में अनुपात से अधिक वृद्धि होती है।

उत्पत्ति वृद्धि नियम की क्रियाशीलता की अवधि

उत्पत्ति वृद्धि नियम के बारे में कभी-कभी यह प्रश्न उठता है कि क्या इस नियम की प्रवृत्ति अनन्त है? किन्तु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उत्पत्ति वृद्धि नियम की प्रवृत्ति अनन्त नहीं है। यह उत्पादन के क्षेत्र में उसी समय तक लागू होता है जब तक कि उत्पादन के साधनों में अनुकूलतम संयोग स्थापित नहीं हो जाता। अनुकूलतम संयोग स्थापित हो जाने के बाद भी यदि परिवर्तनशील साधनों की मात्रा में बढ़ोतरी की जाती है तो सामान्य उत्पत्ति ह्रास नियम लागू हो जाता है।

यह नियम हर दशा में लागू होना आवश्यक नहीं है। यदि आरम्भ में ही साधनों का संयोग अनुकूलतम होता है तो यह नियम लागू नहीं होगा। इसीलिए यह नियम तभी लागू होता है जब परिवर्तनशील साधनों की मात्रा में वृद्धि से संगठन में सुधार हो साधनों की कुशलता बढ़े और आन्तरिक तथा बाह्य बचतें बढ़ें।

उत्पत्ति समता नियम
(Law of Constant Returns)

उत्पत्ति वृद्धि नियम की अवस्था बहुत दिनों तक नहीं चल सकती। कुछ समय तक साधनों की मात्रा में आवश्यक वृद्धि में उत्पादन में अधिक वृद्धि होती है परन्तु अधिक दीर्घकाल में उत्पत्ति समता नियम लागू होता है। अर्थात् जिस अनुपात में उत्पादन के साधनों में वृद्धि की जाती है, उत्पादन में भी उसी अनुपात में वृद्धि होती है जैसे यदि उत्पादन के साधनों की मात्रा बढ़ाकर दुगुनी कर दी जाए तो उत्पादन की मात्रा भी दुगुनी हो जाती है। मार्शल के शब्दों में उत्पत्ति के जिस स्तर पर उत्पादन वृद्धि तथा उत्पादन ह्रासमान दोनों नियमों के प्रभाव बराबर हो जाते हैं वहाँ उत्पत्ति समता नियम लागू होने लगता है।

स्टिगलर के अनुसार जब एक दिए हुए अनुपात में सभी उत्पादक सेवाओं को बढ़ाया जाता है तो उत्पादन उसी अनुपात में बढ़ता है। इस नियम के लागू होने की व्याख्या अर्थशास्त्रियों द्वारा भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों से की जाती है।

1 **पहला दृष्टिकोण** जब उत्पादन की मात्रा में वृद्धि की जाती है तब यह सम्भव है कि कुछ अंशों में मितव्ययिताएँ (Economies) तथा कुछ अंशों में अमितव्ययिताएँ (Diseconomies) प्राप्त हों। यदि मितव्ययिताएँ तथा अमितव्ययिताएँ एक दूसरे के बराबर होती है तो उत्पत्ति समता नियम की स्थिति पायी जाती है। निर्माणकारी उद्योगों में विस्तार द्वारा मितव्ययिताएं हमेशा प्राप्त नहीं होती रहेंगी। कुछ समय पश्चात् फर्में अनुकूलतम आकार की हो जाती हैं। यदि अनुकूलतम आकार के पश्चात् भी उनका विस्तार किया जाय तो उनकी कार्य-क्षमता में कमी होगी। **परन्तु यदि उद्योग इस प्रकार का है जिसमें नई फर्मों का प्रवेश सम्भव है तथा सभी फर्मों का प्राविधिक ढांचा (Technical Structure) एक सा है तो ऐसी दशा में उद्योग के उत्पादन में वृद्धि नई फर्मों के प्रवेश के कारण होगी (वर्तमान फर्मों के उत्पादन में वृद्धि द्वारा नहीं)। इस प्रकार कुल उत्पादन अनुकूलतम आकार की एक जैसी फर्मों द्वारा किया जाएगा तथा उन फर्मों की (एक ही उद्योग में) लागत लागत समता नियम से शासित होगी।**

2 **दूसरा दृष्टिकोण** कुछ अर्थशास्त्रियों ने यह व्यक्त किया है कि उत्पत्ति-समता नियम बहुत ही कम समय तक लागू होता है परन्तु कुछ अर्थशास्त्रियों ने व्यावहारिक अध्ययन (Empirical studies) द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि इस नियम का क्षेत्र तथा लागू होने की अवधि काफी लम्बी हो सकती है। यदि बहुत ही छोटे पैमाने के उत्पादन की अकुशलताओं को दूर करने के बाद किसी फर्म के उत्पादन में बहुत ही कम मात्राओं में वृद्धि होती रहती है तथा दूसरी ओर अमितव्ययिताओं के कारण बहुत ही कम मात्रा में उत्पादन ह्रास नियम भी लागू होता है तो यह कहा जा सकता है कि ऐसी स्थिति में वास्तव में उत्पत्ति समता नियम लागू हो रहा है। इस

प्रकार की कल्पना से सैद्धान्तिक विश्लेषण सरल हो जाता है तथा यह कल्पना व्याव हारिक दृष्टि से भी सरल है।

3 तीसरा दृष्टिकोण इस विचारधारा के अनुसार यह नियम कृषि पर आधारित उद्योगों मे लागू होता है। इस प्रकार के उद्योगों में एक ओर तो कृषि क्षेत्र में उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होता है और दूसरी ओर उद्योग में उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू होता है। अत इन दोनों नियमों का एक साथ संयोग होने से उत्पत्ति समता नियम लागू होता है जैसे चीनी उद्योग वस्त्र उद्योग आदि। दोनों नियमों के सामूहिक क्षतिपूरक प्रभाव से उत्पत्ति समता नियम लागू होता है।

नियम का स्पष्टीकरण

क्रमागत उत्पत्ति समता नियम यह प्रकट करता है कि यदि उत्पादन क्रिया में उत्पादन साधनों की मात्रा में वृद्धि की जाय तो सीमान्त उत्पत्ति ठीक उसी अनुपात में बढ़ेगी जिस अनुपात में उत्पादन साधनों में वृद्धि की गई है। मार्शल ने इस नियम को इस प्रकार परिभाषित किया है जब समस्त उत्पादन सेवाओं में एक दिये हुए अनुपात में वृद्धि कर दी जाती है तो उत्पत्ति उसी अनुपात से बढ़ जाती है। [1]

उदाहरणार्थ यदि उत्पादन साधनों में 10% वृद्धि की जाती है तो कुल उत्पादन भी 10% से बढ़ जायेगा। इस नियम के अनुसार उत्पादन साधनों में वृद्धि करने पर सीमान्त लागत सदैव समान रहती है। अत इस नियम को 'क्रमागत लागत समता नियम (Law of Constant Cost) की भी संज्ञा दी गयी है।

इस नियम का अनुकूलतम आकार (Optimum size) के सन्दर्भ में भी स्पष्ट किया जा सकता है। यदि कोई फर्म अनुकूलतम आकार प्राप्त करने की दिशा में प्रयत्नशील है तो वह क्रमागत उत्पत्ति वृद्धि प्राप्त करेगी। यदि फर्म अनुकूलतम आकार की सीमा को पार कर जाता है तो 'क्रमागत उत्पत्ति ह्रास प्राप्त करेगी। परन्तु जब तक वह अनुकूलतम बिन्दु पर उत्पादन कर रही है उस समय तक क्रमागत उत्पत्ति समता प्राप्त करेगा। अग्रलिखित सारणी द्वारा इस समय को स्पष्ट किया जा सकता है

---

1 When all of the productive services are increased in a given production the product is increased in the same production

—*Marshall*

उत्पादन साधनों की इकाइयों द्वारा उत्पादन (मना म)

उत्पत्ति-साधना की इकाइयां	कुल उत्पत्ति	सामान्त उत्पत्ति	औसत उत्पत्ति
1	20	—	—
2	40	20	20
3	60	20	20
4	80	20	20

सारणी स स्पष्ट है कि उत्पादन साधना की मात्रा म वद्धि करन पर भी सीमान्त उत्पादन सन्द समान रहता ह। सामान्यतया यह नियम उन उद्योगो पर लागू हाता है जिनम उत्पादन के कई विभाग होते हैं। एसा सम्भव है कि एक विभाग म उत्पादन वद्धि नियम क अनुसार उत्पादन हो रहा हो तथा दूसरे विभाग मे उत्पादन ह्रास नियम के अनुसार और इन दोनों नियमो की परस्पर व विपरीत प्रवत्तियाँ एक दूसरे को सतुलित कर लें जिसम कुल उत्पादन समता नियम के अनुसार हान लग।

रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण

दिये हुए रेखाचित्र द्वारा स्पष्ट है कि उत्पत्ति साधना की मात्रा मे घटत बढ़त होने पर भी सीमान्त और औसत उत्पत्ति समान रहती है।
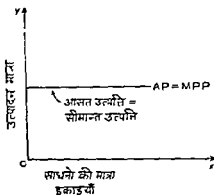
चित्र स० 55

उत्पादन समता नियम तथा लागत
(Law of Constant Returns and Cost)

यदि इस उत्पत्ति समता नियम का लागता के सदभ म वणन करें तो यह ज्ञात होता है कि साधना की उत्तरोत्तर इकाइयों के प्रयोग स सामान्त उत्पत्ति और

औसत उत्पत्ति में समानता होने के कारण सीमान्त लागत और औसत लागत भी समान रहता है। यह निम्न रेखाचित्र से स्पष्ट है
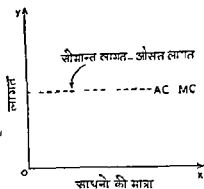
चित्र सं० 56

क्रमागत उत्पत्ति समता नियम उत्पादन साधनों के अनुकूलतम तथा सर्वोत्तम संयुक्तीकरण का द्योतक है। उत्पादन क्रिया के प्रारम्भ में सामान्यतः क्रमागत-उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू होता है (जब तक विभिन्न साधनों की उत्पादन क्षमता का पूर्ण उपयोग नहीं कर लिया गया है।) साधनों की क्षमता के पूर्ण उपयोग के बिन्दु पर उत्पत्ति समता नियम लागू होता है। यदि उस बिन्दु (सीमा) के पश्चात् भी फर्म का विस्तार किया जाय तो क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होना प्रारम्भ हो जायगा। अतः उत्पत्ति समता नियम उद्यमी के लिए इस तथ्य के सूचक का काम करता है कि यदि फर्म का अधिक विस्तार किया गया तो उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होना प्रारम्भ हो जायगा। अतः उत्पत्ति-समता नियम फर्म के अनुकूलतम आकार का प्रतीक है। यह नियम फर्म का अनुकूलतम आकार निश्चित करने में सहायक होता है।

कुछ अर्थशास्त्रियों ने उत्पत्ति समता नियम के कथन में गणितीय भाषा (Mathematical language) का प्रयोग किया है। उत्पादन-फलन पर गणित की सहायता से प्रकाश डाला गया है। उत्पादन फलन उत्पत्ति समता नियम को दर्शाता है। उसे Linear and homogeneous या homogeneou of th first degree कहते हैं। Cobb Douglas Production Function इसी प्रकार का है।

कुछ अर्थशास्त्रियों ने यह मत व्यक्त किया है कि उत्पत्ति समता नियम वहुत व्यवहार में उसी समय लागू होगा जबकि उत्पादन के सभी साधन परिवर्तनशील हों परन्तु साहस (entrepreneur) एक ऐसा साधन है जो परिवर्तनशील नहीं है। अतः उत्पत्ति समता नियम दीर्घ समय तक लागू नहीं हो सकता। परन्तु ऐसा कहना बात की खाल निकालने के समान है।

उत्पादन नियमों में पारस्परिक सम्बन्ध

उत्पादन के ये तीनों नियम एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। वस्तुत ये एक ही नियम—'प्रतिस्थापन नियम'—की तीन विभिन्न दशाओं में प्रकट करते हैं। उत्पादक उत्पादन साधनों के विभिन्न संयोगों से उत्पादन करने का प्रयत्न करता है तथा उन संयोगों (Combinations) में से सर्वोत्तम संयोग में विभिन्न साधनों का जो अनुपात होता है उसी अनुपात में वह उत्पादन साधनों को संयुक्त कर उत्पादन करता है जिससे उत्पादन लागत न्यूनतम हो सके। जब उत्पादक उत्पादन प्रारम्भ करता है तो सामान्यतः प्रारम्भ में उत्पादन की मात्रा बढ़ाने पर 'क्रमागत उत्पत्ति वृद्धि नियम' के अनुसार उत्पादन होता है क्योंकि प्रारम्भ में साधनों की पूर्ण उत्पादन क्षमता का उपयोग नहीं हो पाता। ज्यों ज्यों उत्पादन मान बढ़ाया जाता है प्रति इकाई लागत कम होती जाती है (जब तक कि अविभाज्यताओं का पूरा लाभ न उठा लिया जाय)। यह अवस्था एक सीमा तक ही रहती है। जब अविभाज्यताओं का पूरा लाभ उठा लिया जाता है तब उस बिन्दु पर अत्यन्त अल्प समय के लिए उत्पत्ति समता नियम लागू होता है जो कम के अनुकूलतम आकार का प्रतीक है। उसके पश्चात् यदि उत्पादन की मात्रा में और वृद्धि की गयी तो उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होना प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार सामान्यतया वृद्धि मान समता मान तथा ह्रास मान की अवस्थाएं प्रत्येक उत्पादन क्रिया में पायी जाती हैं।
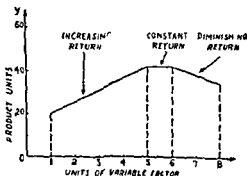
चित्र सं० 57

इन तीनों अवस्थाओं का निरूपण उपर्युक्त रेखाचित्र में किया गया है।

उत्पादन का प्रतिस्थापन नियम

(Law of Substitution in Production)

उत्पादन के उपर्युक्त नियमों का प्रभाव उद्यमी के उत्पादन साधनों के सम्बन्ध में निर्णय पर पड़ता है। वह विभिन्न उत्पादन साधनों का सर्वोत्तम अनुपात

में मिलाकर उत्पादन करने का प्रयत्न करता है। वह विभिन्न साधनों को ऐसे अनुपात में मिलाने का प्रयत्न करता है जिससे लागत न्यूनतम तथा लाभ अधिकतम हो सके। उत्पादन प्रक्रिया में यह सर्वथा सम्भव है कि एक साधन या उसके कुछ अंश के स्थान पर दूसरे साधन या उसके कुछ अंश को काम में लाया जा सके। उदाहरणार्थ अधिक पूँजी व कम श्रम का प्रयोग किया जा सकता है या अधिक पूँजी व कम भूमि अथवा अधिक श्रम व कम भूमि को उत्पादन कार्य के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। यद्यपि एक साधन के स्थान पर दूसरे साधन का पूर्ण उपयोग नहीं किया जा सकता तथापि एक उद्यमी को कुछ अंशों में इस बात की स्वतन्त्रता रहती है कि वह उत्पादन के विभिन्न साधनों का प्रयोग किस अनुपात में करे? व्यावहारिक दृष्टि से सम्भव है कि किसी साधन की एक इकाई के स्थान पर किसी अन्य साधन की इकाई का प्रयोग न किया जा सके परन्तु एक साधन की इकाई के एक अंश का दूसरे साधन की इकाई के एक अंश के स्थान पर प्रयोग करना सामान्यतया सम्भव होता है। किसी एक उत्पादन साधन की इकाइयों के स्थान पर अन्य साधन या साधनों की इकाइयों का उपयोग करने को साधनों का प्रतिस्थापन (Substitution of Factors) कहते हैं।

परिभाषा

उत्पादन में प्रतिस्थापन का अत्यधिक महत्त्व है। उत्पादक महँगे साधनों के स्थान पर सस्ते तथा अधिक उत्पादक साधनों का प्रयोग करता है। अनुकूलतम अनुपात में साधनों को संयुक्त करने या न्यूनतम लागत पर उत्पादन करने के लिए उत्पादक प्रतिस्थापन सिद्धान्त का सहारा लेता है। प्रतिस्थापन नियम यह बतलाता है कि "न्यूनतम लागत पर उत्पादन हेतु उत्पादन साधनों का आदर्श संयोग उस समय प्राप्त होता है जबकि विभिन्न साधनों का प्रयोग ऐसे अनुपात में किया जाये जिससे प्रत्येक साधन की सीमान्त उत्पत्ति समान (साधनों के मूल्यों को ध्यान में रखते हुए) रहे।" समस्त साधनों की सीमान्त उत्पादकता समान होने के कारण इसे *सम सीमान्त उत्पत्ति नियम* (Law of Equi marginal Productivity) भी कहते हैं।

नियम का स्पष्टीकरण

उत्पादन में एक साधन का प्रतिस्थापन (Substitution) दूसरे साधन द्वारा किया जा सकता है। यदि उत्पादक x तथा y साधनों में से प्रत्येक पर दस दस रुपये व्यय करता है और उसे यह ज्ञात होता है कि x साधन द्वारा उत्पादन अधिक होता है तो उत्पादक y साधन की प्रतिस्थापना x द्वारा करेगा अर्थात् वह x साधन की अधिक इकाइयों का प्रयोग करेगा और y साधन की कम इकाइयों का। उत्पादक साम्य (Equilibrium) की अवस्था में उस समय होगा जबकि x साधन पर किये गये सीमान्त व्यय से प्राप्त अतिरिक्त उत्पादन y साधन पर किये गये सीमान्त व्यय

से प्राप्त अतिरिक्त उत्पादन के बराबर हो। उत्पादक उस समय तक y साधन के स्थान पर x साधन का प्रयोग करता जायगा जब तक कि दोनों (x और y) पर किये गये सीमान्त व्यय से प्राप्त अतिरिक्त उत्पादन बराबर न हो जाय।

हम यह जानते हैं कि किसी साधन की सीमान्त उत्पत्ति उस साधन की एक अतिरिक्त इकाई से प्राप्त उत्पत्ति को कहते हैं। व्यावहारिक रूप में हम यह भी जानते हैं कि विभिन्न साधनों की इकाइयों का मूल्य समान नहीं होता। यह आवश्यक नहीं है कि श्रम की एक इकाई का मूल्य भूमि या पूँजी की एक इकाई के मूल्य के बराबर हो। अत विभिन्न साधनों की सीमान्त उत्पत्ति की तुलना करने के लिए यह आवश्यक है कि उन साधनों की सीमान्त इकाई को प्राप्त करने के लिए किये गये व्यय को भी ध्यान में रखें। अतः यदि हम x साधन पर किये गये 'सीमान्त व्यय से प्राप्त अतिरिक्त उत्पादन' का मूल्य ज्ञात करना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि x साधन की सीमान्त उत्पत्ति में साधन के मूल्य से भाग दें। उदाहरणार्थ यदि एक साधन की सीमान्त उत्पत्ति 50 इकाइयाँ हैं तथा उस साधन की इकाई का मूल्य 5 रुपया है तो ऐसी स्थिति में उस साधन पर किये गये सीमान्त व्यय (अन्तिम एक रुपये) से $50 - 5 = 10$ रु० का अतिरिक्त उत्पादन होगा।

अत उत्पादक साम्य अवस्था (न्यूनतम लागत की अवस्था) में उस समय होगा जबकि[1]

$$\frac{\text{साधन } x \text{ की सीमान्त उत्पादकता}}{x \text{ का मूल्य}} = \frac{\text{साधन } y \text{ की सीमान्त उत्पादकता}}{y \text{ का मूल्य}}$$

यदि उपर्युक्त समीकरण में प्रथम (बाईं तरफ का) का मूल्य द्वितीय (दाहिनी तरफ) से अधिक है तो साधन x की अधिक तथा साधन y की कम इकाइयों का इस्तेमाल करना लाभदायक होगा। उत्पादक x तथा y की इकाइयों की संख्या में उस समय तक परिवर्तन करता जायगा जब तक कि उपर्युक्त समीकरण की शर्तें पूरी न हो जाय।[2]

---

1 इस समीकरण के रूप में इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है

$$\frac{MP_x}{P_x} = \frac{MP_y}{P_y} = \frac{MP_n}{P}$$ जबकि MP_x = साधन की सीमान्त उत्पादकता MP_y = साधन y की सीमान्त उत्पादकता, P_x = साधन x का मूल्य तथा P_y = साधन y का मूल्य।

2 यह स्मरणीय है कि उत्पादक विभिन्न साधनों की सीमान्त उत्पत्ति को समान रखने का प्रयत्न नहीं करता बल्कि साम्य अवस्था प्राप्त करने के लिए वह विभिन्न साधनों की सीमान्त उत्पत्ति में साधनों के मूल्यों का भाग देता है। इस प्रकार भाग देने से प्राप्त परिणामों को वह बराबर रखने की चेष्टा करता है।

इस प्रकार प्रतिस्थापन नियम साधनों के अनुकूलतम संयोग में सहायक होता है। साधनों का विभिन्न उद्योगों में इस प्रकार वितरित (Allocation) किया जाता है जिससे उनकी सीमान्त उत्पत्ति प्रत्येक उद्योग में समान रहे। यदि सूती वस्त्र उद्योग में इस्पात उद्योग की अपेक्षा श्रम की सीमान्त उत्पादकता अधिक है तो श्रम इस्पात उद्योग से हटकर सूती वस्त्र उद्योग में लगेगा। श्रम के स्थानान्तरण (Transfer) की प्रक्रिया उस समय तक चलती रहेगी जब तक कि दोनों उद्योगों में उसकी सीमान्त उत्पादकता समान न हो जाये। इस प्रकार उत्पादन साधनों का विभिन्न उद्योगों में वह वितरण आदर्श होगा जिसमें किसी साधन को एक उद्योग को छोड़कर दूसरे उद्योग में जाने के लिए प्रोत्साहन (Inducement) न मिले। दूसरे शब्दों में साम्य अवस्था इस अर्थ में प्राप्त हो चुकी है कि किसी भी साधन को एक उद्योग से दूसरे उद्योग में स्थानान्तरण के लिए प्रोत्साहन नहीं मिल रहा है। ऐसी अवस्था में एक साधन की सीमान्त उत्पादकता का मूल्य प्रत्येक उद्योग में समान होगा।

प्रश्न तथा संकेत

1 उत्पत्ति ह्रास नियम को समझाइए। उसकी सीमाएँ स्पष्ट कीजिए।

Explain the law of Diminishing Returns Indicate its limitations

(संकेत—प्रश्न के प्रथम भाग में उत्पत्ति ह्रास नियम की व्याख्या कीजिए तथा दूसरे भाग में नियम की सीमाओं को स्पष्ट कीजिए।)

2 परिवर्तनशील अनुपातों के नियम को व्यक्त करके उसकी व्याख्या कीजिए।

State and explain the law of variable proportions

(संकेत—उत्पत्ति ह्रास नियम की व्याख्या आधुनिक विचारधारा पर कीजिए।)

3 उत्पत्ति ह्रास नियम केवल कृषि में ही लागू नहीं होता बल्कि सभी प्रकार के जटिल उत्पादन के लिए सत्य है। विवेचना कीजिए।

The Law of Diminishing Returns is not applicable to agriculture alone it is valid for all complex productions Discuss

(संकेत—उत्पत्ति ह्रास नियम की व्याख्या करते हुए बताइए कि यह नियम परिवर्तनशील अनुपातों के नियम के रूप में उत्पादन के सभी कार्यों में लागू होता है।)

4 'परिवर्तनशील अनुपातों का नियम या उत्पत्ति ह्रास नियम अर्थशास्त्र का एक आधारभूत सिद्धान्त है।' विवेचना कीजिए।

'The Law of Variable Proportions or the Law of Diminishing Returns is a fundamental principle of Economics' Discuss

(संकेत—इसका उत्तर प्रश्न 2 के समान है।)

5 'उत्पत्ति ह्रास नियम साधनों के बीच अपूर्ण स्थानापन्नता के कारण लागू होता है।' विवेचना कीजिए।

The Law of Diminishing Returns is due to the imperfect substitutability between factors of production Discuss

(संकेत—उत्पत्ति ह्रास नियम की आधुनिक विचारधारा के अनुसार विवेचना कीजिए तथा नियम को लागत के रूप में बतलाइए। तत्पश्चात् नियम के लागू होने के कारणों पर प्रकाश डालिए।)

6 उत्पत्ति वृद्धि तथा स्थिरता नियम केवल उत्पत्ति ह्रास नियम के ही अस्थायी रूप हैं। आप इस कथन से कहाँ तक सहमत हैं?

The Law of Increasing and Constant Returns are only the temporary phases of the Law of Diminishing Returns How far do you agree with this statement?

(संकेत—उत्पत्ति ह्रास नियम की व्याख्या करते हुए बतलाइए कि उत्पत्ति वृद्धि नियम तथा स्थिरता नियम तो उत्पत्ति ह्रास नियम के ही अस्थायी रूप हैं।)

7 क्रमागत उत्पत्ति वृद्धि नियम को समझाइए तथा यह बताइए कि यह किस प्रकार क्रमागत लागत ह्रास नियम है?

Explain the Law of Increasing Returns and say how it is the Law of Increasing Cost?

(संकेत—उत्पत्ति वृद्धि नियम की पूर्ण विवेचना करते हुए बतलाइए कि लागत के शब्दों में इसे लागत ह्रास नियम कहते हैं।)

8 उदाहरण की सहायता से उत्पत्ति वृद्धि नियम के स्वभाव तथा कारणों को समझाइए। क्या यह नियम असीमित रूप से लागू हो सकता है?

Explain with an example the nature and cause of increasing returns Can it operate without limit?

[संकेत—दूसरे भाग में स्पष्ट कीजिए कि यह नियम असीमित रूप में लागू नहीं हो सकता। यह तो उत्पत्ति ह्रास नियम की अस्थायी अवस्था है।]

9 प्रकृति द्वारा निभायी गयी भूमिका उत्पत्ति ह्रास नियम के अनुरूप होती है जबकि मनुष्य द्वारा निभायी गयी भूमिका उत्पत्ति वृद्धि नियम के अनुरूप होती है। व्याख्या कीजिए।

The part played by Nature conforms to Diminishing Returns while the part which man plays conforms to Increasing Returns Explain

(संकेत—उत्पत्ति ह्रास तथा उत्पत्ति वृद्धि नियम की व्याख्या कीजिए तथा इनके लागू होने के कारणों को बतलाइए।)

10 संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए

(i) उत्पत्ति का समता नियम

(ii) लागतों के बढ़ने का नियम

(iii) उत्पत्ति ह्रास नियम का महत्त्व।

Write short notes on

(i) The Law of Constant Returns

(ii) The Law of Increasing Costs

(iii) Importance of the Law of Diminishing Returns

27

पैमाने के प्रतिफल
(Returns to Scale)

> The Principle of Returns of Scale has not enjoyed the general acceptance as afforded to the Law of Diminishing Returns The initial increase in output per unit of factor which occurs as a firm first increases its scale of operations appears to be confirmed both by commonsense observation and by empirical studie The ultimate exhaustion of economies of scale likewise seem inevitable But whether or not an ultimate decline in output per unit of input is inevitable or is confined to those fields (such as certain types of agriculture) in which management problems are particularly serious is open to question
>
> —*John F Due and Robert W Clower*

समोत्पत्ति वक्र अथवा सम मात्रा वक्र विश्लेषण
(Equal Product Curve or Iso product Curve or Iso-quants Analysis)

अभी हाल के कुछ वर्षों में उत्पादन के सिद्धान्त का अध्ययन करने तथा साधनों के संयोग की दृष्टि से उत्पादन के संतुलन की व्याख्या करने के लिए एक नयी तकनीक जिसे समोत्पत्ति वक्र कहते हैं का प्रयोग होने लगा है। सम उत्पाद वक्र का उपभोग के या माँग सिद्धान्त के तटस्थता वक्रों की तरह ही है।

समोत्पत्ति वक्र का अर्थ
(Meaning of Equal Product Curve)

जिस प्रकार तटस्थता वक्र (Indifference curve) दो वस्तुओं के उन संयोगों को व्यक्त करता है जिनसे उपभोक्ता को समान संतुष्टि मिलती है उसी प्रकार सम उत्पाद वक्र दो साधनों के उन विभिन्न संयोगों को प्रदर्शित करता है जिनसे समान मात्रा में उत्पादन होता है। चूँकि सम उत्पाद वक्र पर प्रदर्शित साधनों के संयोगों से समान मात्रा में उत्पादन सम्भव होता है अतएव उत्पादक उनमें उदासीन सा होगा अर्थात् उसका उन संयोगों के बीच कोई अधिमान नहीं होगा।

इसीलिए समोत्पत्ति वक्रों को उदासीन उत्पादन वक्र भी कहते हैं। इसके अन्य नाम सम-मात्रा वक्र (Iso Product Curve) आदि भी है।

इस प्रकार सम उत्पत्ति वक्र दो साधनों के उन सब सम्भावित संयोगों को बताता है जो कि एक समान कुल उत्पादन प्रदान करते है।'

सम उत्पत्ति वक्र की धारणा को एक काल्पनिक उदाहरण द्वारा भी स्पष्ट किया जा सकता है। यहाँ हम यह मान लेते है कि एक फर्म किसी वस्तु की 100 इकाइयाँ दो साधनों—x तथा y—के विभिन्न संयोगों से उत्पादित कर सकती है

साधन x'	साधन y	उत्पादन (इकाइयाँ)
1	+20	100
2	+15	100
3	+10	100
4	+ 5	100

यदि इसे एक रेखाचित्र द्वारा प्रकट किया जाय तो चित्र संख्या 58 की भांति चित्र बनेगा। OX पर X-साधन की मात्रा तथा OY पर Y-साधन की मात्रा व्यक्त की गयी है। AD सम उत्पत्ति वक्र (Equal Product Curve) है। *यह वक्र साधनों के उन सभी संयोगों को प्रदर्शित करता है जिनके द्वारा वस्तु की* 100 इकाइयाँ पैदा की जा सकती है। उदाहरण के लिए बिन्दु C यह प्रदर्शित
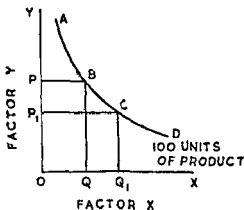
चित्र सं० 58

करता है कि साधन X की OQ_1 मात्रा तथा साधन Y की OP_1 मात्रा द्वारा वस्तु की 100 इकाइयाँ पैदा की जा सकती हैं। इसी प्रकार बिन्दु B यह प्रदर्शित करता है *कि साधन X की OQ मात्रा तथा साधन Y की OP मात्रा द्वारा* 100 वस्तुएँ पैदा की जा सकती हैं। AD वक्र पर हम कोई भी बिन्दु ले लें वह बिन्दु यह प्रदर्शित

करेगा कि दो साधनों के संयोग से उत्पादन समान होगा। इसीलिए इस वक्र को समोत्पत्ति वक्र कहते हैं। यहाँ पर यह मानना पड़ेगा कि उत्पादन की प्राविधिक अवस्थायें (Technical Conditions) दी हुई हैं।

समोत्पत्ति वक्र तथा उदासीनता वक्र में अन्तर

समोत्पत्ति वक्र को देखने से ऐसा मालूम पड़ता है कि वह उदासीनता वक्र की ही भाँति है। परन्तु दोनों में अन्तर होता है। प्रथम समोत्पत्ति वक्र को उत्पादन की मात्रा द्वारा प्रकट किया जा सकता है परन्तु उदासीनता वक्र को किसी मात्रा द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता। समोत्पत्ति वक्र को हम संख्याओं द्वारा प्रकट कर सकते हैं जैसे चित्र में समोत्पत्ति वक्र AD उत्पादन की 100 इकाइयों को प्रकट करती है। इसके द्वारा हम उत्पादन की मात्रा को क्विंटल टन आदि द्वारा प्रकट कर सकते हैं परन्तु उदासीनता वक्र दो वस्तुओं के उन सभी संयोगों को प्रकट करती है जिनके द्वारा एक निश्चित स्तर का सन्तोष प्राप्त होता है। उपभोक्ता की संतुष्टि को संख्याओं द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता। इसीलिए उदासीन वक्रों को IC_1 IC_2 आदि द्वारा प्रकट करते हैं क्योंकि सन्तुष्टि को भौतिक संख्याओं द्वारा नहीं प्रकट किया जा सकता। दूसरा प्रमुख अन्तर यह है कि हम नीचा समोत्पत्ति वक्र या ऊंचा समोत्पत्ति वक्र बना सकते हैं तथा यह बतला सकते हैं कि एक समोत्पत्ति वक्र पर उत्पादन दूसरे समोत्पत्ति वक्र की तुलना में कितना अधिक है जैसे चित्र संख्या 59 में तीन समोत्पत्ति वक्र हैं जो 100 80 तथा 60 उत्पादन की मात्रा को प्रकट करते हैं। इस चित्र को Equal Product Map कहते हैं। उदासीनता वक्र के चित्र द्वारा हम यह नहीं कह सकते कि एक बिन्दु पर सन्तुष्टि दूसरे बिन्दु की तुलना में कम है या अधिक है क्योंकि सन्तुष्टि को संख्याओं द्वारा नहीं प्रकट किया जा सकता।

समोत्पत्ति वक्र की विशेषताएं (Properties of Equal Product Curves)

1 ये वक्र नीचे की ओर दाहिनी तरफ झुके हुए होते हैं (These Curves slope downwards to the right) अधिकांश समोत्पत्ति वक्र नीचे की ओर
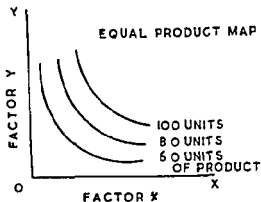
चित्र सं० 59

दाहिनी तरफ झुकते हैं। ऐसा उस समय तक होता है जब तक कि किसी साधन की अतिरिक्त इकाइयाँ ऋणात्मक उत्पादन नहीं करने लग जाती। कुछ दशाओं में ऋणात्मक उत्पादन हो सकता है। जैसे कृषि कार्य में यदि श्रमिकों की अतिरिक्त इकाइयां लगाई जायें तो एक सीमा के बाद श्रमिकों की अतिरिक्त इकाइयों का उत्पादन घट सकता है। अतः यह आवश्यक होगा कि भूमि की मात्रा में भी वृद्धि की जाय। समोत्पत्ति वक्र यदि ऊपर की ओर दाहिनी तरफ झुकते हैं तो इसका अर्थ यह होगा कि X तथा Y साधनों की मात्रा में कमी वृद्धि करने पर भी उत्पादन समान रहेगा अर्थात् यदि X तथा Y की अधिक मात्राओं का प्रयोग किया जाय या उनकी कम मात्राओं का उपयोग किया जाय तो उत्पादन समान रहेगा। परन्तु ऐसा कहना अधिक अविवेक प्रकट करता है। समोत्पत्ति वक्र कुछ दूर तक ऊपर जा सकता है परन्तु साहसी का उद्देश्य लाभ अधिक करना होता है तथा वह समोत्पत्ति वक्र के ऊपर उठते हुए भाग पर साधनों के किसी भी संयोग का प्रयोग नहीं करता। इसी प्रकार क्षितिज (Horizontal) समोत्पत्ति वक्र की कल्पना की जा सकती है। परन्तु इस पर भी संतुलन अवस्था नहीं होगी।

2 **ये वक्र मूल बिन्दु के उन्नतोदर होते हैं** (*They are convex to the origin*) उदासीनता वक्रों की भांति समोत्पादन वक्र भी मूल बिन्दु की ओर उन्नतोदर होते हैं। इस विशेषता का अर्थ यह है कि एक समोत्पत्ति वक्र पर एक साधन का सीमान्त महत्त्व दूसरे साधन के सन्दर्भ में घटता है अर्थात् प्रतिस्थापना की सीमान्त दर (Marginal Rate of Substitution) घटती है। यहां पर सीमान्त महत्त्व (Marginal significance) को समझना आवश्यक है। एक उदासीन वक्र की दशा में सीमान्त महत्त्व यह स्पष्ट करता है कि उपभोक्ता किसी एक वस्तु की अधिक मात्रा प्राप्त करने के लिए दूसरी वस्तु की कितनी मात्रा का परित्याग कर सकता है? समोत्पत्ति वक्र की दशा में भी एक साधन की अपेक्षा दूसरे साधन का सीमान्त महत्त्व इस बात का द्योतक है कि एक साधन की अतिरिक्त इकाइयों का प्रयोग करने पर दूसरे साधन की कितनी मात्रा को छोड़ा जा सकता है?

3 **दाहिनी ओर का समोत्पत्ति वक्र अधिक उत्पादन को प्रकट करता है** (An equal Product Curve line to the right represents larger output) जिस प्रकार दाहिनी ओर के उत्पादन वक्र अधिक सन्तुष्टि को प्रकट करते हैं उसी प्रकार दाहिनी ओर का समोत्पत्ति वक्र अधिक उत्पादन को प्रकट करता है।

4 **समोत्पत्ति वक्र एक दूसरे को काटते नहीं है** (Equal Product curves do not intersect each other) उदासीनता वक्रों की ही तरह समोत्पत्ति वक्र एक दूसरे को काटते नहीं हैं।

समोत्पत्ति वक्र की उपर्युक्त विशेषताओं से स्पष्ट है कि वे उदासीनता वक्रों की तरह होती हैं तथा ये दो साधनों के उन विभिन्न संयोगों को प्रदर्शित करती हैं जिनसे उत्पादक किसी वस्तु की समान मात्राएँ पैदा कर सकता है। उत्पादन की मात्रा में परिवर्तन किया जाता है। अधिक उत्पादन सम्बन्धी समोत्पत्ति वक्र कम उत्पादन से सम्बन्धी समोत्पत्ति वक्र के ऊपर होता है। जैसा कि चित्र संख्या 60 में प्रदर्शित किया गया है।
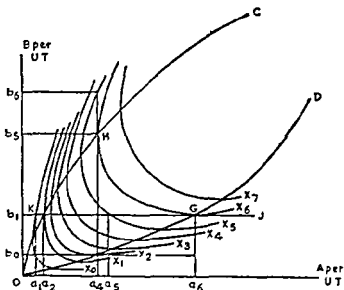
चित्र सं० 60

चित्र 60 में x_6 से सूचित किया गया है कि वक्र एक समोत्पत्ति वक्र है। इस समोत्पत्ति वक्र पर विभिन्न बिन्दु साधन A और B के उन संयोगों को दर्शाते हैं जो X वस्तु की x_6 इकाइयाँ उत्पन्न करते हैं। वस्तु की x_6 इकाइयाँ प्राप्त करने के लिए उत्पादक साधन B की b_0 इकाइयाँ और साधन A की a_4 इकाइयाँ प्रयुक्त कर सकता है अथवा साधन B की b_1 इकाइयों का उपयोग साधन A की a_6 इकाइयों के साथ कर सकता है अथवा इस समोत्पत्ति वक्र पर स्थित साधन A और B के किसी अन्य संयोग का उपयोग कर सकता है।

उत्पत्ति की अपेक्षाकृत अधिक मात्राएँ ऊँचे समोत्पत्ति वक्रों से सूचित की जाती हैं। समोत्पत्ति वक्र A और B के उन विभिन्न संयोगों को बताता है जो X वस्तु की X_7 मात्रा उत्पन्न करने के लिए आवश्यक होते हैं जहाँ X_7 मात्रा X_6

से अधिक होती है। इसी तरह X_5 X_4 X_3 X_2 और X_1 मात्राएं X–वस्तु की अपेक्षाकृत कम मात्राओं के लिए नीचे के समोत्पत्ति वक्र हैं। [1]

पैमाने के प्रतिफल
(Returns to Scale)

एक साधन को स्थिर रखकर अन्य साधनों को परिवर्तित करने पर उत्पादन पर जो प्रभाव पडता है उसका स्पष्टीकरण उत्पादन के नियमों द्वारा किया जाता है। इसी प्रकार उत्पादन के सभी साधनों को अलग अलग अनुपातों में परिवर्तित करने का प्रभाव भी उत्पादन के नियमों से स्पष्ट होता है। परन्तु यदि उत्पादन के सभी साधनों में एक ही अनुपात में परिवर्तन किया जाये तो उत्पादन पर क्या प्रभाव पडता है यह स्पष्ट करने के लिए हम पैमाने का प्रतिफल ज्ञात करना पडता है। *पैमाने के प्रतिफल का अर्थ यह है कि उत्पादन के साधनों की मात्रा में परिवर्तन करने से उनके* प्रतिफल में क्या परिवर्तन होता है? अर्थात् उत्पादन के सभी साधनों में समान अनुपात में परिवर्तन करने से उत्पादन में जो परिवर्तन होते हैं उन्हें पैमाने के प्रतिफल की संज्ञा दी जाती है। यहां यह ध्यान देने योग्य बात है कि उत्पादन के सभी साधनों में परिवर्तन केवल दीर्घकाल में ही हो सकता है। इसीलिए पैमाने के प्रतिफल का सम्बन्ध दीर्घकालीन उत्पादन फलन से होता है। पैमाने के प्रतिफल तीन होते हैं

1 पैमाने का वर्द्धमान प्रतिफल (Increasing Returns to Scale)
2 पैमाने का समान प्रतिफल (Constant Returns to Scale)
3 पैमाने का ह्रासमान प्रतिफल (Decreasing Returns to Scale)।

साधारण रूप से यह कहा जा सकता है कि यदि सभी साधनों की मात्रा में *एक ही अनुपात में वृद्धि की जाय तो उत्पादन में उसी अनुपात में वृद्धि होगी।* जैसे यदि सभी साधनों की मात्रा दुगुनी कर दी जाय तो उत्पादन की मात्रा दुगुनी हो जायेगी। परन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं होता। एक फर्म यदि सभी साधनों की मात्रा में वृद्धि करती है तो शुरू में उत्पादन की मात्रा में आनुपातिक वृद्धि अधिक दर पर होती है परन्तु धीरे धीरे वृद्धि दर में कमी होने लगती है। जब उत्पादन के सभी साधनों में वृद्धि करने के फलस्वरूप उत्पादन में अधिक आनुपातिक वृद्धि होती है तो इसे पैमाने का वर्द्धमान प्रतिफल (Increasing Returns to Scale) कहते है। यदि सभी साधनों की मात्रा में आनुपातिक मात्रा में वृद्धि की तुलना में उत्पादन में कम वृद्धि होती है तो इसे पैमाने का ह्रासमान प्रतिफल (Decreasing Returns to Scale) कहते हैं। इन दोनों अवस्थाओं के बीच में काफी समय तक एक ऐसी अवस्था पायी

---

1 रिचर्ड एच० लेफ्टविच कीमत प्रणाली एवं साधन आवंटन (अनुवादक श्री लक्ष्मीनारायण नाथूरामका) p 131

जाती है जिसमें सभी साधनों की मात्रा में जिस अनुपात में वृद्धि की जाती है ठीक उसी अनुपात में कुल उत्पादन में भी वृद्धि होती है। इस अवस्था को पमाने का समान प्रतिफल (Constant Returns to Scale) कहते हैं।

पमाने के प्रतिफल का स्पष्टीकरण करने के पहले इसकी तीन विशेषताओं का उल्लेख करना आवश्यक है—(1) पमाने का प्रतिफल दीर्घकाल से सम्बन्धित है (2) सभी साधन एक ही अनुपात में बदलते हैं तथा (3) फर्म पूर्ण स्पर्द्धा की स्थिति में काम कर रही है।

अब हम समोत्पत्ति वक्रों की सहायता से पमाने के प्रतिफलों पर विचार करेंगे। अब तक हमने समोत्पत्ति वक्रों को समझने के लिए केवल दो साधनों का प्रयोग किया है। परन्तु वास्तव में उत्पादन के साधन कई होते हैं। दो से अधिक साधनों को चित्र में प्रदर्शित करना कठिन होता है तथा उनका चित्र पुस्तक में देना अत्यन्त ही कठिन है। अतः हम दो साधनों की ही सहायता से पमाने के प्रतिफल को समझने का प्रयत्न करेंगे। परन्तु साथ ही साथ आवश्यकतानुसार विश्लेषण करते समय निष्कर्षों को दो से अधिक साधनों पर लागू करने का प्रयत्न करेंगे। हम यह मानकर चलेंगे कि साधनों के क्रेताओं के बीच पूर्ण स्पर्द्धा है।

यदि एक फर्म दो साधनों का प्रयोग करती है तथा दोनों साधनों की मात्रा बदलती है तो दीर्घकाल में यह उत्पादन में किस प्रकार परिवर्तन लायगी? माँग में परिवर्तन के कारण दीर्घकाल में उत्पादन में परिवर्तन करना पड़ेगा। इस परिवर्तन को जानने के लिए साधनों की कीमतों पर भी विचार करना होगा क्योंकि साधनों की मात्रा उनके सापेक्ष मूल्यों तथा प्राविधिक दशाओं पर निर्भर हैं। यदि समोत्पत्ति वक्र चित्र संख्या 60 के अनुसार हैं तो वर्तमान समय में—

$$\frac{X \text{ साधन की कीमत}}{Y \text{ साधन की कीमत}} = \frac{OB}{OA} = \frac{OB_1}{OA_1} = \frac{OB_2}{OA_2}$$

फर्म कम से कम लागत पर उत्पादन करना चाहती है। यदि फर्म 100 इकाइयाँ पैदा करना चाहती है तो वह P बिन्दु पर साम्य अवस्था में होगी। इसी बिन्दु पर BA (Iso-cost line) समोत्पत्ति वक्र का स्पर्श रेखा है। इस बिन्दु पर 100 इकाइयाँ पैदा करने की लागत न्यूनतम होगी। इसी प्रकार 150 तथा 200 इकाइयाँ पैदा करने लिए फर्म P_1 तथा P_2 बिन्दु पर साम्य अवस्था में होगी। यह याद रखना चाहिए कि P P_1 तथा P_2 आदि बिन्दु Y साधन के सन्दर्भ में X साधन का सीमान्त महत्त्व प्रकट करते हैं। यदि साम्य के इन सभी बिन्दुओं—P P_1 तथा P_2—को मिला दिया जाय तो इस प्रकार जो वक्र OD बनता है उसे पमाना रेखा (Scale Line) कहते हैं। पमाना रेखा यह बतलाती है कि यदि दो साधन X तथा Y परिवर्तनशील हैं तथा उनकी तुलनात्मक कीमतें बाजार में निश्चित हैं तो न्यूनतम लागत पर उत्पादन की विभिन्न मात्राएँ पैदा की जायेंगी। फर्म उत्पादन

पमाना OD रेखा पर निश्चित करेगी। इस पमाना रेखा को विस्तार मार्ग (Expansion Path) भी कहते हैं। यह रेखा उत्पादन के विभिन्न स्तरों पर साधनों
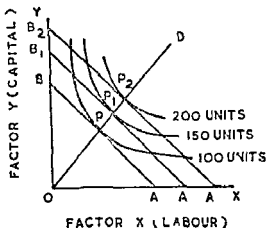
चित्र स० 61

के विभिन्न सयोगो को प्रदर्शित करती है। पमाना रेखा का झुकाव दो बातो पर निर्भर है—(1) सभी साधनो की कीमतें तथा (ii) समोत्पत्ति वक्रो का स्वरूप। *पमाना रेखा द्वारा यह ज्ञात किया जा सकता है कि यदि साधनों की मात्रा में परिवर्तन किया जाये तो उत्पादन में बढ़ती हुई दर से घटती हुई दर से या समान दर से परिवर्तन होगा ?*

साथ ही साथ यह भी ज्ञात किया जा सकता है कि पमाना रेखा पर आगे *बढ़ने से उत्पादन के दोनों साधनों की मात्राओं का अनुपात पूर्ववत् रहेगा या बदल जायगा ?*

समता पमाना प्रतिफल

(Constant Returns to Scale)

अब हम समोत्पत्ति वक्र की सहायता से यह समझाने का प्रयास करेंगे कि उपर्युक्त दोनों प्रकार के प्रभाव पमाना रेखा को किस प्रकार प्रभावित करते हैं ? यदि दो साधनों के लिए हुए सयोग से उत्पादन प्रारम्भ किया जाय तथा यदि प्रत्येक साधन की मात्रा दुगुनी कर दी जाय तो उत्पादन भी दुगुना होगा अर्थात् जिस अनुपात में साधनों की मात्रा में वृद्धि की *जायगी* उसी अनुपात में उत्पादन में भी वृद्धि होगी। इसका अर्थ यह है कि इस समोत्पत्ति चित्र में सभी पमाने की रेखाएं मूल बिन्दु से प्रारम्भ होने वाली सरल रेखा के रूप में होगी। चित्र की विभिन्न पमाने

की रेखाओं पर पमाने का प्रतिफल (Returns to Scale) स्थिर रहता है। चित्र संख्या 62 में इस तथ्य को प्रदर्शित किया गया है —
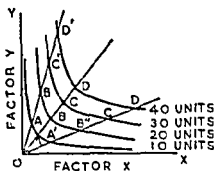
चित्र संख्या 62

यदि समोत्पत्ति मानचित्र पर उत्पादन के दोनों साधनों की मात्रा में आनुपातिक परिवर्तन किया जाये तो उत्पादन में भी आनुपातिक परिवर्तन हो जायेगा। इसीलिए समोत्पत्ति मानचित्र पर पमाने की प्रत्येक रेखा पर उत्पादन समान होगा। उपर्युक्त चित्र में पमाने की प्रत्येक रेखा पर उत्पादन स्थिर रहता है।

प्रतिफल की स्थिरता इस बात से स्पष्ट होती है कि O A B C D तथा A'' B'' C'' D पर विभिन्न सम उत्पत्ति वक्रों के बीच की दूरी सदा समान रहती हैं। उदाहरणार्थ उपरोक्त चित्र में OA=AB=CD OA=A'B= B C=C D, OA''=A''B''=B C''=C D'' इत्यादि। यह कहा जा सकता है कि परिवर्तित रूप से दिये हुए साधनों के मूल्यों पर मूल्य या उत्पादन व्यय के प्रतिफल के साथ स्थिर रहते हैं। अगर उत्पादन साधनों के मूल्य स्थिर रहते हैं और अगर उत्पादन साधन की मात्रा दुगुनी कर दी जाये तो कुल व्यय भी दुगुना हो जायेगा। इस प्रकार विशेष प्रकार के समोत्पत्ति मानचित्र में व्यय के प्रतिफल तथा पमाने के प्रतिफल शब्द एक दूसरे के स्थान पर प्रयोग में लाये जा सकते है।

चित्र संख्या 62 में समोत्पत्ति वक्र मानचित्र के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि जो उत्पादन फलन उत्पादन की मात्रा तथा इसके लिए प्रयुक्त साधनों की मात्रा में सम्बन्ध स्थापित करता है, उसमें प्रथम श्रेणी की एकरूपता होती है। किसी भी उत्पादन फलन को हम इस प्रकार लिख सकते हैं $P=f(X\ Y)$ जहाँ P=उत्पादन की मात्रा और X तथा Y उत्पादन के साधन हैं। इस प्रकार यदि उत्पादन प्रसाधन X एवं Y में परिवर्तन किया जाये तो उत्पादन मात्रा में उसी अनुपात में परिवर्तन हो जायेगा।

(Complexities) तथा समस्याएँ (Problems) हैं। उदाहरण के लिए श्रम साधन म वृद्धि से उनकी क्रियाओं म समन्वय एव नियन्त्रण के लिए अधिक प्रबन्धकीय व्यक्तियों (Administrative Personnel) का आवश्यकता होता है। प्रबन्धकों को निर्णय लेने म भी अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। चित्र स० 63 म पमाने के घटते हुए बढ़ते हुए तथा स्थिर प्रतिफल का स्पष्ट किया गया है
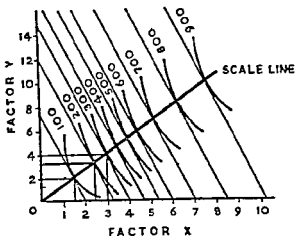
चित्र स० 63

चित्र मे पमाने का रेखा बिल्कुल सीधा (Straight) है इसलिए साधन X और साधन Y का अनुपात अपरिवर्तित रहता है। उदाहरण के लिए साधन Y का 4 इकाइयाँ और साधन X का तीन इकाइयाँ हैं। इस प्रकार जब उत्पादन 100 इकाइयों से बढ़कर 200 इकाइयाँ हो जाता है तो साधन Y म 1 2 इकाइयों की और X म 9 इकाइयों की वृद्धि होती है। 200 इकाइयों से 300 इकाइयों का उत्पादन करने पर साधन Y म 8 इकाई की और साधन Y म 6 इकाई की वृद्धि होती है। दोनों साधन एक ही अनुपात म बढ़ते हैं।

यह स्पष्ट है कि उत्पादन 100 से 300 इकाइयाँ करने पर उत्पादन के साधनों की अतिरिक्त मात्रा प्रत्येक 100 इकाइयों के साथ घटती जाती है। वे बिन्दु जहाँ पर स्थिर उत्पत्ति वक्र है मूल्य रेखा अधिक नतोदर होता जा रहा है। साधनों पर किया जाने वाला व्यय प्रत्येक अतिरिक्त 100 इकाइयों के साथ घटता जा रहा है। इस प्रकार फम पमाने का बढ़ता हुआ प्रतिफल प्राप्त कर रही है क्योंकि प्रत्येक अतिरिक्त 100 इकाइयों पर आपेक्षिक रूप म कम व्यय होता है।

उत्पादन 300 इकाइयों से बढ़ाकर 600 इकाइयाँ कर देने पर प्रत्येक 100 इकाइयों के लिए लगाये जाने वाले साधनों की मात्रा स्थिर रहती है। वे बिन्दु जहाँ

पर उत्पति वक्र मूल्य रखा का काटत हैं समान दूरी पर हैं। इस स्थिति म यह कहा जा सकता है कि फम स्थिर पमान का प्रतिफल प्राप्त कर रही है।

उत्पादन म 600 इकाइया से अधिक वद्धि करन पर उत्पादन की प्रत्यक 100 इकाइया क लिए सापक्षिक रूप से उत्पति क साधना की अधिक मात्राएँ लगानी पडती हैं। इस प्रकार फम घटती हुइ दर पर उत्पान्न का प्रतिफल प्राप्त करती है।

उपसहार पमान का प्रतिफल सिद्धान्त वह महत्त्व प्राप्त नहीं कर सका ह जा महत्त्व ह्रासमान उत्पादन नियम प्राप्त कर सका है। व्यावहारिक रूप म इस बात स सभी सहमत हैं कि एक फम प्रारम्भ म यदि उत्पादन पमान का विस्तार करती है तो प्रति साधन क्काम के उत्पान्न म वद्धि होता है। इसी प्रकार इस तथ्य स भी इनकार नहीं किया जा सकता कि अन्त म पमान की मितव्ययिताए (Economies of Scale) धीर धार समाप्त हो जाती हैं परन्तु (1) क्या अन्त म प्रति इकाइ पडत (input) का उत्पान्न कम होना है ? या (ii) ऐसा केवल कृषि जैस व्यवसाय म ही होता है जिसका प्रबन्ध सम्बन्धी समस्याएँ भिन्न हैं ? इन दोना प्रश्ना क सम्बन्ध म अथशास्त्री एकमत नहीं हैं। (देखिय इस अध्याय के प्रारम्भ का कोटेशन)।

प्रश्न व सकेत

1 समोत्पत्ति वक्र रखाओं का स्पष्ट कीजिए तथा उनकी विशेषताएँ बताइए।

Discuss the Equal product Curves or Iso-product Curves and give their main characteristics

(**सकेत** समोत्पत्ति वक्र रखाएँ तथा उदासीन वक्र रखाएँ समान होती हैं। काल्पनिक उदाहरण देकर एक समोत्पत्ति वक्र बनाइए तथा उसकी चारो प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।)

2 समोत्पत्ति वक्र रखाएँ किन्हें कहते हैं ? ये उदासीन वक्र रखाओं स किस प्रकार भिन्न हैं ?

What are Iso product Curves ? How do they differ f om Indifference Curves ?

3 पमान के प्रतिफल (Returns to Scale), का समोत्पत्ति वक्र। द्वारा स्पष्ट कीजिए।

Explain the Returns to Scale with the help of Iso-product Curves

(**सकेत** पहल समोत्पत्ति वक्र का स्पष्टीकरण कीजिए। फिर उनकी सहायता स पमान के प्रतिफल को स्पष्ट कीजिए।)

4 उत्पत्ति ह्रास नियम की समोत्पत्ति वक्र विधि से व्याख्या कीजिए।

Explain the Law of Diminishing Returns with the help of Iso-product curve Method

(संकेत काल्पनिक उदाहरण देकर समोत्पत्ति वक्र मानचित्र बनाइए और उसकी सहायता से उत्पत्ति ह्रास नियम की व्याख्या कीजिए।)

5 सीमान्त आगम उत्पाद (MRP) तथा सीमान्त भौतिक उत्पाद (MPP) में अन्तर स्पष्ट कीजिए। यह भी बताइए कि किस प्रकार जब तक प्रत्येक साधन की कीमत उसके सीमान्त आगम उत्पाद के बराबर नहीं होगी तो लाभ अधिकतम नहीं होगा।

Differentiate between Marginal Revenue of Productivity and Marginal Physical Productivity Discuss also how profit will not be maximum without equalisation of the price of every factor with Marginal Revenue of Productivity

(संकेत MRP तथा MPP में अन्तर बताइए तथा दूसरे भाग में बताइए कि यदि MRP साधन की कीमत से कम है तो फर्म को घाटा होता है।)

परिशिष्ट

सीमान्त भौतिक उत्पादकता
(Marginal Physical Productivity)

अब तक हमने यह माना था कि किसी उत्पादन इकाई द्वारा प्रयुक्त किये जाने वाले उत्पादन के साधनों की मात्रा परिवर्तनशील है। अब हम यह मानेंगे कि फर्म द्वारा प्रयुक्त किये जाने वाले उत्पादन साधनों में एक साधन की मात्रा स्थिर रहता है। चित्र संख्या 64 में Y साधन (पूंजी) की मात्रा स्थिर है जबकि X साधन

चित्र संख्या 64
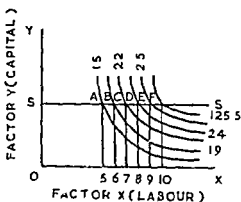
(श्रम) की मात्रा परिवर्तनशील रहती है। साधन Y OS पर स्थायी दिखाया गया है जबकि साधन X (श्रम) 5 से 6 6 से 7 और इसी तरह परिवर्तित होता रहता है। क्षितिज रेखा SS साधन X और Y के विभिन्न संयोगों को प्रदर्शित करती है। उदाहरण के लिए A पर Y की OS मात्रा और X साधन (श्रम) की 5 इकाइयों का संयोग है। समोत्पत्ति वक्र उत्पादन की विभिन्न मात्राएं जैसे 15 19 22 24 25, 25 5 इकाइयाँ प्रदर्शित करते हैं। जब Y साधन की OS मात्रा तथा X साधन की 6 इकाइयों का संयोग किया जाता है तो उत्पादन 19 इकाइयाँ होता है जो कि बिन्दु Q के द्वारा स्पष्ट है। इस प्रकार छठी इकाई द्वारा उत्पादन में की गयी वृद्धि 4 इकाइयाँ हैं या छठी इकाई की सीमान्त उत्पादकता 4 इकाइयाँ हैं। इसी प्रकार X साधन की 7वीं इकाई से 3 इकाइयाँ और 10वीं इकाई से 5 इकाई से उत्पादन में वृद्धि होती है।

इस प्रकार जब कोई फर्म एक साधन पूंजी को स्थिर रखकर दूसरे साधन (श्रम) की मात्रा में परिवर्तन करती जाती है तो दूसरे साधन (श्रम) की सीमान्त उत्पादकता घटती जाती है। इस घटती हुई सीमान्त भौतिक उत्पादकता का हम वक्र

द्वारा प्रदर्शित कर सकते हैं। एक सीमात भौतिक उत्पादकता वक्र (MPPC) इस बात को स्पष्ट करता है कि किसी एक उत्पादन साधन की मात्रा स्थिर रखने तथा दूसरे साधन की मात्रा को परिवर्तनशील रखने पर उस दूसरे साधन की सीमांत उत्पादकता घटती जाती है। उत्पादन प्रसाधनों के मूल्य निर्धारण में यह वक्र बहुत लाभदायक है। पीछे दिये गये चित्र में 6 श्रमिकों की सीमांत उत्पादकता 4 इकाइयां 7 श्रमिकों की 3 इकाइयां 8 श्रमिकों की 2 इकाइयां 9 श्रमिकों की एक इकाई और 10 श्रमिकों की 5 इकाई है। इस तथ्य को हम निम्न प्रकार चित्र द्वारा प्रदर्शित कर सकते हैं—
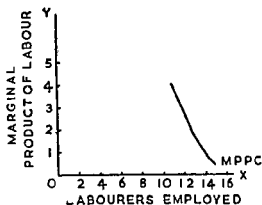
चित्र स० 65

चित्र संख्या 65 में MPPC सीमांत भौतिक उत्पादकता वक्र है। यह इस बात को स्पष्ट करता है कि जैसे जैसे श्रम की अधिक इकाइयों का प्रयोग किया जाता है तो सीमांत भौतिक उत्पादकता घटती जाती है। यही कारण है कि MPPC वक्र नीचे की ओर दाहिनी तरफ झुकता चला गया है। MPPC का साधारणतया यही ढाल होता है क्योंकि उत्पादन के किसी साधन को स्थिर रखने पर तथा दूसरे साधन की अतिरिक्त इकाइयों का प्रयोग करने पर उनकी सीमांत उत्पादकता घटती जाती है। इसी आधार पर हम औसत उत्पादकता वक्र (APPC) भी बना सकते हैं। इसके लिए हमें कुल उत्पादन को श्रम की इकाइयों से विभाजित करना पड़ेगा। इसी प्रकार कुल भौतिक उत्पादकता वक्र [TPPC] समोत्पत्ति मानचित्र या सीमांत भौतिक उत्पादकता वक्र तथा औसत सीमांत उत्पादकता वक्र (APPC) की सहायता से बनाया जा सकता है।

जैसा कि ऊपर बताया गया है किसी परिवर्तनशील उत्पादन साधन के साथ किसी स्थिर साधन का संयोग किया जाय तो सीमांत उत्पादकता घटना

जाता है। भूतकाल म इसी प्रवत्ति को उत्पत्ति ह्रास गियम (Law of Diminishing Returns) का नाम दिया जाता था। वतमान म इस अधिक उचित रूप स परिवतनशील अनुपातो का नियम (Law of Variable Proportions) का नाम दिया जाता है।

यह ध्यान म रखना चाहिए कि किसी परिवतनशील (Variable) उत्पादन साधन का सामात भौतिक उत्पादकता कुछ दशाओ में बढ भी सकती है। सीमान्त उत्पादकता वक्र (MPPC) म बहुत कुछ सीमाए एसी सामाए भी हो सकती है जहा सीमान्त उत्पादकता घटन क बजाय बढती है। इसीलिए इस कुछ अथशास्त्री घटनात्मक सीमात उत्पादकता ह्रासमान (Eventually diminishing marginal productivity) की सना देत हैं लेकिन दाघकाल म निश्चित रूप से सामात उत्पादकता घटती है।

परिवतनशील साधन का सीमान्त भौतिक उत्पादकता समोत्पत्ति वक्र मान चित्र म अन्य प्रकार स भा निकाली जा सकती है। अब हम यह मानकर कि उत्पादन क्रिया (Production function) समरूप है विभिन्न परिवतनशील साधनो क अनुपाता का अध्ययन करेंग जिसम कि एक साधन का स्थिर रखा जाता है और दूसरे साधन या साधना को परिवतनशील माना जाता है। पूव चित्र म साधन X (श्रम) की सम इकाइया स्थिर साधन Y क साथ प्रयुक्त की जाती है। परिणाम स्वरूप साधन X की सीमात भौतिक उत्पादकता घटती जाती है। लकिन अब हम दूसर प्रकार का चित्र प्रस्तुत करेगे। क्याकि यह समरूप उत्पादन क्रिया (Homogeneous production Function) की दशा है।

चित्र 66 म सम उत्पाद चित्र (Equal product map) चार वक्रा की सहायता से उत्पादन की 1 2 3 4 इकाइयो के साथ दिखाया गया है। यहाँ

चित्र स० 66
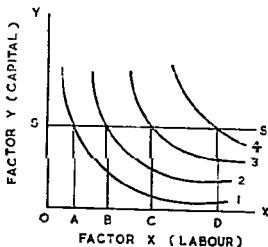
साधन Y स्थिर है जबकि साधन X परिवर्तनशील है। क्षतिज रेखा SS OX के समानान्तर है। यह दो साधनों X और Y की परिवर्तनशील इकाइयों के साथ संयोग दिखाती है। एक इकाई के उत्पादन के लिए फर्म Y साधन की OS मात्रा और X की OA मात्रा का संयोग करती है। दो इकाइयों के उत्पादन के लिए फर्म Y साधन की OS मात्रा और X की OB मात्रा का संयोग करती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि अतिरिक्त इकाई के उत्पादन के लिए X साधन की AB अतिरिक्त मात्रा लगानी पड़ती। इसके पूर्व एक इकाई के उत्पादन के लिए Y साधन की OS मात्रा के साथ X साधन की OA मात्रा का संयोग करना पड़ता था। अब उत्पादन की एक इकाई श्रम या X साधन का AB मात्रा और Y साधन की OS मात्रा के संयोग से उत्पादित की जाती है। इस प्रकार OS पूँजी से अधिक उत्पादन प्राप्त करने के लिए श्रम की अतिरिक्त इकाइयों की आवश्यकता होती है। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यह है कि श्रम की सीमान्त उत्पादकता घट गयी है। इसके बाद दो से तीन इकाइयों के उत्पादन के लिए OS पूँजी के साथ श्रम की BC इकाइयाँ लगायी जाती हैं। BC AB से अधिक है। इस प्रकार अतिरिक्त इकाई के उत्पादन के लिए श्रम की आनुपातिक रूप से अधिक इकाइयों की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार 3 और 4 इकाइयों के उत्पादन के लिए हमें तुलनात्मक रूप में श्रम की और अधिक इकाइयों का प्रयोग करना पड़ेगा। इस प्रकार किसी स्थिर साधन के साथ परिवर्तनशील साधन की अतिरिक्त इकाइयों के संयोग पर सीमान्त भौतिक उत्पादकता क्रमिक रूप से घटती जाती है। प्रथम श्रेणी (First degree) के समरूप उत्पादन क्रिया (Homogen ous Production Function) में सीमान्त उत्पादकता हमेशा घटती जाती है। इसी तथ्य को नीचे चित्र द्वारा भी स्पष्ट किया गया है।

चित्र सं 67
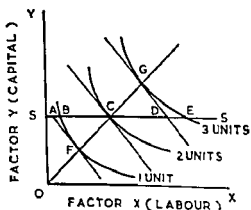
चित्र संख्या 67 में तीन सम उत्पादन वक्र हैं जो क्रमशः उत्पादन का 1, 2 और 3 इकाइयों को प्रदर्शित करते हैं। OFCG पैमाना रेखा है जो उत्पादन प्रसाधनों

X (श्रम) तथा Y (पूँजी) के संयोग दिखाता है। F C G विभिन्न संयोगों को प्रदर्शित करते हैं। OF = FC = CG जिसका अर्थ यह हुआ कि पैमाने के प्रतिफल सम (Constant) हैं। FCG बिन्दुओं पर सम उत्पाद वक्रों के साथ स्पर्श रेखाएँ (Tangent Lines) बनायी गयी हैं क्योंकि ये सभी स्पर्श रेखाएँ सम उत्पाद-वक्रों को उस स्थान पर पैमाने की रेखा काटती है इसलिए ये एक दूसरे के समानान्तर होनी चाहिए। सीमान्त भौतिक उत्पादकता हमेशा गिरती है यदि उत्पादन क्रिया (Production Function) समरूप है तथा पैमाने का प्रतिफल स्थिर है।

जैसा कि ऊपर बताया गया है कि परिवर्तनशील उत्पादन साधन (Variable factor) की सीमान्त भौतिक उत्पादकता उत्पादन की प्रारम्भिक अवस्था (Initial stage) में बढ़ भी सकती है यदि कुल उत्पादन (Total outlay) का प्रतिफल स्थिर (constant) नहीं रहता है। चित्र संख्या 68 द्वारा स्पष्ट है
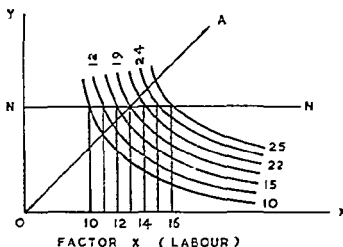
चित्र सं० 68

चित्र में समोत्पत्ति वक्र मानचित्र से स्पष्ट है कि प्रत्येक वक्र साधन X श्रम तथा साधन Y पूँजी के विभिन्न संयोगों को प्रदर्शित करते हैं। OP पैमाना रेखा है जो X व Y साधनों के विभिन्न संयोगों के साथ उत्पादन के विस्तार को स्पष्ट करता है। SS क्षैतिज रेखा Y स्थिर साधन को X की परिवर्तनशील मात्रा के साथ संयोग को प्रदर्शित करती है। चित्र में हम देखते हैं कि साधन Y की स्थिर मात्रा के साथ साधन X की बढ़ती हुई इकाइयों का संयोग किया जाय तो कुछ सीमा तक उत्पादन बढ़ता है अर्थात् साधन X (श्रम) की सीमान्त उत्पादकता कुछ सीमा तक बढ़ता है। जैसा कि चित्र में दिखाया गया है कुल उत्पादन 10 से 12, 12 से 15, 15 से 19 इकाइयाँ हो जाता है यदि श्रम की इकाइयों में 10 से 11, 11 से 12, 12 से 13

की वृद्धि की जाती है। श्रमिकों की सीमान्त उत्पादकता 2 इकाइयाँ 12 श्रमिकों की 3 इकाइयाँ 13 श्रमिकों की 4 इकाइयाँ हैं। इस प्रकार 13वें श्रमिक को लगाने तक सीमान्त उत्पादकता बढ़ती जाती है।

इसके पश्चात् सीमान्त उत्पादकता क्रमश: घटती जाती है। इस प्रकार हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि परिवर्तनशील उत्पादन इकाई को लगाने पर सामान्त भौतिक उत्पादन प्रारम्भिक अवस्था में कुछ समय बढ़ती जाती है और इसके पश्चात् घटने लग जाती है।

इन समस्त श्रम की समरु उत्पादकता को सीमान्त भौतिक उत्पादन वक्र द्वारा भी स्पष्ट किया जा सकता है (चित्र सं० 69)
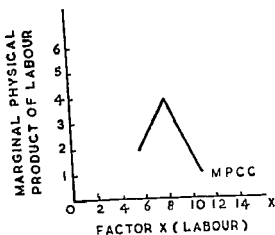
चित्र स० 69

चित्र स 69 में तीसरी इकाई तक सीमान्त उत्पादकता बढ़ता जाती है और उसके पश्चात् क्रमश: घटना चालू हो जाती है।

बढ़ती हुई सामान्त भौतिक उत्पादकता का दूसरे प्रकार के चित्र द्वारा भी स्पष्ट किया जा सकता है। चित्र स 69 में समोत्पत्ति वक्र मानचित्र में तीन वक्र हैं जो कि 1 0 1 5 और 2 इकाइयों के उत्पादन को व्यक्त करती है। पहली अवस्था में श्रम और पूँजी दोनों की इकाइयाँ परिवर्तित की जाती है तथा पूँजी का स्थिर रखा जाता है। यह क्षतिज रेखा SS से स्पष्ट है। पैमाना रेखा OP के बिन्दु A पर उत्पादन एक इकाई है B पर उत्पादन 1 5 इकाई है तथा C पर उत्पादन 2 इकाई है। इस प्रकार यदि पैमाना रेखा पर P बिन्दु की ओर बढ़े तो कुल उत्पादन प्रत्यक स्थिति में 5 इकाइयों से बढ़ता है। जब A से B की ओर बढ़ते हैं तो दोनों साधनों की मात्रा में परिवर्तन होता है। B से C की ओर बढ़ते हैं तो कुल साधनों की मात्रा

बढायी जाती हैं और उत्पादन भी बढता है। इस प्रकार फर्म की पमाना रखा OP पर आगे बढता है और बढता हुआ प्रतिफल प्राप्त होता है।

चित्र म० 70
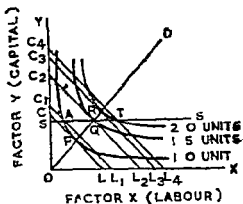
उपयुक्त विवेचन से हम किसी निर्णय पर नहीं पहुँच सकते लेकिन यह तो कहा ही जा सकता है कि जब तक बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा पायी जाती है और उत्पादन की इकाइयां को पूर्ण साम्य की अवस्था में रहना है तो उत्पादकता किसी न किसी स्तर पर अवश्य घटना आरम्भ हो जायगी। सीमान्त उत्पादन वक्र की आकृति उल्टे U की तरह होती है। इसका आशय यह है कि एक स्थिर साधन के साथ किसी भी परिवर्तनशील साधन का प्रयोग करने पर उत्पत्ति अन्त में घटती जाती है।

उत्पादक उत्पत्ति के संयोगों (Combinations) से उत्पादन करता है। अभी तक हमने उत्पादन फलन (Production Function) का विश्लेषण समोत्पत्ति वक्रों की सहायता से दो साधनों की मान्यता के आधार पर किया है लेकिन व्यवहार में उत्पादन के लिए दो से अधिक साधनों का संयोग किया जाता है। इसलिए प्रत्येक फर्म दी हुई मात्रा के उत्पादन के लिए उत्पादन के विभिन्न साधनों का उचित मात्रा में संयोग करती है। इस अवस्था में फर्म के सामने यह समस्या होती है कि विभिन्न साधनों को किस अनुपात में मिलाया जाय जिससे कम से कम लागत पर अधिक से अधिक उत्पादन किया जा सके।

यहाँ हम यह मान लेते हैं कि विभिन्न उत्पादन के साधनों का मूल्य तथा यान्त्रिक ज्ञान दिया हुआ है। फर्म का उद्देश्य कम से कम लागत पर अधिक से अधिक उत्पादन प्राप्त करना होता है। स्पष्टतया फर्म इस उद्देश्य की प्राप्ति उत्पादन के विभिन्न साधनों के श्रेष्ठतम संयोग से ही प्राप्त कर सकती है। श्रेष्ठतम संयोग के

लिए उत्पादक विभिन्न साधनो को इस प्रकार मिलाता है कि एक साधन के सीमात भौतिक उत्पाद और उसके मूल्य का अनुपात दूसरे साधनो के सीमात भौतिक उत्पाद और उनके मूल्यो के अनुपात के बराबर हो

$$\frac{\text{साधन A का सीमात भौतिक उत्पाद}}{\text{साधन A का मूल्य}} = \frac{\text{साधन B का सीमात भौतिक उत्पाद}}{\text{साधन B का मूल्य}}$$

$$= \frac{\text{साधन C का सीमात भौतिक उत्पाद}}{\text{साधन C का मूल्य}} = \frac{\text{साधन Z का सीमात भौतिक उत्पाद}}{\text{साधन Z का मूल्य}}$$

उपर्युक्त विश्लेषण से दो महत्त्वपूर्ण विचार (1) सीमात भौतिक उत्पाद और (2) साधन का मूल्य सम्बन्धित हैं। कम से कम लागत पर उत्पादन प्राप्त करने के लिए प्रत्येक साधन का सीमात भौतिक उत्पाद इसके मूल्य के बराबर होना चाहिए। अगर किसी साधन के सीमात भौतिक उत्पाद और उसके मूल्य का अनुपात दूसरे साधन के सीमात भौतिक उत्पाद और उसके मूल्य के अनुपात के बराबर नही है तो फर्म कम से कम लागत पर उत्पादन प्राप्त करने मे सफल नही हो पायेगी। ऐसी दशा मे फर्म के लिए किसी एक साधन का कम या दूसरे साधन का अधिक मूल्य देकर उनके अनुपात को बराबर करना पडेगा। जिस समय तक साधनो की सीमान्त भौतिक उत्पत्ति और इनके मूल्यो का अनुपात बराबर नही होगा तब तक कम से कम लागत पर अधिकतम उत्पादन नही किया जा सकेगा।

मान लीजिए 5 एकड भूमि 500 रुपये वार्षिक किराये पर ली जाती है और प्रति वर्ष 1 200 रुपये का श्रम लगाया जाता है। यदि भूमि की सीमात भौतिक उत्पादकता 500 कि०ग्रा० और श्रम की सीमात भौतिक उत्पादकता 1400 कि ग्राम है तो उपर्युक्त फार्मूले का प्रयोग करने पर

$$\frac{\text{श्रम की सीमात भौतिक उत्पादकता (1 400 कि ग्रा)}}{\text{श्रम का मूल्य (1200 रु०)}} = \frac{\text{भूमि की सीमात उत्पादकता (500 कि ग्रा)}}{\text{भूमि का मूल्य (500 रु०)}}$$

$$\text{या } \frac{7}{6} > \frac{1}{1}$$

दोनो साधनो का अनुपात बराबर नही है। इसलिए कम से कम लागत पर अधिक से अधिक उत्पादन नही किया जा सकेगा। इसलिए फर्म भूमि से श्रमिकों को प्रतिस्थापित करेगी। इस प्रकार साधनो के इष्टतम सयोग के लिए उत्पादक एक दूसरे साधन को प्रतिस्थापित करेगा। उत्पादक विभिन्न साधनो के सयोगो को लागत के दृष्टिकोण से चुनता करता है और जिस सयोग की लागत सबसे कम होती है वही सयोग अपनाया जाता है। मान लीजिए उत्पादक किसी वस्तु की 20 इकाइयो का उत्पादन श्रम व पूँजी की निम्नलिखित सयोगो द्वारा कर सकता है

श्रम इकाइया		पूँजी इकाइया	उत्पादन इकाइया	पूँजी तथा श्रम क मध्य तकनीकी सीमात स्थानापनि दर	
1	+	10	20	—	
2	+	8	20	1	4 $(\frac{1}{4})$
3	+	6	20	1	2 $(\frac{1}{2})$
4	+	4	20	1	1 (1)
5	+	2	20	1	$\frac{2}{5}$ $(\frac{?}{5})$

इस प्रकार 20 इकाइयो का उत्पादन श्रम व पूँजी की उपयुक्त इकाइया द्वारा किया जा सकता है। यहाँ यह मान लिया गया है कि श्रम तथा पूँजी के मध्य स्थानापत्ति सम्भव है। ऊपर दी गयी तालिका के आधार पर समोत्पत्ति वक्र भी प्राप्त किया जा सकता है
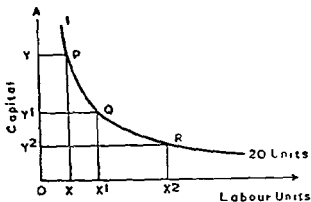
चित्र स० 71

उपयुक्त चित्र म X अक्ष पर श्रम की इकाइया तथा Y अक्ष पर पूँजी की इकाइयाँ व्यक्त की गयी हैं। दोनो साधनो के विभिन्न इकाइया के सयोग से 20 इकाइया का उत्पादन किया जा सकता है। ये विभिन्न सयोग समोत्पाद (Equal Product Curves) द्वारा व्यक्त किये गये हैं। उत्पादक इन सयोगो म से किसी एक का चुनाव करते समय लागत को ध्यान म रखता है और जिस सयोग (Combination) स लागत कम से कम होती है, वही सयोग उसके द्वारा चुना जाता है। किसी भी उत्पादक के लिए इस प्रकार के अनेक वक्र होते हैं जो भिन्न भिन्न उत्पादन-स्तरो पर विभिन्न सयोग (Combinations) प्रदर्शित करते हैं।

उत्पत्ति के साधनों की घटती हुई सीमान्त दर (The Principle of Diminishing Marginal Rate of Factor Substitution) उपयुक्त उदाहरण से

स्पष्ट है कि ज्यो ज्यो श्रम की अधिक इकाइयो का प्रयोग किया जाता है त्यो-त्यो पूँजी की कम मात्रा का प्रयोग किया जाता है। दूसरे शब्दो मे, जिस अधिक सीमा तक पूजी का श्रम के साथ प्रतिस्थापन किया जाता है प्रतिस्थापन (Substitution) की सीमान्त दर घटती जाती है। इसी सम्बन्ध को घटती हुई सीमान्त दर की सज्ञा दी जाती है। इस नियम को अधिक स्पष्ट रूप से इस प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है। किसी एक उत्पादन साधन की मात्रा बढ़ाने पर उस सयोग से दूसरे साधन की क्रमश कम इकाइया की आवश्यकता पड़ती है। जिस दर पर दूसरे साधन द्वारा पहले साधन को प्रतिस्थापित किया जाता है, वह दर घटती जाती है।

श्रेष्ठतम सयोग—केवल प्रतिस्थापन की सीमान्त दर ही साधनो के प्रयोग की श्रेष्ठतम मात्रा निर्धारित नही करती। प्रत्येक साहसी इस चुनाव मे इन सयोगो की लागत को भी ध्यान मे रखता है। इसलिए कोई भी सयोग उसी हालत मे निश्चित किया जा सकता है जबकि विभिन्न साधनो की लागत के बारे मे ज्ञान हो तथा जिस दर पर एक साधन को दूसरे साधन से प्रतिस्थापन किया जा सके वह दर ज्ञात हो। मान लीजिए धुलाई की मशीनो की निश्चित इकाइयो के उत्पादन के लिए अल्युमिनियम और स्टील की निम्न मात्राओ के विभिन्न सयोग लिए हुए हैं और अल्युमिनियम की लागत 60 रुपये प्रति टन तथा स्टील की लागत 30 रुपये प्रति टन है। निम्न तालिका से इन मशीनो के निर्माण के विभिन्न सयोगो की लागत स्पष्ट है

विभिन्न सयोगों की दशा मे 200 धुलाई की मशीनों के उत्पादन से सम्बंधित लागत

अल्युमिनियम (टनो म)	स्टील (Steel) (टनो म)	अल्युमिनियम की लागत (रुपयो म)	स्टील की लागत (रुपया से)	अन्य लागतें (रुपयों म)	कुल लागत (रु० मे)
0	10	0	300	9000	9300
1	6	60	180	9000	9240
2	3	120	90	9000	9210
3	1	180	30	9000	9210
4	$\frac{1}{4}$	240	$7\frac{1}{2}$	9000	$9247\frac{1}{2}$
5	0	300	0	9000	9300

उपयुक्त तालिका में साधनो का श्रेष्ठतम सयोग उस हालत मे प्राप्त किया जाता है जबकि अल्युमिनियम की मात्रा 2 टन और स्टील की 3 टन की मात्रा का प्रयोग किया जाता है। अगर लागत को भिन्नो म लिया जाता तो यह तथ्य और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है क्योकि इस दशा मे हम पूर्णतया निम्न लागत ज्ञात कर सकते हैं।

समोत्पत्ति लागत वक्रो की सम लागत रेखा के साथ स्पर्शता (Tangency of the Iso-quants with an Iso-cost line) साधनो के श्रेष्ठतम सयोग को समोत्पत्ति वक्रो (Iso-quants) के साथ सम लागत रेखाओ को जोडकर रेखाचित्र द्वारा भी स्पष्ट किया जा सकता है। प्रत्यक सम्भव सयोग के लिए सम लागत रेखाएँ बनायी जा सकती हैं। ये रेखाएँ एक दूसरे के समनान्तर होती हैं। विभिन्न वकल्पिक सयोगो की दशा मे उस सयोग का चुनाव कर जिसकी लागत सबसे कम है श्रेष्ठतम सयोग प्राप्त कर सकते हैं। रेखाचित्र म जहाँ निम्नतम सम लागत रेखा (Lowest Iso-cost Line) जिस बिन्दु पर समोत्पत्ति वक्र को स्पश करती है वह बिन्दु साधना के श्रेष्ठतम सयोग का बिन्दु होता है। यह निम्न चित्र स स्पष्ट है।
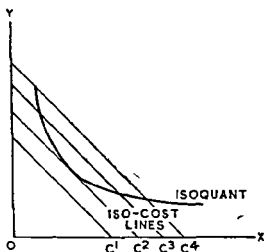
चित्र स० 72

उपयुक्त चित्र म C^1 C^3 C^3,C^4 विभिन्न सम लागत रेखाएँ हैं। समोत्पत्ति वक्र बिन्दु P पर निम्न सम लागत रखा को स्पश करता है। यही बिन्दु साधना के श्रेष्ठतम सयोग का बिन्दु है। इस बिन्दु को निम्न लागत पर आवश्यक उत्पादन प्राप्त करन के लिए साधन क्रय नही किये जा सकेंगे जबकि इसके ऊपर की रेखा पर अधिक लागत होगी। यह ध्यान म रखना चाहिए कि समोत्पत्ति वक्र दी हुई मात्रा के उत्पादन के लिए दो सधानो की विभिन्न मात्राएँ प्रदर्शित करता है, जबकि सम लागत रेखाएँ दो साधनो की दिये हुए व्यय पर क्रय की जाने वाली मात्राएँ प्रदर्शित करते हैं।

विनिमय
EXCHANGE

क्रोप्स एक अमेरिकी अर्थशास्त्री ने कहा है मूल्य-गतियों की स्वतन्त्रता का अत्यधिक महत्त्व है (The freedom of price movements is highly important)। विनिमय के अन्तर्गत स्वतन्त्र मूल्य-गतियों के क्रमिक अध्ययन की सामग्री प्रस्तुत की जाती है। इसके लिए बाजार का अध्ययन आवश्यक होता है। पूर्ति तथा माँग ही बाजार मूल्य तथा उसकी गति को निर्धारित करती हैं। अत आद्यान्त उनका ही उल्लेख मिलता है। पूर्ति किसी मूल्य पर की जाती है तथा वह मूल्य उत्पादन-लागत पर आधारित होता है। अत लागत विश्लेषण तथा मूल्य विश्लेषण 'विनिमय' के अभिन्न अंग हैं।

28

वाजार तथा वाजार की अवस्थाएँ
(Market and Types of Markets)

> We must, therefore define a market as any area over which buyers and sellers are in such close touch with one another either directly or through dealers that price obtainable in one part of the market affect the prices paid in other part
>
> —*Benham*

विनिमय म कुछ एसे श न्द का प्रयोग किया जाता है जिनका अपना कुछ विशप अथ हाता है। अत यह आवश्यक है कि विनिमय के सिद्धान्तो का विवेचन करने के पूव उन श न्दो के अथ का ज्ञान प्राप्त का लिया जाय जिनका प्रयोग विनिमय म किया जाता है। विनिमय के क्षेत्र म ऐसे शब्दो मे बाजार' शब्द आता है। अथशास्त्रियो द्वारा बाजार' शब्द का अथ विभिन्न प्रकार से लगाया गया है जिसका विवेचन अग्रिम पक्तियो म किया जा रहा है।

बाजार
(Market)

अथ (Meaning) विनिमय' के लिए वाजार का होना आवश्यक है। जहा विनिमय होता है उस बाजार कहत हैं। साधारण बोल-चाल की भाषा म बाजार' शब्द स उस स्थान का बाध हाता है जहा वस्तु के क्रेता और विक्रेता भौतिक रुप से उपस्थित होत हैं तथा क्रय विक्रय के सौदे करत हैं। परन्तु अथशास्त्र म बाजार का अथ किसी स्थान अथवा क्षेत्र विशेष म नहीं है। वस्तुत अथशास्त्र म बाजार शब्द का अथ अधिक व्यापक है। इसका अभिप्राय उस सम्पूर्ण क्षेत्र स है जहाँ वस्तु विशेष के विक्रेताओ म स्पर्द्धा तथा सम्पर्क रहता है जिसके फलस्वरूप उस क्षेत्र विशेष में उस वस्तु का मूल्य लगभग समान रहता है। इस प्रकार बाजार म आमने-सामने उपस्थित होकर सौदा करना आवश्यक नहीं होता। सौदे दलाल गुमाश्तो, तार, टेलीफोन पत्र आदि के द्वारा भी हो सकते हैं। सौदे किये जाने वाले स्थान पर सम्पूर्ण माल का होना भी आवश्यक नहीं होता। केवल नमूना के आधार पर लेन-देन हो सकता है तथा किसी अन्य स्थान म माल की सुपुर्दगी दी जा सकती हैं। क्रेता विक्रेता भी बहुत बडे क्षेत्र

म फैले हुए हो सकते हैं। इस प्रकार आर्थिक दृष्टि से बाजार कोई स्थान विशेष न होकर एक व्यापक क्षेत्र होता है।

बाजार की विशेषताएँ (Characteristics of Market)

उपयुक्त परिभाषा के आधार पर बाजार की विशेषताएँ इस प्रकार हैं

(1) **एक वस्तु का होना (One Commodity)** बाजार के लिए वस्तु साधन या सेवा होनी चाहिए जिसका क्रय विक्रय या लेन-देन हो सके।

(2) **वस्तु के क्रेता और विक्रेता का होना (Buyers and Sellers)** बाजार म क्रेता और विक्रेताओं का अस्तित्व भी आवश्यक है चाहे क्रेता विक्रेता एक या दो हो या अनेक।

(3) **एक क्षेत्र (An Area)** अर्थशास्त्र म बाजार का अर्थ किसी स्थान विशेष स नही इसस उस सम्पूर्ण क्षेत्र का आभास होता है जहा वस्तु के क्रेता विक्रेता फैले हुए हैं। **कूर्नो** के अनुसार बाजार एक क्षेत्र है जबकि **स्टोनियर एव हेग** के अनुसार यह एक सगठन है। प्रो० केयनक्रास ने इस लेन-देन का तंत्र कहा है।

(4) **पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा का होना (Perfect Competition)** एक बाजार म क्रेताओं और विक्रेताओं म प्रत्यक्ष रूप से पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा होनी चाहिए ताकि उस वस्तु की कीमत समस्त क्षेत्र म एक होने की प्रवृत्ति रखनी हो।

(5) **एक मूल्य (One Price)** प्राय कहा जाता है कि वस्तु का एक ही प्रतिस्पर्द्धात्मक मूल्य बाजार की विशेषता तथा उसकी कसौटी होनी है।' *किसी वस्तु के बाजार म उस वस्तु के मूल्य म एक होने की प्रवृत्ति पायी जाती है।*

कुछ अर्थशास्त्री एक मूल्य का होना भी बाजार की एक विशेषता मानते हैं। परन्तु जहाँ पर उपयुक्त विशेषताएँ पायी जाती हैं वहाँ स्वाभाविक रूप स एक बाजार मूल्य ही पाया जायगा अथवा एक ही बाजार मूल्य होने की प्रवृत्ति होगी। यह ध्यान रहे कि एक वस्तु के विभिन्न मूल्य हो सकते हैं। परन्तु एक वस्तु के जितने ही मूल्य होंगे उसके उतने ही बाजार होंगे। यदि एक वस्तु की विभिन्न किस्म हैं तो पृथक्-पृथक् वस्तुएँ मानी जायेंगी तथा उन किस्मों के अनुसार उतने ही पृथक् बाजार भी होंगे।

अर्थशास्त्रियों द्वारा दी गयी महत्त्वपूर्ण परिभाषाएं

यहाँ पर कुछ प्रसिद्ध अर्थशास्त्रियों की परिभाषाओं पर विचार कर लेना भी आवश्यक है।

कूर्नो (Cournot) के अनुसार बाजार का अर्थ किसी स्थान विशेष से नहीं है जहाँ वस्तुएँ खरीदी और बेची जाती हैं किन्तु उस पूरे प्रदेश से है जिसमे

क्रेता व विक्रेता एक दूसरे से ऐसे स्वतन्त्र सम्पर्क मे होते हैं कि एक ही प्रकार की वस्तुओ के मूल्यो मे शीघ्रता और सरलता से समान होने की प्रवृत्ति होती है ।"[1]

सिजविक (Sidgwick) के अनुसार बाजार 'व्यक्तियो का समूह है जिसमे ऐसे पारस्परिक व्यापारिक सम्बन्ध हो कि प्रत्येक व्यक्ति उन दरो से अवगत हो सके जिन पर दूसरे व्यक्ति समय-समय पर विभिन्न वस्तुओ और सेवाओ का विनिमय किया करते हैं'।[2]

जेवन्स (Jevons) ने अपनी पुस्तक 'Theory of Political Economy' म यह मत प्रकट किया है कि बाजार शब्द इस प्रकार साधारणीकृत कर दिया गया है कि उसका तात्पर्य व्यक्तियो के किसी समूह से है जिनमे व्यापारिक सम्बन्ध होते हैं और जो किसी वस्तु का विस्तृत व्यापार करते हैं।"[3]

चपमैन (Chapman) के अनुसार बाजार शब्द आवश्यक रूप से स्थान का बोध नहीं कराता बल्कि वस्तु अथवा वस्तुओं तथा क्रेताओ और विक्रेताओं का ज्ञान कराता है जिनमे पारस्परिक स्पर्द्धा रहती है। [4]

बेनहम (Benham) के शब्दों मे बाजार वह क्षेत्र है जहा क्रेताओ और विक्रेताओ मे प्रत्यक्ष अथवा व्यापारियों के द्वारा इस प्रकार का सम्बन्ध हो कि बाजार के एक भाग मे प्रचलित मूल्यों का बाजार के दूसरे भागों के मूल्य पर प्रभाव पडता हो।'[5]

---

1 Economists understand by the term market not any particular market place in which things are bought and sold but the whole of any region in which buyers and sellers are in such free intercourse with one another that the price of the same goods tend to equality easily and quickly

—*Cournot*

2 as a body of persons in such commercial relations that each can easily acquaint himself with the rates at which certain kinds of exchange of goods or services are from time to time made by the others

—*Sidgwick*

3 but the word has been generalised so as to mean any body of persons who are in intimate business relations and carry extensive transactions in any commodity

—*Jevons*

4 The term refers not necessarily to a place but always to a commodity or commodities and the buyers and sellers of the same who are in direct competition with one another

—*Chapman*

5 Any area over which buyers and sellers are in such a close touch with one another that the prices obtained in one part of the market affect the prices paid in other parts is called a market

—*Benham*

प्रो० केयनक्रास (Cairncross) के अनुसार अथशास्त्र मे बाजार से आशय सामान्यत क्रेताओ तथा विक्रेताओ के बीच किसी साधन अथवा वस्तु के लेन देन के तन्त्र या मशीनरी से होता है।[1]

स्टोनियर तथा हेग (Stonier and Hagu) ने भी बाजार की परिभाषा दी है। इनके अनुसार अथशास्त्र मे बाजार का तात्पर्य एक ऐसे सगठन से है जिसमे किसी वस्तु के क्रेता तथा विक्रेता एक दूसरे के निकट सम्पर्क मे रहते है।[2]

इस प्रकार विभिन्न अथशास्त्रियो ने बाजार की विभिन्न विशेषताओ पर जोर दिया है। उपयुक्त परिभाषाओ मे कूर्नो एव प्रैन्श की बात करते हैं जबकि जेवन्स ने केवल क्रेताओ तथा विक्रेताओ के पारस्परिक सम्बन्ध पर विशेष बल दिया है। इसी प्रकार अन्य अथशास्त्रियो मे सीगर ने भी स्थान शब्द पर जोर दिया है जबकि एली (Ely) के मत मे बाजार के लिए पारस्परिक स्पर्द्धा का होना अति आवश्यक है।

विस्तृत बाजार की दशाएँ या बाजार के विस्तार को प्रभावित करने वाले तत्त्व
(Conditions for a wide market or Factors affecting the extent of the market)

आधुनिक युग मे किसी भी वस्तु के बाजार को विस्तृत बनाने का प्रयत्न किया जाता है। अथशास्त्रियो ने इस सम्बन्ध मे ऐसी दशाओ का वणन किया है जो किसी वस्तु के विस्तृत बाजार होने के लिए आवश्यक हैं। यद्यपि प्रो० मेहता के मत मे व दशाएं अनावश्यक हैं क्योंकि उनके अनुसार बाजार एक दशा विशेष है तथा किसी दशा को विस्तृत या सकीर्ण कहना वास्तव मे निरथक है।" उनके अनुसार बाजार शब्द एक स्थिति का बोध कराता है जिसमे किसी वस्तु की माग उस स्थान पर होती है जहा पर वह बिक्री के लिए प्रस्तुत की जाती है[3] फिर भी इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि किसी भी वस्तु का बाजार विस्तृत या

---

1 The marke in economics is simply th net work of dealings in any factor or product between buyers and sellers

—*Cairncross*

2 By market economists mean any organisation whereby buyers and sellers of goods are kept in close touch with each other

—*Stonier and Hague*

3 The word market signifies a state in which a commodity has a demand at a place where it is offered for sale

—*J K Mehta*

संकुचित हो सकता है। व्यावहारिक जगत में हम यह देखते हैं कि कुछ वस्तुओं का बाजार संसार-व्यापी है तथा कुछ का केवल स्थानीय (Local)। किसी वस्तु विशेष के बाजार के विस्तृत होने के लिए निम्नलिखित दशाओं का होना आवश्यक है। इन दशाओं को दो भागों में बाटा जा सकता है

1 देश की आन्तरिक स्थिति (Conditions within a Country)

यदि देश में अनुकूल परिस्थितियाँ मौजूद होती हैं तो बाजार के विस्तार को प्रोत्साहन मिलता है। अनुकूल परिस्थितियों में निम्न बातें सम्मिलित होती हैं

(1) देश में शान्ति सुरक्षा तथा अच्छे शासन का होना (Peace security and good administration within country) यदि देश के अन्दर शान्ति और सुरक्षा नहीं है तो कोई भी वस्तु एक स्थान से दूसरे स्थान को सरलता पूर्वक नहीं भेजी जा सकती। किसी देश में शान्ति सुरक्षा तथा अच्छी शासन-व्यवस्था रहने पर वस्तुओं के बाजार का क्षेत्र विस्तृत होता है।

(2) परिवहन तथा संवाद वहन के साधनों का विकास (Developed means of transport and communications) संवाद-वहन तथा परिवहन के साधनों के विकसित होने पर वस्तुओं के सौदे करने तथा उनके स्थानान्तरण में सुविधा होती है। डाक-तार टेलीफोन आदि संचार वहन के साधन तथा सड़क रेल वायुयान जलयान आदि परिवहन के साधन सस्ते एवं द्रुतगामी होने से एक स्थान से दूसरे स्थान पर वस्तुओं के भेजने की लागत कम बैठती है। फलस्वरूप वस्तुओं का बाजार किसी राष्ट्र की सीमा तक ही सीमित नहीं रहता, वरन् वह अन्तर्राष्ट्रीय हो जाता है। वर्तमान में परिवहन साधनों में शीत भंडार युक्त सुविधाओं के उपलब्ध होने से शीघ्र सड़न गलने वाली वस्तुओं का बाजार भी विस्तृत होता जा रहा है।

(3) मुद्रा तथा साख प्रणाली (Currency and Credit System) उपयुक्त मुद्रा नीति विकसित बैंक तथा साख-व्यवस्था बाजार के विकास में सहायक होते हैं। यदि सरकारी साख एवं मुद्रा नीति स्थायी है तथा उसमें जनता का पूर्ण विश्वास है तो वस्तुओं का क्रय विक्रय दूर-दूर के स्थानों में बड़ी सरलता से किया जा सकता है। एक स्थान से दूसरे स्थान को धन भेजने के लिए भी सस्ती और सुरक्षित सुविधाओं के विकास ने बाजार के सामान्य विकास में बहुत योग दिया है। इस प्रकार वस्तुओं का बाजार विस्तृत होता है।

(4) सरकारी नीति (The Government Policy) सरकारी नीति भी बाजार के क्षेत्र को सीमित तथा विस्तृत बनाती है। सरकार निषेधात्मक कर लगाकर तथा कोटा (Quota) निश्चित करके किसी भी वस्तु के बाजार को सीमित

कर सकती है। इसी प्रकार यदि सरकारी नीति उदार है तो बाजारों का विस्तार होगा।

(5) **श्रम विभाजन** (Division of Labour) आधुनिक युग में श्रम विभाजन का अत्यधिक महत्त्व है। जहाँ पर जितना ही अधिक श्रम विभाजन होगा वहाँ वस्तुएँ उतनी ही सस्ती होंगी। परिणामस्वरूप उनकी मांग अधिक होगी और बाजार विस्तृत होगा।

(6) **विज्ञापन प्रदर्शनी आदि** (Advertisement Exhibitions etc.) उत्पादन प्रणाली में ज्यों ज्यों वैज्ञानिक साधनों का अधिकाधिक प्रयोग बढ़ता जा रहा है त्यों त्यों विज्ञापन का महत्त्व भी बढ़ता जा रहा है। जिन वस्तुओं का व्यवस्थित विज्ञापन होता है उनकी माग अधिक होती है। इस प्रकार विज्ञापन तथा प्रचार के अन्य साधनों की सहायता से बाजार को विस्तृत बनाया जा सकता है।

(7) **देश में कुशल तथा ईमानदार व्यापारियों का पाया जाना** (Efficient and Honest Business men) यदि देश के व्यापारी कुशल तथा ईमानदार हैं तो उपभोक्ता एवं उत्पादक निश्चित होकर वस्तुओं का लेन देन करेंगे। इस प्रकार वस्तुओं का बाजार विस्तृत होगा।

(8) **करों की प्रकृति एवं मात्रा** (Nature and Amount of Taxes) वस्तु के बाजार पर करों की प्रकृति एवं मात्रा का प्रभाव पड़ता है। सामान्यतया जहाँ अप्रत्यक्ष कर अधिक लगाये जायेंगे वहाँ वस्तुओं की मांग कम होगी। अन्य शब्दों में जहाँ वस्तुओं पर कर की मात्रा अधिक होगी वहां वस्तुओं की मांग कम होगी जिससे इनका बाजार भी संकुचित होगा।

2 **वस्तुगत गुण** (The Character of the Commodity)

किसी वस्तु के बाजार के विस्तृत होने के लिए केवल देश की आन्तरिक स्थिति का अनुकूल होना ही यथेष्ट नहीं है बल्कि उसके विस्तार पर वस्तु के आन्तरिक गुणों का भी विशेष प्रभाव पड़ता है। ये गुण निम्नलिखित हैं

(1) **वहनीयता** (Portability) जो वस्तुएं कम व्यय पर तथा सरलता पूर्वक स्थानान्तरणीय होती हैं उनका बाजार विस्तृत होता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि वस्तु का भार व आकार उसके मूल्य के अनुपात में कम हो। सोना चान्दी ऐसी वस्तुएं हैं जिनमें मूल्य के अनुपात में भार कम होता है। अत इनका बाजार विस्तृत होता है।

(2) **मांग की प्रकृति** (The Nature of Demand) किसी वस्तु की माग अधिक होने पर उसका बाजार भी विस्तृत होगा। इसके विपरीत मांग के सीमित होने पर बाजार संकुचित होगा। मांग में वृद्धि नियमित रूप से होनी चाहिए। परिवर्तनशील मांग होने पर अर्थात् मांग के घटते-बढ़ते रहने पर बाजार अधिक

विस्तृत नहीं होता। गेहूँ माना चादा एसी वस्तुएँ होनी हैं जिनकी माँग सभी जगह होती है। अत इनका बाजार व्यापक या अन्तर्राष्ट्रीय होना है।

(3) **टिकाऊपन** (Durability) शीघ्र न नष्ट होने वाली वस्तुओं का बाजार विस्तृत होता है। इन वस्तुओं को अधिक दिनों तक रखा जा सकता है तथा उन्हें दूर-दूर के स्थानों को भेजा जा सकता है। शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुओं जैसे साग सब्जी फल दूध मछली आदि का बाजार विस्तृत नहीं होता। यद्यपि आजकल पैकिंग तथा शीत भण्डारण (Cold Storage) पद्धतियों तथा प्रशीतन यन्त्रों की सहायता से वस्तुओं के टिकाऊपन में वृद्धि करके उनके बाजार को विस्तृत बना लिया जाता है।

(4) **श्रेणीयन तथा प्रमापीकरण के योग्य होना** (Suitability for Grading Sampling etc) यदि किसी वस्तु के नमूने अच्छी प्रकार के बनाये जा सकते हैं तो उन्हें दूर के व्यवसायियों के पास भेजा जा सकता है और वे उन्हें आसानी से क्रय कर सकते हैं। इसी प्रकार वस्तु ऐसी होनी चाहिए जिसका वितरण सरलतापूर्वक किया जा सके। इन सुविधाओं के होने से क्रेता को वस्तु का चुनाव करने के लिए उसके उत्पादन-स्थान पर नहीं जाना पड़ेगा। नमूने भेज कर तथा वस्तुओं के व्यापारिक चिह्न (Trade Marks) निर्धारित करके ग्राहकों को वस्तुओं की जानकारी करायी जा सकती है। ऊनी कपड़े कपास गेहूँ आदि के अलग अलग नमूने तथा ग्रेड बनाये जा सकने के कारण इनका बाजार विस्तृत होता है। इसके विपरीत दूध साग सब्जी आदि के गुण या नमूने बनाना सम्भव न होने के कारण इनका बाजार सीमित होता है।

(5) **अधिक मात्रा में पूर्ति** (Large Supply) यदि किसी वस्तु की पूर्ति उसकी माँग के अनुसार शीघ्र बढ़ायी जा सकती है तो उसका बाजार विस्तृत होगा। इसके विपरीत स्थिति में उसका बाजार सीमित होगा। उदाहरणार्थ एक कलाकार के चित्रों की माँग का क्षेत्र प्राय सकुचित होता है क्योंकि इनकी पूर्ति अल्प मात्रा में होती है।

(6) **स्थानापन्न वस्तुओं की मात्रा** (Number of Substitutes) जिस वस्तु की जितनी अधिक स्थानापन्न वस्तुएँ होती हैं उस वस्तु का बाजार उतना ही सकुचित होगा क्योंकि ऐसी वस्तु के मूल्य में थोड़ी सी वृद्धि होने पर ही उसके स्थानापन्नों का प्रयोग होने लगता है।

(7) **अनेक उपयोग** (Multiplicity of Uses) यदि किसी वस्तु का उपयोग अनेक प्रकार से किया जा सकता है अथवा अनेक उपयोगों में काम में लाया जा सकता है तो उसका बाजार विस्तृत हो जाता है। इसके विपरीत जिस वस्तु का एक ही प्रयोग होता है तो उसका बाजार सीमित होता है। गेहूँ सोने चाँदी ऊन कपास के अनेक उपयोग होने के कारण ही इनका बाजार विस्तृत होता है।

बाजार का वर्गीकरण
(Types of Markets)

बाजार कई प्रकार के होते हैं। सुविधा की दृष्टि से बाजार को चार मुख्य श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है (1) स्थान या क्षेत्र के अनुसार (2) समय के अनुसार (3) कार्य के अनुसार तथा (4) परिस्थितियों या प्रतियोगिता के अनुसार। इसे हम निम्न तालिका द्वारा भी स्पष्ट कर सकते हैं

बाजार का वर्गीकरण
(Classification of Market)

(1) स्थान या क्षेत्र के अनुसार	(2) समयानुसार	(3) कार्यानुसार	(4) प्रतियोगिता या परिस्थितियों के अनुसार
(i) कौटुम्बिक बाजार	(i) दैनिक बाजार	(i) सामान्य या मिश्रित बाजार	(i) पूर्ण बाजार
(ii) स्थानीय बाजार	(ii) अल्पकालीन बाजार	(ii) विशिष्ट बाजार	(ii) अपूर्ण बाजार
(iii) राष्ट्रीय बाजार	(iii) दीर्घकालीन बाजार	(iii) नमूनों द्वारा बाजार	
(iv) प्रान्तीय या राज्य बाजार		(iv) श्रेणियों के आधार पर बाजार	
(v) अन्तर्राष्ट्रीय बाजार			
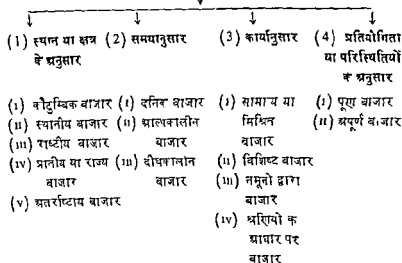
(1) स्थान या क्षेत्र के अनुसार वर्गीकरण
(According to Place or Region)

स्थान या क्षेत्र के अनुसार बाजार के वर्गीकरण को उसका भौगोलिक विकास (Geographical Evolution) कहा जाता है। इसके अन्तर्गत जब वस्तुओं का विनिमय किसी परिवार के सदस्यों तक ही सीमित रहता है तब इसे **कौटुम्बिक बाजार** (Family Market) कहा जाता है। परन्तु यदि किसी वस्तु के क्रेताओं तथा विक्रेताओं के विनिमय कार्य या उनकी व्यापारिक क्रियाएं किसी एक स्थान विशेष नगर या ग्राम तक ही सीमित हो तब उस वस्तु के बाजार को **स्थानीय बाजार** (Local Market) कहा जायगा। ऐसे बाजार के क्रेता व विक्रेता उसी स्थान के होते हैं। **राष्ट्रीय बाजार** (National Market) उस बाजार को कहा जाता है जबकि किसी वस्तु का क्रय विक्रय किसी स्थान प्रान्त या राज्य तक सीमित न

होकर देश व्यापी होता है। परन्तु इसका विस्तार देश की सीमाओं तक ही सीमित होता है। इसके अन्तर्गत भी जब किसी वस्तु का क्रय विक्रय किसी नगर या ग्राम की सीमाओं को पार कर किसी प्रान्त (Province) या राज्य (State) की सीमाओं तक ही सीमित रहता है तब इसे **प्रान्तीय या राज्य बाजार** (Provincial or State Market) कहा जायगा। अन्त में जब किसी वस्तु का क्रय विक्रय विश्व के विभिन्न भागों में किया जाता है तथा उसके क्रेता तथा विक्रेता सम्पूर्ण संसार में फैले होते हैं तब ऐसी वस्तु का बाजार अन्तर्राष्ट्रीय व विश्वव्यापी (International Market) कहलाता है। ऐसे बाजार में विश्व के सभी क्रेताओं तथा विक्रेताओं में पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा होती है।

(2) समयानुसार वर्गीकरण (According to Time)

समय के अनुसार बाजारों का वर्गीकरण दैनिक (Daily) **अल्पकालीन** (Short Period) तथा **दीर्घकालीन** (Long Period) बाजारों में किया जा सकता है। **दैनिक बाजार** में किसी वस्तु के क्रय विक्रय की क्रियाएं कुछ ही घण्टों या एक दो दिनों तक ही की जाती हैं। ऐसा बाजार वास्तव में अति अल्पकालीन होता है। इसमें माग के अनुसार पूर्ति में वृद्धि नहीं की जा सकती। **अल्पकालीन बाजार** (Short Period Market) का समय दैनिक बाजार के समय से कुछ अधिक लम्बा होता है। प्राय इसका समय कुछ महीनों या एक वर्ष तक रहता है। अल्पकालीन बाजार में दैनिक बाजार की अपेक्षा पूर्ति में वृद्धि कुछ सीमा तक ही की जा सकती है। परन्तु अधिक समय न होने के कारण उपलब्ध उत्पादन साधनों का अधिकतम प्रयोग तथा विदेशों से वस्तुओं का आयात करके सामयिक माग की पूर्ति कर दी जाती है। परन्तु इस काल में पूँजी निर्माण सम्भव न हो सकने के कारण निरन्तर बढ़ती हुई माग के अनुसार पूर्ति में वृद्धि नहीं हो पाती। इसीलिए यह कहा जाता है कि अल्पकालीन बाजार में यद्यपि माग की पूर्ति का समन्वय कुछ समय के लिए सम्भव हो पाता है फिर भी बाजार मूल्य निर्धारण में पूर्ति की अपेक्षा माग का अधिक महत्त्व होता है। इस बाजार में प्राय वस्तु का बाजार मूल्य उत्पादन लागत के लगभग बराबर या कम होता है। इसके विपरीत **दीर्घकालीन बाजार** (Long Period Market) में समय सीमित नहीं होता। यह महीनों तथा वर्षों तक चलता रहता है। इस बाजार में उत्पादन साधनों को अधिक विकसित करके तथा पूँजी निर्माण द्वारा पूर्ति में अत्यधिक वृद्धि की जा सकती है। फलस्वरूप इस बाजार में माग की अपेक्षा पूर्ति मूल्य निर्धारण में महत्वपूर्ण मानी जाती है। वस्तु बाजार में उत्पादकों को बढ़ती हुई माग से लाभ होता है क्योंकि इसमें जब तक उत्पादन साधनों तथा पूँजी का स्थायी रूप में विकास नहीं हो जाता तब तक वस्तु का मूल्य ऊंचा रहेगा। कीमत उत्पादन-लागत के बराबर होती है। दीर्घकालीन बाजार मूल्य को ही सामान्य मूल्य' (Normal Price) कहते हैं।

(3) कार्यानुसार वर्गीकरण (According to Functions)

(i) सामान्य अथवा मिश्रित बाजार (General or Mixed Market) इस प्रकार के बाजार में विविध प्रकार की वस्तुओं का क्रय विक्रय किया जाता है।

(ii) विशिष्ट बाजार (Specialized Market) प्रत्येक वस्तु के बाजार को विशिष्ट बाजार कहा जाता है क्योंकि उसमें उस वस्तु विशेष के ही विभिन्न प्रकारों का क्रय विक्रय किया जाता है उदाहरणार्थ सर्राफा या सोने चाँदी का बाजार अनाज मण्डी अंश बाजार आदि।

(iii) नमूनों द्वारा बिक्री (Marketing by Samples) वस्तुओं के प्रमापित होने पर जब उनके नमूने तैयार करने में सुविधा होती है तब उनका क्रय विक्रय नमूनों के आधार पर ही किया जाता है। अतः ऐसे बाजार नमूनों द्वारा बिक्री के बाजार कहलाते हैं।

(iv) श्रेणियों के आधार पर बिक्री (Marketing by Grades) जिन वस्तुओं को श्रेणीबद्ध करके उनके गुणों तथा उनकी किस्मों के आधार पर वर्गीकृत करने तथा किस्मों और श्रेणियों के आधार पर विक्रय में सुविधा होती है उनका विक्रय उनके नामों या चिह्नों के आधार पर ही होता है। इस विधि द्वारा खरीद व बिक्री होने पर क्रेता वस्तु के नमूने नहीं देखता।

(4) परिस्थितियों तथा प्रतियोगिता के आधार पर
(On the Basis of Competition)

प्रतियोगिता के आधार पर किसी बाजार को पूर्ण बाजार (Perfect Market) तथा अपूर्ण बाजार (Imperfect Market) में वर्गीकृत किया जा सकता है। पूर्ण बाजार का अभिप्राय ऐसे बाजार से है जिसमें क्रेता तथा विक्रेता बड़ी संख्या में होते हैं तथा उनमें पूर्ण एवं स्वतंत्र प्रतिस्पर्द्धा होती है जिसके फलस्वरूप बाजार में एक वस्तु का एक ही मूल्य प्रचलित होता है। इसके विपरीत अपूर्ण बाजार में ये दशाएँ नहीं पायी जातीं। एडम स्मिथ तथा उनके अनुयायियों ने पूर्ण बाजार की कल्पना की थी परन्तु व्यावहारिक रूप से पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा नहीं पायी जाती है। अतः यह कहा जाता है कि पूर्ण बाजार का अस्तित्व काल्पनिक है।

प्रश्न व संकेत

1 बाजार से आपका क्या आशय है ? किसी वस्तु के बाजार के विस्तार को निर्धारित करने वाली कौन कौन सी बातें हैं ? स्पष्ट कीजिए।
What do you mean by Market ? Mention the factors which determine the size of the market of a commodity

(संकेत—प्रश्न के प्रथम भाग म एक या दो परिभाषाएं देकर बाजार का अर्थ स्पष्ट कीजिए तथा दूसरे भाग मे बाजार के प्राकार को प्रभावित करने वाले घटको का उल्लेख कीजिए।)

2 बाजार शब्द की परिभाषा दीजिए तथा आर्थिक बाजारो की विभिन्न दृष्टिकोणो से उनकी विशेषताएँ बतलाते हुए वर्गीकरण कीजिए।

Define the term market Classifyeconomic markets from various points of view bringing out clearly the characteristic features of different markets

(संकेत—प्रथम भाग का उत्तर प्रथम प्रश्न क पहले भाग के अनुसार द तथा विभिन्न आधारो पर बाजारो का वर्गीकरण उनकी विशेषताओ को उल्लेख करते हुए द।)

29

बाजार की विभिन्न स्थितियाँ

(Different Market Situations)

कोई फर्म किसी वस्तु का कितना उत्पादन करेगी तथा बाजार में वह वस्तु किस मूल्य पर बेची जायगी, ये बातें बाजार के रूप या उसकी स्थितियों (Situations) पर निर्भर करती हैं। वस्तुओं की प्रकृति, क्रेताओं तथा विक्रेताओं की संख्या तथा उनमें पारस्परिक सहयोग एवं निर्भरता आदि अनेक बातें बाजार के स्वरूप को निर्धारित करती हैं। बाजार के स्वरूपों की दो सीमाएँ हैं—एक ओर पूर्ण प्रतियोगिता (*Perfect Competition*) तथा दूसरी ओर एकाधिकार (*Monopoly*) इन दोनों स्थितियों के बीच अन्य कई अवस्थाएँ पायी जाती हैं। मुख्य रूप से बाजार की तीन स्थितियाँ होती हैं जैसा कि नीचे स्पष्ट किया गया है
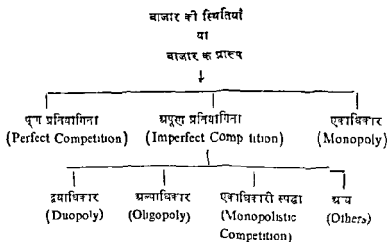
बाजार की उपर्युक्त विभिन्न स्थितियों में मूल्य किस प्रकार प्रभावित होता है? इस बात की जानकारी करने से पूर्व यह आवश्यक है कि स्पर्द्धा या प्रतियोगिता (Competition) शब्द का आर्थिक अभिप्राय जान लिया जाय।

स्पर्द्धा के लिए स्टिगलर (Stigler) ने तीन शर्तें दी हैं (i) प्रत्यक आर्थिक इकाई इतनी छोटी होनी है कि उसका प्रभाव मूल्य पर बहुत कम पडता है (ii) सरकार या व्यक्तिगत सस्थाओं द्वारा उत्पादन के साधना के पूर्ण उपयोग पर किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं लगाया जाता है तथा (iii) एक ही प्रकार के प्रत्यक साहसी को वस्तु के मूल्य का पूर्ण ज्ञान रहना है और उसे अपने लाभ की जानकारी रहती है। बाजार के रूप स्पर्द्धा या प्रतियोगिता की इन शर्तों पर निभर करते हैं जसा कि बाजार की विभिन्न स्थितियों के निम्नलिखित विवेचन से स्पष्ट है।

पूर्ण स्पर्द्धा या प्रतियोगिता (Pure or Perfect Competition)

जसा कि पहले स्पष्ट किया गया है बाजार के रुपो की दो सीमाओ मे एक ओर पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति होती है। 'पूर्ण स्पर्द्धा या प्रतियोगिता' शब्द का प्रयोग अंग्रेज अर्थशास्त्रियो द्वारा किया गया है। कुछ अमरिकन अर्थशास्त्रियो द्वारा पूर्ण स्पर्द्धा तथा शुद्ध स्पर्द्धा (Pure Competition) म भेद किया है और वे पूर्ण स्पर्द्धा की अपेक्षा शुद्ध स्पर्द्धा शब्द का प्रयोग करना अधिक पसन्द करते हैं। परन्तु वस्तु स्थिति यह है कि पूर्ण स्पर्द्धा म शुद्ध स्पर्द्धा की भावना पूर्णतया निहित है। फिर भी इन दोनो मे भेद स्पष्ट करने के लिए इनकी निम्नलिखित परिभाषाओ एव विशेषताओ का उल्लेख किया गया है

पूर्ण प्रतियोगिता की परिभाषा (Definition of Perfect Competition)

पूर्ण प्रतियोगिता का अभिप्राय बाजार की उस स्थिति से है जिसमें किसी वस्तु का मूल्य एक ही होता है क्योंकि कोई भी क्रेता या विक्रेता व्यक्तिगत रूप से बाजार मूल्य को प्रभावित नहीं कर सकता है। श्रीमति जोन रोबिन्सन (Mrs Joan Robinson) के शब्दो मे पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति उस समय पायी जाती है जबकि प्रत्येक उत्पादक के उत्पादन की माँग पूर्णतया लोचदार होती है। इसका तात्पर्य है प्रथम विक्रेताओ की सख्या बहुत अधिक होनी है जिससे कि किसी एक विक्रेता (उत्पादक) का उत्पादन वस्तु के कुल उत्पादन का एक बहुत ही थोडा अंश होना है तथा द्वितीय सभी क्रेता प्रतियोगी विक्रेताओ के मध्य चुनाव करने की दृष्टि से समान होते हैं जिससे बाजार पूर्ण हो जाता है।[1]

---

1 Perfect competition prevails when the demand for the output of each producer is perfectly elastic This entails first that the numb r of sellers is large so that the output of any one seller is negligibly small proportion of the total output of the commodity and second that buye s are all alike in respect of their choice between rival selle s so that the ma ket is perfect"

—*Mrs Joan Robinson*

पूर्ण प्रतियोगिता की विशेषताएँ

पूर्ण प्रतियोगिता की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं। अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति के लिए निम्नलिखित दशाओं का होना आवश्यक है

(i) स्वतन्त्र रूप से कार्य करते वाले क्रेताओं तथा विक्रेताओं का अधिक संख्या में होना पूर्ण प्रतियोगिता में स्वतन्त्र रूप से कार्य करने वाले क्रेताओं तथा विक्रेताओं की संख्या बहुत ही अधिक होती है। उनके व्यवसाय का आकार बहुत ही छोटा होता है। यही कारण है कि उनके द्वारा किया गया उत्पादन कुल उत्पादन का इतना थोड़ा भाग होता है कि वह उसमें कमी या वृद्धि करके भी वस्तु के बाजार मूल्य को प्रभावित नहीं कर सकता। इसी प्रकार प्रत्येक क्रेता बाजार में कुल पूर्ति का इतना कम भाग खरीदता है कि उसके द्वारा क्रय की गयी मात्रा में कमी या वृद्धि होने पर भी बाजार मूल्य पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता। इससे यह स्पष्ट है कि पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में बाजार में मूल्य निर्धारण सभी क्रेताओं तथा विक्रेताओं की व्यापारिक क्रियाओं के सम्मिलित प्रभाव से होता है तथा एक मूल्य के निश्चित हो जाने पर उसमें परिवर्तन कठिन हो जाता है।

स्वतन्त्र रूप से कार्य करने का अभिप्राय यह है कि क्रेताओं तथा विक्रेताओं में कोई पारस्परिक समझौता या गुप्त सन्धि नहीं होती। यही कारण है कि व्यक्तिगत रूप से व्यापार करते हुए बाजार मूल्य को प्रभावित करने में असमर्थ रहते हैं। परन्तु इस सम्बन्ध में यह ध्यान रहे कि यद्यपि क्रेता अथवा विक्रेता व्यक्तिगत रूप से वस्तु की कुल माँग या पूर्ति में कमी या वृद्धि करके उसके मूल्य को प्रभावित नहीं कर सकता फिर भी एक प्रतियोगी उद्योग में समस्त उत्पादक सामूहिक रूप से कुल उत्पादन की मात्रा में कमी या वृद्धि करके बाजार मूल्य को प्रभावित कर सकते हैं। इसी प्रकार क्रेता भी एक समूह के रूप में वस्तु की कुल माँग की मात्रा में कमी या वृद्धि करके बाजार मूल्य को प्रभावित करने में समर्थ होते हैं।

(ii) विक्रय की जाने वाली वस्तु का प्रमाणित तथा एक रूपी होना (Standardised and Homogenous Commodity) उत्पादित या विक्रय की जाने वाली वस्तु प्रमाणित तथा एक सी होनी चाहिए। इसके साथ ही साथ यह भी आवश्यक है कि विक्रेताओं तथा उत्पादकों में एकरूपता होनी चाहिए अर्थात् वस्तु विभेद अथवा उनके स्थान उनकी ख्याति अथवा उनके व्यक्तित्व में अन्तर होने के कारण क्रेता को एक विक्रेता की अपेक्षा दूसरे विक्रेता को पसन्द करने का अवसर नहीं मिल सके। वस्तु की इकाइयों के एकरूप होने पर तथा विक्रेताओं की स्थिति समान होने पर वस्तु विभेद (Product differentiation) का प्रश्न नहीं उठता तथा क्रेता वस्तु की सभी इकाइयों तथा सभी विक्रेताओं को समान महत्व देते हैं। इस प्रकार क्रेता के दृष्टिकोण से सभी विक्रेताओं अथवा फर्मों की वस्तुओं की इकाइयाँ एक दूसरे की पूर्ण स्थानापन्न होती हैं। इससे यह स्पष्ट है कि ऐसी वस्तु का मूल्य किसी विक्रेता के द्वारा यदि थोड़ा सा भी बढ़ा दिया गया तो उसके सभी

ग्राहक किसी अन्य विक्रेताओं के पास चले जायेंगे। विक्रेता प्रचलित मूल्य पर ही अपनी वस्तु को बेच कर लाभ कमाता है अतः वह उसके मूल्य को कम भी नहीं करता।

(iii) बाजार का पूर्ण ज्ञान *क्रेताओं तथा विक्रेताओं को बाजार की अवस्था का पूर्ण ज्ञान होता है।* इसका अर्थ यह है कि क्रेताओं तथा विक्रेताओं को बाजार में प्रचलित मूल्यों की जानकारी होनी चाहिए। यह उसी समय सम्भव हो सकता है जबकि क्रेताओं तथा विक्रेताओं में निकट सम्पर्क होता है। निकट सम्पर्क होने पर ही यह भी ज्ञात हो सकता है कि क्रेता तथा विक्रेता किस मूल्य पर किसी वस्तु को खरीदने अथवा बेचने के लिए तत्पर है।

(iv) फर्मों का स्वतंत्र प्रवेश व बहिर्गमन पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में *नए उत्पादकों या फर्मों को उद्योग में प्रवेश करने अथवा उसमें हटने की पूर्ण स्वतंत्रता होती है।* इसका प्रभाव यह पड़ता है कि फर्मों या उद्योगपतियों को उत्पादन के साधनों पर एकाधिकार प्राप्त करके वस्तु की पूर्ति पर एकाधिकार प्राप्त नहीं हो पाता है। इसके साथ ही फर्मों के प्रवेश व बहिर्गमन का प्रभाव लाभ पर भी नहीं पड़ता है। दीर्घकाल में फर्मों को सामान्य लाभ ही प्राप्त होता है।

(v) नियंत्रण एवं प्रतिबन्ध का अभाव किसी भी फर्म की व्यावसायिक क्रियाओं पर किसी प्रकार का नियंत्रण अथवा प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए। उत्पादन साधनों में गतिशीलता होनी चाहिए।

(vi) सभी उत्पादकों या फर्मों का निकट होना स्टोनियर व हेग ने पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति के लिए यह माना है कि समस्त उत्पादक एक दूसरे के काफी *समीप होने चाहिए जिससे उनकी कोई परिवहन लागत न हो।* इससे बाजार मूल्य एक ही रहेगा। प्रो. मार्शल ने परिवहन लागत तक के अन्तर तक की स्थिति को भी पूर्ण प्रतियोगिता की संज्ञा दी है।

(vii) क्रेताओं एवं विक्रेताओं का निष्पक्ष प्रकृति का होना (Unbiased Nature of buyers and Sellers) पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति के लिए यह आवश्यक है कि क्रेताओं और विक्रेताओं के बीच किसी प्रकार का लगाव या मोह तथा वरीयता (Preference) नहीं होनी चाहिए। उन्हें केवल मूल्य से लगाव होना चाहिए। वे ऐसे विक्रेता से क्रय करेंगे जो कम से कम मूल्य लेना चाहता हो और विक्रेता भी ऐसे क्रेता को बेचेंगे जो अधिकतम मूल्य देना चाहता है। उनमें निष्पक्षता की प्रवृत्ति होनी चाहिए जो पूर्ण *प्रतियोगिता का अविभाज्य अंग है।*

(viii) औसत आय एवं सीमान्त आय दोनों ही बराबर होते हैं (Average Revenue and Marginal Revenue are always equal) बाजार की पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में कोई भी विक्रेता एक दिए हुए मूल्य पर उपज की जितनी

भी मात्रा बेच सकता है और चूंकि पूर्णप्रतियोगिता के बाजार में किसी वस्तु का मूल्य सभी जगह एक समान होता है अतः इस स्थिति में औसत आय एवं सीमान्त आय हमेशा समान होती है और ये कीमत के बराबर होती हैं अर्थात् इस स्थिति में मूल्य औसत आय एवं सीमान्त आय तीनों बराबर होते हैं। अन्य शब्दों में P=AR =MR का परिचायक है।

शुद्ध स्पर्द्धा या परमाणवादी प्रतियोगिता

(Pure Competition or Atomistic Competition)

चैम्बरलिन ने शुद्ध स्पर्द्धा तथा पूर्ण स्पर्द्धा में भेद किया है। शुद्ध स्पर्द्धा उस **अवस्था को कहते हैं जिसमें एकाधिकार (Monopoly) का कोई लक्षण या तत्त्व नहीं पाया जाता।** कुछ अर्थशास्त्री इस प्रकार की स्पर्द्धा या प्रतियोगिता के लिए **'परमाणवादी प्रतियोगिता'** (Atomistic competition) शब्द का प्रयोग करते हैं।[1]

शुद्ध प्रतियोगिता के लिए पूर्ण प्रतियोगिता की तीन दशाओं का होना ही आवश्यक है। इन दशाओं को शुद्ध स्पर्द्धा की विशेषताएं कहा जा सकता है। ये दशाएं हैं

(i) स्वतन्त्र रूप से कार्य करने वाले क्रेताओं तथा विक्रेताओं की संख्या अधिक होनी है (ii) विक्रय की जाने वाली वस्तु प्रमापित एवं एकरूप होती है तथा वस्तु विभेद नहीं होता तथा [iii] उद्योग में फर्मों का आगमन अथवा उसमें से उनके निगमन पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता। वे उद्योग में प्रवेश करने अथवा उसमें बाहर चले जाने के लिए स्वतन्त्र होती है।

पूर्ण स्पर्द्धा तथा शुद्ध स्पर्द्धा में अन्तर पूर्ण स्पर्द्धा तथा शुद्ध स्पर्द्धा की उपयुक्त विशेषताओं से स्पष्ट है कि शुद्ध स्पर्द्धा तथा पूर्ण स्पर्द्धा में कोई विशेष मौलिक अन्तर नहीं है। शुद्ध स्पर्द्धा में भी पूर्ण स्पर्द्धा की तीन दशाएँ निहित हैं। यही कारण है कि दोनों की मात्रा में ही अन्तर[2] अर्थात् शुद्ध स्पर्द्धा की स्थिति अधिक सरल एवं कम विस्तृत है जबकि पूर्ण स्पर्द्धा अधिक विस्तृत है। पूर्ण स्पर्द्धा की ही तरह क्रेता तथा विक्रेता व्यक्तिगत रूप से मूल्य प्रभावित नहीं कर सकते। दोनों ही स्थितियों में उत्पादक या फर्म की कोई मूल्य नीति नहीं होती। उत्पादक या विक्रेता प्रचलित मूल्य के अनुसार ही अपनी उत्पादन मात्रा का समायोजन करता है। वह मूल्य निर्धारक न होकर मूल्य ग्रहण करने वाला ही होता है।

---

1 An absence of friction in the sense of an ideal fluidity or mobility of factors such that adjustment to changing conditions which actually involve time are accomplished instantaneously in theory

—*Chamberlin*

चम्बरलिन (Chamberlin) ने पूर्ण स्पर्द्धा उस स्थिति को बतलाया है जिसमे घर्षण (friction) का अभाव होता है अर्थात् उसमे साधनो का ऐसा बहाव होता है या ऐसी गतिशीलता होती है कि परिवर्तनशील दशाओ के साथ सैद्धान्तिक रूप से तत्क्षण ही समायोजन हो जाता है जिसमे कि वास्तव मे काफी समय लगता है। ऐसे बाजार मे अपूर्णताओं (Imperfection) का अभाव रहता है। बाजार सम्बन्धी अपूर्णताएँ दो प्रकार की होती हैं

(अ) बाजार के सम्बन्ध मे ज्ञान का अभाव बाजार सम्बन्धी ज्ञान का अभाव सामान्य उत्पादकों मे होता है। वे अपने साधनो के उचित तथा अनुकूलतम अनुपात मे उपयोग के विषय मे ज्ञान नही रखते।

(ब) उत्पादन के साधनों मे गतिशीलता का अभाव नये साधनो के प्रवेश पर रोक लगाने से उनकी गतिशीलता समाप्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त कुछ उत्पादक विशेष प्रकार के साधनो के नवीन प्रयोगो के विषय मे जानकारी नही रखते जिससे उत्पादन अधिक मात्रा मे सम्भव होता।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि पूर्ण स्पर्द्धा मे उत्पादन के साधनो की स्वतन्त्र गतिशीलता होती है, जबकि शुद्ध स्पर्द्धा में इस प्रकार की गतिशीलता का अभाव होता है। पूर्ण स्पर्द्धा मे किसी विक्रेता की अपनी मूल्य-नीति नही होती। एक व्यक्तिगत फर्म की विक्रय की तालिका या माँग रेखा बिल्कुल सीधी होती है। इसका अर्थ यह है कि फर्म किसी भी मात्रा मे अपनी वस्तु को बाजार मूल्य पर बेच सकती है। इसी प्रकार व्यक्तिगत रूप से क्रेता भी केवल मूल्य से प्रभावित होता है। क्रेता का सम्बन्ध किसी विक्रेता विशेष से नहीं होता क्योंकि सभी वस्तुएँ समान होती हैं।

क्या पूर्ण प्रतियोगिता एक कल्पना मात्र है ?
(Is Perfect Competition a Myth ?)

पूर्ण प्रतियोगिता या विशुद्ध प्रतियोगिता की प्रमुख विशेषताओं के अध्ययन से हमें यह मालूम होता है कि वास्तविक जीवन में पूर्ण प्रतियोगिता की शर्तें दृष्टिगोचर ही नहीं होती। पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति एक कल्पना मात्र है तथा मिथ्या धारणा है। पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति के काल्पनिक होने के निम्न कारण हैं

1 सम्पूर्ण बाजारों में क्रेताओं तथा विक्रेताओं की संख्या बहुत अधिक नहीं होती वास्तविक जीवन में ऐसी अनेक स्थितियाँ मिलती हैं जहाँ एक ही ग्राहक या विक्रेता मूल्य को काफी हद तक प्रभावित कर सकता है। सवारों के बाजार में तो प्रायः यही दृष्टिगत होता है कि अकेला समायोजक अपनी मनमानी कर लेता है।

2 **वस्तुओं मे समरूपता नहीं होती** व्यावहारिक जगत म किन्हीं दो उत्पादको द्वारा उत्पादित वस्तुए एक समान नहीं होती। आधुनिक युग म उत्पादक विज्ञापन तथा प्रचार द्वारा अपनी अपनी वस्तुओ के सम्बन्ध म क्रेताओ के विचार म वस्तु विभेद उत्पन्न करता है। इसके परिणामस्वरूप विक्रेताओ द्वारा बिक्री हेतु प्रस्तुत की गई सभी वस्तुओ म क्रेता समानता नही पाता तथा वह विशेष उत्पादको द्वारा उत्पादित वस्तुओ को प्राथमिकता प्रदान करने लगता है।

3 **क्रेताओ और विक्रेताओ को बाजार की पूर्ण जानकारी नहीं होती** परिवहन एव सन्देशवाहन के साधनो म पर्याप्त विकास के बावजूद क्रेताओ और विक्रेताओ को बाजार का पूर्ण ज्ञान नहीं होता। न तो क्रेता और विक्रेता अधिक निकट सम्पर्क म रहते हैं और न ही वे निष्पक्ष होकर क्रय विक्रय करते हैं। इसी लिए क्रय और विक्रय मूल्यो म भारी अन्तर पाया जाता है।

4 **किसी उद्योग विशेष में फर्मों का प्रवेश व बहिर्गमन स्वतन्त्र नहीं होता** व्यावहारिक जीवन म हम देखते हैं कि कोई भी फर्म चाहे जब उत्पादन काय म न तो प्रवेश कर सकती है और न ही छोड सकती है। सरकारी नीतिया श्रम सघो तथा उत्पादक सघो द्वारा फर्मों के आवागमन म बाधा डाल सकते हैं।

5 **प्रथाओ तथा लगाव के कारण ग्राहकों तथा विक्रेताओं चुनाव मे बाधा**—ग्राहक स्वाभाविक रूप स ही उन दूकानो पर माल क्रय करते है जहाँ से वे पहले से ही खरीदते आये हैं और वे इस बात की भी परवाह नहीं करते कि दूसरे विक्रेता किस मूल्य पर वस्तु बेच रहे हैं।

6 **उत्पादन के साधनों मे पूर्ण गतिशीलता असम्भव** उत्पादन के विभिन्न साधनो के विभिन्न उद्योगो म गतिशीलता पर तकनीकी सामाजिक भाषा धर्म आर्थिक तथा मनोवैज्ञानिक बाधाओ का प्रभाव पडता है। एक दूसरे स्थान की भौगोलिक परिस्थितिया भी बाधा डालती हैं। अत पूर्ण प्रतियोगिता म साधनो की पूर्ण गतिशीलता भी केवल मिथ्या धारणा है।

7 **आर्थिक क्षेत्र मे सरकार का बढता हुआ हस्तक्षेप** आधुनिक युग म सरकार का भी आर्थिक क्षेत्र म हस्तक्षेप बढता जा रहा है। पूजीवादी राष्ट्रो म भी राज्य का आर्थिक क्षेत्र म बढता हुआ हस्तक्षेप पूर्ण प्रतियोगिता म स्वतन्त्रता की धारणा को झूठा कर देता है। आज सरकार सुनियोजित ढग स साधनो का आवटन करती है मूल्यो का नियन्त्रण करती है तथा क्रेताओ और विक्रेताओ की स्वतन्त्र प्रक्रिया पर नियन्त्रण रखती है। अत पूर्ण प्रतियोगिता की कल्पना वास्तविकता स दूर है।

उपर्युक्त कारणो से स्पष्ट विदित होता है कि वास्तविक जीवन म पूर्ण प्रतियोगिता एक कोरी कल्पना मात्र ही होती है। किन्तु यद्यपि पूर्ण प्रतियोगिता काल्पनिक या मिथ्या धारणा है किन्तु इसका आशय यह नहीं है कि यह बेकार है।

आन्तरिक विश्लेषण में इसका अध्ययन महत्त्वपूर्ण है। वास्तव में यह प्रतियोगिता की चरम सीमा है तथा एक आदर्श स्थिति को व्यक्त करती है। इसकी सहायता से हम वास्तविक परिस्थितियों के विषय में इस बात का अनुमान लगा लेते हैं कि वे आदर्श से कितनी दूर है और इस कारण उनमें कितने दोष आ गये हैं तथा इन दोषों को उपयुक्त उपायों से कहाँ तक हटाया जा सकता है।

एकाधिकार
(Monopoly)

एकाधिकार (Monopoly) में दो शब्द हैं — *Mono* + *Poly*। *Mono* का अर्थ है एक और *Poly* का अर्थ है उत्पादक अतः Monopoly का शाब्दिक अर्थ है— एक उत्पादक। इस प्रकार एकाधिकार में एक ही उत्पादक होता है या वस्तु की पूर्ति उत्पादकों के एक समूह के हाथ में होती है जिससे वे वस्तु की कीमत पर प्रत्यक्ष प्रभाव रखते हैं। इस आधार पर ही एकाधिकार पूर्ण स्पर्द्धा से भिन्न है। एकाधिकार की स्थिति में फर्म तथा उद्योग एक ही होता है। ऐसे एकाधिकार को पूर्ण (Absolute) या शुद्ध (Pure) एकाधिकार कहते हैं। एकाधिकार की दूसरी विशेषता यह होती है कि एकाधिकारी ऐसी वस्तु का उत्पादन करता है जिसकी स्थानापन्न वस्तु (Substitute) नहीं मिलती। एकाधिकारी के अधिकार बहुत से होते हैं। पूर्ति या मूल्य पर उसका पूर्ण नियन्त्रण होता है। उत्पादन के साधन भी उसके अधिकार में होते हैं। इस प्रकार वह दूसरी फर्मों को उद्योग में आने से रोकता है।

इस प्रकार एकाधिकारी बाजार की वह स्थिति होती है जिसमें किसी वस्तु का बाजार में एक ही विक्रेता होता है तथा उसके द्वारा विक्रय की जाने वाली वस्तु के लिए बाजार में निकट स्थानापन्न वस्तुएं उपलब्ध नहीं होती तथा बाजार में एक ही उत्पादक या फर्म होती है।

जिस प्रकार व्यावहारिक जीवन में पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति दृष्टिगत नहीं होती उसी प्रकार पूर्ण एकाधिकार की स्थिति भी बाजार में बहुत कम दृष्टिगत होती है।

बेनहम के अनुसार "एकाधिकारी शब्द एक मात्र विक्रेता होता है और एकाधिकारी शक्ति पूर्ति के सम्पूर्णतः नियन्त्रण पर आधारित होती है।"

बोल्डिंग (Boulding) के शब्दों में "शुद्ध एकाधिकारी वह फर्म है जो कि कोई ऐसी वस्तु उत्पन्न कर रही है जिसका किसी अन्य फर्म की उत्पत्ति वस्तुओं से कोई प्रभावपूर्ण स्थानापन्न नहीं होता। प्रभावपूर्ण का तात्पर्य यहाँ यह है कि यद्यपि एकाधिकारी असाधारण लाभ कमा रहा है तथापि अन्य फर्में ऐसी स्थानापन्न वस्तुएँ उत्पन्न करके जो उनको एकाधिकारी की वस्तु से दूर करके उक्त सीमा पर अतिक्रमण करने की स्थिति में नहीं हैं।"

अपूर्ण प्रतियोगिता
(Imperfect Competition)

वास्तविक जगत में न तो पूर्ण स्पर्द्धा पाई जाती है और न पूर्ण एकाधिकार ही। पूर्ण एकाधिकार के स्थान पर श्रीमती जोन राबिन्सन के अनुसार 'अपूर्ण' प्रतियोगिता (Imperfect Competition) तथा चम्बरलिन के अनुसार एकाधिकार प्रतियोगिता (Monopolistic Competition) की स्थिति अधिक व्यापक है। पूर्ण स्पर्द्धा तथा पूर्ण एकाधिकार के मध्य बाजार की अन्य कई अवस्थाएं हैं। अपूर्ण स्पर्द्धा (Imperfect Competition) के विस्तृत क्षेत्र के अन्तर्गत एकाधिकारी स्पर्द्धा (Monopolistic Competition) द्वयाधिकार या द्वि अल्पाधिकार तथा अल्पाधिकार (Oligopoly) की स्थितियां सम्मिलित होती है।

अपूर्ण प्रतियोगिता का अर्थ (Meaning of Imperfect Competition)

पूर्ण स्पर्द्धा की दशाओं में किसी दशा के अभाव में अपूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है पूर्ण स्पर्द्धा में अपूर्णताओं (Imperfections) का अभाव रहता है, परन्तु बाजार में अपूर्णताओं के उपस्थित होने पर वहां अपूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति पायी जाती है।

श्रीमती जोन रोबिन्सन के अनुसार, अपूर्ण प्रतियोगिता पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा तथा एकाधिकार के मध्य की स्थिति होती है।[1]

प्रो० लनर ने अपूर्ण प्रतियोगिता की परिभाषा इस प्रकार दी है 'अपूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति तब होती है जबकि एक विक्रेता को अपनी वस्तु के लिए घटती हुई मांग रेखा का सामना करना पड़ता है।

इस प्रकार (i) यदि क्रेताओं तथा विक्रेताओं की संख्या अधिक नहीं होती या (ii) वस्तुऐं प्रमापित या एकरूप नहीं होती या (iii) क्रेताओं व विक्रेताओं को बाजार का ज्ञान नहीं होता तो स्वाभाविक है कि बाजार में एक मूल्य नहीं होता। बाजार की ऐसी स्थिति को अपूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति कहा जाता है। अपूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में व्यक्तिगत फर्म द्वारा उत्पादित वस्तु की मांग पूर्ण तथा लोचदार (Perfectly elastic) नहीं होती।

जैसा कि ऊपर बताया गया है अपूर्ण प्रतियोगिता उत्पन्न होने के कई कारण हैं जैसे (i) **क्रेताओं व विक्रेताओं की संख्या कम होना** इस स्थिति में व्यक्तिगत

---

1 Imperfect competition is the stage between perfect competition and monopoly

—*Mrs Joan Robinson*

2 Imperfect competition obtains when the seller is confronted with a falling demand curve for his produ ts

—*Lerner*

रूप से मांग अथवा पूर्ति में कमी व वृद्धि करके बाजार मूल्य को प्रभावित करने में समर्थ होते हैं। (ii) **वस्तुओं की इकाइयों का एकरूप न होना** विभिन्न फर्मों द्वारा उत्पादित वस्तुओं तथा विक्रेताओं द्वारा बेची जाने वाली वस्तुओं की इकाइयों में समानता न होने पर उनके मूल्यों में अन्तर होना स्वाभाविक है। विक्रेताओं के व्यक्तिगत गुणों, उनके व्यापार स्थानों, वस्तुओं की इकाइयों के गुणों में विभिन्नता विज्ञापन एवं प्रचार का प्रयोग आदि कारणों से भी वस्तु के बाजार मूल्य में भिन्नता हो जाती है। (iii) **क्रेताओं व विक्रेताओं को बाजार का पूर्ण ज्ञान न होना** क्रेताओं तथा विक्रेताओं को बाजार में वस्तुओं की पूर्ति की मात्रा तथा उनके मूल्यों के सम्बन्ध में आवश्यक जानकारी नहीं रहने पर भी बाजार मूल्य में भिन्नता होगी। (iv) **क्रेताओं में अगतिशीलता (Immobility)** पूर्ण स्पर्द्धा की स्थिति में क्रेताओं में गतिशीलता होती है परन्तु जब क्रेता अपनी सुस्ती के कारण बाजार में प्रचलित कम मूल्यों पर वस्तु नहीं खरीदते हैं तब यह स्वाभाविक है कि बाजार में कई मूल्य प्रचलित होंगे। (v) **यातायात व्यय का ऊँचा होना** यदि उत्पादक या फर्म समीप नहीं हैं तो वस्तुओं को ले जाने व लाने पर यातायात लागत ऊंची पड़ेगी जिससे वस्तुओं के मूल्य समान नहीं होंगे।

अपूर्ण प्रतियोगिता के विभिन्न रूप

(Different forms of Imperfect Competition)

अपूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति भी विभिन्न प्रकार की होती है यथा

(i) द्वयाधिकार या द्वि अल्पाधिकार (Duopoly),

(ii) विक्रेता अल्पाधिकार (Oligopoly) तथा

(iii) एकाधिकारिक प्रतियोगिता (Monopolistic Competition)।

(i) द्वयाधिकार या द्वि अल्पाधिकार (Duopoly)

जब किसी वस्तु की कुल पूर्ति दो फर्मों या व्यक्तियों द्वारा की जाती है तब इसे द्वयाधिकार कहते हैं। यह बाजार की वह व्यवस्था है जिसमें दो फर्में या तो एक प्रमापित वस्तु का उत्पादन करती हैं या ऐसी दो वस्तुएं उत्पादित करती हैं जिनमें बहुत कम अन्तर होता है। सामान्यतया दो वस्तुएँ एक ही प्रकार की होती हैं। यदि ये फर्में दो विभिन्न वस्तुओं का उत्पादन करें तो दोनों फर्मों को अलग अलग एकाधिकारी फर्म कहा जायगा। यह स्थिति द्वयाधिकारी की स्थिति नहीं होगी। इस स्थिति में दोनों फर्मों या उत्पादकों के बीच भीषण प्रतियोगिता पायी जाती है। एक के द्वारा कीमत तथा उत्पादन तकनीक में परिवर्तन करने पर दूसरे को भी विवश होकर अपनी नीति में कुछ-न-कुछ परिवर्तन अवश्य ही करना पड़ता है। इसके अन्तर्गत प्रत्येक फर्म या उत्पादक को इस आधारभूत तथ्य की ओर ध्यान देना पड़ता है कि उनके उत्पादन या कीमत सम्बन्धी किसी भी निर्णय का प्रभाव उसके प्रतिद्वन्द्वी पर अवश्य ही पड़ेगा।

(ii) **विक्रेता अल्पाधिकार** (Oligopoly)

अल्पाधिकार (Oligopoly) एक ग्रीक (Greek) शब्द है जिसका अर्थ होता है कुछ विक्रेता (a few producers/sellers) यदि किसी वस्तु की कुल पूर्ति *कुछ फर्मों या कुछ व्यक्तियों के द्वारा ही की जाती है तो ऐसी स्थिति को अल्पाधिकार* की स्थिति कहते है। इस अवस्था में चूंकि विक्रेता बहुत ही कम होते हैं इसलिए व माल की पूर्ति तथा उसके मूल्य के प्रति सजग रहते हैं। एक विक्रेता की व्याव सायिक नीति का प्रभाव दूसरे पर भी पड़ता है। इस प्रकार सभी विक्रेताओं में मूल्य तथा उत्पादन की नीति के सम्बन्ध में अन्तसम्बन्ध होता है। मेयस के शब्दों में अल्पाधिकार बाजार की वह अवस्था है जहाँ विक्रेताओं की संख्या इतनी कम होती है कि प्रत्येक विक्रेता की पूर्ति का बाजार के मूल्य पर प्रभाव पड़ता है तथा *प्रत्येक विक्रेता इस बात को जानता है।*

द्वयाधिकार की अवस्था मे दो विक्रेताओं के होने से उनमें अत्यधिक स्पर्द्धा होती है। उनमें किसी एक के द्वारा मूल्य उत्पादन नीति में परिवर्तन किये जाने पर उसका प्रभाव दूसरे विक्रेता पर पड़ता है। इस प्रकार प्रत्येक परिवर्तन अन्य परि वर्तन को जन्म देता है।

यदि दोनों उत्पादक या विक्रेता एक ही प्रकार की वस्तु (Identical goods) बेचते हैं तो इस वस्तु को **समान उत्पाद वाला द्वयाधिकार** (Duopoly with homogeneous products) कहते है। यदि दोनों फर्मों में कोई पारस्परिक सम झौता नहीं है तो ग्राहक दोनों को समान समझते है तो ऐसी अवस्था में *बाजार में एक ही मूल्य होगा तथा फर्में कुल विक्रय में समान रूप से भागीदार* होगी।

अल्पाधिकार की विशेषताएं (Characteristics of Oligopoly)

अल्पाधिकार की निम्नांकित महत्वपूर्ण विशेषताएं हैं —

1 **विक्रेताओं की अल्प संख्या** (Small number of sellers)

बाजार की इस अवस्था में विक्रेता या उत्पादक बहुत थोड़े होते हैं जिसके कारण विक्रेता पूर्ति का एक बहुत बड़ा भाग उत्पन्न करता है। उसका पूर्ति के बड़े भाग पर नियंत्रण होने के कारण वह अपनी क्रियाओं से बाजार मूल्य को प्रभावित कर सकता है।

2 **विक्रेताओं के मध्य पारस्परिक निर्भरता** (Mutual inter dependence)

अल्पाधिकार के अन्तर्गत एक विक्रेता फर्म दूसरी विक्रेता फर्म पर निर्भर होती है क्योंकि एक विक्रेता फर्म की क्रियाओं का दूसरे विक्रेता फर्म की नीतियों पर प्रभाव पड़ता है।

3 मूल्य पर सीमित नियन्त्रण (Limit d control on price)

पारस्परिक निर्भरता के कारण एक अल्पाधिकारी विक्रेता का उनकी वस्तु के मूल्य पर सीमित मात्रा में ही नियन्त्रण होता है।

4 फर्मों के प्रवेश व बहिर्गमन में कठिनाई

(Entry and exit of firm difficult)

बाजार की इस अवस्था में नई फर्मों का उद्योग में प्रवेश कठिन होता है क्योंकि विक्रेताओं के पास कच्चे माल की पूर्ति के अधिकांश भाग का स्वामित्व रहता है। अत्यधिक मात्रा में विनियोग के कारण फर्मों का बहिर्गमन भी मुश्किल रहता है।

अल्पाधिकार के कई रूप हो सकते हैं जैसे (अ) शुद्ध अल्पाधिकार (Pure Oligopoly) इसमें सभी फर्मों द्वारा समान वस्तु का उत्पादन किया जाता है (ब) उपज विभेद अल्पाधिकार (Differen ia ed Oligopoly) इसमें प्रत्येक फर्म द्वारा उत्पादित वस्तु एक-दूसरे से भिन्न होती है (स) सामूहिक अल्पाधिकार (Collective Oligopoly) इसमें विक्रेताओं में पारस्परिक पूर्ण सम्बन्ध होता है (द) आंशिक अल्पाधिकार (Partial O igopoly) इसमें विक्रेताओं के मध्य पारस्परिक सम्बन्ध दृढ नहीं होता तथा (य) पूर्ण अल्पाधिकार (Complet Oli gopoly) इसमें विक्रेताओं में पारस्परिक समझौते के आधार पर पूर्ण सम्बन्ध होता है। अल्पाधिकार की इन विभिन्न अवस्थाओं में मूल्य तथा पूर्ति का निर्धारण अलग अलग होता है।

(iii) एकाधिकारिक प्रतियोगिता (Monopolistic Competition)

सर्वप्रथम इस शब्द का प्रयोग चेम्बरलिन ने अपनी पुस्तक The Th ory of Monopolist c Competition में किया था। व्यावहारिक जगत में न तो हम पूर्ण प्रतियोगिता या स्पर्द्धा की स्थिति पाते हैं और न ही पूर्ण एकाधिकार की। वस्तुतः में उत्पादक या अपूर्ण स्पर्द्धा की अवस्था में रहते हैं उनमें से अधिकांश एस होते हैं जो लगभग समान वस्तुओं का उत्पादन करते हैं। फलस्वरूप वे उत्पादक इस बात का सदा ध्यान रखते हैं कि उनके प्रतियोगियों की उत्पादन तथा व्यापारादिक नीति क्या है? इस अवस्था को ही एकाधिकारी स्पर्द्धा (Monopolistic Competition) या समूह सन्तुलन (Group Equilibrium) कहते हैं। इस अवस्था में तीव्र स्पर्द्धा (Keen competition) होती है परन्तु यह स्पर्द्धा पूर्ण नहीं होती। इस प्रकार एकाधिकारिक स्पर्द्धा की दो विशेषताएँ हैं। (अ) विक्रेताओं का अधिक होना तथा (ब) विभिन्न उत्पादकों की वस्तुओं में असमानता होना के कारण क्रेता अपनी रुचि के अनुसार वस्तु विशेष का चयन करते हैं यद्यपि एक वस्तु दूसरी वस्तु की पूरक या प्रतिस्थापक होती है।

वस्तुओं में विभिन्नता होने के कारण उत्पादक अथवा विक्रेता विज्ञापन पर विशेष ध्यान देते हैं। जब उपभोक्ता किसी एक वस्तु के लिए अपनी रुचि रखते हैं तो उस वस्तु के उत्पादक का अपनी वस्तु के बाजार पर एकाधिकार होता है। परन्तु

वह एकाधिकार की नीति नहीं अपना सकता क्योंकि बाजार में अन्य उत्पादकों द्वारा उनकी उत्पादित वस्तु की प्रतिस्पर्द्धी पूरक वस्तुएं वर्तमान रहती हैं। इस प्रकार **एकाधिकारिक स्पर्द्धा वह अवस्था है जिसमें स्पर्द्धा तथा एकाधिकार दोनों का ही समन्वय होता है।** *इस अवस्था में स्पर्द्धा के कारण कीमतों की प्रवृत्ति समान होने की होती है।* परन्तु इसके साथ ही साथ प्रत्येक फर्म का अपनी वस्तु पर एकाधिकार होता है तथा वस्तुओं में उपज असमानता (Product differentiation) भी पाई जाती है। अतः विभिन्न फर्मों की उत्पादित वस्तुओं के मूल्य भी अलग अलग होते हैं। प्रो० रिचार्ड एच० लफ्टविच के शब्दों में "एकाधिकारिक प्रतियोगिता के बाजार में एक विशेष किस्म की वस्तु के अनेक विक्रेता होते हैं और प्रत्येक विक्रेता की वस्तु किसी न किसी रूप में दूसरे विक्रेता की वस्तु से भिन्न होती है। जब विक्रेताओं की संख्या इतनी अधिक होती है कि एक विक्रेता के कार्यों का दूसरे विक्रेताओं पर कोई स्पष्ट प्रभाव नहीं पड़ता है और उनके कार्यों का भी उस पर कोई स्पष्ट प्रभाव नहीं पड़ता है तो यह उद्योग एकाधिकारिक प्रतियोगिता का उद्योग बन जाता है।

स्टोनियर एवं हेग के विचारानुसार "अपूर्ण प्रतियोगिता की दशा में अधिकांश फर्मों या उत्पादकों की वस्तुएं उनके प्रतियोगियों की वस्तुओं से काफी मिलती जुलती होती हैं जिसके परिणामस्वरूप इन उत्पादकों को हमेशा इस बात का ख्याल रखना पड़ता है कि प्रतियोगियों की क्रियाएं उनके लाभ को कैसे प्रभावित करेंगी। *आर्थिक सिद्धान्त में इस प्रकार की स्थिति का विश्लेषण एकाधिकारिक प्रतियोगिता* या समूह सन्तुलन के अन्तर्गत किया जाता है। इनमें से एक समान वस्तु निर्मित करने वाली अनेक फर्मों में प्रतियोगिता पूर्ण न होकर तीव्र होती है।

संक्षेप में **एकाधिकारिक प्रतियोगिता की प्रमुख विशेषताएं** निम्नलिखित होती हैं

1 **क्रेताओं तथा विक्रेताओं की संख्या अधिक** होती है।
2 विक्रेताओं द्वारा उत्पादित **वस्तुएं समरूप या लगभग समरूप** होती हैं किन्तु **काल्पनिक विभेद** उत्पन्न कर दिया जाता है।
3 नई फर्मों के **प्रवेश व बहिर्गमन** की स्वतन्त्रता होती है।
4 उपभोक्ताओं की **रुचि में भिन्नता** पाई जाती है।
5 विक्रेताओं द्वारा क्रेताओं को **प्रत्यक्ष सुविधा** दी जाती है।
6 विक्रेता के मांग वक्र की **प्रवृत्ति लोचदार** होती है।
7 विक्रेता का बाजार के **सीमित क्षेत्र पर ही एकाधिकार** रहता है।
8 **विज्ञापन विधियों के प्रयोग से विक्रय सम्बद्ध** न किया जाता है।
9 **एकाधिकार तथा प्रतियोगिता** दोनों ही स्थितियों की विद्यमानता रहती है।
10 **समूह सन्तुलन** पाया जाता है।
11 व्यक्तिगत फर्म स्वयं की मूल्य-नीति से सम्पूर्ण बाजार को प्रभावित नहीं कर सकती।
12 **आपसी समझौते का अभाव** पाया जाता है।

बाजार के विभिन्न रूपों का संक्षेप में निम्नांकित तालिका द्वारा भी समझाया जा सकता है

स्पर्द्धा के प्रकार (Types of Competition)

स्पर्द्धा के प्रकार (Kinds of competition)	फर्मों की संख्या (No of Firms)	वस्तु का रूप (Nature of Product)	मूल्य नियन्त्रण सीमा (Degree of control over price)	फर्मों का प्रवेश (Entry of other firms)
पूर्ण स्पर्द्धा (Perfect Competition)	अनेक (Many)	एक रूप (Identical Product)	बिल्कुल नहीं (None)	बहुत सरलतापूर्वक (Easy entry)
एकाधिकृत स्पर्द्धा (Monopolistic Competition)	अनेक (Many)	समरूप, पर कुछ भेद (Differentiated similar but not the same)	कम (A little)	सरलता से (Entry with no difficulty)
अल्पाधिकार (Oligopoly)	कुछ (A few)	एक रूप या विभिन्न (Same or with difference in product)	प्रतिस्पर्द्धियों में समझौता होने पर अधिक (More on agreement)	बहुत कठिन (Very difficult)
द्वयाधिकार (Duopoly)	दो (Two)	सामान्य एकरूपता (Generally the same)	कुछ (Some)	कठिन (Difficult)
पूर्ण एकाधिकार (Complete Monopoly)	एक (One)	एक वस्तु बिना निकट स्थानापन्न वस्तु के (Single product without close substitutes)	अधिक (Considerable)	असम्भव (Impossible)

विभिन्न बाजार स्थितियों में अन्तर

विशेषताएँ (Characteristics)	पूर्ण प्रतियोगिता (Perfect Competition)	एकाधिकार (Monopoly)
1 क्रेता व विक्रेताओं की संख्या	बहुत अधिक	एक व्यक्ति या व्यक्तियों का समूह
2 वस्तु के प्रकार	एक रूप (Homogeneous)	सर्वथा भिन्न जिसका कोई निकट स्थानापन्न नहीं होता
3 फर्म की माँग की रेखा	पूर्ण लोचदार	पूर्ण लोचदार से कम
4 क्रेताओं व विक्रेताओं में जानकारी की प्राप्यता	हाँ	नहीं
5 फर्मों का प्रवेश या बहिर्गमन	स्वतन्त्र	पूर्णतया निषिद्ध
6 मूल्य पर नियन्त्रण की मात्रा	कुछ नहीं	पर्याप्त
7 अन्य प्रतिस्पर्द्धाएं	कुछ नहीं	जनता से मधुर सम्बन्ध बनाये रखने के लिए विज्ञापन आदि पर विशेष जोर

कुछ अर्थशास्त्रियों ने बाजार की इन अवस्थाओं के अतिरिक्त कुछ अन्य अवस्थाओं का भी उल्लेख किया है जैसे—(i) पूर्ण परन्तु एकाधिकारी (Perfect but Monopolistic) (ii) शुद्ध परन्तु अपूर्ण (Pure but imperfect) तथा (iii) शुद्ध तथा पूर्ण (Pure and perfect)।

क्रेता एकाधिकार (Monopsony) का वर्गीकरण क्रेता एकाधिकार एकाधिकार की विपरीत स्थिति है। एकाधिकार का अभिप्राय बाजार पर विक्रेताओं के पूर्ण अधिकार से लगाया जाता है परन्तु कभी कभी किसी वस्तु विशेष के बाजार में कई विक्रेता हों और एक ही क्रेता हो तो ऐसी स्थिति में बाजार में एक मात्र क्रेता का एकाधिकार स्थापित हो जाता है। क्रेता एकाधिकारी (Monopsonist) वस्तु विशेष के सम्पूर्ण बाजार पर इस प्रकार अपना नियन्त्रण रखता है कि वह कम मूल्य पर वस्तु विशेष क्रय करने में सफल होता है। विक्रेताओं को उस एकाधिकारी क्रेता के इच्छानुकूल मूल्य पर अपनी वस्तु को बेचने के लिए बाध्य होना पड़ता है।

प्रो० मेहता ने एक क्रेता एकाधिकारी को वस्तु विशेष के एकाकी क्रेता की संज्ञा दी है। क्रेता एकाधिकार की स्थिति एक व्यक्ति या फर्म अथवा उपभोक्ताओं के समूहों के द्वारा स्थापित की जा सकती है। कभी कभी सरकार भी वस्तु विशेष के बाजार में क्रेता एकाधिकार स्थापित कर लेती है। जिस प्रकार एकाधिकार की स्थिति में विक्रेता क्रेताओं का शोषण करते हैं उसी प्रकार क्रेता-एकाधिकार की स्थिति में क्रेता द्वारा विक्रेताओं का शोषण किया जाता है।

द्वि क्रेता अल्पाधिकार (Duopsony) द्वि क्रेता अल्पाधिकार की स्थिति में किसी वस्तु विशेष के बाजार में एकाकी क्रेता के स्थान पर दो क्रेता तथा कई विक्रेता होते हैं। ऐसी स्थिति में दोनों क्रेताओं को बाजार पर एकाधिकार स्थापित करने के लिए (i) एक ही प्रकार की वस्तु रहने पर पारस्परिक समझौते द्वारा मिलकर बाजार पूर्ण एकाधिकार स्थापित कर लें या (ii) अपना अपना अलग बाजार-क्षेत्र निर्धारित कर लें जिस पर प्रत्येक का पूर्ण नियन्त्रण हो। उपज विभेद (Product differentiation) की स्थिति में दोनों वस्तुओं के बाजार अलग अलग होते हैं।

क्रेता अल्पाधिकार (Oligopsony) इस स्थिति में बाजार में थोड़े क्रेता तथा कई विक्रेता होते हैं।

प्रश्न व संकेत

1 पूर्ण प्रतियोगिता एक मिथ्यावाद है। इस कथन की पूर्ण विवेचना कीजिए।

Perfect competition is a myth Explain fully this statement

[संकेत पूर्ण प्रतियोगिता की विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास कीजिए कि व्यावहारिक जीवन के दृष्टिकोण से ये मान्यताएँ अवास्तविक हैं।]

2 उन तत्वों का वर्णन कीजिए जो कि बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता के कार्यकरण में बाधाएँ डालते हैं।

Enumerate the factors which hinder the operation of free competition in a market

[संकेत सर्वप्रथम बहुत संक्षेप में पूर्ण प्रतियोगिता का आशय स्पष्ट कीजिए और इसके पश्चात् पूर्ण प्रतियोगिता का आशय स्पष्ट कीजिए और इसके पश्चात् पूर्ण प्रतियोगिता के कार्यकरण में बाधा डालने वाले या अपूर्ण प्रतियोगिता के कारणों का विवेचन कीजिए।

3 निम्न के अन्तरों को स्पष्ट रूप से बताइए

(i) पूर्ण बाजार तथा अपूर्ण बाजार (Perfect Market and Imperfect Market)

(ii) एकाधिकार तथा एकाधिकारी प्रतियोगिता (Monopoly and Monopolistic Competition)।

4 अतः अर्थशास्त्री कहते हैं कि एकाधिकारी प्रतियोगिता में प्रत्येक फर्म प्रतिस्थापन के बिन्दु तक एक एकाधिकारी की भांति होता है परन्तु इस बिन्दु के आगे बाजार स्पर्द्धात्मक होता है। विवेचना कीजिए।

*Th refore economists say that in monopolistic comp*tition* each firm looks like a monopolist upto a point of substitution, but after this point market is competitive Discuss

[संकेत सर्वप्रथम एकाधिकारी प्रतियोगिता का आशय स्पष्ट कीजिए और इसके पश्चात् उक्त निष्कर्षों का पूर्ण विवेचना कीजिए।]

5 अल्पाधिकारी (Oligopolist) की परिभाषा दीजिए तथा उसकी विशेषताओं का पूर्ण विवेचन कीजिए।

Define oligopoli t and explain fully its characteristics

6 पूर्ण प्रतियोगिता शुद्ध प्रतियोगिता अपूर्ण प्रतियोगिता, एकाधिकारी प्रतियोगिता में अन्तर बताइए। इनमें से कौन-सा स्वरूप अधिक व्यावहारिक है?

Distinguish between perfect pure *imperfect* and *monopolistic* competition Which of them is more true descriptive of the market situation ?

[संकेत उपर्युक्त बाजारों के प्रारूपों में अन्तर बताइए और फिर प्रत्येक स्वरूप की व्यावहारिकता बताते हुए निष्कर्ष दीजिए।]

7 पूर्ण प्रतियोगिता कदाचित् ही पायी जाती है और विशुद्ध एकाधिकार दुर्लभ होता है। विवेचना कीजिए।

While pe-fect competition is se dom found pure moropoly is rare Discuss

30

लागत विश्लेषण
(Cost Analysis)

> Cost curves are geometrical illustrations of the relationship between the rate of output of firm and the rate of expenditure on various inputs
>
> —Stigler G J

किसी वस्तु की कीमत उस वस्तु की 'माँग' तथा 'पूर्ति' द्वारा निर्धारित की जाती है। माँग का अध्ययन हम पहले कर चुके हैं। किसी वस्तु की पूर्ति उस वस्तु की उत्पादन लागत द्वारा शासित होती है। अतः 'पूर्ति' का अध्ययन करने से पूर्व उत्पादन लागत का विश्लेषण प्रस्तुत करना आवश्यक है। इन सभी तत्त्वों को जो पूर्ति में निहित हैं हम एक शब्द—'लागत'—द्वारा व्यक्त कर सकते हैं। किसी वस्तु की जो मात्रा (पूर्ति) बाजार में बेची जाती है उस मात्रा का निर्धारण उत्पादक द्वारा लागत के आधार पर किया जाता है।

लागत सम्बन्धी विचार
(The Concepts of Cost)

अर्थशास्त्र में 'लागत' शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों एवं विभिन्न सन्दर्भों में किया जाता है। अतः सन्दर्भ के अनुसार इस शब्द के कई अर्थ लगाये जा सकते हैं। विभिन्न आर्थिक क्रियाओं के विश्लेषण में लागत के विभिन्न विचारों (Concepts) का प्रयोग किया जाता है। लागत सम्बन्धी ये विचार तीन प्रकार के हैं—मौद्रिक लागत वास्तविक लागत तथा अवसर लागत।

1 मौद्रिक लागत (Money Cost)

मार्शल ने 'लागत' का अर्थ स्पष्ट करते समय मौद्रिक लागत तथा वास्तविक लागत (Real Cost) शब्दों का प्रयोग किया है। किसी वस्तु की लागत उस वस्तु के उत्पादन में प्रयुक्त साधनों की लागत के बराबर होती है। साधनों की लागत का अनुमान हम उनके बाजार मूल्य द्वारा लगाते हैं। उत्पादन में प्रयुक्त साधनों के बाजार मूल्यों के योग को साधनों की 'मौद्रिक लागत' कहते हैं। अतः

किसी वस्तु की मौद्रिक लागत का अर्थ उसे पैदा करने में प्रयुक्त उत्पादन साधनों के बाजार मूल्यों के योग से है। दूसरे शब्दों में मौद्रिक लागत वह लागत है जो मुद्रा के रूप में किसी वस्तु के उत्पादन में व्यय की जाती है। जैसे एक उत्पादक एक वस्तु के उत्पादन के लिए कच्चा माल खरीदता है मजदूरों को मजदूरी देता है पूँजी पर ब्याज तथा संगठनकर्ता को वेतन देता है साहसी के लिए लाभ की व्यवस्था करता है सरकार को कर देता है बीमा तथा ह्रास मूल्य के लिए व्यवस्था तथा भुगतान करता है। इन सभी खर्चों को हम किसी वस्तु की मौद्रिक लागत में सम्मिलित करते हैं।

किसी वस्तु की मौद्रिक लागत ज्ञात करते समय हम उन लागतों का भी ध्यान में रखना चाहिए जिन्हें मुद्रा के रूप में व्यय नहीं किया जाता है। सम्भव है उत्पादक ने सभी उत्पादन साधनों को बाजार में नहीं खरीदा हो और उसने अपने कुछ निजी साधनों का प्रयोग किया हो। ऐसे साधनों का मूल्य भी मौद्रिक लागत में सम्मिलित किया जाता है। इस प्रकार मौद्रिक लागत में सामान्यतः दो प्रकार की लागतें— व्यक्त लागत तथा अव्यक्त लागत सम्मिलित की जाती हैं

(1) व्यक्त या स्पष्ट लागतें (Explicit Costs) व्यक्त लागतें या स्पष्ट लागतें उन मौद्रिक लागतों को कहते हैं जिनका भुगतान साधनों के स्वामियों को उत्पादक द्वारा किया जाता है जैसे मजदूरी लगान ब्याज कच्चा माल सम्बन्धी व्यय विज्ञापन व्यय आदि। इन सबका भुगतान उत्पादक द्वारा किया जाता है।

(ii) अव्यक्त लागत या अस्पष्ट या अन्तर्निहित लागतें (Implicit Costs) अव्यक्त लागत या अस्पष्ट लागत उन समस्त लागतों को कहते हैं जिनका भुगतान उत्पादक द्वारा किसी बाहरी व्यक्ति (Outsider) को नहीं किया जाता है वरन् स्वयं उत्पादक अपने निजी साधनों तथा सेवाओं के बदले अपनी ही फर्म से लागत वसूल करता है (या उत्पादन व्यय की गणना करते समय ध्यान में रखता है) जैसे निजी पूँजी पर ब्याज निजी सम्पत्ति पर मूल्य ह्रास (जिस सम्पत्ति का उपयोग फर्म ने किया है) फर्म में विनियोजित निजी पूँजी पर प्रतिफल (Return) निजी वेतन आदि। इस प्रकार

कुल मौद्रिक लागत = कुल व्यक्त लागत + कुल अव्यक्त लागत

2 वास्तविक लागत (Real Cost)

उत्पादन व्यय का अर्थ वास्तविक लागत से भी लिया जाता है। वास्तविक लागत का अर्थ उस व्यय किए गए समय तथा शक्ति से लगाया जाता है जो किसी एक वस्तु के उत्पादन में वास्तव में व्यय होता है। प्रो० मार्शल के अनुसार किसी वस्तु को बनाने में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से लगने वाले विभिन्न प्रकार के मजदूरों का परिश्रम साथ में उसके उत्पादन में प्रयुक्त पूँजी की बचत के लिए आवश्यक त्याग या प्रतीक्षा ये सब प्रयत्न और त्याग मिलकर उस वस्तु के उत्पादन की वास्तविक

लागत कहलाते हैं।[1] इस प्रकार जिस कार्य में अधिक परिश्रम करना पड़ता है तथा श्रमिकों पर बुरा प्रभाव पड़ता है उस कार्यों की वास्तविक लागत अधिक पड़ती हैं। ऐसा सम्भव है कि दो कार्यों की मौद्रिक लागत समान हो परन्तु उनकी वास्तविक लागत में अन्तर हो। वास्तविक लागत सिद्धान्त का सामाजिक दृष्टि से महत्त्व है। परन्तु यह शब्द पूर्णतया स्पष्ट नहीं है। इसके लिए कोई मापदण्ड भी नहीं है क्योंकि इसे विषयगत रूप (Subjective term) में ही प्रकट कर सकते है। वास्तविक लागत के विचार की काफी आलोचनाएँ भी की गई हैं (i) वास्तविक लागत एक मनोवैज्ञानिक धारणा है क्योंकि यह कष्ठ एवं त्याग पर निर्भर करती है। अतः इसका मापन कठिन है। (ii) वास्तविक लागत का विचार अव्यवहारिक है क्योंकि इसके अनुसार जिस कार्य में अधिक कष्ट एवं त्याग करना पड़ता है उन कार्यों की मजदूरी अधिक होनी चाहिए। किन्तु व्यवहार में ऐसा प्रतीत नहीं होता एक कुली या मजदूर को अधिक कष्ट अथवा त्याग करना पड़ता है किन्तु फिर भी उसे कम ही मजदूरी मिलती है।

इन्ही कठिनाइयों के कारण आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने इस विचार को त्याग दिया।

3 अवसर लागत (Oppor uni y Cost)

मौद्रिक तथा वास्तविक लागत के अतिरिक्त लागत के एक तीसरे सिद्धान्त–अवसर लागत—का भी प्रयोग किया जाता है। अवसर लागत का प्रयोग नवीन अर्थशास्त्री विशेषतया अमरिकी अर्थशास्त्री करते हैं। अवसर लागत की कल्पना सर्वप्रथम डी० एन० ग्रीन नामक एक अर्थशास्त्री ने की थी और बाद में डेवनपोर्ट, हेंडरसन, राबिन्स तथा वाइजर आदि अर्थशास्त्रियों ने इसका प्रयोग विभिन्न दशाओं में किया। श्रीमती जोन राबिन्सन ने अवसर लागत के स्थान पर **स्थानान्तर अर्जन** (Transfer earning) शब्द का प्रयोग किया है। कुछ अर्थशास्त्री **'आरोपित लागत'** (Impu ed cos) शब्द का भी प्रयोग करते हैं।

(i) **अवसर लागत का अर्थ** अवसर लागत उस कीमत या प्राप्ति को कहते है जो एक उत्पादन के साधन को किसी वैकल्पिक प्रयोग में प्राप्त हो सकती है।

उत्पादन के साधनों के कई प्रयोग (Alterna ive uses) हो सकते है परन्तु

---

1 The exertions of all the different kinds of labour that are directly or indirectly involved in making it, together with the abstinences or rather the waitings required for saving the capital used in making it all these efforts and sacrifice together will be called the real co t of production of the commodity

—*Marshall Op cit, p 339*

2 The imputed cost (opportunity cost) of a produce input in any given busine s is the value that input would have the price it would get if employed in its best alternative use

—*Burns Neal and Watson Modern Economics p 21*

एक साधन विशेष का प्रयोग एक ही काय के लिए किया जा सकता है। इस प्रकार जब एक साधन का प्रयोग किया जाता है तो इसका ग्रथ यह हुग्रा कि उस साधन को उन ग्रन्य ग्रवसरो (Opportunities) का त्याग करना पडता है जिनमे उस साधन का प्रयोग किया जा सकता था। ग्रत उस साधन को इस प्रयोग (काय) म लगाए रखने के लिए कम स कम इतना पुरस्कार या पारिश्रमिक ग्रवश्य मिलना चाहिए जितना वह ग्रन्य वकल्पिक कार्यो म प्राप्त कर सकता था। यदि वकल्पिक काय म प्राप्त किया जा सकने वाला पुरस्कार उस साधन को नही दिया जाता है तो वह साधन वतमान काय को छोडकर वहा चला जाएगा जहाँ पर उसे ग्रधिक पुरस्कार मिलेगा। श्रीमती जोन राबिसन क शब्दो म 'यह कीमत जो किसी साधन की एक इकाई को किसी उद्योग विशेष मे बनाये रखने के लिए ग्रावश्यक है हस्तान्तर ग्रजन या हस्तान्तर कीमत कहलाती है।'[1]

उदाहरण के लिए एक पुस्तक भण्डार का प्रबन्धक पुस्तक भण्डार का प्रबन्धकर्त्ता है। मान लीजिए वह प्रबन्धक यदि एक कपडे की एक दुकान का प्रबन्ध करता तो उस समय भी उसे वतन के रूप म कुछ प्राप्त होगा। इस प्रकार कपडे की दुकान पर वह जो वतन प्राप्त कर सकता था वह वेतन पुस्तक भण्डार के प्रबन्धक का ग्रवसर लागत हुई है।

किसी भी उद्योग म एक साधन को जो पुरस्कार दिया जाता है वह उस पुरस्कार क बराबर होता है जिसे वह साधन ग्रन्य उद्योग स प्राप्त कर सकता है। यदि हम उस साधन को उद्योग म बनाए रखना चाहते हैं तो उसे कम स कम इतना पुरस्कार ग्रवश्य मिलना चाहिए जितना कि वह ग्रन्य वकल्पिक उद्योग म प्राप्त कर सकता है।

प्रो० बेनहम (Benham) ने ग्रवसर लागत की परिभाषा इस प्रकार से की "मुद्रा की वह मात्रा जो कोई विशेष इकाई ग्रपने सर्वोत्तम वकल्पिक प्रयोग मे प्राप्त कर सकती हैं उसे हस्तातरण ग्राय कहते हैं।"

कुछ उदाहरणो द्वारा ग्रवसर लागत को स्पष्ट किया जा सकता है

(1) मान लीजिए किसी व्यक्ति ने निजी व्यापार म पूँजी लगा रखी है। इस पूँजी की ग्रवसर लागत उस ब्याज के बराबर होगी जो उस पूँजी का ग्रन्य स्थानो पर लगाने स कमाया जा सकता है।

(2) किसी मशीन की ग्रवसर लागत एक वस्तु को पदा करने म उस त्यागी गई ग्राय के बराबर है जो उस मशीन द्वारा किसी ग्रन्य वस्तु को पदा करने स प्राप्त होती।

(3) किसी वस्तु का निर्माण करने वाले श्रमिक की ग्रवसर लागत उस

---

[1] The price which is necessary to retain a given unit of a factor in a certain industry may be called its transfer earning or transfer price

—Mrs Joan Robinson

मजदूरी के बराबर है जो वह अन्य वस्तु का या उसी वस्तु का किसी दूसरी फर्म में निर्माण कर प्राप्त कर सकता है।

उपयुक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि अवसर लागत ज्ञात करने के लिए, त्याग (Sacrifice) को जानना या मापना आवश्यक है। यदि किसी साधन का इस्तेमाल करने में किसी प्रकार का त्याग नहीं करना पड़ता है तो उस साधन की अवसर लागत शून्य होती है।

(ii) अवसर लागत की विशेषताएँ

(1) अवसर लागतें मौद्रिक लागतें हैं (Opportunity Costs are Money Costs) अवसर लागत उन मौद्रिक लागतों का योग है जिन्हें उत्पादन के साधन एक फर्म या उद्योग में निरन्तर प्रयोग होने के कारण प्राप्त करते हैं तथा जिनके कारण वे दूसरे उद्योगों में नहीं जाते। उदाहरण के लिए यदि एक मोटर निर्माता कार बनाना चाहता है तो ऐसी दशा में उसे कार बनाने वाले मजदूरों को कम से कम इतनी मजदूरी देनी चाहिए जिससे वे मोटर उद्योग में लगे रहें। यदि उन्हें कम मजदूरी दी जाती है तो वे हवाई जहाज बनाने के कारखाने में जा सकते हैं। यहाँ पर यह भ्रम इस तथ्य से हो सकता है कि मोटर के कारखाने में तथा हवाई जहाज के कारखाने में मजदूरी समान है परन्तु इस भ्रम का प्रभाव अवसर लागत के सिद्धान्त पर नहीं पड़ता। मान लीजिए ये मजदूर मोटर के कारखाने में नहीं लगाये जाते तो ऐसी अवस्था में उनकी स्पर्द्धा नौकरी के लिए उन मजदूरों के साथ होती है जो जहाज बनाने के कारखाने में लगे हुए हैं। इस प्रकार जहाज के कारखाने का मालिक मजदूरों में स्पर्द्धा के कारण उन्हें कम मजदूरी देता है। इसी प्रकार यदि कार की माँग बढ़ जाती है और जहाज की माँग पूर्ववत् रहती है तो मोटर कारखाने का मालिक मजदूरी और बढ़ायेगा जिससे जहाज के कारखाने से अधिक मजदूर आयेंगे। अतः कारखाना चलाने के लिए जहाज के कारखाने में भी मजदूरी बढ़ा दी जायगी।

(2) अवसर लागत का सिद्धान्त सभी प्रकार के उद्योगों में उत्पादन के सभी साधनों पर लागू होता है यह नियम सभी उद्योगों में लागू होता है जैसे उत्पादन सम्बन्धी संस्थाएँ, व्यापार गृह, बैंक व्यवसाय आदि। यदि कोई व्यक्ति कुछ वस्तुएँ खरीदने के लिए बैंक से रुपया उधार लेता है तो उसे बैंक को इतना ब्याज देना होगा जिससे बैंक किसी दूसरे को रुपया न देकर उसे ही दे सके।

(3) अवसर लागत का व्यय सदैव नकद ही नहीं होता (Opportunity cost is not always cost expenditure) एक व्यक्ति अपना व्यापार चलाता है। ऐसी अवस्था में उसे अपने लिए कम से कम उतना वेतन अवश्य रखना चाहिए जितना वह अन्यत्र काम करने से प्राप्त कर सकता है। यदि वह अपने लिए वेतन नहीं रखता है तो व्यापार का वास्तविक लाभ नहीं जाना जा सकता। यहाँ

पर यह प्रश्न नहीं उठता है कि वेतन का भुगतान नकद दिया जाता है या नहीं। यह बात अन्य खर्चों के सम्बन्ध में भी लागू हो सकती है। जैसे यदि कोई व्यक्ति अपने रुपया में व्यापार आरम्भ करता है और अपने ही मकान में व्यापार करता है तो उसे क्रमश ब्याज और किराया लेना चाहिए जिसे वह दूसरों से प्राप्त कर सकता था। इस प्रकार अवसर लागत यदि वास्तव में प्राप्त की जाती है तो वह वास्तविक आय का रूप ग्रहण कर लेती है।

(iii) **अवसर लागत का महत्त्व** (Importance)

आधुनिक आर्थिक विचारधारा में अवसर लागत का अध्ययन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो गया है। इस लागत का महत्त्व निम्न तथ्यों में स्पष्ट हो जाता है

1 उत्पादन के साधनो के वितरण मे सहायक उत्पादन के सीमित साधनों के प्रतियोगी प्रयोगों के वितरण में अवसर लागत की धारणा से सहायता मिलती है। इसके अनुसार उत्पादन के साधनों को किसी एक प्रयोग में कम से कम इतना अवश्य मिलना चाहिए जितना कि वह वैकल्पिक प्रयोगों में उपलब्ध हो सकता है। मूल्य प्रक्रिया का एक मूल कार्य सीमित साधनों का प्रतियोगी प्रयोगों में वितरण करना है। इस कार्य में अवसर लागत के सिद्धान्त से अत्यधिक सहायता मिलती है।

2 अवसर लागत लगान निर्धारण मे सहायक लगान के आधुनिक सिद्धान्त के अनुसार उत्पादन का एक साधन अपने वर्तमान प्रयोगों में अवसर लागत लागत से जितना अधिक भुगतान प्राप्त करता है वह समस्त आधिक्य लगान होता है। इस प्रकार किसी साधन का लगान उसकी वास्तविक आय एवं अवसर लागत का अन्तर है।

विभिन्न अवधि मे लागत
(Cost in Various Periods)

उत्पादक माँग के अनुसार उत्पादन करता है। अधिक माँग होने पर उत्पादन की मात्रा में वृद्धि की जाती है। उत्पादन मात्रा में वृद्धि करने पर उत्पादन लागत में परिवर्तन होता है। उत्पादन वृद्धि के साथ उत्पादन लागत में किस प्रकार के परिवर्तन होंगे ? इस प्रश्न का उत्तर विचाराधीन समय या अवधि पर निर्भर है। (समय के अतिरिक्त अन्य तत्त्वों का भी प्रभाव पडता है)। अत हम यहाँ विभिन्न अवधियों में लागत के स्वरूपों का अध्ययन करेंगे। हम अवधि को तीन समूहों में विभाजित कर सकते हैं—(1) बाजार काल (2) अल्पकाल तथा (3) दीर्घकाल।

(1) बाजार काल (Market Period) बाजार काल उस काल या अवधि को कहते हैं जिसमें उत्पादक को इतना कम समय मिलता है कि वह माँग में परिवर्तन के अनुरूप उत्पादन की मात्रा में परिवर्तन नहीं कर सकता है। अत इस अवधि में मूल्य निर्धारण में माँग का प्रमुख स्थान रहता है। पूर्ति निश्चित होती है। माँग में वृद्धि होने से कीमत बढ़ती है तथा माँग में कमी होने से कीमत घटती है।

(2) **अल्पकाल** (Short Period) अल्पकाल बाजारकाल की अपेक्षा अधिक दीर्घ होता है फिर भी अल्पकाल इतना कम अवधि होती है कि इसके अन्दर किसी फर्म की उत्पादन शक्ति में परिवर्तन नहीं किया जा सकता है।[1] इस काल में केवल इतना ही सम्भव है कि फर्म की उत्पादन शक्ति का अधिकाधिक उपयोग कर लिया जाए। अतः इस काल में वर्तमान उत्पादन शक्ति का अधिक उपयोग कर उत्पादन की मात्रा बढ़ाई जा सकती है परन्तु न तो फर्म के आकार में ही परिवर्तन किया जा सकता है और न किसी उद्योग में फर्मों की संख्या में ही वृद्धि की जा सकती है। लिप्से के अनुसार "अल्पकाल उस अवधि को कहते हैं जिसमें उत्पादन के कुछ साधन—सामान्यतः प्लांट तथा उपकरण तथा कभी-कभी भूमि—की पूर्ति निश्चित होती है और उत्पादन में वृद्धि या कमी केवल स्थायी साधन के कम या अधिक गहन प्रयोग द्वारा ही की जा सकती है।"[2]

(3) **दीर्घकाल** (Long Period) दीर्घकाल उस अवधि को कहते हैं जिस अवधि में फर्म की उत्पादन शक्ति में परिवर्तन सम्भव होता है। अल्पकाल में इतना कम समय होता है कि फर्म की उत्पादन शक्ति, प्लांट, मशीन और प्रबन्ध आदि में परिवर्तन नहीं किया जा सकता। इसके विपरीत दीर्घकाल में फर्म की उत्पादन शक्ति में परिवर्तन किया जा सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि दीर्घकाल में सभी लागतें परिवर्तनशील होती हैं अर्थात् दीर्घकाल में फर्म की उत्पादन शक्ति तथा उत्पादन मात्रा दोनों परिवर्तनशील होते हैं। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि अल्पकाल में समस्या होती है—कौन सी वस्तु फर्म की वर्तमान उत्पादन शक्ति के उपयोग की दर में परिवर्तन करती है? दीर्घकाल में इस प्रश्न का रूप यह हो जाता है—कौन सी वस्तुएँ फर्म की उत्पादन शक्ति में परिवर्तन (Change in capacity) या उत्पादन के पैमाने (Scale of production) में परिवर्तन निश्चित करती हैं? लिप्से के शब्दों में "दीर्घकाल इतनी लम्बी अवधि को कहते हैं जिसमें उत्पादन के सभी साधनों, प्लांट, उपकरण आदि की मात्रा में परिवर्तन किया जा सकता है।"[3]

---

1. "The short run is a period short enough to preclude any change in the firm's productive capacity."

—*Burns and Others*

2. "The short run is defined as a period of time over which some factor of production—usually plant and equipment, but sometimes land is fixed in supply and production can be raised or lowered only by using the fixed factor more or less intensively."

—*Lipsey, An Introduction to Positive Economics, p. 175*

3. "The long run is defined as a period of time sufficiently long to allow all factors of production including plant and equipment to be varied in quantity."

—*Lipsey*

अल्पकाल मे लागत
(Cost in Short Run)

अल्पकाल म लागतो का अध्ययन दो प्रकार से किया जा सकता है—(i) कुल लागत (Total Cost) तथा (ii) इकाई लागत (Unit Cost)।

कुल लागत
(Total Cost)

कुल उत्पादन व्यय को कुल लागत कहते हैं। इस प्रकार किसी दी हुई उत्पादन मात्रा के उत्पादन म जो व्यय होता है उसे कुल लागत' कहा जाता है। कुल लागत (Total Cost) को दो भागो म बाटा जा सकता है—(i) कुल निश्चित लागत (Total Fixed Cost) तथा (ii) कुल परिवतनशील लागत (Total Variable Cost)। मार्शल ने इन लागतो को क्रमश पूरक लागत (Supplementary Cost) तथा प्रमुख लागत (Prime Cost) कहा है।

(1) कुल निश्चित लागत (Total Fixed Cost) यह वह लागत है जिसको प्रत्येक अवस्था म व्यय करना पडता है चाहे फम उत्पादन कर रही हो या नहीं। ऐसी लागतें स्थायी लागतें पूरक लागतें (Supplementery Costs) या अप्रत्यक्ष लागतें (Indirect Costs) भी कहते हैं। इस लागत का उत्पादन की मात्रा स विशेष सम्बन्ध नही होता है। उत्पादन की मात्रा कम हो या अधिक उत्पादक को यह लागत उठानी पडती है। अत स्थायी लागतें वे लागतें हैं जो उत्पादन के परिवतन से प्रभावित नहीं होतीं अर्थात वे समान रहती हैं उत्पादन की मात्रा चाहे एक इकाई हो या एक लाख इकाई। यदि उत्पादन कुछ समय के लिए शून्य के बराबर हो जाए तो भी इन लागतो का भार उत्पादक को उठाना पडता है।[1] ऐसी लागत म व्यापार म लगी पूंजी पर ब्याज पूँजी सम्बन्धी सुविधाओ का ह्रास सम्पत्ति कर प्रबन्ध तथा प्रशासन सम्बन्धी वेतन मशीन का बीमा शुल्क लाइसेंस शुल्क आदि सम्मिलित हैं। इन व्ययो को उपरी खर्च (Overhead exp nses) भी कहते हैं। ये व्यय प्रत्येक कारखाने म सदव होते रहते हैं और उसी समय रुकते हैं जब कारखाना अन्तिम रूप से बन्द कर दिया जाता है।

(2) कुल परिवतनशील लागत (Total Variable Cost) इसे प्रमुख लागत अथवा प्रत्यक्ष लागत (Prime Cost) भी कहते हैं। परिवतनशील लागतें उन लागतो को कहते हैं जो पैदा की गई इकाइयो की सख्या के घटने-बढने के साथ घटती-बढती रहती हैं।[2] प्रमुख लागत म कच्चे माल का मूल्य प्रत्यक्ष श्रम पर व्यय

---

1 Fixed costs are tho e which are unrelated to the volume of output they are the costs of firm when its output is temporarily zero"

—*Bains and Others Modern Economics p 113*

2 Variable costs are those which vary directly as a total with the number of units produced

—*Meyers Elements of Modern Economics p 113*

उत्पादन कर ईधन आदि खर्चे सम्मिलित हैं। ये खर्चे उसी समय किये जाते हैं जब उत्पादन का कार्य चलता रहता है। इनकी मात्रा का उत्पादन की मात्रा से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। यदि किसी कारणवश कारखाना बन्द कर दिया जाय तो ये खर्चे नहीं होते हैं।

(3) कुल लागत (Total Cost) कुल निश्चित और कुल परिवर्तनशील लागत के योग को कुल लागत कहते हैं। इस प्रकार

कुल लागत = कुल निश्चित लागत + कुल परिवर्तनशील लागत

$TC = TFC + TVC$

कुल लागत वक्र (Total Cost Curve) उपर्युक्त विवरण को ध्यान में रखते हुए इन लागतों को एक सारिणी द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है

कुल लागत (रुपया में)

उत्पादन मात्रा इकाइयाँ	कुल निश्चित-लागत (Total Fixed cost)	कुल परिवर्तनशील लागत (Total Variable cost)	कुल लागत (Total cost)
0	2 000	0	2000
100	2 000	150	2150
200	2 000	275	2275
300	2 000	385	2385
400	2 000	495	2495
500	2 000	650	2650

सारिणी से स्पष्ट है कि कुल निश्चित लागत सर्वत्र समान है। शून्य उत्पादन पर भी कुल निश्चित लागत उतनी ही उठानी पड़ती है जितनी अधिक उत्पादन पर। शून्य उत्पादन पर परिवर्तनशील लागत भी शून्य है। उत्पादन की मात्रा में वृद्धि के साथ ही साथ परिवर्तनशील लागत में वृद्धि होती गई है। इस सारिणी में कुल निश्चित लागत (TFC) शून्य उत्पादन पर 2 000 रुपये है जो उत्पादन की हर मात्रा पर 2 000 रुपये ही रहती है जबकि कुल परिवर्तनशील लागत (TVC) शून्य उत्पादन पर शून्य है तथा उत्पादन की मात्रा में वृद्धि के साथ-साथ बढ़ रही है। 100 वस्तुओं के उत्पादन पर कुल परिवर्तनशील लागत 150 रुपये है जो 500 वस्तुओं के उत्पादन पर बढ़ कर 650 रुपये हो गयी। कुल लागत (TC) शून्य उत्पादन पर स्थिर लागतों के बराबर अर्थात् 2 000 रुपये है तथा उत्पादन वृद्धि के साथ बढ़ रही है।

कुल लागत कुल निश्चित लागत तथा कुल परिवर्तनशील लागत को रेखाचित्र द्वारा भी स्पष्ट किया जा सकता है। रेखा चित्र सं० 73 में कुल लागत रेखा (Total Cost Curve) जिसमें प्रमुख या परिवर्तनशील लागत तथा पूरक या निश्चित लागत सम्मिलित हैं दर्शायी गई है। इस रेखा के दो भाग—प्रमुख लागत

तथा पूरक लागत—जिनके योग से कुल लागत बनती है दिखलाये गये हैं। रेखाचित्र से स्पष्ट है कि स्थायी लागत रेखा (Fixed Cost Curve) एक सीधी रेखा है क्योंकि उत्पादन की मात्रा चाहे कुछ भी हो स्थायी लागत समान रहती है। स्थायी लागत को कुल लागत रेखा तथा कुल परिवर्तनशील रेखा (Total Variable Cost) के बीच के लम्बवत् अन्तर (Vertical distance) को नाप कर जाना जा सकता है। कुल प्रमुख लागत रेखा (Total Variable Cost Curve) आरम्भ में शून्य से शुरू होती है तथा ज्यों ज्यों उत्पादन में वृद्धि होती है यह रेखा ऊपर उठती जाती है। चित्र
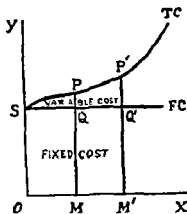
चित्र सं 73

से स्पष्ट है कि आरम्भ में वह कम शीघ्रता से ऊपर उठती है। परन्तु कुछ दूरी के बाद वह शीघ्रतापूर्वक ऊपर उठती है। कुल लागत रेखा (Total Cost Curve) प्रारम्भ से ही धनात्मक मूल्य (Positive value) रखता है जबकि उत्पादन शून्य रहता है। आरम्भ में उत्पादन के शून्य रहने पर इसका मूल्य निश्चित लागत के बराबर होगा। इसके पश्चात् यह रेखा कुल प्रमुख लागत (Total Prime Cost) के साथ लगभग समानान्तर रूप से ऊपर उठती है तथा उन दोनों के बीच की लम्बवत् दूरी स्थायी लागत के बराबर होती है।

निश्चित तथा परिवर्तनशील लागतों की प्रकृति
(Nature of Fixed and Variable Costs)

निश्चित या पूरक लागतों तथा परिवर्तनशील या प्रमुख लागतों में भेद तथा मूल्य निर्धारण में इनका महत्त्व (Difference between Fixed or Supplementary Costs and Variable or Prime Costs and their importance in Price determination) निम्नलिखित हैं

(1) स्पष्ट है कि प्रमुख लागत उत्पादन के साथ परिवर्तित होती रहती है जबकि पूरक लागत का उत्पादन से कोई सम्बन्ध नहीं है।

इस हर हालत म व्यय करना पडता है। ज्या-ज्या उत्पादन की मात्रा बढ़ती जाती है यह लागत भी बढ़ती जाती है। आरम्भ म परिवतनशील लागत तजी से बढ़ती है परन्तु जब उत्पादन म काफी वद्धि कर दी जाती है तब बडे पैमान के उत्पादन के लाभ प्राप्त होन लगत है। फलस्वरूप परिवतनशील लागत उत्पादन के साथ आनुपातिक रूप स नहीं बढ़ती। दीर्घावधि (In the long run) म उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होता है। अत परिवतनशील लागत उत्पादन की अपेक्षा आनुपातिक रूप म अधिक बढ़ती है।

(2) इन लागतो तथा समय का घनिष्ट सम्बन्ध है। यह कहना असम्भव है कि कोई लागत सदव स्थाई है या परिवतनशील है। यह समय पर निभर करता है। इस प्रकार प्रमुख तथा पूरक लागत का अन्तर अल्पकाल (Short run) तथा दीघकाल (Long run) स पूर्णतया सम्बन्धित है। दीघावधि म सभी लागतें परिवतनशील होती हैं परन्तु अल्प अवधि म बहुत सी लागतो म परिवतन नहीं होता उत्पादन की मात्रा चाहे कुछ भी क्यो न हो।

(3) मूल्य निर्धारण मे प्रमुख लागत और पूरक लागत का अधिक महत्त्व है अल्पकाल म यह सम्भव है कि किसी दिए हुए समय पर जबकि मूल्य पर माग का प्रभाव अधिक पडता है तो उत्पादन के लिए यह सम्भव हो सकता कि वह प्रमुख लागत व पूरक लागत दोनो को प्राप्त कर ले। अल्पावधि म यदि उत्पादक को प्रमुख लागत भी लागत मूल्य के रूप मे प्राप्त हो जाती है तो वह उत्पादन जारी रखेगा। एसी परिस्थिति मुख्यतया आर्थिक मन्दी या 'डम्पिग (D pression or dumping) के समय म होती है। उत्पादक एसा इसलिए करता है ताकि उत्पादन काय बन्द न करना पडे। इस प्रकार जो भी मूल्य प्राप्त होता है, उस पर बेच कर वह उत्पादन काय जारी रखता है।

(4) केवल प्रमुख लागत को मूल्य के रूप मे प्राप्त कर उत्पादक उत्पादन का काय दीर्घावधि मे नहीं चला सकता। ऐसा वह केवल अल्प समय के लिए ही कर सकता है क्योंकि अल्प समय म उत्पादन को बन्द करने स फिर उत्पादन-काय आरम्भ करन म कठिनाइयाँ उठानी पडती हैं। अल्पावधि म वह कम स कम इतना मूल्य स्वीकार करेगा जिसम यदि वस्तु की कुल लागत न वसूल हो सके तो कम स कम प्रमुख लागत व पूरक लागत का कुछ भाग अवश्य प्राप्त हो जाय। बहुत हो कम समय म यदि असाधारण परिस्थिति आ जाय तो उत्पादक भविष्य की आशा म केवल प्रमुख लागत प्राप्त हो जान पर भी उत्पादन जारी रखता है।

(5) दीर्घावधि मे यह आवश्यक है कि उत्पादक को मूल्य के रूप में प्रमुख लागत तथा पूरक लागत दोनों प्राप्त हो यदि दीघावधि म उस प्रमुख लागत तथा पूरक लागत दोनो के बराबर मूल्य नहीं प्राप्त होता तो वह उत्पादन काय बन्द कर देगा।

निश्चित लागत तथा परिवर्तनशील लागत में सम्बन्ध
(Relationship between Fixed and Variable Costs)

निश्चित लागतों तथा परिवर्तनशील लागतों के विवेचन के बाद अब हम उनसे सम्बन्धित कुछ महत्वपूर्ण बातों पर विचार करेंगे। ये बातें निश्चित लागतों तथा परिवर्तनशील लागतों के अन्तर से सम्बन्धित हैं

(1) सर्वप्रथम दोनों लागतें साथ-साथ चलती हैं। किसी एक उत्पादन के साधन से उत्पादन नहीं किया जा सकता बल्कि स्थायी तथा परिवर्तनशील साधनों (Fixed and variable factors) दोनों के सहयोग से उत्पादन होता है।

(2) प्रमुख लागत तथा पूरक लागत में कुल लागत का जो विभाजन किया जाता है वह उत्पादन इकाई की अवधि (duration) से पूर्णतया सम्बन्धित है। यह बात मजदूरी तथा वेतन के सम्बन्ध में मुख्यतया लागू होती है। जैसा कि प्रो० मार्शल ने कहा है कि प्रमुख लागत दीर्घकाल में अल्पकाल की अपेक्षा पूरक लागत का रूप ले लेती है।[1] दूसरे शब्दों में अल्पावधि में कुछ साधन इत्यादि के व्यय में निश्चित तथा पूरक होते हैं (Fixed and Supplementary) परन्तु दीर्घावधि में वही साधन परिवर्तनशील (Variable) हो जाते हैं।

(3) प्रो० मार्शल ने यह स्पष्ट रूप में कहा कि प्रमुख तथा पूरक लागतों में विशेष प्रकार का अन्तर नहीं है बल्कि उनका अन्तर केवल मात्रा तक ही है। उदाहरण के लिए एक क्लर्क को वेतन दिया जाता है। यदि उत्पादन के बन्द होने के साथ ही साथ उसकी नौकरी भी समाप्त कर दी जाती है तो यह लागत प्रमुख (Prime Cost) होगी और यदि उसकी नौकरी नहीं समाप्त की जाती तो यह लागत पूरक लागत (Supplementry) होगी।

इकाई लागत
(Unit Cost)

कुल उत्पादन लागत का विभाजन कुल निश्चित लागत तथा कुल परिवर्तनशील लागत में किया जा सकता है। इन लागतों पर उत्पादन की मात्रा का प्रभाव पड़ता है। कुल लागत की जानकारी उत्पादक के लिए अति आवश्यक है। परन्तु प्रति इकाई लागत (per unit cost) की जानकारी कुल लागत की जानकारी की अपेक्षा अधिक उपयोगी है। अतः हम अब इकाई लागत का अध्ययन करेंगे।

प्रति इकाई लागत ज्ञात करना (Finding Unit Cost)

प्रति इकाई लागत ज्ञात करने के लिए कुल लागत में उत्पादित इकाइयों की

---

1 *Prime costs relatively to long periods become supplementary costs relatively to short periods*

—*Marshall*

संख्या से भाग दे देते हैं। इसे हम औसत लागत (Average Cost) के नाम से भी पुकारते हैं। ये औसत लागत भी तीन प्रकार की होती है—(1) औसत निश्चित लागत (Average Fixed Cost or AFC) (2) औसत परिवर्तनशील लागत (Average Variable Cost or AVC) तथा (3) औसत कुल लागत या औसत लागत (Total Average Cost or TC)। इन्हें अलग अलग मालूम करने के लिए अलग अलग के कुल योग में उत्पादित मात्रा का भाग दे दिया जाता है। अग्रलिखित सारणी से विभिन्न प्रकार की इकाई या औसत लागतों को मालूम करने की विधि पर प्रकाश पड़ता है

प्रति इकाई अल्पकालीन लागतें (रुपयों में)
[Per Unit Short Period Costs (in Rupees)]

उत्पादन (Output)	कुल लागत (TC)			औसत लागतें (AC)			सीमान्त लागत (Marginal Cost)
	कुल निश्चित लागत TFC	कुल परिवर्तनशील लागत TVC	कुल लागत (2+3) TC	औसत निश्चित लागत 2÷1 AFC	औसत परिवर्तनशील लागत 3÷1 AVC	औसत लागत 4÷1 AC	MC
1	2	3	4	5	6	7	8
1	100	20	120	100	20	120	—
2	100	38	138	50	19	69	18
3	100	53	153	33	18	51	15
4	100	64	164	25	16	41	11
5	100	75	175	20	15	35	11
6	100	86	186	16 7	14 3	31	11
7	100	128	228	14 3	18 3	32 6	42
8	100	172	272	12 5	21 5	34	44
9	100	233	333	11 1	26	37	61
10	100	300	400	10	30	40	67

उपरोक्त सारणी से स्पष्ट है कि विभिन्न प्रकार की प्रति इकाई लागत किस प्रकार ज्ञात की जाती हैं। इन इकाई लागतों का विवरण अग्रलिखित है

(1) औसत निश्चित लागत (Average Fixed Cost)

उपरोक्त सारणी में औसत निश्चित लागत दूसरे खाने में दिखाया गई है। यह कुल निश्चित लागत में उत्पत्ति इकाइयों से भाग देने से प्राप्त होती है। चूंकि कुल निश्चित लागत में उत्पत्ति इकाइयों का भाग देते हैं इसलिए उत्पादन के बढ़ने के साथ ही साथ औसत निश्चित लागत घटती जाती है। यही कारण है कि आरम्भ में जब उत्पादन कम होता है तो औसत निश्चित लागत अधिक होता है। उत्पादन के बढ़ने के साथ ही आरम्भ में यह लागत शीघ्रता से घटता है। बाद में धीरे धीरे घटती है। किन्तु शून्य कभी भी नहीं होता।

$$\text{औसत निश्चित लागत (AFC)} = \frac{\text{कुल निश्चित लागत (TFC)}}{\text{कुल उत्पादन (Output)}}$$

(2) औसत परिवर्तनशील लागत (Average Variable Cost)

यह लागत कुल परिवर्तनशील लागत में उत्पादन का भाग देने से प्राप्त होती है। ज्यों-ज्यों उत्पादन बढ़ता जाता है यह लागत कम होती जाता है। यह कमी उस बिन्दु तक होता है जहां तक फर्म सबसे अधिक कार्यशील होती है। इसके पश्चात् यह ऊपर उठना आरम्भ होता है। इसलिए औसत परिवर्तनशील लागत वक्र का आकार अंग्रेजी के U की भांति होता है।

$$\text{औसत परिवर्तनशील लागत (AVC)} = \frac{\text{कुल परिवर्तनशील लागत (TVC)}}{\text{कुल उत्पादन (Output)}}$$

(3) कुल औसत लागत (Average Total Cost)

जैसा बताया जा चुका है यह लागत कुल लागत में उत्पादन की कुल इकाइयों से विभाजित करने से प्राप्त होती है। दूसरे शब्दों में यह लागत औसत निश्चित लागत और औसत परिवर्तनशील लागत का योग होती है। कुल औसत लागत में औसत निश्चित लागत और औसत परिवर्तनशील लागत सम्मिलित रहती है। कुल औसत लागत' को औसत लागत (Average Cost) भी कहते हैं। ज्यों ज्यों उत्पादन में वृद्धि होती जाती है औसत निश्चित लागत कम होता जाता है। औसत परिवर्तनशील लागत में भी आरम्भ में कमी होता है परन्तु जब उत्पादन एक निश्चित सीमा तक पहुंच जाता है तब औसत परिवर्तनशील लागत में वृद्धि हो जाता है। इसका प्रभाव यह पड़ता है कि जब उत्पादन उस सीमा तक पहुँच जाता है जहां औसत परिवर्तनशील लागत में वृद्धि होने लगती है तब कुल औसत लागत में कमी होती है। यह उत्पादन का एक अनुकूलतम बिन्दु होता है।

$$\text{कुल औसत लागत (AC)} = \frac{\text{कुल लागत (TC)}}{\text{कुल उत्पादन (Output)}}$$

इस एक अन्य विधि से भी ज्ञात किया जा सकता है

कुल औसत लागत (AC) = औसत निश्चित लागत (AFC) + औसत परिवर्तनशील लागत (AVC)

(4) सीमान्त लागत (Marginal Cost)

यह वह लागत है जिस पर उत्पादक वस्तु की एक इकाई कम या अधिक उत्पन्न करता है। दूसरे शब्दों में उत्पादित वस्तुओं की अन्तिम इकाई की लागत को सीमान्त लागत कहते हैं। उदाहरण के लिए यदि एक उत्पादक किसी वस्तु की 20 इकाइयों का उत्पादन करता है तो 20वीं इकाई का जो उत्पादन व्यय होगा उसे सीमान्त उत्पादन व्यय कहेंगे। सीमान्त उत्पादन-व्यय को हम एक दूसरे प्रकार से भी प्रकट कर सकते हैं। सीमान्त लागत वह अतिरिक्त लागत है जिसके द्वारा एक अतिरिक्त इकाई पैदा करने से कुल व्यय में वृद्धि होती है जैसे एक व्यक्ति 50 वस्तुओं का उत्पादन करता है तथा उसके उत्पादन में 200 रु० व्यय होता है। अब यदि वह 51 वस्तुओं का उत्पादन करे और कुल लागत व्यय 205 रु० होती है तो यह अतिरिक्त 5 रु० सीमान्त लागत हुई। पृष्ठ 671 पर दी गई सारिणी के 8वें कालम में विभिन्न उत्पादित इकाइयों की सीमान्त लागत दिखाई गई है। प्रारम्भ में सीमान्त लागत घटती है किन्तु एक बिन्दु के बाद सीमान्त लागत भी बढ़ने लगती है। सीमान्त लागत रेखा भी U के आकार की होती है।

सीमान्त लागत रेखा के सम्बन्ध में दो बातें महत्वपूर्ण हैं (i) MC रेखा AC रेखा तथा AVC रेखा की अपेक्षा निम्न उत्पादन स्तर पर अपने निम्नतम बिन्दु पर पहुँच जाती है तथा (ii) MC रेखा AC तथा AVC रेखाओं को उनके निम्नतम बिन्दुओं पर काटती है जैसा कि आगे चित्र सं० 71 में M तथा N द्वारा दर्शाया गया है।

मूल्य निर्धारण में सीमान्त लागत का अत्यन्त महत्व है। उत्पादक को बाजार मूल्य को ध्यान में रखते हुए यह निश्चय करना पड़ता है कि उत्पादन की मात्रा कितनी रखी जाय। जिस समय तक वस्तु का मूल्य सीमान्त लागत से अधिक है उस समय तक उत्पादक उत्पादन में वृद्धि करने का प्रयत्न करेगा। वह उत्पादन वृद्धि उस समय तक करता जायगा जब तक कि वस्तु का बाजार मूल्य 'सीमान्त लागत' के बराबर नहीं हो जाता। जिस सीमा पर बाजार मूल्य तथा सीमान्त उत्पादन व्यय बराबर हो जायेंगे उस सीमा के बाद उत्पादन में वृद्धि नहीं की जायगी। यदि उत्पादक इसके बाद भी वृद्धि करता है तो उसे हानि होगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्पादन की मात्रा निश्चित करने में सीमान्त उत्पादन लागत का प्रमुख हाथ है।

औसत लागत तथा सीमान्त लागत में सम्बन्ध (Average and Marginal Cost Relationship) औसत लागत तथा सीमान्त लागत में सम्बन्ध को निम्नलिखित रूप में प्रकट किया जा सकता है (i) आरम्भ में औसत लागत तथा सीमान्त लागत दोनों गिरती है परन्तु सीमान्त लागत औसत लागत की अपेक्षा तीव्र गति से गिरती है (ii) उत्पादन में कोई ऐसा बिंदु अवश्य आता है जहां पर औसत लागत सीमान्त लागत के बराबर होती है (iii) जहां पर औसत लागत और सीमान्त लागत बराबर होती है उसके बाद दोनों बढ़ना प्रारम्भ करती है परन्तु सीमान्त लागत औसत लागत की अपेक्षा अधिक शीघ्रता से बढ़ती है (iv) MC का निम्नतम बिंदु कम उत्पादन स्तर पर ही हो जाता है जबकि AC का निम्नतम बिंदु अपेक्षाकृत ऊंचे उत्पादन स्तर पर होता है। सीमान्त तथा औसत लागत का यह सम्बन्ध निम्नलिखित रेखाचित्र में स्पष्ट है
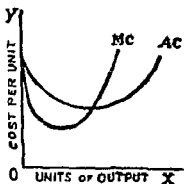
चित्र सं 74

प्रस्तुत चित्र में AC औसत लागत रेखा है और MC सीमान्त लागत रेखा है। जिस बिंदु पर दोनों रेखाएं मिलती है उसके पश्चात् सीमान्त लागत रेखा औसत लागत रेखा की अपेक्षा अधिक तेजी से उठती है। किन्तु सीमान्त लागत औसत लागत की अपेक्षा अधिक शीघ्रता से बढ़ रही है। MC का निम्नतम बिंदु AC की अपेक्षा कम उत्पादन स्तर पर ही है।

इकाई लागत का रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण

औसत लागत औसत स्थिर लागत औसत परिवर्तनशील लागत तथा सीमान्त लागत के पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन रेखा चित्र स० 72 द्वारा किया जा सकता है। (*चित्र के सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि कोई भी प्रति इकाई लागत रेखा Y-अक्ष को स्पर्श नहीं करती क्योंकि उत्पादन शून्य होने की अवस्था में प्रति इकाई लागत का प्रश्न ही नहीं उठता*)। OX अक्ष पर उत्पादन की विभिन्न मात्राएं तथा OY अक्ष पर प्रति इकाई लागत दिखाई गयी है। AFC औसत स्थायी

जितना AFC रेखा आधार रेखा से दूर होती है। AC रेखा तथा AVC रेखा में भी AFC रेखा तथा आधार रेखा के समान निकट आने की प्रवृत्ति रहती है किन्तु ये एक दूसरे को कभी स्पर्श नहीं करती।

(2) जब AVC रेखा गिरती हुई होती है तो AC भी गिरती हुई होती है किन्तु जब AVC बढ़ने लगती है तब कुछ समय तक AC रेखा AFC के गिरने के कारण गिरती हुई होती है अर्थात् AC का ऊपर उठने का बिन्दु AVC के ऊपर उठने के बिन्दु के बाद प्रारम्भ होता है।

(3) AFC रेखा का आकार Rectangular hypersola के समान होता है जबकि AC तथा AVC का आकार अंग्रेजी वर्णमाला के U के समान होता है।

सीमान्त लागत वक्र सम्बन्धी विशेषताएँ

इन रेखाओं के सम्बन्ध की विशेषताओं को निम्न विवरण द्वारा उपर्युक्त रेखाचित्र के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है

(1) सीमान्त लागत का स्थायी लागत (Fixed Cost) से कोई सम्बन्ध नहीं होता क्योंकि उत्पादन में वृद्धि के साथ स्थायी लागत में कोई वृद्धि नहीं होती। सीमान्त लागत का सम्बन्ध कुल लागत में वृद्धि से है क्योंकि उत्पादन में वृद्धि होने पर कुल लागत में वृद्धि होती है।

(2) एक ही सीमान्त लागत का सम्बन्ध कुल परिवर्तनशील लागत (Total Variable Cost) तथा कुल लागत से होता है। इसका कारण यह है कि कुल परिवर्तनशील लागत की अपेक्षा कुल लागत में वृद्धि स्थायी लागत में वृद्धि के द्वारा होती है। परन्तु इस वृद्धि के द्वारा सीमान्त लागत में वृद्धि नहीं होती। फलस्वरूप उत्पादन की इकाई में वृद्धि के साथ जब कुल लागत में वृद्धि होती है तब यह वृद्धि परिवर्तनशील लागत के बराबर होती है। अतः सीमान्त लागत कुल प्रमुख लागत तथा कुल लागत के आकार पर निर्भर करती है।

(3) सीमान्त लागत और औसत प्रमुख लागत तथा औसत कुल लागत का सम्बन्ध भी स्पष्ट है। इसमें प्रमुख सम्बन्ध यह है कि जब MC (Marginal Cost) AVC (Average Variable Cost) तथा ATC (Average Total Cost) से कम रहती है तो अन्तिम दो (AVC तथा ATC) को व्यक्त करने वाली रेखाएं नीचे की ओर गिरती हैं तथा जब MC AVC और ATC से अधिक रहती है तो AVC और ATC रेखाएं ऊपर की ओर उठती हैं।

अल्पकालीन लागत विश्लेषण महत्त्व

(Importance of Short term Cost Analysis)

आधुनिक आर्थिक विश्लेषण में अल्पकालीन लागत विश्लेषण का अत्यधिक महत्त्व है। इस विश्लेषण के महत्त्व को निम्न प्रकार बतलाया जा सकता है

1 अल्पकालीन लागत विश्लेषण मूल्य निर्धारण में सहायक होता है।

2 इस लागत विश्लेषण के आधार पर ही कोई फर्म मांग-पूर्ति के किसी नये प्रस्ताव को स्वीकार या अस्वीकार कर सकता है।

3 यह लागत विश्लेषण इस निर्णय लेने में भी सहायक हो सकता है कि किसी क्षेत्र में पुरानी मशीनों के प्रयोग को चालू रखा जाय या उनके स्थान पर नवीन मशीनें स्थापित की जाय।

4 इस लागत विश्लेषण का यह निर्णय लेने में भी महत्त्व है कि संयंत्र या भवन में विद्यमान अप्रयुक्त क्षमता को किराये पर उठा दिया जाय या स्वयं के वर्तमान उत्पादन को बढ़ाया जाय।

5 इस लागत विश्लेषण से फर्म इस सम्बन्ध में भी महत्त्वपूर्ण निर्णय ले सकती है कि वर्तमान उत्पादन के पैमाने से जिन वस्तुओं का उत्पादन किया जा रहा है उन्हीं का उत्पादन निरंतर चालू रखा जाये या नई वस्तुओं का उत्पादन किया जाय।

दीर्घकाल में लागत
(Cost in the Long Run)

अल्पकालीन लागत के अध्ययन के पश्चात् अब हम दीर्घकाल के सन्दर्भ में लागत का अध्ययन करेंगे। फर्में अल्पकालीन लागतों पर विशेष ध्यान देती हैं क्योंकि फर्मों के आर्थिक कार्य मुख्यतः अल्पकाल से सम्बन्धित होते हैं। कीन्स ने कहा है कि दीर्घकाल में हम सभी मर जाएँगे (In the long run we all will be dead)। फिर भी उत्पादक भविष्य की आशाओं तथा सम्भावनाओं को ध्यान में रख कर ही निर्णय लेता है (विशेषतः फर्म के आकार के सम्बन्ध में)। इस प्रकार यदि अल्पकाल का सम्बन्ध आर्थिक कार्यों से है, तो दीर्घकाल का सम्बन्ध आर्थिक निर्णयों से है। अतः यहाँ पर 'दीर्घकाल में लागत' का संक्षिप्त अध्ययन प्रस्तुत किया जायगा।

1 दीर्घकालीन औसत लागत वक्र (Long Run Average Cost Curve)

दीर्घकाल में फर्म के आकार में परिवर्तन किया जा सकता है। उत्पादक

चित्र सं० 76
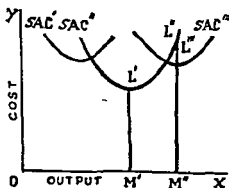
विभिन्न मात्राओं में उत्पादन कर इस बात का पता लगाना है कि उत्पादन की किस मात्रा पर उत्पादन लागत न्यूनतम होगी। यहाँ पर यह स्मरणीय है कि दीर्घकाल में उत्पादन के निश्चित साधनों (Fixed factors) में भी परिवर्तन किया जा सकता है अतः दीर्घकाल में उत्पादन के समस्त साधन परिवर्तनशील (Variable) होते हैं। अतः दीर्घकाल में केवल कुल औसत लागत रेखा तथा सीमान्त लागत रेखा ही रह जाती है। दीर्घकाल की अवधि जितनी ही अधिक लम्बी होगी निश्चित लागतें परिवर्तनशील लागतों में परिवर्तित होती जायेंगी। दीर्घकाल में उत्पादन साधनों के अपेक्षित संयोग से उत्पादन करना सम्भव होता है अर्थात् उत्पादन मान *(Scale of Production)* में सरलता से परिवर्तन किया जा सकता है। उत्पादन की मात्रा में जितनी बार परिवर्तन किया जाएगा उतनी ही बार फर्म के लिए नए अल्पकालीन लागत-वक्र प्राप्त होंगे। रेखाचित्र सं० 77 इस तथ्य को स्पष्ट करता है

चित्र में फर्म का अल्पकालीन लागत-वक्र SAC है M L लागत पर उत्पादन की अनुकूलतम मात्रा OM है। यदि उत्पादन की मात्रा बढ़ाकर OM″ कर दी जाए (अल्प काल) तो औसत लागत M L″ होगी (SAC लागत वक्र पर)। इसका कारण यह है कि अल्पकाल में उत्पादन मान निश्चित है तथा प्लांट आदि की संख्या में वृद्धि नहीं की जा सकती है। परन्तु दीर्घकाल में प्लांट आदि की
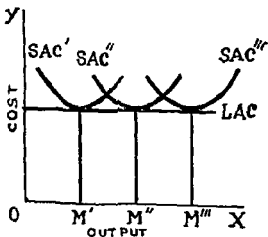
चित्र सं० 77

संख्या तथा क्षमता में परिवर्तन किया जा सकता है। अतः उत्पादन मान बढ़ाने पर नया अल्पकालीन औसत वक्र SAC″ प्राप्त होगा (OM″ मात्रा के उत्पादन के लिए)। अब OM″ अनुकूलतम उत्पादन पर लागत M L″ होगी। फर्म के आकार में परिवर्तन करने से लागत M″L″ से घटकर M″L″ हो जाएगी। अतः स्पष्ट है कि

विभिन्न उत्पादन मात्रा पर फर्म को बढ़ती हुई तथा घटती हुई लागतों का सामना करना पड़ेगा। दीर्घकाल में फर्म के आकार में परिवर्तन के कारण औसत लागत कम होगी।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि अल्पकाल तथा दीर्घकाल में औसत लागत में परिवर्तन होता रहता है। यह सम्भव है कि दीर्घकाल में उत्पादन समता नियम (Constant Returns) के अनुसार उत्पादन हो अर्थात् विभिन्न मात्राओं के उत्पादन के लिए प्लाट के आकार में परिवर्तन किया जाये तथा इस परिवर्तन के फलस्वरूप औसत लागत समान रहे।

चित्र सं० 78 में उपर्युक्त तथ्यों को प्रदर्शित किया गया है SAC SAC″ तथा SAC अल्पकालीन औसत लागत वक्र है। उत्पादन की मात्रा में परिवर्तन करने से इन लागत वक्रों पर उत्पादन की मात्राएँ क्रमशः OM OM″ तथा OM ″ है। तीनों अल्पकालीन औसत लागत वक्रों की स्पर्श रेखा (Tangent) खींचने पर दीर्घकालीन औसत लागत वक्र (LAC) प्राप्त होता है। यह एक आधी रेखा है जो यह प्रकट करती है कि उत्पादन मान में परिवर्तन करने से औसत लागत में परिवर्तन नहीं होगा।
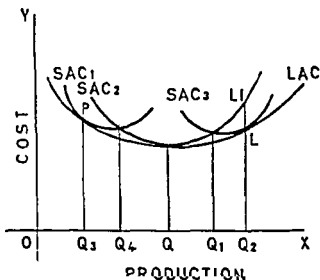
चित्र सं० 78

परन्तु औसत लागत का सदैव समान मान लेना व्यावहारिक दृष्टि से उचित नहीं है। व्यवहार में उत्पादन-साधनों की लागतों में परिवर्तन होता रहता है। अतः दीर्घकालीन औसत लागत वक्र को एक सीधी रेखा मान लेना भारी

कल्पना मात्र है अर्थात् *अल्पकालीन औसत लागत वक्रो की स्पर्श रेखाएँ एक मोड़* म नहीं हो सकती हैं। दीर्घकालीन औसत लागत वक्र भी अल्पकालीन औसत लागत वक्रो की भांति U के सदृश होगा। रेखा चित्र स० 78 म अल्पकालीन औसत लागत वक्रो (SAC_1 SAC_2 SAC_3) की स्पर्श रेखा (सभी अल्पकालीन औसत लागत वक्रो के निम्नतम बिन्दुओं को स्पर्श करती हुई) खींची गई है इस प्रकार दीर्घकालीन औसत लागत वक्र LAC बनता है।

चित्र से स्पष्ट है कि SAC_1 SAC_2 तथा SAC_3 अल्पकालीन औसत लागत वक्र विभिन्न उत्पादन मान की अवस्थाओं को प्रकट करते है। OQ_3 OQ तथा OQ_1 मात्राएँ विभिन्न औसत लागतो पर पैदा की जा रही हैं। OQ मात्रा *निम्नतम लागत पर पैदा की जा रही है। ये तीनों मात्राए दीर्घकालीन औसत* लागत वक्र LAC पर हैं। उत्पादन मान म परिवर्तन करने से तीनो अवस्थाए पायी गई है जो तीनो अल्पकालीन औसत लागत वक्रो द्वारा प्रदर्शित की गई हैं।

चित्र स०78 से स्पष्ट है कि दीर्घकालीन औसत लागत वक्र भी अल्पकालीन औसत लागत वक्रो की भांति U की शक्ल का है परन्तु इसका फैलाव अल्पकालीन औसत लागत वक्रो की अपेक्षा अधिक है। दीर्घकालीन औसत लागत वक्र को Envelope Curve भी कहते हैं क्योंकि यह सभी अल्पकालीन औसत लागत वक्रो को अपने म समाहित कर लेता है। दीर्घकालीन औसत लागत की ये विशेषताए उल्लेखनीय हैं

(i) दीर्घकालीन औसत लागत कभी भी अल्पकालीन औसत लागत म अधिक नहीं हो सकती है (ii) *दीर्घकालीन औसत लागत वक्र अल्पकालीन औसत लागत* वक्रो को कभी भी काटता नहीं है (iii) दीर्घकालीन औसत लागत वक्र का न्यूनतम बिन्दु निम्नतम लागत तथा फर्म के अनुकूलतम आकार को प्रकट करता है (iv) दीर्घकालीन औसत लागत रेखा फर्म के लिए नियोजन वक्र का कार्य करती है क्योंकि यह रेखा फर्म के लिए लागत तथा उत्पादन सम्बन्धी सर्वश्रेष्ठ सम्भावनाएँ व्यक्त करती है (v) दीर्घकालीन औसत लागत रेखा SAC रेखाओं को सदैव न्यूनतम बिन्दुओं पर स्पर्श नहीं करती है। LAC रेखा केवल एक SAC रेखा को अपने न्यूनतम बिन्दु पर स्पर्श करती है। इस बिन्दु के अलावा अन्य सभी SAC रेखाओं को LAC उनके गिरते हुए भाग या उठते हुए भाग को स्पर्श करती है। दीर्घकालीन औसत लागत रेखा अपने निम्न बिन्दु से पूर्व SAC रेखाओं के गिरते हुए भागों को तथा अपने न्यूनतम बिन्दु के बाद उनके उठते हुए भागों को स्पर्श करती है। (vi) दीर्घकालीन औसत लागत रेखा दीर्घकाल म प्रत्येक सम्भावित उत्पादन मात्रा के लिए न्यूनतम सम्भावित औसत लागत बतलाती है

2 दीर्घकालीन सीमान्त लागत वक्र (Long run Marginal Co t Curve)

दीर्घकालीन सीमान्त लागत वक्र तथा अल्पकालीन सीमान्त लागत वक्र म कोई मौलिक अन्तर नहीं है। अल्पकाल म कुछ परिवर्तनशील लागत की

वर्णित मात्रा म उत्पादन की परिवर्तित मात्रा स भाग देने पर सीमान्त लागत ज्ञात की जाती है। परन्तु दीर्घकाल मे निश्चित लागत तथा 'परिवर्तनशील लागत का भेद समाप्त हो जाता है। अत दीर्घकाल म सीमान्त लागत उत्पादन की मात्रा मे एक इकाई-वृद्धि करने स कुल लागत म हुई वृद्धि क बराबर होती है। दीर्घकाल म भी औसत लागत तथा सीमान्त लागत म वही सम्बन्ध रहते हैं जो अल्पकाल म होते हैं। अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन सीमान्त लागत वक्र दोनो U शक्ल के होते हैं। दीर्घकालीन औसत लागत क निम्नतम बिन्दु पर दीर्घकालीन सीमान्त लागत औसत लागत क बराबर होती है। इस निम्नतम बिन्दु पर दीर्घकालीन औसत लागत, अल्पकालीन औसत लागत दीर्घकालीन सीमान्त लागत तथा अल्पकालीन सीमान्त लागत सभी बराबर होती हैं। चित्र स 79 इस तथ्य को प्रकट करता है।
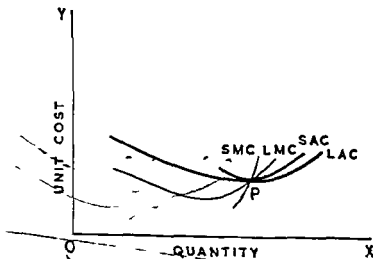
चित्र स० 79

चित्र स स्पष्ट है कि बिन्दु P पर अल्पकालीन व दीर्घकालीन सीमान्त तथा औसत लागतें समान हैं।

प्रश्न व संकेत

1 लागतो की प्रकृति की संक्षेप म व्याख्या कीजिए तथा यह बताइए कि अल्पकाल म औसत लागतें सीमान्त लागत, औसत आय तथा सीमान्त आय का व्यवहार क्या होता है ?

Explain briefly the nature of costs and discuss the behaviour of Average Cost Marginal Cost and Average Revenue and Marginal Revenue

[संकेत—प्रथम भाग में लागतों की प्रकृति समझाने के लिए मौद्रिक लागत तथा समय में परिवर्तनशील और स्थिर लागतों का आशय स्पष्ट कीजिए। द्वितीय भाग में औसत लागत सामान्त लागत तथा औसत आय तथा सीमान्त आय का अर्थ बताइए और अन्य प्रकार में इनकी रेखाओं के आकार का स्पष्टीकरण दीजिए।]

2 एक फर्म के औसत तथा सीमान्त आगमों के बीच अन्तर बताइए। पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत इनका वस्तु के मूल्य से क्या सम्बन्ध होता है ?

Distinguish between Average Revenue and Marginal Revenue of a firm What is the relation of these Revenues under Perfect Competition ?

[संकेत—सर्वप्रथम औसत तथा सीमान्त आय का आशय रेखाचित्रों की सहायता से स्पष्ट कीजिए। इसके बाद समझाइए कि पूर्ण प्रतियोगिता में औसत आय सीमान्त आय के बराबर होती है।]

3 वास्तविक लागत तथा अवसर लागत में अन्तर बताइए तथा अवसर लागत के सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।

Distinguish between real cost and opportunity cost and explain the doctrine of opportunity cost

[संकेत—सर्वप्रथम प्रतिष्ठावादी अर्थशास्त्रियों के वास्तविक लागत के विचार को स्पष्ट कीजिए। इसके बाद इसकी कमियां बताते हुए आधुनिक अर्थशास्त्रियों के विचार बताइये। इसके पश्चात् अवसर लागत का आशय स्पष्ट कीजिए तथा इसके महत्त्व और सीमाओं का विवेचन कीजिए]

4 प्रमुख लागत तथा पूरक लागत में भेद बतलाइए और इनका किसी वस्तु के मूल्य निर्धारण में महत्त्व समझाइए।

Distinguish between Prime Cost and Supplementary Cost and explain their importance in the determination of price of a commodity

[संकेत—उपर्युक्त दोनों लागतों में भेद बतलाइये तथा मूल्य निर्धारण में इनके महत्त्व का उल्लेख कीजिये।]

5 अल्पकाल तथा दीर्घकाल में औसत लागत वक्र के व्यवहार की विवेचना कीजिए। चित्रों की सहायता से इनके आकार में होने वाले परिवर्तनों की व्याख्या कीजिए।

Discuss the behaviour of Average Cost Curve in the short pe iod and long period Explain with the help of diagramsthe changes that o cur in its shape

[संकेत अल्पकालीन औसत लागत के स्पर्श से दीर्घकालीन औसत लागत वक्र बनता है। दीर्घकालीन औसत वक्र अपेक्षाकृत चपटा होता है।]

31

कुल आगम, सीमान्त आगम व लोच

(Total Revenue Marginal Revenue and Elasticity)

कोई वस्तु इसलिए बेची जाती है कि बाजार में उसकी माँग होती है। जो कुछ बाजार में खरीदा जाता है वही बेचा भी जाता है, अर्थात् एक ही सौदा क्रेता के लिए खरीद का तथा विक्रेता के लिए बिक्री का होता है। माँग सूची यह बतलाती है कि विक्रेता विभिन्न कीमतों पर कितनी मात्राएँ बेच सकता है ? बिक्री द्वारा विक्रेता जो कुछ प्राप्त करता है वह उसकी आगम या आय होती है। किसी उत्पादक की आय का निर्धारण माँग द्वारा किया जाता है। जिस प्रकार 'कुल लागत' औसत लागत तथा सीमांत लागत शब्दों का प्रयोग लागत के सन्दर्भ में किया जाता है उसी प्रकार कुल आगम, औसत आगम तथा सीमांत आगम' शब्दों का प्रयोग *आगम के सन्दर्भ में किया जाता है।*

1 **कुल आगम** (*Total Revenue*) उस राशि को कहते हैं जो फर्म अपनी वस्तुओं की बिक्री से प्राप्त करती है। उदाहरणार्थ, यदि फर्म तीन वस्तु इकाइयाँ बेचकर 27 रुपये प्राप्त करती है तो कुल आगम 27 रुपये होगी जिसे पृष्ठ 685 पर तालिका द्वारा दर्शाया गया है। इस प्रकार

कुल आगम = प्रति इकाई कीमत × बेची गई इकाइयों की संख्या।

सूत्र के रूप में $TR = Q \times P$

जहाँ TR = कुल आगम Q = वस्तु की *बिक्री की गयी इकाइयाँ तथा* P = वस्तु मूल्य।

2 **औसत आगम** (Average Revenue) किसी वस्तु की बिक्री से प्राप्त कुल आगम को कुल बेची गई मात्रा से विभाजित करने पर औसत आगम प्राप्त होती है अर्थात औसत आगम = $\frac{\text{कुल आगम}}{\text{कुल बिक्री की मात्रा या इकाइयाँ}}$।

सूत्र के रूप में

$$AR = \frac{TR}{Q}$$

यहाँ AR = औसत आगम TR = कुल आगम तथा Q = बिक्रीत वस्तु इकाइयाँ।

3 सीमान्त आगम (Marginal Revenue) वह राशि जिससे फर्म की कुल आगम में एक अतिरिक्त इकाई बेचने से वृद्धि होती है सीमान्त आगम कहलाती है, अर्थात सीमांत आगम = {कुल पूर्व आगम तथा एक अतिरिक्त इकाई बेचने से प्राप्त कुल आगम का अन्तर। उदाहरणार्थ वस्तु की 3 इकाइयाँ बेचने पर कुल आगम 27 रुपये है (तालिका के स्तम्भ 2 के अनुसार) तथा 4 वस्तु इकाइयाँ बेचने पर कुल आगम 34 रुपये हैं तो चतुर्थ वस्तु के बेचने से सीमान्त आगम 34 − 27 = 7 रुपये प्राप्त होती है जो तालिका के चौथे कालम से स्पष्ट है।

औसत आगम व सीमांत आगम मे सम्बन्ध
(Relationship between AR and MR)

सामांत औसत तथा कुल आगम के उत्पादन के प्रत्येक स्तर पर सम्बन्धों को एक तालिका द्वारा समझा जा सकता है। मान लीजिए किसी फर्म की कुल औसत तथा सीमांत आगमों की स्थिति निम्न तालिका के अनुसार है

कुल औसत तथा सीमांत आगम तालिका

(रुपयों में)

उत्पादन	कुल आगम	औसत आगम	सीमांत आगम
1	10	10	10
2	19	9 5	9
3	27	9	8
4	34	8 5	7
5	40	8	6
6	45	7 5	5
7	49	7	4
8	52	6 5	3
9	54	6	2
10	55	5 5	1

इस तालिका के आधार पर जो रेखा चित्र बनेगा वह चित्र सख्या 77 के

अनुसार होगा। चित्र म TR कुल आगम वक्र MR सीमांत आगम वक्र तथा AR औसत आगम वक्र हैं।

औसत तथा सामात आगम वक्रा को सम्बन्धित कुल आगम वक्र स ज्यामितिक विधि द्वारा ज्ञात किया जा सकता है। हम जानते है कि मूल्य बिन्दु स खींची गयी रेखा का ढाल जो कुल आगम वक्र को किसी भी बिन्दु पर काटती है उत्पादन विशेष पर प्रति इकाई कीमत या औसत आय प्रदर्शित करती है।

चित्र स 80 OA रेखा का ढलाव $\left(\text{जो } \frac{OA}{OB} \text{ है}\right)$ उस समय वस्तु की

कीमत दिखलाता है जबकि उत्पादन OB पाच इकाई है। दूसरी विधि से भी इसे ज्ञात किया जा सकता है। OX पर B की बायी ओर एक इकाई पर निशान लगाकर जो चित्र म CB दूरी स प्रकट किया गया है औसत आगम ज्ञात कर सकते हैं। यदि OA के समानान्तर CD खींचा जाय तो प्रति इकाई कीमत ज्ञात होती है। OA का ढलाव प्रति इकाई कीमत प्रकट करता है। इसी प्रकार CD का ढलाव भी प्रति इकाई कीमत प्रकट करता है। चूंकि CB एक इकाई प्रकट करती है इसलिए BD रुपया (8 रुपय) प्रति इकाई कीमत प्रकट करती है। अत D फम के सीमान
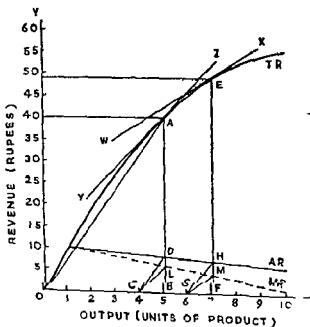
चित्र न० 80

आगम वक्र पर वह बिन्दु है जो OB उत्पादन पर प्रति इकाई कीमत प्रकट करता है। इसी प्रकार औसत आगम वक्र (AR) पर अन्य बिन्दु ज्ञात किये जा सकते हैं। जैसे OF उत्पादन (सात इकाइयाँ) पर GF वस्तु की एक इकाई प्रकट करता है। औसत आगम FH रुपय (7 रुपय) है। यहा पर OE CH के समानान्तर है। इसी प्रकार उत्पादन की किसी भी मात्रा पर सामान्त आगम उस आगम से सम्बंधित कुल आगम वक्र के बिन्दु की स्पर्श रेखा के ढलाव से प्रकट होता है जैसे चित्र में YZ कुल आगम वक्र के A बिन्दु पर एक स्पर्श रेखा है। YZ का ढलाव उस दूरी को प्रकट करता है जिस पर कुल आगम उत्पादन की OB मात्रा पर बदलता है। अर्थात यह अन्तिम इकाई के पैदा करने से आगम में होने वाली वृद्धि—सीमान्त आगम को प्रकट करता है। अतः यदि हम YZ के समानान्तर CL खींच लो हम CB इकाई द्वारा की गयी आगम में वृद्धि ज्ञात कर सकते हैं। यहा पर सीमान्त आगम BL रुपय (छः रुपय) है। इसी प्रकार हम किसी फर्म के कुल आगम वक्र पर स्पर्श रेखाएँ खींच कर तथा उनका ढलाव ज्ञात करके सीमान्त आगम वक्र बना सकते हैं।

अब हम औसत आगम वक्र तथा उससे सम्बंधित सीमान्त आगम वक्र के ज्यामितीय सम्बन्ध पर प्रकाश डालेंगे

(1) जब औसत आगम वक्र गिरता है तब सीमान्त आगम औसत आगम से कम रहता है। स्वयं सीमान्त आगम वक्र भी ऊँचा उठ सकता है गिर सकता है या परिस्थितियों के अनुसार सीधी रेखा के रूप में (Horizontal) रह सकता है। परन्तु सामान्य रूप में यह गिरता है।

(2) सीमान्त आगम और औसत आगम के पारस्परिक सम्बन्धों को उस समय सरलता से ज्ञात किया जा सकता है जबकि औसत तथा सामान्त आगम वक्र सीधी रेखाओं के रूप में हों। यदि ये दोनों सीधी रेखाओं के रूप में हैं तो सीमान्त
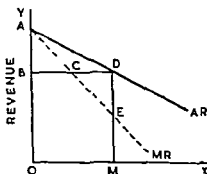
चित्र स० 81

आगम वक्र को आधी से कम दूरी पर काटता है जैसा कि चित्र सं० 82 में प्रदर्शित किया गया है।
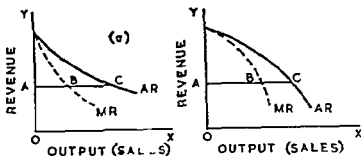
चित्र सं० 82

परन्तु जहाँ औसत आगम वक्र ऊपर की ओर उन्नतोदर (Concave) होता है वहाँ OY अक्ष पर डाले गए किसी भी लम्ब को औसत आगम वक्र के आधे से अधिक दूरी पर काटता है, जैसा कि ऊपर के चित्र में प्रकट है।

पूर्ण स्पर्द्धा में औसत तथा सीमान्त आगम
(Average and Marginal Revenue in Perfect Competition)

पूर्ण स्पर्द्धा के अन्तर्गत फर्म की वस्तुओं की माँग पूर्णतया लोचदार होती है। फर्म की उत्पादन मात्रा का कीमत पर प्रभाव नहीं पड़ता है। अतः एक अतिरिक्त इकाई बेचने से प्राप्त आगम (सीमान्त आगम) सदैव समान रहता है। इस प्रकार सीमान्त आगम कीमत के बराबर होता है। साथ ही साथ यह औसत आगम के भी बराबर होता है। इस प्रकार पूर्ण स्पर्द्धा के अन्तर्गत

कीमत = सीमान्त आगम = औसत आगम (या P = MR = AR)

इन दोनों के समान होने के कारण कुल आगम में भी समान दर से वृद्धि होती है। चूँकि पूर्ण स्पर्द्धा में औसत आय सीमान्त आय के बराबर होती है अतएव सीमान्त आय और औसत आय की रेखाएँ अलग-अलग न होकर एक ही भाँति क्षैतिज (Horizontal) रेखा के रूप में होती है, जैसा कि आगे दिये गये रेखाचित्र सं० 83 में स्पष्ट किया गया है।

पूर्ण स्पर्द्धा में उत्पादक को न तो लाभ होता है और न हानि। मूल्य औसत उत्पादन-व्यय के बराबर होता है तथा इस मूल्य पर उत्पादक वस्तु की मात्राएँ बेचता है। प्रत्येक इकाई के लिए उसे एक ही दर से मूल्य प्राप्त होता है इसलिए औसत

आय और सामान्य आय में कोई अन्तर नहीं होता। यही कारण है कि औसत आय और सामान्य आय की रेखा भी एक ही होती है।
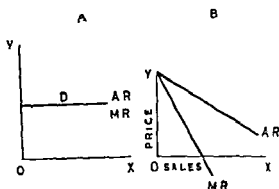
चित्र सं० 83

इस सम्बन्ध में यह भी याद रखना चाहिए कि एक फर्म की औसत आय रेखा फर्म की वस्तुओं के लिए उपभोक्ताओं की माँग रेखा (Demand Curve) भी होती है। अतः फर्म की औसत आय रेखा को माँग रेखा भी कहा जाता है क्योंकि यह रेखा इस तथ्य को व्यक्त करती है कि विभिन्न मूल्यों पर फर्म की कितनी वस्तुओं की माँग होगी। कुछ अर्थशास्त्री औसत आय वक्र (Average Revenue Curve) को विक्रय वक्र (Sales Curve) भी कहते हैं। इस प्रकार पूर्ण स्पर्द्धा में माँग-वक्र (D mand Curve) औसत आय-वक्र (Average Revenue Curve) तथा सीमान्त आय-वक्र (Marginal R-venue Curve) का रूप एक सीधी रेखा की तरह होता है। परन्तु इसके लिए यह आवश्यक है कि माँग पूर्णतया लोचदार हो।

एकाधिकारी के आगम वक्र
(Revenue Curves for Monopolist)

चूँकि एकाधिकारी एकमात्र उत्पादक होता है अतएव उसकी माँग की जाँच बाजार माँग की जाँच के समान होती है। यदि वह अपने उत्पादन में 20% परिवर्तन करता है तो उद्योग के उत्पादन में भी 20% परिवर्तन होगा। एकाधिकारी उत्पादन की विभिन्न मात्राएँ अलग अलग कीमतों पर बेचता है। उसके औसत तथा सीमान्त आगम माँग द्वारा निर्धारित किये जाते हैं। एकाधिकारी के औसत तथा सीमान्त आगम में अन्तर होता है। एकाधिकारी के लिए माँग वक्र नीचे की ओर झुका होता है (downward sloping demand curve) तथा यदि वह अतिरिक्त इकाइयाँ बेचना चाहता है तो कुछ उत्पादन बेचने के लिए उसे कीमत कम करनी पड़ती है। कीमत (या औसत आगम) के नीचे गिरने पर सीमान्त आगम औसत आगम की तुलना में गिरता है। सीमान्त आगम ऋणात्मक (Negative) भी हो सकता

चाहे कीमत धनात्मक (Positive) ही हो। निम्न सारिणी द्वारा इन तथ्यों को स्पष्ट किया गया है

एकाधिकारी का आगम

कीमत या औसत आगम (रु० में)	विक्रय इकाइयां (संख्या)	कुल आगम (रु० में)	सीमांत आगम (रु० में)
10	5	50	—
9	6	54	4
8	7	56	2
7	8	56	0
6	9	54	−2
5	10	50	−4
3	11	44	−6

सारिणी से स्पष्ट है कि (i) बिक्री की मात्रा में वृद्धि के लिए कीमतें कम करनी पड़ती हैं (ii) कुल आगम घटते हुए दर से वृद्धि होती है तथा कुछ समय पश्चात् कुल आगम भी घटने लगता है तथा (iii) सीमांत आगम औसत आगम से सदैव कम है तथा कुल आगम के अधिकतम होने के पश्चात् सीमांत आगम ऋणात्मक होने लगता है।

रेखाचित्र

अपूर्ण स्पर्द्धा तथा एकाधिकार की अवस्थाओं में सीमांत आगम तथा औसत आगम की रेखाएँ नीचे की ओर झुकी हुई होती हैं तथा सीमांत आगम रेखा औसत आगम रेखा के नीचे होती है। इसका कारण यह है कि सामान्यतया माँग की रेखा पूर्ण लोचदार नहीं होती है। ऐसी अवस्था में मूल्य तथा औसत आगम की रेखाएँ ही एक सी होती हैं परन्तु सीमांत आगम रेखा भिन्न होती है। सीमांत आगम रेखा औसत आगम रेखा की अपेक्षा अधिक शीघ्रता से गिरती है क्योंकि एकाधिकारी को अधिक मात्रा में वस्तुओं के विक्रय के लिए सभी इकाइयों का मूल्य घटाना पड़ता है। इस प्रकार उसे केवल सीमांत आगम (अतिरिक्त बेची गयी इकाई पर आय) की ही हानि नहीं होती बल्कि औसत आगम (सभी बेची गयी इकाइयों पर आय) की मात्रा में कमी होने में हानि उठानी पड़ती है। यही कारण है कि एकाधिकार की अवस्था में यदि एकाधिकारी अधिक वस्तुओं की बिक्री करता है तो सीमांत आय औसत आय की अपेक्षा अधिक शीघ्रता से गिरती है।

रेखाचित्र सं० 82 (पृ० 689 पर) AR औसत आगम रेखा तथा MR सीमांत आगम रेखा है जो AR के नीचे है क्योंकि अपूर्ण स्पर्द्धा में सीमांत आय मूल्य से सदैव कम होती है। सीमांत आय उस समय ऋणात्मक (Negative) होती है जब माँग बेलोचदार (Inelastic) होता है। ऐसी अवस्था में अधिक मात्रा में वस्तुओं को बेचने पर कुल आय में भी कमी होती है।

भ्रागम विश्लेषण का परिशिष्ट

भ्रौसत व सीमान्त भ्रागम तथा लोच
(Average Revenue Marginal Revenue and Elasticity)

भ्रौसत व सीमान्त भ्रागम तथा लोच के पारस्परिक गणितीय सम्बन्ध (Mathematical Relationship) को ज्ञात किया जा सकता है। चित्र स० 84 म
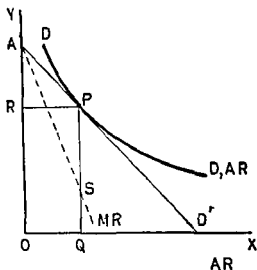
चित्र स० 84

[ध्यान रखें MR रेखा RP रेखा को दो समान भागों म बाँटती है।]

DD माँग वक्र या भ्रौसत भ्रागम वक्र है। इसके बिन्दु P पर स्पर्श रेखा (Tangent) AD खींची गई है। इसे भी हम माग वक्र मान सकते हैं। बिक्री की OQ मात्रा के लिए P बिन्दु पर इन दोनों (DD or AD) की लोच समान होगी। AD के नीचे का रेखा (MR) सीमान्त भ्रागम रेखा है। भ्रत OQ मात्रा के लिए माग की लोच

$$= \frac{PD}{PA} = \frac{OR}{RA} = \frac{PQ}{SP} \quad (\text{क्योंकि } SP = AR)$$

$$\frac{PQ}{PQ - SQ} = \frac{\text{भ्रौसत भ्रागम}}{\text{भ्रौसत भ्रागम} - \text{सीमान्त भ्रागम}}$$

यदि माँग की लोच = e औसत आगम = A सीमान्त आगम = M तो समीकरण के रूप में हम इन सम्बन्धों को इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं

$$e = \frac{A}{A-M} \text{ अर्थात् } eA - eM = A \text{ अतः } - eM = A - eA$$

$$\text{अतः } M = \frac{eA-A}{e} = A\frac{e-1}{e}$$

इसी प्रकार चूंकि $eA - eM = A$ अतः $eA-A=eM$

$$A(e-1) = eM \qquad A = \frac{M}{e-1} \qquad A = M\left(\frac{e}{e-1}\right)$$

$$\text{या } M = A\left(1-\frac{1}{e}\right) = A\left(\frac{e-1}{e}\right)$$

अतः सामान्य नियम के रूप में कहा जा सकता है कि यदि e = औसत आगम पर माँग की बिन्दु लोच हो तो किसी भी उत्पादन के लिए

औसत आगम = सीमान्त आगम $\times \frac{e}{e-1}$ तथा

सीमान्त आगम = औसत आगम $\times \frac{e-1}{e}$ और सीमान्त आगम = कीमत − $\frac{\text{कीमत}}{\text{लोच}}$

सीमान्त आगम, औसत आगम तथा लोच के उपयुक्त सम्बन्ध स्मरणीय हैं।

सीमान्त आगम, कीमत व माँग की लोच
(Marginal Revenue, Price and Elasticity of Demand)

सीमान्त आगम, कीमत तथा माँग के पारस्परिक सम्बन्धों को निम्नलिखित प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए किसी वस्तु की X इकाइयों को P कीमत पर बेचा जा सकता है तथा $X+X_1$ इकाइयों को $P-P_1$ कीमत पर बेचा सकता है (जबकि X_1 तथा P_1 बहुत छोटी मात्राएँ हैं)। ऐसी अवस्था में सीमान्त आगम [MR]

$$= \frac{\text{कुल आगम में वृद्धि}}{\text{बिक्री में वृद्धि}} = \frac{(X+X_1)(P-P_1) - XP}{X_1}$$

$$= \frac{XP + X_1P - P_1 - X_1P_1XP}{X_1} = P - \frac{XP_1}{X_1} - P_1$$

$\frac{MR}{P} = 1 - \frac{X}{X_1} \times \frac{P_1}{P} - \frac{P_1}{P}$ हम यह मान चुके हैं कि P_1 बहुत ही

छोटी मात्रा है अत $\frac{P_1}{P}$ को छोड़ा जा सकता है और,

$$\frac{X}{X_1} \times \frac{P_1}{P} = 1 - \left(\frac{X_1}{X} - \frac{P_1}{P}\right) = \frac{1}{e}$$ यहां पर e माग की लोच है।

इससे यह स्पष्ट है कि $MR = P\left(1 - \frac{1}{e}\right)$। इस प्रकार सीमान्त आगम कीमत तथा माग की लोच पर निर्भर है।

यदि किसी फर्म के औसत आगम वक्र की लोच किसी भी दी हुई उत्पत्ति पर एक के बराबर होती है तो

सामान्त आगम = औसत आगम $\times 1 - 1$ = औसत आय $\times 0 = 0$

अत जब औसत आगम वक्र की लोच एक के बराबर होती है सीमान्त आगम शून्य होता है। इस चित्र स० 82 में प्रदर्शित किया गया है
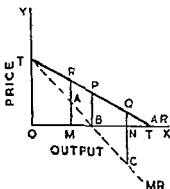
चित्र स० 85

चित्र संख्या 85 औसत आगम वक्र पर बिन्दु P पर लोच एक के बराबर है, जहां उत्पत्ति OB है क्योंकि PT=Pt अत $\frac{PT}{Pt} = 1$। इस उत्पत्ति पर सामान्त आगम शून्य है। इसी प्रकार जब माग की लोच 2 के बराबर होती है (चित्र स० 85 में बिन्दु R पर) जहाँ RT=2Rt

$$M = A\,\frac{2-1}{2} = \frac{1}{2}A$$

अन्य शब्दों में $AM = \frac{1}{2}$ RM। सामान्त आगम औसत आगम के आधे के बराबर होगा। जब भी औसत आगम वक्र 1 से अधिक होगा तब किसी भी उत्पत्ति पर सामान्त आगम सदैव धनात्मक (Positive) ही होगा। चित्र संख्या 82 में औसत

आगम वक्र की t से P तक की दूरी पर ऐसा ही होता है। इसी प्रकार P से T तक की दूरी पर लोच के एक से कम होने पर सीमान्त आगम सदैव ऋणात्मक (negative) होता है।

Q बिन्दु पर लोच एक से कम अर्थात् $\frac{1}{4}$ मान लेने पर उपर्युक्त फार्मूले को स्पष्ट किया जा सकता है। यहाँ $QT = \frac{1}{4}Qt$ और

$$M = AX\frac{\frac{1}{4} - 1}{\frac{1}{4}} = AX \frac{-\frac{3}{4}}{\frac{1}{4}} = -3A$$

सीमान्त आगम ऋणात्मक है और औसत आगम का तिगुना है। चित्र सं० 85 में NC=3QN। इसलिए सीमान्त आगम औसत आगम वक्र के लोचदार होने पर सदैव ऋणात्मक होता है। औसत आगम वक्र पर माँग की बिन्दु लोच ज्ञात होने पर इन फार्मूलों की सहायता से किसी भी उत्पत्ति के औसत आगम से उसी उत्पत्ति का सीमान्त आगम ज्ञात करना सम्भव होगा।

प्रश्न और संकेत

1 फर्म की औसत तथा सीमान्त आगमों के बीच अन्तर बताइए। पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत उनका वस्तु के मूल्य से क्या सम्बन्ध होता है?

Distinguish between Average Revenue and Marginal Revenue of a firm What is their relation with the price of a commodity under Perfect Competition?

[संकेत—MR व AR का अर्थ समझाइए तथा सिद्ध कीजिए कि पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत अन्य बातों के साथ ही साथ P=AR=MR]

2 औसत व सीमान्त आगम तथा लोच में क्या सम्बन्ध है?

What is the relation between Average Revenue Marginal Revenue and Elasticity of Demand?

[संकेत—पृष्ठ 691 के चित्र की सहायता से सम्बन्ध स्पष्ट कीजिए।]

3 आप कुल आगम औसत आगम तथा सीमान्त आगम से क्या समझते हैं? आगम विश्लेषण का महत्त्व स्पष्ट कीजिए।

What do you understand by Total Revenue Average Revenne and Marginal Revenue Discuss the importance of Revenue Analysis?

———

32

मूल्य-सिद्धान्त तथा बाजार-मूल्य का सामान्य सिद्धान्त

(Theories of Value and General Theory of Mraket Price)

> The real price of anything what everything really costs to the man who wants to acquire it is the toil and trouble of acquiring it what is bought with money or with goods is purchased by labour as much as what we acquire with the toil of our body
>
> —*Adam Smith*

मूल्य अर्थशास्त्र की प्रमुख समस्या है। मूल्य शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया जाता है। प्रतिदिन हम खाद्य-सामग्री का मूल्य, कपड़ा का मूल्य, साहित्य का मूल्य आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं। अर्थशास्त्र में मूल्य शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है—(i) उपयोगिता मूल्य (Value in use) तथा (ii) विनिमय मूल्य (Value in exchange)। आधुनिक अर्थशास्त्री इन शब्दों के स्थान पर उपयोगिता (Utility) तथा मूल्य (Value) शब्द का प्रयोग करते हैं। उपयोगिता का अर्थ आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली शक्ति से लिया जाता है जबकि मूल्य का अर्थ किसी वस्तु की विनिमय शक्ति से होता है। अन्य शब्दों में कुछ अर्थशास्त्री वस्तु का मूल्य निर्धारण उस वस्तु की उत्पादन लागत के अनुसार करते हैं तो कुछ अर्थशास्त्री वस्तु की सीमान्त उपयोगिता द्वारा करते हैं। प्रो० मार्शल ने इन वैचारिक विभेदों को समाप्त कर उनमें परस्पर समन्वय बैठाया है तथा मूल्य निर्धारण के सामान्य सिद्धान्त की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है। मूल्य या कीमत उस विनिमय मूल्य को प्रकट करती है जिसे मुद्रा के सन्दर्भ में मापा जा सकता है।[1]

---

1 Price indicates the value in exchange as measured *in terms of money*
—*H A Silverman The Substance of Economics p 59*

मूल्य के सिद्धान्त
(Theories of Value)

मूल्य निर्धारण के आधुनिक सिद्धान्त के पहले विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने मूल्य निर्धारण सम्बन्धी कई सिद्धान्त प्रस्तुत किये थे। यहाँ पर हम संक्षेप में उनको कि मूल्य के वे सिद्धान्त क्या थे।

मूल्य का श्रम सिद्धान्त (Labour Theory of Value)

श्रम सिद्धान्त विभिन्न समय में तथा विभिन्न रूपों में एडम स्मिथ, रिकार्डो आदि अर्थशास्त्रियों द्वारा बतलाया गया। परन्तु इस सिद्धान्त का पूर्ण विकास कार्ल मार्क्स ने किया। अतः इस सिद्धान्त के प्रमुख प्रतिपादक मार्क्स माने जाते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी वस्तु का मूल्य उस वस्तु को उत्पन्न करने में लगे हुए श्रम के बराबर होता है। इस प्रकार श्रम को मूल्य का स्रोत (Source) तथा मूल्य का माप (Measure) मानते हैं। इस सिद्धान्त को मानने वाले पूँजीगत वस्तु (Capital Good) की आवश्यकता को भी स्वीकार करते हैं। परन्तु उनका कहना है कि पूँजी भूतकाल के श्रम का परिणाम है इसलिए वे पूँजी सम्बन्धी वस्तुओं क्रिस्टलाइज्ड (Crystallised) श्रम कहते हैं। कार्ल मार्क्स ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की कटु आलोचना के लिए किया था। परन्तु श्रमिक को कुल उत्पादन का बहुत थोड़ा सा भाग निर्वाह-मजदूरी (Subsistence Wage) के रूप में मिलता है। इस प्रकार श्रम के वास्तविक उत्पादन तथा उसके लिए दी गई मजदूरी का अन्तर अतिरिक्त मूल्य (Surplus Value) है जिसे पूँजीपति ब्याज, लाभ, लगान आदि के रूप में प्राप्त करते हैं।

कुछ अर्थशास्त्री यह कहते हैं कि मार्क्स ने उपयोगिता पर ध्यान नहीं दिया तथा केवल श्रम को ही मूल्य का स्रोत माना जबकि मूल्य अन्य साधनों (भूमि, पूँजी, साहस, प्रबन्ध) का सामान्य लागत तथा वस्तु की उपयोगिता पर भी निर्भर करता है। यह एक पक्षीय सिद्धान्त था। वास्तव में मार्क्स ने उपयोगिता पर ध्यान दिया था परन्तु उन्होंने उपयोगिता को मूल्य निर्धारण के सिद्धान्त में महत्व नहीं दिया था क्योंकि उपयोगिता अत्यधिक बदलती रहती है और इसका मूल्य से विशेष सम्बन्ध नहीं होता है।

2 उत्पादन लागत सिद्धान्त (Cost of Production Theory)

यह सिद्धान्त एक प्रकार से श्रम सिद्धान्त का सुधरा हुआ रूप है। इसके अन्तर्गत श्रम के अतिरिक्त अन्य लागतों पर भी ध्यान दिया जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी वस्तु का मूल्य उस वस्तु के उत्पादन में लगे हुए साधनों की लागत से निर्धारित होता है। इसमें श्रम को ही उत्पादन का एक-मात्र साधन नहीं माना जाता है बल्कि इसके अन्तर्गत श्रम के अतिरिक्त अन्य साधनों की लागत पर भी

लिया जाता है जो उस वस्तु के उत्पादन में लगे हुए हैं। इस प्रकार इस सिद्धान्त में उत्पत्ति के विभिन्न साधनों का अस्तित्व स्वीकार कर उनकी सीमान्त लागत के योग को मूल्य निर्धारण का आधार माना गया है। श्रम सिद्धान्त की तरह इसमें भी पूर्ति पक्ष पर ध्यान दिया गया है अतः यह सिद्धान्त भी एकपक्षीय है परन्तु इसमें उत्पादन के सभी साधनों की लागत को ध्यान में रखा गया है न कि केवल श्रम को। लागत की पूर्ण स्पर्द्धा में इस सिद्धान्त का महत्त्व है क्योंकि मूल्य तथा लागत में यदि अन्तर अधिक होता है तो लाभ की मात्रा बढ़ती है। यही कारण है कि उद्योग में अधिक प्रतियोगी आते हैं जिससे पूर्ति में वृद्धि होती है और मूल्य कम होकर लागत व्यय के बराबर हो जाता है।

श्रम सिद्धान्त तथा उत्पादन लागत सिद्धान्त दोनों को लागत व्यय सिद्धान्त (Cost Theories of Value) कहते हैं। इन दोनों सिद्धान्तों में पूर्ति पक्ष पर अधिक ध्यान दिया गया है तथा उपयोगिता और माँग पर ध्यान नहीं दिया गया है।

3 उपयोगिता सिद्धान्त (Utility Theory)

इस सिद्धान्त के मानने वाले वस्तु की उपयोगिता पर अधिक बल देते हैं। इनके अनुसार वस्तु का मूल्य उससे प्राप्त होने वाली उपयोगिता से निर्धारित होता है। इस प्रकार इस सिद्धान्त को मानने वाले माँग पक्ष पर ध्यान देते हैं। जैसे अर्थशास्त्री गासन के अनुसार किसी वस्तु के मूल्य का उससे प्राप्त होने वाली सतुष्टि से घनिष्ठ सम्बन्ध है। कुछ समय बाद जेवन्स ने इस सिद्धान्त को वास्तविक रूप में रखा।

कुछ अर्थशास्त्री उपयोगिता सिद्धान्त को दूसरे रूप में भी रखते हैं। उनके अनुसार मूल्य निर्धारण में दुर्लभता (Scarcity) व माँग का हाथ रहता है। कोई वस्तु उत्पादन की अधिक लागत तथा अन्य कारणों से दुर्लभ होती है। इसलिए उपयोगिता अथवा उत्पादन के दुर्लभ साधनों की प्रतियोगी माँगों के आधार पर उत्पादन लागत की व्यवस्था की जा सकती है। इस प्रकार मूल्य के उपयोगिता सिद्धान्त को लागत सिद्धान्त का सुधरा हुआ रूप माना जा सकता है।

यह सिद्धान्त भी माँग पक्ष की प्रधानता के कारण अपूर्ण कहा गया है। यह केवल उपयोगिता पर ही बल देता है तथा वस्तु की उत्पादन लागत की उपेक्षा करता है। अतः इसे भी उपयुक्त नहीं माना गया।

4 सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्त (Marginal Utility Theory)

पहले सिद्धान्तों में मूल्य सिद्धान्त की सन्तोषजनक व्याख्या नहीं की जा सकी। अतः विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने मूल्य के नये सिद्धान्त की व्याख्या करने का प्रयत्न किया। गणितीय विचारधारा के समर्थक प्रसिद्ध अर्थशास्त्री जेवन्स ने स्पष्ट किया कि किसी वस्तु का मूल्य उसकी सीमान्त उपयोगिता के अनुसार निर्धारित होता है तथा कोई भी उपभोक्ता किसी वस्तु के लिए उस वस्तु की सीमान्त

उपयोगिता स अधिक मूय देने को तयार नहीं होता। आस्टियन अथशास्त्री श्री कार्ल मगम (Karl Mangers) के अनुसार वस्तु का मूल्य उसकी उपयोगिता एव सापेक्षिक न्यूनता पर निर्धारित होना है। वीजर महोदय भी वस्तु के मूय निधारण म सीमान्त उपयोगिता को महत्त्वपूर्ण मानत हैं। इस सिद्धान्त को मूय का सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्त (Marginal Utility Th ory of Value) कहते हैं। इस सिद्धान्त क अनुसार किसी वस्तु का मूल्य माग तथा पूर्ति क द्वारा निर्धारित किया जाता है। इसम वस्तु की सीमात उपयोगिता पर विशष ध्यान दिया जाता है अर्थात वस्तु की दुलभता (scarcity) म सम्बन्धित माग द्वारा मूय निर्धारित होता है। पूर्ति का भी महत्वपूर्ण स्थान है। पूर्ति का सम्बन्ध उत्पादन लागत से होता है। उत्पादन लागत किसी वस्तु की दुलभता निर्धारित करती है। मूय म दुलभता का अत्यधिक महत्त्व है इसी के द्वारा मूल्य निर्धारित होता है। किसी वस्तु का बढा हुआ मूल्य उसके बढे हुए माँग-मूल्य का ही दूसरा रूप है। माँग मूल्य उपभोक्ताओ की सीमात उपयोगिता पर निभर है। अत यह कहा जा सकता है कि सीमात उपयोगिता ही मूल्य निधारित करती है।

इस व्याख्या स एसा प्रतीत होता है कि मूल्य का सीमात उपयोगिता सिद्धात तथा लागत सिद्धात लगभग एक स ही हैं क्योकि उत्पादन लागत सिद्धान्त म भी उत्पादन लागत द्वारा ही पूर्ति निर्धारित होती है और पूर्ति द्वारा मूल्य निर्धारित किया जाता है परन्तु दोनो सिद्धान्तो म मौलिक अन्तर है। सीमात उपयोगिता सिद्धान्त के अनुसार उत्पादन लागत किसी वस्तु की न्यूनता पर प्रभाव डालती है और यह प्रभाव भी प्रत्यक्ष नहीं होता है। इस प्रकार सीमान्त उपयोगिता सिद्धात म उत्पादन लागत द्वारा मूल्य निर्धारित नहीं होता है। किसी वस्तु के दुलभ होन म जितना हाथ उत्पादन व्यय का होता ह उसम बहुत अधिक हाथ उस वस्तु की माग का होता है। अत कोई वस्तु उसकी माग के अनुसार दुलभ होती है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि किसी वस्तु का मूल्य निधारण उसके उत्पादन व्यय से नही बल्कि परस्पर प्रतियोगी मागो (Competing demands) द्वारा होता है। माग के अनुसार वस्तु की पूर्ति बदलती रहती है और पूर्ति के अनुसार उत्पादन व्यय। किसी वस्तु की लागत उस वस्तु के विकल्पो (Alternatives) का त्याग है। विकल्पो के मूल्यो को उनकी उपयोगिता द्वारा प्रकट किया जाता है। इसलिए लागत का सिद्धान्त उपयोगिता पर निभर है।

उपयोगिता सिद्धान्त की यह व्याख्या एकात्मक (Mon tic) है प्रो० मार्शल न मूय निर्धारण का जो सिद्धात दिया उस हम दूसरी व्याख्या (Dual analysis) कहते हैं। मार्शल के अनुसार उपयोगिता तथा लागत दो अलग अलग घटक हैं तथा इन दोनो का मूल्य निधारण म समान रूप स महत्त्व है। अत मूल्य केवल उपयोगिता स ही नही बल्कि उपयोगिता और लागत दोनो के द्वारा निर्धारि

होना है। उपयोगिता का सम्बन्ध माँग से है और लागत का सम्बन्ध पूर्ति से है। अत न केवल माग तथा न केवल पूर्ति से ही मूल्य निर्धारित होता है बल्कि माँग और पूर्ति दोनों से ही निर्धारित होता है। मार्शल ने माँग और पूर्ति की तुलना एक कैंची के दो फलो (Blades) से की है। जिस प्रकार कैंची के दोनो फलो की सहायता से ही कागज का एक टुकडा काटा जा सकता है उसी प्रकार मूल्य निर्धारण म उपयोगिता और लागत दोनो का हाथ रहता है। केवल किसी एक के द्वारा मूल्य निर्धारित नहीं होता है[1] यद्यपि इन दोनो का महत्व समय के अनुसार घटता-बढता रहता है। मार्शल ने कहा है कि अल्पावधि म मूल्य पर माँग का अधिक प्रभाव पडता है तथा दीर्घावधि म उत्पादन व्यय या पूर्ति का।[2]

सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्त क मानने वाले इसका उत्तर इस प्रकार देत है— उत्पादन लागत (पूर्ति) तथा उपयोगिता (माँग) दोनो को स्वतन्त्र वग नही माना जा सकता क्योकि उत्पादन लागत भी उपयोगिता का एक अग है। लागत वकल्पिक उपयोगिता (Alternative utility) प्रकट करता है। इसीलिए उपयोगिता पर केवल माग ही नहीं निभर करती बल्कि पूर्ति भी निभर करती है। इस प्रकार माँग तथा पूर्ति दोनो उपयोगिता पर निभर करत हैं। अत यह कहा जा सकता है कि मूल्य के निर्धारण म उपयोगिता विशेषतया सीमान्त उपयोगिता का हाथ रहता है।

वतमान समय म सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्त मूल्य का सवमान्य सिद्धान्त है। यद्यपि इस सिद्धान्त का प्रतिपादन जवन्स तथा कुछ अन्य अथशास्त्रियो न किया था परन्तु इसको आधुनिक रूप देने म विकस्टीड विक्सल डवनपोट तथा कमेल का प्रमुख स्थान है। सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्त मूल्य का सवमान्य सिद्धान्त है क्योकि (1) यह अल्पकाल तथा दीघकाल दोनो से सम्बन्धित मूल्यो की व्याख्या करता है (ii) माग तथा पूर्ति म होने वाले परिवतनो का स्पष्टीकरण भी करता है (iii) दुलभ निकृष्ट तथा शीघ्र नाशवान वस्तुओ के मूल्य की एक मात्र व्याख्या इस सिद्धान्त म मिलती है। यह सिद्धान्त पानी धूप आदि ऐसी वस्तुओ के मूल्य का भी स्पष्टीकरण करता है जो अधिक उपयोगी होते हुए भी मूल्यवान नही होती है।

---

1 We might as reasonably dispute whether it is the upper or under blade of a pair of scissors that cuts a piece of paper as whether value is governed by utility or cost of production

Marshall Principles of Economics

2 As a general rule the shorter period which we are considering the greater must be the share of our attention which is given to the influence of demand on value and longer the period the more important will be the influence of cost of production on value

—*Marshall* Principles of Economics p 291

किन्तु मूल्य निर्धारण का यह सिद्धान्त भी अपूर्ण एवं एकपक्षीय ही माना गया है क्योंकि इसमें भी केवल माँग पक्ष पर जोर दिया गया है जबकि पूर्ति पक्ष की पूर्ण अवहेलना की गई है। यह भी इस प्रकार से मूल्य निर्धारण का मनोवैज्ञानिक विचार मात्र ही था।

मूल्य निर्धारण सामान्य सिद्धान्त
(Price Determination General Theory)

मार्शल से पूर्व मूल्य निर्धारण के बारे में प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के विचारों को जानने पर ज्ञात होता है कि इस बारे में उनमें काफी मतभेद था। मार्शल ने प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के मूल्य के उत्पादन लागत सिद्धान्त तथा मूल्य के उपयोगिता सिद्धान्त दोनों को एक साथ मिलाकर मूल्य निर्धारण के सामान्य सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

किसी वस्तु का मूल्य किस प्रकार निर्धारित किया जाता है? मूल्य निर्धारण का सामान्य सिद्धान्त यह है कि वस्तु का मूल्य उस बिन्दु पर निश्चित किया जाता है जिस बिन्दु पर उस वस्तु की माँग तथा पूर्ति बराबर होती है। स्वयं मार्शल की यह मान्यता थी कि वस्तु का मूल्य न तो केवल वस्तु की माँग या उपयोगिता द्वारा निर्धारित हो सकता है और न ही वस्तु की पूर्ति या उत्पादन लागत से बल्कि यह तो वस्तु की माँग एवं पूर्ति दोनों की प्रक्रिया द्वारा निर्धारित होता है।

बाजार मूल्य माँग तथा पूर्ति के सम्मिलित प्रभाव से निर्धारित होता है। बाजार में जिस कीमत पर वस्तु की माँगी हुई मात्रा तथा वस्तु की पूर्ति की मात्रा बराबर होती है वहीं पर मूल्य निर्धारित हो जाता है। इस प्रकार निर्धारित की हुई कीमत को साम्य कीमत या सन्तुलित कीमत (Equilibrium Price) कहते हैं तथा इस कीमत पर बेची गई वस्तु की मात्रा को साम्य राशि (Equilibrium Amount) कहते हैं। माँग तथा पूर्ति द्वारा निर्धारित इस प्रकार के सामान्य मूल्य सिद्धान्त का अध्ययन नीचे प्रस्तुत है

(1) वस्तु की माँग (Demand for a commodity) किसी वस्तु की माँग बाजार में उपभोक्ताओं द्वारा होती है। उपभोक्ता किसी वस्तु की माँग उसकी उपयोगिता के कारण करता है। चूँकि वस्तु में आवश्यकता सन्तुष्टि का गुण होता है अतः उपभोक्ता अपनी आवश्यकता की सन्तुष्टि हेतु वस्तु की माँग करता है। उपभोक्ता जिस वस्तु की माँग करता है उसके लिए वह कुछ त्याग करने को तैयार रहता है। यह त्याग उपभोक्ता द्रव्य के रूप में करता है जो मूल्य कहा जाता है। उपभोक्ता वस्तु के लिए यह त्याग उसकी उपयोगिता के आधार पर करता है। माँग नियम के अनुसार यदि वस्तु के मूल्य में कमी होती है तो कम मूल्य पर उपभोक्ता अधिक माल क्रय करना चाहते हैं। इसके विपरीत वस्तु के मूल्य में वृद्धि होती है तो उपभोक्ता कम माल क्रय करना चाहते हैं। एक उपभोक्ता एक वस्तु के लिए कम से कम मूल्य देना चाहता है। किन्तु वह किसी भी दशा में उसकी सीमान्त उपयोगिता से

अधिक मूल्य नहीं देना चाहता है। इस प्रकार वस्तु के माग पक्ष की ओर से वस्तु का मूल्य उसकी सीमान्त उपयोगिता से किसी भी स्थिति में अधिक नहीं हो सकता है। अन्य शब्दों में माग पक्ष की ओर से वस्तु की सीमान्त उपयोगिता मूल्य की अधिकतम सीमा होती है।

(ii) **वस्तु की पूर्ति** (Supply of a Commodity) —पूर्ति पक्ष में यह देखा जाता है कि किसी वस्तु की पूर्ति क्यों की जाती है? एक वस्तु के मूल्य की माग क्यों की जाती है तथा वस्तु की पूर्ति हेतु कम से कम कितना मूल्य लिया जाता है? एक उत्पादक लाभ कमाने के लिए वस्तुओं की पूर्ति हो करता है। वस्तु के उत्पादन में प्रत्येक उत्पादक की कुछ न कुछ लागत अवश्य लगती है जिसके लिए वह मूल्य की माग करता है। उत्पादक अपनी वस्तु का मूल्य कम से कम सीमान्त लागत के बराबर अवश्य लेना चाहेगा। दीर्घकाल में तो वस्तु का मूल्य न केवल सीमान्त लागत बल्कि औसत लागत के भी बराबर होना चाहिए अन्यथा वह अपना उत्पादन बन्द कर देगा। अत उत्पादक या पूर्ति पक्ष की ओर से वस्तु की सीमान्त लागत मूल्य की निम्नतम सीमा होती है।

बाजार में किसी वस्तु की पूर्ति सभी विक्रेताओं की पूर्ति का योग होती है। विभिन्न मूल्यों पर विक्रेता अपनी वस्तुओं की विभिन्न मात्रा बेचने के लिए तैयार रहते हैं। इस प्रकार विभिन्न कीमतों पर पूर्ति की विभिन्न मात्रा की तालिका को बाजार पूर्ति तालिका (Market Supply Schedule) कहते हैं। वस्तु की कितनी मात्रा प्रत्येक विक्रेता विभिन्न कीमतों पर बेचेगा यह उसके आरक्षित मूल्य (Reservation Price) पर निर्भर करता है। इससे कम पर विक्रेता माल को बेचने के लिए तैयार नहीं होगा। यह आरक्षित मूल्य (Reservation Price) कई बातों पर निर्भर करता है। जैसे

1 **वस्तु की प्रकृति** यदि वस्तु नाशवान (Perishable) है तो विक्रेता उसे शीघ्रतापूर्वक बेचना चाहेगा। इसलिए वस्तु का आरक्षित मूल्य (Reservation Price) कम होगा।

2 **भविष्य की आशा** यदि भविष्य में मूल्य गिरने की आशा है तो वह कम कीमत पर ही अपनी वस्तु अधिक से अधिक मात्रा में बेचना चाहेगा।

3 **उत्पादन व्यय** *टिकाऊ तथा अर्द्ध टिकाऊ* (Durable and semi durable) वस्तुओं पर उत्पादन व्यय का प्रभाव पड़ता है। साधारणतया विक्रेता उत्पादन व्यय से कम कीमत पर अपनी वस्तु को नहीं बेचेगा। विक्रेता की कई कीमतें आरक्षित कीमतें (Reservation Prices) होती हैं।

माग एवं शर्तों का साम्य या सतुलन
(Equilibrium of Demand and Supply)

माग तथा पूर्ति पक्ष के उपयुक्त विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि वस्तु की कीमत की दो सीमाएँ होती हैं। माग पक्ष की ओर से वस्तु की सीमान्त उपयोगिता मूल्य की उच्चतम सीमा होती है तथा पूर्ति पक्ष की ओर से सीमान्त लागत मूल्य की निम्न सीमा होती है। अब देखना यह है कि मूल्य वास्तव मे कहाँ निर्धारित होता है?

बाजार कीमत माग तथा पूर्ति के सम्मिलित प्रभाव से निर्धारित होती है। बाजार पूर्ति की तालिका यह दिखलाती है कि विभिन्न कीमतो पर विक्रेता अपनी वस्तु की कितनी मात्रा बेचेगा तथा बाजार माँग तालिका (Market Demand Schedule) उपभोक्ताओ की यह तत्परता (Willingness) दिखलाती है कि वे विभिन्न मूल्यों पर कितनी मात्रा खरीदेंगे। इस प्रकार जिस कीमत पर बाजार मे वस्तु की माग तथा पूर्ति बराबर हो जाती है वही वस्तु का बाजार मूल्य होता है। जिस कीमत पर माँग एव पूर्ति बराबर होती है उसे सतुलन या साम्य बिन्दु कहते हैं। इस साम्य बिन्दु पर निर्धारित मूल्य को साम्य या सतुलन मूल्य कहते हैं।

केवल साम्य मूल्य या कीमत पर ही क्रेता एव विक्रेता दोनो सन्तुष्ट होते हैं। यदि वस्तु की कीमत इससे कम या अधिक होगी तो क्रेताओ एव विक्रेताओ की इच्छा तुष्ट नही होगी। ऐसी परिस्थिति मे या तो क्रेता पूर्ति की गई मात्रा से अधिक की माग करेंगे या विक्रेता माँगी गई मात्रा से अधिक की पूर्ति हेतु तैयार रहेंगे। अत साम्य मूल्य से कम या अधिक मूल्य प्रचलित नही रह सकेगा। इसे बाजार कीमत भी कही जाती है

उदाहरण द्वारा साम्य मूल्य निर्धारण का स्पष्टीकरण साम्य मूल्य निर्धारण का एक उदाहरण द्वारा भी समझाया जा सकता है।

विभिन्न कीमतो पर गेहूँ की माग तथा पूर्ति

कीमत प्रति मन	(माँग)	(पूर्ति)
30	200	0
31	180	20
32	170	40
33	140	70
34	100	100
35	75	135
36	25	170

उपयुक्त तालिका मे गेहूँ की कीमत प्रति मन दी गई है तथा बाजार मे विभिन्न कीमतो पर उसकी माँगी जाने वाली तथा बेची जाने वाली मात्राएँ दी गई हैं। तालिका से स्पष्ट है कि जब गेहूँ का मूल्य 34 रु० प्रति मन है तो उसकी माँग

तथा पूर्ति दोनों 100 मन है। इस प्रकार बाजार मूल्य 34 रुपये प्रति मन होगा क्योंकि इसी मूल्य पर वस्तु की माग तथा पूर्ति बराबर होती है।

रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण

बाजार मूल्य बाजार की माग तथा पूर्ति के द्वारा निर्धारित होता है। इस प्रकार जहा पर माग तथा पूर्ति रेखाए एक दूसरे को काटती हैं वही पर मूल्य निर्धारित होता है जैसा कि रेखाचित्र स० 86 म दर्शाया गया है।

इस रेखा चित्र म DD बाजार की माग रेखा है तथा SS पूर्ति रेखा है। दोनो एक दूसरे को M बिन्दु पर काटती हैं। अत OP चूकि (MQ = OP) बाजार मूल्य अथवा साम्य कीमत हुई तथा OQ साम्य मात्रा (Equilibrium Quantity) हुई।

प्रत्येक अवस्था म यही मूल्य होगा। एक पूर्ण स्पर्धा वाले बाजार म जिसम क्रेता तथा विक्रेता को बाजार की परिस्थिति का पूर्ण ज्ञान होता है साम्य कीमत अधिक समय तक बदल नहीं सकती। ऐसी परिस्थिति म वास्तविक विक्रय कीमत (Selling Price) तथा बाजार साम्य कीमत (Equilibrium Market Price) दोनो एक ही होती हैं।
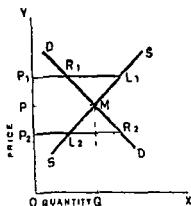
चित्र संख्या 86

बाजार मूल्य की यह विशेषता होती है कि यदि वास्तविक मूल्य साम्य मूल्य से कम या अधिक है तो बाजार म ऐसी शक्तियाँ काम करती है जिनसे थोडे ही समय म वास्तविक मूल्य पुन साम्य मूल्य के बराबर हो जाता है जैसे यदि विक्रय मूल्य साम्य मूल्य से अधिक है तो बाजार म माग की अपेक्षा पूर्ति बढ़ेगी। इस प्रकार विक्रेताओं म स्पर्धा होगी। क्रेताओ की संख्या पहले की ही भाति रहेगी। अत विक्रेताओ म स्पर्धा के कारण बाजार मूल्य पुन साम्य मूल्य पर आ जायगा। इसके विपरीत यदि विक्रय मूल्य साम्य मूल्य से कम है तो बाजार की

माग (Market Demand) बाजार की पूर्ति से अधिक होगी। इस प्रकार क्रेताओं म स्पर्धा होगी जिससे विक्रय मूल्य बढ़ेगा और पुन साम्य मूल्य के बराबर हो जायगा।

इस तथ्य को ऊपर रेखाचित्र म दर्शाया गया है जिसम OP कीमत पर वस्तु की माँग और पूर्ति बराबर हैं (OQ माना)। मूल्य बढ़कर OP_1 हो जाता है तो पूर्ति बढ़कर P_1L_1 हो जाती है। मूल्य बढ़ने के कारण माँग घटकर P_1R_1 हो जाती है जिसम यह प्रकट होता है कि विक्रेता बेचने के लिए तो उत्सुक है परन्तु क्रेता खरीदने को तयार नही ह। अत कीमत गिरेगी और पुन OP के बराबर होगी। दूसरी परिस्थिति म मूल्य कम होकर OP_2 हो जाता ह तो पूर्ति तथा माग क्रमश P_2L_2 व P_2R_2 हो जाती है। यहाँ पर क्रेताओ का दबाव बढ़ेगा अत कीमत पुन बढ़कर OP हो जायगी।

साम्य कीमत में परिवतन
(Charges in Equilibrium Price)

साम्य मूल्य के अध्ययन म यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि साम्य कीमत सदैव स्थायी नही रहती है। यह मूल्य माग व पूर्ति म सन्तुलन बने रहने तक ही स्थायी रहता है। प्रत्येक वस्तु की माँग एव पूर्ति म परिवतन होते रहते हैं। अत यह मूल्य माग या पूर्ति या दोनो के परिवर्तित हो जाने पर बदल जाता है। वस्तु की माँग अनेक कारणो यथा उपभोक्ता की आय रुचि अन्य वस्तुओ के मूल्य समय आदि से घटती बढ़ती है तथा ठीक इसी प्रकार पूर्ति भी उत्पादन लागतो म परिवतन कच्चे माल के नये स्रोतो की खोज नवीन आविष्कार उत्पादको के दृष्टिकोण म परिवर्तन आदि अनेक कारणो से घटती-बढ़ती रहती है। परिणामस्वरूप माँग के एव पूर्ति की रेखाओ गुण तथा स्थान बदलते रहते हैं। इन परिवतनो के साथ ही साम्य कीमतो म परिवर्तन होते रहते हैं। वस्तुत तो प्राय पुराना साम्य भग होकर नया साम्य स्थापित करता है।

कीमत म परिवतन का परिणाम क्या होगा ? यह माँग तथा पूर्ति के तुलनात्मक परिवतन के वेग पर निभर रहता है तथा माँग एव पूर्ति के बदलने का वग उनकी लोच पर आधारित होता है। यदि माँग एव पूर्ति की लोच समान है तो दोनो परिवतन होने पर भी कीमत स्थिर रह सकती है। परन्तु यदि माँग व पूर्ति की लोच म अन्तर है जिसके कारण दोनो म असमान परिवतन होते हैं तो ऐसी दशा म निश्चय ही मूल्य भी परिवर्तित हो जायेंगे। उदाहरणार्थ यदि माँग म वृद्धि होती है और पूर्ति बेलोचदार है तो वस्तु का दाम बढ़ जायेंगे क्योकि ऐसी दशा म माँग की रेखा ऊपर की ओर खिसक जायेगी जबकि पूर्ति रेखा अपने स्थान पर बनी रहेगी। ठीक इसी प्रकार जब पूर्ति के परिवतन की गति माँग म परिवतनो के वेग की अपेक्षा कम होती है तो माँग बढ़ जाने पर मूल्य भी बढ़ जाता है। इसके विपरीत माँग

घटने पर मूल्य भी घट जाता है। इसे हम शीघ्र नाशवान वस्तुओं के मूल्य निर्धारण द्वारा और भी ठीक प्रकार से स्पष्ट कर सकते हैं।

शीघ्र नाशवान वस्तुओं (Perishable Commodities) का मूल्य निर्धारण

शीघ्र नाशवान वस्तुओं जैसे सब्जी दूध अण्डा आदि के मूल्य निर्धारण में पूर्ति का महत्त्व नहीं रहता है क्योंकि इस प्रकार की वस्तुओं की पूर्ति मुख्यतः बेलोचदार होती है। अतः इनके मूल्य निर्धारण में पूर्ति की अपेक्षा माग का ही अधिक प्रभाव रहता है। शीघ्र नाशवान वस्तुओं का मूल्य उसकी माग के अनुसार निर्धारित किया जाता है। माग में वृद्धि होने से उनके मूल्य में वृद्धि तथा माँग में कमी होने से
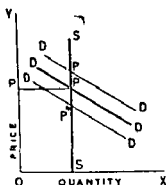
चित्र स० 87

मूल्य में कमी होती है। विक्रेता के पास जो भी स्टाक होता है उसे वह बेचना चाहता है क्योंकि बाद में ये वस्तुएँ खराब हो जाती हैं तथा उन्हें बेचना कठिन हो जाता है। अतः ऐसी वस्तुओं के मूल्य निर्धारण में उत्पादन लागत का ध्यान नहीं रखा जाता है माँग ही मूल्य का निर्धारक तत्त्व होता है। दिये गये चित्र संख्या 84 में इस तथ्य को स्पष्ट किया गया है। पूर्ति रेखा SS है जो एक उर्ध्व रेखा के रूप में है। DD माग-वक्र है कीमत OP है। माँग में वृद्धि होने से (D D) कीमत बढ़कर P हो जाती है तथा माँग में कमी होने से (D″D″) कीमत घटकर P हो जाती है।

मात्रा का समयानुसार विभाजन (Rationing over time) और मूल्य निर्धारण

कुछ वस्तुएँ ऐसी होती हैं जिनका उत्पादन वर्ष में एक बार किया जाता है परन्तु उपभोक्ता द्वारा उनका प्रयोग वर्ष-पर्यन्त किया जाता है जैसे खाद्यान्न। ऐसी वस्तुओं की बाजार अवधि सामान्यतः एक वर्ष होती है। अतः उपभोक्ताओं की वर्ष भर की माँग की पूर्ति एक ही बार उत्पादित वस्तु से करनी पड़ती है। सरलता की दृष्टि से हम मान लेते हैं कि एक वर्ष में चार माह की तीन अवधि हैं। प्रारम्भ में

स्टाक अधिक होने के कारण कीमत कम रहेगी तथा ज्यों-ज्यों स्टाक घटता जाएगा, कीमत ऊँची होती जायेगी। प्रारम्भ में (प्रथम चार माह) पूर्ति की मात्रा कीमत पर निर्भर होगी। यदि क्रेता अधिक कीमत देने को तयार होंगे तो विक्रेता अधिक मात्रा में वस्तुओं को बेचेंगे (अन्यथा स्टाक को अपने पास रखे रहेंगे परन्तु वे स्टाक रखने पर होने वाले व्यय को भी ध्यान में रखेंगे)। अत प्रथम चार माह के लिए पूर्ति-वक्र अधिक लोचदार होगा तथा यह नीचे से ऊपर की ओर उठता हुआ होगा (चित्र० 85 में S_1S_1 देखिये)।

दूसरे चार महीने की अवधि में पूर्ति अपेक्षाकृत कम लोचदार होगी तथा इस अवधि का पूर्ति-वक्र प्रथम पूर्ति-वक्र के ऊपर रहेगा (S_2S_2) क्योंकि विक्रेता अधिक ऊंची कीमत लेना चाहेंगे (स्टाक रखने से सम्बन्धित व्यय क्रय मूल्य पर ब्याज आदि को भी वसूल करना चाहेंगे)। इस अवधि में पूर्ति-वक्र S_2S_2 पर पूर्ति की मात्रा OQ_2 तथा कीमत OP_2 होगी। तीसरे चार महीने में विक्रेता कुल स्टाक को किसी प्रकार बेचना चाहेंगे अत पूर्ति कुल स्टाक के बराबर होगी। यही कारण है कि पूर्ति-वक्र S_3S_3 को लम्बवत् प्रदर्शित किया गया है। अब पूर्ति लगभग लोचहीन हो जाएगी। ऐसी अवस्था में कीमत माँग पर निर्भर करेगी। यदि माँग अधिक होती है तो कीमत बढ़ेगी। यदि माँग कम होती है तो कीमत घटेगी।

चित्र स० 88 से स्पष्ट है कि तीनों अवधियों में कीमत क्रमश बढ़ती गई है क्योंकि स्टाक-सम्बन्धी व्यय बढ़ते जायेंगे तथा विक्रेता उन व्ययों को भी क्रेताओं से प्राप्त करने का प्रयत्न किया करेंगे। परन्तु यदि विक्रेता का माँग सम्बन्धी
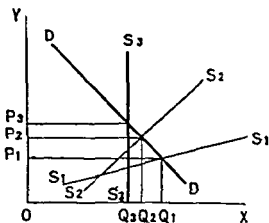
चित्र स० 88

अनुमान गलत सिद्ध होता है, अर्थात् बाद में माँग बहुत कम हो जाती है तो उसे कम कीमत पर भी वस्तु बेचनी पड़ेगी क्योंकि तीसरी अवधि की समाप्ति के समय

नया स्थान आ जाएगा। उपयुक्त विवरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि सामान्य तथा आरम्भ में अधिक मात्रा बेची जायगी तथा कीमतें कम रहेंगी। बाद में कीमतें बढ़ती जायेंगी।

माग और पूर्ति में परिवर्तन तथा साम्य कीमत पर उनका प्रभाव
(Charges in the Demand and Supply and their Effect on Equilibrium Price)

मांग में परिवर्तनों का साम्य मूल्य पर प्रभाव
(Changes in Demand and Their Effects on Equilibrium Price)

मयर्स (Meyers) ने माग के प्रभावों का अध्ययन इस प्रकार किया है यदि अन्य बातें समान रहें तो मांग की वृद्धि विनिमय की जाने वाली वस्तु की कीमत तथा मात्रा दोनों को बढ़ाने की प्रवृत्ति रखती हैं और माग की कमी विनिमय की कीमत और मात्रा दोनों को घटा देती है। मांग में एक निश्चित परिवर्तन होने की दशा में पूर्ति जितनी अधिक लोचदार होगी अनुपाती परिवर्तन उतना ही कम तथा विनिमय मात्रा में यह परिवर्तन उतना ही अधिक होगा। पूर्ति जितनी ही कम बेलोच होगी कीमत का अनुपाती परिवर्तन उतना ही अधिक होगा और विनिमय मात्रा का अनुपाती परिवर्तन उतना ही कम होगा।

अत इससे स्पष्ट है कि यदि पूर्ति लोचदार है तो ऐसी दशा में मांग के बढ़ने पर कीमत में वृद्धि नहीं होगी केवल विनिमय की मात्रा बढ़ जायगी। इसके विपरीत यदि पूर्ति पूर्णतया बेलोच है तो मांग के बढ़ने पर कीमत तो बढ़ जायगी किन्तु विनिमय की मात्रा यथावत रहेगी।

(1) **मांग में वृद्धि होने पर** बाजार अवधि में साम्य-कीमत का निर्धारण माग तथा पूर्ति द्वारा किया जाता है। यदि माग में वृद्धि हो जाए तो बाजार-कीमत में परिवर्तन आएगा। इस दशा का स्पष्टीकरण चित्र सं० 89 में किया गया है। DD प्रथम मांग-वक्र है। मान लीजिए माग में वृद्धि हो जाती है। D_1D_1 वक्र बढ़ी हुई मांग को प्रकट करता है। इस बढ़ी हुई मांग के कारण कीमत OP से बढ़कर OP_1 हो जाएगी। बढ़े हुए मूल्य पर विक्रेता अधिक वस्तु बेचना चाहेंगे। इस प्रकार बेचा जाने वाला मात्रा OX से बढ़कर OX_1 हो जाएगा। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मांग में वृद्धि होने पर बाजार मूल्य ऊँचा उठता है तथा पूर्ति में भी वृद्धि होती है (वर्तमान उत्पादन की सीमा तक)।[1]

---

1 Total supply cannot be changed during the market period but it is possible for sellers to decide to offer more or less out of given non perishable stocks

—Robinson Adams and Dillin An Introduction to Modern Economics p 328
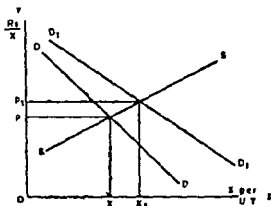
चित्र सं० 89

2 माँग के घटने पर मान लीजिए D_1D_1 मूल माँग वक्र है तथा OP_1 मूल बाजार मूल्य है। OP_1 मूल्य पर वस्तु की OX_1 मात्रा बेची जा रही है। यदि माँग घटती है तो DD नया माँग-वक्र होगा। इस प्रकार बाजार में OP_1 कीमत पर वस्तु का आधिक्य हो जाएगा क्योंकि खरीद कम हो गई है। इस आधिक्य के कारण विक्रेता कीमत में कमी करेंगे इस प्रकार कीमत OP हो जाएगी तथा बेची जाने वाली मात्रा OX हो जाएगी।

पूर्ति में परिवर्तनों का साम्य कीमत पर प्रभाव
(Changes in Supply and their effect on Equilibrium Price)

मेयर्स (Meyers) ने पूर्ति के प्रभावों के अध्ययन के बारे में भी स्पष्ट किया है कि यदि अन्य बातें यथास्थिति रहें तो पूर्ति की एक दी हुई वृद्धि कीमत को घटाने और विनिमय मात्रा को बढ़ाने की प्रवृत्ति रखेगी। इसके विपरीत, पूर्ति की कमी कीमत को बढ़ाने तथा विनिमय मात्रा को घटाने की प्रवृत्ति रखेगी। पूर्ति के एक निश्चित परिवर्तन के फलस्वरूप जितनी ही माँग अधिक लोचदार होगी उतनी ही कीमत का अनुपाती परिवर्तन कम होगा तथा विनिमय मात्रा का अनुपाती परिवर्तन अधिक होगा। इसके विपरीत माँग जितनी ही कम लोचदार होगी, कीमत का अनुपाती परिवर्तन उतना ही अधिक होगा तथा विनिमय मात्रा का अनुपाती परिवर्तन उतना ही कम होगा। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यदि माँग पूर्णतया लोचदार हो और पूर्ति बढ़ जाय तो इससे कीमत नहीं गिरेगी बल्कि विनिमय की मात्रा बढ़ जायगी। इसके विपरीत, यदि माँग पूर्णतया बेलोच है तो पूर्ति की वृद्धि के फलस्वरूप कीमत तो कम हो जायगी परन्तु विनिमय की मात्रा में परिवर्तन नहीं होगा।

1 पूर्ति में वृद्धि होने पर यदि माँग वक्र दिया हुआ हो तो पूर्ति में परिवर्तन होने से कीमत तथा वस्तु की मात्रा दोनों में परिवर्तन होंगे। चित्र संख्या 87

मे DD माग वक्र तथा SS पूर्ति-वक्र हैं। OP_1 कीमत तथा OB विक्रय मात्रा को प्रकट करते है। मान लीजिए पूर्ति मे परिवर्तन होता है (यह याद रखना चाहिए कि बाजार अवधि मे पूर्ति मे परिवर्तन नहीं किया जा सकता है परन्तु विक्रेता नाशवान वस्तुओं के स्टाक मे से विक्रय के लिए कम या अधिक मात्रा बेचने के लिए प्रस्तुत कर सकते है)। मूल्य मे परिवर्तन के अनुसार विक्रेता वस्तु की कम या अधिक मात्रा बेचने के लिए अपने वर्तमान स्टाक मे से प्रस्तुत करेंगे। चित्र मे इसी स्थिति को स्पष्ट किया गया है। माग (माँग-सूची) मे कोई परिवर्तन नहीं हो रहा है तथा पूर्ति सूची मे कमी व वृद्धि हो रही है। यदि **पूर्ति बढ़ती है** तो S_1S_1 नया पूर्ति वक्र होगा। इस प्रकार कीमत घटकर OP_2 हो जाएगी तथा बेची जाने वाली मात्रा BO से बढ़कर OC हो जाएगी।

2 पूर्ति में कमी होने पर मान लीजिए विक्रेता दिये गये मूल्य पर कम मात्रा बेचना चाहते हैं। इस प्रकार S″S घटी हुई पूर्ति सूची को प्रकट करता है।
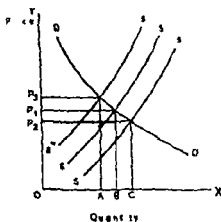
चित्र स० 90

पूर्ति घटाने से कीमत घटकर OP_3 हो जाएगी तथा बेची जाने वाली मात्रा OB से घटकर OA हो जाएगी।

माग एव पूर्ति दोनों में परिवर्तनों का साम्य मूल्य पर प्रभाव
(Effect of Combined Changes in Demand and Supply on the Equilibrium Price)

मेयर्स (Meyers) ने माग एव पूर्ति दोनों के परिवर्तनों के सम्बन्ध मे निम्न लिखित सिद्धान्त निश्चित किये हैं

(1) यदि माँग तथा पूर्ति दोनो मे एक ही दिशा मे परिवर्तन होते हैं तो दोनो एक-दूसरे के प्रभाव को इस प्रकार नष्ट कर देंगे कि कीमत पर कोई प्रभाव न पड़े किन्तु विनिमय की मात्रा पर अधिक प्रभाव प ।

(ii) यदि माँग एवं पूर्ति दोनों में एक ही दिशा में परिवर्तन होते हैं और एक में दूसरे से अधिक परिवर्तन होते हैं तो जिसमें अधिक परिवर्तन होते हैं उसका प्रभाव भी अधिक पड़ेगा किन्तु यहाँ भी कीमत पर प्रभाव कम रहेगा और विनिमय की मात्रा पर प्रभाव अधिक पड़ेगा।

(iii) यदि माँग एवं पूर्ति दोनों में विपरीत दिशाओं में परिवर्तन होते हैं तो परिणाम यह होगा कि दोनों एक दूसरे के कीमत पर पड़ने वाले प्रभावों को बढ़ा देंगे और विनिमय की माँग पर पड़ने वाले प्रभावों को घटा देंगे।

(iv) यदि माँग एवं पूर्ति दोनों में विपरीत दिशाओं में परिवर्तन होते हैं किन्तु एक में दूसरे से अधिक अंश तक परिवर्तन होता है तो जिसमें अधिक अंश तक परिवर्तन होता है उसी का प्रभाव भी अधिक पड़ेगा। किन्तु इस दिशा में कीमतों पर अधिक प्रभाव होगा।

व्यावहारिक रूप में यह सम्भव है कि बाजार काल में माँग तथा पूर्ति दोनों में परिवर्तन हों। यदि माँग तथा पूर्ति में परिवर्तन एक दूसरे को प्रभावहीन कर देते हैं तो कीमत में कोई परिवर्तन नहीं होगा परन्तु विक्रय मात्रा में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होंगे।

चित्र सं० 90A में इस स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। DD माँग वक्र तथा SS पूर्ति वक्र हैं। MP कीमत तथा OM वस्तु की विक्रय मात्रा है। मान लीजिए यदि पूर्ति बढ़ जाती है तो S_1S_1 नया पूर्ति वक्र होगा। इसी प्रकार माँग में वृद्धि के कारण D_1D_1 नया माँग वक्र होगा। मान लीजिए माँग तथा पूर्ति दोनों में आनुपातिक वृद्धि समान हुई है जैसा कि चित्र में स्पष्ट है। चित्र में हम देख रहे हैं कि कीमत पहले के ही समान है $PM = QN$ परन्तु विक्रय मात्रा OM से बढ़कर ON हो गई है। इसी प्रकार यदि माँग तथा पूर्ति दोनों में समान आनुपातिक कमी होती है तो कीमत पूर्ववत् रहेगी परन्तु विक्रय मात्रा घट जाएगी। माँग तथा पूर्ति में
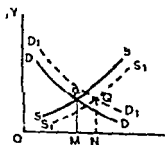
चित्र सं० 90 A

परिवर्तन का अनुपात समान न रहने पर कीमत तथा विक्रय मात्रा दोनो मे परिवर्तन होगा (हमने उदाहरणार्थ माँग व पूर्ति के परिवर्तन सम्बन्धी ऊपर एक चित्र दिया है। विद्यार्थी स्वय माँग तथा पूर्ति म असमान आनुपातिक परिवर्तन मानकर तथा माँग व पूर्ति मे विपरीत दिशाओ म परिवर्तन मानकर स्वय रेखा चित्र बनाकर ज्ञात कर सकते हैं कि माँग व पूर्ति म परिवतन होने पर कीमत पर क्या प्रभाव पडता है)।

मूल्यो का विरोधाभास
(The Paradox of Values)

पानी एव हीरे का उदाहरण (Example of Water & Diamond)

मूल्य निधारण के सामान्य सिद्धान्त से यह स्पष्ट हो गया है कि किसी वस्तु का मूल्य उस वस्तु की माँग तथा पूर्ति के साम्य द्वारा निर्धारित होता है। प्राचीन अर्थ शास्त्रियो द्वारा उपयोगिता की धारणा के आधार पर वस्तुओ की कीमतों की व्याख्या की गई थी, किन्तु उपयोगिता के आधार पर वस्तुओ की कीमतो की व्याख्या करने म उनके सामने एक कठिनाई उपस्थित हुई—यद्यपि बहुत सी वस्तुओ के मूल्य उनकी उपयोगिता की सापेक्षिक मात्राओ के अनुसार थ परन्तु कुछ वस्तुओ का सम्बन्ध ऐसा नही था। उदाहरणार्थ हीरा मानव के लिए पानी की अपेक्षा कम उपयोगी होते हुए भी पानी की तुलना म बहुत अधिक कीमत रखता है। प्राचीन अर्थशास्त्री मूल्य के इस विरोधाभास को नही समझ सके।

सन 1870 म जवन्स (Jevons) मेन्जर (Menger) तथा वालरस (Walras) द्वारा आधुनिक उपयोगिता सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया। इस आधुनिक उपयोगिता सिद्धान्त द्वारा इस विरोधाभास को सरलतापूर्वक स्पष्ट किया जा सकता है। इस विरोधाभास का उत्तर मूल्य निर्धारण के सामान्य सिद्धान्त के आधार पर इस प्रकार दे सकते हैं— पानी की माग तथा पूर्ति की रेखाएँ इस प्रकार की होती हैं कि व एक दूसरे का बहुत नीची कीमत पर काटती हैं किन्तु हीरे की माँग एव पूर्ति रेखाए इस प्रकार की होती है कि व ऊँचे मूल्य पर ही काटती है।' इस समस्या के समाधान की दो प्रमुख बात है—माँग पक्ष एव पूर्ति पक्ष।

माँग पक्ष प्राचीन अर्थशास्त्री कुल उपयोगिता तथा सीमान्त उपयोगिता म भेद नही कर सके थे अर्थात् वे इस बात को नही समझ सके थे कि मूल्य केवल उपयोगिता के द्वारा ही नहीं बल्कि सीमान्त उपयोगिता के द्वारा निर्धारित होता है। हीरा की सीमित मात्रा म उपलब्धि के कारण इनकी सीमान्त उपयोगिता बहुत ऊँची होती है और उनका मूल्य भी ऊँचा होता है जबकि पानी प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध होने के कारण इसकी सीमान्त उपयोगिता बहुत नीची होती है और इसका मूल्य भी नीचा होता है।

पूर्तिपक्ष हीरे अति दुर्लभ या सीमित होते हैं। इनकी अतिरिक्त इकाइयाँ पाने में अधिक लागत व्यय होता है इसी कारण हीरों का मूल्य ऊँचा होता है। दूसरी ओर पानी प्रचुरता में उपलब्ध होता है और इसकी अतिरिक्त इकाइयाँ प्राप्त करने में लागत व्यय कम होता है। इसलिए पानी की कीमत भी नीची होती है।

सामान्य परिस्थिति में पानी की प्रचुरता और हीरों की दुर्लभता पाई जाती है। किन्तु असाधारण परिस्थितियों में सीमान्त उपयोगिता के आधार पर मूल्य निर्धारण की धारणा बदल जाती है। उदाहरणार्थ यदि एक रेगिस्तान में हीरों के एक प्यासे मालिक का पानी की थोड़ी मात्रा रखने वाले व्यक्ति से सौदा करना पड़ता तो पानी की सीमान्त उपयोगिता में वृद्धि हो जायगी और इसीलिए उसका मूल्य हीरों का अपेक्षा अधिक ऊँचा होगा। इसके विपरीत हीरों की सीमान्त उपयोगिता कम होगी और उनका मूल्य भी नीचा होगा।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वस्तु की कीमत वस्तु की सीमान्त उपयोगिता द्वारा निर्धारित होती है। इसलिए अधिक सीमान्त उपयोगिता वाले हीरों का मूल्य ऊँचा तथा कम सीमान्त उपयोगिता वाले पानी का मूल्य नीचा निर्धारित होता है।

प्रश्न व संकेत

1 सन्तुलन मूल्य की परिभाषा देते हुए बताइए कि माँग तथा पूर्ति में परिवर्तन होने से सन्तुलन मूल्य किस प्रकार प्रभावित होता है?

Define equilibrium price and discuss how is equilibrium price effected due to changes in the demand and supply?

[संकेत पहले सन्तुलन मूल्य की परिभाषा दीजिए। दूसरे भाग में रेखा चित्रों की सहायता से माँग पूर्ति व अलग अलग एवं सामूहिक परिवर्तन का मूल्य सन्तुलन पर पड़ने वाले प्रभावों को दिखाइए।]

2 'हम यह विवाद कर सकते हैं कि कैंची का ऊपरी फलका या नीचे का फलका (blade) कागज को काटता है जिस प्रकार कि मूल्य उपयोगिता से या उत्पादन व्यय से निर्धारित होता है।' इस कथन की विवेचना कीजिए।

We might as reasonably argue whether it is the upper or the under blade of a pair of scissors that cuts a piece of paper as whether value is governed by utility or by the cost of production Explain

[संकेत जेवन्स व मार्शल के विचारों को स्पष्ट करते हुए बताइए कि माँग शक्ति व पूर्ति शक्ति दोनों का ही मूल्य निर्धारण में महत्त्व है। इन शक्तियों की व्याख्या कीजिए तथा सतुलन मूल्य के निर्धारण को साम्बाहरण समझाइए।]

3 हीरा पानी की तुलना में मानव के जीवन के लिए कम उपयोगी होता है फिर भी हीरे की कीमत पानी की तुलना में बहुत ऊँची होती है। इस विरोधाभास को स्पष्ट कीजिए।

Diamond is less useful for human life than water even then its price is much more than that of water Explain this paradox with the help of a diagram

(संकेत अध्याय के अंतिम भाग–मूल्य के विरोधाभास-के आधार पर उत्तर दीजिए।)

34

कीमत-निर्धारण में समय-तत्व

Time Element in Price Determination

> As a general rule, the shorter the period which we are considering, the greater must be the share of our attention which is given to the influence of demand on value, and the longer the period the more of production on value.
>
> —*Marshall*

कीमत निर्धारण में समय का बड़ा महत्त्व है। सर्वप्रथम मार्शल ने समय तत्त्व पर ध्यान आकर्षित किया। किसी वस्तु का मूल्य निर्धारण माँग तथा पूर्ति के सम्मिलित प्रभाव से किया जाता है। परन्तु समय के अनुसार माँग तथा पूर्ति की दशाओं में परिवर्तन होता रहता है। अतः कीमत निर्धारण में भी अन्तर पाया जाता है। कीमत पर माँग व पूर्ति के सापेक्षिक प्रभाव का अध्ययन समय के सन्दर्भ में किया जा सकता है। सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि समय जितना ही कम होगा कीमत पर माँग का प्रभाव उतना ही अधिक होगा तथा समय जितना ही अधिक होगा कीमत पर पूर्ति का प्रभाव उतना ही अधिक होगा। पूर्ति माँग के अनुरूप एकदम नहीं बदल सकती है। पूर्ति को बदलने में समय लगता है क्योंकि पूर्ति में परिवर्तन हेतु फर्मों के आकार, पैमाने तथा संगठन में परिवर्तन करने होते हैं।

मार्शल ने पूर्ति को माँग के अनुसार बदलने में जो समय लगता है उसके अनुसार समय को चार भागों में बाँटा है जो क्रमशः अति अल्पकालीन अवधि, अल्पावधि, दीर्घावधि तथा अति दीर्घावधि हैं। आधुनिक आर्थिक विश्लेषण में प्रथम तीन अवधियों को अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं तथा चतुर्थ अवधि को विशेष महत्त्व नहीं देते हैं।

मार्शल ने यहाँ समय का वर्गीकरण क्रियात्मक समय (Operational time) के आधार पर किया है। क्रियात्मक समय से आशय उस समय से लिया जाता है जिसमें पूर्ति को माँग की परिवर्तित दशाओं के साथ समायोजन करने में लगता है।

अब हम मार्शल द्वारा उल्लिखित विभिन्न समयावधियों का मूल्य निर्धारण पर प्रभाव देखेंगे।

1 **अति अल्पकालीन अवधि** (Very Short Period) यह अवधि अत्यन्त ही अल्प समय के लिए होती है कुछ घण्टे एक दिन या एक सप्ताह। इसमें पूर्ति निश्चित (Fixed) रहती है। इसे बाजार अवधि (Market Period) भी कहते हैं। बाजार मूल्य माँग तथा पूर्ति के सन्तुलन द्वारा निर्धारित किया जाता है। अति अल्पावधि में पूर्ति में वृद्धि नहीं की जा सकती है। वस्तु के स्टाक की मात्रा बहुत अधिक हो सकती है किन्तु यह आवश्यक नहीं होता कि उत्पादक वस्तु की पूर्ति को स्टाक मात्रा के अनुसार बनाये ही। यह वस्तु की प्रकृति पर निर्भर करता है कि उत्पादक अति अल्पावधि में वस्तु की पूर्ति स्टाक की समस्त मात्रा तक बनायेगा कि नहीं। दूध मछली फल आदि नाशवान वस्तुओं को अधिक समय तक सुरक्षित नहीं रखा जा सकता है अतः ऐसी वस्तु की समस्त मात्रा की पूर्ति की जायेगी। अतः अति अल्पावधि में मूल्य निर्धारण में माँग का प्रभाव सर्वाधिक होता है।

2 **अल्पावधि** (Short Period) अल्पावधि में पूर्ति में वृद्धि उद्योग की वर्तमान उत्पादन क्षमता का ही उपयोग करके की जा सकती है। इस अवधि में प्लान्ट के उत्पादन मान (Scale of Plant) में परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। इस अवधि में पूर्ति में कुछ वृद्धि की जा सकती है किन्तु वर्तमान पैमाने की अधिकतम क्षमता तक ही वृद्धि की जा सकती है। अतः अति अल्पकालीन समय की अपेक्षा इस अवधि में पूर्ति का अधिक प्रभाव पड़ता है। अल्पावधि में फर्म परिवर्तनशील साधनों की मात्रा में इच्छित परिवर्तन कर सकती है किन्तु स्थिर साधनों की मात्रा कम या अधिक नहीं कर सकती। फर्मों की संख्या अपरिवर्तित रहती है। सामान्यतया कीमत उत्पादन के बराबर होती है परन्तु भविष्य की आशा में यदि उत्पादन की परिवर्तनशील लागत तथा निश्चित लागत के कुछ भाग के बराबर भी कीमत प्राप्त हो जाती है तो वह उत्पादन जारी रखेगा। इस अवधि से सम्बन्धित सन्तुलन मूल्य को अल्पकालीन सामान्य मूल्य (Short Run Normal Price) कहते हैं।

3 **दीर्घावधि** (Long Period) दीर्घावधि उस अवधि को कहते हैं जिसमें फर्मों के आकार तथा उद्योग में फर्मों की संख्या में परिवर्तन हो सकता है। यह अवधि इतनी लम्बी होती है कि इसमें निश्चित साधनों (Fixed Factors) में भी परिवर्तन किया जा सकता है। दीर्घावधि में कोई भी साधन स्थिर नहीं रहता है। दीर्घावधि में फर्में उत्पादन के नये पैमाने को अपना सकती हैं तथा पुराने पैमाने का त्याग कर सकती हैं। नई फर्में उद्योग में प्रवेश कर सकती हैं तथा पुरानी फर्में उद्योग छोड़कर बहिर्गमन कर सकती हैं। इस समयावधि में पूर्ति को माँग के अनुसार पूर्ण रूप से समायोजित किया जा सकता है। इसीलिए इस अवधि में पूर्ति का प्रभाव अधिक पड़ता है। इस अवधि में सम्बन्धित कीमत को सामान्य मूल्य या दीर्घकालीन

सामान्य मूल्य (Normal Price or Long Run Normal Price) कहते हैं। दीर्घावधि म कीमत अनुकूलतम फम की औसत उत्पादन लागत के बराबर होता है।

4 **अति दीर्घावधि** (Very Long Period) यह अवधि इतनी लम्बी होती है कि इसम उत्पादन के साधनो (Factors of Production) म भी परिवतन हो जाता है। पूजीगत उपकरणो (Capital equipments) की लागत म कमी या वद्धि के कारण पूर्ति वक्र का रूप बदल जाता है। माँग म भी आदत या रुचि म परिवतन के कारण परिवतन हो जाता है। इतने महत्त्वपूण परिवतन के कारण मूल्य म जो परिवतन होते हैं मार्शल ने उन्हें मूल्य म व्यापक परिवतन (Secular ch nges in value) कहा है।

इस प्रकार उपयुक्त चार प्रकार की अवधि म से कीमत निधारण म प्रथम तीन का महत्त्व है। चौथी अवधि को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता है। सक्षप म कहा जा सकता है।

1 **अति अल्पकाल** या बाजार काल म पूर्ति निश्चित होती है।

2 **अल्पावधि** म पूर्ति म परिवतन वतमान उत्पादन क्षमता की सीमा तक किया जा सकता है। फर्मों की सख्या अपरिवर्तित रहती है।

3 **दीर्घावधि** म उत्पादन साधनो तथा उत्पादन मान म परिवतन कर पूर्ति म आवश्यक समायोजन किया जा सकता है। फर्मों की सख्या भी बदल सकती है। अब यहाँ हम विभिन्न समयावधियो (Different Time Periods) के सन्दभ म पूण स्पर्धा के अन्तगत मूल्य निर्धारण पर विचार करेंगे। यहा पर यह बता देना आवश्यक है कि पूण स्पधा म मूल्य निर्धारण पूरे उद्योग के द्वारा किया जाता है किसी फम विशष द्वारा नहीं। पूण स्पधा म कीमत (Price) सभी क्रेताओं तथा विक्रेताओं की सम्मिलित माँग और पूर्ति का परिणाम होती है। किसी एक फम का प्रभाव कीमत पर नहीं पडता।

कीमत का निर्धारण माँग तथा पूर्ति पर निभर है तथा पूर्ति समय के अनुसार बदलती रहती है क्योंकि फर्मों पर अपनी प्रब ध व्यवस्था उत्पादन के पमान तथा उत्पादन के ढग म समयानुसार परिवतन करने पडते है। पूर्ति म समायोजन (Adjustment) करने के दृष्टिकोण स समय तीन प्रकार के हो सकते हैं (i) बाजार समय (Market Period) (ii) अल्पकाल (Short Period) तथा (iii) दीघकाल (Long Period)।

चूंकि पूर्ति पर प्रभाव डालने वाले कारण विभिन्न समयो म अलग अलग होते हैं इसलिए यह आवश्यक है कि कीमत निर्धारण का अध्ययन इन तीनो समयो म अलग अलग किया जाए।

बाजार मूल्य
(Market Price)

किसी वस्तु का बाजार मूल्य वह मू'य है जो बाजार म अल्प समय के लिए (एक दिन या एक सप्ताह) बाजार म पाया जाता है। प्रो० स्टिगलर के अनुसार **किसी वस्तु का बाजार मूल्य समय की उस अवधि के मूल्य को कहते हैं जिसमे उस वस्तु की पूर्ति स्थिर रहती है ।'** इस प्रकार बाजार मूल्य वह मू'य होता है जो किसी बाजार म अति अल्पकाल म प्रचलित रहता है। यह माग तथा पूर्ति क अस्थायी साम्य अथवा सतुलन द्वारा निर्धारित होता है। बाजार समय उस अल्प समय को कहते हैं जिसके अन्दर उत्पादन की दर म परिवर्तन नहीं किया जा सकता तथा जिसम विक्रेता क पास वस्तुओं का निश्चित स्टाक (Fixed Stock) रहता है। इसम समय इतना कम रहता है कि अतिरिक्त इकाइयों का उत्पादन नहीं किया जा सकता। इस प्रकार वतमान स्टाक म से ही बिक्री की जाती है। **वस्तु की पूर्ति उसके स्टाक तक ही सीमित रहती है।** वस्तु की माग अधिक हो जाने पर और समय कम होने क कारण उसकी पूर्ति म वद्धि नहीं की जा सकती तथा माग कम हो जाने पर उसकी पूर्ति म कमी भी नहीं की जा सकती। बाजार समय को स्पष्ट करना कठिन है। उदाहरण क लिए उद्योग-सम्बन्धी वस्तुओं क लिए जिनकी पूर्ति उत्पादन लगातार होने से शीघ्रता से बढ़ाई जा सकती है बाजार समय बहुत कम होता है। यह कुछ दिनो का या कुछ घण्टो का भी हो सकता है। कृषि सम्बन्धी वस्तुओं क लिये बाजार समय कुछ महीनो का हो सकता है।

बाजार मूल्य की विशेषताएँ (Charact ristics of Marekt Price) बाजार मू'य की अग्रलिखित विशेषताए होती हैं

1 **अस्थायी मूल्य** (Unstable Price) बाजार मू'य स्थिर मू'य नहीं होता है। यह हमेशा बदलता रहता है। यह मू'य माग बढ़ने पर ऊँचा उठता है तथा माग घटने पर नीचे गिरता है।

2 **माग का अत्यधिक प्रभाव** (More Influence of Dem nd) बाजार मू'य क निर्धारण म माग सक्रिय होती तथा पूर्ति निष्क्रिय रहती है। इसका कारण यह है कि बाजार मू'य अति अल्पकालिक होता है और अल्पकाल म पूर्ति म परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। इसीलिए बाजार क मूल्य निर्धारण म माग का अत्यधिक प्रभाव रहता है।

3 **बाजार मू'य उत्पादन व्यय से अधिक या कम भी हो सकता है** (Market Price may more or less than cost) बाजार मू'य किसी वस्तु का अस्थायी मू'य होता है। इसीलिए यह उत्पादन लागत स अधिक या कम दोनो हो सकता है।

4 सामान्य मूल्य के बराबर होने की प्रवृत्ति (Nature to be equal with Normal Price) बाजार मूल्य में सामान्य मूल्य के बराबर होने की प्रवृत्ति होती है अर्थात् जब सामान्य मूल्य बाजार मूल्य से अधिक होता है तब बाजार मूल्य के बढ़ने की प्रवृत्ति होती है तथा यदि सामान्य मूल्य बाजार मूल्य से कम होता है तो बाजार मूल्य में घटने की प्रवृत्ति होती है।

बाजार मूल्य का निर्धारण (Determination of Market Price)

बाजार-काल को 'अति अल्पकाल' (Very Short Period) या 'तात्कालिक समय (Immediate Period) भी कहते हैं। इस अवधि इतनी कम होती है कि उत्पादन की मात्रा में परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। मांग बढ़ने पर केवल वर्तमान स्टाक से ही पूर्ति स्थिर या निश्चित (Fixed) होती है। कीमत मुख्यतः माँग द्वारा निर्धारित होती है। मांग अधिक होने पर कीमत ऊँची उठती है तथा मांग कम होने पर कीमत नीचे गिरती है। इस तथ्य को चित्र संख्या 91 द्वारा प्रदर्शित किया गया है। SS पूर्ति रेखा है जो एक खड़ी रेखा (Vertical) के रूप में है और यह इस बात का सूचक है कि पूर्ति स्थिर है। DD मांग रेखा है जो पूर्ति रेखा
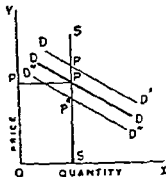
चित्र सं० 91

को बिन्दु P पर काटती है अतः मूल्य PS होगा। यदि मांग बढ़कर D'D हो जाए तो कीमत SP होगी तथा यदि मांग घटकर D"D" हो जाए तो कीमत घटकर SP" हो जाएगी। इससे यह स्पष्ट है कि अति अल्पकाल में कीमत मांग द्वारा निर्धारित होती है पूर्ति का प्रभाव अपेक्षाकृत बहुत कम पड़ता है। मांग में परिवर्तन के अनुसार कीमत बदलती रहती है। इस मूल्य को बाजार मूल्य या अति अल्पकालीन साम्य मूल्य (Very Short Period Equilibrium Price) कहते हैं।

टिप्पणी बाजार मूल्य निर्धारण अलग अलग प्रकृति की वस्तुओं जैसे शीघ्र नाशवान वस्तुओं टिकाऊ वस्तुओं आदि के सम्बन्ध में मूल्य के निर्धारण का पिछले अध्याय मूल्य के सामान्य सिद्धान्त' के अन्तर्गत विस्तार से समझा दिया है।

सामान्य मूल्य
(Normal Price)

सामान्य मूल्य से आशय (Meaning of Normal Price) किसी वस्तु की माँग तथा पूर्ति के स्थायी सतुलन द्वारा दीर्घकाल में निर्धारित मूल्य को सामान्य मूल्य कहा जाता है। **प्रो० मार्शल** के शब्दों में किसी वस्तु का सामान्य मूल्य वह मूल्य है जो दीर्घकाल में आर्थिक शक्तियों द्वारा निश्चित होता है। सामान्य मूल्य माँग तथा पूर्ति दोनों के स्थायी साम्य द्वारा निर्धारित होता है। स्थायी साम्य तभी पाया जा सकता है जब माँग एवं पूर्ति की शक्तियों में बाधक परिस्थितियों को दूर कर दिया जाय। किन्तु आज के परिवर्तनशील संसार में इन बाधक प्रभावों को पूर्णतः नहीं हटाया जा सकता है। इसलिए यह कहा जाता है कि सामान्य मूल्य काल्पनिक होता है जो कि वास्तव में किसी समय विशेष में प्रचलित नहीं होता है। बाजार मूल्य के सामान्य मूल्य की ओर जाने की प्रवृत्ति होती है किन्तु वह वास्तव में वहाँ तक नहीं पहुँच पाता है।

सामान्य मूल्य के भेद कुछ अर्थशास्त्री सामान्य मूल्य के भेद करते हैं तथा वे इसे दो प्रकार का बताते हैं (i) अल्पकालीन सामान्य मूल्य तथा (ii) दीर्घकालीन सामान्य मूल्य।

अल्पकालीन सामान्य मूल्य
(Short Run Normal Price)

अल्पकालीन सामान्य मूल्य उस मूल्य को कहते हैं जिसका सम्बन्ध अल्पकाल से होता है। हम यह जानते हैं कि अल्पकाल उस अवधि को कहते है जिसमें फर्मे माँग में वृद्धि के कारण पूर्ति में वृद्धि केवल अपने वर्तमान साधनों का अधिक उपयोग करके कर सकती हैं। फर्मों की संख्या में परिवर्तन नहीं किया जा सकता। फर्मों को उतना ही समय मिलता है जिसमें बढ़ी हुई माँग की पूर्ति वर्तमान प्लांट मशीनरी आदि का उत्पादन क्षमता का अधिकाधिक उपयोग कर सकें। इस प्रकार अल्पकाल में उत्पादक पूर्ति की मात्रा में कुछ सीमा तक समायोजन कर सकते है।

अतः अल्पकाल में माँग परिवर्तन के कारण पूर्ति में कुछ सीमा तक परिवर्तन किया जा सकता है। अल्पकाल में माँग में वृद्धि का अर्थ है पूर्ति में भी कुछ सीमा तक वृद्धि का पाया जाना। इसी प्रकार माँग घटने का अर्थ है पूर्ति की मात्रा में भी कमी करना। परन्तु अल्पकाल में माँग के साथ पूर्ति का पूर्ण समायोजन सम्भव नहीं होता है। यदि माँग में अधिक वृद्धि हो जाय तो पूर्ति में अधिक वृद्धि नहीं की जा सकती

है अत मूल्य ऊंचा उठेगा तथा उत्पादकों को अधिक लाभ प्राप्त होगा। यदि माँग में कमी होती है तो कीमत नीचे गिरेगी, अत उत्पादकों को हानि उठानी पड़ेगी। परन्तु लाभ व हानि की मात्रा उतनी अधिक नहीं हो सकती है जितनी कि बाजार अवधि' म सम्भव होती है।

अल्पकाल म भी *उत्पादक इस बात का प्रयत्न करता है कि कीमत सीमान्त* लागत के बराबर हो। परन्तु यदि उसे केवल परिवर्तनशील लागत (variable costs) के बराबर भी कीमत प्राप्त होती है तो भी वह उत्पादन जारी रखेगा क्योंकि उत्पादन बन्द कर देने पर भी उसे 'निश्चित लागत' (fixed costs) वहन करनी पड़ेगी। (मार्शल ने variable cost को prime cost तथा fixed cost को supplementary cost कहा है।)

अल्पकाल म भी मूल्य निर्धारण बाजार-काल की भाँति माँग तथा पूर्ति के साम्य द्वारा निर्धारित होता है। अर्थात् जिस कीमत पर वस्तु की माँग तथा पूर्ति बराबर होती है वहीं कीमत निर्धारण होता है।

(क) वस्तु की माँग कीमत अधिकांश अंशों म वस्तु की माँग पर निर्भर करेगा। यदि माँग म वृद्धि होती है तो कीमत बढ़ेगी यदि माँग म कमी होती है तो कीमत घटेगी।

(ख) वस्तु की पूर्ति उत्पादक इस बात की चेष्टा करता है कि उसे सीमान्त लागत के बराबर कीमत प्राप्त हो। अत अल्पकाल म पूर्ति वक्र का स्वरूप फर्म के सीमान्त लागत वक्र की भाँति होगा (उद्योग का पूर्ति वक्र फर्मों के पूर्ति-वक्रों का योग होगा)। अल्पकाल म पूर्ति-वक्र की स्थिति निश्चित होगी क्योंकि परिवर्तन *उसी वक्र पर ऊपर या नीचे की ओर होंगे (अर्थात पूर्ति की तालिका को परिवर्तित* नहीं किया जा सकता है) अर्थात् पूर्ति वक्र स्थान परिवर्तन नहीं कर सकता (There can t be shifts in supply curve)। परन्तु यदि परिवर्तनशील साधन म भी परिवर्तन होता है और परिवर्तनशील साधनों म परिवर्तन कर वर्तमान मशीन आदि का अधिक उपयोग कर उत्पादन म वृद्धि की जाती है तो फर्मों की सीमान्त लागत म परिवर्तन हो जाएगा। ऐसी परिस्थिति म दूसरा पूर्ति वक्र बनाना पड़ेगा। अल्पकाल म बाजार काल की भाँति पूर्ति पूर्ण स्थिर नहीं होती है। वर्तमान साधनों का अधिक उपयोग कर पूर्ति की मात्रा म वृद्धि की जा सकती है। वर्तमान उत्पादन क्षमता तक पूर्ति की मात्रा म वृद्धि की जा सकती है। वस्तु के मूल्य निर्धारण म पूर्ति की अपेक्षा माँग का अधिक प्रभाव पड़ेगा।

(ग) मूल्य निर्धारण अल्पकालीन सामान्य मूल्य निर्धारण का स्पष्टीकरण चित्र सं० 92 से होता है। चित्र म MSC बाजार-पूर्ति रेखा (Market Supply Curve) है। (यह मान लिया गया है कि पूर्ति पूर्ण स्थिर है तथा सम्पूर्ण स्टॉक वर्तमान मूल्य पर बेचने के लिए प्रस्तुत है)। DD माँग-वक्र है बाजार मूल्य OP

है। वस्तु की माग म वृद्धि होने पर D_1D_1 नया माँग वक्र है। उत्पादक वर्तमान
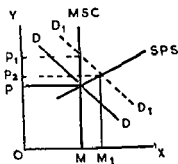
चित्र स० 92

उत्पादन क्षमता का उपयोग कर उत्पादन म वृद्धि करेगे जिससे बढी हुई माग का पूर्ति की जा सकेगा। पूर्ति म परिवतन होगा। SPS अल्पकालीन पूर्ति (Short Period Supply) वक्र है। इस प्रकार कीमत OP_2 होगी। यह याद रखना चाहिए कि यदि केवल वतमान स्टाक तक ही पूर्ति सीमित है तो माग बढने के कारण बाजार मूल्य OP_1 हो जाएगा। परन्तु अल्पकाल म वतमान क्षमता के उपयोग द्वारा पूर्ति म वृद्धि की जा सकती है। अत अल्पकालीन पूर्ति वक्र बाजार पूर्ति वक्र के दाहिनी ओर होगा। पूर्ति म वृद्धि होगी अत अल्पकालीन सामान्य मूल्य बढी हुई माँग पर बाजार मूल्य से कम होगा (OP_1 बाजार मूल्य तथा OP_2 अल्पकालीन सामान्य मूल्य होगा।)

अल्पकालीन सामान्य मूल्य के निर्धारण म निश्चित लागतो पर ध्यान नही दिया जाता है। कीन्स ने इस धारणा को गलत सिद्ध किया है[3]। उनका कहना है कि अल्पकालीन सीमान्त लागत म निश्चित लागत का भी अंश वतमान रहता है अर्थात निश्चित उपकरणो (Fixed Equipments) के जिस भाग का प्रयोग साहसी वतमान उत्पादन के लिए करता है तथा उन्हे बेकार नहीं पडा रहने देता उसकी लागत का भी ध्यान म रखना चाहिए। उन्होने ऐसी लागत को **प्रयोगक लागत** (User cost) कहा है। इस प्रकार अल्पकालीन सीमान्त लागत म सम्पूर्ण परिवतनशील लागत तथा निश्चित लागत के कुछ भाग को सम्मिलित करना चाहिए।

दीर्घकालीन सामान्य मूल्य
(Long Run Normal Price)

परिभाषा

दीर्घकालीन सामान्य मूल्य उस मूल्य को कहते हैं जिसका सम्बन्ध दीर्घकाल म होता है। दीर्घकाल म उत्पादक को इतना समय मिल जाता है कि वह उत्पादन

साधनो तथा फम के आकार व उत्पादन मान म परिवतन कर उत्पान्न की मात्रा म माग क अनुरूप परिवतन कर सकता है। दीघकाल मे माग तथा पूर्ति को प्रभावित करन वाल तत्त्वा को पूरा समय मिन जाता है। दीघकालीन सामान्य मूल्य वास्तविक दीघकालीन साम्य मूल्य होना है क्योंकि इसी मूल्य द्वारा उत्पादन तथा उपभोग का प्रवाह समायोजित हाना है। बाजार-मूल्य की प्रवत्ति सामान्य मूल्य क बराबर होन की होती है। अत बाजार मल्य सामान्य मूल्य के इद गिद चक्कर लगाना है। एडम स्मिथ ने सामान्य मूल्य क लिए प्राकृतिक कीमत (Natural Price) तथा माशल ने (Normal Price) शब्दो का प्रयोग किया है। माशल न इसे इस प्रकार परिभाषित किया है एक वस्तु की प्राकृतिक या सामान्य कीमत वह है जिसे आर्थिक शक्तिया लाती हैं यदि जीवन की सामान्य दशाएँ इतने लम्ब समय तक स्थतिक हा जिसम उनका (आर्थिक शक्तियो का) पूरा प्रभाव पड सके।[1]

दीघकालीन सामान्य मूल्य का निर्धारण

हम यह जानत हैं कि अल्पकालीन सामान्य मूल्य सीमान्त कीमत द्वारा निर्धारित होता है (यदि माग की तालिका दी हुई ह)। दीघकाल म यदि माग बढ जाती है ता फर्में उत्पादन मान म परिवर्तन करती हैं। फर्में अतिरिक्त पू जी तथा साधन लगा कर माँग क अनुरूप उत्पादन म वद्धि करेंगी। परन्तु फर्में एसा उसी अवस्था म करेंगी जबकि औसत लागत सीमान्त लागत से कम है क्योकि ऐसी दशा म फर्मों को अधिक लाभ प्राप्त हाना रहता है। एक फम क लाभ की मात्रा व्यक्तिगत रूप स उस समय अधिकतम होती है जबकि उसकी सीमान्त लागत तथा सीमान्त आय समान हो जिस प्रकार एक फम के लिए साम्य उत्पादन उत्पादन की वह मात्रा होगी जिस पर सीमान्त लागत कीमत के बराबर हो। **परन्तु सम्पूण उद्योग को साम्य अवस्था मे होन के लिए यह आवश्यक है कि कीमत औसत लागत के बराबर हो। इस प्रकार दीघकाल में कीमत उत्पादन लागत के बराबर होती हैं।** (Price in the long run is equal to cost of production)।

अल्पकाल म उत्पादक अपनी वस्तु का कुल औसत लागत स कम पर भी बच सकता है। यदि उस औसत प्रमुख लागत (AVC) के बराबर कीमत प्राप्त हो जाती है तो भी अच्छ भविष्य की आशा म वह उत्पादन जारी रक्खेगा। परन्तु दीघकाल म वह एसा नहीं कर सकता है। दीघकाल म यह आवश्यक है कि उस

---

1 "Normal or natural value of a commodity is that which economic forces would tend to bring about in the long run It is the average value which economic forces would bring about if the general conditions of life were stationary for a run of time long enough to enable them all to work out their full effects

—*Marshall*

कुल औसत उत्पादन लागत के बराबर कीमत प्राप्त हो। साथ ही साथ यह भी आवश्यक है कि कीमत सीमान्त लागत के बराबर हो। अत

दीर्घकालीन सामान्य मूल्य = औसत लागत = सीमान्त लागत

इस प्रकार दीर्घकाल में उत्पादक को न तो हानि होती है न लाभ (केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त होता है जो उत्पादन व्यय का ही एक भाग माना जाता है) यदि फर्में अधिक लाभ प्राप्त कर रही है तो अन्य उत्पादक फर्में उस उद्योग की ओर आकर्षित होंगी। इस प्रकार उत्पादन बढ़ेगा पूर्ति बढ़ेगी तथा वस्तु की कीमत नीचे गिरेगी। कीमत उस समय तक नीचे गिरती जाएगी जब तक कि वह औसत लागत तथा सीमान्त लागत के बराबर नहीं हो जाती है।

यदि उत्पादक को हानि हो रही है अर्थात उसे औसत लागत से कम कीमत प्राप्त हो रही है तो वह दीर्घकाल में उद्योग छोड़कर अन्यत्र चला जाएगा। अत उत्पादन तथा पूर्ति दोनों में ही कमी हो जाएगी और इस प्रकार कीमत बढ़ जाएगी। यह प्रक्रिया उस समय तक चलती रहेगी जब तक कीमत औसत लागत तथा सीमान्त लागत के बराबर नहीं हो जाती। अत दीर्घकाल में किसी वस्तु की कीमत उसकी उत्पादन लागत के बराबर होती है।

चूंकि दीर्घकाल में कीमत उत्पादन लागत के बराबर रहती है। अत पूर्ण स्पर्धा के सन्दर्भ में हम यह कह सकते हैं कि सभी फर्मों को समान रूप से कुशल होना पड़ेगा अथवा अकुशल फर्म को उद्योग छोड़ना पड़ेगा। इस प्रकार हम इस परिणाम पर पहुंच सकते हैं कि सभी फर्मों की औसत लागत समान होगी। यद्यपि व्यावहारिक रूप में सम्भव है कि कुछ फर्मों के पास दूसरों की अपेक्षा अधिक कुशल उत्पादक साधन हों—जैसे अधिक कुशल प्रबन्धक फर्म की अधिक उपयुक्त स्थान पर स्थिति आदि। परन्तु इसका प्रभाव औसत उत्पादन लागत पर नहीं पड़ेगा क्योंकि इन अधिक कुशल साधनों को उनके सामान्य पारिश्रमिक के अतिरिक्त पारिश्रमिक मिलेगा। अत सभी फर्मों की औसत लागत समान होगी।

3 **रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण** दीर्घकाल में सभी उत्पादन साधनों की मात्रा में वृद्धि कर पूर्ति बढ़ाई जा सकती है। नई फर्मों का भी प्रवेश हो सकता है। माग के अनुसार पूर्ति में पूर्ण समायोजन (Adjustment) किया जा सकता है। इस काल में मूल्य माग की अपेक्षा पूर्ति से बहुत अधिक प्रभावित होता है। चित्र संख्या 93 में DD मूल माँग वक्र है। MSC बाजार पूर्ति रेखा तथा SPS अल्पकालीन पूर्ति रेखा है। LPS दीर्घकालीन पूर्ति रेखा (Long Period Supply Curve) है जो SPS की दाहिनी ओर है और यह प्रकट करती है कि दीर्घकाल में अल्पकाल की अपेक्षा पूर्ति में अधिक वृद्धि की जा सकती है तथा साथ ही साथ उत्पादन लागत (Cost of Production) भी कम होगी। D_1D_1 बढ़ी हुई माँग रेखा LPS को P_3 बिन्दु पर काटती है। इस प्रकार OP_3 सामान्य मूल्य या दीर्घकालीन सामान्य मूल्य होगा

तथा OQ_2 मात्रा बेची जायगी। यह स्मरणीय है कि दीघकालीन सामान्य मूल्य (OP_3) अल्पकालीन सामान्य मूल्य (OP_2) स कम है क्योंकि दीघकाल म पूर्ति बढ़ेगी तथा सामान्यतया उत्पादन लागत घटगी। दीघकालीन उत्पादन मात्रा (OQ_3) अल्पकालीन उत्पादन मात्रा (OQ_2) स अधिक होगा। चित्र स बाजार मूल्य (OP_1) अल्पकालीन सामान्य मूल्य (OP_2) तथा सामान्य मूल्य (OP_3) का अन्तर जाना जा सकता है।
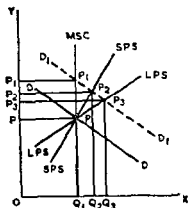
चित्र स० 93

माँग मे परिवतन तथा दीघकालीन मूल्य

अब तक हमने माँग का जिक्र नहीं किया है। दीघकाल म भी माग म परिवतन होत है क्योंकि माग पर प्रभाव डालने वाले तत्त्व—आय रुचि प्रथा आदि म भी परिवतन होत रहत हैं। माग मे परिवतन का प्रभाव कीमत पर पडता है। यदि पूर्ति की अवस्थाएँ पूववत हैं तो माग म वृद्धि होने पर साम्य बिन्दु ऊपर उठेगा तथा माग म कमी होने से साम्य बिन्दु नीचे गिरेगा।

पूर्ति मे परिवतन तथा सामान्य मूल्य
(Changes in Supply and Long Run Price)

दीघकाल म पूर्ति माँग क अनुसार समायोजित की जाती है। पूर्ति की मात्रा म परिवतन का अथ है उत्पादन मात्रा म परिवतन करना। चूँकि दीघकाल म कीमत उत्पादन व्यय के बराबर होती है अत यह स्वाभाविक है कि उत्पादन-व्यय म परिवतनो का प्रभाव कीमत पर पडगा। उत्पादन-व्यय म किस प्रकार या किस सीमा तक परिवतन होग यह इस बात पर निभर है कि उत्पादन लागत वृद्धि नियम समान लागत नियम या लागत ह्रास नियम क अनुसार किया जा रहा है।

उत्पादन के नियम तथा दीर्घकालीन सामान्य मूल्य
(Laws of Returns and Long Run Normal Price)

(1) लागत वृद्धि नियम (Law of Increasing Costs) इसे क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम भी कहते हैं। यदि किसी वस्तु का उत्पादन लागत वृद्धि नियम के अनुसार हो रहा है तो माँग कम होने पर उत्पादन की मात्रा कम कर दी जायगी। फलस्वरूप उत्पादन लागत कम होगी तथा मूल्य नीचे गिरेगा। माँग के बढ़ने पर उत्पादन में वृद्धि की जायगी। इस प्रकार उत्पादन लागत बढ़ेगी तथा मूल्य ऊँचा उठेगा। चित्र सं० 94 में इसका स्पष्टीकरण किया गया है।
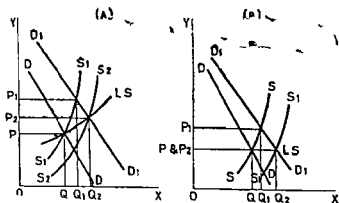
चित्र सं० 94

चित्र 94 में DD माँग वक्र है। S_1S_1 अल्पकालीन पूर्ति वक्र है। दोनों एक दूसरे को जहाँ काटते हैं उसी बिन्दु पर कीमत निर्धारित होगी। इस प्रकार OP कीमत तथा OQ उत्पादन मात्रा होगी। यदि माँग बढ़कर D_1D_1 हो जाए तो कीमत बढ़कर OP_1 हो जायगी तथा लाभ अधिकतम करने के लिए उत्पादन मात्रा OQ_1 हो जायेगी। इस प्रकार माँग में वृद्धि के कारण कीमत ऊँची उठती है तथा उत्पादन की मात्रा में कुछ वृद्धि होती है (वर्तमान साधनों का अधिक उपयोग कर)। दीर्घकाल में लाभ देखकर अन्य फर्में उद्योग में प्रवेश करेंगी। नई फर्मों के आने से उद्योग के उत्पादन में वृद्धि होगी। इस प्रकार अल्पकालीन पूर्ति वक्र दाहिनी ओर हटेगा अर्थात् पूर्ति बढ़ेगा (S_2S_2 पूर्ति वक्र)। पूर्ति के बढ़ने पर भी कीमत के बढ़ने का कारण यह है कि उद्योग लागत वृद्धि नियम के अनुसार चलाया जा रहा है। अतः उत्पादन बढ़ाने पर लागत बढ़ेगी। इस प्रकार अधिक मात्रा की पूर्ति ऊँची कीमत पर ही की जा सकती है। LS दीर्घकालीन पूर्ति वक्र होगा जो अल्पकालीन पूर्ति का योग है। दीर्घकालीन मूल्य OP_2 होगा।

(2) **लागत समता नियम (Law of Constant Costs)** यदि कोई वस्तु लागत समता नियम के अनुसार पैदा की जा रही है तो उत्पादन बढ़ने से प्रति इकाई उत्पादन लागत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। अतः यदि माँग में वृद्धि होती है तो सामान्य कीमत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। चित्र सं० 94B में DD माँग-वक्र तथा SS अल्पकालीन पूर्ति वक्र है। अतः PQ कीमत तथा OQ उत्पादन की मात्रा हुई। यदि माँग बढ़कर D_1D_1 हो जाती है तो अल्पकाल में कीमत भी बढ़कर OP_1 हो जायगी क्योंकि अल्पकाल में कीमत सीमान्त लागत के बराबर होगी। कीमत बढ़ने से फर्मों के प्रवेश या फर्मों के विस्तार को प्रोत्साहन मिलेगा। उत्पादन में वृद्धि के कारण नया अल्पकालीन पूर्ति वक्र S_1S_1 होगा जो नए माँग-वक्र D_1D_1 को P की सीध में काटता है। दीर्घकालीन पूर्ति वक्र LS होगा जो एक क्षैतिज (Horizontal) रेखा के रूप में होगा। इससे स्पष्ट है कि दीर्घकाल में कीमत परिवर्तन नहीं होगा। नया मूल्य OP_1 या OP होगा।

(3) **लागत ह्रास नियम (Law of Decreasing Costs)** जिन वस्तुओं का उत्पादन लागत ह्रास नियम के अनुसार होता है उनकी उत्पादन लागत अधिक मात्रा में उत्पादन करने से प्रति इकाई घटती जाती है। अतः ऐसी वस्तुओं की माँग में वृद्धि होने के कारण यदि पूर्ति में वृद्धि की जाय तो प्रति इकाई उत्पादन लागत कम होने के कारण उनकी कीमत भी घटती जायगी। इसी प्रकार माँग कम होने पर उत्पादन कम किया जायेगा तथा उत्पादन में वृद्धि होगी। फलस्वरूप कीमत बढ़ जायगी। चित्र सं० 95 में इस तथ्य का स्पष्टीकरण किया गया है
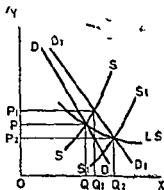
चित्र सं० 95

DD माँग वक्र तथा SS अल्पकालीन पूर्ति वक्र हैं। अतः OQ उत्पादन मात्रा तथा OP कीमत हुई। D_1D_1 बढ़ी हुई माँग का प्रतीक है। अतः अल्पकाल में कीमत बढ़ कर P_1O हो जायगी। फर्मों को अधिक लाभ प्राप्त होगा तथा नई फर्में प्रवेश

करेंगी। अत नया पूर्ति वक्र S_1S_1 होगा (पूर्ति बढ़ जायेगी)। इस प्रकार कीमत घटकर P_3O हो जायगी। LS दीर्घकालीन पूर्ति वक्र होगा जो बाएँ से दाएँ नीचे की ओर गिरता गया है जिससे यह प्रकट होता है कि अधिक पूर्ति घटती हुई कीमतों पर की जायगी।

सामान्य मूल्य किस फर्म की उत्पादन लागत के बराबर होगा ?

दीर्घकालीन सामान्य मूल्य औसत उत्पादन लागत के बराबर होता है। एक उद्योग में बहुत-सी फर्में उत्पादन का काम करती हैं। पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा के कारण सभी फर्मों को समान दर पर कीमत प्राप्त होती है अर्थात् सम्पूर्ण उद्योग के लिए एक ही कीमत होती है। अत प्रश्न है—किस फर्म की औसत लागत के आधार पर मूल्य निश्चित किया जायगा ? मार्शल ने इस समस्या का समाधान प्रतिनिधि फर्म का विचार (Concept) प्रस्तुत करके किया है।

प्रतिनिधि फर्म (Repr sentative Firm)

पूर्ण स्पर्द्धा के अन्तर्गत विकास की दृष्टि से फर्मों की विभिन्न अवस्थाएं होती हैं। कुछ फर्में नई होती हैं कुछ पुरानी होती हैं। मार्शल ने उद्योग की दशा की तुलना एक वन (Forest) से की है। जिस प्रकार वन में कुछ वृक्ष अंकुरित व पनपित होते रहते हैं कुछ पूर्ण विकसित होते हैं तथा कुछ पुराने होकर जीर्ण शीर्ण हो जाते हैं इसी प्रकार कुछ फर्म विकासोन्मुख कुछ विकसित तथा कुछ पुरानी ह्रासोन्मुख होती हैं। अत उद्योग में कुछ फर्में लाभ पर चलती हैं कुछ न हानि न लाभ पर चलती हैं और कुछ हानि उठाकर उत्पादन करती हैं। यदि सामान्य मूल्य का निर्धारण विकसित फर्म की उत्पादन लागत के आधार पर किया जाय तो नई फर्मों (कम कुशल) को हानि होगी तथा वे उद्योग छोड़ देंगी। इसी प्रकार यदि ह्रासोन्मुख फर्म की उत्पादन लागत को आधार मान लिया जाय तो अन्य फर्मों को बहुत लाभ होगा जिससे बहुत-सी नई फर्में उद्योग में प्रवेश करेंगी। इस प्रकार समस्या यह है कि किस फर्म की उत्पादन लागत को आधार माना जाय ? मार्शल के अनुसार दीर्घकालीन सामान्य मूल्य प्रतिनिधि फर्म की उत्पादन लागत के बराबर होता है।[1]

बाजार मूल्य व सामान्य मूल्य में अन्तर के लिए इसी अध्याय के अन्तिम पृष्ठ देखिए।

1 "Our respresentative firm must be one which has had a fairly long life and fair success and which is managed with normal ability and which has a normal access to economies external and internal which belong to that aggrega e volume of prod ‿ ion account being taken of the class of goods produced the conditions of marketing them and the economic environment generally

—*Marshall* Principles of Economics p 65

(2) इस धारणा को वास्तविक मान लिया जाय तो भी इसके तर्क में जान नहीं है। इस सिद्धान्त के अनुसार सामान्य मूल्य प्रतिनिधि फर्म की लागत के बराबर होता है। यह ऐसी फर्म है जिसकी लागत सामान्य मूल्य के बराबर होती है। इस प्रकार मार्शल ने जो सिद्ध करना चाहा वही उन्होंने मान भी लिया है।

(3) प्रतिनिधि फर्म विस्तार बतलाती है या लागत ? इन दोनों में से वह किसका प्रतिनिधित्व करती है ? कहीं-कहीं मार्शल ने विस्तार को महत्त्व दिया है परन्तु उनके विचार से यह पता चल जाता है कि प्रतिनिधि फर्म उद्योग की सामान्य लागत प्रकट करती है। रॉबर्टसन की यही धारणा है। उनके शब्दों में मेरे विचार में (प्रतिनिधि फर्म को) पूरे उद्योग की पूर्ति रेखा के एक छोटे प्रतिबिम्ब से अधिक मानने की आवश्यकता नहीं है।[1] प्रो० निकोलस काल्डार ने भी इसकी व्यावहारिक उपयोगिता को पूर्णतया बेकार माना है।[2]

पीगू की संस्थित फर्म (Pigou's Equilibrium Firm)

मार्शल की प्रतिनिधि फर्म साम्य की केवल एक स्थिति में ही सम्बन्धित है। साम्य की दशा में परिवर्तन होने पर दूसरी प्रतिनिधि फर्म की तलाश करनी पड़ती है। इस प्रकार साम्य-परिवर्तन के साथ प्रतिनिधि फर्म भी बदलती रहती है और इस प्रकार हम किसी फर्म विशेष को ही सदैव प्रतिनिधि फर्म नहीं कह सकते हैं। प्रो० पीगू ने इस दोष को दूर करने के लिए 'सन्तुलित फर्म' या साम्य फर्म का विचार (concept) प्रस्तुत किया। उनके अनुसार यदि सम्पूर्ण उद्योग साम्य की अवस्था में है तो यह आवश्यक नहीं है कि इस उद्योग की सभी फर्में भी साम्यावस्था में हों। व्यावहारिक दृष्टि से कुछ फर्मों का विस्तार हो रहा होगा तथा कुछ का संकुचन। ऐसी दशा में भी हम एक ऐसी फर्म की कल्पना कर सकते हैं जो उद्योग के विभिन्न साम्य-स्तरों पर फर्म भी साम्यावस्था में हो। अतः वह फर्म **जो उद्योग की विभिन्न साम्य अवस्थाओं में स्वयं भी साम्य अवस्थाओं में रहती है साम्य फर्म कहलाती है।** पीगू के ही शब्दों में साम्य फर्म का अर्थ एक ऐसी फर्म से है जो जब कभी सम्पूर्ण उद्योग इस अर्थ में साम्य की अवस्था में है कि वह सामान्य पूर्ति कीमत P

---

1 In my opinion it is not n e sa y to regard it as anything other than a small scale r plica of the supply curve of the industry as a whole
—*Robertson* Increasing Returns and Representative Firm Economic Journal March 1930

2 A representative firm is a to l of mind rather than an analysis of the concrete
—*N Kaldor* Equilib ium of the Firm E onomic Journal March 1930

पर F उत्पादन की नियमित मात्रा Y पैदा कर रहा है स्वयं नियमित उत्पादन **मात्रा X पर साम्य की अवस्था मे हो ।**'[1] इस एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए किसी उद्योग म दस फर्में हैं और उनका कुल उत्पादन एक वर्ष म दस हजार टन है। दूसरे वर्ष फर्मों के उत्पादन म परिवर्तन होता है अर्थात कुछ फर्में पहले की अपेक्षा कम उत्पादन करती हैं तथा कुछ फर्में अधिक उत्पादन करती हैं परन्तु पूरे उद्योग का उत्पादन दस हजार टन ही रहता है। उनमे एक ऐसी फर्म है जो एक वर्ष म 500 टन उत्पादन तथा दूसरे वर्ष भी 500 टन ही उत्पादन करती है तो ऐसी फर्म साम्य फर्म कही जायगी। उद्योग का पूर्ति मूल्य (Supply Price) साम्य फर्म के ही पूर्ति मूल्य के बराबर होगा तथा साम्य फर्म की कीमत सामान्य लागत के बराबर होगी। इतना ही नहीं बल्कि उद्योग का पूर्ति मूल्य साम्य फर्म की औसत लागत के भी बराबर होगा।

पीगू की साम्य फर्म की भी आलोचना की गई है। **जोन राबिन्सन** का कहना है कि यदि वास्तविक फर्में साम्य की अवस्था म नहीं हैं तो उनकी लागतें उस काल्पनिक फर्म की लागतों से सम्बन्धित नहीं होगी। **प्रो० जे० के० मेहता** ने यह विचार व्यक्त किया है कि पीगू का साम्य फर्म मार्शल की प्रतिनिधि फर्म का किसी भी प्रकार सुधरा हुआ रूप नहीं है। वस्तुत दोनों ही विचार मूलत एक हैं। उन्होंने प्रतिनिधि के विचार को उपयुक्त माना है तथा यह कहा है कि प्रतिनिधि फर्म उद्योग का पूर्ण रूप से प्रतिनिधित्व करती है तथा **उसमे उद्योग की ही भाँति उस रूप मे प्रसार या सकुचन की प्रवृत्ति होती है।**[2]

अनुकूलतम फर्म
(Optimum Firm)

आधुनिक अर्थशास्त्री प्रतिनिधि फर्म तथा साम्य फर्म के विचार को निरर्थक तथा अव्यावहारिक मानते हैं। इन अर्थशास्त्रियों म **राबिन्स तथा जोन राबिन्सन** के नाम उल्लेखनीय हैं। आधुनिक समय म यह माना जाता है कि दीर्घकालीन सामान्य मूल्य अनुकूलतम फर्म की उत्पादन लागत के बराबर होता है। अनुकूलतम

---

1 Equilibrium firm implies that there can exist some one firm which whenever the industry as a whole is in equilibrium in the sense that it is producing a regular output in response to a normal supply price will itself individually be in equilibrium with a regular output"

—*Pigou A C* Economics of Welfare p 720

2 Representative firm is the firm "that shows the tendency to expand or contract with industry in the same manner

—*Mehta J K* Studies in Advanced Economic Theory p 181

फम उस फम को कहत हैं जिसम उत्पादन साधना का अनुकूलतम समन्वय होता है। ऐसी फम की औसत लागत न्यूनतम होती है औसत तथा सीमान्त लागतें बराबर होती हैं तथा फम का आकार ऐसा होता है कि उसकी औसत लागत न्यूनतम बिन्दु पर पहुच जाती है तथा उसस अधिक औसत लागत के न गिरने की सम्भावना होती है न ऊपर उठने की। राबिनसन के शब्दो म वह फम अनुकूलतम फम कहलाता है जिसम वतमान तकनीकी विधियो तथा सगठन योग्यता की दशाओ म प्रति इकाई उत्पादन लागत न्यूनतम होता है जबकि व सभी लागतें सम्मिलित कर ली जाती हैं, जिन्ह दीघकाल म सम्मिलित करना आवश्यक है।[1]

अनुकूलतम फम की धारणा व्यावहारिक है। यह किसी फम का वह आदश आकार है जिस पर पहुँचने के लिए सभी फर्में प्रयत्न करती हैं। दीघकालीन सामान्य मूल्य अनुकूलतम फम की औसत उत्पादन लागत के बराबर होता है।

साराश रूप मे हम इस निष्कष पर पहुचते हैं कि दीघकालीन सामान्य मूल्य अनुकूलतम फम की औसत उत्पादन लागत के बराबर होता है।

बाजार मूल्य तथा सामान्य मूल्य मे सम्बन्ध
(Relation between Market and Normal Price)

बाजार मूल्य तथा सामान्य मूल्य म घनिष्ट सम्बन्ध भी पाया जाता है। बाजार मूल्य हमेशा सामान्य मूल्य के इद गिद चक्कर काटता रहता है तथा इसकी प्रवत्ति सामान्य मूल्य की ओर आने की होती है। वास्तव म बाजार मूल्य सामान्य मूल्य स अधिक समय तक न तो ऊपर रह सकता है और न नीचे ही। विभिन्न आकस्मिक घटनाओ स प्रभावित होकर बाजार मूल्य सदा सामान्य मूल्य स कम या

बाजार मूल्य बाजार मूल्य

सामान्य मूल्य सामान्य मूल्य

बाजार मूल्य

बाजार मूल्य
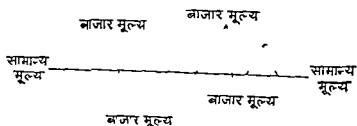
चित्र स० 95

1 That firm which in existing conditions of technique and organising ability has the lowest avarage cost of production per unit when all those costs which must be covered in the long run are included is called an optimum firm

—*E A G Robinson*

अधिक होना रहता है। किन्तु इसका झुकाव सदा सामान्य मूल्य की ओर ही रहता है। अत यह कहा जा सकता है कि बाजार मूल्य सदा सामान्य मूल्य की धुरी के चारो ओर चक्कर काटता रहता है।' बाजार मूल्य एव सामान्य मूल्य के सम्बन्ध को पृष्ठ 732 पर दिए गए रखाचित्र द्वारा स्पष्ट किया गया है।

बाजार मूल्य तथा सामान्य मूल्यो* मे अन्तर

(Distinction between Market Price and Normal Price)

(1) **समय** बाजार मूल्य का सम्बन्ध अत्यन्त ही अल्पकाल कुछ घट एक दिन सप्ताह आदि—स होता है जबकि सामान्य मूल्य का सम्बन्ध दीघकाल स है।

(2) **परिवतन** बाजार मूल्य म परिवतन तजी स होत है जबकि सामान्य मूल्य म स्थायित्व होता है।

(3) **दशा** बाजार मूल्य वह वास्तविक मूल्य होता है जिस पर क्रय विक्रय किया जाता है परन्तु सामान्य मूल्य एक प्रकार का आदश मूल्य होता है। बाजार मूल्य की प्रवत्ति सामान्य मूल्य क बराबर होने की होती है।

(4) **कीमत निर्धारण** बाजार मूल्य के निर्धारण मे माग का प्रमुख हाथ रहता है जबकि सामान्य मूल्य क निर्धारण म पूर्ति का प्रमुख स्थान रहता है तथा मॉग स्थान गौण रहता है।

(5) **उत्पादन लागत** बाजार मूल्य औसत उत्पादन लागत के बराबर उसम कम या अधिक हो सकता है परन्तु सामान्य मूल्य सन्व औसत उत्पादन लागत के बराबर होता है।

(6) **वस्तु की प्रकृति** बाजार मूल्य प्रत्येक प्रकार की वस्तु का होता है—पुनरुत्पादनीय वस्तु निरुत्पादनीय वस्तु। परन्तु सामान्य मूल्य का सम्बन्ध उत्पादन लागत से होता है अत केवल पुनरुत्पादनीय वस्तुओ का ही सामान्य मूल्य होता है।

(7) **पूर्ति** बाजार मूल्य स सम्बन्धित पूर्ति स्थिर (fixed) होती है अर्थात् पूर्ति स्टाक तक ही सीमित होती है। सामान्य मूल्य दीघकालीन होता है। अत प्लाट के आकार म परिवतन' द्वारा तथा फर्मों की सख्या म परिवतन द्वारा पूर्ति घटाइ बढाई जा सकती है।

प्रश्न व सकेत

1 मूल्य निर्धारण म समय क महत्त्व को व्याख्या कीजिए। अपन उत्तर का स्पष्ट करन के लिए चित्र दीजिए।

---

* यहाँ पर सामान्य मूल्य का प्रयाग दीघकालीन सामान्य मूल्य के लिए किया गया है।

Discuss the importance of time element in the theory of value Give a diagram to clear your response

[संकेत—सर्वप्रथम अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से मार्शल द्वारा दिया गया वर्गीकरण बताइये और यह स्पष्ट कीजिए कि समय का यह विभाजन क्रियात्मक समय (operational time) पर आधारित है। इसके बाद अति अल्पकाल अल्प काल तथा दीर्घकाल में मूल्य निर्धारण पर समय के प्रभाव को चित्र द्वारा स्पष्ट कीजिए और अन्त में निष्कर्ष दीजिए।]

2 'समय वह बिन्दु है जिस पर (जिसके द्वारा नहीं) मूल्य का निर्धारण होता है।' विवेचन कीजिए।

[संकेत—प्रश्न में सर्वप्रथम समय के महत्त्व को चित्रों द्वारा स्पष्ट कीजिए और दूसरे भाग में मूल्य निर्धारण में सीमा के महत्त्व की व्याख्या कीजिए।]

3 किसी वस्तु की माँग में स्थायी वृद्धि का मूल्य पर निम्न समयावधियों में प्रभाव बताइये—(अ) अति अल्पकाल (ब) अल्पकाल तथा (स) दीर्घकाल।

[संकेत—प्रश्न में अति अल्पकाल अल्पकाल तथा दीर्घकाल में माँग में स्थायी वृद्धि का मूल्य पर प्रभाव बताइए।]

4 (अ) वस्तु के बाजार मूल्य तथा सामान्य मूल्य के बीच अन्तर को समझाइए। (ब) मूल्य सिद्धान्त में समय के महत्त्व को बताइए।

(A) Distinguish between market price and normal price

(B) Discuss the importance of time element in the theory of value

[संकेत—प्रश्न के अ भाग में बाजार मूल्य तथा सामान्य मूल्य के अन्तर को स्पष्ट कीजिए तथा ब भाग में समय के महत्त्व को बताइए।]

5 बाजार मूल्य क्या है? यह कैसे निर्धारित होता है?

What is market price? How is it determined?

[संकेत—पहले बाजार मूल्य का अर्थ बताकर विशेषताएं लिखें। इसके बाद रेखाचित्रों की सहायता से बाजार मूल्य का निर्धारण बता दें।]

6 सामान्य मूल्य को परिभाषित कीजिए। यह कैसे निर्धारित होता है?

Define normal price How is it determined?

[संकेत—पहले सामान्य मूल्य का अर्थ व विशेषताएं दें तथा दूसरे भाग में रेखाचित्र की सहायता से सामान्य मूल्य का निर्धारण स्पष्ट करें।]

7 'बाजार मूल्य सामान्य मूल्य के इर्द गिर्द घटता बढ़ता रहता है तथा इसकी प्रवृत्ति सामान्य मूल्य की ओर आने की होती है।' विवेचना कीजिए।

Market price fluctuates round normal price and tends towards it Discuss

[संकेत—बाजार मूल्य एवं सामान्य मूल्य के सम्बन्ध शीर्षक के आधार पर उत्तर लिखें।

34

पूर्ण प्रतिस्पर्धा मूल्य व उत्पादन निर्धारण

(Perfect Competition Price & Output Determination)

> Short run price output analysis treats situations in which the firm is free to vary its output but does not have time to change its scale of plant In the long run firms have time to increase or decrease their scales of plant and there is ample time and opportunity for new firms to enter or for existing firms to leave the industry
>
> —*Leftwitch*

लागत तथा आगम के अध्ययन के पश्चात् अब हम पूर्ण स्पर्धा के अन्तर्गत अल्पकाल तथा दीर्घकाल में मूल्य तथा उत्पादन के निर्धारण के प्रश्न पर विचार करेंगे। यहाँ पर यह बतला देना आवश्यक है कि मूल्य निर्धारण की समस्या की पूर्ण जानकारी के लिए उत्पादन लागत, उत्पादन के आगम तथा माँग का सम्यक् अध्ययन आवश्यक है क्योंकि मूल्य निर्धारण इन्हीं तत्त्वों पर निर्भर है। (अतः इन विषयों से सम्बन्धित अध्यायों का अध्ययन करने तथा उन्हें भली भाँति समझ लेने के पश्चात् ही विद्यार्थी इस अध्याय का अध्ययन करें।) मूल्य निर्धारण के साथ ही साथ फर्म तथा उद्योग की साम्यावस्था (Equilibrium of the Firm and Industry) की भी जानकारी आवश्यक है अतः इस अध्याय में इन पर भी प्रकाश डाला गया है। यहाँ पर 'फर्म' तथा 'उद्योग' का अर्थ भी समझ लेना चाहिए।

(1) फर्म (Firm) जिस संस्थान द्वारा उत्पादन किया जाता है उसे उत्पादन इकाई (production unit) कहते हैं जैसे कोई कारखाना। फर्म एक या अधिक उत्पादन इकाइयों को कहते हैं जो कि एक ही स्वामित्व (same ownership) के अन्तर्गत हों। सैम्युलसन के अनुसार पूर्ण स्पर्धा के अन्तर्गत फर्म उसे कहते हैं।

जो जितना मात्रा म चाह प्रचलित बाजार मूल्य पर बेच सकती है, परन्तु उस बाजार मूल्य म वद्धि या कमी करन की क्षमता उसम नहीं होती है।[1]

(ii) उद्योग (*Industry*) बहुत सी एसी फर्मों क समूह को उद्योग कहत हैं जो उसी बाजार (same market) क लिए किसी वस्तु का उत्पादन कर रही हो। परन्तु ई ए जी रोबिंसन ने उसी बाजार तथा वस्तु शब्द के प्रयोग पर आपत्ति की है। उन्हीं क शब्दों म, इस (बाजार का) उत्पादित वस्तु अथवा बाजार जिसके लिए यह (वस्तु) पदा की जाती है क सदम म परिभाषित करना बहुत सी अवस्थाओं म या तो असम्भव है या कम स कम असतोषजनक। व्यावहारिक रूप म हम अधिक से अधिक यही कह सकत हैं कि हम उनका उदाहरण सामन रखें जो वास्तविक रूप म उद्योगों म लग हुए हैं। कुछ नियोक्ता (employers) अपने को एक उद्योग स सम्बन्धित केवल इसलिए मान लत ह कि उनके हित उभयनिष्ठ (common) होत है। एक ही प्रकार क कच्चे माल का प्रयोग करन वाल (जस लोहा तथा इस्पात उद्योग म) या एक ही प्रकार की मशीनों का प्रयोग करन वाल या उत्पादन की एक ही प्रणाली अपनान वाल भी अपन को एक ही उद्योग क प्रतिनिधि मान सकत है। कोई एसी फर्म भी हो सकती है जो विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन करन क कारण कई उद्योगों स सम्बन्धित हो। सम्युएलसन क अनुसार पूर्ण स्पर्धा क अन्तगत बहुत-सी प्रतिस्पर्धी फर्मों क समूह को उद्योग कहत हैं।

पूर्ण प्रतियोगिता में फर्म की साम्य अवस्था
(Equilibrium of the Firm under Perfect Competition)

आधुनिक कीमत सिद्धान्त में फर्म एव उद्योग क साम्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योंकि वस्तु की पूर्ति अथवा उत्पादन या कीमत उनके सन्तुलन द्वारा निश्चित होती है।

फर्म की साम्य अवस्था उस अवस्था को कहत हैं जिसम फर्म का लाभ अनुकूलतम हो (when profit is optimised)। साम्य अवस्था म फर्म का लाभ सामान्यतया अधिकतम होता है। उत्पादन की जिस मात्रा पर लाभ अधिकतम होता है उस मात्रा को साम्य उत्पादन (Equilibrium Output) कहत हैं। यह मात्रा वह मात्रा होती है जिसस कम या अधिक उत्पादन करने स फर्म क कुल लाभ म कमी होती है।

---

1 One who can sell all he wishes at the *going market price* but is unable in any appreciable degree to raise or depress that market price
—*Samuelson P A* op cit p 454

साम्य का अर्थ परिवर्तनशीलता की अनुपस्थिति भी होता है (Equilibrium is position of rest or stage of no change or position of balance), अर्थात् फर्म साम्य की स्थिति में उस समय होती है, जबकि कुल उत्पादन में कोई परिवर्तन नहीं होता है तथा यदि परिवर्तन किया जाता है तो कुल लाभ में कमी होती है। फर्म परिवर्तनहीनता की स्थिति में उस समय पहुँचती है जबकि न्यूनतम लागत पर उसका उत्पादन ऐसी मात्रा पर पहुँच जाता है जिस मात्रा पर उसका लाभ अधिकतम होता है। यह वह अवस्था होती है जिसमें फर्म परिवर्तन करना नहीं चाहती है। इस अवस्था में फर्म में न तो विस्तार की प्रवृत्ति होती है और न संकुचन की। इस प्रकार से साम्यावस्था सतुलन या स्थिरता की अवस्था होती है। **साम्य अवस्था में फर्म के उत्पादन की मात्रा ऐसी मात्रा होती है जिस पर उसका लाभ अधिकतम होता है।**

इस प्रकार कोई भी फर्म साम्य की अवस्था में तब होती है जबकि उसके उत्पादन की मात्रा में परिवर्तन की प्रवृत्ति नहीं हो तथा फर्म को उत्पादन की उस मात्रा पर अधिकतम लाभ प्राप्त हो रहा हो। ठीक इसी तरह उद्योग साम्य की स्थिति में तब होता है जबकि उद्योग में उत्पादन की निर्धारित मात्रा पर अधिकतम लाभ प्राप्त हो रहा है और उद्योग में उत्पादन की मात्रा में परिवर्तन की कोई प्रवृत्ति न हो।

साम्य अवस्था की मान्यताएँ (Assumptions)

साम्य अवस्था का विश्लेषण निम्नलिखित मान्यताओं पर आधारित है

1 फर्म का उद्देश्य अपने लाभ को अधिकतम करना होता है। इस प्रकार फर्म का व्यवहार विवेकपूर्ण (Rational) होता है। फर्म कम लाभ से ही सतुष्ट नहीं हो जाती है।

2 उत्पादक या फर्म उत्पादन लागत को न्यूनतम करने के लिए प्रयत्नशील रहती है।

3 यह मान लिया जाता है कि विभिन्न पडतो (Inputs) की कीमत ज्ञात होती है। उत्पादन-साधनों की सभी इकाइयाँ समान रूप से कार्यकुशल होती हैं तथा उनकी पूर्ति बहुत ही लोचदार (Infinitely elastic) होती है। इसका अर्थ यह है कि उत्पादक वर्तमान कीमत या पुरस्कार देकर उत्पादन साधनों की जितनी मात्रा चाहे काम में लगा सकता है।

पूर्ण प्रतियोगिता में फर्म के साम्य को जानने की विधियाँ
(Methods of Determining Equilibrium of the firm under Perfect Competition)

फर्म का उद्देश्य लाभ को अधिकतम करना होता है। अधिकतम लाभ किस स्थिति में होगा ? इसका उत्तर दो प्रकार से दिया जा सकता है। सामान्य रूप से

अधिकतम लाभ की स्थिति को दो प्रकार से व्यक्त किया जाता है अर्थात् किसी फर्म के साम्य को ज्ञात करने की दो विधियाँ हैं

(1) कुल लागत तथा कुल आगम विधि तथा (2) सीमान्त व औसत लागत विधि। अब हम इन दोनों विधियों का विवेचन करेंगे।

अधिकतम लाभ कुल आगम तथा कुल लागत द्वारा ज्ञात करना

(Maximisation of Profits Through Total Revenue and Total Cost)

उत्पादन की जिस मात्रा पर कुल आगम तथा कुल लागत का अन्तर अधिकतम होता है उस बिन्दु पर फर्म का लाभ अधिकतम होता है (Profit is maximised when the difference between Total Revenue and Total Cost is maximum)। इसके लिए कुल लागत वक्र (Total Cost Curve) तथा कुल आगम वक्र (Total Revenue Curve) का प्रयोग किया जाता है। इन वक्रों की सहायता से जो चार्ट बनता है उसे सम विच्छेद चार्ट (Break-even Chart) कहते हैं।

सम विच्छेद चार्ट (Break even Chart) तैयार करना यह चार्ट कुल आगम तथा कुल लागत रेखाओं द्वारा तैयार किया जाता है। मान लीजिए किसी फर्म की अल्पकालीन लागत सूची निम्नलिखित सारणी के अनुसार है

फर्म की अल्पकालीन लागत तालिका (रुपयों में)

उत्पादन (इकाइयाँ)	कुल निश्चित लागत (TFC)	कुल परिवर्तनशील लागत (TVC)	कुल लागत (TC)
0	1 000	0	1 000
1 000	1 000	500	1 500
2 000	1 000	1 000	2 000
3 000	1 000	1 500	2 500

मान लीजिए फर्म द्वारा उत्पादित वस्तु का विक्रय मूल्य एक रुपया प्रति इकाई है (माँग की मात्रा चाहे कितनी भी हो)। उपयुक्त सारणी के आधार पर सम विच्छेद चार्ट (Break-even Chart) पृष्ठ 739 पर दिए गये चित्र सं० 96 के अनुसार होगा। चित्र में TR रेखा विभिन्न उत्पादन मात्राओं (बिक्री) पर कुल आगम प्रदर्शित करती है। TFC रेखा कुल निश्चित लागत को प्रकट करती है जो आधार रेखा के समानान्तर है क्योंकि कुल निश्चित लागत प्रत्येक अवस्था में 1 000 रुपये है। TC रेखा कुल लागत को प्रकट करती है (TFC+TVC)। इसका कारण यह है कि कुल लागत में वृद्धि उत्पादन नियमों के अनुसार होती है। प्रारम्भ में उत्पादन वृद्धि नियम की क्रियाशीलता के

कारण धीमी गति से बढ़ती है तथा उत्पादन के अनुकूलतम आकार के बाद उत्पत्ति ह्रास नियम की क्रियाशीलता के कारण तेजी से बढ़ने लगती है। TR तथा TC रेखाएँ जिस बिन्दु पर एक दूसरे को काटती हैं उसे सम विच्छेद बिन्दु कहते है। यह बिन्दु यह प्रकट करता है कि उत्पादन की मात्रा 2 000 इकाइयां होने पर कुल आगम कुल लागत के बराबर होगा। (कुल लागत 2 000 रु० तथा कुल आगम
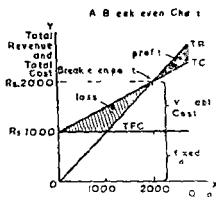
चित्र स० 96

2 000 रु०) 2 000 इकाइयां से कम उत्पादन होने पर फर्म को हानि उठानी पड़ेगी। इससे अधिक उत्पादन होने पर फर्म को लाभ होगा। सम विच्छेद चार्ट द्वारा फर्म की दशा का ज्ञान सरलता से हो जाता है।

सामान्यतया यह चार्ट सीधी रेखाओं द्वारा तैयार किया जाता है यद्यपि वक्रों का भी प्रयोग किया जा सकता है। सीधी रेखाएँ यह मानकर चलती हैं कि कुल लागत में परिवर्तन उत्पादन में परिवर्तन के आनुपातिक होते हैं (Straight lines mean the linear assumption that changes in total costs are proportional to changes in output)।

कुल आगम तथा कुल लागत विधि द्वारा फर्म के साम्य का रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण जैसा कि हम पूर्व में स्पष्ट कर चुके हैं इस विधि द्वारा फर्म उस समय साम्य की स्थिति में होती है जबकि दी हुई शर्तों का पालन हो। प्रथम तो साम्य उत्पादन स्तर पर कुल आगम लागत से अधिक हो या बराबर हो दूसरे साम्य उत्पादन स्तर पर कुल आगम तथा कुल लागत के मध्य दूरी अधिकतम हो इसे रेखाचित्र संख्या 97 द्वारा स्पष्ट किया गया है।
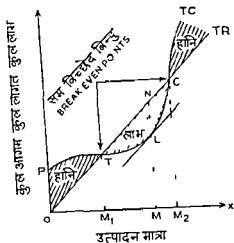
चित्र स 97

प्रस्तुत रेखाचित्र म TR फम का कुल आगम वक्र है जो उत्पादन के साथ साथ बराबर दर से बढ रहा है। C कुल लागत वक्र है जो शून्य उत्पादन पर भी OP है क्योंकि शून्य उत्पादन पर भी फम को कुल स्थायी लागत का चुकाना पडता है। उत्पादन वद्धि के साथ ही कुल लागत (TC) भी बढ़ती गई है। TC और TR वक्र दो बिन्दुओं T तथा C पर एक दूसरे को काटते हैं। इन दोनों बिन्दुओं को सम विच्छेद बिन्दु कहा जाता है तथा फम को इन पर केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त होता है अर्थात् OM_1 तथा OM_2 उत्पादन मात्रा पर फम को सामान्य लाभ ही मिल रहा है। बिन्दु T के बाद बिन्दु C तक TR वक्र TC से ऊपर है जो सामान्य लाभ से अतिरिक्त लाभ का प्रदर्शित करता है। उत्पादन की OM मात्रा पर अधिकतम लाभ प्राप्त होता है क्योंकि फम के इस साम्य पर TR तथा TC के बीच दूरी अधिकतम है तथा NL अधिकतम लाभ की मात्रा का सूचक है। यदि फम OM_1 मात्रा से कम उत्पादन करती है या OM मात्रा से अधिक उत्पादन करती है तो फम को हानि होती है क्योंकि T बिन्दु से पहले तथा C बिन्दु के बाद TC TR से अधिक होती है। इसीलिए जहाँ TC>TR से तो फम हानि की स्थिति में होती है। अतः फम की साम्य की स्थिति उत्पादन की OM मात्रा पर ही होगी जहाँ फम का अधिकतम लाभ LN के बराबर प्राप्त होता है क्योंकि TC तथा TR के बीच अधिकतम अन्तर उत्पादन की OM मात्रा पर ही है।

अधिकतम लाभ सीमान्त तथा औसत वक्रों द्वारा ज्ञात करना (Profit Maximisation From Marginal and Average Curves)

कुल आगम तथा कुल लागत रेखाओं द्वारा लाभ की मात्रा ज्ञात करना एक जटिल तथा भद्दा तरीका है क्योंकि कुल आगम तथा कुल लागत वक्रों का रूप जटिल होने पर अधिकतम लाभ सरलता से ज्ञात नहीं किया जा सकता है। अत अधिकतम लाभ या फर्म की साम्य अवस्था ज्ञात करने के लिए सीमान्त तथा औसत वक्रों का प्रयोग किया जाता है। सामान्यतया उत्पादन की जिस मात्रा पर सीमान्त आगम तथा सीमान्त लागत बराबर होते हैं उत्पादन की वह मात्रा अधिकतम लाभ प्रदान करती है। (When MR = MC Profit is maximised) फर्म का लाभ औसत आगम (AR) तथा औसत लागत (AC) के अन्तर से जाना जा सकता है। (यहा पर यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रत्येक दशा में MR = MC होने से लाभ की मात्रा अधिकतम नहीं होगी। यह अवस्था न्यूनतम हानि की भी अवस्था हो सकती है। विशेष विवरण अगले पृष्ठ पर देखिए)।

इस विधि के अनुसार फर्म उस समय साम्य की अवस्था में होगी जब निम्न दो शर्तें पूरी होती हो

1 फर्म उस बिन्दु पर साम्य की स्थिति में होगी जहा फर्म की सीमान्त आगम तथा सीमान्त लागत दोनों एक दूसरे के बराबर हो अर्थात् MR = MC के हो, तथा

2 साम्य बिन्दु पर फर्म का सीमान्त आगम लागत वक्र सीमान्त वक्र को नीचे की ओर से काटना चाहिए अर्थात् MC MR वक्र को नीचे की ओर से काटता हुआ ऊपर की ओर उठना चाहिए।

पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा में किसी एक फर्म का औसत आय वक्र या बिक्री वक्र वस्तु की बाजार कीमत पर OX अक्ष के समानान्तर रेखा होता है। इसका आशय यह है कि वह फर्म वस्तु को बाजार कीमत पर बेच सकती है और इसके ऐसा करने से बाजार कीमत वैसी की वैसी रहती है बदलती नहीं। अत स्पष्ट है कि वस्तु की एक और इकाई बेचने पर उसकी कुल आय में जो वृद्धि होता है, (अर्थात् उसकी सीमान्त आय) वह उस वस्तु के मूल्य के बराबर होती है। यह हम विदित ही है कि मूल्य तथा औसत आय एक ही होती है। इसीलिए सीमान्त आय का कीमत के बराबर होने का यह अर्थ हुआ कि सीमान्त आय और औसत आय बराबर होती है अर्थात् पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा में फर्म का औसत आय वक्र सीमान्त आय वक्र भी होगा।

फर्म के साम्य को सीमान्त आगम तथा सीमान्त लागत वक्रों की विधि से अग्रिम रेखाचित्र 98 द्वारा भी स्पष्ट किया जा सकता है
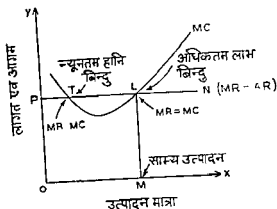
रेखाचित्र 98

फर्म की संतुलन की शर्तें

(i) MC = MR = AR (या कीमत)
(ii) MC MR को नीचे से काटता है।

उपर्युक्त रेखाचित्र में जब वस्तु की बाजार कीमत OP है तो PN उस फर्म का AR वक्र तथा MR वक्र दोनों ही हैं (AR = MR)। MC उस फर्म का सीमान्त लागत वक्र है जो PN को T तथा L बिन्दुओं पर काटता है अर्थात् फर्म की MR तथा MC वस्तु को T तथा L बिन्दुओं पर एक दूसरे के बराबर है। अब प्रश्न उठता है कि क्या फर्म इन दोनों बिन्दुओं पर अधिकतम लाभ कमा रही है? फर्म इन दोनों बिन्दुओं पर अधिकतम लाभ नहीं कमा रही होती। केवल इनमें से एक बिन्दु L पर जहाँ MC वक्र MR वक्र को नीचे से आकर काटता है वहाँ लाभ अधिकतम है। T बिन्दु तक तो MC (सीमान्त लागत) MR (सीमान्त आय) से अधिक है जिससे फर्म को केवल हानि ही होती चली आई है T बिन्दु पर पहुँच कर फर्म को केवल इतना ही हित हुआ है कि अब उसे और अधिक हानि नहीं होगी। अब T बिन्दु से आगे दायीं ओर उसकी सीमान्त लागत उसकी सीमान्त आय से कम है और फर्म आशान्वित है कि उत्पादन मात्रा को और बढ़ाने पर ही वह न केवल कम उत्पादन मात्रा पर हुई हानि को पूरा कर सकता है बल्कि लाभ भी कमा सकती है। अब यह भी देखना

है कि उत्पादन मात्रा को किस सीमा तक बढ़ाया जाय कि उसका लाभ अधिकतम हो जाय। फर्म की यह स्थिति उत्पादन मात्रा OM पर होगी जिस पर MC और फिर त्तना एक दूसरे के बराबर हो जाते हैं। इस प्रकार यह L बिन्दु ही है जिस पर फर्म का अधिकतम लाभ होगा क्योंकि इस बिन्दु पर MC वक्र MR वक्र को को नीचे से आकर काटता है।

पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा में फर्म के साम्य विश्लेषण की कुल आगम तथा कुल लागत विधि तथा सीमान्त आगम तथा सीमान्त लागत विधि का अध्ययन करने के बाद अब हम फर्म के साम्य का अध्ययन अल्पकाल एवं दीर्घकाल में कर सकते हैं।

पूर्ण स्पर्द्धा अल्पावधि में मूल्य तथा उत्पादन
(Perfect Competition Price and Output in the Short Run)

पूर्ण स्पर्द्धा की विशेषताओं का पहले उल्लेख किया जा चुका है। यहाँ पर संक्षेप में उनकी पुनरावृत्ति आवश्यक है (1) वस्तु में एकरूपता (Homogeneity) होना है (2) क्रेताओं तथा विक्रेताओं की संख्या अधिक होती है जिससे उनमें से कोई भी मूल्य को प्रभावित नहीं कर सकता है तथा माँग पूर्ण लोचदार होती है (3) वस्तु की माँग पूर्ति तथा मूल्य पर किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होता है तथा (4) फर्मों के प्रवेश करने या छोड़ने की स्वतन्त्रता होती है।

अल्पावधि उस अवधि को कहते हैं जिसमें फर्म अपने वर्तमान साधनों द्वारा उत्पादन की मात्रा में परिवर्तन कर सकती है परन्तु उत्पादन साधनों की मात्रा में या आकार में परिवर्तन नहीं कर सकती है। प्रत्येक फर्म उद्योग के कुल उत्पादन की तुलना में इतना कम उत्पादन करता है कि वह मूल्य को प्रभावित नहीं कर सकती। फर्म केवल अपनी उत्पादन की मात्रा के सम्बन्ध में ही निर्णय ले सकती है। फर्में मूल्य ग्रहणकर्ता (Takers) होती हैं निर्माता (Makers) नहीं। अत उद्योग द्वारा निर्धारित मूल्य पर फर्म को अल्पकाल में साम्य की स्थिति में असामान्य लाभ हो सकता है कुछ फर्मों को हानि हो सकती है तथा कुछ फर्मों को केवल सामान्य लाभ ही मिल सकता है। इन तीनों प्रकार की स्थितियों को रेखाचित्रों की सहायता से स्पष्ट किया जा सकता है।

(1) फर्म को असामान्य लाभ की स्थिति फर्म अल्पकाल में असामान्य लाभ उस समय प्राप्त कर रही होती है जबकि सन्तुलन बिन्दु पर फर्म की औसत आय फर्म की औसत लागत से अधिक हो। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि अल्पकाल में फर्म उस उत्पादन मात्रा पर साम्य में होती है जिस पर कीमत या औसत आय सीमान्त लागत के बराबर होती है। इस स्थिति को रेखाचित्र 99 से स्पष्ट किया जा सकता है।
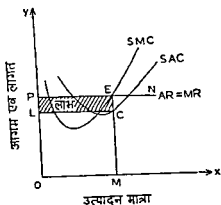
चित्र स० 99

रेखाचित्र 99 म PN फम की औसत तथा सीमान्त आय रेखा है। फर्म का अल्पावधि सीमान्त लागत वक्र SMC है जो फर्म के सीमान्त आय वक्र (MR) को E बिन्दु पर काटता है। यही फर्म का साम्य बिन्दु है जिस पर फर्म OM मात्रा का उत्पादन करेगा जिसका औसत लागत OL या MC है जबकि औसत आय OP या ME है। अत फम को CE या LP के बराबर औसत लाभ मिल रहा है। अन्य शब्दों म फम LCEP के बराबर कुल अधि सामान्य लाभ कमा रहा है।

(ii) **फम को सामान्य लाभ की स्थिति** अल्पकाल म फम को सामान्य लाभ भी मिल रहा हो सकता है अर्थात् अल्पकाल म फम न लाभ न हानि की स्थिति म भी हो सकती है। जब साम्य बिन्दु पर फम की औसत आय तथा फर्म का औसत लागत दोनो बराबर होते है तो उस समय फम सामान्य लाभ की स्थिति म आती है। रेखा चित्र 100 म इस स्थिति को स्पष्ट किया गया है।

रेखाचित्र 100

रेखाचित्र में PN फर्म का औसत एवं सीमान्त आय वक्र है। फर्म का अल्पकालीन औसत लागत वक्र SAC तथा अल्पकालीन सीमान्त लागत वक्र SMC है। फर्म का सीमान्त लागत वक्र (SMC) फर्म के सीमान्त आय वक्र (PN) को E बिन्दु पर काटता है अतः E सन्तुलन बिन्दु है। इस साम्य बिन्दु पर फर्म OM मात्रा का उत्पादन एवं विक्रय करेगी। इसकी औसत लागत ME या OP है अतः फर्म को कोई लाभ या हानि नहीं हो रही है। फर्म केवल सामान्य लाभ कमा रही है।

(iii) फर्म की हानि की स्थिति — पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा में अल्पकाल में फर्म को हानि भी हो सकती है किन्तु फर्म अल्पकाल में अधिकतम हानि स्थिर लागतों के बराबर उठा सकती है क्योंकि अल्पकाल में उत्पादन बन्द करने पर भी फर्म को स्थिर लागतों का भुगतान करना पड़ता है। यदि साम्य बिन्दु पर फर्म की औसत लागत औसत आय से अधिक है तो फर्म को हानि होती है। अल्पकाल में हानि की स्थिति को रेखाचित्र 101 में स्पष्ट किया गया है।
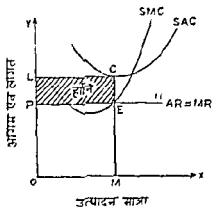
रेखाचित्र 101

रेखाचित्र में PN फर्म का औसत एवं सीमान्त आगम वक्र है। SAC फर्म का अल्पकालीन औसत लागत वक्र है तथा SMC फर्म का अल्पकालीन सीमान्त लागत वक्र है। फर्म का सीमान्त लागत वक्र फर्म के सीमान्त आगम वक्र को E बिन्दु पर काटता है अतः E फर्म का साम्य बिन्दु है। इस सन्तुलन बिन्दु पर फर्म OM मात्रा में वस्तु का उत्पादन एवं विक्रय करेगी। इस उत्पादन की औसत लागत MC या OL है जबकि औसत आय ME या OP है। अतः फर्म को EC अथवा PL के बराबर औसत हानि हो रही है अर्थात् LCEP के बराबर कुल हानि हो रही है।

फर्म का उत्पादन बन्द करने का बिन्दु (Shut down Point of the Firm)—पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा में एक फर्म परिवर्तनशील लागतों के बराबर भुगतान प्राप्त होने पर भी अल्पकाल में उत्पादन जारी रखती है। अल्पकाल में फर्म अपने प्लांट आदि जैसी स्थायी पूंजी को घटा बढ़ा नहीं सकती। अतः अल्पकाल में चाहे वह उत्पादन बन्द भी क्यों न कर दे उसे अपनी स्थायी लागतें तो चुकानी पड़ेगी। अतः कोई भी विवेकशील फर्म घटती बढ़ती या परिवर्तनशील लागतों के बराबर कीमत प्राप्त होने पर भी अल्पकाल में उत्पादन जारी रखती है। किन्तु जब वस्तु का मूल्य इतना कम हो जाय कि परिवर्तनशील लागतें भी नहीं प्राप्त होती हैं तब फर्म को उत्पादन बन्द करने का निर्णय लेना पड़ता है। अतः फर्म के उत्पादन का वह बिन्दु जहां वस्तु का मूल्य कम परिवर्तनशील लागत के बराबर होता है उत्पादन बन्द करने का बिन्दु या निरस्ति बिन्दु (Shut-down Point) कहलाता है। इस बिन्दु के बाद जैसे ही कीमत में थोड़ी सी भी कमी होती है फर्म को उत्पादन बन्द करना पड़ता है।

क्या फर्म हानि उठाकर भी उत्पादन जारी रख सकती है ?
(Can a firm continue to produce even at a loss ?)

फर्म की साम्य अवस्था के उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि फर्म साम्य अवस्था में उस समय होगी जबकि सीमान्त लागत सीमान्त आय के बराबर होगी परन्तु सीमान्त आय तथा सीमान्त लागत के बराबर होने पर फर्म को हानि भी सहन करनी पड़ सकती है। प्रश्न है—क्या फर्म हानि सहन करके भी उत्पादन जारी रख सकती है ? यदि फर्म को हानि हो रही है तो फर्म को यह निर्णय लेना पड़ेगा कि उत्पादन जारी रखा जाय या बन्द कर दिया जाय। हम यह जानते हैं कि फर्म की कुल लागत में निश्चित लागत (Fixed costs) तथा परिवर्तनशील लागतें (Variable costs) सम्मिलित होती हैं। सामान्यतया फर्म को कुल औसत उत्पादन व्यय के बराबर कीमत होनी चाहिए परन्तु अल्पकाल में उत्पादक कुल उत्पादन व्यय से कम कीमत प्राप्त करने पर भी उत्पादन जारी रखेगा क्योंकि उत्पादक यह जानता है कि उत्पादन बन्द कर देने पर भी उसे निश्चित लागत का भार सहन करना पड़ेगा। अतः अल्पकाल में यदि उत्पादक को केवल परिवर्तनशील लागत के बराबर भी कीमत प्राप्त हो जाती है तो वह उत्पादन जारी रखेगा। यदि उसे परिवर्तनशील लागत के बराबर भी कीमत नहीं मिलती तो वह उत्पादन बन्द कर देगा।

अतः अल्पकाल में उत्पादन जारी रखने के लिए यह आवश्यक है कि फर्म को कम से कम कुल औसत परिवर्तनशील लागत के बराबर कीमत प्राप्त हो। इस तथ्य का स्पष्टीकरण चित्र से 102 में किया गया है।

चित्र में OX अक्ष पर उत्पादन तथा OY अक्ष पर कीमत प्रदर्शित की गई है। ATC AVC तथा MC क्रमशः कुल औसत उत्पादन लागत औसत परिवर्तन लागत तथा सीमान्त लागत वक्र है। D_1D_1 $D_{_}D$ तथा DD माग रेखाएँ है जो माग की विभिन्न अवस्थाओं को प्रकट करती हैं। P_1 बिन्दु पर MC तथा AVC एक दूसरे को काटती हैं। उत्पादक को उत्पादन जारी रखने के लिए यह आवश्यक है कि उसे कम से कम Q_1P_1 प्रति इकाई कीमत प्राप्त हो। यदि कीमत इससे कम है तो वह उत्पादन बन्द कर देगा क्योंकि उसे परिवर्तनशील लागत के बराबर भी कीमत प्राप्त नही हो रही है। यह न्यूनतम मूल्य है जिस पर फम हानि उठाकर भी उत्पादन करती है क्योंकि फम को कम से कम अपनी AVC तो प्राप्त हो रही है। यह न्यूनतम हानि की स्थिति है। यदि माग बढकर DD हो जाती है तो कीमत OP हो जाएगी। इस कीमत पर सीमान्त आय सीमान्त लागत के बराबर है। इस कीमत पर उत्पादक OQ मात्रा का उत्पादन करेगा। यदि माग बढकर $D_{_}D_2$ हो जाती है तो ऐसी अवस्था में MC D D_2 को P_2 बिन्दु पर काटती है तथा उत्पादन की
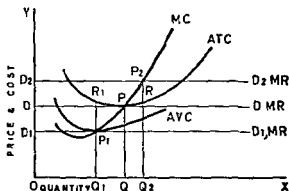
चित्र स० 102

मात्रा $OQ_{_}$ हो जाती है। ऐसी अवस्था में उत्पादक को P R के बराबर अधिक लाभ प्राप्त होगा। अधिक लाभ की अवस्था में नई फर्में प्रवेश करेंगी तथा पूर्ति में वृद्धि होगी। इस प्रकार लाभ की मात्रा कम हो जायेगी तथा कीमत PQ के बराबर हो जायेगी, क्योंकि इस बिन्दु पर उत्पादन करने में न तो हानि होगी न लाभ।

अतः स्पष्ट है कि उत्पादक P_1Q_1 से कम कीमत प्राप्त करने पर उत्पादन नहीं करेगा परन्तु यदि उत्पादक का अनुमान है कि माग में कमी अल्पकालीन है तथा भविष्य में माँग बढेगी तो वह P_1Q_1 कीमत पर भी उत्पादन जारी रखेगा

क्योंकि उसे औसत परिवर्तनशील लागत के बराबर कीमत प्राप्त हो रहा है। सामान्यतः यदि उत्पादक को औसत परिवर्तनशील लागत तथा निश्चित लागत का कुछ भाग प्राप्त हो जाता है तो वह उत्पादन जारी रखेगा। इतना ही नहीं बल्कि यदि उसे कुछ समय के लिए केवल औसत परिवर्तनशील लागत के बराबर भी कीमत प्राप्त हो जाती है तो भी वह उत्पादन जारी रखेगा। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि **अल्पकाल में यदि उत्पादक को केवल औसत परिवर्तनशील लागत (AVC) के बराबर भी कीमत प्राप्त हो जाती है तथा भविष्य में यदि माँग बढ़ने की सम्भावना है तो भी वह उत्पादन जारी रखेगा, अर्थात ATC–AVC के बराबर अल्पकाल में हानि सहन कर सकता है। इससे अधिक हानि होने पर वह उत्पादन बन्द कर देगा।** (यह याद रखना चाहिए कि AVC के ऊपर MC वक्र का जो भाग पड़ता है वह फर्म का अल्पकालीन पूर्ति वक्र भी है। AVC के नीचे किसी बिन्दु पर पूर्ति शून्य होगा। माँग रेखा फर्म की सीमान्त आय रेखा है)

पूर्ण प्रतियोगिता में अल्पकाल में उद्योग की साम्यावस्था (Shor run Industry Equlibrium in Perfect Comp tition)।

फर्मों के समूह को उद्योग कहते हैं। अब तक हमने अल्पकाल में फर्म की साम्यावस्था का वर्णन किया है। परन्तु अब देखना है कि अल्पकाल में उद्योग की सन्तुलन स्थिति क्या होगी ? तथा अल्पकाल में मूल्य किस प्रकार निर्धारित किया जाएगा ? एक उद्योग अल्पकाल में साम्य की स्थिति में उस समय होता है जब अल्पकाल में कुल उत्पादन स्थिर हो जाता है तथा उसमें परिवर्तन की कोई शक्ति क्रियाशील नहीं रह जाता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अल्पकाल में उद्योग में लगी सभी फर्में साम्य की स्थिति में होती हैं तब उद्योग भी अल्पकालीन साम्य की स्थिति में होता है। जैसा कि प्रो० बाटसन ने कहा है कि एक उद्योग अल्पकाल में उस साम्य की स्थिति में होता है जबकि उद्योग का उत्पादन स्थिर हो उत्पादन के विस्तार या संकुचन के लिए कोई शक्ति क्रियाशील नहीं रहती। यदि सभी फर्में साम्य में हों तो उद्योग भी साम्य में होता है।

जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है कि एक फर्म अल्पकाल में साम्य की स्थिति में अतिरिक्त लाभ सामान्य लाभ या हानि उठाती हुई हो सकती है अतः उद्योग भी अल्पकालीन साम्य की स्थिति में अतिरिक्त लाभ या हानि उठा सकता है। उद्योग की सभी फर्मों को अल्पकाल में मात्र सामान्य लाभ ही प्राप्त होना हो तो यह उद्योग के पूर्ण साम्य की स्थिति होती है जो केवल संयोगवश ही होती है। यहाँ पर यह याद रखना चाहिए कि कीमत का सम्बन्ध सम्पूर्ण उद्योग से है किसी फर्म विशेष से नहीं। अतः कीमत का निर्धारण सम्पूर्ण उद्योग की माँग तथा पूर्ति से किया जाता है। चूँकि उद्योग की परिस्थितियाँ उद्योग से सम्बन्धित फर्मों की कुल परिस्थितियों का प्रतीक होती हैं तथा फर्मों को ही कीमत आय के रूप में

प्राप्त होती है। अतः साथ ही साथ फर्म (प्रतिनिधि के रूप में) का भी जिक्र किया जाएगा। उद्योग का मूल्य निर्धारण माँग तथा पूर्ति के सामान्य नियमों पर ही आधारित है।

(1) **उद्योग का माँग वक्र या अल्पकाल में वस्तु का माँग वक्र** (Short run D mand Curve of the Industry) किसी वस्तु की माँग (सम्पूर्ण उद्योग के लिए) उपभोक्ताओं की व्यक्तिगत माँग का योग होती है। माँग वक्र यह प्रदर्शित करता है कि विभिन्न मूल्यों पर उपभोक्ता किसी वस्तु की कितनी मात्रा खरीदना चाहेंगे। अतः सभी उपभोक्ताओं की माँगों का योग उद्योग की वस्तु के लिए माँग' को प्रकट करेगा।

(2) **उद्योग का अल्पकाल में पूर्ति वक्र** (Short run Supply Curve of the Industry) उद्योग का पूर्ति-वक्र सभी फर्मों के पूर्ति वक्रों का योग है। यह अल्पकालीन पूर्ति वक्र यह प्रदर्शित करता है कि विभिन्न कीमतों पर एक उद्योग की समस्त फर्म कुल कितनी मात्रा बेचने को प्रस्तुत है।

(3) **उद्योग की साम्यावस्था** (Industry Equilibrium) उद्योग के माँग तथा पूर्ति वक्र जिस बिन्दु पर एक दूसरे को काटेंगे उसी बिन्दु पर अल्पकालीन मूल्य निर्धारित होगा। इसका स्पष्टीकरण चित्र सं० 99 में किया गया है।

रेखाचित्र 103 में जब उद्योग में D_2D_2 माँग वक्र होता है तो उद्योग की कुल माँग तथा कुल पूर्ति का साम्य बिन्दु N बिन्दु पर होता है। अतः उद्योग के कीमत OP_2 तथा उत्पादन OM_2 होता है। इस कीमत पर उद्योग को अल्प-काल में अतिरिक्त लाभ मिलता है क्योंकि इस कीमत पर फर्मों की औसत लागत औसत

चित्र सं० 103
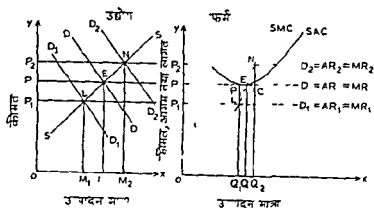
आगम से कम है (अर्थात् $AR_2 > AC$)। अतः फर्म को प्रति इकाई NC अधिक लाभ मिलता है। जब उद्योग की माँग अल्प काल में गिर कर DD हो जाती है तो उद्योग का साम्य E बिन्दु का OM उत्पादन मात्रा पर होगा तथा कीमत गिर कर OP रह जायगी। इसमें उद्योग में सामान्य लाभ ही प्राप्त होगा क्योंकि इस कीमत पर AR=AC है। यदि उद्योग में माँग घटकर D_1D_1 ही रह जाती है तो उद्योग में माँग व पूर्ति का साम्य L बिन्दु पर होगा जहाँ उद्योग का उत्पादन मात्रा OM_1 होगी तथा मूल्य OP_1 होगा। उद्योग के इस साम्य में उद्योग को हानि होगी क्योंकि फर्म में $AR_1 < AC$ से। अतः L बिन्दु पर फर्म को LP प्रति इकाई हानि होगी तो उद्योग भी हानि में रहेगा।

दीर्घकाल में उत्पादन तथा मूल्य निर्धारण
(Determination of Output and Price in the Long Run)

दीर्घकाल में निश्चित लागत तथा परिवर्तनशील लागत का भेद समाप्त हो जाता है। दीर्घकाल में सभी लागतें परिवर्तनशील लागतें हो जाती हैं। साथ ही साथ फर्म के आकार तथा उत्पादन पैमाने में भी परिवर्तन किया जा सकता है। उद्योग में फर्मों की संख्या में भी परिवर्तन हो सकता है। माँग में परिवर्तन के अनुरूप पूर्ति में कमी या वृद्धि की जा सकती है।

दीर्घकाल में फर्म की साम्यावस्था

(Equilibrium of the firm in the Long Period)

हम यह जानते हैं कि अल्पावधि में यदि फर्म की परिवर्तनशील लागत (Variable Cost) के बराबर कीमत प्राप्त हो जाती है तो फर्म सामान्यतः उत्पादन बन्द नहीं करता है। दीर्घकाल में निश्चित तथा परिवर्तनशील लागत का भेद समाप्त हो जाता है अतः फर्म को कुल औसत लागत के बराबर कीमत प्राप्त होना चाहिए तभी वह उत्पादन जारी रख सकता है। यहाँ पर यह स्मरणीय है कि कुल औसत लागत में सामान्य लाभ (Normal Profit) भी सम्मिलित रहता है। सामान्य लाभ लाभ के उस स्तर को कहते हैं जिस पर उद्योग में नई फर्मों के प्रवेश अथवा पुरानी फर्मों में उद्योग छोड़ने की प्रवृत्ति नहीं पाई जाती है।[1]

दीर्घकाल में फर्म उत्पादन तभी जारी रख सकती है जबकि उस कीमत के रूप में न्यूनतम लागत वसूल हो सके। ऐसा तभी सम्भव है जबकि उत्पादन की मात्रा में इस प्रकार समायोजन किया जाए जिससे दीर्घकालीन सीमान्त आय सीमान्त लागत के समान हो सके LMR = LMC क्योंकि साम्य अवस्था में यह आवश्यक

---

1 Nomal profit is that level of profit at which there is no tendency to new firms to enter the trade or to old firms to disappear out of it

—*Joan Robinson op cit p 92*

होती है कि फर्म का लाभ अधिकतम हो और यह उसी समय सम्भव है जबकि सीमान्त आय सीमान्त लागत के बराबर हो।

हम यह भी कह चुके हैं कि दीर्घकाल में फर्म को न्यूनतम औसत लागत (Minimum Average Cost) के बराबर कीमत प्राप्त होनी चाहिए क्योंकि इसी अवस्था में फर्म को सामान्य लाभ प्राप्त होता है अर्थात् फर्म की कुल लागत उसके कुल आगम के बराबर होनी चाहिए। परन्तु फर्म के साम्यावस्था में होने के लिए यह आवश्यक है कि सीमान्त आय सीमान्त लागत के बराबर हो। अतः फर्म का दीर्घकाल में साम्य अवस्था में होने के लिए दो शर्तों की साथ ही साथ पूर्ति होनी चाहिए —(i) दीर्घकालीन सीमान्त आय व दीर्घकालीन सीमान्त लागत बराबर हो (LMR = LMC) तथा (ii) कीमत या औसत आय न्यूनतम औसत लागत के बराबर हो (P = AR = Minimum AC)। इस प्रकार दीर्घकाल में फर्म साम्यावस्था में उस समय होगी जबकि

कीमत = दीर्घकालीन सीमान्त आय = दीर्घकालीन सीमान्त लागत = दीर्घकालीन औसत लागत = दीर्घकालीन औसत आय

$$P = LMR = LMC = LAC = LAR$$

फर्म न्यूनतम लागत पर उसी समय चालू रह सकती है जबकि उसका आकार अनुकूलतम (Optimum) हो।

पूर्ण स्पर्द्धा में यह सम्भव है कि कुछ फर्मों को अधिक लाभ प्राप्त हो रहा हो (कार्यक्षमता अधिक होने के कारण)। परन्तु यह स्थिति दीर्घकाल में नहीं पाई जाएगी क्योंकि (i) कम कार्यकुशल फर्में उद्योग को छोड़ देंगी तथा (ii) अधिक कुशल फर्में उद्योग में प्रवेश करेंगी। अतः यह आवश्यक हो जाएगा कि प्रत्येक फर्म को केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त हो। उपर्युक्त विवरण के आधार पर फर्म का दीर्घकाल की साम्यावस्था का प्रदर्शन चित्र स० 104 में किया गया है।

चित्र स० 104
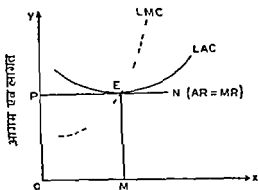
रेखाचित्र में PN फर्म के दीर्घकालीन औसत आगम तथा सीमांत आगम वक्र है। LMC फर्म का दीर्घकालीन सीमान्त लागत वक्र है तथा LAC दीर्घकालीन औसत लागत वक्र है। LMC तथा LMR E बिन्दु पर एक दूसरे को काटते हैं। अत E बिन्दु फर्म का साम्य बिन्दु है। इस साम्य बिन्दु पर फर्म OM मात्रा का उत्पादन एवं विक्रय करेगी। इस बिन्दु पर फर्म को केवल सामान्य लाभ ही मिलता है क्योंकि इस बिन्दु पर फर्म की P = LMC = LMR = LAC = LAR है।

दीर्घकाल में उद्योग की साम्यावस्था
(Industry s Equilibrium in the Long Period)

दीर्घकाल में पूर्ण स्पर्द्धा के अन्तर्गत उद्योग को पूर्ण साम्य की अवस्था में उस समय कहते हैं जबकि फर्मों की संख्या में परिवर्तन की प्रवृत्ति नहीं होती है। ऐसी अवस्था में फर्मों द्वारा अर्जित लाभ सामान्य होता है।[1] यदि किसी फर्म को अधिक लाभ प्राप्त होता है तो नई फर्में उद्योग में प्रवेश करेंगी जिससे वस्तु की पूर्ति बढ़ जाएगी और कीमत कम हो जाएगी। इस प्रकार अधिलाभ समाप्त हो जाएगा। सभी फर्में न्यूनतम उत्पादन लागत पर उत्पादन करने लगेगी तथा कीमत उत्पादन-लागत के बराबर होगा। उद्योग के दीर्घकालीन साम्यावस्था में होने के लिए यह आवश्यक है कि सभी फर्में न्यूनतम लागत पर उत्पादन करेंगी तथा उनका आकार अनुकूलतम होगा। जो फर्म अकुशल होंगी उसे उद्योग छोड़ देना पड़ेगा। अत दीर्घकाल में उद्योग के साम्यावस्था में होने के लिए उन्हीं शर्तों का पाया जाना अति आवश्यक है जो कि फर्म के लिए भी आवश्यक है। अन्तर केवल इतना ही है कि उद्योग के दीर्घकालीन सन्तुलन के लिए उसकी सभी फर्मों का दीर्घकालीन सन्तुलन की स्थिति में होना आवश्यक है जबकि इसकी विपरीत दशा सही नहीं है। एक फर्म लाभ अर्जित करते हुए भी दीर्घकालीन साम्यावस्था में हो सकती है परन्तु इस अवस्था में उद्योग सन्तुलन की स्थिति में नहीं होगा। उद्योग के सन्तुलन की स्थिति में होने के लिए यह आवश्यक है कि सभी फर्में व्यक्तिगत रूप से साम्यावस्था में हो तथा उन्हें न लाभ हो रहा हो और न हानि अर्थात् सभी फर्मों के लिए कीमत औसत लागत के बराबर हो।[2]

---

1 An industry is said to be in full equilibrium when there is no tendency for the number of firms to alter The profits earned by the firms in it are then normal
Ibid p 93

2 An individual firm could be in long run equilibrium while making profits But in this case the industry would not be in equilibrium The existence of long run industry equilibrium requires long run individual firm equilibrium at a no profit no loss level of operation

—*Leftwitch R H Op cit p 173*
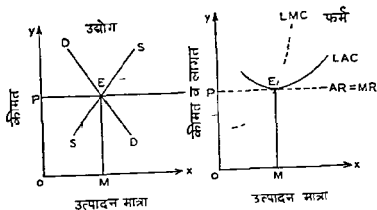
चित्र म० 105

दीर्घकाल म उद्योग की साम्य की स्थिति को रखाचित्र 105 म प्रदर्शित किया गया है। रखाचित्र म उद्योग का दीर्घकालीन कुल माग वक्र DD है तथा कुल पूर्ति वक्र SS है। DD तथा SS वक्र एक दूसर को E बिंदु पर काटत हैं। अत उद्योग का दीर्घकालीन साम्य बिन्दु E है। इस साम्य की स्थिति म कीमत OP निर्धारित होती है जो फर्म के लिए पहले से निश्चित होती है। फर्म इस कीमत के अनुसार उत्पादन का समायोजन करेगी। फर्म का भी सतुलन बिन्दु E पर होगा जहा फर्म की LMC और LMR बराबर हैं। इस बिन्दु पर फर्म का LAC तथा LAR भी LMC तथा LMR के बराबर हैं। अत फर्म भी OM मात्रा का उत्पादन करगी तथा सामान्य लाभ प्राप्त करेगी।

(पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था म अल्पकाल व दीर्घकाल म मूल्य निर्धारण के अध्ययन हेतु आनस व विद्यार्थी इसी अध्याय मे पढ़ें।)

प्रश्न व सकेत

1 पूर्ण प्रतियोगिता म एक फर्म का उत्पादन एव मूल्य कस निर्धारित होता है ?

How is output and price of the firm determined under the conditions of perfect competition ? Explain

[सकेत—पहले पूर्ण प्रतियोगिता का आशय समझाइए तथा फिर (i) कुल आगम व कुल लागत रेखाओं एव (ii) सीमान्त और औसत रेखाओं की रीतियो द्वारा साम्य स्थिति की व्याख्या करिए।]

2 एक उपयुक्त चित्र की सहायता स स्पष्ट कीजिए कि वस्तु की कीमत सीमान्त लागत और औसत लागत के समान होती है।

Discuss with a suitable diagrams that the price of a commodity is equal to the marginal and average cost of production

[संकेत—प्रथम भाग में संक्षेप में पूर्ण प्रतियोगिता को समझाइए। तत्पश्चात् चित्र की सहायता से सीमान्त और औसत लागत रेखाओं द्वारा सिद्ध कीजिए कि कीमत सीमान्त लागत तथा औसत लागत के बराबर $(P=AC=MC)$ होती है।]

3 पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्थाओं (Conditions) की व्याख्या करिए। इसके अन्तर्गत मूल्य निर्धारण को समझाइये।

Explain the conditions of perfect competition Discuss also the price determination under this condition

[संकेत—प्रथम भाग में पूर्ण प्रतियोगिता के लक्षणों को समझाइए। दूसरे भाग के अन्तर्गत संक्षेप में दोनों विधियों—कुल आगम व कुल लागत विधि तथा सीमान्त व औसत रेखा विधि—की सहायता से मूल्य निर्धारण को स्पष्ट करिए। उत्तर में यथाआवश्यक चित्र भी दीजिए।]

4 पूर्ण प्रतियोगिता की मुख्य विशेषताएं बताइए। पूर्ण प्रतियोगिता में फर्म का साम्य किस प्रकार स्थापित होगा ?

What are the main characteristics of perfect competition ? How will equilibrium be attained under perfect competition ?

[संकेत—प्रथम भाग में पूर्ण प्रतियोगिता की परिभाषा देकर उसके लक्षणों को बताइए और दूसरे भाग में रेखाचित्रों द्वारा फर्म के साम्य की दशाओं का विवेचन करिए। प्रश्न व संकेत सं० 3 भी देखिये।]

5 एक उद्योग के साम्य से आप क्या समझते हैं ? पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत एक उद्योग के अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन साम्य की दशाओं का विवेचन कीजिए।

What do you understand by equilibrium of an industry ? Discuss the conditions of short run and long run equilibrium of an industry under perfect competition

[संकेत—प्रथम भाग में उद्योग के साम्य को समझाइए। दूसरे भाग में चित्रों की सहायता से उद्योग का अल्पकालीन व दीर्घकालीन साम्य को स्पष्ट कीजिए।]

6 अल्पकाल में किसी उद्योग में पूर्ण साम्य की स्थिति उपलब्ध करना अत्यन्त ही कम सम्भावित बात है तथा ऐसा केवल संयोगवश ही होता है। समझाइए।

The attainment of full equilibrium in an industry in the short run is a rare phenomenon and this *may happen only* by accident Explain

[संकेत—एक उद्योग में अल्पावधि तथा दीर्घावधि साम्य की विवेचना चित्रों द्वारा कीजिए। विषय सामग्री संक्षेप में दीजिए।]

35

एकाधिकार के अन्तर्गत मूल्य व उत्पादन निर्धारण
(Price and Output Determination Under Monopoly)

> The prima facie interest of the owner of a monopoly is clearly to adjust the supply to the demand not in such a way that the price at which he can sell his commodity shall just cover its expenses of production but in such a way as to afford him the greatest total net revenue
>
> Marshall

अर्थ (Meaning)

शुद्ध एकाधिकार पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा की ठीक विपरीत स्थिति है। इसमें तीनों बातों का होना आवश्यक है (i) एकाधिकार के अन्तर्गत केवल एक उत्पादक होता है जो वस्तु की पूर्ति या कीमत पर नियन्त्रण रखता है। एकाधिकार में फर्म तथा उद्योग वस्तुतः एक ही होते हैं (ii) उद्योग में एकाधिकारी के अतिरिक्त अन्य उत्पादक प्रवेश नहीं कर सकते क्योंकि अन्य फर्मों के प्रवेश में कई प्रभावपूर्ण रुकावटें होती हैं तथा (iii) एकाधिकारी द्वारा उत्पादित वस्तु की कोई निकट स्थानापन्न वस्तु भी नहीं होती है अर्थात् उसके द्वारा उत्पादित वस्तु अन्य उत्पादकों की वस्तुओं से पूर्णतया भिन्न होती है जिसके परिणामस्वरूप उसकी वस्तु की माँग की आड़ी लोच शून्य होती है।

विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने एकाधिकार को परिभाषित करने का प्रयत्न किया है। चैम्बरलिन के अनुसार एकाधिकारी वह है जो पूर्ति पर पूर्ण नियन्त्रण रखता है एक एकाधिकारी उसे समझना चाहिए कि जो किसी वस्तु पर नियन्त्रण रखता है। अधिकांशतः यह प्रत्यक्ष रूप में पूर्ति द्वारा कार्य नहीं करता बल्कि कीमत द्वारा

करता है।[1] लनर के अनुसार एकाधिकारी उस विक्रेता को कहते हैं जिसकी वस्तु का माग वक्र गिरता हुआ होता है अर्थात् उसकी फर्म का विक्रय वक्र लोचहीन होता है। स्टोनियर और हेग (Stonier & Hague) ने एकाधिकारी की व्याख्या इस प्रकार की है एकाधिकारी वह उत्पादक होता है जो कि किसी एक वस्तु की पूर्ति पर पूर्ण अधिकार रखता है तथा उस वस्तु का कोई स्थानापन्न नहीं होता है।[2]

प्रो० लेफ्टविच के अनुसार विशुद्ध एकाधिकार बाजार की वह स्थिति है जिसमें एक वस्तु विशेष का जिसके लिए उत्तम स्थानापन्न पदार्थ उपलब्ध नहीं होते है एक ही विक्रेता होता है। हेन्डरसन एव क्वाडट (Handerson and Quandt) के शब्दों में एकाधिकार शब्द उस अवस्था को परिभाषित करता है जिसमें एक ही फर्म उस वस्तु का उत्पादन करती है जिसकी कोई निकट स्थानापन्न वस्तु नहीं होती।

एकाधिकार की विशेषताए (Characteristics of Monopoly)

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर एकाधिकार बाजार की निम्न विशेषताए परिलक्षित होती हैं

1 **एकाधिकारी एकाकी उत्पादक या विक्रेता** —अपनी वस्तु का एकाधिकारी अकेला उत्पादक या विक्रेता होता है।

2 **मिलती जुलती या निकट स्थानापन्न वस्तुओं का अभाव** एकाधिकारी ऐसी वस्तु का उत्पादन एव विक्रय करता है जिसकी मिलती जुलती या निकट स्थानापन्न वस्तुए बाजार में उपलब्ध नहीं होती है।

3 **नयी फर्मों के प्रवेश पर प्रभावपूर्ण रोक** एकाधिकार की स्थिति में अल्पावधि तथा दीर्घावधि दोनों में ही नई फर्मों के प्रवेश पर प्रभावपूर्ण रोक लगी होती है। एकाधिकार तभी तक बना रहता है जब तक नई फर्में उद्योग में प्रवेश न कर सकें।

4 **फर्म एव उद्योग एक ही** एकाधिकार के अन्तर्गत एक फर्म वाला उद्योग होता है। इस प्रकार फर्म एव उद्योग दोनों एक दूसरे के पर्यायवाची होते हैं।

---

1 A monopolist must be thought of as some one who simply controls the supply of something in most cases he operates directly not on supply but on the price

—*Chamberlin* Towards a More General Theory of Value p 62

2 The producer who controls the whole supply of a single commodity which has no close substitutes

—*Stonier & Hague*

5 **बेलोचदार माग** एकाधिकारी वस्तु की अधिकाधिक इकाइयां वस्तु का मूल्य घटा कर ही बेच सकता है अर्थात् एकाधिकारी की वस्तु की माग बेलोचदार होती है।

6 **वस्तु की पूर्ति पर पूरा नियन्त्रण** एकाधिकारी का अपनी वस्तु की पूर्ति पर पूरा नियन्त्रण होता है। अन्य शब्दों में एकाधिकारी अपनी वस्तु की पूर्ति को कम या अधिक कर सकता है।

वर्गीकरण (Classification)

अर्थशास्त्रियों ने एकाधिकार को अनेक अलग ढंग से वर्गीकृत किया है

(1) **पूर्ण या शुद्ध तथा अपूर्ण एकाधिकार** (Perfect or Pure and Imp rfect Monopoly) शुद्ध एकाधिकार उसे कहते हैं जिसमे स्पर्धा का तत्त्व लेशमात्र भी नही होता है अर्थात् एक ही फर्म का पूर्ति पर पूर्ण नियन्त्रण होता है। **चम्बरलिन** के अनुसार शुद्ध एकाधिकार वह अवस्था है जिसमे सभी वस्तुओं की पूर्ति पर एक ही फर्म का नियन्त्रण होता है। शुद्ध एकाधिकारी को भविष्य में भी स्पर्धा का भय नही रहता है। अपूर्ण एकाधिकार उसे कहते हैं जिसमे नयी फर्मों के प्रवेश सरकारी नियन्त्रण आदि का भय रहता है।[1]

(2) **साधारण एकाधिकार व विवेचनात्मक एकाधिकार** (Simple and Discriminating Monopoly) साधारण एकाधिकार उसे कहते हैं जबकि एकाधिकारी सभी क्रेताओं से समान कीमत लेता है। विवेचनात्मक एकाधिकार के अन्तर्गत विभिन्न ग्राहकों से एक ही वस्तु की एक ही विक्रय अवस्थाओं में विभिन्न दर पर कीमत ली जाती है।

(3) **व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक एकाधिकार** (Private and Public Monopolies) व्यक्तिगत एकाधिकार उस अधिकार को कहते हैं जिसमे फर्म का स्वामित्व व्यक्तिगत साहसी या संगठन के अधिकार में होता है। **सार्वजनिक एकाधिकार** उस एकाधिकार को कहते हैं जिसमे स्वामित्व सरकार या सार्वजनिक निकायों का होता है। प्रथम का उद्देश्य अधिकतम लाभ कमाना तथा द्वितीय का उद्देश्य सार्वजनिक हित संवर्द्धन होता है। चपमैन ने एकाधिकार को (i) प्राकृतिक (Natural) (ii) सामाजिक (Social) (iii) कानूनी (Legal) तथा ऐच्छिक (Voluntary) वर्गों में विभाजित किया है। यह ध्यान में रखना चाहिए कि जिस प्रकार पूर्ण स्पर्धा वास्तविक जगत में नहीं पाई जाती है। उसी प्रकार शुद्ध एकाधिकार की अवस्था भी एक काल्पनिक अवस्था है। शुद्ध एकाधिकार का केवल सैद्धान्तिक महत्त्व है।

---

1 Imperfe t mo opoly is one wh h is threa ened by new omers compe tition Government sanctions and organised public reaction

—*Fritz Machlup*

एकाधिकार उत्पन्न होने के कारण

अर्थशास्त्रियों द्वारा एकाधिकार उत्पन्न होने की अनेक परिस्थितियों का विवेचन किया गया है जो इस प्रकार हैं

1 **कच्चे माल के स्वामित्व का सकेन्द्रण** जब कुछ वस्तुओं के निर्माण हेतु आवश्यक कच्चे मालों का स्वामित्व किसी एक फर्म के पास निजी सम्पत्ति के अन्तर्गत सकेन्द्रित हो जाता है तो इसमें उस वस्तु के उत्पादन में प्रतिस्पर्धी फर्मों का प्रवेश अवरुद्ध कर दिया जाता है। जैसे विश्व के निकल भण्डार के 90 प्रतिशत भाग पर कनाडा की एक कम्पनी Th International Nichol Co का एकाधिकार है।

2 **कानूनी सरक्षण** कुछ विशेष कानूनी सरक्षणों के कारण भी एकाधिकार स्थापित हो जाता है। जैसे पेटेंट राइट या ट्रेडमार्क के कानूनी सरक्षण से वस्तु विशेष के उत्पादन में एकाधिकार स्थापित हो जाता है।

3 **सार्वजनिक उपयोगी सेवाएँ प्राकृतिक एकाधिकार** इन सार्वजनिक सेवाओं में विद्युत गैस रेल परिवहन तथा सचार सुविधाओं को लिया जाता है। इन उद्योगों में सरकार द्वारा अनन्य एकाधिकार का अधिकार प्रदान किया जाता है।

4 **पैमाने की बचतें** कुछ उद्योगों में उनका आकार बड़ा होने पर ही आधुनिक तकनीक का प्रयोग कर कुशल एवं कम लागत पर उत्पादन किया जा सकता है। स्टील एल्यूमिनियम तथा इस्पात आदि इसी प्रकार के उद्योग हैं। ऐसे उद्योग में जब कोई बड़ा उत्पादक उत्पादन करने लगता है तो स्वत ही एकाधिकार उत्पन्न हो जाता है। कारण यह है कि छोटे उत्पादक कम मूल्य पर वस्तुएँ बाजार में उपलब्ध नहीं करा सकते।

5 **निजी गुणों के कारण** एक डाक्टर वकील अभिनेता आदि अपने निजी गुणों के कारण ही अपने अपने क्षेत्र में एकाधिकार बना लेते हैं।

6 **सयोग (Combinations)** आज अनेक प्रतियोगी फर्में विभिन्न प्रकार के व्यावसायिक सयोगों के माध्यम से एकाधिकार की स्थापना कर लेती हैं।

7 **वस्तु विशेष का सीमित बाजार होने** पर नई फर्में उद्योग में प्रवेश की इच्छुक नहीं होतीं। इसीलिए पूर्व स्थापित फर्म का एकाधिकार स्थापित हो जाता है।

8 **अज्ञात उत्पाद। प्रविधि तथा दुर्लभ यत्रों का उपयोग** जब किसी वस्तु के उत्पादन में ऐसी प्रविधि का प्रयोग किया जाता है जिसका ज्ञान एक के अलावा अन्य को नहीं होता तो उस फर्म का एकाधिकार स्थापित हो जाता है। इसी प्रकार दुर्लभ यत्रों का प्रयोग करने पर भी एकाधिकार की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

मान्यताएँ

एकाधिकार के अन्तर्गत मूल्य तथा उत्पादन के निर्धारण के सम्बन्ध में अध्ययन करते समय हम कुछ मान्यताओं को ध्यान में रखना होगा। **प्रथम, आर्थिक विवेकशीलता** (Economic Rationality) जो पूर्ण प्रतियोगिता की आधारभूत मान्यता है, एकाधिकार के सम्बन्ध में भी इस बात को प्रकट करती है कि एक एकाधिकारी अन्य उत्पादकों की तरह अपने लाभ को अधिकतम करता है। **द्वितीय** एकाधिकारी की स्थिति में फर्म तथा उद्योग के एक ही रहने के कारण प्रतियोगिता का पूर्णतया अभाव रहता है अर्थात् प्रतियोगिता नहीं होती है। परन्तु क्रेताओं तथा उपभोक्ताओं की संख्या अधिक होने के कारण उनमें प्रतियोगिता होती है। इस सम्बन्ध में भी यह ध्यान रहे कि कोई भी क्रेता या उपभोक्ता व्यक्तिगत रूप से वस्तु मूल्य को प्रभावित करने में असमर्थ रहता है क्योंकि एक क्रेता के लिए वस्तु का मूल्य पूर्व निर्धारित होता है। **तृतीय** एकाधिकारी अपनी वस्तु के लिए विभिन्न मूल्यों पर प्रत्येक उपभोक्ता की व्यक्तिगत माँग की मात्राओं या माँग रेखाओं के आधार पर अपनी वस्तु की कुल माँग का अनुमान लगा सकता है। उपभोक्ता विवेकशील होने के कारण किसी वस्तु को अपने अधिमान या पसन्दगी (Scale of Preference) के क्रम में खरीदता है। इस आधार पर विभिन्न मूल्यों पर उसके द्वारा वस्तु की माँगी गई मात्राओं का अनुमान लगाया जा सकता है और प्रत्येक उपभोक्ता की व्यक्तिगत माँग रेखाएँ खींची जा सकती हैं जिनकी सहायता से एकाधिकारी अपनी वस्तु की कुल माँग की रेखा खींच सकता है।

एकाधिकारी एक साथ मूल्य तथा पूर्ति दोनों की मात्रा निश्चित नहीं कर सकता (A Monopolist cannot fix both price and output simultaneously)

एकाधिकार की मान्यताओं के अन्तर्गत यह स्पष्ट किया गया है कि एकाधिकारी का वस्तु की पूर्ति पर ही एकाधिकार या पूर्ण नियन्त्रण होता है। क्रेताओं तथा उपभोक्ताओं की संख्या अधिक होने के कारण उनकी माँग पर जो पसन्दगी के क्रम के आधार पर निर्धारित की जाती है एकाधिकारी का कोई नियन्त्रण सम्भव नहीं हो सकता। इसी कारण है कि एकाधिकारी अपनी वस्तु के मूल्य तथा उसकी उत्पादन मात्रा दोनों को एक साथ निर्धारित नहीं कर सकता। उसे इन दोनों में से किसी एक को निश्चित करके दूसरे को उसके अनुसार समायोजित करना पड़ता है। इसका अर्थ यह है कि यदि वह अपनी वस्तु का मूल्य निश्चित करता है तो उस मूल्य पर क्रेताओं तथा उपभोक्ताओं द्वारा माँगी गयी वस्तु की कुल मात्रा के अनुरूप उसे अपनी पूर्ति की मात्रा निश्चित करनी पड़ेगी क्योंकि ऐसा करने पर ही उसे शुद्ध एकाधिकारी लाभ प्राप्त हो सकता। इसके विपरीत यदि वह पहले पूर्ति की मात्रा निश्चित कर लेता है तो उस माँग के अनुसार उस वस्तु का मूल्य निश्चित करना होगा। परन्तु माँग की दशा अनिश्चित तथा क्रेताओं एवं उपभोक्ताओं की माँग पर उसका कोई नियन्त्रण न होने के कारण उसमें यह सम्भव हो सकता है कि

उसकी कुल पूर्ति की मात्रा न बिक । एसी स्थिति म उस हानि हो सकती है । अत यह स्पष्ट है कि एकाधिकारी के लिए पहले मूल्य निश्चित करना ही उचित है । उस निश्चित मूल्य पर कुल माँग का अनुमान लगाकर वस्तु का उत्पादन एव पूर्ति करन पर ही उस अधिकतम लाभ या शुद्ध एकाधिकारी लाभ प्राप्त हो सकता है ।

एकाधिकार के अन्तगत लागत, माँग, औसत आय तथा सीमान्त आय वक्र (Costs Demand Average Revenue and Marginal Revenue Curves under Monopoly)

लागत (Costs)

एकाधिकार के अन्तगत लागत उसी प्रकार तथा प्रकृति की होती है जिस प्रकार पूर्ण स्पर्द्धा के अन्तगत । हम यह मानकर चलग कि एकाधिकारिक उत्पादक उत्पादन साधनो की कीमतो को प्रभावित नहीं करता है ।

आगम (Revenues)

पूर्ण स्पर्धा के अन्तगत विक्रेता वतमान कीमत पर जितनी मात्रा चाहे बेच सकता है । अत उसकी कीमत तथा सीमान्त आय (MR) बराबर होती है । परन्तु एकाधिकारी माग स प्रभावित होता है अत अधिक बिक्री के लिए उस कीमत कम करनी पडती है । यह तथ्य कि एकाधिकारी को अपनी वस्तु का बिक्री बढान के लिए मूल्य कम करना पडता है उत्पादन के प्रथम स्तर (इकाई) को छोड कर सीमान्त आय (MR) को औसत आय या कीमत (AR) से कम रखता है । इस वजह स एकाधिकारी का कीमत तथा सीमा त आगम का सम्बन्ध बदल जाता है । विक्रय की विभिन्न मात्राओ पर एकाधिकारी की सीमान्त आय सामान्यतया कीमत स कम होती है । हम यह जानते हैं कि फम की औसत आय रेखा उसकी माग रेखा भी होता है । कीमत को हम औसत आय (AR) भी कहते हैं । सीमान्त आय औसत आय से कम होती है (एकाधिकार म) । अत सीमान्त आय रेखा माँग रखा (या AR) के नीचे होती है । यह औसत तथा सीमान्त मात्रा म सामान्य सम्बन्ध के अनुसार है । सीमा त आय वक्र का औसत आय वक्र के नीचे स्थित होने का तात्पय यह है कि सीमान्त आय कीमत या औसत आय से प्रत्यक उत्पादन मात्रा पर कम होगी । जब एकाधिकारी वस्तु की अधिक मात्रा बेचने का प्रयास करता है तो उसकी कीमत कम हो जाती है इसीलिए सीमान्त आय कीमत म अवश्य ही कम होगी । पृष्ठ 763 पर दी गयी सारणी स इन तथ्यो पर प्रकाश पडता है ।

एकाधिकारी की कुल आय सीमान्त आय रुपयों मे

कीमत (AR)	विक्रय मात्रा	कुल आय (TR)	सीमान्त आय (MR)
100	1	100	100
90	2	180	80
80	3	240	60
70	4	280	40
60	5	300	20
50	6	300	0
40	7	280	– 20
30	8	240	– 40
20	9	180	– 60
10	10	100	– 80

सारणी स स्पष्ट है कि क्वल पहली इकाई के अतिरिक्त सभी विक्रय मात्राओं पर सीमान्त आय औसत आय से कम है। यदि इन सख्याओं की सहायता

(b)
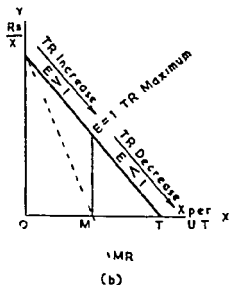
चित्र स० 106

स ~ा चित्र बनाया जाए ता सीमान्त आय रेखा औसत आय रेखा (या मांग रेखा) क नीचे हागी

उपयु क्त सारणी की सहायता स यह तथ्य अधिक स्पष्ट करन के लिए कि सीमान्त आगम कीमत से कम हाता है एक अन्य उदाहरण लिया जा सकता है।

माना कि एकाधिकारी 4 इकाइयाँ 70 रु० की दर से बेचता है। यदि वह 4 इकाइयाँ न बेचकर 5 इकाइयाँ बेचना चाहता है तो उसे कीमत कम करनी होगी। माना कि वह कीमत 70 रु से घटाकर 60 रु० कर देता है। अत सीमान्त आय (MR) = 5वीं इकाई से प्राप्त आगम पिछली 4 इकाइयों पर 10 रु० प्रति इकाई की दर से कीमत की कुल कटौती

= 60 रु० − 40 रु०

= 20 रु०

उपयुक्त उदाहरण में यह स्पष्ट हो जाता है कि एक अतिरिक्त इकाई को बेचने पर कुल आय (TR) में जो वृद्धि होती है उसे सीमान्त आय (MR) कहा जाता है। इसे इस प्रकार भी स्पष्ट किया जा सकता है

5 इकाइयों को बेचने पर कुल आय $= 5 \times 60 = 300$ रु०

यदि 4 इकाइयाँ बेची जाती तो कुल आय $= 4 \times 70 = 280$ रु०

अत 5वीं इकाई के बेचने से कुल आगम

अर्थात् सीमान्त आय (MR) में वृद्धि = 20 रु०

उपयुक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि सीमान्त आय (MR) जो 20 रु० है, कीमत (AR) से जो 60 रु० है कम है।

माग की लोच का एकाधिकारी मूल्य पर प्रभाव

(Effects of Elasticity of Demand Price on Monopolist s)

एकाधिकारी को अपनी वस्तु का मूल्य निर्धारित करते समय माग की लोच का भी ध्यान में रखना पड़ता है।

विक्रय की किसी भी मात्रा पर प्रत्येक अवस्था में सीमान्त आगम (MR) कीमत (AR) तथा माँग की लोच में निम्नलिखित सम्बन्ध होता है

सीमान्त आगम = कीमत − कीमत का माग की लोच से अनुपात

$$MR = P - \frac{P}{e} \text{ or } MR = AR\left(\frac{e-1}{e}\right)$$

जबकि यहाँ e = कीमत लोच (Price elasticity) को व्यक्त करती है चूंकि औसत आय (AR) तथा कीमत एक ही चीज है।

$$\text{इसलिए } MR = \text{कीमत}\left(\frac{e-1}{e}\right)$$

चूंकि $\left(\frac{e-1}{e}\right)$ इकाई से कम होगा अत सीमान्त आय (MR) कीमत से कम होगी अर्थात् कीमत सीमान्त आय से अधिक होगी। उपयुक्त सम्बन्ध को हम अग्रांकित प्रकार से भी लिख सकते हैं

$$AR = MR \left(\frac{e}{e-1}\right)$$

MR वक्र AR वक्र से कितना नीचे होगा यह $\left(\frac{e-1}{e}\right)$ की मात्रा पर निर्भर करेगा।

(At any given level of sales by the firm marginal revenue equals Price minus the ratio of price to elasticity of demand at that sales level)

(1) पूर्ण स्पर्धा में माँग रेखा आधार रेखा के समानान्तर होता है। इसका अर्थ यह है कि विक्रय की सभी मात्राओं पर माग की लोच अपरिमित (infinity $e \rightarrow \infty$) होती है।

चूँकि $MR = P - \frac{P}{e}$ और $e \rightarrow \infty$ $\frac{P}{e}$ शून्य तक पहुँचती है तथा MR P तक पहुचता है। इसका अर्थ यह हुआ कि विक्रय की सभी मात्राओं पर MR=P (विद्यार्थी यह याद रखें कि पूर्ण स्पर्धा में माँग रेखा, औसत आगम रेखा (AR) या कीमत तथा सीमान्त आगम रेखा (MR) एक ही रेखा द्वारा प्रकट किये जाते हैं तथा यह रेखा आधार रेखा के समानान्तर होती है।)

एकाधिकार एकाधिकार के अन्तर्गत माँग रेखा या औसत आय रेखा आधार रेखा के समानान्तर नहीं होती है बल्कि नीचे झुकती जाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि एकाधिकारी कीमत कम करके ही अधिक मात्रा बेच सकता है। पिछले चित्र में एकाधिकारी की माँग रेखा पर ध्यान दें (जो रेखा T बिन्दु पर आधार को छूती है)।

उत्पादन की OM मात्रा पर (M बिन्दु O व T के ठीक मध्य में है) माँग की लोच इकाई (1) के बराबर है। OM से कम उत्पादन पर, माँग की लोच इकाई से अधिक है ($e > 1$) तथा OM से अधिक उत्पादन पर माँग की लोच इकाई से कम है ($e < 1$)।

हम माँग की लोच कुल आगम, कीमत तथा सीमांत आगम के सम्बन्ध से जानते हैं कि यदि $e > 1$ तो बिक्री की मात्रा में वृद्धि करने से कुल आगम (TR) में वृद्धि होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि $e > 1$ है तो सीमान्त आगम धनात्मक (Positive) होना चाहिए।

उत्पादन की वह मात्रा जिस पर माँग की लोच इकाई है ($e = 1$) तो कुल आगम (TR) अधिकतम है। जिस बिन्दु पर कुल आगम अधिकतम है उस बिन्दु

पर सीमान्त आगम शून्य है। यदि $MO = P - \frac{P}{e}$ तथा $e = 1$ है तो $MO = P - P = 0$ यदि $e < 1$, तो बिक्री की मात्रा बढ़ाने से कुल आगम (TO) में कमी होगी। ऐसी अवस्था में सीमान्त आगम ऋणात्मक (Negative) होगा।

एकाधिकार तथा पूर्ण स्पर्धा (Monopoly and Perfect Competition)

हम पूर्ण स्पर्धा के विषय में अध्ययन कर चुके हैं। लागत तथा आगम और एकाधिकारी के आगम (Monopolist s Revenue) पर भी प्रकाश डाला जा चुका है। अतः हम यहाँ पर एकाधिकार तथा पूर्ण स्पर्धा में साम्यावस्था तथा मूल्य निर्धारण सम्बन्धी कुछ तत्वों का सामान्य रूप से विवेचन करेंगे, जिससे एकाधिकार के अन्तर्गत मूल्य तथा उत्पादन मात्रा के निर्धारण को समझने में काफी सहायता मिलेगी।

समानता पूर्ण स्पर्धा तथा एकाधिकार दोनों के अन्तर्गत उत्पादक का उद्देश्य लाभ की मात्रा अधिकतम करना होता है। अधिकतम लाभ दोनों ही अवस्थाओं में उस समय प्राप्त किया जाएगा जबकि सीमान्त आय तथा सीमान्त लागत बराबर हों (MR=MC)। एकाधिकारी भी साम्य अवस्था में उस समय होगा जबकि सीमान्त आगम तथा सीमान्त लागत बराबर हों।

विभिन्नताएं परन्तु दोनों अवस्थाओं में मूल्य निर्धारण में कुछ प्रमुख विभिन्नताएँ पाई जाती हैं

(1) पूर्ण स्पर्धा के अन्तर्गत उत्पादक एक ही मूल्य पर जितनी मात्रा चाहे उतनी बेच सकता है अर्थात् उसकी वस्तु की माँग पूर्णतया लोचदार होती है। अतः उसकी माँग रेखा या औसत आय रेखा (Demand or AR) एक क्षैतिज सीधी रेखा (Horizontal Straight Line) होती है। परन्तु एकाधिकारी का आय-वक्र (माँग रेखा) नीचे की ओर गिरता हुआ होता है (देखिए लागत तथा आगम विश्लेषण शीर्षक अध्याय) अर्थात् वह कीमत घटा करके ही वस्तु की अधिक मात्रा बेच सकता है।

(2) पूर्ण स्पर्धा में उत्पादकता की सीमान्त आय तथा सीमान्त लागत कीमत के बराबर होती है (MR = MC = P)। वह कीमत तथा सीमान्त लागत को बराबर कर लाभ की मात्रा को अधिकतम कर सकता है (Profit is maximised when P=MC)। इसी प्रकार उसकी सीमान्त आय औसत आय के बराबर होती है तथा सीमान्त व औसत आय वक्र एक ही होते हैं (MR=AR and MR curve coincides with the AR curve)। परन्तु एकाधिकारी की सीमान्त आय कीमत या औसत आय से सदैव कम होती है इसलिए उसका सीमान्त आय वक्र औसत आय वक्र के नीचे होता है।

(3) पूर्ण स्पर्धा के अन्तर्गत फर्मों की संख्या अधिक होती है तथा दीर्घकाल में उद्योग अनुकूलतम फर्मों का समूह हो जाता है परन्तु एकाधिकारी के अन्तर्गत फर्म व उद्योग वस्तुतः एक ही होते हैं। नई फर्मों के प्रवेश की सम्भावना भी नहीं रहती है।

(4) पूर्ण स्पर्धा में जब कीमत न्यूनतम औसत लागत के बराबर होती है, तब उद्योग साम्य की अवस्था में होता है और औसत आय वक्र औसत लागत वक्र के निम्नतम बिन्दु पर स्पर्श रेखा (Tangent) के रूप में होता है। परन्तु एकाधिकार की साम्य अवस्था में औसत लागत वक्र के निम्नतम बिन्दु तक पहुंचने के पूर्व ही उत्पादन का विस्तार रोक दिया जाता है। स्पर्धा न होने के कारण एकाधिकारी न्यूनतम लागत पर उत्पादन करने के लिए बाध्य नहीं होता है। एकाधिकारी के न्यूनतम लागत बिन्दु पर न पहुँचने का कारण यह है कि (i) उत्पादन का विस्तार करने से लागत व्यय बढ़ता जाता है तथा (ii) पूर्ति की मात्रा बढ़ने अथवा उत्पादन में वृद्धि करने से कीमतें कम हो जाती हैं। एकाधिकारी अधिकतम शुद्ध आय (Maximum net revenue) प्राप्त करना चाहता है तथा इस उद्देश्य की पूर्ति उसी समय हो जाती है जबकि सीमांत लागत सीमांत आय के बराबर हो जाता है।

(5) पूर्ण स्पर्धा में उत्पादक सीमांत लागत के बराबर कीमत प्राप्त कर साम्य की अवस्था में हो जाता है। औसत लागत तथा कीमत में समानता नई फर्मों के प्रवेश या प्रवेश की सम्भावना के कारण हो पाती है। परन्तु एकाधिकार के अन्तर्गत नई फर्मों के प्रवेश की सम्भावना ही नहीं रहती है।

(6) पूर्ण स्पर्धा में उत्पादक का कीमत पर नियन्त्रण नहीं होता है उसके लिए कीमत पूर्व निश्चित होती है। परन्तु एकाधिकारी का कीमत पर कुछ नियन्त्रण होता है। फिर भी वह मनमाने ढंग से ऊँची कीमत नहीं प्राप्त कर सकता है क्योंकि वस्तुओं की माँग शायद ही कभी पूर्णतया बेलोच होती है।

एकाधिकारी का उद्देश्य (The Aim of the Monopolist)

प्रत्येक उत्पादक का उद्देश्य अधिक से अधिक लाभ कमाना होता है। पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में भी उत्पादक या विक्रेता लाभ की मात्रा को अधिकतम करना चाहता है परन्तु पूर्ण प्रतियोगिता में माँग लोचदार होने के कारण साम्य बिन्दु पर औसत लागत भी औसत आय एवं सीमांत आय के बराबर होती है। अन्य शब्दों में पूर्ण प्रतियोगिता में मूल्य की प्रवृत्ति सदैव सीमान्त लागत (Marginal Cost of Production) के बराबर होने की होती है। ऐसी स्थिति में पूर्ण प्रतिस्पर्धा की परिस्थितियों में विक्रेता को केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त होता है जो उत्पादन लागत (सीमांत लागत) का ही एक भाग होता है।

यद्यपि एकाधिकार की स्थिति में भी साम्य बिन्दु पर सीमांत लागत तथा सीमान्त आय बराबर होते हैं फिर भी एकाधिकार की स्थिति पूर्ण प्रतियोगिता की

स्थिति के विपरीत होती है। इसका कारण यह है कि एकाधिकारी अपनी एकाधिकारिक शक्ति का प्रयोग करके अपने लाभ को अधिकतम करने का प्रयत्न करता है। वह अपनी वस्तु की कीमत को उत्पादन लागत से काफी ऊंचा रख कर अधिक से अधिक लाभ कमाना चाहता है। एकाधिकारी का कोई प्रतियोगी नहीं होता अत वह बाजार में अपनी वस्तु अधिक से अधिक मूल्य पर बेचकर अधिकाधिक लाभ प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। एकाधिकारी को सामान्य लाभ के अतिरिक्त प्राप्त होने वाले लाभ को प्रो० मार्शल ने एकाधिकारी लाभ (Monopoly gain) कहा है। श्रीमती जोन राबिनसन (Mrs Joan Robinson) ने इस अतिरिक्त लाभ को शुद्ध एकाधिकारी आय (Net Monopoly Revenue) की संज्ञा दी है।

प्रत्येक एकाधिकारी अपना शुद्ध एकाधिकारी आय को अधिकतम करने का प्रयत्न करता है। वह अधिकतम समाज कल्याण की भावना से प्रेरित नहीं होता। यही कारण है कि अधिकतम सन्तुष्टि का सिद्धान्त एकाधिकारी वस्तुओं की माँग व पूर्ति के सम्बन्ध में लागू नहीं होता है। अधिकतम कुल शुद्ध एकाधिकारी आय प्राप्त करने के उद्देश्य से ही एकाधिकारी केवल प्रत्येक इकाई लाभ को अधिकतम करने का प्रयत्न नहीं करता बल्कि वह पूर्ति की माग के साथ इस प्रकार व्यवस्था करता है कि वह अपनी वस्तु की अधिक से अधिक मात्रा अधिक से अधिक मूल्य पर बेच सके। मूल्य निर्धारण वह अपना वस्तु की पूर्ति के आधार पर ही कर सकता है। अत वह माग का ध्यान में रखकर पूर्ति का इस प्रकार समायोजित करता है कि उसकी वस्तु का इतना मूल्य हो जाय कि वह उस माग पर अधिकतम लाभ कमा सके।

एकाधिकारी का सतुलन सामान्य विवेचन

(Equilibrium of the Monopolist General Discussion)

एकाधिकारी सतुलन की स्थिति में उस समय होता है जबकि उसके द्वारा अर्जित लाभ अधिकतम हो अर्थात् कुल आय तथा कुल लागत का अन्तर अधिकतम हो (When Aggregate Revenue – Aggregate Cost is maximum)। इस अन्तर को सीमांत आय वक्र के नीचे के क्षेत्र तथा सीमांत लागत वक्र के नीचे के क्षेत्र द्वारा ज्ञात किया जा सकता है। अत एकाधिकारी का कुल लाभ

कुल लाभ = औसत आय – औसत लागत × उत्पादन की मात्रा

(Total Profit = AR – AC × Quantity Produced)

इसका स्पष्टीकरण रखा चित्र स० 107 द्वारा किया गया है
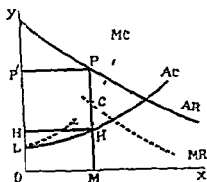
चित्र सं० 107

उपर्युक्त रेखाचित्र में OX अक्ष पर उत्पादन मात्रा तथा OY अक्ष पर आगम तथा लागत लिये गये हैं।

रेखाचित्र में MC तथा AC एकाधिकारी के सीमान्त एवं औसत लागत वक्र तथा AR एवं MR फर्म के औसत एवं सीमान्त आगम वक्र हैं। एकाधिकारी के सीमान्त लागत (MC) तथा सीमान्त आगम (MR) वक्र एक दूसरे को C बिन्दु पर काटते हैं। अतः C एकाधिकारी का साम्य बिन्दु है जिस पर एकाधिकारी OM मात्रा का उत्पादन तथा विक्रय करेगा। OM उत्पादन मात्रा पर OH या MH औसत लागत तथा OP या MP कीमत या औसत आगम है। फर्म को इस स्थिति में प्रति इकाई लाभ HP के बराबर प्राप्त होता है। यदि P तथा H बिन्दुओं से OY पर लम्ब डाले जाएँ तो एक आयत बन जायगा। एकाधिकारी का लाभ इसी आयत के बराबर होगा (PP HH के बराबर)। यह एकाधिकारी का अधिकतम लाभ है।

अधिकतम लाभ की उपर्युक्त सैद्धान्तिक विधि सही है परन्तु कोई भी एकाधिकारी व्यावहारिक रूप से माँग के विषय में पूर्ण जानकारी नहीं रखता है। हाँ वह काफी दिनों तक माँग तथा पूर्ति की अवस्थाओं का अध्ययन कर सीमान्त आय को बराबर कर लाभ को अधिकतम कर सकता है। जब तक सीमान्त आय सीमान्त लागत से अधिक है तब तक वह उत्पादन में वृद्धि कर लाभ में वृद्धि कर सकता है। इसके विपरीत यदि सीमान्त आय सीमान्त लागत से कम है तो वह उत्पादन की मात्रा में कमी कर अपने लाभ में वृद्धि कर सकता है। अतः एकाधिकारी उत्पादन की मात्रा में कमी तथा वृद्धि कर उस मात्रा का पता लगाता है जिस पर उसका लाभ अधिकतम हो। एकाधिकारी का माँग वक्र नीचे को गिर रहा होता है और उसका सीमान्त आगम (MR) वक्र औसत आय (AR) वक्र के नीचे स्थित होना

है। अतः एकाधिकारी में सतुलन की दशा में जब सीमान्त लागत (MC) सीमान्त आय (MR) के बराबर होती है तो यह कीमत या औसत आय से कम होगी। रेखाचित्र 107 में देखें तो स्पष्ट होता है कि सतुलन मात्रा OM पर सीमान्त लागत तथा सीमान्त आय समान हैं और दोनों ही MC के समान हैं किन्तु औसत आय या कीमत MP से कम है। अतः एकाधिकार में कीमत सीमान्त लागत से अधिक होता है।

बहुविध सतुलन (Multiple Equilibrium) अधिकतम लाभ के बिन्दु का पता लगाने में यह सम्भव है कि सतुलन के कई बिन्दु प्राप्त हों अर्थात् उत्पादन की कई निश्चित मात्राओं पर एकाधिकारी सतुलन की स्थिति में हो सकता है। इन विभिन्न सतुलन स्थितियों को बहुविध सतुलन (Multiple Equilibrium) कहते हैं। यह स्थिति उस समय होती है जबकि माँग वक्र के ढाल में परिवर्तन होते हैं अर्थात् माग कुछ समय तक लोचपूर्ण तथा कुछ समय तक अपेक्षाकृत कम लोचपूर्ण और पुन लोचपूर्ण हो जाता है।[1] इस प्रकार की अवस्था का पाया जाना उस समय सम्भव है जबकि उपभोक्ताओं के विभिन्न आय समुदाय हों। निश्चित कीमत में कमी होने पर कम आय के उपभोक्ता भी उस वस्तु को खरीदने लगेंगे। इस प्रकार माग अधिक लोचपूर्ण हो जाएगी। ऐसी माँग से सम्बन्धित सीमान्त आय वक्र नीचे गिरकर फिर ऊपर उठता है तथा पुन नीचे गिरता है अत एकाधिकारी के कई सतुलन बिन्दु होते हैं जिन पर उसका लाभ अधिकतम होता है। चित्र स० 108 बहुविध सतुलन की स्थिति को प्रकट करता है।
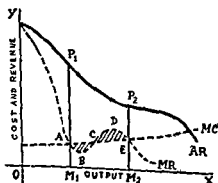
चित्र स० 108

चित्र स० 108 में OM_1, OM_2 एकाधिकारी की उत्पादन मात्रा को प्रकट

1 "Cases of multiple equilibrium may arise when the demand curve changes its slope being highly elastic for a stretch then perhaps becoming relatively inelastic then elastic again

—*Joan Robinson*

करते हैं। $P_1 M_1$, $P_2 M_2$ क्रमशः कीमतों को व्यक्त करते हैं। चित्र में सीमान्त लागत वक्र लगभग सीधी रेखा के रूप में ऊपर उठता हुआ है। यह वक्र भी नीचे गिरकर पुनः ऊपर उठ सकता है और फिर नीचे गिर सकता है। इस अवस्था में भी MR तथा MC जिन बिन्दुओं पर एक दूसरे को काटेंगी वे बिन्दु सन्तुलन की स्थिति को व्यक्त करेंगे। ऐसी दशा में उपर्युक्त चित्र में MR वक्र की भाँति MC वक्र भी टेढ़ा मेढ़ा होगा।

एकाधिकार में कीमत उत्पादन के मध्य सन्तुलन के बारे में एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि एकाधिकारी अपने माँग वक्र या औसत आय वक्र के किसी ऐसे बिन्दु पर सन्तुलन में नहीं होगा जहाँ माँग की मूल्य लोच इकाई से कम हो। अर्थात् एकाधिकारी अपने उत्पादन के स्तर को सीधी रेखा के माँग वक्र की दशा में उसके मध्य बिन्दु से नीचे निश्चित नहीं करेगा बशर्ते कि सीमान्त लागत MC धनात्मक हो जो कि वस्तुतः होती है। चूँकि MC कभी भी ऋणात्मक नहीं हो सकती, अतः MR तथा MC में समानता माँग की मूल्य लोच के इकाई से कम होने पर नहीं हो सकती। माँग की मूल्य लोच के इकाई से कम होने का तात्पर्य है MC का ऋणात्मक या शून्य से भी कम होना। चूँकि MC शून्य से कम नहीं हो सकती, अतः सन्तुलन वहाँ नहीं हो सकता जहाँ सीमान्त आय ऋणात्मक हो। अतः एकाधिकारी अपनी उत्पादन मात्रा को वहाँ निश्चित नहीं करेगा जहाँ उसके माँग वक्र की मूल्य लोच इकाई से कम हो। उसका सन्तुलन हमेशा उस उत्पादन स्तर पर होगा जहाँ माँग की मूल्य लोच इकाई से अधिक है।

एकाधिकार के अन्तर्गत मूल्य व उत्पादन निर्धारण
(Determination of Price and Output under Monopoly)

जिस प्रकार पूर्ण प्रतियोगिता वास्तविक रूप में नहीं पायी जाती है, उसी प्रकार एकाधिकार की अवस्था भी वास्तविक रूप में नहीं पायी जाती है। फिर भी मूल्य निर्धारण के सिद्धान्त का अध्ययन करने के लिए हम एकाधिकार की अवस्था की कल्पना करते हैं। व्यावहारिक रूप में न तो हम पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था और न एकाधिकार की अवस्था पाते हैं। वास्तव में बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता तथा एकाधिकार के बीच की अवस्थाएँ पायी जाती हैं।

एकाधिकारिक स्थिति में मूल्य एवं उत्पादन निर्धारण को जानने से पूर्व कुछ विशेष बातों को स्पष्ट करना अनिवार्य है :

1. आर्थिक विश्लेषण की सुविधा की दृष्टि से एकाधिकार में मूल्य एवं उत्पादन निर्धारण में एकाधिकारी का उद्देश्य अधिकतम लाभ कमाना मान लिया गया है।

2 एकाधिकारी या तो वस्तु की बेची जाने वाली मात्रा निर्धारित कर सकता है अथवा वस्तु का मूल्य निर्धारित कर सकता है किन्तु दोनों को एक साथ निर्धारित नहीं कर सकता। एकाधिकारी व्यवहार में वस्तु का मूल्य निर्धारित करना ही पसन्द करता है।

3 एकाधिकारी वस्तु की मांग बेलोचदार होती है अर्थात एकाधिकारी का अधिक इकाइयां बेचने हेतु मूल्य कम करना होता है।

एकाधिकारी वस्तु की माग दी हुई होने की दशा में वह अपनी वस्तु के उत्पादन तथा पूर्ति की मात्रा इस प्रकार निर्धारित करता है जिससे उसे अधिकतम लाभ प्राप्त हो।

एकाधिकार के अन्तर्गत मूल्य व उत्पादन निर्धारण की दो विधियां हैं—प्रथम को कुल आगम तथा कुल लागत रेखाओं की विधि तथा दूसरी को सीमान्त तथा औसत रेखाओं की विधि कहते हैं। प्रथम विधि **मार्शल** द्वारा तथा दूसरी विधि **श्रीमती जोन राबिंसन** द्वारा बतलाई गई है।

कुल आगम तथा कुल लागत विधि
(Total Revenue and Total Cost Method)

एकाधिकारी को सामान्य लाभ के अतिरिक्त जो लाभ प्राप्त होता है उसे प्रो० मार्शल ने एकाधिकार लाभ (Monopoly gain) कहा है। मार्शल ने अपने सिद्धान्त को **जांच तथा भूल का सिद्धान्त** (Trial and Error Method) बतलाया है। एकाधिकारी का उद्देश्य अधिकतम लाभ प्राप्त करना होता है। अतः वह मूल्य इस प्रकार निर्धारित करने का प्रयत्न करता है जिससे उसे अधिकतम लाभ प्राप्त हो सके। प्रो० मार्शल के ही शब्दों में स्पष्टतः एकाधिकारी का उद्देश्य पूर्ति को मांग के साथ इस प्रकार समायोजित करना है कि जिस मूल्य पर वह अपनी वस्तु को बेचे वह न केवल उत्पादन लागत निकालने के लिए पर्याप्त हो अपितु उसे अधिकतम शुद्ध आय प्राप्त हो सके।' इस आय को अधिकतम करने के लिए एकाधिकारी जांच तथा भूल सिद्धान्त का पालन करता है। इस नियम के अनुसार एकाधिकारी वस्तु का एक मूल्य निर्धारित करता है और देखता है कि उसे कुल कितनी आय प्राप्त होती है। तत्पश्चात वह मूल्य में परिवर्तन करता है और देखता है कि अब उसे परिवर्तित मूल्य पर कुल कितनी आय प्राप्त होती है। इस प्रकार वह कई बार मूल्य में परिवर्तन करता है और अपनी कुल आय ज्ञात करता रहता है। जिस मूल्य पर उसे अधिकतम आय प्राप्त होती है वही मूल्य वह निर्धारित करता है।

प्रश्न है—एकाधिकारी एकाधिकारिक लाभ (Monopolistic gain) को किस प्रकार अधिकतम करता है? एकाधिकारिक लाभ को अधिकतम करने के लिए एकाधिकारी को वस्तु की मांग की लोच तथा पूर्ति पक्ष पर ध्यान देना पड़ता है।

(1) **माँग की लोच** (Elasticity of Demand) यदि एकाधिकारी द्वारा उत्पादित वस्तु की माग लोचदार है तो कीमत बढने पर कुल आय घटती है क्योंकि मूल्य म वृद्धि होने पर वस्तु की माग म कमी आ जायगी। इसके विपरीत कीमत घटने पर कुल आय बढती है क्योंकि उसस माग बढ जाती ह। यदि माग बेलोच है ता कीमत बढने पर कुल आय बढ़ती है तथा कीमत घटने पर कुल आय कम होती है। यदि माँग का लोच इकाई क बराबर हो तो मूल्य-परिवतन का कुल आय पर कोई प्रभाव नही पडता है।

(2) **वस्तु की पूर्ति** (Supply of Commodity) वस्तु की पूर्ति इस बात पर निभर है कि उसका उत्पादन उत्पादन क किस नियम के अनुसार किया जा रहा है? यदि उत्पादन उत्पत्ति वृद्धि नियम क अनुसार हो रहा है तो उत्पादन की मात्रा म वृद्धि कर कम कीमत पर बचन स कुल आय म वृद्धि होगी। यदि उत्पादन उत्पत्ति ह्रास नियम क अनुसार हो रहा है तो उत्पादन की मात्रा कम करक ऊँची कीमत पर बेचन स लाभ होगा। उत्पत्ति समता नियम के अनुसार उत्पादन होन पर उत्पादन की मात्रा माग की लोच पर निभर होगी।

अत माग तथा पूर्ति की परिस्थितियो का ध्यान म रखते हुए, उत्पादक उत्पादन की मात्रा बढा घटा कर इस बात का पता लगाएगा कि कितनी मात्रा म उत्पादन करन स उसका एकाधिकारिक लाभ' अधिकतम होगा। उत्पादन का जिस मात्रा तथा कीमत पर एकाधिकारिक लाभ अधिकतम होगा एकाधिकारी द्वारा उतनी ही मात्रा का उत्पादन किया जाएगा तथा उतनी ही कीमत निश्चित की जाएगी।

रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण चित्र स० 109 म OX अक्ष पर उत्पादन मात्रा तथा OY अक्ष पर कुल आगम तथा कुल लागत को प्रदर्शित किया गया है। TC वक्र कुल लागत वक्र है तथा TR कुल आय वक्र है। यदि एकाधिकारी OQ मात्रा का उत्पादन करता है ता उसकी कुल आय अधिकतम होती है। इससे अधिक उत्पादन करन पर TR वक्र नीचे गिरता है परतु OQ_1 मात्रा पर एकाधिकारिक लाभ अधिकतम नही ह। अत वह उत्पादन की मात्रा कम करेगा। चित्र स० 109 से स्पष्ट ह कि OQ मात्रा का उत्पादन करन म TR तथा TC का अन्तर अधिकतम ह।

अत एकाधिकारी उस मात्रा का उत्पादन करेगा जिस मात्रा पर कुल आय तथा कुल लागत का अन्तर अधिकतम होगा। उसी उत्पादन पर एकाधिकारिक लाभ

अधिकतम होगा (नोट यह ध्यान मे रखना चाहिए कि TC वक्र का ढाल (S ope) सीमात लागत' तथा TR वक्र का ढाल 'सामान्त आय' को प्रकट करता है। जिस
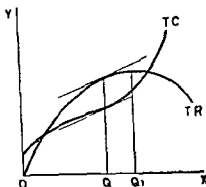
चित्र स० 10५

उत्पादन पर TC तथा TR के ढाल समान है अर्थात् TR व TC की स्पश रेखाए (Tangents) जिस बिन्दु पर समानान्तर (Parallel) हैं उसी बिन्दु पर उत्पादन करने से TR व TC का अन्तर अधिकतम होगा क्योकि अधिकतम लाभ उस बिन्दु पर होता है जिस पर सीमात लागत=सीमात आय है।)

आलोचना साम्य ज्ञात करने की यह कुल आगम तथा कुल लागत रीति एक भद्दी रीति है। इसमे अनेक दोष पाये जाते हैं

(1) इस रीति मे प्रत्यक्ष रूप से वस्तु की प्रति इकाई लागत एव मूल्य को ज्ञात करना भी कठिन है। प्रति इकाई मूल्य ज्ञात करने हेतु उत्पादन की OQ मात्रा का कुल आगम मे भाग देना होगा।

(ii) इसी प्रकार साम्य की स्थिति का जानना भी कठिन है, क्योकि कुल आगम वक्र तथा कुल लागत वक्र के मध्य अधिकतम दूरी ज्ञात करना कठिन होता है।

सीमात तथा औसत रेखाओं की विधि
(Marginal and Average Curves Method)

श्रीमती जोन राबिन्सन के अनुसार एकाधिकार शुद्ध एकाधिकार आय (Net Monopoly Pevenue) को अधिकतम करने का प्रयत्न करता है। उनके अनुसार शुद्ध एकाधिकार आय=कुल आय−कुल लागत (सामान्य लाभ को सम्मिलित कर) [(Net Monopoly Revenue = Total Revenue − Total Cost -clud ng Normal Profit)] । इस उद्देश्य की पूर्ति उस समय होती है जबकि एकाधिकारी की सीमात आय सीमान्त लागत के बराबर हो। अत एकाधिकारी साम्य की स्थिति के लिए यह चेष्टा करता है कि उत्पादन प्रक्रिया मे उसकी सीमात आय सीमात लागत के बराबर हो। उत्पादन की जिस मात्रा व कीमत पर सीमान्त

आय सीमान्त लागत के बराबर होती है एकाधिकारी वही मात्रा व कीमत निर्धारित करता है। इसी बिन्दु पर एकाधिकारी साम्य की स्थिति म होता है। अल्पकाल म यह साम्य बिन्दु अधिकतम एकाधिकारी लाभ, सामान्य लाभ या न्यूनतम हानि का प्रतीक हो सकता है जबकि दीर्घकाल म एकाधिकारी साम्य बिन्दु पर अधिकतम लाभ कमाता हुआ होता है।

उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण दीर्घकाल म जब एकाधिकारी की MR= MC हो तो उसे अधिकतम लाभ मिलता है। यदि एकाधिकारी इस साम्य बिन्दु से कम उत्पादन पर मूल्य निर्धारण करता है तो उसका कुल लाभ घटता है तथा अधिक कीमत पर भी कुल लाभ घट जाता है। यह निम्न सारणी से स्पष्ट है।

यहा हम यह मान लेते है कि एकाधिकारी एक विशेष प्रकार की कमीजो का उत्पादन कर रहा है। उत्पत्ति म वद्धि के साथ साथ सीमान्त उत्पत्ति वद्धि नियम लागू होने से सीमान्त लागत क्रमश घटती जाती है।

सारणी द्वारा स्पष्टीकरण एकाधिकार मे मूल्य सीमान्त आय कुल आय सीमान्त लागत कुल लागत व लाभ निम्न सारणी मे दिखलाए गए हैं

दैनिक उत्पादन मात्रा (Q) (कमीज)	प्रति इकाई मूल्य (P) (रुपयों म)	आय (Revenue) कुल आगम TR	आय (Revenue) सीमान्त आगम MR	लागत (Costs) कुल लागत TC	लागत (Costs) सीमान्त लागत MC	एकाधिकारी लाभ (Monopoly Profit)
15	30	450	—	375	—	75
16	29	464	14	388	13	76
17	**28**	**476**	**12**	**400**	**12**	76 अधिकतम लाभ
18	26	468	– 8	410	10	58
19	24	456	– 12	418	8	38

उपर्युक्त सारणी से स्पष्ट है कि एकाधिकारी प्रति दिन 17 कमीजो का उत्पादन करेगा तथा कीमत 28 रुपये प्रति कमीज रखेगा। इस उत्पादन मात्रा पर ही उसकी MR तथा MC बराबर हैं अर्थात् MR = MC। इस बिन्दु पर मिलने वाला एकाधिकारी लाभ भी 76 रुपए अधिकतम है। यदि एकाधिकारी मूल्य 30 रुपये प्रति कमीज रखता है तो उसका कुल लाभ 75 रु० ही रहता है। तालिका म यह बात महत्वपूर्ण है कि एकाधिकारी की वस्तु का माग वक्र ऋणात्मक ढाल होता है अर्थात् वह वस्तु की अतिरिक्त इकाइयो का मूल्य कम करने पर ही बेच सकता है अन्यथा नहीं। किन्तु जब वह एक अतिरिक्त इकाई की बिक्री हेतु मूल्य

क्रम करता है तो सभी इकाइयों पर आय घटती है। इसे हम रेखाचित्र द्वारा भी स्पष्ट कर सकते है।

रेखाचित्र द्वारा एकाधिकारिक साम्य का स्पष्टीकरण (सामान्य विश्लेषण)

रेखाचित्र 110 में एकाधिकारी के औसत आगम एवं सीमान्त आगम वक्र
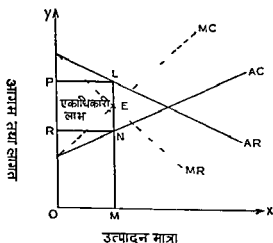
चित्र सं० 110

क्रमश AR तथा MR हैं जबकि AC तथा MC क्रमश औसत लागत तथा सीमान्त लागत वक्र हैं। E बिन्दु साम्य बिन्दु है क्योंकि इस बिन्दु पर MR=MC है। इस बिन्दु से OX आधार रेखा पर यदि सीधा लम्ब डाला जाय तो एकाधिकारी की उत्पादन एवं विक्रय मात्रा स्पष्ट होती है, जो कि OM है। एकाधिकारी की कीमत LM या OP होगी। एकाधिकारी का प्रति इकाई लाभ LN होगा जो कि AR तथा AC के बीच अन्तर को बतलाता है। फर्म को इस साम्य बिन्दु पर PRNL के बराबर कुल लाभ प्राप्त होता है क्योंकि एकाधिकारी का कुल लाभ औसत आगम – औसत लागत × उत्पादन मात्रा के बराबर होता है।

एकाधिकारी के साम्य की स्थिति ज्ञात करने में सीमान्त एवं औसत वक्र पद्धति की श्रेष्ठता के कारण

(i) इस पद्धति के द्वारा साम्य की स्थिति जानना अधिक सरल है।

(ii) प्रति इकाई मूल्य भी चित्र में देखने भर मात्र से ज्ञात हो जाता है।

(iii) प्रति इकाई लाभ तथा कुल लाभ आसानी से ज्ञात हो जाते हैं।

अल्पकाल तथा दीर्घकाल में एकाधिकारी द्वारा मूल्य निर्धारण

अब हम अल्पकाल तथा दीर्घकाल में इस विधि द्वारा एकाधिकारी के मूल्य एवं उत्पादन के निर्धारण का अध्ययन करेंगे

1 अल्पकाल (Short Run) अल्पकाल में एकाधिकारी की उत्पादन क्षमता निश्चित होती है। वह उत्पादन के वर्तमान साधनों द्वारा ही पूर्ति में वृद्धि कर

सकता है। ऐसी अवस्था में बाजार में मूल्य निर्धारण पर माग पक्ष का ही अधिक प्रभाव रहता है। अल्पकाल में भी उसका उद्देश्य अधिकतम लाभ प्राप्त करना होता है। अधिकतम लाभ उस बिन्दु पर होता है जिस पर अल्पकालीन सीमान्त लागत सीमान्त आय के बराबर होती है (SMC=MR)। इस तथ्य का स्पष्टीकरण चित्र सं० 111 द्वारा किया गया है। इस चित्र में OX अक्ष पर उत्पादन मात्रा तथा OY अक्ष पर आगम एवं लागत को प्रदर्शित किया गया है। AR माग वक्र या औसत आय वक्र है। SMC व SAC क्रमशः अल्पकालीन सीमान्त लागत वक्र व अल्पकालीन औसत लागत वक्र हैं। MR सीमान्त आय वक्र है। उत्पादन की OQ मात्रा पर MR तथा SMC समान हैं अतः वह OQ मात्रा का ही उत्पादन करेगा।
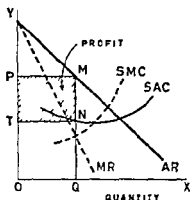
चित्र सं० 111

इस उत्पादन के लिए उसे प्रति इकाई OP कीमत प्राप्त होगी। माग अधिक होने के कारण इस उत्पादन की प्रति इकाई औसत लागत (SAC) OT है। इस प्रकार एकाधिकारी का अतिरिक्त लाभ प्रति इकाई PT होगा (OP – OT)। कुल अतिरिक्त लाभ TNMP होगा। यदि वह OQ से कम मात्रा का उत्पादन करता है तो सीमान्त आय (MR) अल्पकालीन सीमान्त लागत (SMC) से अधिक होगा। यदि OQ से अधिक उत्पादन करता है तो MR SMC से कम होगा। अतः इस मात्रा से अधिक उत्पादन करने पर उसकी कुल लागत में कुल आय की अपेक्षा अधिक वृद्धि होगी अतः उसका लाभ कम होगा। (यह याद रखना चाहिए कि एकाधिकार के अन्तर्गत कीमत सीमान्त आय से सदैव अधिक होती है जबकि पूर्ण स्पर्धा के अन्तर्गत कीमत सीमान्त आय के बराबर होती है।) अतः निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि अल्पकाल में एकाधिकारी उस मात्रा का उत्पादन करेगा जिस पर उसकी सीमान्त आय व सीमान्त लागत बराबर हों क्योंकि उसी मात्रा पर उसका लाभ अधिकतम होगा। कीमत माँग के स्वरूप व प्रकृति पर निर्भर करेगी।

यह आवश्यक नहीं है कि एकाधिकारी का सम्व लाभ ही हो। लाभ वस्तु की मांग तथा उत्पादन नागत के सम्बन्धों पर निर्भर है। यदि उसकी उत्पादन लागत बहुत अधिक तथा उसकी वस्तु की माग कम है तो वह कीमत द्वारा औसत लागत भी वसूल नहीं कर सकता है। ऐसी परिस्थिति म वह हानि का न्यूनतम करने का प्रयत्न करेगा तथा पूर्ण स्पर्धा की हा भांति उत्पादन जारी रखेगा यदि उसे परिवर्तनशील लागत (variable cost) से कुछ अधिक कीमत के रूप म प्राप्त हो जाता है। **अतः यह धारणा निर्मूल है कि एकाधिकारी सदैव लाभ ही प्राप्त करता है।** *अल्पकाल म तो यह भी सम्भावना रहती है कि एकाधिकारी को लाभ के स्थान पर* हानि प्राप्त हो। यह सम्भव है कि अल्पकालीन SAR के SAC से नीचा होने पर हानि हो। अल्पकाल म एकाधिकारी को सामान्य लाभ भी प्राप्त हो सकता है। कारण स्पष्ट है कि अल्पकाल म एकाधिकारी का साम्य माग की शक्तियां द्वारा अत्यधिक प्रभावित होता है तथा पूर्ति की शक्तियां द्वारा कम। ऐसी अवस्था म यदि माग कम हुई और मूल्य इतना नीचे निर्धारित हो कि वस्तु की उत्पादन लागत ही निकले तो एकाधिकारी को सामान्य लाभ ही मिलेगा। हालांकि अल्पकाल म एकाधिकारी को शून्य लाभ या हानि की सम्भावनाएँ बहुत कम रहती हैं फिर भी उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। साधारणतः अल्पकाल म भी एकाधिकारी को लाभ मिलता है। अब हम नीचे रेखाचित्र की सहायता से एकाधिकारी के सामान्य
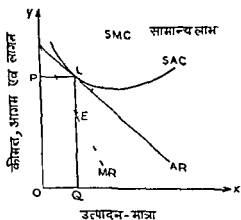
चित्र सं० 112

लाभ तथा हानि की दशा का स्पष्टीकरण करेंगे। चित्र सं० 112 म एकाधिकारी को अल्पकाल म सामान्य लाभ ही प्राप्त हो रहा है। E साम्य बिन्दु है जहाँ MC ने MR वक्र को नीचे से काटा है अर्थात् MC=MR है। इस सतुलन बिन्दु पर OQ मात्रा का उत्पादन एवं विक्रय किया जाता है। OQ उत्पादन मात्रा की

औसत लागत QL या OP है तथा एकाधिकारी का औसत आगम (AR) भी QL या OP है अत एकाधिकारी को न लाभ प्राप्त हो रहा है और न हानि।
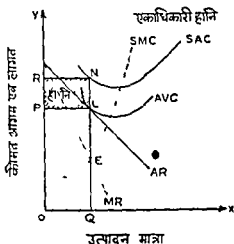
चित्र सं० 113

रेखाचित्र 113 म एकाधिकारी को अल्पकाल मे हानि उठानी पड रही है। इस रेखाचित्र म एकाधिकारी की अल्पकालीन सीमान्त लागत (SMC) एव सीमान्त आय (MR) दोनों E बिन्दु पर बराबर हैं अर्थात् इस बिन्दु पर SMC= MR। इस साम्य बिन्दु पर उत्पादन एव विक्रय की मात्रा OQ ह तथा इसकी औसत लागत QN या OR ह। इस साम्य पर एकाधिकारी का औसत आगम लगभग QL या OP है जो सीमान्त लागत स नीचा है। अत एकाधिकारी को हानि प्राप्त हो रही है। किन्तु यहाँ एकाधिकारी औसत परिवर्तनशील लागतो के बराबर मूल्य प्राप्त कर रहा है अत हानि उसे स्थायी लागतो के बराबर ही है। यदि कीमत QL या OP स कम हो जायेगी तो फम को अस्थायी तौर पर उत्पादन बन्द करना पडेगा क्योंकि मूल्य के OP स कम होने पर फम को परिवर्तनशील लागतो के बराबर भी भुगतान प्राप्त नही होगा।

(2) दीर्घकाल (Long Run) पूर्ण स्पर्धा म एकाधिकार की अवस्था म दीर्घकाल म उत्पादन साधनो की मात्रा म 'परिवर्तन' कर अर्थात् फम के आकार म परिवर्तन कर, उत्पादन-मात्रा म परिवर्तन किया जा सकता है। पूर्ण स्पर्धा के अन्तर्गत दीर्घकाल म कीमत उत्पादन-लागत के बराबर होती है परन्तु एकाधिकार की अवस्था म कीमत उत्पादन लागत से अधिक होती है अर्थात् दीर्घकाल म भी एकाधिकारी अतिरिक्त लाभ अर्जित करता है क्योंकि उस नई फर्मों के प्रवेश का भय नही रहता है।

नई फर्मों के प्रवेश का भय न रहने के कारण एकाधिकारी अपनी उत्पादन क्षमता में अधिकतम लाभ को ही दृष्टि में रखकर परिवर्तन करता है। वस्तु का
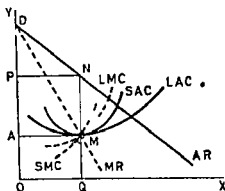
चित्र सं० 114

बाजार तथा दीर्घकालीन औसत लागत के सम्बन्धों को ध्यान में रखते हुए वह अनुकूलतम आकार से कम आकार की अनुकूलतम आकार की तथा अनुकूलतम से अधिक आकार की फर्म चला सकता है (यह याद रखना चाहिए कि पूर्ण स्पर्धा में दीर्घकाल में फर्म अनुकूलतम आकार की होती है या होने का प्रयत्न करती है)। सामान्यतः एकाधिकारी इस बात की चेष्टा करेगा कि उसकी फर्म का आकार इतना बड़ा हो कि सीमान्त आय वक्र (MR) दीर्घकालीन औसत लागत वक्र (LAC) को निम्नतम बिन्दु पर काटे। इस तथ्य का स्पष्टीकरण रेखाचित्र सं० 114 में किया गया है। OQ मात्रा का उत्पादन करने से दीर्घकालीन सीमान्त लागत तथा सीमान्त आय बराबर होती हैं (LMC=MR)। यह दीर्घकालीन औसत लागत (LAC) का निम्नतम बिन्दु है। इस बिन्दु पर अर्थात् OQ मात्रा का उत्पादन करने पर MR=SMC=LMC=SAC=LAC। फर्म इस बिन्दु पर अल्पकालीन व दीर्घकालीन—दोनों अवस्थाओं में—सन्तुलन की स्थिति में है। कीमत OP लागत OA तथा लाभ AP के बराबर हैं। कुल अतिरिक्त लाभ=AP×PN अर्थात् AMNP के बराबर होगा।

जिस बिन्दु पर MR वक्र LAC वक्र को काटता है (M बिन्दु) यदि उस बिन्दु से बाँयीं तरफ के किसी बिन्दु पर एक दूसरे को काटें तो फर्म का आकार अनुकूलतम नहीं होगा (अर्थात् अनुकूलतम से छोटा होगा)। इसी प्रकार यदि

MR वक्र LAC वक्र को बिंदु M की दाहिनी ओर काटता है तो फर्म का आकार अनुकूलतम से बडा होगा।[1]

निष्कर्ष मूल्य निर्धारण सम्बन्धी उपयुक्त विवरण के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि एकाधिकार की अवस्था म कीमत सीमांत आय से अधिक होती है तथा सीमांत लागत कीमत के बराबर होने के पूर्व ही सीमांत आय के बराबर हो जाती है। (पूर्ण स्पर्धा म सीमांत आय तथा कीमत बराबर होती है)। जहां पर सीमांत आय व सीमांत लागत बराबर हो जाती है उसी बिंदु पर उत्पादन की मात्रा निश्चित होती है क्योंकि उसी परिस्थिति म लाभ अधिकतम होता है। एकाधिकारी पूर्ण स्पर्धा की अपेक्षा कम उत्पादन करता है तथा ऊंची कीमत पर उसे बेचता है।

उत्पादन के नियमो का एकाधिकारी के उत्पादन पर प्रभाव

दीर्घकाल म एकाधिकारी अपनी वस्तु का मूल्य अधिक या कम निर्धारित करेगा यह निर्णय उस वस्तु की लागत की दशाओं पर निर्भर करता है। दीर्घकाल म एकाधिकारी उद्योग का विस्तार या संकुचन किये जाने पर उत्पादन के साधनो की लागत म वृद्धि या कमी हो सकती है जिसका अर्थ यह है कि फर्म के उत्पादन की औसत लागत उत्पादन के नियमों—घटती हुई बढती हुई या स्थिर लागत द्वारा प्रभावित होता है। इस प्रकार दीर्घकालीन एकाधिकारी मूल्य एव उत्पादन निर्धारण म उत्पादन की मात्रा या उत्पादन के आकार म परिवर्तन करने से उत्पत्ति के नियम क्रियाशील होते है और जो एकाधिकारी दीर्घकालीन औसत लागत तथा सीमान्त लागत को प्रभावित करते हैं। उत्पादन के नियम जैसा कि पूर्व म उल्लेख किया गया है तीन है—(i) उत्पत्ति ह्रास नियम (ii) उत्पत्ति वृद्धि नियम तथा (iii) उत्पत्ति समता नियम। इनका अलग अलग विवरण निम्न प्रकार है

(i) उत्पत्ति ह्रास नियम या बढ़ती हुई लागत नियम (Law of Increasing Costs)

यदि उत्पादन म बढ़ती हुई लागत का नियम क्रियाशील हो रहा है अर्थात् जबकि उत्पादन की मात्रा म वृद्धि करने पर औसत लागत तथा सीमान्त लागत दोनों बढ रही हैं तो एकाधिकारी के लिए कम मात्रा म उत्पादन करना ही हितकर है। ऐसा करने पर ही वह औसत लागत की वृद्धि को रोक सकता है तथा सीमांत लागत कम करके अपनी वस्तु का मूल्य अधिक निर्धारित कर सकता है। चित्र स० 115 म एकाधिकारी फर्म उत्पत्ति वृद्धि के अन्तर्गत कार्य कर रही है जैसा कि चित्र

1 यहाँ पर सरलता की दृष्टि से केवल अनुकूलतम आकार के सन्दर्भ म ही मूल्य निर्धारण की व्याख्या की गई है। अनुकूलतम से छोटी तथा बडी आकार की फर्मों के सदर्भ के लिए देखिये Leftwitch op cit pp 190–311, डिग्री तथा आनर्स कक्षाओ के विद्यार्थियों के लिए उपरोक्त विवरण ही पर्याप्त है।

म दिखाया गया है। औसत तथा सीमान्त लागत रेखाएँ (AC तथा MC) ऊपर की ओर जा रहा हैं। A बिन्दु पर सीमान्त लागत (MC)=सीमान्त आय (MR) के। इस बिन्दु से होती हुई एक खड़ी रेखा खींचने पर वह औसत रेखा
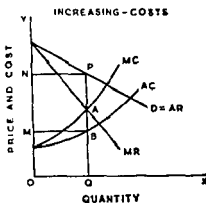
चित्र सं० 115

(AR) को P बिन्दु पर तथा OX अक्ष को Q बिन्दु पर काटती है। अतः OQ उत्पादन मात्रा के लिए PQ कीमत हुई। एकाधिकारी के लाभ के लिए AR तथा AC की तुलना करने पर ज्ञात होता है कि AR (औसत आय रेखा) AC (औसत लागत रेखा) के ऊपर है। इन दोनों रेखाओं के मध्य की दूरी PB प्रति इकाई लाभ प्रदर्शित करता है तथा कुल लाभ PBMN क्षेत्रफल के बराबर है। अतः कीमत= PQ उत्पादन की मात्रा OQ प्रति इकाई लाभ PB तथा कुल लाभ=PB×BM PBMN आयत के क्षेत्रफल के।

(ii) **जबकि उत्पत्ति वृद्धि नियम या लागत के घटने का नियम (Law of Diminishing Costs) क्रियाशील हो रहा हो**

इस नियम के अन्तर्गत कार्य करने वाले एकाधिकारी द्वारा अधिक उत्पादन करने पर औसत लागत (AC) घटती चली जायेगी। ऐसी स्थिति में औसत लागत को कम करने के लिए उत्पादन की मात्रा बढ़ाना एकाधिकारी के हित में होगा। उत्पादन की मात्रा बढ़ने पर सीमान्त लागत (MC) भी कम होगी जिससे एकाधिकारी आय में वृद्धि होगा।

चित्र स० 116 में AC तथा MC नीचे की ओर गिरती हुई दिखलाई गई हैं। A बिन्दु पर सीमान्त आय (MR) = सीमान्त लागत (MC) के। इस बिन्दु से डाली हुई खडी रेखा खीचने पर PQ रेखा कीमत बताती है। AR तथा AC के
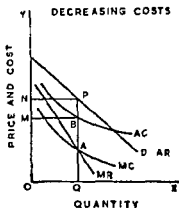
चित्र स० 116

मध्य खडी रेखा PB प्रति इकाई लाभ व्यक्त करती है। OQ कुल उत्पादन मात्रा है। अत वस्तु का मूल्य = PQ उत्पादन की मात्रा OQ कुल लाभ = PB × BM या PBMN के क्षेत्रफल के।

(iii) जबकि उत्पत्ति स्थिरता नियम या लागत स्थिरता नियम (Law of Constant Costs) लागू होता हो
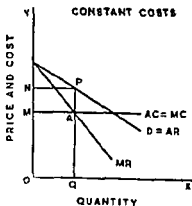
चित्र स० 117

उत्पादन लागत स्थिर रहने पर वस्तु की मात्रा म कोई अन्तर नहा आयगा। वह एकाधिकारी को किसी प्रकार प्रभावित नहीं करता। जैसा कि चित्र स० 117 स स्पष्ट ह 'लागत स्थिरता नियम' क अन्तगत औसत लागत (AC) = सीमान्त लागत (MC) के। A बिन्दु पर सीमान्त आय (MR)=सीमान्त लागत (MC) के। A स होती हुई खडी रखा AC को P बिन्दु पर तथा OX को Q पर काटती है। जिसस यह ज्ञात होता है कि PQ कीमत है OQ उत्पादन की मात्रा है तथा PA×AM या PAMN आयत क क्षेत्रफल के बराबर एकाधिकारी का कुल लाभ है।

क्या एकाधिकार मूल्य सदव स्पर्धात्मक मूल्य से ऊचा होता है ?
(Is Monopoly Price always higher than the Competitive Price ?)

हम यह जानत हैं कि पूर्ण स्पर्द्धा के अन्तगत कीमत सीमान्त लागत क बराबर होती है तथा एकाधिकार क अन्तगत कीमत सामान्यत सीमान्त लागत से अधिक होती है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि एकाधिकार क अन्तगत कीमत पूर्ण स्पर्द्धा की अपेक्षा सदव ऊची होगी। ऐसी परिस्थितियां का पाया जाना सम्भव है जिनम एकाधिकार मूल्य प्रतिस्पर्द्धा मूल्य स कम हो।

अधिक मात्रा म उत्पादन तथा विक्रय व्ययो म मितव्ययिता क कारण यह सम्भव है कि एकाधिकारी की औसत लागत अपेक्षाकृत कम हो। अत यदि एकाधिकारी अपनी सीमान्त लागत स अधिक भी कीमत वसूल कर तो भी यह सवथा सम्भव है कि उसकी सीमान्त लागत प्रतिस्पर्द्धी विक्रता की लागत से कम हो। इस प्रकार एकाधिकारी की कीमत पूर्ण स्पर्द्धा की कीमत स कम हो सकती है।

सामान्यतया एकाधिकारी-कीमत पूर्ण-स्पर्द्धा-कीमत स ऊँची होती है परन्तु यह आवश्यक नहा है कि यह कीमत सदव ऊची हो। कुछ एसी परिस्थितियाँ तथा तत्व हैं जो एकाधिकारी को अधिक कीमत बढाने से रोकती हैं (1) स्थानापन्न वस्तुओं का भय (2) सरकार नियमन तथा नियन्त्रण (3) उपभोक्ताओं का प्रबल विरोध (4) प्रतियोगिता का भय, (5) अधिक मात्रा म उत्पादन द्वारा उत्पादन व्यय मे कमी कर विक्रय की मात्रा म वद्धि करके अधिक लाभ अर्जित करने की इच्छा और (6) कभी कभी जन कल्याण की भावना आदि कारणों स एकाधिकारी मनमाने ढग स ऊची कीमत निर्धारित नहा कर सकता है।

अधिकतम लाभ प्राप्त करने वाला एकाधिकारी पूर्ण प्रतियोगिता क अन्तगत उत्पादन करने वाल उद्योग की अपेक्षा कीमत ऊचा रखता है तथा उत्पादन कम करता है यदि माँग तथा लागत की दशाए समान हो।

चित्र स० 111 म पूर्ण प्रतियोगिता तथा एकाधिकार की स्थितियों की तुलना की गई है। यहाँ पर यह मान लिया गया है कि एकाधिकारी के पास भी

उतने ही प्लान्ट (Plants) हैं जितने कि पूर्ण स्पर्द्धा की स्थिति म उत्पादन करने वाल उद्योग क पास। दोनो क लिए लागतें समान हैं तथा उद्योग म प्रत्यक पइत का थोडा अश प्रयोग म लाया जाता है। एकाधिकारी की प्रेरणा का आधार अधिकतम लाभ प्राप्त करना है। अत जहा पर भी सम्भव होगा, वह पूर्ण प्रतियोगिता क अन्तगत काय करने वाली फर्मों की तरह लागत कम करन का प्रयत्न करेगा। वह दी गयी उत्पादन मात्रा को विभिन्न प्लान्टो म उसी प्रकार बाटगा जिस प्रकार कि उत्पादन का बँटवारा पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति मे किया जाता है। यदि वह एसा नही करेगा
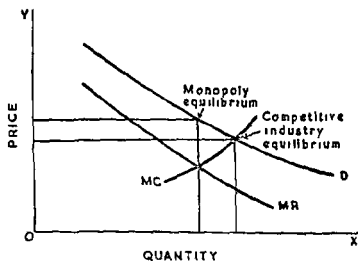
चित्र स० 118

तो विभिन्न प्लान्टो म सीमात लागतो म अन्तर होगा और इस प्रकार वह ऊचा सीमान्त लागत वाल प्लाट द्वारा एक इकाई कम उत्पादन करक अथवा कम सीमान्त लागत वाल प्लाट द्वारा एक इकाई अधिक उत्पादन करक कुल लागत कम करने का प्रयत्न करेगा। चित्र स० 118 म एकाधिकृत तथा प्रतिस्पर्द्धात्मक कुल सीमात लागत एक ही हैं। उपयु क्त मान्यता के आधार पर ही दोनो प्रकार की सस्थागत स्थितियो क लिए माग वक्र भी एक ही है।

प्रो० गलब्रेथ (Prof Galbraith) न Theory of Countervailing Power का विचार प्रस्तुत किया है। अथशास्त्रियो न यह विचार व्यक्त किया है कि एकाधिकारी भावी प्रतिस्पर्द्धा के भय स अधिक ऊँचा दाम नहीं रखता है। साथ ही साथ सरकारी प्रतिबन्धो का भी उस भय रहता है। प्रो० गलब्रेथ का कहना है कि एकाधिकारी उपभोक्ताओ की प्रतिस्पर्द्धा से अधिक डरता है। उन्होन

इस सम्बन्ध में जो सिद्धान्त प्रतिपादित किया है उसे Theory of Countervailing Power कहते हैं। उन्होंने फुटकर उपभोक्ता वस्तु बाजार तथा उत्पादक वस्तु बाजार का अध्ययन कर बतलाया है कि एकाधिकारी की असामाजिक नीतियों के विरोध में उपभोक्ता भी क्रेता एकाधिकारी के रूप में सगठित होते हैं। इस प्रकार उनकी एकाधिकारिक शक्ति उत्पादक एकाधिकारी की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली होती है। इस प्रकार व्यक्तिगत आर्थिक शक्ति को उन व्यक्तियों द्वारा रोका जाता है जो इस शक्ति के शिकार होते हैं। आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण ने केवल मजबूत विक्रेताओं को ही नहीं बल्कि मजबूत क्रेताओं को भी जन्म दिया है। कुछ विक्रेताओं के विशिष्ट आधुनिक बाजार में क्रियात्मक प्रतिरोध प्रतिस्पर्द्धियों द्वारा नहीं बल्कि बाजार के दूसरे पक्ष–विक्रेताओं द्वारा किया जाता है। अत एकाधिकारी की शक्ति का सबसे बड़ा प्रतिरोधक तत्त्व स्वयं क्रेता ही है। (प्रो० गलब्रेथ ने विक्रेता के Countervailing power का भी उल्लेख किया है।)

प्राय हमारे मस्तिष्क में यह गलत धारणा रहती है कि एक एकाधिकारी सदैव पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा की अपेक्षा अधिक मूल्य लेता है तथा उपभोक्ताओं का शोषण करता है। किन्तु यह धारणा मिथ्या है। अनेक बार एकाधिकारी पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा की दशा से भी कम मूल्य वसूल करता है। निम्न दशाओं में एक एकाधिकारी पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा की अपेक्षा कम मूल्य वसूल करता है

1 जब वस्तु की माँग अधिक लोचदार हो तथा उत्पादन उत्पत्ति वृद्धि नियम या घटती लागत नियम के अन्तर्गत हो रहा हो तो वह कम मूल्य वसूल करता है।

2 एकाधिकारी प्रतिस्पर्द्धियों के समान विज्ञापन पर अधिक व्यय नहीं करता क्योंकि उसे उत्पादन तथा विक्रय के क्षेत्र में किसी तरह की प्रतिस्पर्द्धा का सामना नहीं करना पड़ता इसीलिए लागत कम होने से मूल्य भी कम वसूल करता है।

3 एकाधिकारी उत्पादन के क्षेत्र में एक बड़ा उत्पादनकर्ता होता है, जिसके कारण उसे अनेक आन्तरिक तथा बाह्य बचतें प्राप्त हो जाती हैं। अत वस्तु का मूल्य भी प्रति इकाई लागत कम होने के कारण कम वसूल करता है।

4 एकाधिकारी की शक्ति को नियन्त्रित करने वाले तत्त्वों के भय से भी वह कम मूल्य वसूल करता है।

एकाधिकार शक्ति के अनुचित प्रयोगों पर रोक
(Restraints on Improper Uses of Monopoly Power)

एकाधिकार शक्ति के अनुचित प्रयोगों पर अनेक रोक है। व्यवहार में अनेक तत्त्व काय करते हैं जो उसकी एकाधिकार शक्ति को नियन्त्रित करते हैं

1 भावी विरोधियों का भय (Fear of potential rivals) एकाधिकारी हमेशा इस बात से भयभीत रहता है कि यदि वह कीमत में वृद्धि कर दे तो ऐसा न हो कि निकट भविष्य में कुछ उद्यमी प्रतियोगी बन कर उस उद्योग के क्षेत्र में प्रवेश

कर उसके एकाधिकार को ही समाप्त कर दें। इसीलिए वह वस्तु का अपेक्षाकृत कम ही मूल्य वसूल करता है ताकि भावी प्रतिस्पर्द्धी बाजार में प्रवेश न कर सके।

2 उपभोक्ताओं द्वारा सम्बन्ध विच्छेद का भय (Fear of boycott by consumers) एक सीमा से अधिक उपभोक्ताओं को भी नहीं लूटा जा सकता। मूल्य में उस सीमा से अधिक वृद्धि को उपभोक्ता सहन नहीं कर सकते और वे आवश्यकता पड़ने पर एकाधिकारी से सम्बन्ध विच्छेद भी कर सकते हैं। इसीलिए एकाधिकारी उपभोक्ताओं के सहयोग को खोने का साहस नहीं कर सकता और वह अपना मूल्य कम ही वसूल करता है।

3 स्थानापन्न वस्तुओं का भय (Fear of substitutes) व्यवहार में शायद ही कोई ऐसी वस्तु हो जिसकी कोई न कोई स्थानापन्न वस्तु न हो जिससे कुछ न कुछ तुष्टि न मिल सके। अतः एकाधिकारी स्थानापन्न वस्तु के भय से कम ही मूल्य वसूल करता है।

4 माग की मूल्य लोच (Price Elasticity of Demand) एकाधिकारी अपनी वस्तु की माँग से सम्बन्धित तत्त्वों को भी ध्यान में रखता है। माग जितनी अधिक मूल्य सापेक्ष होगी एकाधिकारी शक्ति उतनी ही निर्बल होगी।

5 गुटबन्दी की असफलता का भय (Fear of failure of combination) गुटबन्दी को भी उसकी आन्तरिक शक्तियां प्रभावित करती हैं अतः गुटबन्दी को बनाये रखना आसान नहीं होता। अतः एकाधिकारी मनमानी नहीं कर सकता।

6 सरकारी हस्तक्षेप का भय (Fear of government interference) प्रत्येक सरकार जनहित की रक्षा करती है। यदि एकाधिकारी अधिक मूल्य वसूल करे तो सरकार को हस्तक्षेप करना पड़ता है। इस प्रकार सरकारी हस्तक्षेप भी एकाधिकारी की मनमानी को रोकता है।

एकाधिकार का नियमन
(Regulation of Monopoly)

कभी-कभी एकाधिकार के परिणाम बड़े घातक सिद्ध होते हैं। **उपभोक्ताओं का शोषण, कृत्रिम ढंग से वस्तुओं की पूर्ति कम कर देना, उत्पादन की नवीन विधियों के प्रति एकाधिकारी की उदासीनता, एकाधिकारी द्वारा अर्थ-व्यवस्था में असन्तुलन की स्थिति पैदा कर देना आदि ऐसे दोष हैं जिनके आधार पर एकाधिकारी की कटु निन्दा की जाती है।** इन दोषों को दूर करने तथा उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा के लिए एकाधिकार का नियमन किया जाता है। नियमन के निम्नलिखित ढंग हैं

(1) एकाधिकार विरोधी सन्नियम (Anti Monopoly Legislation) एकाधिकार पर नियन्त्रण रखा जा सकता है। ऐसे अधिनियमों का उद्देश्य

(i) एकाधिकारिक संस्थाओं की स्थापना न होने देना, या (ii) पूर्व स्थापित एकाधिकारिक संस्थाओं को समाप्त कर उन्हें छोटी-छोटी इकाइयों में विकेन्द्रित करना होता है। परन्तु यह विधि किसी भी देश में पूर्ण रूप से सफल सिद्ध नहीं हुई है। नियमों की कमियों से एकाधिकारी अनुचित रूप से लाभ उठाते हैं तथा किसी न किसी प्रकार वे उन नियमों की छिपे रूप से अवहेलना करते रहते हैं।

(2) अनुचित व्यवहारों पर प्रतिबन्ध (Control of Mal practices) ऐसे नियम बनाये जायें जो एकाधिकारी संस्थाओं की अनुचित कार्यवाहियों पर रोक लगा सकें। वस्तु का गुण (Quality) निश्चित करने, विनाशकारी राशिपातन (Dumping) को रोकने तथा सम्भावित प्रतियोगी को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से नियम बनाये जा सकते हैं। प्रो० पीगू का विचार है कि इस प्रकार के नियमों को भी आंशिक सफलता ही मिलती है। अतः निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रीयकरण की नीति ही श्रेयस्कर है।

(3) मूल्य तथा उत्पादन पर नियन्त्रण (Control of Prices and Output) सरकार द्वारा एकाधिकारी के मूल्य तथा उत्पादन पर नियन्त्रण रखा जाता है। सरकार आयोग की नियुक्ति कर उसके सुझावों के अनुसार उचित कीमत निर्धारित कर सकती है तथा उत्पादन की मात्रा निश्चित कर सकती है। परन्तु उचित कीमत निर्धारित करने में कुछ व्यावहारिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है जैसे उत्पादन व्यय का अनुमान किस प्रकार लगाया जाय तथा लाभ की किस दर को उचित माना जाय। सामान्यतया कीमत तथा उत्पादन पर निम्नलिखित ढंग से नियन्त्रण लागू किया जा सकता है

(क) कीमत इस प्रकार से निश्चित की जाय कि सीमांत आय सीमान्त व्यय के बराबर हो।

$$(P = MR = MC)$$

(ख) कीमत उस बिन्दु पर निश्चित की जाय जिस पर सीमान्त उत्पादन लागत कीमत अथवा औसत आय के बराबर हो $(P = M = AR = MC)$। ऐसी स्थिति में एकाधिकारी को अधिक लाभ होगा परन्तु यह स्थिति अनियन्त्रित एकाधिकार की स्थिति से उपभोक्ताओं की दृष्टि से श्रेष्ठतर है। इस प्रकार के नियन्त्रण के पक्ष में यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि सीमान्त लागत (MC) उत्पादन में प्रयुक्त साधनों की कीमत को व्यक्त करती है तथा कीमत उपभोक्ताओं को वस्तु से प्राप्त मूल्य को प्रकट करता है अतः सामाजिक दृष्टि से यह उचित है कि उत्पादन में वृद्धि उस सीमा तक होने दी जाय जहाँ पर साधनों का मूल्य उनकी सीमांत लागत के बराबर हो।

के साथ नहीं करती है। हम यह जानते हैं कि पूर्ण स्पर्द्धा के अन्तर्गत दीर्घकाल में फर्म अनुकूलतम आकार की होती है तथा उसका उत्पादन भी अनुकूलतम (Optimum) होता है। परन्तु दीर्घकाल में जिस उत्पादन पर एकाधिकारी का लाभ अधिकतम होता है यह आवश्यक नहीं है कि उत्पादन की वह मात्रा अनुकूलतम हो तथा फर्म का आकार अनुकूलतम हो (ii) ऐसा होते हुए भी हम यह याद रखना चाहिए कि किसी ऐसे उद्योग में जिसमें बाजार सीमित होने के कारण उत्पादन अनुकूलतम उत्पादन से कम किया जा रहा हो में एकाधिकार की अवस्था कम उत्पादन लागत अथवा अधिक कुशलता की प्रतीक हो सकती है। इस दशा में यदि फर्मों की संख्या अधिक है अर्थात् पूर्णस्पर्द्धा की दशा है तो प्रत्येक फर्म अपनी प्लान्ट का अनुकूलतम उपयोग नहीं कर सकती। इस प्रकार आर्थिक कुशलता कम होगी। परन्तु यह स्मरणीय है कि ऐसी दशा में अधिक कुशल होते हुए भी एकाधिकारी फर्म साधनों का अधिकतम कुशलता के साथ उपयोग नहीं कर सकती है।

प्रश्न व संकेत

1 एकाधिकार को परिभाषित कीजिए। एकाधिकारी वस्तु का मूल्य कैसे निर्धारित करता है?

Define monopoly How is monopoly price determined?

(संकेत संक्षेप में एकाधिकार का अर्थ लिखिए और उसका उद्देश्य बताइए। तत्पश्चात् रेखाचित्रों द्वारा कुल आगम व कुल लागत वक्रों की रीति व सीमान्त और औसत वक्रों की रीति (अल्पकाल में तथा दीर्घकाल में) द्वारा एकाधिकार के अन्तर्गत मूल्य निर्धारण को समझाइए।)

2 एकाधिकारी किन सिद्धान्तों के आधार पर अपनी वस्तु का मूल्य निर्धारित करता है? क्या एकाधिकारी का मूल्य प्रतिस्पर्धात्मक मूल्य से सदैव अधिक होता है?

What are the considerations which a monopolist must bear in mind in ficing the price of his commodity? Is monopoly price necessarily higher than the competitive price?

[संकेत अधिकतम लाभ अर्जित करने हेतु एकाधिकारी कम उत्पत्ति को ऊँचे मूल्यों पर बेचता है। इसे समझाइए। दूसरे भाग में उदाहरण सहित स्पष्ट

कीजिए कि एकाधिकारी द्वारा लिया जाने वाला मूल्य प्रतिस्पर्द्धात्मक मूल्य से सामा न्यत अधिक होता है अन्य नहीं। चित्र स० 118 का प्रयोग कीजिए।]

3 एकाधिकारी के स्वामी का स्वार्थ पूर्ति माग का इस प्रकार से समायोजन करने में नहीं है कि वस्तु की विक्रय कीमत केवल उसकी उत्पादन लागतों को ही पूरा कर सके बल्कि उसका स्वार्थ इस प्रकार के समायोजन में है कि उसे अधिकतम शुद्ध आगम प्राप्त हो। मार्शल के इस कथन के संदर्भ में एकाधिकारी मूल्य निर्धारण को समझाइए।

The prima facie interest of the owner of a monopoly is clearly to adjust the supply to the demand not in such a way that the price at which he can sell his commodity can just cover his expenses of production but in such a way as to afford his greatest possible net revenue Marshall In the context of this remark discuss the price determination under monopoly

[संकेत एकाधिकारी के उद्देश्यों को समझाते हुए कथन की सार्थकता पर प्रकाश डालिए तथा मूल्य निर्धारण की रेखाचित्र द्वारा व्याख्या कीजिए।]

4 एकाधिकारी तथा पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत मूल्य निर्धारण के अन्तर को पूर्णतया स्पष्ट कीजिए।

Discuss fully the difference between price determination under monopoly and perfect competitive ?

[संकेत एकाधिकार व प्रतियोगिता को संक्षेप में समझाइए और दोनों अवस्थाओं में मूल्य निर्धारण के मूल तत्वों का वर्णन करके उनमें अन्तर स्पष्ट कीजिए। यथास्थान चित्र भी दें।]

6 एकाधिकार को किस प्रकार नियन्त्रित किया जा सकता है ? इस नियन्त्रण की क्या सीमाएँ हैं ?

How can monopoly be controlled ? What are the limitations of this control ?

[संकेत एकाधिकार पर लगाये जाने वाले विभिन्न नियन्त्रणों को बताइए तथा इनकी सीमाएँ लिखिए।]

7 एकाधिकारी (विक्रेता) बिना ताज का बादशाह होता है। यह बताते हुए कि एकाधिकारी किस प्रकार अपना अधिकतम एकाधिकारी शुद्ध लाभ प्राप्त करता है इस कथन की व्याख्या कीजिए।

A monopolist is a king without crown Explain this statement showing how a monopolist gets his maximum monopoly net revenue

[संकेत सबसे पहले एकाधिकारी का आशय लिखकर बताइए कि वह बिना ताज का बादशाह है क्योंकि वह बाजार की दशाओं को अनुकूल बना सकता है। फिर एकाधिकारी शुद्ध आय का अर्थ लिखकर बताइए कि यह साम्य बिन्दु पर अधिकतम होता है। अतः अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन साम्य में एकाधिकारी के अधिकतम लाभ की दशाओं की रेखाचित्र की सहायता से व्याख्या करें।]

8 क्या एकाधिकारी व्यवहार में अपनी वस्तु की मनमानी कीमत वसूल कर सकता है? यदि नहीं तो क्यों नहीं?

Can a monopolist charge as high a price for his commodity in practice as he likes? If not state why?

36
विभेदात्मक या विवेचनात्मक एकाधिकार अथवा मूल्य विभेद
(Discriminating Monopoly or Price Discrimination)

एकाधिकार का उद्देश्य एकाधिकारिक लाभ' को अधिकतम करना होना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह विभिन्न प्रकार के ग्राहकों के समूहों से एक ही प्रकार की वस्तु के लिए भिन्न भिन्न दरों पर कीमतें लेता है। इस स्थिति को विवेचनात्मक एकाधिकार कहा जाता है। विवेचनात्मक एकाधिकार विभिन्न व्यक्तियों विभिन्न स्थानों तथा विभिन्न प्रयोगों के बीच सम्भव है। विभेदात्मक एकाधिकार के आशय एव परिभाषा को आगे विस्तार से समझाया जा रहा है।

विभेदात्मक एकाधिकार से आशय एव परिभाषा
(Meaning and Definition of Price Discrimination)

विभेदात्मक एकाधिकार एकाधिकारी की कार्य प्रणाली में ही आता है। विभेदात्मक एकाधिकार का आशय यह है कि एक एकाधिकारी या एक विक्रेता एक ही प्रकार की वस्तु या पदार्थ को विभिन्न उपभोक्ताओं या क्रेताओं को भिन्न भिन्न कीमतों पर विक्रय करता है। इस प्रकार एक एकाधिकारी द्वारा एक ही प्रकार की वस्तु के लिए भिन्न भिन्न उपभोक्ताओं से भिन्न भिन्न कीमत वसूल करने की प्रक्रिया ही विभेदात्मक या विवेचनात्मक एकाधिकार है। यदि एक टेलीविजन निर्माता एक क्रेता से दो हजार पाँच सौ रुपये वसूल करता है और उसी किस्म के टेलीविजन के किसी अन्य क्रेता से दो हजार रुपये वसूल करता है तो यह इस प्रक्रिया को विभेदात्मक एकाधिकार कह सकते हैं।

किन्तु विभेदीकरण इतना आसान नहीं होता। एक ही प्रकार की वस्तु के लिए विभिन्न क्रेताओं से विभिन्न कीमतें वसूल करना दुष्कर होता है। सामान्यत यह

देखा गया है कि कीमत विभेद हेतु उत्पादक को वस्तु में थोड़ा सा अन्तर करना पड़ता है। अतः कीमत विभेद की अवधारणा को व्यापक अर्थों में लिया जा सकता है। इस अवधारणा के अनुसार एक वस्तु की विभिन्न किस्मों को इतनी भिन्न भिन्न कीमतों पर बेचा जाता है जो उनकी उत्पादन लागतों में अन्तरों से कहीं अधिक हैं। इसीलिए प्रो० स्टिगलर (Stigler) के शब्दों में कीमत विभेदीकरण का अर्थ है कि औद्योगिक (Technical) दृष्टि से लगभग मिलते जुलते पदार्थों को इतनी भिन्न भिन्न कीमतों पर बेचना जो कि उनकी औसत लागतों के अनुपात से कहीं अधिक हैं।[1]

इस प्रकार स्टिगलर के अनुसार एक विक्रेता तब ही कीमत विभेद कर रहा होता है जब वह एक पदार्थ की विभिन्न किस्मों को विभिन्न क्रेताओं के यहाँ अलग अलग कीमतों पर विक्रय करता है यदि इन कीमतों में अन्तर विभिन्न किस्मों की उत्पादन लागतों में अन्तरों से कहीं ज्यादा है। उदाहरणार्थ यदि एक प्रकाशक को एक अर्थशास्त्र की पुस्तक के साधारण संस्करण की लागत 15 रुपये तथा उसके पुस्तकालय संस्करण की लागत 17 रुपये पड़ती है। अब यदि वह प्रकाशक साधारण संस्करण को 17 रुपये प्रति पुस्तक तथा पुस्तकालय संस्करण को 21 रुपये प्रति पुस्तक की दर से विक्रय करता है तो यह स्थिति मूल्य विभेद की होगी, क्योंकि दोनों संस्करणों की पुस्तकों में कीमत अन्तर (21 रु − 17 रु० = 4 रु०) उनके उत्पादन लागत में अन्तर (17 रु० − 15 रु० = 2 रु०) से अधिक है। इस प्रकार वास्तविक संसार में इसी प्रकार का विभेद पाया जाता है। किन्तु आर्थिक दृष्टि से इसका विश्लेषण करना जटिल होता है। अतः हम यहाँ एक सरल किस्म के विभेदीकरण को ही लेते हैं जिसमें एक प्रकार की वस्तु की विभिन्न क्रेताओं से भिन्न भिन्न कीमतें वसूल की जाती हैं। विभेदात्मक एकाधिकार को विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने विभिन्न प्रकार से परिभाषित किया है। इनमें कुछ अर्थशास्त्रियों की परिभाषाएं इस प्रकार हैं

श्रीमती जोन रोबिंसन (Mrs Joan Robinson) के शब्दों में "एक ही नियन्त्रण के अन्तर्गत उत्पत्ति एक ही वस्तु को विभिन्न क्रेताओं या उपभोक्ताओं को भिन्न भिन्न कीमतों पर बेचने की क्रिया को मूल्य विभेद कहा जाता है।[2]

राबर्ट थामस (Robert Thomas) के अनुसार "एकाधिकार नीति की एक प्रकृति यह है कि एक ही वस्तु या सेवा की पूर्ति के भिन्न भिन्न भागों का उपभोक्ताओं

1 Price Discrimination can be defined or the sales of technically similar products at prices whi h re not proportional to m rginal costs

—*G J Stigler* The Theory of Price p 265

2 "The act of selling the same article produced under single control at different prices to different buyers is known as price discrimination

—*Mrs Joan Robinson*

स भिन्न भिन्न मूल्य लिया जाता है। इस प्रकार का मूल्य विभेद विभिन्न व्यक्तियो विभिन्न व्यवसायो विभिन्न क्षेत्रो या एक समुदाय अथवा विभिन्न समुदायो के मध्य हो सकता है।[1]

इस प्रकार उपयुक्त विवेचन एव परिभाषाओ स स्पष्ट है कि विभेदात्मक एकाधिकार एक एकाधिकारी की उस क्रिया को कहते हैं जिसके द्वारा वह अपनी उत्पत्ति समान वस्तु या पदार्थ के विभिन्न क्रेताओ से भिन्न भिन्न कीमतें वसूल करता है।

विभेदात्मक एकाधिकार के रूप (Types of Discriminating Monopoly)

मुख्यत मूल्य विभेद तीन प्रकार का होता है

(i) व्यक्तिगत विभेद (Personal Discrimination) जब विभिन्न व्यक्तियो से अलग अलग दरो पर कीमतें वसूल की जाती हैं तो इसे व्यक्तिगत विवेचन कहते हैं। वस्तुओ के मूल्य उनकी माँग की तीव्रता (Intensity) के आधार पर लिये जाते हैं।

(ii) स्थान विभेद (Place Discrimination) जब विभिन्न बाजारो म अलग अलग दरो पर कीमतें ली जाती हैं तो उसे स्थान विवेचन कहते हैं जैसे विदेशी बाजार म राशि-पातन (Dumping) के उद्देश्य से अत्यन्त ही कम मूल्य पर वस्तु बेची जाए तथा देश के अन्दर वस्तु का मूल्य बहुत ऊँचा रखा जाए।

(iii) व्यवसाय विभेद (Trade Discrimination) जब किसी वस्तु के प्रयोग के आधार पर विभिन्न दरो पर कीमत ली जाती है तो उसे व्यवसाय विवेचन कहते हैं जैसे बिजली के इस्तेमाल के लिए औद्योगिक उद्योग (Industrial use) के लिए कम दर पर कीमत ली जाती है तथा रोशनी आदि के लिए ऊँची दर पर कीमत वसूल की जाती है। एक ही गुण की वस्तु को विभिन्न लेबल लगाकर भी अलग अलग दरो पर उन्हे बेचा जाता है।

प्रो० पीगू ने मूल्य विवेचन का वर्गीकरण तीन श्रेणियों मे किया है

(1) प्रथम श्रेणी का मूल्य विवेचन (Discrimination of the first order) उस अवस्था को कहते हैं जिसमे विक्रेता विभिन्न क्रेताओ से अलग अलग कीमत लेता है। इतना ही नहीं बल्कि वस्तु की विभिन्न इकाइयो के लिए अलग अलग कीमतें भी ली जाती हैं (एक ही क्रेता से)। श्रीमती जान राबिनसन का

---

1 "But a characteristic of monopolistic policy is that different prices are charged for different portions of the supply of the same commodity or service Such price discrimination may be in respect of different persons different trades or different areas in the same community or in diffe ent communities

—*Thomas*

कहना है कि पूर्ण विवेचन उसी समय सम्भव है जबकि एक क्रेता एक इकाई क्रय करे तथा उसके लिये वह अधिकतम कीमत देने को प्रस्तुत हो।

(ii) **द्वितीय श्रेणी का मूल्य विवेचन** उस अवस्था में पाया जाता है जबकि बाजार को विभिन्न वर्गों में मूल्य चुकाने की क्षमता के आधार पर बाँट दिया जाता है।

(iii) **तृतीय श्रेणी का मूल्य विवेचन** दूसरी श्रेणी के विवेचन का ही एक रूप है। इसमें विभिन्न वर्ग के क्रेताओं से विभिन्न मूल्य लिये जाते हैं तथा उनमें विभेद किसी बाह्य निर्देशांक (External Indices) द्वारा किया जाता है जैसे रेलवे विभिन्न श्रेणी के यात्रियों से अलग अलग दरों पर किराया लेती है परन्तु श्रेणी के चुनाव की स्वतन्त्रता यात्रियों को होती है।

मूल्य विभेद के रूपों का ज्ञान निम्न सारिणी द्वारा किया जा सकता है

मूल्य विभेद के प्रमुख रूप

मुख्य प्रकार	विभेद के आधार	उदाहरण
1 व्यक्तिगत (Personal)	क्रेता की आय	डाक्टर का शुल्क
	क्रेता की अर्जन की क्षमता	पेटेन्ट मशीन की रायल्टी
2 समूह (Group)	(i) क्रेता की आयु, लिंग इत्यादि	बच्चों की बाल कटाई सिनेमा गृह में विद्यार्थियों का प्रवेश शुल्क
	(ii) क्रेता का स्थान	टर्मिनल क्षेत्र के अनुसार कीमतें
	(iii) क्रेता का स्तर (Status)	नये ग्राहकों से कम की कीमत लेना, अधिक मात्रा में खरीदने वाले को छूट देना
	(iv) वस्तु का प्रयोग	रेलवे किराया बिजली की अलग दरें
3 वस्तु (Product)	(i) वस्तु के गुण	पुस्तक के नवीनतम सस्करण की कीमत बिना ब्रांड की वस्तुओं की
	(ii) वस्तु का नविन	कम कीमत बड़े पैक के टूथपेस्ट की
	(iii) वस्तु की माप (Size)	कम कीमत
	(iv) सेवा के प्रयोग का समय (Peak and off peak period)	रेलवे द्वारा गर्मी के दिनों में भीड़ में छूट परिवहन सेवाओं द्वारा या होटलों द्वारा अवधि विशेष में कम दरें वसूल करना।

मूल्य विभेद की शर्तें (Conditions for Price Discrimination)

एकाधिकारी द्वारा मूल्य विवेचन कुछ विशेष परिस्थितियों के अन्तर्गत ही सम्भव है

(1) **माग की लोच मे विभिन्नता** (Differences in the elasticity of demand) विवेचनात्मक एकाधिकार उसी समय सफल हो सकता है जबकि ग्राहकों की माँग की लोच में विभिन्नता हो। जिन ग्राहकों की मांग लोचहीन है उनसे ऊँचा मूल्य तथा जिनकी मांग लोचपूर्ण है उनसे कम मूल्य लिया जाता है।

(2) **बाजारों का पृथक होना** (Separation of markets) जिन बाजारों में मूल्य विभेद किया जाए वे बाजार पृथक पृथक तथा एक दूसरे से दूर होने चाहिए अन्यथा ग्राहक सस्ते मूल्य वाले बाजार में जाकर वस्तु को क्रय करेंगे।

(3) **क्रय शक्ति मे विभिन्नता** (Difference in purchasing power) ग्राहकों की क्रय शक्ति में विभिन्नता होने पर मूल्य विभेद सम्भव होता है। एक डाक्टर धनी व्यक्ति से अधिक तथा गरीब व्यक्ति से कम शुल्क लेता है।

(4) **आर्डर पर विक्रय** (Sale on order) यदि वस्तु ग्राहकों के आदेश पर बेची जाती है तो विभिन्न ग्राहकों से अलग अलग दर से कीमत प्राप्त की जा सकती है क्योंकि ग्राहकों को कीमतों की जानकारी नहीं होती है।

(5) **समान सेवा** (Same service) यदि विभिन्न वस्तुओं के लिए एक ही प्रकार की सेवा की आवश्यकता है तो भी मूल्य विभेद सम्भव हो सकता है जैसे ग्राहकों द्वारा विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ रेलवे द्वारा भेजी जाती हैं परन्तु रेलवे द्वारा समान दूरी के लिए भी विभिन्न वस्तुओं पर रेलवे भाड़े की अलग अलग दरें वसूल की जाती हैं। अतः रेलवे सेवा की आवश्यकता विभिन्न वस्तुओं के लिए समान है परन्तु उन वस्तुओं के साथ रेलवे मूल्य विभेद करती है।

(6) **परिवहन व्यय** (Transport costs) वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचने में परिवहन-व्यय उठाना पड़ता है। इस व्यय के कारण भी विभिन्न बाजारों में एक ही वस्तु विभिन्न दरों पर बेची जाती है। परिवहन-व्यय के कारण बाजारों का एक प्रकार से भौगोलिक विभाजन हो जाता है।

(7) **सरकारी नियमन** (Government regulation) कभी कभी सरकार ऐसे प्रतिबन्ध लगाती है या वस्तुओं की पूर्ति के सम्बन्ध में ऐसे नियम बनाती है जिनके कारण एक ही प्रकार की वस्तु विभिन्न मूल्यों पर बेची जाती है।

मूल्य विभेद की कुछ अन्य शर्तें व्यक्तिगत सेवाएं (Direct personal services) उपभोक्ताओं की अनभिज्ञता (Ignorance of consumers) प्रयाग

की भिन्नता (Differentiated uses) प्रशुल्क सीमाएँ (Tariff Walls) आदि हैं जिनसे मूल्य विभेद हो सकता है।

प्रो० पीगू[1] ने सफल मूल्य विभेद के लिए दो शर्तों का उल्लेख किया है प्रथम वस्तु के अलग अलग विभिन्न बाजार हों तथा एक बाजार से सम्बन्धित माँग का स्थानान्तरण (Transfer) दूसरे बाजार से नहीं किया जा सकता हो। द्वितीय एक बाजार से सम्बन्धित पूर्ति का स्थानान्तरण दूसरे बाजार में नहीं हो सकता है। प्रत्यक्ष व्यक्तिगत सेवाओं का विक्रय इसका उदाहरण है जैसे डाक्टर की सेवा। यदि एक डाक्टर एक निर्धन व्यक्ति से कम शुल्क लेता है तो निर्धन व्यक्ति के लिए यह यह सम्भव नहीं है कि वह डाक्टर से प्राप्त लाभ (पूर्ति) को धनी व्यक्ति को हस्तान्तरित कर सके या बेच सके। अतः डाक्टर धनी व्यक्ति से अधिक शुल्क ले सकता है। अतः यहाँ पर मूल्य विभेद इसलिए सम्भव हो सका है कि पूर्ति का स्थानान्तरण सस्ते बाजार से मँहगे बाजार को नहीं हो सका है। इसी प्रकार इस उदाहरण में मूल्य विभेद इसलिये सम्भव हो सका है कि माँग का भी स्थानान्तरण सम्भव नहीं है जैसे धनी व्यक्ति डाक्टर की सेवा-सम्बन्धी अपनी माँग का भी स्थानान्तरण नहीं कर सकता है अर्थात् यह निर्धन बनकर अपनी माँग को निर्धन व्यक्ति की माँग नहीं बना सकता है।

विभेदात्मक एकाधिकार में मूल्य एवं उत्पादन निर्धारण
(Price and Output Determination Under Discriminating Monopoly)

1 **मूल्य निर्धारण विधि** एकाधिकारी का उद्देश्य एकाधिकारिक लाभ को अधिकतम करना होता है। विवेचनात्मक एकाधिकार के अन्तर्गत वह माँग की लोच के अनुसार विभिन्न बाजारों में विभिन्न दर पर कीमतें वसूल करेगा। हम यह जानते हैं कि जब बाजार एक ही होता है तब शुद्ध एकाधिकारी सीमान्त आय को सीमान्त लागत के बराबर कर अपना लाभ अधिकतम करता है। ***परन्तु विवेचनात्मक एकाधिकार की स्थिति में लाभ को अधिकतम किस प्रकार किया जाता है?*** क्या (1) प्रत्येक बाजार में सीमान्त आय को सीमान्त लागत के बराबर कर लाभ अधिकतम किया जाए? अथवा (2) सभी बाजारों की सीमान्त आय के कुल योग को कुल सीमान्त लागत के बराबर किया जाए? **श्रीमती जोन राबिंसन का मत है कि (1) कुल उत्पादन की सीमान्त लागत को प्रत्येक बाजार की सीमान्त आय के बराबर कर विवेचनात्मक एकाधिकारी लाभ को अधिकतम कर सकता है। अर्थात् प्रत्येक बाजार में उसकी सीमान्त आय समान होनी चाहिए परन्तु साथ ही साथ प्रत्येक बाजार में प्राप्त सीमान्त आय कुल उत्पादन की सीमान्त लागत के**

---

1 The first of these (conditions) *is that no unit of the commodity sold in* one market can be transferred to another market The second is that no unit of demand proper to one market can be transferred to another market

—*Pigou A C* The Economics of Welfare (1950) p 275

बराबर होनी चाहिए। कीमत प्रत्येक बाजार में माग के अनुसार होगी।[1] इस प्रकार विभेदात्मक एकाधिकार म उसे अधिकतम लाभ उस समय प्राप्त होता है जब उसकी कुल सीमान्त लागत उसकी कुल सीमान्त आय के बराबर हो तथा साथ ही दोनो बाजारो म उसे समान सीमान्त आय प्राप्त हो जो उसकी कुल सीमान्त लागत के बराबर हो। विभेदात्मक एकाधिकारी द्वारा कीमत निर्धारण की विधि का स्पष्टीकरण दो विधियो से किया जाता है—(i) जब एक बाजार म उसका एकाधिकार हो तथा दूसरे बाजार म उसे प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड रहा है तथा (ii) जब उसे प्रतिस्पर्धा का सामना किसी भी बाजार म नहीं करना पड रहा हो अर्थात् प्रत्येक बाजार म उसका एकाधिकार हो। इन दोनो दशाओ म कीमत निर्धारण विधि का स्पष्टीकरण किया गया है। (व्यवहार म एकाधिकारी की वस्तु के दो से ज्यादा बाजार हो सकते हैं, किन्तु हमने अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से दो ही बाजार मान लिये हैं)

1 सरक्षित देशी बाजार तथा प्रतिस्पर्द्धा पूर्ण विदेशी बाजार
(Protected Home Market and Competitive Foreign Market)

मूल्य विवेचन की एक विशेष परिस्थिति उस समय होती जबकि एकाधिकारी दो एसे बाजारो म अपनी वस्तु बेच रहा हो जिनम से एक म उसका एकाधिकार हो तथा दूसरे म उसे अन्य प्रतिस्पर्द्धियो का मुकाबला करना पड रहा हो। जैसे देश के अन्दर तो उसे एकाधिकार प्राप्त हो परन्तु विदेशो म उसे प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पडता हो। एसी परिस्थिति म सामान्यतया एकाधिकारी देश के अन्दर वस्तु का अधिक मूल्य तथा विदेश म कम मूल्य वसूल कर एकाधिकारिक लाभ को अधिकतम करता है।

मान लीजिए बाजार 1 सरक्षित देशी बाजार तथा बाजार 2 प्रतिस्पर्द्धी विदेशी बाजार है। विदेशी बाजार म पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा के कारण एकाधिकारी की कीमत सीमान्त आय के बराबर होगी (P=MR=MC)। किन्तु श्रीमती जोन राबिंसन के अनुसार एक एकाधिकारी अपने लाभ को अधिकतम करने हेतु कुल उत्पादन की सीमान्त लागत को प्रत्येक बाजार की सीमान्त आय के बराबर करेगा। एकाधिकारी बिक्री म इस प्रकार का समायोजन करेगा जिससे देशी बाजार की

---

1 The monopoly output under price discrimination is determined by the intersection of the monopolist's marginal cost curve with aggregate marginal revenue curve. This total output is made up of the amounts sold in the two markets in each of which marginal revenue is equal to *the marginal cost of the whole output*. The price in each market will be the demand price for the amount of output sold there.

—*Mrs Joan Robinson* op cit p 182

सीमान्त आय विदेशी बाजार की कीमत के बराबर हो क्योंकि ऐसा समायोजन करने से ही दोनों बाजारों की सामान्य आय समान होगी जिससे कुल उत्पादन की सीमान्त लागत विदेशी बाजार के मूल्य के बराबर हो सकेगा। इसका स्पष्टीकरण रेखाचित्र संख्या 119 में किया गया है।

चित्र सं० 119

इस रेखाचित्र में OX-अक्ष पर उत्पादन मात्रा तथा OY-अक्ष पर कीमत एवं लागत को प्रदर्शित किया गया है। कुल उत्पादन OQ_2 है। AR_1 तथा AR क्रमशः देशी तथा विदेशी बाजार में माँग-वक्र हैं। MR_1 तथा MR क्रमशः देशी तथा विदेशी बाजार में सम्बन्धित सीमान्त आय-वक्र हैं। AR एक पड़ी रेखा है क्योंकि पूर्ण प्रतियोगिता के कारण विदेशी बाजार में एकाधिकारी के लिए व्यक्तिगत माँग-वक्र पड़ी रेखा के रूप में होती है। AR_1 तथा MR_1 नीचे दाहिनी ओर गिरते हैं क्योंकि देशी बाजार में एकाधिकार की स्थिति है। OQ_1 मात्रा देशी बाजार तथा Q_1Q_2 मात्रा विदेशी बाजार में बेची जा रही है जिनकी कीमतें क्रमशः P_1Q_1 (देशी बाजार) तथा F_2Q_2 (विदेशी बाजार) हैं। चित्र से स्पष्ट है कि विदेशी बाजार में कीमत तथा सीमान्त आय दोनों बराबर हैं। (F_2Q_2 कीमत तथा सीमान्त आय है)। देशी बाजार में OQ_1 उत्पादन मात्रा ऐसी है कि उसकी सीमान्त आय विदेशी आय की कीमत के बराबर है। विदेशी बाजार में Q_1Q_2 मात्रा बेची [illegible] क्योंकि कुल उत्पादन मात्रा OQ_2 होने से OQ_1 मात्रा देशी बाजार में [illegible] से केवल Q_1Q_2 शेष रह जाती है अर्थात् विदेशी बाजार में बेची जाने वाली मात्रा $Q_1Q_2 = OQ_2 - OQ_1$।

यदि विदेशी बाजार में कीमत कम हो जाय तो एकाधिकारी कुल उत्पादन कम कर देगा। इससे सामान्य लागत कम होगी (Q_2 बिन्दु बायीं तरफ खिसक जाएगा)। देशी बाजार में बिक्री की मात्रा बढ़ जाएगी (Q_1 बिन्दु दाहिनी

तरफ खिसक जाएगा) । इस प्रकार विदेशी बाजार में बची जाने वाली मात्रा कम हो जाएगी । यदि विदेशी बाजार में कीमत इतनी अधिक गिर जाए कि MR_1 तथा MC जहाँ एक दूसरे को काटते हैं उससे भी कम कीमत प्राप्त होने लगे तो एकाधिकारी विदेशी बाजार में बिक्री बन्द कर देगा ।

2 जब सभी बाजारों में उसका एकाधिकार हो

विक्रेता का जब सभी बाजारों में एकाधिकार हो तो निम्न विधि द्वारा कीमत निर्धारित की जाएगी । ऐसी स्थिति में एकाधिकारी अपने लाभ को अधिकतम निम्न प्रकार से करेगा

(1) सबसे पहले एकाधिकारी उत्पादन की कुल मात्रा का निर्धारण वहाँ करेगा जहाँ समस्त बाजारों की सम्मिलित समग्र सीमान्त आय उसकी कुल उत्पादन सीमान्त लागत (MC) के बराबर हो जाय जैसा अग्रिम चित्र 120 (C) में R बिन्दु पर बताया गया है । एकाधिकारी विभिन्न बाजारों में वस्तु की कुल OQL मात्रा बेचेगा ।

(2) कुल उत्पादन मात्रा निर्धारित कर लेने के बाद एकाधिकारी द्वारा नाना बाजारों या समस्त बाजारों में से कुल मात्रा में से प्रत्येक में बिक्री की जाने वाली मात्रा इस प्रकार समायोजित की जायगी कि प्रत्येक बाजार में कुल बिक्री की मात्रा के अनुरूप सीमान्त आय कुल उत्पादन की सीमान्त लागत के बराबर हो जाय अर्थात् $MR_1 = MR_2 = MC$ जैसा कि चित्र में A तथा B में क्रमशः बिन्दु R_1 तथा R_1 में बतलाया गया है ।

जब बाजारों में एकाधिकार की स्थिति हो तो कीमत निर्धारण विधि का स्पष्टीकरण चित्र सं० 110 द्वारा किया जा सकता है ।

चित्र A तथा B एक एकाधिकारिक फर्म की दो बाजारों (A तथा B) में औसत और सीमान्त आगम वक्र दिखलाते हैं । इन बाजारों में अलग अलग कीमतें
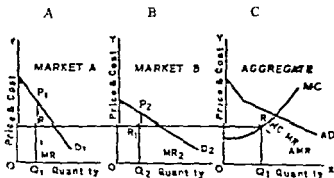
चित्र सं० 120

बिक्री कम होने पर आय में जो हानि होगी वह लोचदार माँग वाले बाजार (B) में एक (सीमांत) इकाई की बिक्री की वृद्धि से होने वाली आय में जो वृद्धि होती है उससे कम होगी। जब दोनों बाजार में औसत आय समान होती है तब उस बाजार में जहाँ माँग की लोच अधिक ऊँची होती है सीमांत आय अपेक्षाकृत अधिक होती है। बाजार B में जहाँ लोच ऊँची है बाजार A की अपेक्षा सीमांत आय अधिक होगी क्योंकि दोनों में औसत आय प्रारम्भ में समान है।

मूल्य विभेद का औचित्य
(Justification of Price Discrimination)

आर्थिक या सामान्य-जीवन में किसी भी प्रकार का विवेचन सामान्यतः उचित नहीं माना जाता है। मूल्य विवेचन उचित है या नहीं ? यह इस बात पर निर्भर है कि मूल्य विवेचन किन परिस्थितियों में किया जा रहा है तथा किस उद्देश्य से किया जा रहा है।

(1) **सार्वजनिक उपयोगी सेवाओं में मूल्यविभेद उचित** मूल्य विवेचन द्वारा शुद्ध एकाधिकार की तुलना में अधिक लाभ प्राप्त किया जा सकता है। यह सम्भव है कि यदि मूल्य विवेचन द्वारा लाभ न प्राप्त किया जाए तो उत्पादन या सेवा बन्द कर दी जाए। उदाहरणार्थ यदि रेलवे या बिजली कम्पनी (जो सार्वजनिक सेवा प्रदान करती है) मूल्य विवेचन की नीति न अपनाए तो उसे घाटा होगा तथा उत्पादन बन्द करना पड़ेगा। अतः ऐसी सेवाओं को जारी रखने के लिए मूल्य विवेचन पूर्णतया उचित है।

(2) **सामाजिक न्याय की दृष्टि से उचित** यदि दो बाजारों में मूल्य विवेचन किया जा रहा है तो यह बतलाना कठिन है कि मूल्य विवेचन उचित है या अनुचित। यदि मूल्य विवेचन द्वारा निर्धनों को कम मूल्य तथा धनी व्यक्तियों को अधिक मूल्य पर वस्तुएं बेची जा रही हैं तो सामाजिक न्याय की दृष्टि से मूल्य विवेचन उचित है।

(3) **निर्यात व्यापार बढ़ाने की दृष्टि से उपयुक्त** यदि निर्यात व्यापार में वृद्धि की दृष्टि से विदेशों में कम मूल्य पर तथा देश में अधिक मूल्य पर वस्तुएँ बेचा जा रहा है तथा देश में बहुत अधिक ऊँचा मूल्य वसूल नहीं किया जा रहा है तो मूल्य विवेचन उचित है।

(4) **कुल आर्थिक कल्याण की दृष्टि से उचित** यदि मूल्य विवेचन द्वारा देश के कुल उत्पादन में अपेक्षाकृत अधिक वृद्धि हो रही है तो देश के कुल आर्थिक कल्याण की दृष्टि से मूल्य विवेचन उचित है। इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि मूल्य विवेचन द्वारा उत्पादन-साधनों का अनुचित वितरण (Mal-distribution) होता है अतः इस दृष्टि से मूल्य विवेचन हानिप्रद है।

मूल्य विभेद से कुछ दशाओं मे समाज को हानि

इन विभेद से समाज को कुछ दशाओं म हानि भी होती है।

(i) यदि एकाधिकारी देशी बाजार म वस्तुओं की कीमत ऊची रख कर विदेशो म सस्ती बचने पर देश के उपभोक्ताओं को हानि होती है।

(ii) मूल्य विभेद म राशिपातन की नीति स अल्पविकसित राष्ट्रो म उद्योग के विकास को हतोत्साहित करता है।

(iii) जब एकाधिकारी अपने लाभ को अधिकतम करन क लिए वस्तु की कम मात्रा बचता है तथा कीमतें ऊची रखता है इसस सतुष्टि की हानि होती है। मूल्य विभेद द्वारा उत्पादन-साधनो का अनुचित वितरण होता है। इसीलिए कुल आर्थिक कल्याण म कमी आती है।

प्रश्न व सकेत

1 विभेदात्मक एकाधिकार का क्या अर्थ है ? एकाधिकार म मूल्य विभेद कब सम्भव होता है ? क्या कीमत विभेद की नीति औचित्यपूर्ण है ?

What do you understand by discriminating monopoly ? when is price discrimination possible ? Is price-discrimination jus ified ?

[सकेत—सवप्रथम मूल्य विभेद का अर्थ बतलाइए। तत्पश्चात् मूल्य विभेद की आवश्यक शर्तें लिखिए तथा अन्त म इसका औचित्य बतलाइए।)

2 विभेदात्मक एकाधिकार म मूल्य निर्धारण स्पष्ट करिए।

Explain the determination of price under discriminating moropoly

[सकेत—म ाप म मूल्य विभेद का अर्थ लिख कर रेखाचित्र की सहायता से मूल्य निर्धारण को स्पष्ट कीजिए।

37

एकाधिकृत प्रतिस्पर्द्धा तथा अल्पाधिकार अथवा अपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा मूल्य व उत्पादन निर्धारण

(Monopolistic Competition and Oligopoly or Imperfect Competition Price and Output Determination)

The terms monopolistic and imperfect competition describe a situation similar to perfect competition with the single important difference that each producer sells a product that is somewhat differentiated from that sold by his competitors

—*Lipsey Richard G*

अब तक हमने बाजार की दो चरम सीमाओं—पूर्ण स्पर्द्धा तथा एकाधिकार—के विषय में अध्ययन किया है। इस अध्याय में संक्षेप में हम उन अवस्थाओं का अध्ययन करेंगे जो इन दोनों के बीच पाई जाती हैं। व्यावहारिक जगत में न तो पूर्ण स्पर्धा पाई जाती है और न शुद्ध एकाधिकार। वस्तुतः इन दोनों के बीच की अवस्थाएँ पाई जाती हैं। इन बीच की अवस्थाओं को मध्यम बाजार की अवस्थाएँ (Intermediate Market Situations) की संज्ञा दी जा सकती है। वस्तुतः हम किसी एक स्थिति को अपूर्ण स्पर्धा की स्थिति नहीं कह सकते हैं। अपूर्ण स्पर्धा की कई स्थितियाँ होती हैं। अपूर्ण स्पर्धा की सभी अवस्थाओं के वर्णन को इस पुस्तक की अध्ययन सामग्री नहीं बनाया जा सकता अतः यहाँ पर हम केवल अपूर्ण प्रतिस्पर्धा के दो रूपों एकाधिकृत प्रतिस्पर्धा (Monopolistic Competition) तथा अल्प विक्रेताधिकार या अल्पाधिकार (Oligopoly) के अन्तर्गत मूल्य एवं उत्पादन निर्धारण का अध्ययन करेंगे।

1 एकाधिकृत प्रतिस्पर्धा
(Monopolistic Competition)

1 प्रथम 'एकाधिकृत प्रतिस्पर्धा' शब्द के प्रणेता चैम्बरलिन थे। उन्होंने इस शब्द का प्रयोग बाजार की उन अवस्थाओं के लिए किया है—प्रथम वस्तु ...

उत्पादक प्रवेश की स्वतन्त्रता के साथ, तथा द्वितीय कुछ उत्पादक प्रवेश की सीमित स्वतन्त्रता के साथ। परन्तु आजकल एकाधिकृत प्रतिस्पर्द्धा का अर्थ प्रथम अवस्था से है तथा द्वितीय का अभिप्राय अल्पाधिकार (Oligopoly) से है। **एकाधिकृत प्रतिस्पर्द्धा का अभिप्राय उस अवस्था से है जिसमे बहुत से विक्रेता होते हैं परन्तु उनकी वस्तुओं मे इतना विभेद (Differentiation) पाया जाता है कि वे एक दूसरे की अपूर्ण स्थानापन्न (Imperfect Substitutes) सिद्ध होती हैं।** प्रत्येक विक्रेता या उत्पादक का अपनी वस्तु पर पूर्ण एकाधिकार होता है परन्तु उसे लगभग अपूर्ण स्थानापन्न वस्तुओं से प्रतिस्पर्द्धा करनी पडती है। अतः प्रत्येक उत्पादक एकाधिकारी होता है परन्तु साथ ही साथ उसे प्रतिस्पर्द्धा का भी सामना करना पडता है। उदाहरण के लिए विभिन्न ब्राड की कारो तथा सिगरटो के बीच जो स्पर्द्धा होती है उसे एकाधिकृत स्पर्द्धा कह सकते हैं।

स्टोनियर तथा हेग के शब्दो मे अपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा की दशा मे अधिकाश उत्पादको की वस्तुएँ उनके प्रतिद्वन्द्वियो की वस्तुओ से बहुत मिलती जुलती होती हैं। परिणामस्वरूप इन उत्पादको को हमेशा इस बात पर ध्यान देना पडता है कि प्रतिद्वन्द्वियो की क्रियाएँ उनके लाभ को कैसे प्रभावित करेंगी। आर्थिक सिद्धान्त मे इस तरह की स्थिति का विश्लेषण एकाधिकृत प्रतिस्पर्द्धा (Monopolistic Competition) अथवा समूह सतुलन (Group Equilibrium) के अन्तर्गत किया जाता है। इसमे एक-सी वस्तुएँ बनाने वाली अनेक फर्मों मे प्रतिस्पर्द्धा पूर्ण न होकर तीव्र होती है।

प्रो॰ रिचार्ड एच॰ लेफ्टविच ने अपनी पुस्तक मे एकाधिकृत प्रतिस्पर्द्धा की परिभाषा देते हुए कहा है कि एकाधिकृत प्रतिस्पर्द्धा के बाजार मे एक विशेष प्रकार की वस्तु के अनेक विक्रेता होते हैं और प्रत्येक विक्रेता की वस्तु किसी न किसी रूप मे दूसरे विक्रेता की वस्तु से अलग होती है। जब विक्रेताओ की संख्या इतनी ज्यादा होती है कि एक विक्रेता के कार्यों का भी उस पर कोई स्पष्ट प्रभाव नही पडता है तो यह उद्योग एकाधिकृत प्रतिस्पर्द्धा का उद्योग बन जाता है।

एकाधिकृत प्रतिस्पर्द्धा की विशेषताएँ

(Characteristics of Monopolistic Competition)

एकाधिकृत प्रतिस्पर्द्धा की प्रमुख विशेषताएँ निम्न होती हैं

(i) फर्मों की संख्या का अधिक होना (ii) उद्योग मे किसी भी फर्म के प्रवेश की स्वतन्त्रता, (iii) सभी के द्वारा एक ही प्रकार की वस्तु का उत्पादन करना परन्तु वस्तुओ का समान न होना (iv) वस्तु विभेद का पाया जाना (v) फर्म का अपनी वस्तु के उत्पादन पर एकाधिकार (vi) विभिन्न फर्मों द्वारा उत्पादित एक ही प्रकार की वस्तुओ मे प्रतिस्पर्द्धा का पाया जाना (vii) क्रेता

विभिन्न विक्रेताओं में से किसी एक की वस्तु को अधिक पसन्द कर सकते हैं। यह पसन्दगी वास्तविक अथवा काल्पनिक आधार पर हो सकती है तथा (viii) क्रेताओं की पसन्द के आधार पर *एकाधिकृत प्रतिस्पर्द्धी अपने प्रतिस्पर्द्धी की तुलना में* अधिक कीमत ले सकता है परन्तु अधिक कीमत की सीमा स्थानापन्न वस्तुओं द्वारा निश्चित होती है। अत: एकाधिकृत प्रतिस्पर्द्धा एकाधिकृत उसी बिन्दु तक है जहाँ स्थानापन्न वस्तुओं का प्रयोग प्रारम्भ होता है तथा इस बिन्दु के पश्चात् वे प्रतिस्पर्द्धी हो जाती हैं।[1]

पूर्ण स्पर्द्धा में सम रूप वस्तु एक ही होती है **एकाधिकृत प्रतिस्पर्द्धा** में वस्तुओं में अन्तर पाया जाता है। परन्तु वस्तुएं ऐसी भी नहीं होती हैं जो एक दूसरे से पूर्णतया भिन्न हो। वस्तु एक ही प्रकार की होती है परन्तु उसमें कुछ भिन्नता पाई जाती है। वस्तुएँ समान (Identical) या लगभग समान होते हुए भी ट्रेड मार्क भिन्न *पैकिंग या भिन्न ब्राण्ड के प्रयोग से अलग तथा भिन्न प्रतीत होती हैं।* वस्तु की बनावट से भी कुछ भिन्नता दिखलाने का प्रयत्न किया जाता है। वास्तव में न तो वस्तुएं समरूप होती हैं और न एकाधिकार की तरह दूर की स्थानापन्न। एकाधिकृत प्रतिस्पर्द्धा में कई *एकाधिकारी पाये जाते हैं जो एक दूसरे के तीव्र प्रतिस्पर्द्धी होते* हैं। उनमें गम्भीर प्रतिस्पर्द्धा होती है।

वस्तु विभेद (Product Differentiation) वस्तु विभेद एकाधिकृत प्रतिस्पर्द्धा का मूल आधार है अर्थात् प्रत्येक फर्म की वस्तु किसी न किसी प्रकार अन्य फर्मों की वस्तुओं से भिन्न होती है। सभी फर्मों द्वारा उत्पादित वस्तुएं अधिकांश अंशों में एक दूसरे की स्थानापन्न होती है परन्तु वे एक जैसी नहीं होती हैं। **यदि वस्तु विभेद नहीं हो अर्थात वस्तुओं में एकरूपता हो तो एकाधिकृत प्रतिस्पर्द्धा पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा का रूप ग्रहण कर लेगी। इसी प्रकार यदि पूर्ण वस्तु विभेद हो अर्थात वस्तुएं एक दूसरे की स्थानापन्न** (Substitutes) **न हों तो एकाधिकृत प्रतिस्पर्द्धा एकाधिकार का रूप ग्रहण कर लेगी।**

एकाधिकृत प्रतिस्पर्द्धी वस्तु विभेद के विभिन्न तरीके अपनाता है। यह विभेद (i) **वस्तु की विशेषताओं** पर आधारित हो सकता है जैसे ट्रेडमार्क, पैकिंग में विभिन्नता रंग तथा रूप में विभिन्नता डिजाइन का अलग होना आदि (ii) वस्तु *विभेद* **विक्रय की दशाओं** *पर भी आधारित हो सकता है जैसे विक्रय-स्थान का* सुविधाजनक होना विक्रेता की ख्याति विक्रय की आकर्षक शर्तें—जैसे वस्तु की मरम्मत की सुविधा खराब होने की अवस्था में वस्तु की वापसी साज-सुविधा वस्तु को ग्राहक के घर पर पहुंचाने की सुविधा आदि (iii) विज्ञापन तथा अन्य विक्रय

---

1 *Monopolistic competition is........monopolistic only up to the point where substitution takes place and competitive only beyond that point*
—*Clair Wilcox*

बढि विधियो द्वारा भी वस्तु विभेद गरान्नतापूर्वक किया जाता है। मुख्य रूप म वस्तु विभेद की दो विधियाँ हैं (1) वस्तु विभिन्नता (Product Variation) तथा (2) विक्रय विस्तार (Sales Promotion)।

एकाधिकृत प्रतिस्पर्द्धा क अन्तर्गत मांग

हम यह जानते हैं कि पूर्ण-स्पर्द्धा क अन्तर्गत वस्तु की माँग पूर्णतया लोचदार होती है, अर्थात् वर्तमान कीमत पर फर्म जितनी मात्रा चाहे बेच सकती है। परन्तु एकाधिकृत स्पर्द्धा के अन्तर्गत माँग—एक फर्म की माग-पूर्ण लोचदार नहीं होती है। यदि फर्म अधिक मात्रा बेचना चाहती है तो उसे कीमत कम करनी पडेगी ताकि दूसरी फर्मों के ग्राहकों को आकर्षित किया जा सके। इस प्रकार विक्रेता का कीमत पर अधिकार अपेक्षाकृत कम होता है। उसकी वस्तु की माँग-वक्र का ढाल (slope) नीचे की ओर होता है जो यह प्रकट करता है कि कम मूल्य पर ही वस्तु की अधिक मात्रा बेची जा सकती है स्थानापन्न वस्तुओं के उपलब्ध होने के कारण भी कीमत कम रखकर ही अधिक मात्रा बेची जा सकती है।

एकाधिकृत प्रतिस्पर्द्धा के अन्तर्गत पूर्ति

(1) पूर्ण स्पर्द्धा के अन्तर्गत उत्पादक को उत्पादन-लागत ही वहन करना पडता है परन्तु एकाधिकृत स्पर्द्धा में उत्पादन-लागत के साथ ही साथ 'विक्रय-सम्बन्धी लागतें (selling costs) को भी वहन करना पडता है (11) पूर्ण स्पर्द्धा म दीर्घ काल म असंख्य अनुकूलतम फर्में होती हैं जो न्यूनतम उत्पादन-लागत पर उत्पादन करती हैं परन्तु एकाधिकृत स्पर्द्धा के अन्तर्गत दीर्घकाल में भी फर्में अनुकूलतम से छोटे आकार (less than optimum) की होती हैं।

एकाधिकृत प्रतिस्पर्द्धा में मूल्य एव उत्पादन निर्धारण
(Price and Output determination under Monopolistic Competition)

एकाधिकृत प्रतिस्पर्द्धा म साम्य अथवा मूल्य एव उत्पादन मात्रा निर्धारण ठीक उन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर होता है जिस प्रकार से शुद्ध प्रतियोगिता व शुद्ध एकाधिकार म मूल्य व उत्पादन निर्धारण का होता है। इसम भी दो उपाय (approaches) अपनाये जा सकते हैं (1) कुल आय तथा कुल लागत रखा रीति तथा (11) सीमान्त विश्लेषण रीति। प्रथम रीति एक अनुपयुक्त रीति मानी जाती है जबकि द्वितीय रीति वैज्ञानिक, उचित एव सरल रीति है।

फर्म का अल्पकाल में कीमत व उत्पादन निर्धारण (Price and output determination in the short period of the firm) एकाधिकृत प्रतिस्पर्द्धी की माँग तथा पूर्ति का हम अध्ययन कर चुके हैं। उसका माँग-वक्र नीचे झुका हुआ होता है (अर्थात् उसका औसत आय-वक्र नीचे झुका हुआ होता है)। फर्म अनुकूलतम आकार से छोटी होती है। फर्म अपना विस्तार उस समय भी रोक देती है जबकि उसकी औसत लागत घट रही हो। इसका कारण यह है कि फर्म सन्तुलन

की स्थिति में उसी समय हो जाएगी जिस समय सीमांत लागत तथा सीमांत आय समान हो जाएगी (MR = MC)। फर्म की औसत आय अथवा कीमत सीमांत आय से कम होगी। (Price is less than marginal revenue)। यदि फर्म इस बिन्दु के पश्चात् भी (where MR = MC) बड़े पैमाने के उत्पादन से लाभ उठाने के लिए अपना विस्तार करती जाती है तो उसकी सीमांत आय ऋणात्मक (Negative) हो जाएगी। चूँकि सन्तुलन की स्थिति उस समय होती है जबकि सीमांत आय सीमांत लागत के बराबर हो (Profit is maximum where MR = MC)। अतः इस बिन्दु के पश्चात् एकाधिकृत स्पर्द्धा फर्म अपना विस्तार रोक देगी।

एकाधिकृत प्रतिस्पर्द्धा के अन्तर्गत फर्म को विक्रय-व्यय भी वहन करना पड़ता है। फर्म बिक्री में वृद्धि केवल मूल्य घटाकर ही नहीं बल्कि विज्ञापन आदि द्वारा भी करती है। अतः फर्म विक्रय-व्यय भी कीमत द्वारा वसूल करना चाहती है। इस प्रकार फर्म जिस शुद्ध आय (Net Revenue) को अधिकतम करना चाहती है उसे निम्नलिखित प्रकार प्रकट किया जा सकता है

[कीमत × उत्पादन] − [उत्पादन लागत + विक्रय व्यय]

उपरोक्त दोनों के अन्तर को फर्म अधिकतम करना चाहती है। अतः फर्म की सन्तुलन स्थिति का अध्ययन करते समय विक्रय-व्यय का भी ध्यान रखना होगा। विक्रय-व्यय को सीमांत तथा औसत लागत में सम्मिलित करना पड़ेगा। इससे कठिनाई बढ़ जाती है। एक सामान्य नियम यह हो सकता है कि फर्म विक्रय-व्यय में वृद्धि को उस समय रोक देगा जबकि अतिरिक्त विक्रय व्यय के कारण प्राप्त अतिरिक्त आय अतिरिक्त विक्रय व्यय के बराबर हो जाए। जैसे दस रुपया विक्रय व्यय करने में यदि अतिरिक्त आय भी दस रुपया होती है तो फर्म इसके बाद विक्रय व्यय में वृद्धि नहीं करेगी। अतः यह कहा जा सकता है कि फर्म सन्तुलन की स्थिति में उस समय होगी जबकि उत्पादन लागत तथा विक्रय लागत को सम्मिलित करें

सीमांत आय = सीमांत लागत MR = MC के हो जाए।

इस प्रकार में एकाधिकृत प्रतिस्पर्द्धा की स्थिति में फर्म असामान्य आर्थिक लाभ कमाती हुई सामान्य लाभ अथवा न लाभ तथा न हानि की स्थिति में अथवा न्यूनतम हानि वहन करती हुई हो सकता है।

अल्पकाल में यदि बाजार की स्थिति फर्म के अनुकूल है अर्थात् वस्तु का मूल्य वस्तु की औसत लागत से अधिक है तो फर्म को असामान्य लाभ प्राप्त होता है। फर्म की इस स्थिति को रेखाचित्र 121 में स्पष्ट किया गया है।

इस रेखाचित्र में AR फर्म का औसत आय वक्र तथा MR फर्म का सीमांत आगम वक्र है। इसी प्रकार SAC फर्म का औसत लागत तथा SMC फर्म का सीमांत लागत वक्र है। फर्म का E साम्य बिन्दु है क्योंकि इस बिन्दु पर फर्म की

सीमान्त लागत (MC) व फर्म की सीमान्त आय (MR) के बराबर है। इस साम्य बिन्दु पर फर्म OQ मात्रा का उत्पादन एवं विक्रय करती है जिसकी कीमत या
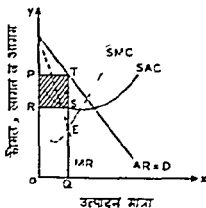
चित्र सं० 121

औसत आय QT या OP है। फर्म की औसत लागत QS या OP है। चूंकि साम्य बिन्दु पर AP > AC है। अतः फर्म को प्रति इकाई ST या PP अतिरिक्त लाभ या RSTP के बराबर कुल लाभ प्राप्त हो रहा है।

यदि अल्पकाल में वस्तु की कीमत न तो फर्म के लिए अनुकूल और न ही प्रतिकूल हो तो फर्म साम्य की स्थिति में सामान्य लाभ या न लाभ न हानि की स्थिति में रहती है। फर्म की इस स्थिति को रेखाचित्र 122 में दिखाया गया है।
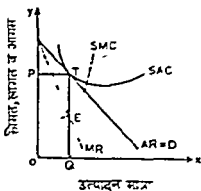
चित्र सं० 122

रेखाचित्र में फर्म E बिन्दु पर सन्तुलन में है क्योंकि इस बिन्दु पर SMC तथा MR दोनों परस्पर बराबर हैं। साम्य की इस अवस्था में फर्म OQ मात्रा का

उत्पादन एवं विक्रय करती है। इसकी कीमत या औसत आय QT अथवा OP है। फर्म की औसत लागत भी QT या OP है। चूंकि इस साम्य बिन्दु पर AR=AC के है। अतः फर्म को इस स्थिति में न लाभ मिल रहा है और न हानि। इस प्रकार फर्म का सामान्य लाभ ही प्राप्त हो रहा है।

यदि अल्पकाल में वस्तु का मूल्य फर्म के प्रतिकूल है तो साम्यावस्था में फर्म की औसत लागत फर्म की औसत आय से अधिक होती है तथा फर्म को हानि प्राप्त होती है। फर्म की हानि की इस स्थिति को रेखाचित्र 123 में प्रदर्शित किया गया है।
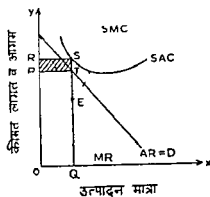
चित्र सं० 123

इस रेखाचित्र में फर्म E बिन्दु पर सतुलन में है। फर्म वस्तु की OQ मात्रा का उत्पादन एवं विक्रय करती है। फर्म की कीमत या औसत आय QT या OP है तथा औसत लागत QS या OR है। चूंकि इस साम्य बिन्दु पर AR<AC से। अतः फर्म का प्रति इकाई औसत हानि TS या PR के बराबर अथवा PTSR के बराबर कुल हानि मिल रही है। हानि की स्थिति में भी फर्म उत्पादन तब तक चालू रखगी जब तक कि फर्म को कम से कम औसत परिवर्तनशील लागत (AVC) के बराबर कीमत मिलती रहे। यदि मूल्य अल्पकाल में इस लागत से भी नीचे चला जाता है तो उत्पादन बन्द कर दिया जायगा।

अल्पकाल में एकाधिकृत प्रतिस्पर्द्धा में सभी फर्में न तो समान मात्रा में उत्पादन करती हैं न ही सभी फर्में समान मूल्य वसूल करती हैं। विभिन्न फर्मों में उत्पादन मात्रा तथा कीमत भी अलग अलग हो सकती है। आर० एच० लेफ्टविच ने भी फर्म के अल्पकालीन सतुलन के बारे में कहा है "अल्पकालीन साम्य का यह आशय नहीं है कि सभी फर्में समान मूल्य वसूल करती हैं। कीमतों की समानता की आशा नहीं की जायगी क्योंकि उद्योग की सभी फर्में समरूप वस्तुओं का उत्पादन

नहीं करना है। प्रत्येक फर्म अपना लाभ अधिकतम प्राप्त करने की स्थिति ढूँढ लेती है। प्रत्येक अपनी सीमात लागत को अपनी ही सीमान्त आय के बराबर करती है किन्तु विभिन्न उत्पादकों द्वारा ली जाने वाली कीमतें एवं दूसरी फर्मों से बहुत अधिक भिन्न नही होती हैं। अल्पकालीन साम्य में हम यह तो आशा कर सकते हैं कि मूल्य परस्पर समीप हों या निकटस्थ हों किन्तु यह आवश्यक नहीं कि वे एक दूसरे के समान ही हों। हालांकि प्रत्येक उत्पादक को अपनी कीमत निर्धारण करने में अपने कुछ निर्णय लेने के भी अवसर मिलते हैं फिर भी उसके द्वारा उत्पन्न की जाने वाली वस्तु के अनेक निकट के स्थानापन्न पदार्थों के प्रतिबंधक प्रभाव उस पर पड़ते रहते हैं।'

फर्म का दीर्घकाल में मूल्य एवं उत्पादन निर्धारण
(Price and Output determination in long period of the firm)

दीर्घकाल में फर्म अधि-लाभ नहीं प्राप्त कर सकती है क्योंकि फर्मों के प्रवेश का स्वतन्त्रता होती है। अत अधि लाभ की आशा में अन्य फर्में उद्योग में प्रवेश करेंगी। नई फर्मों के प्रवेश से कुल माँग विभिन्न फर्मों में बँट जायगी अत प्रत्येक फर्म को बाजार में माँग का कम हिस्सा प्राप्त होगा। अत एक दिये हुए मूल्य पर फर्में नई फर्मों के प्रवेश से पूर्व की स्थिति में कम मात्रा में विक्रय करेंगी। अत फर्म का माँग वक्र बायी तरफ खिसकेगा अत माँग में कमी होती जायेगी। यह प्रक्रिया उस समय तक चलेगी जब तक कि अधि लाभ समाप्त न हो जाए तथा फलस्वरूप नई फर्मों का प्रवेश बन्द न हो जाय। फर्मों की सीमात आय भी कम होगी। नई फर्मों के प्रवेश से कुल पूर्ति में वृद्धि होगी अत कीमत नीचे गिरेगी।

फर्मों के प्रवेश का प्रभाव उत्पादन लागत पर भी पड़ेगा। यदि उद्योग में लागत-वृद्धि नियम लागू हो रहा है तो नई फर्मों के प्रवेश से उत्पादन साधनों की कीमतें बढ़ेंगी। फलस्वरूप कीमत ऊंची उठेगी। लागत समता नियम की अवस्था में कीमत पर कोई प्रभाव नही पड़ेगा। सामान्यतया नई फर्मों के प्रवेश की स्थिति में, 'लागत-वृद्धि नियम' लागू होता है अत फर्मों की उत्पादन लागत में वृद्धि होती है। साथ ही साथ माँग में बँट जाने के कारण व्यक्तिगत रूप से प्रत्येक फर्म की माँग कम हो जाती है। फर्मों का प्रवेश उस समय तक होता रहता है जब तक कि अधिलाभ समाप्त न हो जाय। इस प्रकार दीर्घकाल में फर्मों को केवल सामान्य लाभ प्राप्त होगा। सामान्य लाभ उस अवस्था में होता है जबकि औसत आय लागत के बराबर हो। अत दीर्घकाल में फर्म सन्तुलन की अवस्था में उस समय होगी जबकि।

सीमात आय (MR) = सीमात लागत (MC) के तथा
कीमत = औसत आय = औसत लागत (P=AR=AC)।

इस स्थिति को रेखाचित्र 124 में दिखाया गया है। चित्र में फर्म का दीर्घकाल में साम्य E बिन्दु पर प्रकट हो रहा है क्योंकि यहाँ MR=MC है। अत फर्म

OQ मात्रा का उत्पादन तथा विक्रय करेगी और QT या OP कीमत रखेगी। इस कीमत पर एकाधिकृत प्रतिस्पर्द्धा की दोहरी शर्त पूरी होती है अर्थात् इस कीमत
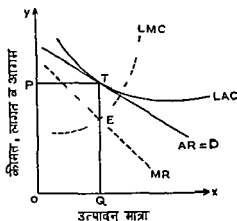
चित्र स 124

पर जहाँ MR=MC है वहीं AR=AC भी है। इस प्रकार दीर्घकालीन सतुलन स्थिति म MR=MC=AR=AC होती है। अन्त फर्म को दीर्घकाल म एकाधिकृत प्रतिस्पर्द्धा की स्थिति म सामान्य लाभ ही प्राप्त होना है।

उद्योग की साम्य अवस्था अथवा सामूहिक सतुलन स्थिति
(Equilibrium of the Industry or Group Equilibrium)

एकाधिकारिक प्रतिस्पर्द्धा के अन्तर्गत वस्तु विभेद पाया जाता है अत यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या उद्योग शब्द का प्रयोग ऐसी स्थिति म उपयुक्त है? हम यह जानत हैं कि इस अवस्था म वस्तु विभेद होने पर भी वस्तुए एक दूसर की स्थानापन्न होती हैं। हिन्द, हरक्यूलिस, ईस्टन स्टार आदि साइकिलो म अन्तर हो सकता है परन्तु उद्योग विभिन्न उत्पादक-समूहो का एक वृहद् समूह होता है। इसी कारण एकाधिकारिक स्पर्द्धा की स्थिति म उद्योग से सतुलन को सामूहिक या समूह सतुलन भी कहते हैं। प्रो० चेम्बरलिन ने भी समूह शब्द का ही प्रयोग करके उद्योग के सतुलन को समूह-सतुलन की सज्ञा दी है। इस समूह म प्रत्येक उत्पादक एकाधिकारी है (जहाँ तक उसकी वस्तु का सम्बन्ध है) साथ ही साथ उसे सीमित प्रतिस्पर्द्धा का भी सामना करना पडता है। 'समूह सतुलन' की स्थिति का वर्णन अत्यन्त ही कठिन है। वस्तुओ म विभिन्नता कीमतों तथा उत्पादन लागतो म विभिन्नता उपभोक्ताओ की माँग म विभिन्नता आदि कारणो से कठिनाई उपस्थित होती है। फिर भी हम उद्योग-सतुलन की कल्पना कर सकते हैं।

उद्योग की सतुलन स्थिति वह स्थिति है जिसम फर्मों की सख्या म परिवतन न हा तथा फर्मों को सामान्य लाभ प्राप्त हो रहा हो। पूण स्पर्द्धा की भाति एकाधिकारिक स्पर्द्धा की स्थिति मे भी उद्योग सतुलन की स्थिति में उस समय होगा जबकि—(i) फर्मों की सख्या निश्चित होगी (ii) कीमत औसत उत्पादन लागत के बराबर होगी (iii) फर्मों को केवल सामान्य लाभ प्राप्त होगा।

समूह सतुलन को रेखाचित्र 125 द्वारा प्रदर्शित किया गया है।

चित्र म० 125

इस रेखाचित्र मे समूह की प्रत्यक फम की सतुलन की स्थिति को प्रकट किया गया है। LMC फम का दीघकालीन सीमात लागत तथा LAC फम का दीघ कालीन सीमात आय वक्र है। AR फम का औसत आय तथा MR फम का सीमात आय वक्र है। E साम्य बिन्दु है क्योंकि यहाँ LMC न MR को काटा है। इस पर प्रत्यक फम OQ मात्रा का उत्पादन करती है तथा इस OP या QT कीमत पर विक्रय करती है। इस बिन्दु पर फम की औसत लागत भी QT या OP ही है। अत फर्मों को सामान्य लाभ मिल रहा है।

एकाधिकृत प्रतिस्पर्द्धा का साम्य पूण स्पर्द्धा के साम्य से भिन्न है जो इस प्रकार हैं

(1) पूण स्पर्द्धा के अन्तगत दीघकाल म प्रत्यक फम अनुकूलतम आकार की होगी तथा न्यूनतम उत्पादन लागत के बराबर होगी। परन्तु एकाधिकारिक स्पर्द्धा के अन्तगत प्रत्येक फम न्यूनतम उत्पादन लागत बिन्दु पर पहुँचने के पूव ही सतुलन की स्थिति म होगी जसा कि चित्र सख्या 125 से स्पष्ट है। उद्योग की सतुलन स्थिति म कीमत औसत उत्पादन व्यय के बराबर होगी परन्तु औसत उत्पादन-व्यय न्यूनतम नही होगा।

(2) क्रेताओं के लिए पूर्ण स्पर्द्धा की स्थिति लाभदायक है क्योंकि उन्हें न्यूनतम उत्पादन लागत के बराबर कीमत देनी पड़ती है जैसा कि चित्र संख्या 125 में S न्यूनतम लागत पर OQ_1 मात्रा का उत्पादन करती हुई देखी जा सकती है। एकाधिकारिक स्पर्द्धा के अन्तर्गत न्यूनतम लागत का प्रश्न ही नहीं उठता है।

(3) पूर्ण स्पर्द्धा के अन्तर्गत फर्मों को विक्रय सम्बन्धी व्यय (Selling cost) वहन नहीं करना पड़ता है। एकाधिकारिक प्रतिस्पर्द्धा के अन्तर्गत विक्रय व्यय बहुत अधिक होता है जो उपभोक्ताओं से ही ऊँची कीमत के रूप में वसूल किया जाता है। अतः कीमत पूर्ण स्पर्द्धा की अपेक्षा सामान्यतया अधिक होती है।

विक्रय लागतें (Selling Costs)

विक्रय लागत उन समस्त व्ययों को कहते है जो क्रेताओं को आकर्षित करने के लिए किये जाते हैं जिससे क्रेता अन्य फर्मों की वस्तुओं को न खरीद कर फर्म विशेष की ही वस्तुओं को खरीद सके। विज्ञापन, प्रचार विक्रय-कला आदि पर किये गये व्यय इस श्रेणी में आते हैं। एकाधिकारिक प्रतिस्पर्द्धा के अन्तर्गत विक्रय लागतों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन लागतों से उपभोक्ता की मांग प्रभावित होती है तथा विक्रेता की औसत आय में वृद्धि होती है। साथ ही साथ उपभोक्ताओं को भी अधिक मूल्य देना पड़ता है। पूर्ण स्पर्द्धा के अन्तर्गत सभी पक्षों को बाजार की दशाओं का ज्ञान रहता है अतः विक्रय व्ययों की आवश्यकता नहीं पड़ती।

(1) **विक्रय व्यय का प्रभाव** विज्ञापन तथा समुचित प्रचार द्वारा फर्म की वस्तुओं की मांग में वृद्धि होती है अतः उत्पादन में वृद्धि की जाती है। यदि वस्तु का उत्पादन क्रमागत उत्पादन वृद्धि नियम के अनुसार हो रहा हो तो उत्पादन कम पड़ता है अतः वस्तु की कम कीमत निर्धारित की जाती है। इससे उपभोक्ताओं को लाभ होता है। परन्तु आजकल स्पर्द्धा अधिक होने के कारण विज्ञापन आदि पर इतना अधिक धन व्यय किया जाता है कि उत्पादन लागत में जो कमी होती है उससे अधिक विक्रय-व्यय में वृद्धि होती है **अतः सामान्यतः इन व्ययों के कारण कीमतें ऊंची उठती हैं।**

प्रचार का बिक्री की मात्रा पर क्या प्रभाव पड़ता है? इसकी जानकारी के लिए यह आवश्यक है कि कीमत में परिवर्तन किये बिना, विक्रय की मात्रा में वृद्धि की जाय (प्रचार द्वारा)। चूंकि बिक्री कीमत तथा प्रचार का परिणाम है अतः उक्त विधि द्वारा विक्रय व्यय के प्रभाव की जानकारी प्राप्त की जा सकती है। कभी-कभी उपभोक्ता के विशिष्ट अधिमानों के कारण विज्ञापन का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है अतः विज्ञापन व्यय व्यर्थ जाता है। जब एक फर्म विज्ञापन करती है तो अन्य प्रतिस्पर्द्धी फर्में भी विज्ञापन करती हैं अतः किसी फर्म विशेष की बिक्री पर

विज्ञापन का प्रभाव नहीं पडता है। ऐसा होते हुए भी बिक्री की वर्तमान मात्रा बनाये रखने के लिए विज्ञापन करना आवश्यक होता है। यदि विज्ञापन द्वारा खराब किस्म की वस्तुओं का प्रयोग बढता है तो यह सामाजिक दृष्टि से अवांछनीय है। विज्ञापन के कारण स्पर्द्धा में और वृद्धि होती है परन्तु कभी-कभी इससे एकाधिकारिक प्रवृत्ति को बल मिलता है क्योंकि छोटी फर्में विज्ञापन-व्यय को बड़े पैमाने पर वहन नहीं कर पाती तथा उन्हें उद्योग छोडना पडता है।

(2) **विक्रय-व्यय तथा मूल्य सिद्धान्त** विक्रय-लागत' ने मूल्य निर्धारण सिद्धान्त को प्रभावित किया है। इन व्ययों के कारण माग के स्वरूप में परिवर्तन हो जाता है। दूसरी ओर पूर्ति का स्वरूप भी प्रभावित होता है क्योंकि इन व्ययों का प्रभाव कुल उत्पादन-लागतों पर पडता है। मूल्य निर्धारण के पुराने सिद्धान्तों में विक्रय-व्ययों का कोई उल्लेख नहीं मिलता है परन्तु आधुनिक युग में इन व्ययों का महत्त्व बढ गया है अतः मूल्य निर्धारण सिद्धान्त की व्याख्या करते समय इन पर भी ध्यान दिया जाता है। चैम्बरलिन ने एकाधिकारिक प्रतिस्पर्द्धा के अन्तर्गत मूल्य निर्धारण सिद्धान्त का विश्लेषण करते समय विक्रय व्ययों का भी ध्यान में रखा है। अतः उनके द्वारा प्रतिपादित मूल्य निर्धारण सिद्धान्त अधिक उपयुक्त तथा तर्क सगत है।

विक्रय-व्यय (Selling Costs) के अन्तर्गत विज्ञापन व्यय के अतिरिक्त सेल्समैन पर किया गया व्यय फुटकर विक्रेताओं द्वारा प्रदर्शन आदि के लिए किया गया व्यय तथा बिक्री बढाने के लिए किये गये सभी व्यय सम्मिलित किये जाते हैं। उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं में परिवर्तन लाने के लिए किये गये सभी प्रकार के व्यय विक्रय-लागत माने जाते हैं (The costs of changing consumers wants are selling costs) Selling Costs के स्थान पर 'Advertising Expenditures' शब्द का भी प्रयोग किया जा सकता है जैसा कि चैम्बरलिन ने किया है।

हम यह मानकर चलेंगे कि कीमत वस्तु का गुण तथा क्रेताओं की आय समान रहने पर विज्ञापन से बिक्री में वृद्धि होती है। अब हम इस बात पर विचार करना है कि विज्ञापन व्यय तथा फर्म के बिक्री में क्या सम्बन्ध है? इनके सम्बन्धों को विक्रय लागत वक्रों द्वारा जाना जा सकता है। चित्र स० 126 में विक्रय लागत वक्र प्रदर्शित किया गया है। इससे, में ऐसा प्रतीत होता है कि विक्रय-लागत वक्र (SC) अन्य लागत वक्रों की ही तरह U की तरह होता है परन्तु विक्रय-लागत वक्र का अर्थ भिन्न होता है। यह वक्र किसी वस्तु की दी हुई मात्रा के बेचने पर प्रति इकाई विक्रय-व्यय को प्रदर्शित करता है। चित्र से स्पष्ट है कि वस्तु की OA

मात्रा बेचने पर प्रति इकाई AA विक्रय-लागत है। इसी प्रकार OB' मात्रा बेचने पर यह लागत प्रति इकाई BB है। प्रारम्भ में विक्रय लागत वक्र नीचे गिरता है जो पैमाने की मितव्ययिताओं का परिणाम है। परन्तु बाद में यह वक्र ऊपर उठता है जो यह बतलाता है कि बिक्री की मात्रा में अधिक विस्तार होने पर विक्रय-लागतों में अधिक वृद्धि होती है। अन्त यह वक्र एक खड़ी रेखा (Vertical) के रूप में
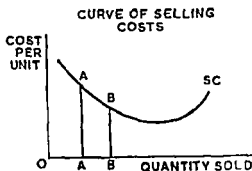
चित्र सं० 126

हो जाता है जो यह बतलाता है कि बिक्री चरम सीमा (Saturation) पर पहुँच गई है तथा विक्रय-व्यय में वृद्धि करने पर भी विक्रय मात्रा पूर्ववत् रहेगी।

एक फर्म के विक्रय-व्यय वक्र का स्वरूप तथा स्थिति यह बतलाता है कि दिये हुए समय में अन्य बातों का क्या प्रभाव पड़ता है अर्थात् इसके द्वारा विचारणीय वस्तु तथा उस वस्तु की स्थानापन्न वस्तुओं (Substitutes) की कीमतों तथा गुण क्रेताओं की आय तथा क्रेताओं का विज्ञापन के प्रति प्रक्रिया पर प्रकाश पड़ता है। इनमें से किसी एक में भी परिवर्तन होने से विक्रय-लागत वक्र का ढांचा एवं उसकी स्थिति बदल जाती है। कीमत ऊंची होने पर यह वक्र ऊपर उठता है जिसका अर्थ यह है कि वस्तु की किसी भी अतिरिक्त मात्रा को बेचने के लिए विक्रय-व्यय अधिक करना पड़ता है। यदि वस्तु की किस्म (Quality) में सुधार किए जाय तो यह वक्र नीचे गिरता है।

चेम्बरलिन बोल्डिंग आदि अर्थशास्त्रियों ने विक्रय-व्यय मांग तथा पूर्ति के सम्बन्धों की व्याख्या करने का प्रयास किया है परन्तु वे किसी निर्णायक परिणाम पर नहीं पहुंच सके हैं। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि एकाधिकारिक प्रतिस्पर्धा के अन्तर्गत कीमत उत्पादन-व्यय तथा विक्रय-व्ययों के सम्मिलित योग द्वारा

निर्धारित की जाती है। माँग पूर्ति तथा विक्रय-व्यय में पारस्परिक सम्बन्धों का एकाधिकृत द्वारा सही ज्ञान लगभग असम्भव है।

एकाधिकृत प्रतिस्पर्धा तथा एकाधिकार में अन्तर
(Difference between Monopolistic Competition and Monopoly)

बाजार की इन दोनों स्थितियों के अन्तर को हम निम्नलिखित मदों में स्पष्ट कर सकते हैं

1 उत्पादक एवं विक्रेताओं की संख्या एकाधिकार में वस्तु का उत्पादक तथा विक्रेता अकेला होता है जबकि एकाधिकृत प्रतिस्पर्द्धा में विक्रेता या उत्पादक अधिक संख्या में होते हैं।

2 वस्तुएं एकाधिकार में एक ही या समरूप वस्तुएं उत्पादित होती हैं तथा उनकी कोई निकटतम स्थानापन्न वस्तु नहीं होती जबकि दूसरी स्थिति में वस्तु विभेद पाया जाता है किन्तु वे निकटतम स्थानापन्न वस्तुएं होती हैं। अतः उनमें प्रतिस्पर्द्धा रहती है।

3 फर्म एवं उद्योग एकाधिकार में फर्म एवं उद्योग एक ही होता है, जबकि एकाधिकृत प्रतिस्पर्द्धा में फर्में अनेक होती हैं तथा उन अनेक फर्मों को उद्योग समूह कहा जाता है।

4 कीमत विभेद एकाधिकार में कीमत विभेद सम्भव हो सकता है जबकि एकाधिकृत प्रतिस्पर्द्धा में प्रतिस्पर्द्धा के कारण कीमत विभेद सम्भव नहीं होता।

5 कीमतें तथा उत्पादन स्तर एकाधिकारी की कीमतें ऊँची तथा उत्पादन मात्रा अल्प होती है जबकि एकाधिकृत प्रतिस्पर्द्धा में कीमतें तुलनात्मक दृष्टि से नीची तथा उत्पादन मात्रा अधिक होती है।

6 विक्रय-लागतें एकाधिकार में कोई प्रतिस्पर्द्धा न होने से विक्रय लागतें नहीं होती जबकि एकाधिकृत प्रतिस्पर्द्धा में विज्ञापन आदि की विक्रय लागतें प्रतियोगिता के कारण पाई जाती हैं।

7 मांग लोच एकाधिकारी वस्तु की मांग लोच सामान्य तथा कम लोचदार होती है, जबकि एकाधिकृत प्रतिस्पर्द्धी की वस्तु की मांग-लोच अत्यधिक लोचदार होता है।

8 लाभ एकाधिकारी दीर्घकाल में अतिरिक्त लाभ ही प्राप्त करता है, जबकि एकाधिकृत प्रतिस्पर्द्धा में अल्पकाल में तो अतिरिक्त लाभ प्राप्त होता है दीर्घकाल में सामान्य लाभ ही मिलता है।

9 फर्म प्रवेश एवं बहिर्गमन — एकाधिकार में फर्मों के प्रवेश व बहिर्गमन पर प्रभावी नियन्त्रण होता है जबकि एकाधिकृत प्रतिस्पर्द्धा में फर्मों के प्रवेश व बहिर्गमन की स्वतन्त्रता होती है।

अल्प विक्रेताधिकार या अल्पाधिकार
(Oligopoly)

एकाधिकार प्रतिस्पर्द्धा की ही भाँति अल्पाधिकार अपूर्ण प्रतियोगिता का ही एक रूप है। जब केवल दो फर्में ही उत्पादक होती हैं तथा वे किसी प्रमापित वस्तु (Standard Product) का उत्पादन करती हैं तो ऐसी स्थिति को **शुद्ध द्वयाधिकार** (Pure Duopoly) कहते हैं। **अशुद्ध द्वयाधिकार** (Impure Duopoly) उस स्थिति को कहते हैं जबकि दो फर्में एक ही वस्तु का उत्पादन करती हैं परन्तु कुछ सीमा तक वे वस्तु विभेद (Product Differentiation) अपनाती हैं अर्थात् उनके द्वारा उत्पादित वस्तुएँ एक ही प्रकार की नहीं होती हैं।

(1) परिभाषा — अल्पाधिकार उस स्थिति को कहते हैं जब फर्मों की संख्या दो से अधिक होती है (परन्तु बहुत अधिक फर्में नहीं होती हैं)। **अल्पविक्रेताधिकार की दो स्थितियाँ हो सकती हैं**—(i) जबकि विभिन्न अल्प विक्रेताधिकारी एक सी वस्तुएं बनाते हैं। इस वस्तु भिन्नता रहित अल्प विक्रेताधिकार (Oligopoly without differentiation) कहते हैं, तथा (ii) जबकि फर्मों की वस्तुओं में विभिन्नता पाई जाती है परन्तु वे वस्तुएं एक दूसरे की *निकट की स्थानापन्न* वस्तुएं होती हैं (Oligopoly with product differentiation where commodities are close substitutes but not perfect substitutes)। किसी भी एक उत्पादक के उत्पादन तथा मूल्य नीति का प्रभाव अन्य उत्पादकों पर निश्चित रूप से पड़ता है।

उपर्युक्त दो प्रकार के अल्प विक्रेताधिकार की अवस्थाओं को दूसरे नामों से भी पुकारते हैं जैसे

(i) Homogeneous Oligopoly *जिसमें उत्पादित वस्तु प्रमापित* (Standardized) होती है। इस्पात और सीमेन्ट उद्योग इस अवस्था के प्रतीक हो सकते हैं। क्रेता इस दिशा में इस बात पर ध्यान नहीं देते हैं कि उत्पादक कौन है वे मूल्य पर अपना ध्यान देते हैं क्योंकि वस्तु लगभग एक-समान होती है। इस अवस्था को पूर्ण अल्पविक्रेताधिकार (Perfect oligopoly) भी कहा जाता है।

(ii) Differentiated Oligopoly *यह अवस्था कई उद्योगों में पाई जाती है* जैसे रेफ्रिजरेटर, साबुन, सिलाई की मशीन, मोटर कार आदि उद्योग। इस अवस्था में वस्तु के रूप, आकार आदि में विभिन्नता पाई जाती है। विज्ञापन, कुशल विक्रेता, ट्रेड मार्क आदि द्वारा भी एक फर्म की वस्तु दूसरे से भिन्न प्रतीत होती है। इसे अपूर्ण अल्प विक्रेताधिकार (Imperfect oligopoly) भी कहते हैं।

अल्पविक्रेताधिकार के अन्तर्गत कीमत निर्धारण
(Price Determination under Oligopoly)

अल्पविक्रेताधिकार के अन्तर्गत कीमत निर्धारण किस प्रकार किया जाता है? इसके कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं है। इसके अन्तर्गत कीमत निर्धारण की समस्या बडी जटिल है। कीमत तथा उत्पादन अन्य प्रतिस्पर्धियों की प्रतिक्रिया (Reaction) पर निर्भर करते। प्रतिक्रिया का अनुमान लगाना अत्यन्त ही कठिन है। अत अल्पाधिकार के अन्तर्गत फर्म की सन्तुलन स्थिति तथा मूल्य निर्धारण का अध्ययन एक जटिल समस्या है। मूल्य निर्धारण के सम्बन्ध में विभिन्न मत प्रकट किए गए हैं जिनका संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है

(i) अल्प-विक्रेताधिकार के अन्तर्गत विक्रेता एक दूसरे की नीतियों से प्रभावित होते हैं। अल्प विक्रेताधिकारी का माग वक्र केवल कीमत पर ही नहीं निर्भर करता है बल्कि अन्य प्रतिस्पर्धी फर्मों की विक्रय-नीति से भी प्रभावित होता है। क्या फर्म A द्वारा कीमत कम कर देने पर फर्म B भी अपनी वस्तु की कीमत घटा देगी? या फर्म B अपनी ख्याति या वस्तु भिन्नता को ध्यान में रखते हुए कीमत नहीं घटाएगी। क्या यदि B फर्म कीमत घटा देती है तो फर्म A अपनी वस्तु की कीमत पुन घटा देगी? अल्पविक्रेताधिकार के अन्तर्गत कीमत निर्धारण के उतने ही तरीके हैं जितना कि कोई व्यक्ति मान्यताएं मान सकता है तथा बहुत सी मान्यताऍं विशेषत वे जो वास्तविकता के निकट होती है अनिश्चित सी रहेगी।

जैसा कि कहा जा चुका है अल्पविक्रेताधिकार दो प्रकार का होता है—
(i) पूर्ण अल्पविक्रेताधिकार जिसमें वस्तुओं में एकरूपता होती है तथा यदि एक फर्म कीमत घटाती है तो दूसरी प्रतिस्पर्धी फर्म कीमत अवश्य घटाएगी।
(ii) अपूर्ण अल्पविक्रेताधिकार जिसके अन्तर्गत वस्तु विभिन्नता पाई जाती है तथा एक फर्म द्वारा कीमत घटाने पर यह आवश्यक नहीं है कि दूसरी फर्म भी तुरन्त कीमत घटा दे।

पूर्ण अल्पविक्रेताधिकार (Perfect Oligopoly)

इस अवस्था में एक फर्म का विक्रय वक्र पूर्ण लोचदार नहीं होता है क्योंकि एक फर्म द्वारा कीमत में परिवर्तन करने से दूसरी फर्में भी कीमत में परिवर्तन कर देती हैं। अत फर्म की बिक्री न तो शून्य होती है और न अत्यधिक। यदि फर्म A कीमत घटाती है तो B C व अन्य फर्में भी कीमत घटा देंगी। कीमत कम होने पर कुल बिक्री में वृद्धि होगी तथा प्रत्येक फर्म की बिक्री कुल बिक्री बढ़ने के कारण बढ़ेगी। इसी प्रकार एक फर्म द्वारा कीमत में वृद्धि करने पर अन्य फर्में भी कीमतें बढ़ाएँगी। परन्तु सामान्यतया एक फर्म द्वारा कीमत घटाने पर अन्य फर्में कीमत

तुरन्त घटा देती है परन्तु एक फर्म द्वारा कीमत बढ़ाने पर अन्य फर्में तुरन्त कीमतें नहीं बढ़ाती हैं। अतः विक्रय-वक्र वर्तमान मूल्य से ऊँचे मूल्य पर अधिक लोचदार होगा तथा वर्तमान मूल्य से कम मूल्य पर कम लोचदार। इस माँग वक्र को कोनदार वक्र (Kinked demand curve) कहा जाता है।

फर्म की साम्य अवस्था इस बात पर निर्भर करेगी कि हम प्रतिस्पर्धी फर्मों द्वारा मूल्य परिवर्तन होने पर किस प्रकार की प्रतिक्रिया (Reaction) की आशा रखते हैं? विक्रेता मिलकर निर्णय ले सकते हैं तथा वे एकाधिकारी की भाँति व्यवहार कर सकते हैं। इसका परिणाम यह हो सकता है कि कुल उत्पादन तथा कीमतें इस प्रकार की हो सकती हैं जिससे कुल लाभ (Aggregate Profit) अधिकतम हो। ऐसी दशा में प्रत्येक फर्म की कीमत औसत लागत से अधिक होगी।

इसके विपरीत फर्मों में तीव्र प्रतिस्पर्धा हो सकती है तथा कीमत न्यूनतम हो सकती है। इस दशा में कीमत औसत लागत के बराबर होगी। फर्में वस्तु विभेद का सहारा लेकर (ब्रैंड या विज्ञापन आदि द्वारा) तथा उपभोक्ताओं को भुगतान सम्बन्धी सुविधाएं देकर बिक्री बढ़ाने का प्रयत्न करेंगी। फर्में कीमत कम करने की अपेक्षा इन तरीकों को अधिक अपनाती हैं। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि पूर्ण अल्प विक्रेताधिकार के अन्तर्गत कीमत निर्धारण के सम्बन्ध में निश्चित मत नहीं दिया जा सकता है। उत्पादकों के बीच प्रतिस्पर्धा या सहयोग के सम्बन्ध में हम कई प्रकार की मान्यताओं के आधार पर कीमत निर्धारण के विषय में विभिन्न कल्पनाएं कर सकते हैं। जितनी ही मान्यताएं (Assumptions) होंगी उतने ही प्रकार से कीमत निर्धारित होगी। इस प्रकार कीमत निर्धारण के विषय में निश्चित मत नहीं दिया जा सकता है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि पूर्ण अल्प विक्रेताधिकार के अन्तर्गत कीमत एकाधिकार-कीमत तथा पूर्णस्पर्द्धा कीमत के बीच में होगी।

अपूर्ण अल्प विक्रेताधिकार (Imperfect Oligopoly)

यदि वस्तु विभेद की स्थिति है तो यह आवश्यक नहीं है कि एक फर्म द्वारा कीमत कम करने पर अन्य फर्में भी तुरन्त कीमत घटा देंगी। फर्में इस मान्यता पर निर्णय ले सकती हैं कि अन्य फर्में तुरन्त बदला नहीं लेंगी (will not retaliate)। ऐसी दशा में अनिश्चितता बनी रहेगी। फर्म A कीमत कम करती है क्योंकि उसका सीमान्त आय (MR) सीमान्त लागत (MC) से अधिक है। ऐसा करना उसी समय उचित होगा यदि फर्म B कीमतें न घटाए। हम मान लेते हैं कि फर्म B का वस्तु भिन्न है तथा वह तुरन्त कीमत कम नहीं करती है। परन्तु बाद में फर्म B फर्म

A ने भी अधिक कीमत कम कर सकता है। B की कम कीमत A को कीमत पुन घटाने पर मजबूर कर सकती है। ऐसी क्रियाएँ तथा प्रतिक्रियाएँ चलता रहता है।
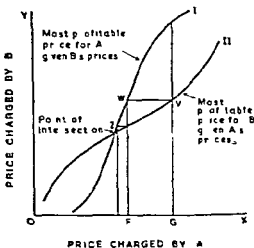
चित्र स० 127

रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण चित्र सं० 127 में उपर्युक्त बात को स्पष्ट किया गया है। यदि I वक्र से बिन्दु U से OX पर एक लम्ब डाला जाए तो OG फर्म A के लिए अधिक लाभदायक (Most Profitab'.) कीमत होगी जबकि फर्म B की कीमत VG है। (I वक्र पर जहाँ से लम्ब डाला गया है वहाँ बिन्दु U मानिए)। परन्तु यदि फर्म A की कीमत OG है तो B के लिए VG कीमत उपयुक्त होगी जो वक्र II द्वारा दिखलाई गई है। यदि फर्म B अब VG कीमत निश्चित करे जो WF के बराबर है तो वक्र I से स्पष्ट है कि फर्म A के लिए अधिक लाभ सम्बन्धी कीमत OF होगा। यदि कीमत का घटना (Pric. Cutting) जारी रहता है तो अन्त में हम बिन्दु Z पर पहुँचेंगे। इसके पश्चात् कीमत घटना किसी भी फर्म के लिए लाभदायक सिद्ध नहीं होगा।

यह अवस्था स्थायी (Stable) है या नहीं यह इस बात पर निर्भर है कि दोनों फर्में कम से कम सामान्य लाभ अर्जित कर रही हैं या नहीं। यदि ऐसा नहीं है तो एक फर्म उद्योग छोड़ देगा तथा अल्प विक्रेताधिकार के स्थान पर एकाधिकार (Monopolv) की दशा हो जाएगी। फर्में आपस में समझौते द्वारा कीमतें बढ़ा सकती हैं परन्तु यह अवस्था भी एकाधिकार की अवस्था होगी। वे अपना वस्तुओं में और अधिक विक्रय के लिए भी कदम उठा सकता हैं। इसके विपरीत यदि साम्य बिन्दुओं पर दोनों असामान्य-लाभ (Abnormal Profit) अर्जित कर रही हैं तो अन्य फर्मों के प्रवेश द्वारा इन साम्य-कीमत में परिवर्तन होगा।

(ii) कोनेदार वक्र (Kink) or Kinked Demand Curve) अल्पविक्रेता धिकार के अन्तर्गत माँग रखा की शक्ल (Shape) या नाप के सम्बन्ध म सामान्य मत्वा का उत्पन्न करना कठिन है। परस्पर प्रतिस्पर्धी फर्मों की कीमत-नीति एक-दूसर से बहुत अधिक प्रभावित होती है। अत कीमत की इस अन्तर्निर्भरता (Interdependence) के कारण एक सामान्य माँग रखा बनाना कठिन होता है। अर्थशास्त्रियों ने इस अन्तनिर्भरता का विभिन्न प्रकार स विश्लेषण किया है। फर्मों की माँग-वक्र दूसरी प्रतिस्पर्धी फर्मों स प्रभावित होती है। Homogenous Oligopoly की दशा म Differentiated Oligopoly के अपेक्षा फर्मों की माँग एक दूसरे स अधिक प्रभावित होती है। सन 1930 40 की अवधि म अर्थशास्त्रियों ने इस बात पर जोर दिया कि अल्पविक्रेताधिकारी की माग कोनेदार(Kinked) होती है यद्यपि यह विषय अत्यन्त ही विवादग्रस्त है।

कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि यदि एक फर्म मूल्य में वद्धि करती है तो अन्य फर्में भी अपनी वस्तुओं के मूल्य घटा देंगी परन्तु यदि एक फर्म मूल्य मे वद्धि करती है तो अन्य फर्म मूल्य मे वद्धि नहीं करेंगी। इस प्रकार अल्पाधिकारियों को मूल्य परिवतन स लाभ नही होता है अत वे एक ही कीमत पर टिके रहते हैं। इन अर्थशास्त्रियों के अनुसार अल्पाधिकार के अन्तर्गत वस्तु के माग वक्र म एक कोना (Kink or corner) होता है जो वतमान मूल्य स सम्बन्धित होता है। उसी बिन्दु पर कीमतें स्थिर रहती हैं न घटती हैं न बढती हैं। अत अल्पाधिकार के अन्तर्गत कीमतों म स्थिरता होती है। उत्पादन लागत म परिवतन भी अल्पाधिकारी के उत्पादन तथा मूल्य को बहुत कम प्रभावित करते हैं। जैसे यदि मजदूरी की दरें कम हो जाती हैं तो उत्पादन लागत कम होगी। परन्तु फर्में कीमत म परिवतन नहीं करेंगी क्योंकि वे अपने प्रतिस्पर्धियों की प्रतिक्रिया का सही अनुमान नहीं लगा सकती हैं। इस प्रकार माँग तथा लागत म परिवतन हो सकते हैं परन्तु उनका प्रभाव मूल्य पर नही पडेगा (या बहुत कम पडेगा)। अत अर्थव्यवस्था म मूल्यों की अपरिवतनशीलता के लिए बहुत कुछ अंशों म अल्पाधिकारी उत्तरदायी हैं।

कोनेदार माँग वक्र इस मान्यता पर आधारित है कि अल्पविक्रेताधिकारी फर्में सामान्यतया न तो कीमत बढाती हैं और न घटाती हैं। यदि कोई फर्म कीमत घटाती है तो अन्य फर्में भी कीमत घटाएँगी। अत कीमत कम करने स फर्म को लाभ नहीं होगा। कीमत बढाने स बिक्री और भी कम होगी। अत कीमत म परिवतन उस समय तक नहीं किया जाता है जब तक कि माँग या लागत की दशाओं म अत्यधिक परिवतन या आमूल परिवर्तन न होता हो।

चित्र सं० 128
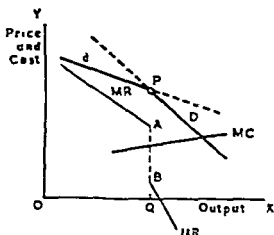
चित्र संख्या 128 में कोनदार माँग को प्रदर्शित किया गया है। माँग का कोना (Kink) बिन्दु P पर है। इस बिन्दु पर फर्म OQ मात्रा का उत्पादन व विक्रय कर रही है। P बिन्दु से ऊँची कीमत पर फर्म यह कल्पना करती है कि उसका माँग वक्र dP की भाँति होगा। P बिन्दु की बाईं ओर माँग वक्र बहुत लोचदार है।

क्योंकि फर्म यह मानती है कि यदि वह कीमत को बढ़ाती है तो उसके प्रतिस्पर्धी कीमत नहीं बढ़ाएँगे जिससे बिक्री कम होगी। dP भाग रेखा से सम्बन्धित सीमान्त आगम (MR) धनात्मक (Positive) है। PD उसी भाग रेखा का दूसरा भाग है। PD भाग कम लोचदार है। कम कीमत पर PD वक्र बेलोच है जैसा कि MR सीमान्त आगम वक्र से प्रकट है। एक बिन्दु के पश्चात् सीमान्त आगम ऋणात्मक (Negative) हो गया है। इसका अर्थ यह है कि फर्म यह सोचती है कि यदि उसने कीमत में P से कमी की तो अन्य फर्में भी अपनी कीमतें घटा देंगी।

P बिन्दु से ऊँची कीमत पर माँग-वक्र लोचदार है तथा इस बिन्दु से कम कीमत पर कम लोचदार है। इसका परिणाम यह होता है कि सीमान्त आगम वक्र में Break आ जाता है। इस Br ak या Gap का कारण यह है कि माँग वक्र में P बिन्दु के बाद एकाएक परिवर्तन हो जाता है। इस गैप को AB द्वारा प्रदर्शित किया गया है। सीमान्त लागत वक्र (MC) इस गैप से गुजरती है।

Kinked Demand यह प्रकट करती है कि कीमतें स्थिर (Stick) रहेंगी। कोनदार माँग वक्र के सम्बन्ध में यह याद रखना चाहिए कि यह पूर्णतया काल्पनिक होती है जो प्रबन्धक के विचार में कीमत-परिवर्तन के सम्भावित

परिणामों का प्रकट करता है। उसका वास्तविक माग वक्र भिन्न हो सकता है।[1]

कीमत की स्थिरता (Rigidity) की कल्पना लागत के कारण होती है। यदि सीमान्त लागत बढ़ती है (परन्तु बिन्दु A से ऊपर नहीं) या घटती है तो उत्पादन मात्रा तथा कीमत परिवर्तित नहीं होती क्योंकि MC वक्र भी MR के खड़े हिस्से (Vertical Part) को पार करती है।

इस प्रकार वक्रदार माग कीमत स्थिरता के कारणों पर प्रकाश डालती है। परन्तु यह स्थिर-कीमत (Rigid Price) किस प्रकार निश्चित की जाती है इसके सम्बन्ध में वक्रदार माँग प्रकाश नहीं डालता। साथ ही साथ इसके द्वारा इस बात पर भी प्रकाश नहीं पड़ता कि नई कीमत पर नया कोना कैसे बनता है।[2]

(iii) कीमत पर नेतृत्व (Price Leadership) कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि अल्पाधिकार के अन्तर्गत कोई एक फर्म अगुआ के रूप में कार्य करती है तथा उस फर्म द्वारा जो कीमत निश्चित की जाती है अन्य फर्में उसी का अनुकरण करती हैं। सामान्यतः वही फर्म अगुआ के रूप में कार्य करती है जिसकी उत्पादन लागत अन्य सभी फर्मों से कम है तथा जिसने अपने प्रतिस्पर्धियों से स्पर्धा में विजय प्राप्त कर ली है।

(iv) पूर्व निश्चित मूल्य (*Mark up Pricing*) कुछ अल्पाधिकारी कीमत निर्धारण औसत उत्पादन लागत के आधार पर करते हैं। उत्पादक लागत में कुछ प्रतिशत लाभ को सम्मिलित करके एक कीमत निश्चित करते हैं तथा वे उतनी ही मात्रा का उत्पादन करते हैं जितनी मात्रा को इस प्रकार निर्धारित मूल्य पर बेचा जा सकता है।

(v) दुरभिसन्धि (Collusion) कीमत निर्धारण की एक विधि यह भी हो सकती है कि प्रतिस्पर्धी फर्में आपस में समझौता कर लें तथा कुल माँग को आपस में बाँट लें।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि अल्पाधिकार के अन्तर्गत मूल्य निर्धारण का कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं है। अल्पाधिकारी को सन्तुलन स्थिति की जानकारी

---

1 "The kinked demand curve is often called subjective it exists in the de ision maker s mind His actual demand curve the objective one m ght be d fferent

—*Watsor*

2. "The model has a ser ous flaw There is not ing in the model to show how the r g d pr ce s establ shed Nor does the model explain how a new kink forms around a new price

—*Watsor*

के लिए यह आवश्यक है कि उसके प्रतिस्पर्धियों की प्रतिक्रिया का ज्ञान हो परन्तु ऐसा जानकारी प्राप्त करना असम्भव ही है। विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने विभिन्न व्यक्तिगत मान्यताओं के आधार पर अल्पाधिकार के अन्तर्गत उत्पादन तथा मूल्य निर्धारण सिद्धान्त का निर्माण करने का प्रयत्न किया है। मान्यताओं (A sump tions) में विभिन्नता के कारण वे किसी एक निर्णय पर नहीं पहुंच सके हैं। अल्पाधिकार के अन्तर्गत मूल्य के सम्बन्ध में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि विक्रेता का अपेक्षाकृत बाजार पर अधिक अधिकार रहता है। अतः वह पूर्ण स्पर्धा तथा एकाधिकारिक स्पर्धा की अपेक्षा अधिक ऊंची कीमत नहीं प्राप्त कर सकता है। परन्तु कुछ प्रतिस्पर्धियों की उपस्थिति के कारण वह उतनी अधिक कीमत नहीं प्राप्त कर सकता है जितनी कि एकाधिकारी प्राप्त कर सकता है। फर्मों के प्रवेश का भय कम होने के कारण कीमत उत्पादन लागत से अधिक होती है।

निष्कर्ष गत पृष्ठों में हमने अपूर्ण स्पर्धा (Imperfect Competition) की कुछ परिस्थितियों के अन्तर्गत मूल्य निर्धारण विधि का अध्ययन किया। एकाधिकार एकाधिकारिक स्पर्धा अल्पाधिकार आदि सभी अपूर्ण स्पर्धा की ही स्थितियाँ हैं। एकाधिकारिक अपूर्ण स्पर्धा की चरम सीमा है। पूर्ण स्पर्धा तक एकाधिकार के बीच विभिन्न स्थितियाँ हो सकती हैं।[1] उन सभी स्थितियों को अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की सज्ञा दी जा सकती है।

अतः शुद्ध एकाधिकार तथा पूर्ण प्रतिस्पर्धा की भाँति हम अपूर्ण प्रतिस्पर्धा के अन्तर्गत एक निश्चित मूल्य सिद्धान्त की व्याख्या नहीं कर सकते हैं। अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की विभिन्न स्थितियों में मूल्य निर्धारण के अलग अलग सिद्धान्त हैं, जिनमें से कुछ एक परिस्थितियों में मूल्य निर्धारण की विधि का अध्ययन हमने गत पृष्ठों में प्रस्तुत किया है। अपूर्ण स्पर्धा के अन्तर्गत मूल्य के सम्बन्ध में हम केवल कुछ सामान्य निष्कर्षों की ही बात कर सकते हैं जैसे

(1) अपूर्ण स्पर्धा के अन्तर्गत एक ही वस्तु के विभिन्न मूल्य होते हैं। मूल्यों में यह विभिन्नता स्थान तथा क्रेताओं के अनुसार होती है। यह स्थिति क्रेताओं की अनभिज्ञता के कारण हो सकती है।

(2) मूल्य में विभिन्नता विक्रेताओं की संख्या कम होने के कारण होती है। विक्रेता का बाजार पर अधिक अधिकार रहता है। वह पूर्ति की मात्रा को नियन्त्रित करके मूल्य ऊंचा रख सकता है।

---

1 There is no single case of imperfect competition but a whole range or series of cases representing progressively more and more imperfect com petition

—*Stonier and Hague*

(3) वस्तु विभेद के कारण भी मूल्य ऊँचा होता है।

(4) औसत आय वक्र (AR) सदैव नीचे गिरता हुआ होता है परन्तु विभिन्न प्रकार की अपूर्ण स्पर्धाओं में औसत आय वक्र के नीचे गिरने की गति में विभिन्नता पाई जाती है।

सम्बन्धित मूल्य
(Related Values)

कुछ वस्तुओं की माँग तथा पूर्ति में अन्तसम्बन्ध होता है। व्यावहारिक रूप में हम देखते हैं कि कई उत्पादक-संस्थान एक दूसरे से सम्बन्धित विभिन्न वस्तुओं का उत्पादन करते हैं। उपभोक्ता भी एक ही साथ कई ऐसी वस्तुओं को खरीदते हैं जो एक-दूसरे की पूरक होती हैं। ऐसी वस्तुओं की माँग संयुक्त होती है। उपभोक्ता की कुछ आवश्यकताओं की पूर्ति कई वस्तुओं द्वारा की जा सकती है। अतः एक वस्तु की कीमत में परिवर्तन का प्रभाव उसी प्रकार का अन्य किसी दूसरी वस्तु की माँग पर पड़ता है। इस प्रकार की प्रतिस्पर्धी वस्तुएं (जो एक ही उद्देश्य की पूर्ति करती हैं) के मूल्य एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। अतः यह आवश्यक है कि इस प्रकार की वस्तुओं की मूल्य निर्धारण विधि का अध्ययन किया जाय।

संयुक्त माँग (Joint Demand)

जब किसी एक उद्देश्य की पूर्ति के लिए कई वस्तुओं की माँग की जाती है *(पूरक वस्तुओं की) तब ऐसी माँग को संयुक्त माँग कहते हैं जैसे कार के साथ पेट्रोल* चाय के साथ चीनी तथा कलम के साथ स्याही की माँग होती है। ऐसी वस्तुओं को पूरक वस्तुएं (complement ry goods) कहते हैं। पूरक वस्तुओं की कीमतें परस्पर विरोधी होती हैं। यदि एक वस्तु की कीमत घटती है तो उसकी पूरक वस्तु की कीमत बढ़ती है। उदाहरणार्थ यदि कलम की कीमत कम हो जाए तो उसकी बिक्री बढ़ जायगी परिणामस्वरूप स्याही की अधिक माँग होगी तथा स्याही की कीमत बढ़ जायगी। इस प्रकार एक दूसरे की पूरक वस्तुओं के मूल्य परिवर्तन दो बातों पर निर्भर करते हैं—*(i) प्रथम वस्तु (मान लीजिए कलम) की माँग की लोच तथा द्वितीय वस्तु (स्याही) की पूर्ति की लोच तथा (ii) दो संयुक्त माँग वाली* वस्तुओं की मात्रा के अनुपात में किस सीमा तक परिवर्तन किया जा सकता है?

इस प्रकार की वस्तुओं के मूल्य निर्धारण में कठिनाई का प्रमुख कारण यह है कि (i) उनकी माँग-सूचियाँ एक दूसरे से सम्बन्धित होती हैं। यदि स्याही की पूर्ति होना कठिन है तो इससे कलम की माँग प्रभावित होगी (ii) दूसरी प्रमुख कठिनाई है पूरक वस्तुओं की सामान्य उपयोगिता ज्ञात करना। हम यह जानते हैं कि कोई भी व्यक्ति बिना खरीदी जाने वाली वस्तु की कीमत उसकी सामान्य उपयोगिता से अधिक नहीं देता है। इस प्रकार पूर्ण स्पर्धा के अन्तर्गत कीमत = उत्पादन लागत =

सीमान्त उपयोगिता। पूरक वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिता की जानकारी के बिना मूल्य निर्धारण कठिन होगा। सामान्यतया पूरक वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिता ज्ञात करने के लिए निम्नलिखित विधियों का प्रयोग किया जाता है

(क) यदि दो वस्तुएँ एक दूसरे की पूरक है तो उनमे एक वस्तु की मात्रा को स्थिर रखकर दूसरी की मात्रा मे कुछ वृद्धि कर दी जाए तो इस प्रकार कुल उपयोगिता मे जितनी वृद्धि होगी वही उस वस्तु (जिस वस्तु की मात्रा मे वृद्धि की जाएगी) की सीमान्त उपयोगिता होगी।

(ख) दूसरी विधि के अनुसार मान लीजिए कलम तथा स्याही दो पूरक वस्तुएं हैं। यदि कलम की मात्रा मे कुछ वृद्धि कर दी जाए तथा आवश्यक मात्रा मे स्याही का भी उपयोग बढा दिया जाए तो इस प्रकार उपयोगिता मे जो वृद्धि होगी यदि उसमे से स्याही की बढ़ी हुई मात्रा का मूल्य घटा दिया जाय तो जो शेष बचेगा वह कलम की सीमान्त उपयोगिता का मौद्रिक माप होगा। इसी सीमान्त उपयोगिता के आधार पर वस्तु का मूल्य निश्चित किया जाएगा।

उत्पादन साधनो की संयुक्त मांग

उपर्युक्त विधियों का वास्तविक रूप से प्रयोग करना कठिन है क्योकि उपयोगिता की माप करना कठिन है। (इस कठिनाई को उदासीनता वक्रों की सहायता से दूर कर सकते हैं।) संयुक्त मांग का महत्त्व उत्पादन साधनो की मांग की अवस्था मे अत्यधिक है। उत्पादन साधनो की मांग पर विचार करते समय हम सीमान्त उपयोगिता के स्थान पर साधनो की सीमान्त उत्पादकता (Marginal Productivity) पर विचार करते हैं। किसी वस्तु का उत्पादन करने के लिए उत्पादन के कई साधनो की आवश्यकता होती है। प्रत्येक साधन की मांग अन्य साधनो की मांग से सम्बन्धित होती है। साथ ही साथ यह भी स्मरणीय है कि उत्पादन साधनो की मांग व्युत्पान्ति माँग (Derived Demand) होती है क्योकि उत्पादन साधनो की माँग उपयोग मे लाई जाने वाली वस्तुओं के उत्पादन के लिए की जाती है। अत साधनो की कीमत उन उपभोग-वस्तुओं पर निर्भर है जिनका उत्पादन उनके द्वारा किया जाता है। मार्शल ने मकान निर्माण का उदाहरण प्रस्तुत किया है तथा यह कहा है कि मकान के निर्माण के लिए कारीगर बढई इंजीनियर तथा अकुशल श्रमिकों आदि की सेवाओं का भुगतान माग-पूर्ति की अवस्थाओं अथवा उनकी सीमान्त उत्पादकता के आधार पर किया जा सकता है। यह सम्भव है कि इनमे से कोई एक साधन बाजार मे प्रचलित पारिश्रमिक से अधिक पारिश्रमिक की माग करे। मार्शल ने चार शर्तों का उल्लेख किया है जिनमे एक साधन विशेष को अधिक पारिश्रमिक दिया जा सकता है।

(1) वह साधन अत्यावश्यक हो तथा स्थानापन्न साधन कम कीमत पर उपलब्ध न हो

(ii) जिस वस्तु का उत्पादन ऐसे साधनों से करना हो उसकी माँग लोचहीन हो जिससे वस्तु को ऊँचे मूल्य पर बेचा जा सके

(iii) पैदा की जाने वाली वस्तु की कुल उत्पादन-लागत में इस साधन की कीमत का भाग बहुत कम हो तथा

(iv) इस साधन की माँग में थोड़ा भी अवरोध करने पर अन्य साधनों के पूर्ति मूल्य में पर्याप्त कमी हो जाए जिससे इस साधन हेतु भुगतान के लिए अधिक धनराशि बच सके।

संयुक्त पूर्ति (Joint Supply)

उन वस्तुओं की पूर्ति को संयुक्त पूर्ति कहते हैं जिनका उत्पादन साथ ही साथ तथा एक ही उत्पादन विधि द्वारा किया जाता है जैसे ऊन और माँस, चावल तथा छिलका, चीनी तथा शीरा आदि। संयुक्त पूर्ति वाली वस्तुओं की कीमतों में घनिष्ट सम्बन्ध होता है। यदि एक की कीमत में वृद्धि होती है तो उसकी पूर्ति बढ़ेगी, और दूसरी वस्तु की कीमत कम होगी।

इस प्रकार के संयुक्त उत्पादों (Joint Products) के सम्बन्ध में सबसे बड़ी समस्या होती है—उनकी अलग अलग सीमान्त लागत ज्ञात करना क्योंकि यदि उनकी सीमान्त लागतें ज्ञात कर लिया जाय तो उनका मूल्य निर्धारण भी सरल हो जाएगा (प्रत्येक की कीमत उसकी सीमान्त लागत के बराबर होगी)। संयुक्त पूर्ति वाली वस्तुओं को अवस्था के अनुसार दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है

(i) वह अवस्था जिसमें वस्तुओं की उत्पादन मात्रा का अनुपात निश्चित है (cases where proportion is fixed) तथा (ii) वह अवस्था जिसमें उनकी उत्पादन मात्रा का अनुपात निश्चित नहीं है (cases wh re proportions vary)।

(i) **जब अनुपात निश्चित हो** रूई तथा कपास का बीज इसके उदाहरण हैं। जब विभिन्न उत्पादों के अनुपात निश्चित हों तो उनकी सीमान्त लागत पृथक पृथक ज्ञात करना सम्भव नहीं है। जैसे रूई और कपास के बीज कपास की किसी भी मात्रा में एक निश्चित अनुपात में प्राप्त होंगे अतः रूई तथा बीज की अलग अलग सीमान्त लागत ज्ञात नहीं की जा सकती है। ऐसी परिस्थिति में मूल्य निर्धारित करते समय इस बात का प्रयत्न किया जाएगा कि उनसे प्राप्त कुल आय (TR) उनके कुल उत्पादन व्यय (TC) के बराबर हो। उत्पादक संयुक्त उत्पादों में से प्रत्येक की कीमत उनकी माँग की लोच के अनुसार निश्चित करेगा तथा वह यह प्रयत्न करेगा कि कुल आय लागत के बराबर हो।

(ii) **जब उत्पादन मात्रा के अनुपात में परिवर्तन हो सकता हो** ऊन तथा माँस वाला व्यापार इस परिस्थिति के अन्तर्गत है। ऐसी भेड़ें पाली जा सकती हैं जिनसे या तो अधिक माँस प्राप्त हो सकता हो या अधिक ऊन। ऐसी स्थिति में सीमान्त

उत्पादों की पृथक पृथक सीमात लागत ज्ञात करना सरल है। जैसे यदि दस रुपय व्यय करने से एक उत्पादन विधि द्वारा 3 किलो चीनी तथा 4 किलो शीरा का उत्पादन होता है। उत्पादन विधि म आवश्यक समायोजन कर यदि बारह रुपय व्यय होत हैं तो 4 किलो चीनी तथा 4 किलो शीरा प्राप्त होता है। ऐसी स्थिति म एक किलो चीनी की सीमात लागत दो रुपय होगी। इस प्रकार शीरा की भी सीमात लागत स्वत ज्ञात हो जाएगी। एसी वस्तुओं का मूल्य निम्नलिखित प्रकार निश्चित किया जाएगा

(क) पूर्ण स्पर्द्धा के अन्तर्गत कीमत=सीमात लागत (P=MC)
(ख) अपूर्ण स्पर्द्धा के अन्तर्गत कीमत=सीमात आय (P=MR)

उपयुक्त विधि सद्धान्तिक दृष्टि स उपयुक्त है। एक ही विधि द्वारा कई वस्तुएँ एक ही साथ पदा की जाती हैं अत एसी स्थिति म प्रत्येक की सीमात लागत ज्ञात करना बहुत कठिन हो जाता है। सामान्यत एसी परिस्थिति म उत्पादक एक वस्तु को तो प्रमुख उत्पाद (Main Product) मानत हैं तथा उसका मूल्य निर्धारण उचित रूप से करते हैं तथा अन्य वस्तुओं को उप-उत्पाद (By product) मानकर तथा पूर्ति के अनुसार जो भी मूल्य मिल जाता है, ले लेते हैं। परन्तु यदि उप उत्पाद के निर्माण के लिए कोई विशेष व्यय करना पडता है तो एसी स्थिति म उत्पादक उप उत्पादक को बचते समय कम स कम विशेष व्यय' का कीमत के रूप म प्राप्त करना चाहता है।

मिश्रित माँग (Composite Demand)

एक वस्तु की माग को मिश्रित माग उस समय कहते हैं जबकि उस वस्तु की माँग विभिन्न प्रयोगों (different uses) के लिए होती है। ऐसी वस्तु की कुल माँग ज्ञात करने के लिए यह आवश्यक है कि विभिन्न उपयोगों से सम्बधित मागों को जोड लिया जाए। मिश्रित माग वाली वस्तु की माग यदि एक उपयोग के लिए बढ जाती है तो अन्य उपयोगों के लिए भी उसकी कीमत बढ जाएगी। मिश्रित माँग वाली वस्तु का विभाजन विभिन्न उपयोगों म इस प्रकार किया जाएगा कि उस वस्तु की सीमात उपयोगिता विभिन्न उपयोगों म समान हो। एसी वस्तु की मूल्य निर्धारण विधि सरल है। विभिन्न उपयोगों से सम्बधित मागों का योग तथा उस वस्तु की पूर्ति के सतुलन द्वारा कीमत निर्धारित की जाती है।

मिश्रित पूर्ति (Composite Supply)

उन वस्तुओं की पूर्ति को मिश्रित पूर्ति कहते हैं जिनके द्वारा किसी एक आवश्यकता की सतुष्टि होती है। एसा वस्तुएँ एक-दूसरे की स्थानापन्न (Substitutes) होती हैं जसे चाय और काफी। स्थानापन्न वस्तुओं की कीमतो म समान दिशा म परिवतन होत हैं अर्थात् एक की कीमत कम होती है तो दूसरे की भी कीमत कम हो जाती है। जस यदि काफी की कीमत कम हो जाए तो लोग चाय के स्थान पर

खरीदी का प्रयोग करने लगेंगे। इस प्रकार चाय की माँग कम होगी तथा उसकी कीमत स्वत कम हो जाएगी। परन्तु स्थानापन्न वस्तुओं की माग-सूची बनाना अत्यन्त ही कठिन है।

उपयुक्त विवरण से स्पष्ट है कि इन चारों परिस्थितियों में मूल्य निर्धारण के सिद्धान्त में मौलिक परिवर्तन की आवश्यकता नहीं पड़ती है। उपयुक्त सभी परिस्थितियों के अन्तर्गत मूल्य निर्धारण माँग तथा पूर्ति के सन्तुलन द्वारा निर्धारित होता है। अन्तर केवल इतना ही है कि माँग तथा पूर्ति के सन्तुलन द्वारा निर्धारित तथा प्रति प्रभाव (effect and count r-effects) कुछ जटिल हो जाते हैं तथा जब वस्तु की सीमान्त उपयोगिता या उत्पादन-साधन की सीमान्त उत्पादकता ज्ञात करना सम्भव नहीं होता है तो मूल्य निर्धारण का सिद्धान्त बतलाना भी सम्भव नहीं होता है।

कीमत निर्धारण के परम्परागत सिद्धान्त की समीक्षा

(Traditional Theory of Price Determination Its Review)

गत अध्यायों में हमने पूर्ण स्पर्द्धा एकाधिकार तथा अपूर्ण स्पर्द्धा के अन्तर्गत कीमत निर्धारण सिद्धान्तों का अध्ययन किया। ये सभी सिद्धान्त सामान्यतया सीमान्त वाद (Marginalism) के अन्तर्गत आते हैं (अन्य विक्रताधिकार के अतिरिक्त)। विभिन्न परिस्थितियों के अन्तर्गत हमारा अध्ययन इस मान्यता पर आधारित रहा है कि उत्पादक का हानि या लाभ कीमत निर्धारण पर निर्भर है। कीमत निर्धारण का यह सिद्धान्त **माँग की दशाओं** (Demand Conditions) तथा (**लागत की दशाओं** (Co t Conditions) को पूर्णतया ध्यान में रखता है। माँग तथा लागत में परिवर्तन होने पर कीमत में भी परिवर्तन होता है।

परम्परागत कीमत सिद्धान्त बाजार की शक्तियों तथा लागतों में परिवर्तन के फलस्वरूप फर्म की कीमतों में आवश्यक समायोजन पर प्रकाश डालता है। परम्परागत सिद्धान्त फर्म के प्रबन्धक को एक दूरदर्शी विचारशील तथा विवेकपूर्ण व्यक्ति मानता है जो परिस्थिति सम्बन्धी परिवर्तनों का विश्लेषण करता है।[1]

कीमत के ये सभी सिद्धांत सीमान्तवाद (M rginali m) पर आधारित हैं।

इन विशेषताओं के होते हुए भी परम्परागत कीमत निर्धारण सिद्धांत की कुछ सीमाएं हैं जो फर्म के व्यवहार का विश्लेषण करते समय प्रकट होती हैं। ये सीमाएं निम्नलिखित हैं

1 लाभ का अधिकतम करना (Profit Maximisation) परम्परागत

---

1 They (Pr ce theories) p cture the manag r not as a simple minded automat on who r g dly follows mechanical rules of thumb but rather as a rat o al human being who can analyse the impl cations of changes in cond t ons

—*H W Haynes* Managerial Ecoromics

सिद्धान्त का मूल आधार है। परन्तु व्यावहारिक जगत में हम जानते हैं कि उत्पादक अन्य तत्वों से प्रभावित होता है। उत्पादक कभी-कभी लाभ से अधिक बिक्री को अधिकतम करने की भी सोच सकता है। अथवा उत्पादक वर्तमान शक्ति तथा ख्याति बढ़ाने की भी सोच सकता है। जनता के प्रति उत्तरदायित्व तथा अन्य नैतिक आदर्शों से भी उत्पादक प्रभावित हो सकता है। उचित कीमत के लिए 'लाभ' का त्याग भी किया जा सकता है। इस प्रकार उत्पादक केवल अधिकतम लाभ से ही प्रभावित नहीं होता है।

2 परम्परागत सिद्धान्त कीमत-परिवर्तन के अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन प्रभावों में स्पष्ट भेद नहीं करता है। यह सिद्धान्त यह नहीं बतलाता है कि वर्तमान कीमतों का भविष्य के लाभों पर क्या प्रभाव पड़ेगा। अल्पकालीन साम्य से सम्बन्धित चित्र वर्तमान माँग वक्र (और सीमान्त आय वक्र) तथा वर्तमान लागत-वक्रों (सीमान्त लागत वक्र को सम्मिलित कर) को प्रदर्शित करते हैं तथा यह बतलाते हैं कि उत्पादक सीमान्त लागत व सीमान्त आय को बराबर करने का प्रयत्न करता है। परन्तु उत्पादक भविष्य की आशा से हमेशा ऐसा नहीं भी कर सकता है। भविष्य के लाभ की आशा में वह वर्तमान लाभ का त्याग भी कर सकता है। परम्परागत कीमत सिद्धान्त इस तथ्य की उपेक्षा करता है।

3 परम्परागत सिद्धान्त सामान्यतया एक वस्तु पैदा करने वाली फर्म (a single product firm) की मान्यता पर आधारित है। परन्तु व्यावहारिक रूप में हम जानते हैं कि फर्म कई वस्तुओं (Product Mix) का उत्पादन करती है। यह तथ्य कीमत निर्धारण को बहुत कुछ अंश में प्रभावित करता है परन्तु परम्परागत कीमत सिद्धान्त इस तथ्य की भी उपेक्षा करता है।

4 यह सिद्धान्त अनिश्चितता की समस्या (Problem of uncertainty) की भी उपेक्षा करता है। यह सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि उत्पादक लागतों तथा माँग के विषय में पूरी जानकारी रखता है। परन्तु वास्तविक जगत में यह मान्यता निराधार सिद्ध होती है।

इन सीमाओं के होते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि परम्परागत कीमत सिद्धान्त कीमत निर्धारण के लिए सैद्धान्तिक आधार प्रस्तुत करता है तथा व्यावहारिक रूप में मूल्य-निर्धारण में सहायक सिद्ध होता है।

प्रश्न व संकेत

1 पूर्ण तथा अपूर्ण प्रतियोगिता के बीच अन्तर बताइए। अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत मूल्य कैसे निर्धारित होता है। चित्रों की सहायता से पूर्णतया समझाइए।

Explain the difference between perfect and imperfect competition. How is price determined under imperfect competition. Discuss fully with the help of diagrams.

[संकेत—पहले दोनों का अन्तर बतलाइए फिर यह स्पष्ट कीजिए कि अपूर्ण प्रतियोगिता की कई अवस्थाएँ होती हैं। उन अवस्थाओं में से किसी एक अवस्था को प्रतिनिधि अवस्था मानकर (एकाधिकृत प्रतियोगिता) मूल्य निर्धारण की विधि समझाइए।]

2 एकाधिकृत प्रतियोगिता का क्या अर्थ है? इसके अन्तर्गत मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है?

What is meant by monopolistic competition? How is price determined under monopolistic competition?

[संकेत—एकाधिकृत प्रतियोगिता का अर्थ समझाइए तथा इसके अन्तर्गत मूल्य निर्धारण की विधि समझाइए—अल्पकाल व दीर्घकाल दोनों में।]

3 अल्प विक्रेताधिकार के अन्तर्गत कीमत किस प्रकार निर्धारित की जाती है।

How is price determined under oligopoly?

[संकेत—अल्प विक्रेताधिकार का अर्थ स्पष्ट करते हुए कीमत निर्धारण विधि पर प्रकाश डालिए।]

4 संयुक्त पूर्ति तथा संयुक्त माँग के बीच अन्तर बताइए। संयुक्त पूर्ति के अन्तर्गत मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है?

Explain the difference between Joint Supply and Joint Demand. How is price determined under Joint Supply?

5 निम्न दशाओं में मूल्य किस प्रकार प्रभावित होते हैं।

(i) जब दो वस्तुएँ संयुक्त रूप से माँगी जाती हैं।

(ii) जब दो वस्तुओं की संयुक्त रूप से पूर्ति की जाती है?

How is price effected under the following conditions?

(i) When two articles are demanded jointly

(ii) When two articles are supplied jointly?

6 एकाधिकृत प्रतिस्पर्द्धा की मुख्य विशेषताओं का उल्लेख कीजिए। इसके अन्तर्गत फर्म के अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन सन्तुलन की व्याख्या कीजिए।

Bring out the salient features of monopolistic competition. Explain the equilibrium of the firm in the short and long period under monopolistic competition.

[संकेत—प्रारम्भ में एकाधिकृत प्रतिस्पर्द्धा की प्रमुख विशेषताएँ बतलाइये। तत्पश्चात् रेखाचित्रों की सहायता से फर्म के अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन साम्य का विवरण दीजिए।]

वितरण
(DISTRIBUTION)

गलब्रेथ ने *The Affluent Society'* म एक स्थल पर लिखा है केवल उत्पादन शील ही शक्तिशाली हो सकता है। केवल शक्ति शाली ही स्वतन्त्र हो सकता है (Only the productive can be strong Only the strong can be free)। परन्तु प्रश्न है क्यो और कैसे ? उत्पादन सामर्थ्य से राष्ट्रीय आय का सृजन होता है जो समस्त शक्तियो स्वतन्त्रताओ एव मानव कल्याण की आधारशिला है। राष्ट्रीय आय विभिन्न उत्पादन-साधनो के समन्वित प्रयास का फल है। अत उत्पादन-साधनो म पारिश्रमिक के रूप म उसका उचित वितरण वाछनीय है। विभिन्न उत्पादन साधनो—भूमि श्रम पूजी तथा साहस—को क्रमश लगान मजदूरी ब्याज तथा लाभ के रूप म पारितोषिक वितरित करने की समस्या सदैव रही है और आज भी वितरण' की यही विषय-सामग्री है।

38

राष्ट्रीय आय तथा वितरण

(National Income and Distribution)

> All wealth that is created in society finds its way to the final disposition of the individuals through certain channels or sources of income This process is called distribution
>
> —*Seligman*

वह समस्त धन जो समाज म उत्पन्न किया जाता है कुछ निश्चित स्रोतो अथवा आय क साधनो क माध्यम स अन्तिम रूप म व्यक्तियो को प्राप्त होता है। इस प्रक्रिया को वितरण कहा जाता है।

—सेलिगमैन

वितरण (Distribution)

1 वितरण का अर्थ

आर्थिक समस्याओ क विश्लेषण एव समाधान म वितरण का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जसा कि विदित है किसी वस्तु का उत्पादन विभिन्न उत्पादन-साधनो भूमि श्रम पूँजी सगठन एव साहस—क पारस्परिक सहयोग म ही सम्भव हो पाता है। अत उत्पादित वस्तु को उत्पादन साधनो म वितरित करना आवश्यक हो जाता है। उत्पादित वस्तु को इन साधनो म वितरित करने की क्रिया को वितरण कहा जाता है। सेलिगमैन क अनुसार समाज म उत्पादित धन कतिपय स्रोतो या आय-स्रोतो क रूप म व्यक्तियो को अन्तिम प्रयोग क लिए प्राप्त हो जाता है। इस प्रक्रिया को वितरण कहते हैं। चपमैन क अनुसार वितरण का अर्थ शास्त्र एक समाज द्वारा उत्पादित धन का उसक उत्पादन साधनो या साधनो क स्वामियो म जो उसक उत्पादन म सक्रिय रह हैं वितरित करन स सम्बन्धित है।[1]

---

1 The economics of distribution accounts for the sharing of the wealth produced by a community among the agents or the owners of the agents which have been active in its production

—*Chapman*

मानव सभ्यता के विकास के साथ ही साथ वितरण की समस्या का स्वरूप बदलता गया। प्राचीन आर्थिक एवं सामाजिक जीवन स्वावलम्बन पर आधारित था, अतः वितरण की समस्या नहीं थी। मानव सभ्यता के विकास के फलस्वरूप उत्पादन प्रणाली में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। श्रम विभाजन एवं विशालकाय मशीनों के प्रयोग ने आर्थिक जगत में आमूल परिवर्तन उपस्थित कर दिया। उत्पादन के समस्त साधनों पर ही व्यक्ति का स्वामित्व होना कठिन हो गया। अतः विभिन्न साधनों को एकत्रित कर उनके सहयोग से उत्पादन करना आवश्यक हो गया। व्यक्तिगत उत्पादन का स्थान सामूहिक उत्पादन ने ले लिया। इस प्रकार उत्पादन विभिन्न साधनों के सहयोग का परिणाम होने तथा भूमि श्रम पूंजी प्रबन्ध तथा साहस—उत्पादन के इन पाँचों साधनों का एक ही व्यक्ति के पास न पाये जाने के कारण उत्पादक के लिए यह आवश्यक हो गया कि वह उत्पादन के समस्त साधनों को एकत्रित कर उनके सहयोग से उत्पादन प्रारम्भ करे। जब उत्पादन विभिन्न साधनों के सहयोग से किया जाने लगा तब यह भी आवश्यक हो गया कि उत्पादन विभिन्न साधनों में पारिश्रमिक या प्रतिफल के रूप में बाँटा जाए। इस प्रकार वितरण की समस्या प्रकट हुई। उत्पादन द्वारा प्राप्त आय को उत्पादन के विभिन्न साधनों में वितरित करना ही वितरण की प्रमुख समस्या है। उत्पादन द्वारा प्राप्त आय का जो भाग भूमि श्रम पूंजी प्रबन्ध तथा साहस के स्वामियों को प्राप्त होता है उसे क्रमशः लगान मजदूरी ब्याज, वेतन तथा लाभ कहते हैं।

2 वितरण के प्रकार

वितरण दो प्रकार के होते हैं—व्यक्तिगत (Personal) तथा क्रियात्मक (Functional)।

1 व्यक्तिगत वितरण व्यक्ति की समस्याओं से सम्बन्धित है। इसके अन्तर्गत हम इस बात का अध्ययन करते हैं कि व्यक्ति की आय किस प्रकार निश्चित होती है। इस प्रकार आर्थिक विषमता आय एवं धन का समाज के विभिन्न वर्गों में वितरण तथा निर्धनता की समस्या आदि का अध्ययन व्यक्तिगत वितरण के अन्तर्गत आते हैं।

2 क्रियात्मक वितरण के अन्तर्गत उत्पादन के साधनों को उत्पादन से प्राप्त हिस्से का अध्ययन किया जाता है। इस प्रकार उत्पादन के साधनों का पुरस्कार अथवा पारिश्रमिक का अध्ययन करना क्रियात्मक वितरण की विषय-सामग्री है। यह स्मरण रखना चाहिए कि व्यक्तिगत तथा क्रियात्मक वितरण एक दूसरे से पृथक तथा पृथक नहीं हैं बल्कि उनमें घनिष्ट सम्बन्ध है।

3 वितरण के पृथक सिद्धान्त की आवश्यकता

वितरण के अन्तर्गत उत्पादन के साधनों के पुरस्कार का अध्ययन किया जाता है। अतः प्रश्न उठता है—क्या विनिमय के मूल्य निर्धारण सिद्धान्तों का

प्रयाग उत्पादन के साधनों का पुरस्कार निश्चित करने के लिए नहीं किया जा सकता ? क्या उत्पादन के साधन वस्तुओं से भिन्न हैं ? क्या माँग व पूर्ति का सिद्धान्त उत्पादन के साधनों पर लागू नहीं होता ? यदि वस्तुओं के मूल्य निर्धारण सिद्धान्त का उपयोग उत्पादन-साधनों की कीमतें निर्धारित करने के लिए भी किया जा सकता है तो वितरण के पृथक सिद्धान्त की आवश्यकता क्या पड़ती है ? प्रो० मार्शल ने वितरण के पृथक सिद्धान्त की आवश्यकता का अनुमोदन किया है। उनके अनुसार स्वतन्त्र मनुष्यों को उनके कार्यों के लिए उसी प्रकार पुरस्कार नहीं दिया जाता है जिस प्रकार एक मशीन घोड़े या दास को। यदि उन्हें इसी प्रकार पुरस्कृत किया जा सकता तो फिर कीमत के विनिमय एवं वितरण पक्षों में सम्भवतः कोई अन्तर नहीं होता क्योंकि उस दशा में प्रत्येक साधन को उतना ही पारिश्रमिक मिलता जितना कि उसके उत्पादन ह्रास आदि पर व्यय होता यदि माँग तथा पूर्ति के अभाव के लिए भी उचित व्यवस्था कर दी जाए।[1]

वितरण के पृथक सिद्धान्त की आवश्यकता इसलिए पड़ती है कि वस्तु की माँग व पूर्ति और उत्पादन के साधनों की माँग व पूर्ति में पर्याप्त अन्तर है। वस्तु की माँग उपभोग के लिए होती है अतः वस्तु की माँग प्रत्यक्ष माँग है। परन्तु उत्पादन साधनों की माँग उन वस्तुओं के उत्पादन के लिए होती है जिनकी माँग उपभोग के लिए होती है। इस प्रकार उत्पादन-साधनों की माँग वस्तुओं की माँग पर निर्भर है। अतः उत्पादन साधनों की माँग प्रत्यक्ष माँग न होकर व्युत्पादित माँग (derived demand) होती है। इसके अतिरिक्त वस्तु की माँग का अध्ययन उसकी सीमान्त उपयोगिता के सन्दर्भ में किया जाता है जबकि उत्पादन साधन की माँग का अध्ययन साधन की सीमान्त उत्पादकता (Marginal Productivity) के सन्दर्भ में किया जाता है।

वस्तु तथा उत्पादन साधन की पूर्ति में भी अन्तर है। वस्तु की कीमत निर्धारित करने में सीमान्त उत्पादन-लागत (Marginal cost of production) का महत्त्वपूर्ण स्थान है जबकि उत्पादन साधनों—भूमि श्रम प्रबन्ध साहस आदि की सीमान्त उत्पादन लागत ज्ञात करना अत्यन्त ही कठिन है। पूर्ति की दृष्टि से वस्तु तथा उत्पादन-साधन में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि वस्तु की कीमत में परिवर्तन का प्रभाव पूर्ति की मात्रा पर अधिक पड़ता है। कीमत कम या अधिक होने पर वस्तु की पूर्ति को मात्रा कम या अधिक कर दी जाती है। उत्पादन साधन पर कीमत में परिवर्तन का प्रभाव अपेक्षाकृत कम पड़ता है।

वस्तुतः विनिमय का मूल्य सिद्धान्त उत्पादन साधनों का पारिश्रमिक या पारितोषिक निर्धारित करने में असमर्थ है। अतः वितरण के पृथक सिद्धान्त का

1 Marshall Principles of Economics p 448

आवश्यकता पड़ती है। (वितरण के प्रमुख सिद्धान्तों का विवेचन आगे किया गया है)।

4 वितरण की समस्या (The Problem of Distribution)

वितरण की प्रमुख समस्याएं तीन हैं—(i) कितना सम्पत्ति आय अथवा उत्पादन के किस भाग का वितरण किया जाता है? (ii) सम्पत्ति के कौन-कौन भागीदार हैं? तथा (iii) वितरण किस सिद्धान्त के अनुसार किया जाता है?

राष्ट्रीय आय
(National Income)

1 परिभाषा तथा अर्थ

उत्पादन के साधनों में किस सम्पत्ति का वितरण किया जाता है? इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है—उत्पादन-साधनों द्वारा जो वस्तुएँ एवं सेवाएं उत्पन्न की जाती हैं उन्हीं का साधनों के बीच वितरण किया जाता है। किसी देश में एक वर्ष में जितनी वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन किया जाता है उनके मूल्य के योग को कुल 'राष्ट्रीय आय' कहा जाता है।[1] राष्ट्रीय आय के सम्बन्ध में मार्शल पीगू फिशर तथा कुजनेट्स के विचार अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण हैं।

राष्ट्रीय आय के अर्थ के सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों में मतभेद है। आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार राष्ट्रीय आय के अर्थ को समझने के लिए सर्वप्रथम दो विचारों को समझ लेना आवश्यक है

(i) कुल राष्ट्रीय उत्पादन (Gro s National product i e CNP)

(ii) विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन (Net National Product i e NNP)

किसी अर्थव्यवस्था में एक वर्ष की अवधि में उत्पादित समस्त अन्तिम वस्तुओं और सेवाओं के कुल मौद्रिक मूल्य (बाजार कीमतों पर) को 'कुल राष्ट्रीय उत्पादन (GNP) कहते हैं। यहाँ पर यह ध्यान रखने योग्य बात है कि GNP में अप्रत्यक्ष कर (indirect taxes) भी शामिल रहते हैं।

कुल राष्ट्रीय उत्पादन (GNP) का कुछ भाग घिसन (depreciation) तथा अप्रचलित यन्त्रों के प्रतिस्थापित (replace) करने में लग जाता है। कुल राष्ट्रीय उत्पादन में से घिसाई व्यय (depreciation charges) को निकाल देने से विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन (Net National Product, i e NNP) प्राप्त होता है। संक्षेप में

NNP = GNP—Depreciation Charges

---

1 "The Gross National Product is the value of all goods and s rvices produced annually in the nation

विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन (NNP) को ही विस्तृत रूप में राष्ट्रीय आय कहा जा सकता है। परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्री राष्ट्रीय आय को संकुचित अर्थ में परिभाषित करना उचित समझते हैं। विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन में से अप्रत्यक्ष करों (Indirect taxes) को निकाल देने पर जो बचता है उसे संकुचित अर्थ में राष्ट्रीय आय कहा जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह आभास होता है कि आधुनिक अर्थशास्त्री राष्ट्रीय आय को विस्तृत तथा संकुचित अर्थ में परिभाषित करते हैं। संक्षेप में

National Income (in the broader sense)
=GNP—Depreciation Chargss
=NNP

National Income (in the narrow sense)
=GNP—Depreciation Ch rges—Indirect T xes
=NNP—Indirect Taxes

मार्शल द्वारा दी गई परिभाषा मार्शल के अनुसार देश के श्रम तथा पूँजी द्वारा प्राकृतिक साधनों के सहयोग से प्रतिवर्ष कुछ भौतिक एवं अभौतिक वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन किया जाता है। इन सबके शुद्ध योग को राष्ट्रीय आय अथवा राष्ट्रीय लाभांश कहते हैं।[1] किसी देश में एक वर्ष में उत्पादित वस्तुओं तथा सेवाओं के योग को कुल राष्ट्रीय उत्पादन (Gross National Product) कहते हैं। शुद्ध योग (Net Aggregate) ज्ञात करने के लिए कच्चे माल की लागत मशीन यन्त्र आदि की घिसावट कुल राष्ट्रीय आय में से घटा दी जाती है। इसी प्रकार विदेशों में लगाई गई पूँजी से प्राप्त शुद्ध आय को जोड़ देते हैं इस प्रकार शुद्ध राष्ट्रीय आय ज्ञात की जाती है। संक्षेप में मार्शल के अनुसार 'शुद्ध राष्ट्रीय आय' इस प्रकार व्यक्त की जाएगी—

शुद्ध राष्ट्रीय आय = (वस्तुओं तथा सेवाओं का कुल वार्षिक उत्पादन + विदेशों से प्राप्त शुद्ध आय)—(कच्चे माल की लागत + मशीन आदि की घिसावट)। इस प्रकार मार्शल के अनुसार सम्पूर्ण वार्षिक शुद्ध उत्पादन राष्ट्रीय आय है।

---

1 "The labour and cap tal of the country acting on the national resources produce annually a certain net aggregate of commodities material and immaterial including services of all kinds This is the true annual income or revenue of the country or the National Dividend

—Marshall

मार्शल की परिभाषा की आलोचना सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से मार्शल की परिभाषा सन्तोषजनक है परन्तु व्यवहारिक दृष्टिकोण से इसमें निम्नलिखित दोष हैं

(i) आधुनिक युग में उत्पादित वस्तुएं और सेवाएं इतनी अधिक और भिन्न भिन्न प्रकार की होती हैं कि उनका मूल्यांकन करना बहुत कठिन होता है जिससे राष्ट्रीय आय का आगमन सही नहीं हो सकता है।

(ii) ऐसी अनेक वस्तुएं होती हैं जिनका अधिकांश भाग बाजार में विनिमय के लिए नहीं आता है इसलिए इनका मौद्रिक मूल्य ज्ञात नहीं किया जा सकता है। अत राष्ट्रीय आय की सही गणना नहीं की जा सकती।

(iii) दोहरी गणना (Double counting) की सम्भावना रहती है। दोहरी गणना से अभिप्राय किसी वस्तु या सेवा जैसे कच्चा माल या श्रम आदि का राष्ट्रीय आय में दो या अधिक बार गिने जाने की सम्भावना से है।

पीगू की परिभाषा प्रो० पीगू के अनुसार राष्ट्रीय आय किसी देश की वास्तविक आय का जिसमें विदेशों से प्राप्त आय भी सम्मिलित है वह भाग है जो मुद्रा द्वारा मापा जा सकता है।[1] परिभाषा से स्पष्ट है कि पीगू ने इस बात पर जोर दिया है कि *राष्ट्रीय आय में केवल उन्हीं वस्तुओं और सेवाओं को शामिल* किया जाता है जिनके बदले में मुद्रा दी जाती है अर्थात् जिनको मुद्रा में मापा जा सकता है। वस्तुत मार्शल तथा पीगू के विचारों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। पीगू ने राष्ट्रीय आय में केवल उन्हीं वस्तुओं तथा सेवाओं को सम्मिलित किया है जिनको मुद्रा द्वारा मापा जा सकता है अथवा जिनका विनिमय मूल्य ज्ञात किया जा सकता है। उदाहरण के लिए यदि एक किसान अपनी समस्त उपज बाजार में बेच देता है तो उसकी उपज की कुल कीमत राष्ट्रीय आय में सम्मिलित की जायेगी परन्तु यदि वह कुछ भाग अपने उपभोग के लिए अपने पास रख लेता है तो अपने पास रखी हुई उपज की अनुमानित कीमत राष्ट्रीय आय में नहीं जोड़ी जायगी। इस प्रकार पीगू ने राष्ट्रीय आय को अत्यन्त ही सीमित कर दिया है। भारत जैसे अर्द्ध विकसित देश में यदि पीगू के अनुसार राष्ट्रीय आय ज्ञात की जाए तो देश की प्रगति का सही अनुमान नहीं लगाया जा सकता क्योंकि अर्द्ध विकसित देशों में विशेषत ग्रामीण क्षेत्रों में बहुत से लेन-देन वस्तु परिवर्तन के आधार पर किये जाते हैं तथा अधिकांश ग्रामीण आत्म निर्भर होते हैं। पीगू ने व्यवहारिकता पर अधिक ध्यान दिया है उनकी विधि द्वारा राष्ट्रीय आय सरलता से ज्ञात की जा सकती है।

---

1 National dividend is that part of the objective income of the community including of course income derived from abroad which can be measured in money

—*Pigou*

मार्शल ने समस्त शुद्ध वार्षिक उत्पादन को राष्ट्रीय आय माना है जबकि पीगू ने कुल वार्षिक उत्पादन के केवल उस भाग को राष्ट्रीय आय माना है जिसे मुद्रा द्वारा नापा जा सकता है तथा जिसका विनिमय मूल्य ज्ञात है। इस प्रकार पीगू ने राष्ट्रीय आय को सीमित कर दिया है।

पीगू की परिभाषा की आलोचना

(i) यह परिभाषा केवल विकसित देशों के लिए ही उपयुक्त है अविकसित देशों के लिए नहीं क्योंकि अविकसित देशों की अर्थव्यवस्थाओं के अनेक क्षेत्रों में वस्तु विनिमय (barter system) रहता है। अतः वस्तुओं तथा सेवाओं की गणना मुद्रा के माध्यम से न होने से राष्ट्रीय लाभांश में कमी हो जाती है।

(ii) पीगू ने राष्ट्रीय आय में केवल उन्हीं वस्तुओं तथा सेवाओं को शामिल किया है जिनका मुद्रा में विनिमय होता है यदि उनका विनिमय मुद्रा में नहीं होता है तब उन्हें राष्ट्रीय आय में सम्मिलित नहीं करते हैं। जैसे एक नर्स की सेवाएँ जो किसी हॉस्पिटल में बच्चों की देख रेख का कार्य करती है तो उनको राष्ट्रीय आय में शामिल किया जाता है लेकिन उसका अपने घर में अपने बच्चों का पालन पोषण राष्ट्रीय आय में शामिल नहीं होता।

फिशर (Fisher) की परिभाषा प्रो० फिशर का विचार मार्शल तथा पीगू दोनों से भिन्न है। फिशर ने उत्पादन के स्थान पर उपभोग को राष्ट्रीय आय का आधार माना है। उनके अनुसार "राष्ट्रीय आय या लाभांश अंतिम उपभोक्ताओं को प्राप्त सेवाएँ हैं चाहे वे सेवाएँ भौतिक या मानवीय परिस्थितियों से प्राप्त हों। इस प्रकार इस वर्ष मेरे लिए जो प्यानो या ओवरकोट बनाया गया है इस वर्ष की आय का एक भाग नहीं है बल्कि पूंजी में वृद्धि है। इन वस्तुओं द्वारा इस वर्ष प्राप्त सेवाएं ही आय हैं।"[1] सैद्धान्तिक दृष्टि से फिशर का विचार सर्वथा उपयुक्त है परन्तु एक वर्ष में उपभोग की गई वस्तुओं तथा सेवाओं का मूल्यांकन करना अत्यन्त ही कठिन है। एक ही वस्तु का एक ही व्यक्ति इस वर्ष प्रयोग कर सकता है और दूसरा पन्द्रह वर्ष तक कर सकता है। अतः वस्तुओं के उपभोग-काल का भी पता लगाना अत्यन्त ही कठिन है। वस्तुएं क्रय विक्रय द्वारा हस्तान्तरित होती रहती हैं अतः एक ही वस्तु की गणना कई बार की जा सकती है।

फिशर की परिभाषा की आलोचना इस परिभाषा में कम व्यावहारिकता पायी जाती है क्योंकि वस्तुओं और सेवाओं को मुद्रा में मापने की बहुत-सी कठिनाइयाँ हैं।

---

1 National Dividend or National income consists solely of services as received by ultimate consumers Thus a piano or an overcoat made for me this year is not a part of this year s income but an addition to capital Only the services rendered to me during this year by these things are income

—*Fisher*

(i) राष्ट्रीय आय की गणना करने में एक वर्ष में उपभोग में आने वाली वस्तुओं एवं सेवाओं की सूची तैयार करना कठिन है बजाय शुद्ध उत्पादन की गणना करने के।

(ii) टिकाऊ उपभोग्य वस्तुओं का प्रयोग कई वर्षों तक चलता रहता है जिससे उनके जीवन-काल का अनुमान लगाना कठिन है। इसके परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आय की गणना करना कठिन हो जाता है।

(iii) टिकाऊ वस्तुओं का प्रायः हस्तान्तरण होता रहता है जिससे उनके स्वामित्व और मूल्य में भी परिवर्तन हो जाता है। इससे ऐसी वस्तुओं के सेवा मूल्य का उपभोग के परिणाम का मापना कठिन हो जाता है।

साइमन कुजनेटस ने राष्ट्रीय आय को इस प्रकार परिभाषित किया है देश की उत्पादन व्यवस्था से वर्ष भर में प्रवाहित होकर अंतिम उपभोक्ताओं के हाथों में जाने वाली वस्तुओं तथा सेवाओं या देश की पूंजीगत वस्तुओं के स्टाक में शुद्ध वृद्धि को राष्ट्रीय आय कहते हैं।[1] फिशर तथा कुजनेटस दोनों ने ही कुल उत्पादन के उस भाग को राष्ट्रीय आय माना है जो उपभोक्ताओं के हाथों में जाता है, परन्तु कुजनेटस ने पूंजीगत माल में हुई वृद्धि को भी राष्ट्रीय आय में सम्मिलित किया है।

इन परिभाषाओं में से कौन सी परिभाषा श्रेष्ठ कही जा सकती है? यह बताना कठिन है कि कौन सी परिभाषा श्रेष्ठ है, क्योंकि कोई भी परिभाषा पूर्ण नहीं है। प्रत्येक के अपने अपने गुण व दोष हैं। इस प्रश्न का उत्तर इस बात पर निर्भर है कि राष्ट्रीय आय का प्रयोग किस उद्देश्य के लिए किया जायेगा। यदि हमारा उद्देश्य समाज के लिए विभिन्न वर्गों के बीच आर्थिक कल्याण या जीवन-स्तर की तुलना करना है तो फिशर की परिभाषा अधिक श्रेष्ठ होगी क्योंकि फिशर की परिभाषा के अनुसार राष्ट्रीय आय में उन्हीं वस्तुओं तथा सेवाओं का प्रयोग किया जाता है जो कि किसी वर्ष विशेष के रूप में उस देश के लोग उपभोग करते हैं। यदि हमारा उद्देश्य आर्थिक कल्याण को प्रभावित करने वाले कारणों का अध्ययन करना है तो मार्शल तथा पीगू की परिभाषाएँ अधिक श्रेष्ठ होंगी क्योंकि दीर्घकाल में आर्थिक कल्याण में वृद्धि का मुख्य कारण होगा पूंजीगत तथा अन्य वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन में अधिक वृद्धि का होना। मार्शल की परिभाषा अधिक विस्तृत है तथा सैद्धान्तिक दृष्टि से उचित है जबकि पीगू की परिभाषा व्यावहारिक दृष्टि से अधिक उचित है। इसके अनुसार राष्ट्रीय आय को मापना सरल है।

---

1 "National income is the net output of commodities and services flowing during the year from the country's productive system into the hands of the ultimate consumers or into net additions to the country's stock of capital goods

—*Simon Kuznets*

राष्ट्रीय आय की अवधारणाएँ
(Concepts of National Income)

राष्ट्रीय आय को प्रकट करने की कई अवधारणाएं हैं तथा इसके लिए कई शब्दों का प्रयोग किया जाता है जिनमें पर्याप्त विभिन्नताएँ पाई जाती हैं अतः उन शब्दों का स्पष्टीकरण आवश्यक है

1 कुल राष्ट्रीय उत्पाद (Gross National Product or G N P)

किसी देश में एक वर्ष के अन्दर पैदा की जाने वाली समस्त अन्तिम वस्तुओं तथा सेवाओं के मौद्रिक मूल्य (Money value) को कुल राष्ट्रीय उत्पाद कहते हैं। जिन वस्तुओं का उत्पादन गत वर्षों में किया गया हो परन्तु उनका विनिमय वर्तमान वर्ष में किया जा रहा है तो ऐसी वस्तुओं को वर्तमान वर्ष की राष्ट्रीय आय में नहीं सम्मिलित किया जायगा। वस्तुओं का मूल्य सामान्यतः वर्तमान वर्ष के बाजार मूल्यों के आधार पर किया जाता है परन्तु मूल्य निर्देशांक (Price Index) की सहायता से उनका मूल्य किसी भी वर्ष के सन्दर्भ में ज्ञात किया जा सकता है। अंतिम शब्द का तात्पर्य यह है कि किसी वस्तु की गणना दो बार नहीं की जानी चाहिए।

कुल राष्ट्रीय उत्पादन की गणना की विधियाँ

कुल राष्ट्रीय उत्पादन की गणना दो विधियों द्वारा की जा सकती है–प्रथम व्यय या उत्पादन विधि और दूसरी आय विधि। देश में कुल आय और कुल व्यय बराबर होते हैं। इसलिए दोनों विधियों से कुल राष्ट्रीय उत्पादन एक समान ही प्राप्त होता है।

(1) कुल राष्ट्रीय उत्पादन की आय विधि (Income Method to GNP) इस विधि द्वारा कुल राष्ट्रीय उत्पादन मापने के लिए एक वर्ष भर में उत्पादन-साधनों के मुगतान में दिए गए पुरस्कार शामिल किए जाते हैं। इस विधि में कुल राष्ट्रीय उत्पादन निम्नलिखित मदों का जोड़ होता है

(i) मजदूरी तथा वेतन (Wages and Salaries) श्रमिकों और प्रबन्धकर्ताओं द्वारा सब प्रकार की मजदूरी और वेतन जो वे उत्पादन क्रिया करके कमाते हैं इसके अन्तर्गत आते हैं।

(ii) किराये (Rents) भूमि दुकान मकान फैक्ट्री आदि की किराये की तथा ऐसी सभी परिस्थितियों में अनुमानित किराये को जिन्हें मालिक स्वयं प्रयोग में लाते हैं कुल किराये में शामिल किया जाता है।

(iii) ब्याज (Interest) इसमें देश के व्यक्तियों द्वारा भिन्न स्रोतों से प्राप्त ब्याज शामिल किया जाता है। इसमें निजी पूँजी एवं उसका ब्याज भी जोड़ा है।

(iv) लाभ (Profits) इसमें व्यक्तिगत व्यापार साझेदारी तथा व्यवसाय से प्राप्त लाभ कम्पनियों के लाभांश जो अंशधारियों को प्राप्त होते हैं जमा अवितरित निगम लाभ व जमा निगमों पर लगे कर शामिल होते हैं।

(v) परोक्ष कर (Indirect taxes) सरकार कई प्रकार के अप्रत्यक्ष कर लगाती है जैसे उत्पादन शुल्क (Excise duties) एवं बिक्री कर। इन करों को वस्तुओं की कीमतों में ही शामिल कर लिया जाता है परन्तु इनसे प्राप्त राजस्व सरकारी आय होती है। अतः यह उत्पादन-साधनों को प्राप्त नहीं होता है। अतः इनमें प्राप्त कुल आय राष्ट्रीय उत्पादन में जमा कर दी जाती है।

(vi) ह्रास (Depreciation) प्रत्येक निगम मशीनों सयंत्रों तथा अन्य पूँजी सभार (Capital equipment) की टूट फूट घिसाई आदि के कारण होने वाले खर्चों को ह्रास के रूप में रखता है। यह राशि भी कुल राष्ट्रीय उत्पादन में शामिल की जाती है क्योंकि यह उत्पादन साधनों का भाग नहीं है।

(vii) हस्तांतरित भुगतान (Transfer Payments) व्यक्तियों द्वारा प्राप्त पेंशनें बेरोजगारी भत्ता तथा सार्वजनिक कर्जों पर ब्याज हस्तांतरित भुगतान कहलाते हैं। इनको कुल राष्ट्रीय उत्पाद में से घटाया जाता है क्योंकि यह प्राप्तियाँ बिना काम किए ही लोगों को मिलती हैं।

G N P according to Income Method = Wages & Salaries + Interests + Profits + Dividends + Undistributed Corporate Profits + Corporate Taxes + Indirect Taxes + Depreciation − Transfer Payments

(2) कुल राष्ट्रीय उत्पादन की व्यय विधि (Expenditure method to GNP) व्यय के दृष्टिकोण से कुल राष्ट्रीय उत्पादन वर्ष भर में वस्तुओं और सेवाओं पर किए गए व्यय का कुल जोड़ होता है जिसमें निम्न मदें शामिल की जा सकती हैं

(i) व्यक्तिगत उपभोग व्यय (Personal consumption expenditure) देश के लोगों द्वारा अपने व्यक्तिगत उपभोग पर सब प्रकार का व्यय इसमें सम्मिलित होते हैं। इसमें टिकाऊ वस्तुएँ शामिल की जाती हैं परन्तु माध्यमिक पदार्थों पर किये गये खर्चे नहीं लिए जाते।

(ii) कुल घरेलू निजी विनियोग (Gross domestic private investment) इसके अन्तर्गत निजी उद्यम द्वारा नये विनियोजन पर और पुरानी पूँजी को प्रतिस्थापन करने के लिए व्यय आता है। इसमें वस्तु-सूची में हुई वृद्धि या कमी

को भी जमा किया जाता है या घटाया जाता है। इसमें अंश तथा स्टाक के वित्तीय *विनिमय को नहीं लिया जाता क्योंकि इनका क्रय विक्रय वास्तविक विनियोग नहीं* होता परन्तु ह्रास को जोड़ा जाता है।

(iii) **शुद्ध विदेशी विनियोग** (Net foreign investment) शुद्ध विदेशी विनियोग से आशय निर्यात और आयात का अन्तर या निर्यात बचत (Export surplus) है। आयात की गई वस्तुओं को राष्ट्रीय आय में शामिल नहीं करते हैं तथा निर्यात की गई वस्तुओं को राष्ट्रीय आय में शामिल करते हैं क्योंकि ये देश में निर्मित होती हैं। अत निर्यात और आयात वस्तुओं के मूल्य स्तर को कुल राष्ट्रीय उत्पादन में सम्मिलित किया जाता है चाहे य धनात्मक हो या ऋणात्मक।

(iv) **सरकारी व्यय** (Government expenditure) सरकार द्वारा *वस्तुओं और सेवाओं पर किया गया व्यय कुल राष्ट्रीय उत्पादन का भाग होता है।* केन्द्रीय प्रांतीय एवं स्थानीय सरकारें अपने कर्मचारियों पर तथा सरकारी दफ्तरों *पर किया गया व्यय जिसमें सरकारी उद्यमों पर किया जा रहा खर्च भी शामिल है* परन्तु हस्तांतरित भुगतानों पर व्यय नहीं जोड़ा जाता है।

> G N P according to Expenditure Method = Personal Consumption Expenditure (C) + Gross Domestic Private Investment (I) + Net Foreign Investment (X – Z) + Government Expenditure (G) = C + I + (X – Z) + G

2 **शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद** (Net National Product) किसी देश के शुद्ध *वार्षिक उत्पादन को शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद कहते हैं। वस्तुओं तथा सेवाओं का* उत्पादन करने के लिए जिन साधनों उपकरणों आदि का प्रयोग किया जाता है उनमें *घिसावट या मूल्य ह्रास (Depreciation) होता है। कुल राष्ट्रीय उत्पाद के कुछ* भाग का प्रयोग इन साधनों के प्रतिस्थापन (Replacement) के लिए किया जाना *आवश्यक है। प्रतिस्थापन व्यय मूल्य ह्रास के बराबर होता है। इस व्यय को कुल* राष्ट्रीय उत्पाद में से घटा देते हैं। अत

शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद (N N P) = कुल राष्ट्रीय उत्पाद – मूल्य ह्रास

NNP = GNP – Depreciation

शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद का आकलन साधन-लागत अथवा बाजार मूल्य पर किया जा सकता है।

3 **राष्ट्रीय आय** (National Income) शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद को ही राष्ट्रीय आय कहते हैं। राष्ट्रीय आय को हम उत्पादन की दृष्टि से ही नहीं बल्कि वितरण की दृष्टि से भी देख सकते हैं। राष्ट्रीय आय उत्पादन-साधनों को प्राप्त आय—लगान मजदूरी ब्याज तथा लाभ आदि—का योग है। उत्पादन के समस्त

साधनो को प्राप्त आय या प्रतिफल के योग को साधन लागत पर राष्ट्रीय आय (National Income at Factor Cost) भी कहते है। शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन से साधन लागत पर राष्ट्रीय आय का इस प्रकार ज्ञात किया जाता है

राष्ट्रीय आय=शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन—अप्रत्यक्ष कर+उपदान

National Income=NNP − Indirect Taxes+Subsidies

कभी-कभी शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद तथा उपरोक्त विधि द्वारा ज्ञात की गई राष्ट्रीय आय में अन्तर पाया जाता है। यह अन्तर मूल्यों में विभिन्नता तथा सांख्यिकीय अशुद्धता के कारण होता है।

4 **व्यक्तिगत आय** (Personal Income) व्यक्तिगत आय तथा राष्ट्रीय आय में अन्तर पाया जाता है। किसी देश के व्यक्तियों को आय के रूप में जो कुल मौद्रिक भुगतान प्राप्त होता है उसे व्यक्तिगत आय कहते हैं। व्यक्तिगत आय के अन्तर्गत बेरोजगारी बीमा तथा अन्य सामाजिक बीमा तथा सामाजिक सुरक्षा योजनाओं (Social Insurance and Social Security Schemes) के अन्तर्गत प्राप्त लाभों (Benefits) को भी सम्मिलित करते हैं (शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद में इन्हें सम्मिलित नहीं किया जाता है)। इसी प्रकार शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद में संस्थाओं का अवितरित लाभ सम्मिलित रहता है परन्तु व्यक्तिगत आय में इसे सम्मिलित नहीं करते हैं अत

वयक्तिक आय=राष्ट्रीय आय+हस्तान्तरित भुगतान—निगम कर—अवितरित व्यावसायिक लाभ—सामाजिक सुरक्षा अंशदान

Personal Incom =National Income+Transfer Payments —Corporate Taxes—Undistributed Business Profits—Social Security Contributior

5 **निवत्य अथवा उपभोग्य आय** (Disposable Income) यह आय उस वास्तविक आय को प्रकट करती है जिसका प्रयोग व्यक्ति द्वारा किया जा सकता है व्यक्तियों को प्रत्यक्ष करों का भुगतान करना पड़ता है। अत

निवत्य आय=व्यक्तिगत आय − प्रत्यक्ष कर

Disposable Income=Personal Income—Direct Taxes

व्यक्ति अपनी आय का कुछ भाग उपभोग पर व्यय करता है तथा कुछ भाग बचाता है अत

निवत्य आय=उपभोग पर व्यय+बचत

Disposable Income=Consumption Expenditure+Savings

यदि उपभोग्य आय को राष्ट्रीय आय म से निकालना हो तो राष्ट्रीय आय म स अप्रत्यक्ष करें व्यक्तियो पर प्रत्यक्ष कर निगम आयकर व व्यावसायिक बचतें घटा दी जाती हैं और हस्तान्तरित भुगतान जमा कर दिये जाते हैं। इस प्रकार

Disposable Income = National Income—Business Savings
+ *Indirect Taxes* + *Direct* Taxes on
Persons + Direct Taxes on Business
+ Transfer Payments

यदि राष्ट्रीय आय को जनसंख्या म भाग दे दें तो प्रति व्यक्ति आय (per capita income) ज्ञात होती है अत

$$\text{प्रति व्यक्ति आय} = \frac{\text{राष्ट्रीय आय}}{\text{जनसंख्या}}$$

$$\text{Per Capita Income} = \frac{\text{National Income}}{\text{Population}}$$

राष्ट्रीय आय के उपरान्त वर्णित पाचो प्रकार की आयो के पारस्परिक सम्बन्ध का स्पष्टीकरण निम्नलिखित सारिणी के आधार पर किया जा सकता है

कुल राष्ट्रीय उत्पाद तथा विभिन्न आयो का सम्बन्ध[1]

(सन् 1962 म सयुक्त राज्य अमेरिका की आय—बिलियन डालरो म)

विवरण	1962 म आय
कुल राष्ट्रीय उत्पाद (G N P)	554 9
—पूँजी उपभोग व्यय (Less Capital Consumption Allowance)	49 4
=**शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद** (N N P)	505 5
—(*अप्रत्यक्ष व्यापारिक कर + हस्तान्तरित व्यापारिक भुगतान + सांख्यिकीय अशुद्धि*) 53 0 2 3 +1 8 (Indirect Bu iness Tax + Busine s Transfer Payments + Statistical Errors)	
+ सहायताए—सार्वजनिक उद्योगो का आधिक्य 1 7 + (Subsidies—Current Surplus of government enterprises)	

---

1 Source U S Department of Commerce *Survey of Current Business* July 1963

वितरण	1962 म आय
राष्ट्रीय आय (National Income)	453 7
—(कम्पनियों के लाभ + सामाजिक बीमा)	
47 0 23 9	
+ (सरकार द्वारा हस्तान्तरित भुगतान 32 5 + सरकार	
द्वारा शुद्ध व्याज का भुगतान 8 0 + लाभांश 16 6	
+ व्यापारिक हस्तान्तरित भुगतान 2 2	
= व्यक्तिगत आय (Per onal Income)	442 1
—केन्द्र राज्य तथा स्थानीय सरकारों को दिया गया कर या कर दायित्व	57 7
= व्यक्तिगत नियत्य आय (Di posable Personal Income)	384 4
—व्यक्तिगत उपभोग व्यय	355 4
= व्यक्तिगत बचत (Personal Savings)	29 0

राष्ट्रीय आय की सगणना
(Measurement of the National Income)

राष्ट्रीय आय की सगणना के लिए सामान्यतया निम्नलिखित रीतियों का प्रयोग किया जाता है

(1) उत्पादन सगणना रीति (Census of Production Method) इस रीति के अन्तर्गत देश के समस्त उत्पादन सस्थानो द्वारा उत्पन्न किए गए पदार्थों का योग ले लिया जाता है और साधन-लागत पर उनका मूल्यांकन किया जाता है। इस राशि म निम्नलिखित का मूल्य जोड दिया जाता है कुटीरो म उत्पन्न वस्तुओं तथा सेवाओं का मूल्य सम्पूर्ण उत्पादित माल पर उत्पादन कर, आयातो का मूल्य आयातो पर चूँगी-कर तथा भवनो का वास्तविक अथवा सभावित वार्षिक किराया।

उपर्युक्त सभी मूल्यो के योग म से मान निर्माण करने म होने वाला ह्रास अथवा अपक्षय (depreciation) मशीनो आदि को चालू रखने का व्यय तथा निर्यातो का मूल्य घटा दिया जाता है। इस प्रकार जो शुद्ध राशि प्राप्त होती है वह राष्ट्रीय आय होती है। इस विधि के अन्तर्गत शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन को साधन लागत पर परिवर्तित कर लिया जाता है। शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन को साधन लागत पर परिवर्तित करने के लिए निम्नलिखित समायोजन (Adjustments) किये जाते हैं

(i) अप्रत्यक्ष व्यापारिक करो को घटाया जाता है।
(ii) सरकारी सहायता अथवा उत्पादन को जोडा जाता है।

(iii) सावजनिक उद्योगो के आधिक्य को घटाया जाता है।
(iv) व्यापारिक हस्तान्तरण भुगतानो को घटाया जाता है।
(v) सांख्यिकीय समायोजन किया जाता है। यह ऋणात्मक अथवा धनात्मक होता है।

जैसे राष्ट्रीय आय = शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन — अप्रत्यक्ष व्यापारिक कर
+ सरकारी उपदान — सरकारी उद्यमों का आधिक्य
— व्यावसायिक हस्तान्तरण भुगतान — डूबने ऋण
+ सांख्यिकीय त्रुटि।

उत्पादन सगणना द्वारा राष्ट्रीय आय ज्ञात करने की रीति सभी देशों में अपनायी जाती है परन्तु इस रीति का प्रयोग करते समय कुछ कठिनाइयों का ध्यान रखना आवश्यक है जो निम्नलिखित हैं **दो बार गणना का भय** कभी कभी उत्पादन के कुछ ऐसे मद होते हैं जिनकी गणना मूल उत्पत्ति स्थान तथा निर्माण स्थान दोनों जगहों पर ही हो जाती है। इससे परिणाम अशुद्ध आने की आशंका रहती है अतः इस दिशा में सावधान रहने की आवश्यकता है। **(ii) मूल्यांकन में कठिनाई** कृषि अथवा निर्माण उद्योगों में तैयार होने वाले माल का मूल्यांकन करना तो कठिन नहीं है परन्तु व्यापारिक लेनदेन में सम्मिलित होने वाला माल इतने अधिक प्रकार का होता है कि उसका वास्तविक मूल्यांकन करना बहुत कठिन होता है।

(2) **आय सगणना रीति** (Census of Income Method) इस रीति के अनुसार विभिन्न क्षेत्रों के व्यक्तियों की व्यक्तिगत आय का योग ले लिया जाता है। डा० बाउले तथा राबर्टसन के अनुसार आय सगणना रीति के अन्तर्गत आय-कर देने वाले व्यक्तियों की आय तथा आय-कर न देने वाले व्यक्तियों की आय जोड़ ली जाती है। ऐसा करने के लिए देश में विभिन्न वर्गों के व्यक्तियों का चुनाव कर लिया जाता है और उनकी आय के आधार पर राष्ट्र की कुल आय का अनुमान प्राप्त कर लेते हैं।

इस विधि के अनुसार राष्ट्रीय आय की गणना करते समय निम्नलिखित सावधानियाँ रखनी चाहिए

(i) हस्तान्तरण भुगतानों को आय की सगणना में शामिल नहीं करना चाहिए *क्योंकि इनसे किसी प्रकार की आय का निर्माण नहीं होता है।*

(ii) उन वस्तुओं व सेवाओं को राष्ट्रीय आय में शामिल नहीं करना चाहिए जिनका कोई मौद्रिक भुगतान नहीं किया जाता हो उदाहरण के लिए गृहिणियों की सेवाएं।

(iii) यदि एक उत्पादक के स्वयं के साधनों का उत्पादन कार्य में प्रयोग किया गया है तो उनके पुरस्कारों को राष्ट्रीय आय में जोड़ा जाता है।

(iv) अवितरित लाभ अथवा सुरक्षित कोष में डाली गई राशि भी राष्ट्रीय आय में शामिल की जाती है।

अतः राष्ट्रीय आय=मजदूरी वेतन तथा अन्य भुगतान+शुद्ध ब्याज
+लगान+कर−पूर्व निगम लाभ+
असम्मिलित उद्योग की आय।

कठिनाइयाँ—आय संगणना रीति द्वारा राष्ट्रीय आय ज्ञात करने में दोहरी गणना का भय नहीं रहता। इसके अतिरिक्त आय ज्ञात करने में परिवारों के सामान्य आय-व्यय (Budget) ज्ञात कर लिए जाते हैं और उनके आधार पर कुल आय ज्ञात कर ली जाती है किन्तु इस क्रिया में अनेक बार कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। (i) आय का वितरण—अविकसित देशों में प्राय जनता द्वारा आय-व्यय का वितरण करने का प्रयत्न नहीं किया जाता। मौखिक रूप में प्रश्नावलियों अथवा प्रश्नों के जो उत्तर दिए जाते हैं वे प्राय अनुमान होते हैं। अतः प्राप्त अंकों की शुद्धता सन्देहजनक रहती है। (ii) मूल्यांकन—एक अन्य कठिनाई यह है कि अनेक वस्तुओं, सेवाओं अथवा सुविधाओं के रूप में प्राप्त आय का यथोचित मूल्यांकन करना कठिन होता है। (iii) सूचना—अविकसित देशों में प्राय अशिक्षित होने के कारण लोग अपनी आय को कम बतलाते हैं अतः सम्भावित भूल की मात्रा अधिक रहने का भय रहता है।

उपरोक्त कठिनाइयों के कारण ही प्राय राष्ट्रीय आय की गणना करने में उत्पादन संगणना तथा आय संगणना दोनों प्रणालियों का साथ-साथ प्रयोग किया जाता है।

(3) व्यय संगणना रीति (Census of Expenditure Method)

राष्ट्रीय आय कुल उपभोग तथा बचतों का योग होता है। अतः व्यय-पद्धति के अन्तर्गत देश के विभिन्न वर्गों द्वारा विभिन्न मदों पर किए गए व्यय की राशि ज्ञात कर ली जाती है तथा उस राशि में कुल बचत (Savings) की रकम जोड़ दी जाती है। यह योग ही राष्ट्रीय आय कहलाता है। राष्ट्रीय आय=कुल व्यय+कुल बचत।

कठिनाइयाँ—व्यय संगणना रीति द्वारा राष्ट्रीय आय ज्ञात करने में एक समस्या तो यह है कि सम्पूर्ण जनसंख्या की उपभोग राशि ज्ञात करना बहुत कठिन है क्योंकि लोग प्राय अपने व्यय का यथोचित हिसाब किताब रखने की चिन्ता नहीं करते। दूसरी ओर बचत और विनियोगों का ब्यौरा प्राप्त करना भी सरल नहीं है। अविकसित देशों में यह कठिनाई विशेष रूप में गम्भीर होती है क्योंकि वहाँ बचत एवं विनियोग की सुविधा देने वाली विशेष संस्थाओं का प्राय अभाव होता है। यह विधि अधिक व्यावहारिक नहीं है क्योंकि व्यक्तियों के उपभोग व्यय व बचतों को ज्ञात करना कठिन है।

(4) सामाजिक लेखा रीति (Social Accounting Method)—उपरोक्त तीन रीतियों के अतिरिक्त प्रो० रिचर्डस्टोन द्वारा राष्ट्रीय आय संगणना की एक

और रीति निकाली गई है। इस रीति को सामाजिक लेखा रीति का नाम दिया गया है। इस रीति के अन्तर्गत देश की सम्पूर्ण जनसंख्या को विभिन्न वर्गों में बाँट दिया जाता है। वर्ग बनाते समय प्राय समान आय वाले व्यक्तियों को एक वर्ग में रखा जाता है। प्रत्येक वर्ग के कुछ व्यक्तियों की आय ज्ञात कर उनका औसत निकाल लिया जाता है और उसी के आधार पर सम्पूर्ण वर्ग की आय ज्ञात कर ली जाती है। सब वर्गों की आय का योग करने से सारे देश की आय का अनुमान हो जाता है। इस विधि का उपयोग उसी समय किया जा सकता है जबकि व्यक्ति तथा संस्थाएं अपनी आय का सही हिसाब रक्खें।

राष्ट्रीय आय विश्लेषण का महत्त्व
(Importance of National Income Analysis)

राष्ट्रीय आय किसी देश की अर्थव्यवस्था के समस्त विभागों (कृषि उद्योग वाणिज्य आदि) की आय का योग है। इस प्रकार से राष्ट्रीय आय समस्त अर्थव्यवस्था का लेखा जोखा है। इस लेखा जोखा को सामाजिक खाता (Social Accounts) कहा जा सकता है। ये खाते आर्थिक सौदों की दोहरा-लेखा प्रणाली के प्रतीक हैं जिनके सम्बन्ध में एक देश की सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था तथा उसके अंगों का अध्ययन किया जा सकता है।[1]

(1) आर्थिक प्रगति की सूचक राष्ट्रीय आय किसी भी देश की आर्थिक प्रगति का सरलतम सूचक है क्योंकि एक ही समय से हम जान सकते हैं कि देश के उत्पादन क्षेत्र में कितनी प्रगति हो रही है। राष्ट्रीय आय में विभिन्न क्षेत्रों के प्रगति-सम्बन्धी विस्तृत आंकड़ों का समावेश किया जाता है अत राष्ट्रीय आय के समंक वस्तुत सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की उन्नति अथवा अवनति की दिशा की ओर संकेत कर देते हैं।

(2) साधनों का प्रयोग राष्ट्रीय आय द्वारा यह ज्ञात हो जाता है कि अमुक वर्ष में विभिन्न राष्ट्रीय साधनों के प्रयोग द्वारा उत्पादन में अमुक मात्रा में वृद्धि की गयी है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वृद्धि सन्तोषजनक है या नहीं। असन्तोषजनक होने की दिशा में सम्बन्धित क्षेत्रों में उत्पादन प्रणाली में सुधार करने का प्रयत्न किया जाता है।

(3) आय स्रोतों का महत्त्व जिन देशों में राष्ट्रीय आय का अधिकांश भाग कृषि उद्योग से प्राप्त होता है वे प्राय अप्रगतिशील अथवा पिछड़े हुए देश माने जाते हैं

1 These accounts form a double ent y system of recording econom c tran act ons in terms of wh ch the economy of a nation can be studied as a whole made up of parts

—*Burdett*

क्योंकि उद्योगों में अधिक व्यक्तियों को रोजगार दिया जा सकता है और उद्योगों में लगायी गयी पूँजी प्राय कृषि में लगायी गई पूँजी से अधिक उत्पादक होती है। इस दृष्टि से राष्ट्रीय आय द्वारा यह ज्ञान हो जाता है कि कृषि उद्योग (लघु एवं वृहदाकार) यातायात तथा अन्य साधनों का राष्ट्रीय आय में कितना योगदान है। इससे देश की वास्तविक प्रगति की दिशा का संकेत मिलता है और यह ज्ञात होता है कि उन्नति ठीक दिशा में हो रही है या विनियोजन गलत क्षेत्रों में किया जा रहा है।

(घ) तुलनात्मक समीक्षा राष्ट्रीय आय के आँकड़ों से दो प्रकार की तुलना करना सम्भव हो जाता है (क) अन्तर्राष्ट्रीय तुलना में सहायक विभिन्न देशों की कुल अथवा प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय कितनी है। इस जानकारी से अन्य देशों की आर्थिक प्रगति की तुलना करना सम्भव है। भारत और जापान इंग्लैण्ड तथा अमरीका की बढ़ती हुई समृद्धि की तुलना करने की सरलतम रीति कुल राष्ट्रीय आय अथवा प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय की जानकारी है। इस जानकारी के आधार पर अविकसित देश विकसित देशों के अनुभव का लाभ उठा सकते हैं और अपनी आय में वृद्धि कर सकते हैं।

(ख) अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों के विकास के अध्ययन में सहायक राष्ट्रीय आय के आधार पर यह जानकारी प्राप्त की जा सकती है कि देश में कृषि उद्योग वाणिज्य तथा यातायात से प्राप्त आय कितनी प्रतिशत है। इससे उस देश के विभिन्न क्षेत्रों की प्रगति का ठीक ठीक एवं तुलनात्मक अनुमान हो जाता है और कम विकसित तथा निर्धन क्षेत्रों के विकास पर विशेष ध्यान दिया जा सकता है।

(3) सरकारी नीति का आधार राष्ट्रीय आय सरकार की आर्थिक नीति के महत्त्वपूर्ण आधार का काम करता है। सामान्यत अपनी आर्थिक नीति निश्चित करने में सरकार राष्ट्रीय आय का निम्न रूप में प्रयोग करती है

(क) कर नीति सरकार द्वारा उन क्षेत्रों में करों का संशोधन करने के प्रस्ताव किये जाते हैं जिनमें आय अथवा उत्पादन कम होता है। करों की छूट देने से आय दुर्बल क्षेत्रों में उत्पादन बढ़ाने की क्रिया को प्रोत्साहन मिलता है। इसी प्रकार समाज के जो वर्ग आर्थिक दृष्टि से निर्धन हैं उन्हें कर-संशोधन द्वारा सहायता देने का प्रयत्न किया जाता है।

(ख) विकास योजना का आधार राष्ट्रीय आय के आँकड़े सरकार को विभिन्न क्षेत्रों के उत्पादन का ब्यौरा दे देते हैं। इनके आधार पर सरकार को यह निश्चय करने में सहायता मिलती है कि किन क्षेत्रों में विकास पर अधिक रकम लगानी चाहिए तथा किन क्षेत्रों में प्रशासन-व्यवस्था में सुधार करना

आवश्यक है। इससे विकास योजनाओं में प्राथमिकताओं का निर्णय किया जा सकता है।

(ग) सामाजिक बीमा प्रजातन्त्र की सफलता का एक महत्त्वपूर्ण मापदण्ड यह है कि देश के नागरिक अपने आपको आर्थिक दृष्टि से सबल एवं सुरक्षित समझें। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कम आय वाले देशों में वृद्धावस्था पेंशन नि शुल्क चिकित्सा सुविधाएँ अथवा अन्य जनहितकारी कार्य किये जा सकते हैं।

वस्तुत विभिन्न देशों की राष्ट्रीय आय की जानकारी से ही अविकसित देशों के शासक अपनी आर्थिक नीति कल्याणकारी एवं जनहितकारी बना सकते है।

(4) व्यापार चक्रों के विश्लेषण में सहायक राष्ट्रीय आय सम्बन्धी जानकारी से स्थिरता के साथ आर्थिक विकास के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है। मन्दी तथा व्यवसाय की स्थितियों को विनियोग वृद्धि द्वारा समाप्त किया जा सकता है। तेजी अथवा मुद्रा-स्फीति की स्थिति को विनियोग तथा व्यय में कमी द्वारा समाप्त किया जा सकता है। ठीक इसी प्रकार राष्ट्रीय आय को उत्पादन के पूर्ण रोजगार के बिन्दु तक पहुचने पर उचित राजकोषीय नीति द्वारा सन्तुलन में बनाये रखा जा सकता है।

(7) भविष्य की प्रवृत्तियाँ कुछ वर्षों के राष्ट्रीय आय सम्बन्धी आंकड़ो से यह ज्ञात हो जाता है कि देश में राष्ट्रीय आय की प्रगति इस दिशा में कितनी हो रही है। स्वभावत इससे भविष्य की प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में पूर्वानुमान लगाये जा सकते हैं और असन्तोषजनक प्रवृत्तियों में सुधार करने हेतु प्रयत्न किये जा सकते हैं।

संक्षेप में राष्ट्रीय आय की जानकारी विभिन्न राष्ट्रों की आर्थिक प्रगति सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण सूचनाएं प्रदान करती है जिसके आधार पर देश की कृषि उद्योग यातायात रोजगार तथा मूल्य से सम्बन्धित नीतियाँ निश्चित करना सम्भव होता है।

राष्ट्रीय आय की संगणना में कठिनाइयाँ (Difficulties in the Estimation)

राष्ट्रीय आय की संगणना एक कठिन समस्या है। राष्ट्रीय आय विषयक समंक केवल अनुमान के प्रतीक है यद्यपि यह अनुमान लगभग सही होते हैं। राष्ट्रीय आय के सही परिकलन के लिए यह आवश्यक है कि अर्थव्यवस्था के विभिन्न अंगों से सम्बन्धित समंक सही तथा विस्तृत रूप से उपलब्ध हो। राष्ट्रीय आय के गणकों को आर्थिक सिद्धान्तों तथा अर्थ व्यवस्था की विस्तृत जानकारी होनी चाहिए। सामान्यतया राष्ट्रीय आय का आकलन करते समय निम्नलिखित कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है

(1) राष्ट्रीय आय की गणना करते समय सबसे बड़ी कठिनाई दोहरी गणना की होती है। इसमें एक वस्तु या सेवा के कई बार गिनने की आशंका

रहती है। यदि ऐसा हो तो राष्ट्रीय आय कई गुना बढ़ जायगी और दूसरी तरफ यदि इनको राष्ट्रीय आय में शामिल नहीं करें तो राष्ट्रीय आय कम हो जायगी।

(2) राष्ट्रीय आय में अवैध क्रियाओं से प्राप्त आय सम्मिलित नहीं की जाती जैसे जुए या चोरी से बनाई गई शराब से आय। ऐसी वस्तुओं का भी मूल्य होता है और वे उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं की भी पूर्ति करती हैं परन्तु इनको राष्ट्रीय आय में शामिल न करने से राष्ट्रीय आय कम रह जाती है।

(3) राष्ट्रीय आय में हस्तान्तरणीय भुगतानों को सम्मिलित करने की कठिनाई होती है। पेन्शन बेरोजगारी भत्ता तथा सार्वजनिक ऋणों पर ब्याज व्यक्तियों को प्राप्त होते हैं पर इनको राष्ट्रीय आय में शामिल किया जाए या नहीं किया जाए एक कठिन समस्या है। एक ओर तो ये प्राप्तियाँ व्यक्तिगत आय का भाग हैं दूसरी ओर ये सरकारी व्यय हैं। इस कठिनाई से बचने के लिए इन्हें राष्ट्रीय आय में से घटा दिया जाता है।

(4) राष्ट्रीय आय की गणना करते समय उन्हीं वस्तुओं के मूल्य को सम्मिलित करते हैं जिनका विनिमय होता है। परन्तु कुछ वस्तुएं व सेवाओं का विनिमय नहीं होता है जैसे गृहिणी की सेवाएं व्यक्ति द्वारा परिवार को प्रदत्त सेवाएँ निजी वस्तुओं का उपभोग सरकार द्वारा प्राप्तियाँ शुल्क सुविधाएँ आदि। ऐसी वस्तुओं तथा सेवाओं के मूल्य को राष्ट्रीय आय में सम्मिलित नहीं करते हैं अतः राष्ट्रीय आय वास्तविक से कम होती है।

(5) आकलन में कुछ विरोधाभास भी पाया जाता है जैसे यदि किसी स्त्री को नौकर रक्खा जाए तो उसका वेतन राष्ट्रीय आय में जोड़ा जाएगा परन्तु शादी के पश्चात् गृहिणी के रूप में उसकी सेवाओं का मूल्यांकन नहीं किया जाएगा।

(6) अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध में पूर्ण तथा विश्वसनीय समंक उपलब्ध नहीं होते हैं।

(7) विभिन्न वर्षों की राष्ट्रीय आय को तुलनात्मक रूप प्रदान करने के लिए मूल्य निर्देशांक (Price Index) का प्रयोग किया जाता है परन्तु मूल्य निर्देशांक पूर्णतया विश्वसनीय नहीं होते तथा उनमें पर्याप्त विभिन्नताएं भी पाई जाती हैं।

(8) राष्ट्रीय आय मौद्रिक मूल्य को ही व्यक्त करती है इसके द्वारा वास्तविक उत्पादन-मात्रा का बोध नहीं होता है।

(9) अल्पविकसित देशों में लोग अधिकतर अनपढ़ होते हैं और हिसाब किताब रखना नहीं जानते। जो हिसाब किताब रखना जानते भी हैं वे अपनी सही आय बताने को तैयार नहीं होते। ऐसी स्थिति में राष्ट्रीय आय का केवल अन्दाज

ही लगाया जा सकता है। यही कारण है कि राष्ट्रीय आय के आंकड़े अपर्याप्त तथा अविश्वसनीय होने से इनका सही आकलन करना कठिन है।

(10) अल्प विकसित देशों में राष्ट्रीय आय का आकलन शुद्धता से नहीं किया जा सकता है क्योंकि उनकी अर्थव्यवस्था का बड़ा भाग अमुद्रीकृत (Non monetised) होता है। विनिमय कम वस्तुओं का होता है। अतः अधिकांशतः आकलन अनुमान पर आधारित होता है। कृषक तथा अशिक्षित उत्पादक अपने उत्पादन का मूल्य स्वयं नहीं जानते हैं। इन कठिनाइयों के कारण अल्प विकसित देशों के राष्ट्रीय आय सम्बन्धी आँकड़े पूर्ण विश्वसनीय नहीं होते हैं।

राष्ट्रीय आय तथा आर्थिक कल्याण
(National Income and Eoconomic Welfare)

आर्थिक कल्याण क्या है? (What is Economic Welfare?)

कल्याण एक मानसिक स्थिति है जो मानवीय प्रसन्नता एवं सन्तुष्टि की द्योतक है। कल्याण मानवीय स्थिति की एक प्रबल अवस्था है। प्रो० पीगू (Prof Pigou) कल्याण को दो भागों में विभक्त करते हैं कुल कल्याण (Total Welfare) तथा आर्थिक कल्याण (Economic Welfare)। कुल कल्याण बहुत विस्तृत है और इसके अन्तर्गत नैतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि सभी प्रकार के कल्याण शामिल किये जाते हैं। दूसरे शब्दों में उपलब्ध या विद्यमान साधनों से मिलने वाली सभी प्रकार की सन्तुष्टियाँ (Satisfactions) असन्तुष्टियाँ (Dissatisfactions) कुल कल्याण के अन्तर्गत आती हैं। पीगू के अनुसार **आर्थिक कल्याण कुल उत्पादन का वह भाग है जिसे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मुद्रा के मापदण्ड से सम्बन्धित किया जा सकता है।**

प्रो० पीगू का यह मानना है कि आर्थिक कल्याण को दो भागों—आर्थिक कल्याण तथा अनार्थिक कल्याण में बाँटना कठिन है क्योंकि इन दोनों को एक-दूसरे से अलग करना आसान नहीं है। अनार्थिक कल्याण को आर्थिक कारण दो प्रकार से प्रभावित करते हैं

(i) आय को प्राप्त करने का ढंग और

(ii) आय को व्यय करने का ढंग

इस प्रकार आर्थिक तथा अनार्थिक कल्याण एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। इन दोनों कल्याणों की पारस्परिक निर्भरता के सम्बन्ध में पीगू का कहना है कि यद्यपि हम आर्थिक तथा अनार्थिक कल्याण के बीच निश्चित कोई रेखा नहीं खींच सकते लेकिन फिर भी मुद्रा रूपी मापदण्ड द्वारा दोनों के बीच मोटा अन्तर किया जा सकता है।

कल्याण' की माप अत्यन्त ही कठिन है क्योंकि यह एक भावनात्मक शब्द है। कल्याण विषयगत (Sujective) है अतः उसका अनुमान नहीं लगाया जा सकता है। इसकी माप भी सापेक्षिक रूप (Relative Term) में ही की जा सकती है। कल्याण के जिस अंश की माप मुद्रा द्वारा की जा सकती है उसे आर्थिक कल्याण कहते हैं। परन्तु आर्थिक कल्याण को अनार्थिक कल्याण से पृथक करना अत्यन्त ही कठिन है। फिर भी हम मुद्रा के माध्यम से आर्थिक कल्याण की जानकारी प्राप्त कर कुल कल्याण के विषय में मोटे तौर पर अनुमान लगा सकते हैं। राष्ट्रीय आय तथा आर्थिक कल्याण में घनिष्ट सम्बन्ध है। सामान्यतया प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय की वृद्धि को आर्थिक कल्याण एवं जीवन-स्तर में वृद्धि का प्रतीक माना जाता है। परन्तु वस्तुतः यह धारणा भ्रामक है क्योंकि

(1) ऊँची प्रति व्यक्ति आय देश के आर्थिक कल्याण का द्योतक नहीं है। यह सम्भव है कि कुल राष्ट्रीय आय अधिक होने के कारण प्रति व्यक्ति आय अधिक हो परन्तु साथ ही साथ यह भी सम्भव है कि देश में आय का वितरण अत्यन्त ही विषम हो अर्थात् राष्ट्रीय आय का अधिकांश भाग कुछ धनी व्यक्तियों के ही हाथों में केन्द्रित हो तथा जनसंख्या का बड़ा अंश भूख-नंगे निर्धन वर्ग हो। अतः आय के वितरण पक्ष को ध्यान में रखते हुए ही हम राष्ट्रीय आय तथा आर्थिक कल्याण के सम्बन्धों की जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

(2) यदि किसी देश की राष्ट्रीय आय काफी अधिक हो परन्तु वह सुरक्षा (Defence) पर बहुत अधिक व्यय करता है तो उस देश में आर्थिक कल्याण का राष्ट्रीय आय से कोई सम्बन्ध नहीं होगा।

(3) आर्थिक कल्याण भौतिक परिस्थितियों पर निर्भर है। भारत में कम ऊनी कपड़े तथा शाकाहारी भोजन से भी एक व्यक्ति सुखी रह सकता है, परन्तु अमरिका में अधिक महंगे निरामिष भोजन तथा अधिक ऊनी कपड़ों से भी शायद उतना सुख न प्राप्त हो। अतः एक अमरिकी नागरिक की अधिक आय तुलनात्मक दृष्टि से प्रत्यक्ष परिस्थिति में अधिक आर्थिक कल्याण की प्रतीक नहीं कही जा सकती है।

(4) मूल्य-स्तर में विभिन्नताओं के कारण भी हम राष्ट्रीय आय के आधार पर दो देशों के आर्थिक कल्याण की तुलना नहीं कर सकते हैं। जैसे भारत में एक सूट की धुलाई चार रुपए होने पर उसकी तुलना अमरिका में तीन रुपए धुलाई हेतु देने से नहीं की जा सकती है।

(5) अल्प-विकसित देशों (जिनकी राष्ट्रीय आय कम होती है) में अमुद्रीकृत क्षेत्र अधिक बड़ा होता है। लोग अपना काम अपने हाथ से अधिक करते हैं। उनकी वस्तुओं तथा सेवाओं का विनिमय नहीं होने के कारण राष्ट्रीय आय वास्तविकता को प्रकट नहीं करती। अतः ऐसी स्थिति में भी दो देशों की तुलना राष्ट्रीय आय के आधार पर नहीं की जा सकती है।

पीगू के विचार मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि अन्य बातों के समान रहने पर *अधिक राष्ट्रीय आय अधिक आर्थिक कल्याण की प्रतीक है। सामान्य रूप* से यह कहा जा सकता है कि (i) राष्ट्रीय आय में वृद्धि के कारण यदि निधनों को प्राप्त लाभांश में कमी नहीं हुई है तो आर्थिक कल्याण में वृद्धि होगी (ii) यदि नागरिकों की रुचि में परिवर्तन अच्छाई की ओर हुआ है तो राष्ट्रीय आय में वृद्धि होने से आर्थिक कल्याण बढ़ेगा (iii) यदि राष्ट्रीय आय की वास्तविक उत्पादन लागत (Real cost of production) कम है तो राष्ट्रीय आय में वृद्धि से आर्थिक कल्याण में वृद्धि होगी (iv) यदि जनसंख्या में अधिक वृद्धि हुई है तो राष्ट्रीय आय में कम तुलनात्मक वृद्धि से आर्थिक कल्याण घटेगा तथा (v) जिस देश में आर्थिक विषमता जितनी ही कम होगी राष्ट्रीय आय में वृद्धि से आर्थिक कल्याण उतना ही बढ़ेगा।[1]

क्या आर्थिक कल्याण कुल कल्याण का बैरोमीटर है ?
(Is Economic Welfare a Barometer of Total Walefare ?)

आर्थिक कल्याण कुल कल्याण का एक भाग है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि यदि आर्थिक कल्याण में परिवर्तन होते हैं अर्थात् आर्थिक कल्याण में वृद्धि या कमी होती है तो कुल कल्याण में भी उसी दिशा में परिवर्तन होंगे अर्थात् कुल कल्याण में भी वृद्धि या कमी होगी। अतः प्रकट रूप में यह कहा जा सकता है कि आर्थिक कल्याण कुल कल्याण का सूचक है। परन्तु यह कथन सदैव ठीक नहीं कहा जा सकता। इसके लिए निम्नलिखित दो मान्यताएं पूरी होनी जरूरी हैं

1 यदि यह मान लिया जाय कि आर्थिक कल्याण को प्रभावित करने वाले आर्थिक कारण अनार्थिक कल्याण को बिलकुल प्रभावित नहीं करते हैं।

परन्तु यह मानना ठीक नहीं है क्योंकि हम देख चुके हैं कि आर्थिक कारण अनार्थिक कल्याण को दो प्रकार से प्रभावित करते हैं— आय को प्राप्त करने के ढंग द्वारा तथा आय को व्यय करने के ढंग द्वारा।

2 यदि आर्थिक कारण अनार्थिक कल्याण को प्रभावित करते हैं तो यह मान लिया जाय कि जिस दिशा में आर्थिक कल्याण में परिवर्तन होगा (अर्थात् आर्थिक कल्याण में वृद्धि या कमी होती है), उसी दिशा में आर्थिक कल्याण में परिवर्तन होंगे।

परन्तु यह बात भी ठीक नहीं है क्योंकि व्यवहार में ऐसा नहीं होता है। जैसे पीगू बताते हैं कि यह निश्चित नहीं है जिस दिशा में आर्थिक कल्याण में परि

1 आर्थिक कल्याण तथा राष्ट्रीय आय के सम्बन्ध में गत कुछ वर्षों में महत्त्वपूर्ण आर्थिक विश्लेषण प्रस्तुत किए गए हैं परन्तु स्नातक कक्षा के विद्यार्थियों के लिए वे कठिन सिद्ध होंगे।

वतन हो उसी दिशा म अनार्थिक कल्याण म भी परिवतन हो। यह सम्भव है कि (1) एक आर्थिक कारण आर्थिक कल्याण म तो वद्धि करे परन्तु अनार्थिक कल्याण म कमी करे या (ii) एक आर्थिक कारण के प्रभावस्वरूप आर्थिक कल्याण म तो कमी हो किन्तु अनार्थिक कल्याण म वद्धि हो जाय या (iii) आर्थिक कल्याण पर अच्छा प्रभाव अनार्थिक कल्याण पर बुरे प्रभाव म नष्ट हो सकता है। यदि एसा हुआ तो कुल कल्याण म कोई परिवतन नहीं होगा।

अन उपयुक्त विवरण के आधार पर पीगू के शब्दो म यह कहा जा सकता है कि आर्थिक कल्याण कुल कल्याण के बरोमीटर या सूचक की भाँति काय नहीं करेगा।'

राष्ट्रीय आय एव आर्थिक कल्याण में सम्बन्ध

(Relation Between National Income and Economic Welfare)

राष्ट्रीय आय तथा आर्थिक कल्याण दोनो म घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। जब राष्ट्रीय आय बढ़ती है तब आर्थिक कल्याण म वद्धि होती है और राष्ट्रीय आय म कमी होन स आर्थिक कल्याण म भी कमी होती है अर्थात् राष्ट्रीय आय के परिमाण म होने वाले परिवतनो का आर्थिक कल्याण पर प्रभाव पड़ता है। आर्थिक कल्याण पर राष्ट्रीय आय का प्रभाव दो प्रकार से पड़ता है

(1) राष्ट्रीय आय के परिमाण म परिवतन तथा आर्थिक कल्याण और

(2) राष्ट्रीय आय के वितरण म परिवतन तथा आर्थिक कल्याण।

राष्ट्रीय आय के परिमाण में परिवतन तथा आर्थिक कल्याण

राष्ट्रीय आय के परिमाण म परिवतन धनात्मक या ऋणात्मक हो सकता है। यदि राष्ट्रीय आय म धनात्मक परिवतन होन स उसके आकार म वृद्धि होती है तो लोग अधिक वस्तुओ व सवाओ का उपभोग करत हैं। इससे आर्थिक कल्याण म वृद्धि होती है जबकि राष्ट्रीय आय म ऋणात्मक परिवतन होन स जब इसका आकार कम होता है तो लोगो को कम वस्तुएँ व सवाएँ उपयोग के लिए प्राप्त होती हैं जिसस आर्थिक कल्याण म कमी आती है। परन्तु यह सम्बन्ध कई बातो पर निभर करेगा। इसके कुछ अपवाद (Exceptions) होते हैं। इसके सही होन के लिए कुछ दशाओ का पूरा होना आवश्यक है जो इस प्रकार हैं

(i) राष्ट्रीय आय की मात्रा में परिवतन के परिणामस्वरूप निधनों की आय मे कमी नहीं होना यदि राष्ट्रीय आय म वद्धि इस प्रकार हो कि देश के निधनो की आय घट जाय जबकि धनी व्यक्तियो की आय बढ़ जाय तो राष्ट्रीय आय म वद्धि स देश के कुल आर्थिक कल्याण म वद्धि नहीं होगी क्योंकि धनी व्यक्तियो को आय म वद्धि के परिणामस्वरूप प्राप्त लाभ कम होगा, अपेक्षाकृत उस हानि के जो कि निधनो की आय म कमी होन स होगी।

(ii) राष्ट्रीय आय में वृद्धि के फलस्वरूप लोगों की रुचियों (tast s) में अच्छे परिवर्तनों से आर्थिक कल्याण बढ़ेगा अन्यथा घटेगा राष्ट्रीय आय में वृद्धि के कारण लोग अधिक मात्रा में वस्तुओं और सेवाओं का उपभोग कर सकेंगे फलस्वरूप उनकी रुचियों में परिवर्तन होगा। यदि रुचि परिवर्तन अच्छाई की ओर होता है तो आर्थिक कल्याण बढ़ेगा उदाहरणार्थ पुस्तकालय खुलने से पढ़ने की रुचि बढ़ेगी व बचत खातों में वृद्धि से लोगों में मितव्ययता बढ़ेगी। यदि रुचि परिवर्तन बुराई की ओर है तो आर्थिक कल्याण में कमी होगी जैसे शराब पीना जुआ खेलना आदि से।

(iii) यदि उत्पादन में त्याग तथा असन्तोष से बढ़ी हुई राष्ट्रीय आय से मिलने वाला सन्तोष अधिक है तो आर्थिक कल्याण में वृद्धि होगी यदि राष्ट्रीय आय में वृद्धि काम के घण्टों को बढ़ा कर अस्वस्थ वातावरण में काम करने आदि से हुई है तो आर्थिक कल्याण में कमी होगी क्योंकि बढ़े हुए मात्रा से राष्ट्रीय आय से मिलने वाली सन्तुष्टि कम होगी जबकि नई उत्पादन रीतियों के प्रयोग व प्रशासन व्यवस्था में सुधार आदि के कारण राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है तो आर्थिक कल्याण में वृद्धि होगी। अतः बढ़े हुए राष्ट्रीय आय से मिलने वाली सन्तुष्टी कम होगी अपेक्षाकृत उसके उत्पादन करने में कष्ट तथा त्याग से।

(iv) जनसंख्या वृद्धि की दर राष्ट्रीय आय की वृद्धि की दर से अधिक हो यदि राष्ट्रीय आय में वृद्धि के साथ देश की जनसंख्या में तीव्र गति से वृद्धि होती है तो प्रति व्यक्ति आय में कमी होगी और राष्ट्रीय आय में वृद्धि होने पर भी आर्थिक कल्याण में वृद्धि नहीं होगी।

(2) राष्ट्रीय आय के वितरण में परिवर्तन तथा आर्थिक कल्याण

राष्ट्रीय आय के वितरण का अर्थ है एक वर्ग के व्यक्तियों से दूसरे वर्ग के व्यक्तियों को आय का हस्तान्तरण होना। यह हस्तान्तरण दो प्रकार से हो सकता है

(i) धनी वर्ग से निर्धन वर्ग की तरफ आय का हस्तान्तरण अथवा

(ii) निर्धन वर्ग से धनी वर्ग की तरफ आय का हस्तान्तरण।

(i) धनी वर्ग से निर्धन वर्ग की तरफ आय का हस्तान्तरण

यदि राष्ट्रीय आय का वितरण निर्धन वर्ग के पक्ष में होता है तो इसका अर्थ है कि धनी व्यक्तियों की आय में कमी की जायगी और निर्धन व्यक्तियों की आय में वृद्धि होगी और निर्धनों की स्थिति पहले से अच्छी हो जायगी।

सामान्यतया यह कहा जा सकता है कि निर्धनों के पक्ष में राष्ट्रीय आय का हस्तान्तरण आर्थिक कल्याण में वृद्धि करता है तथा उनके विपक्ष में परिवर्तन

आर्थिक कल्याण में कमी करता है। इसकी पुष्टि निम्न तर्कों द्वारा की जा सकती है

(अ) आर्थिक कल्याण वस्तुओं तथा सेवाओं के उपयोग की मात्रा पर निर्भर करता है।

(ब) पीगू के अनुसार धनी व्यक्तियों की सन्तुष्टि (अर्थात् कल्याण) का एक बड़ा भाग निरपेक्ष आय (Absolute income) से न होकर सापेक्षिक आय (Rel tive income) से प्राप्त होता है।

परन्तु कुछ लोगों के अनुसार निर्धनों के पक्ष में राष्ट्रीय आय का वितरण आर्थिक कल्याण में वृद्धि नहीं करता इसके लिए निम्न तर्क दिये जाते हैं

(अ) धनी व्यक्तियों के स्वभाव में अन्तर होता है तथा प्रारम्भ से ही उनके पालन पोषण में भी अन्तर रहता है और वे एक निश्चित आय से निर्धनों की अपेक्षा अधिक सन्तुष्टि प्राप्त करने की योग्यता रखते हैं।

(ब) निर्धनों की आय में वृद्धि होने पर वे दुर्व्यसनों पर व्यय करते हैं जैसे शराब पीने जुआ खेलने इत्यादि पर। इस प्रकार आर्थिक कल्याण में वृद्धि के स्थान पर कमी होती है।

परन्तु यह तर्क पूर्णतया सही नहीं है क्योंकि कुछ समय पश्चात् निर्धन व्यक्तियों के स्वभाव तथा रुचियों में परिवर्तन हो जाता है और वे बढ़ी हुई आय के साथ समायोजन कर लेते हैं।

(ii) निर्धन वर्ग से धनी वर्ग की तरफ आय का हस्तान्तरण

यदि राष्ट्रीय आय का वितरण धनवानों के पक्ष में होता है तो इसका अर्थ है कि निर्धनों की आय में कमी होगी और धनी व्यक्तियों की आय में वृद्धि। परिणामस्वरूप धनी व्यक्ति अधिक धनी हो जायेंगे और निर्धनों की स्थिति पहले से और अधिक खराब हो जायगी।

उपर्युक्त दोनों दृष्टिकोणों में यह ध्यान में रखा गया है कि राष्ट्रीय आय की मात्रा में कोई परिवर्तन नहीं होता है।

सारांश रूप में यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय आय का वितरण धनी व्यक्तियों से निर्धन व्यक्तियों की ओर होना चाहिए जिससे उनकी आर्थिक स्थिति सुधर सके तथा उनको दुर्व्यसनों से बचने का प्रयत्न करना होगा करने के परिणामस्वरूप आर्थिक कल्याण में वृद्धि होगी।

आर्थिक क्रियाओं का चक्राकार प्रवाह

(The Circular Flow of Economic Activities)

आधुनिक औद्योगिक युग के पूर्व कृषि की प्रधानता थी। व्यक्ति स्वावलम्बी था तथा वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं करता था। वह उत्पादक तथा

उपभोक्ता दोनो ही था। परन्तु आधुनिक उत्पादन विक्रय के लिए किया जाता है। उत्पादन के लिए विभिन्न प्रकार के उत्पादन-साधनो का एकत्रित किया जाना है तथा उनके सहयोग से उत्पादन किया जाता है। उत्पादन-साधनो को प्रतिफल देना आवश्यक होता है।

अत लगान मजदूरी, ब्याज वेतन व लाभाश के रूप म विभिन्न उत्पादन साधनो का भुगतान किया जाता है। विनियोजको को ब्याज व लाभाश तथा कर्मचारियो को मजदूरी व वेतन के रूप म आय प्राप्त होती है। इस आय का उपयोग वे वस्तुओ तथा सेवाओ को खरीदने के लिए करते हैं। इस प्रकार उत्पादन द्वारा आय प्राप्त होती है तथा आय द्वारा उत्पादन को खरीदा जाता है। **अत प्रत्येक व्यक्ति दो रूपों मे आर्थिक क्रियाओं में भाग लेता है**—उत्पादन के साधन के रूप म वस्तुओ का उत्पादन करने म तथा उपभोक्ता के रूप म उत्पादित वस्तुओ का क्रय कर उनका उपभोग करने म। इस दोहरी क्रिया मे फर्मे भी भाग लेती हैं—वे उत्पादन-साधनो को आय के रूप म भुगतान करती हैं तथा क्रेताओ को वस्तुओ और सेवाओ का विक्रय करती हैं। इस प्रक्रिया का परिणाम इस प्रकार होता है—**उत्पादन द्वारा आय होती है आय का उपयोग क्रय शक्ति के रूप मे व्यय करके किया जाता है। व्यय करने के कारण उत्पादन की मांग होती है। इस प्रकार आय व्यय तथा उत्पादन चक्राकार चलते रहते हैं।** इस चक्राकार क्रिया म न तो कोई आरम्भ बिन्दु होता है न अन्तिम बिन्दु। अत राष्ट्रीय आय एक प्रवाह के रूप म निरन्तर निर्बाध बहती रहती है।

उत्पादन के साधनो की मात्रा उनकी उत्पादन शक्ति तथा वस्तुओ के मांग परिवतन के अनुसार राष्ट्रीय आय भी घटती-बढ़ती रहती है। इस प्रकार राष्ट्रीय आय स्थिर या निश्चित कोष नही है। यह एक निरन्तर बहने वाला प्रवाह है जिसम उतार चढ़ाव होत रहत हैं। इसी राष्ट्रीय आय म से उत्पादन के साधनो का हिस्सा प्रदान किया जाता है।[1]

अत नागरिकों की आय = उत्पादन साधनों को मुद्रा के रूप में भुगतान = उत्पादन का विक्रय मूल्य।

प्राप्त आय का उपभोग पर व्यय किया जाता है तथा कुछ भाग बचत के रूप म शेष रहता है अत

आय = उपभोग + बचत

---

1 The national dividend is at once the aggregate net product of and the *sole source of* payment for all the agents of production within the country

—*Marshall*

बचत का उपयोग पूँजीगत वस्तुओं को खरीदकर विनियोग के रूप में किया जाता है। इन पूँजीगत वस्तुओं का प्रयोग उत्पादन के लिए किया जाता है जिससे पुन आय प्राप्त होती है। इस प्रकार आर्थिक क्रियाओं द्वारा आय का एक चक्राकार प्रवाह बन जाता है

साधनों की आय ↑	↑ उपभोग पर व्यय→ उत्पादक को विक्रय मूल्य के रूप में प्राप्ति ↓	}	उत्पादन द्वारा प्राप्त मुद्रा का प्रयोग उत्पादन साधनों को प्रतिफल देने के लिए
	बचत→ विनियोग	}	= साधनों की आय ↓
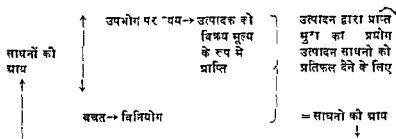
आर्थिक क्रियाओं के इस चक्राकार प्रवाह से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि (1) यदि उत्पादन साधन कम हैं तो कुल उत्पादन भी कम होगा (2) उत्पादकों का विक्रय मूल्य के रूप में प्राप्ति इस बात पर निर्भर है कि साधनों को कितनी मात्रा में भुगतान किया जाता है। उत्पादन साधनों को किया गया भुगतान और विक्रय द्वारा प्राप्त धनराशि अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण हैं। किसी भी देश में आय एवं रोजगार का निर्धारण इन्हीं के द्वारा होता है।

साधनों को किया गया भुगतान उत्पादन लागत के बराबर होता है। इसे कुल राष्ट्रीय उत्पादन का पूर्ति मूल्य (Aggregate supply price of the national output) कह सकते हैं। साधक प्राप्त आय का उपभोग वस्तुओं तथा सेवाओं को खरीदने के लिए करते हैं अत कुल खरीद मूल्य को राष्ट्रीय उत्पादन का माँग मूल्य (Demand price) कह सकते हैं। पूर्ति मूल्य तथा माँग मूल्य एक दूसरे पर निर्भर हैं। इन दोनों का असन्तुलन देश की आय तथा रोजगार में परिवर्तन लाता है। राष्ट्रीय उत्पादन के माँग मूल्य को ऊँचा रखकर रोजगार में वृद्धि की जा सकती है।

परीक्षोपयोगी प्रश्न व संकेत

1 राष्ट्रीय आय की परिभाषा दीजिए व इसका महत्त्व बताइए।
Define National Income and show its significance

[संकेत—सर्वप्रथम राष्ट्रीय आय की कुछ परिभाषाएँ देकर अर्थ स्पष्ट कीजिए तथा इसके बाद राष्ट्रीय आय का महत्त्व बतलाइए।

2 राष्ट्रीय आय की परिभाषा दीजिए। राष्ट्रीय आय की माप किस प्रकार की जाती है ?

Define National Income Explain how National Income is measured

[संकेत—राष्ट्रीय आय की परिभाषा देकर इसका अर्थ स्पष्ट करें। इसके पश्चात मापने की विधियों का वर्णन करें।]

3 राष्ट्रीय आय अनुमानों के क्या उपयोग हैं ?

What are the uses of National Income estimates ?

[संकेत—राष्ट्रीय आय अनुमानों का महत्त्व लिखें।]

4 राष्ट्रीय आय को परिभाषित कीजिए। कुल राष्ट्रीय आय उत्पादन तथा शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

Define National Income Distinguish between GNP and NNP

5 आर्थिक कल्याण से आप क्या समझते हैं ? राष्ट्रीय आय की मात्रा तथा वितरण में परिवर्तनों का आर्थिक कल्याण पर किस प्रकार प्रभाव पड़ता है ?

What do you understand by Economic Welfare ? How do the changes in the size and distribution of national income affect *economic welfare* ?

[संकेत—सर्वप्रथम आर्थिक कल्याण का अर्थ लिखें फिर राष्ट्रीय आय की मात्रा में परिवर्तन का तथा अन्त में राष्ट्रीय आय के वितरण में परिवर्तन का आर्थिक कल्याण पर प्रभाव बतलाइए।]

6 आर्थिक कल्याण की धारणा तथा देश की राष्ट्रीय आय के साथ उसके सम्बन्ध की विवेचना कीजिए।

Discuss the concept of economic elfare and its relationship *with the national income of a country* —

[संकेत—प्रश्न 5 का संकेत देखें।]

7 राष्ट्रीय आय की परिभाषा दीजिए। इसके मापने में किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है ?

Define the National Income What difficulties are faced while measuring it ?

39

वितरण के सिद्धान्त

(The Theories of Distribution)

देश के कुल उत्पादन अर्थात् राष्ट्रीय आय के उत्पादन में विभिन्न उत्पत्ति के साधन महत्त्वपूर्ण भाग देते हैं। प्रत्येक साधन को राष्ट्रीय आय में कितना हिस्सा मिलेगा अर्थात् उनकी कीमत किस प्रकार निर्धारित होगी इसके लिए वितरण के सिद्धान्त की आवश्यकता महसूस होती है।

वितरण का सिद्धान्त उत्पादन के साधनों की सेवाओं के कीमत निर्धारण के मूल नियमों से सम्बन्ध रखता है। आर्थिक जगत में वितरण का सम्बन्ध व्यक्तिगत वितरण और फलनात्मक वितरण से है। व्यक्तिगत वितरण का सम्बन्ध उन शक्तियों से है जो लोगों में आय और सम्पत्ति के बटवारे को शासित करती हैं। जिस तरीके से राष्ट्रीय आय का वितरण होता है और भिन्न भिन्न वर्गों को हिस्से मिलते हैं उसका अध्ययन व्यक्तिगत वितरण (Personal distribution) के अन्तर्गत किया जाता है। दूसरी तरफ फलनात्मक वितरण उत्पादन प्रक्रिया में लोगों और उनकी सम्पत्ति द्वारा की गई सेवाओं के लिए पुरस्कारों के वितरण से सम्बन्धित है। लगान मजदूरी ब्याज और लाभ क्रमशः भूमि श्रम पूंजी और उद्यम की सेवाओं के पुरस्कार हैं। फलनात्मक वितरण इन पुरस्कारों के निर्धारण की मूल शक्तियों के अध्ययन करता है। इस विश्लेषण में हम फलनात्मक वितरण की समस्या को लेंगे।

राष्ट्रीय लाभांश के अध्ययन के पश्चात प्रश्न उठता है—राष्ट्रीय लाभांश का विभिन्न उत्पादन-साधनों में किस प्रकार वितरण किया जाए? इसके सम्बन्ध में कई प्रकार के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है जिनमें से (i) प्रतिष्ठित सिद्धान्त (ii) सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त, तथा (iii) माग और पूर्ति सिद्धान्त अथवा वितरण का आधुनिक सिद्धान्त प्रमुख हैं।

1 वितरण का प्रतिष्ठित सिद्धांत (Classical Theory of Distribution) वितरण किस सिद्धांत के आधार पर किया जाए? इस प्रश्न पर एडम स्मिथ माल्थस रिकार्डो आदि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो ने अपने विचार प्रकट किये हैं। इन अर्थशास्त्रियो ने जो सिद्धांत बनाया है उसे वितरण का प्रतिष्ठित सिद्धांत कहते हैं। रिकार्डो का लगान सिद्धान्त' रिकार्डो तथा मिल का मजदूरी कोष सिद्धान्त आदि वितरण के प्रतिष्ठित सिद्धान्त हैं जिनका अध्ययन अगले अध्यायो मे किया जाएगा। इन अर्थशास्त्रियो के अनुसार उत्पादन म सबसे पहला हिस्सा भूमि का होता है। *भूमि का प्राप्त हिस्सा या लगान एक प्रकार का आधिक्य (Surplus)* है जो सीमान्त भूमि के उत्पादन तथा अन्य भूमि के उत्पादन का अन्तर है (**विस्तार के लिए 'लगान' शीर्षक अध्याय देखिए**)।

भूमिपति को लगान दे देने के पश्चात् जो उत्पादन बचता है उसे अन्य साधनो म वितरित *किया जाता है। श्रम का भाग उसके जीवन निर्वाह-व्यय के* बराबर होता है। लगान व मजदूरी देने के पश्चात् जो शेष बचता है वह लाभ है जो उत्पादक को प्राप्त होता है। इस प्रकार प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो ने ब्याज तथा लाभ म अन्तर नही माना है। वस्तुत प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो के वितरण सिद्धान्त अधूरे तथा अवैज्ञानिक हैं। यही कारण है कि उनके वितरण सिद्धांत की तीव्र आलोचना की गई है। (i) प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो ने वितरण के एक सामान्य सिद्धान्त के विषय म सोचा ही नही। उन्होंने लगान मजदूरी तथा लाभ तीनो के लिए अलग अलग सिद्धान्त बतलाया जबकि उत्पादन के साधनो म कोई मौलिक अन्तर नहीं है। (ii) प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो ने वितरण की समस्या पर उचित रूप से विचार नहीं किया। उन्होंने लगान को आधिक्य (surplus) माना है परन्तु साथ ही उनके अनुसार भूमि को सबसे पहले हिस्सा मिलना चाहिए। आधिक्य शब्द अन्त मे शेष राशि को कहते हैं। अत सर्वप्रथम उत्पादन के अन्य साधनो को हिस्सा देने के पश्चात् शेष आधिक्य भूमि को प्राप्त होना चाहिए। एक ओर तो वे लगान को आधिक्य मानते हैं दूसरी ओर भूमि के हिस्से की बात सबसे पहले करते हैं। इस प्रकार उनके विचार परस्पर विरोधी हैं (iii) प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो ने उत्पादन-साधनो की इकाइयो का पारितोषिक निश्चित नही किया बल्कि साधनो का कुल पारितोषिक निश्चित किया है इसके पश्चात् ही उन्होंने उसे विभिन्न इकाइयो म बाँटा है। यह विधि निश्चित रूप से गलत छोर से प्रारम्भ की गई। जैसे उनके अनुसार उत्पादक श्रमिको को पारिश्रमिक देने के लिए स्वेच्छा से मजदूरी कोष की स्थापना करते हैं तत्पश्चात् इस कोष म से *प्रत्येक श्रमिक को दिया जाने वाला भाग निर्धारित किया जाता है।* यह विधि अत्यन्त ही अव्यावहारिक है। उत्पादन-कार्य म सभी साधन अपने-अपने

देश में महत्वपूर्ण है अतः उनका पारिश्रमिक भी एक ही सिद्धान्त के आधार पर निश्चित किया जाना चाहिए।

सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त
(The Marginal Productivity Theory)

सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त वितरण का सामान्य सिद्धान्त है जिसके अनुसार उत्पादन के प्रत्येक साधन को उस साधन की सीमान्त उत्पादकता के बराबर हिस्सा दिया जाता है। वितरण का प्रतिष्ठित सिद्धान्त एक सामान्य सिद्धान्त नहीं था अतः अर्थशास्त्री वितरण के एक सामान्य सिद्धान्त की खोज करते रहे जिससे एक ही सिद्धान्त के अनुसार उत्पादन साधनों का हिस्सा निर्धारित किया जा सके। वितरण के सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त का निर्माण विकस्टीड (Wicksteed) वालरस (Walras) तथा क्लार्क (J B Clark) के स्वतन्त्र प्रयत्नों द्वारा हुआ। बाद में श्रीमती जोन रॉबिन्सन व अन्य अर्थशास्त्रियों ने सिद्धान्तों में महत्वपूर्ण संशोधन किया।

सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त[1] के अनुसार साम्य अवस्था में प्रत्येक उत्पादन साधन का पारिश्रमिक उस साधन की सीमान्त उत्पादकता के बराबर होगा।

(1) सीमान्त उत्पादकता क्या है? प्रो० हिक्स के अनुसार 'सीमान्त उपज जिसके द्वारा साम्य अवस्था में उत्पादन के एक साधन को प्राप्त वास्तविक आय ज्ञात होती है फर्म की कुल उपज में होने वाली वह वृद्धि है जो उत्पादन साधन की एक अतिरिक्त इकाई के प्रयोग से प्राप्त होती है जब कि उद्योग का शेष संगठन अपरिवर्तित रखा जाए।'[1] मूल्य निर्धारण का अध्ययन करते समय हम यह देख चुके हैं कि फर्म अपने उत्पादन का विस्तार उस बिन्दु तक करती है जिस पर उत्पादन की अतिरिक्त इकाई की लागत तथा उस इकाई से प्राप्त आय बराबर होती है अर्थात् फर्म का विस्तार उस समय तक होता है जब तक सीमान्त लागत सीमान्त आय के बराबर नहीं हो जाती है। उत्पादन-साधनों के सम्बन्ध में इसे इस प्रकार कहा जा सकता है 'फर्म उत्पादन में वृद्धि उस बिन्दु तक करेगी जिस पर परिवर्तनशील साधन की अन्तिम इकाई द्वारा आय में उतनी ही वृद्धि होगी जितनी की लागत में।'[2]

---

1 "The marginal product which measures the actual return which a factor of production must get in a state of equilibrium is the addition which is made to the produ t of a firm when a small unit is added to the supply of that factor available to that firm and the rest of the organisation of the industry remains unchanged

—*J R Hicks*

2 "The firm will increase production up to the point at which the last unit of the variable factor employed adds just as much to revenue as it does to costs

—*Lipsey R G* Op cit., p 273

(2) *सीमान्त उत्पादकता की माप* एक साधन की अतिरिक्त इकाई द्वारा प्राप्त कुल उत्पादन में वृद्धि अर्थात् सीमान्त उत्पादकता की माप तीन प्रकार से की जा सकती है

(i) सीमान्त भौतिक उत्पादकता (Marginal Physical Productivity or MPP)

(ii) सीमान्त भौतिक उत्पादकता का मौद्रिक मूल्य (Marginal Value Productivity or MVP) तथा

(iii) सीमान्त आय उत्पादकता (Marginal Revenue Productivity or MRP) ।

(i) *सीमान्त भौतिक उत्पादकता (Marginal Physical Productivity or MPP)* जब उत्पादन के अन्य साधनों को स्थिर रखकर किसी एक साधन की मात्रा में एक इकाई की वृद्धि की जाती है तो उसके परिणामस्वरूप वस्तु के कुल भौतिक उत्पादन में जो वृद्धि होती है उसे परिवर्तनशील साधन की सीमान्त भौतिक उत्पादकता कहते हैं। किसी भी साधन की सीमान्त भौतिक उत्पादकता उत्पत्ति के परिवर्तनशील अनुपातों के नियम के अनुसार बदलती रहती है। यह प्रारम्भ में बढ़ती हुई एक बिन्दु पर अधिकतम तथा उसके बाद घटती हुई होती है। दूसरे शब्दों में सीमान्त भौतिक उत्पादकता रेखा (MPP Unit) उल्टे U आकार (Inverted U Shape) की होती है जिसको रेखाचित्र सं० 129 में दिखलाया गया है
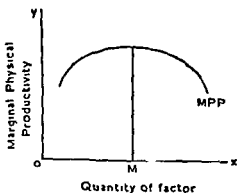
चित्र सं 129

(ii) *सीमान्त भौतिक उत्पादकता का मौद्रिक मूल्य (Marginal Value Productivity or MVP)* सीमान्त भौतिक उत्पादकता (MPP) को वस्तु (Product)

की कीमत से गुणा करने से सीमान्त उत्पादकता का मूल्य (VMP) प्राप्त होता है। सूत्र के रूप में—

VMP = MPP × Price or AR

पूर्णप्रतियोगिता में Price (AR) = MR

VMP = MPP × MR

= MRP

यहाँ यह स्पष्ट है कि VMP तथा MRP एक ही होते हैं।

(iii) **सीमान्त आय उत्पादकता** (Marginal Revenue Productivity or MRP) उत्पादक या फर्म के लिए सीमान्त भौतिक उत्पादकता (MPP) अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। उनके लिए यह अधिक महत्त्वपूर्ण है कि उस फर्म भौतिक उत्पादन (Physical output) को बेचने से कितना मुद्रा या आगम (Money or Revenue) मिलता है। फर्म इस बात में अधिक दिलचस्पी रखती है कि साधन की अतिरिक्त इकाइयों का प्रयोग करने से उसके कुल आगम में कितनी वृद्धि होती है। अन्य साधनों की मात्रा स्थिर रखने पर परिवर्तनशील साधन का एक अतिरिक्त इकाई के प्रयोग से कुल आगम में जो वृद्धि होती है उसे उस साधन की सीमान्त आगम उत्पादकता (MRP) कहते हैं।

इसको (MRP) इस प्रकार भी व्यक्त कर सकते हैं सीमान्त भौतिक उत्पादकता (MPP) को सीमान्त आगम (MR) से गुणा करने पर सीमान्त आगम उत्पादकता (MRP) प्राप्त हो जाती है। सूत्र के रूप में

MRP = MPP × MR

इन तीनों उत्पादकताओं का स्पष्टीकरण एक उदाहरण द्वारा किया जा सकता है। मान लीजिए एक फर्म (पूर्ण स्पर्धा में) 20 श्रमिक उत्पादन कार्य में लगाता है तथा व वस्तु की 100 इकाइयों का उत्पादन करते हैं। यदि एक श्रमिक और लगा दिया जाता है तो उत्पादन 106 इकाई हो जाता है। फर्म दस रुपय प्रति इकाई की दर से वस्तु बेच रही है। अतः प्रथम अवस्था में फर्म की कुल आय 1 000 रुपय तथा द्वितीय अवस्था में 1 060 रुपय होगी। ऐसी परिस्थिति में

सीमान्त भौतिक उत्पादकता (MPP) = 106 − 100 = 6 इकाइयाँ

सीमान्त मूल्य उत्पादकता (MVP) = 6 × 10 = 60 रुपय

सीमान्त आय उत्पादकता (MRP) = 1 060 — 1 000 = 60 रु०

पूर्ण स्पर्धा में अतिरिक्त इकाइयाँ भी उसी कीमत पर बेची जाती है अतः MVP तथा MRP समान होंगे। अपूर्ण स्पर्धा में अतिरिक्त इकाइयाँ कम मूल्य पर बेची जाती हैं अतः MRP < MVP। उपरोक्त उदाहरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि

(i) **सीमान्त भौतिक उत्पादकता** (Marginal Physical Productivity or MPP) से आशय किसी साधन (अन्य साधनों को पूर्ववत् रखने पर) की

अतिरिक्त इकाई द्वारा उत्पादन की मात्रा में वृद्धि से है। (ii) सीमान्त आय उत्पादकता (Marginal Revenue Productivity or MRP) सीमान्त भौतिक उत्पाद का मौद्रिक मूल्य है। इसी प्रकार (iii) औसत आय उत्पादकता (Average Revenue Productivity or ARP) उत्पादन से प्राप्त कुल आय में उत्पादन साधन की इकाइयों से भाग देने पर प्राप्त होता है।

3 पूर्ण स्पर्धा में साधनों के पारिश्रमिक का निर्धारण (Remuneration of Factors under Perfect Competition) हम कह चुके हैं कि जिस प्रकार विभिन्न बाजार अवस्थाओं के अन्तर्गत उत्पादन उस बिन्दु तक किया जाता है जिस पर सीमान्त लागत सीमान्त आय के बराबर होती है (इस बिंदु पर फर्म का लाभ अधिकतम होता है) उसी प्रकार अधिकतम लाभ अर्जित करने वाली फर्म परिवर्तनशील उत्पादन साधन की इकाइयों को उस बिन्दु तक उत्पादन-कार्य में लगाती है जिस बिंदु पर उत्पादन-साधन की सीमान्त लागत (साधन की एक अतिरिक्त इकाई लगाने से कुल लागत में वृद्धि) उस साधन द्वारा उत्पादित सीमान्त आय उत्पाद के बराबर होती है। अब हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि फर्म का लाभ अधिकतम उस स्थिति में होगा जबकि परिवर्तनशील साधन की सीमान्त लागत = साधन की सीमान्त आय (MC = MRP)। यदि फर्म परिवर्तनशील साधन के मूल्य को प्रभावित करने में असमर्थ है अर्थात् फर्म साधन को पूर्ण स्पर्धा की स्थिति में खरीद रही है तो उपरोक्त समीकरण को निम्नलिखित प्रकार प्रकट किया जा सकता है
साधन का मूल्य = साधन की सीमान्त आय उत्पाद (Price of the factor = MRP)

(i) साधनों की माँग किसी साधन की माँग मुख्यत दो बातों पर निर्भर करती है (i) उत्पादन की प्राविधिक दशा तथा (ii) साधन द्वारा उत्पादित वस्तु की माँग [क्योंकि साधन की माँग व्युत्पादित माँग (Derived Demand) होती है]। प्राविधिक दशा का अभिप्राय साधन की सीमान्त उत्पादकता कुल उत्पादन लागत में साधन का महत्व तथा एक साधन का दूसरे साधन के स्थान पर प्रयोग से है। साधन द्वारा उत्पादित वस्तु की माँग में वृद्धि होने पर साधन की भी माँग बढ़ती है अर्थात् किसी साधन की माँग उसके द्वारा उत्पादित वस्तु की माँग की लोच पर निर्भर है। जिस साधन की सीमान्त उत्पादकता अधिक होती है उसकी माँग भी अधिक होती है। किसी साधन का सीमान्त आय उत्पादकता वक्र (MRP) फर्म के लिए उस साधन का माँग-वक्र भी है। इस माँग वक्र का ढाल सीमान्त भौतिक उत्पाद (MPP) पर निर्भर है। किसी साधन के लिए उद्योग का माँग वक्र नीचे की ओर ढलता हुआ (Downward sloping) होता है क्योंकि साधन की जितनी ही अधिक इकाइयों का प्रयोग किया जाता है क्रमागत इकाइयों का 'सीमान्त भौतिक उत्पाद' (MPP) धीरे धीरे कम होता जाता है।

(ii) साधन की पूर्ति पूर्ण स्पर्धा के अन्तर्गत (क) उत्पादक अधिकतम लाभ तभी समय प्राप्त कर सकता है जबकि वह प्रत्येक उत्पादन साधन का प्रयोग उस बिन्दु तक करे जिस बिन्दु पर साधन की सीमान्त आय उत्पादन (MRP) उस साधन के बाजार मूल्य के बराबर हो। (ख) इसके साथ ही साथ हम यह भी जानते हैं कि प्रतिस्थापन के नियम के अनुसार उत्पादक साधनों का न्यूनतम लागत संयोग (Least cost combination) उस अवस्था में प्राप्त करता है जबकि वह प्रत्येक साधन की इकाइयों का प्रयोग उस बिन्दु तक करे जिस बिन्दु पर 'सीमान्त आय उत्पादन' (MRP) तथा साधन के मूल्य का अनुपात सभी उत्पादन साधनों के लिए समान हो। उपरोक्त दोनों बातों का ध्यान में रखकर फर्म उत्पादन-साधनों को उत्पादन कार्य में लगाती है। अब हम यह देखना है कि साधनों की पूर्ति की क्या दशा होगी? एक फर्म के लिए साधन का पूर्ति वक्र क्षैतिज (Horizontal) होगा। इसका अर्थ यह है कि साधनों की पूर्ण-स्पर्धी बाजार में प्रचलित पारिश्रमिक दर पर फर्म जितनी मात्रा में चाहे साधनों को उत्पादन में लगा सकती है। परन्तु सम्पूर्ण उद्योग के लिए साधनों का पूर्ति-वक्र ऊपर को दाहिनी ओर उठता हुआ होगा अर्थात् अधिक कीमत पर साधन की पूर्ति अधिक होगी। परन्तु यह भी सम्भव है कि किसी साधन का पूर्ति-वक्र लम्बवत् हो या किसी साधन का पूर्ति-वक्र ऊँचे मूल्य पर पीठ की ओर मुड़ा हुआ हो। पूर्ति-वक्र का स्वरूप विभिन्न साधनों की प्रकृति तथा उनकी परिस्थितियों पर निर्भर करता है। [अध्ययन को सरल बनाये रखने की दृष्टि से हम पूर्ति-वक्र के विभिन्न स्वरूपों का वर्णन नहीं कर रहे हैं।] पूर्ति वक्र का जो भी स्वरूप हो उससे हमारे अध्ययन पर प्रभाव नहीं पड़ेगा क्योंकि उनके स्वरूप का यहाँ पर विशेष महत्त्व नहीं है।[1]

(iii) पारिश्रमिक निर्धारण विभिन्न प्रकार की उत्पादकताओं (Productivity or product) फर्म के अधिकतम लाभ बिन्दु और साधनों की माँग तथा पूर्ति के उपरान्त विवरण के पश्चात् हम इस स्थिति में हैं कि साधनों के पारिश्रमिक निर्धारण विधि का वर्णन कर सकें। उक्त विवरण के आधार पर हम इन निष्कर्षों पर पहुँचे हैं—(i) प्रत्येक साधन का पारिश्रमिक उसकी सीमान्त आय उत्पादन (MRP) के बराबर होगा। साथ ही साथ पूर्ण स्पर्धा के अन्तर्गत पारिश्रमिक औसत आय उत्पाद (ARP) के भी बराबर होगा। (ii) साधन की सीमान्त आय

1 "The precise shape of resource supply curve is not of paramount importance for our purposes ..For our purposes it may be upward sloping to the right it may be absolutely vertical or it may bend back on itself at high prices. The basic analysis will be the same in each case

—*Leftwich* op cit p 263

उत्पादन-वक्र (MRP Curve) साधन का माँग वक्र भी होगा। (iii) साधन की अधिकाधिक इकाइयों का प्रयोग करने से उत्तरोत्तर उसकी सीमान्त उत्पादकता घटती जाएगी। (iv) प्रारम्भ में साधन की इकाइयों का प्रयोग करने से सीमान्त आय उत्पादन तथा औसत आय उत्पादन में वृद्धि होगी तथा एक सीमा के पश्चात् उनका घटना प्रारम्भ होगी। (v) यदि किसी साधन की कीमत (पारिश्रमिक) उसकी सीमान्त आय उत्पाद से कम है तो उत्पादक उस साधन की अधिक इकाइयों का प्रयोग करेगा क्योंकि ऐसा करने से उसे अधिक लाभ प्राप्त होगा। परन्तु उस साधन की अधिक इकाइयों का प्रयोग करने से उसकी सीमान्त आय उत्पाद घटेगी। उत्पादक उस साधन का प्रयोग उस समय तक बढ़ाता जाएगा जब तक कि उसकी सीमान्त आय उत्पाद उसकी कीमत के बराबर न हो जाए। इस बिन्दु पर लाभ अधिकतम होगा। यदि उत्पादक इसके पश्चात भी उस साधन की मात्रा बढ़ाता है तो उसे हानि होगी क्योंकि इस बिन्दु के पश्चात् साधन की कीमत उसकी सीमान्त आय उत्पाद से अधिक होगी। अतः उत्पादक किसी साधन की उतनी ही मात्रा का प्रयोग करेगा जितनी मात्रा का प्रयोग करने में साधन की 'सीमान्त आय उत्पाद' उस साधन की कीमत के बराबर हो। इस तथ्य का स्पष्टीकरण निम्न रेखाचित्र द्वारा किया जा सकता है
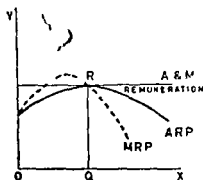
चित्र सं 130

चित्र में MRP तथा ARP वक्र उत्पादन साधन के क्रमशः सीमान्त आय उत्पाद तथा औसत आय उत्पाद वक्र हैं। जो R बिन्दु पर एक दूसरे के बराबर हैं। यह वह बिन्दु है जहाँ पर औसत आय उत्पाद अधिकतम है। QR साधन की कीमत हुई या उसका पारिश्रमिक हुआ। उत्पादक की आय उस समय अधिकतम है जबकि वह साधन की OQ मात्रा का प्रयोग करता है। साधन की OQ मात्रा का

प्रयोग करने पर साधन की कीमत = सीमान्त प्राय उत्पाद = 'प्रौसत प्राय उत्पाद। MRP वक्र उत्पादक का साधन के लिए माँग-वक्र भी है। A&M Remuneration एक सीधी रेखा के रूप में है जो यह प्रकट करता है कि इस पारिश्रमिक (RQ) पर साधन की पूर्ति इच्छित मात्रा मे की जा सकती है। अत R वह बिन्दु है जहाँ पर माँग (MRP) तथा पूर्ति मे भी सतुलन है।

(4) अपूर्ण स्पर्धा के अन्तगत पारिश्रमिक अपूर्ण स्पर्धा के अन्तगत भी उत्पादक का लाभ उस बिन्दु पर अधिकतम होगा जिस बिन्दु पर साधन का 'सीमात आय उत्पाद' उसकी कीमत के बराबर होगा (When MRP = MC of the factor) परन्तु पूर्ण स्पर्धा की स्थिति से अपूर्ण स्पर्धा की स्थिति म एक विभिन्नता पाई जाएगी—पूर्ण स्पर्धा म उत्पादक को एक ही कीमत पर साधन की अपेक्षित मात्रा प्राप्त हो जाएगी परन्तु अपूर्ण स्पर्धा के अन्तगत साधन की अधिक मात्रा प्राप्त करने के लिए उत्पादक को उत्तरोत्तर अधिक कीमत चुकानी पडगी।

(5) सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त की मान्यतायें (Assumptions of the Marginal Productivity Theory) सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त निम्न लिखित मान्यताओ पर आधारित है

(1) उत्पादक साधनो की उत्पादकता का अनुमान लगा सकता है तथा उत्पादकता की माप भी कर सकता है। (2) उत्पादन-साधनो के अनुपात म परिवतन किया जा सकता है तथा अधिकतम लाभ बिन्दु ज्ञात करने के लिए साधनो के अनुपात म परिवतन करना पडता है। (3) इस सिद्धान्त को पूर्ण स्पर्धा की दशाओ को मान कर बनाया गया है। पूर्ण-स्पर्धा के कारण प्रत्येक उत्पादन-साधन को 'सीमान्त-उत्पाद' के बराबर पारिश्रमिक मिलता है। (4) उत्पादन-साधनो तथा उनकी विभिन्न इकाइयो को एक दूसरे द्वारा प्रतिस्थापित किया जा सकता है। (5) उत्पादन के साधन पूर्णतया गतिशील हैं। (6) पूर्ण रूप से यह सिद्धान्त दीघकाल म लागू होता है अल्पकाल म साधनो का पारिश्रमिक उनकी सीमान्त उत्पादकता से कम या अधिक भी हो सकता है। (7) दीघकाल मे उत्पादन प्रक्रिया में 'उत्पादन समता नियम' लागू होता है। (8) पूर्ण रोजगार (Full Employment) सामान्य स्थिति है। पूर्ण रोजगार के कारण ही साधनो को उनकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर पारिश्रमिक प्राप्त होता है। (9) साधनो को उनकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर पारिश्रमिक दिया जाए तो कुल उत्पाद उनम पूर्णतया बँट जाता है।

सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त की आलोचनाएँ
(Criticisms of the Marginal Productivity Theory)

सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त की आलोचनाएं की गई हैं जिनका संक्षिप्त विवरण अग्रलिखित है

(1) उत्पादन विभिन्न साधनों के सम्मिलित सहयोग एवं प्रयास का परिणाम है। अतः प्रत्येक साधन तथा उसकी इकाइयों की उत्पादकता ज्ञात करना असम्भव है। फिर भी सीमान्त विश्लेषण तथा सीमान्त आय उत्पादन विश्लेषण द्वारा सीमान्त उत्पादकता का अनुमान लगाया जा सकता है।

(2) यह सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि प्रत्येक साधन की मात्रा में अपेक्षित सीमा तक कमी या वृद्धि की जा सकती है। परन्तु उत्पादन के बड़े तथा अविभाज्य (Lumpy and Indivisible) साधनों के सम्बन्ध में यह मान्यता गलत सिद्ध होती है।

(3) यह सिद्धान्त यह मानकर चलता है कि उत्पादक का उद्देश्य केवल लाभ को अधिकतम करना होता है परन्तु प्रत्येक उत्पादक का यही उद्देश्य नहीं होता है। व्यावहारिक दृष्टि से उत्पादक विभिन्न उद्देश्यों को ध्यान में रखता है।

(4) इस सिद्धान्त को पूर्ण स्पर्धा की दशाओं को मानकर बनाया गया है परन्तु वास्तविक जीवन में पूर्ण स्पर्धा नहीं पाई जाती है। इस प्रकार यह सिद्धान्त काल्पनिक है। (चैम्बरलिन ने यह मत व्यक्त किया है कि यह सिद्धान्त अपूर्ण-स्पर्धा में भी लागू होता है। अपूर्ण स्पर्धा के अन्तर्गत प्रत्येक साधन का पारिश्रमिक सीमान्त आय उत्पादन के बराबर होता है।)

(5) यह सिद्धान्त पूर्ति पक्ष की उपेक्षा करता है (सिद्धान्त के प्राचीन रूप में)। साधनों की माँग उनकी सीमान्त उत्पादकता पर निर्भर है परन्तु मूल्य निर्धारण माँग तथा पूर्ति दोनों के सम्मिलित प्रभावों से होता है।

(6) सिद्धान्त का उत्पादन समता नियम सम्बन्धी मान्यता भी दोषपूर्ण है। यह सिद्धान्त उत्पादन वृद्धि नियम तथा 'उत्पादन ह्रास नियम' की अवस्था में लागू नहीं होता है। परन्तु व्यावहारिक रूप में उत्पादन इन्हीं अन्तिम दो नियमों के अनुसार किया जाता है। उत्पादन समता नियम एक प्रकार से अपवाद के रूप में ही लागू होता है। 'उत्पादन वृद्धि नियम' के अनुसार हो रहे उत्पादन की अवस्था में यदि साधनों को उनकी सीमान्त उत्पादकता के अनुसार पारिश्रमिक दिया जाए तो उत्पादक को हानि उठानी पड़ेगी। श्रीमती जोन राबिंसन ने यह मत व्यक्त किया है कि यदि उद्योग को बड़े पैमाने के उत्पादन की मितव्ययिताएँ प्राप्त हो रही हैं तो पूर्ण प्रतिस्पर्धी उद्योग में श्रम की सीमान्त भौतिक उत्पादकता' (MPP) फर्म की अपेक्षा अधिक होगी क्योंकि एक फर्म द्वारा रोजगार में की गई वृद्धि से दूसरों की कार्यकुशलता बढ़ती है।[1] इस प्रकार उद्योग में सीमान्त

1 "When there are economies of large scale industry the marginal physical productivity of labour to a competitive industry will be greater than to the individual firms since an increment of employment given by one firm will enhance the efficiency of others

—*Mrs Joan Robinson* op cit p 237

उत्पादकता कम से अधिक होती है (उत्पादन वृद्धि नियम की अवस्था में) तथा यदि साधनों का उद्योग की सीमान्त उत्पादकता के अनुसार भुगतान किया जाता है तो भुगतान की दरों में विभिन्नता होगी तथा साधनों का बाजार अशान्त हो जाएगा।

(7) हॉब्सन (Hobson) ने कहा है कि विभिन्न साधनों के प्रयोग का अनुपात प्राविधिक दशाओं के अनुसार निश्चित किया जाता है तथा उन्हें परिवर्तित नहीं किया जा सकता है परन्तु यह आलोचना निराधार है। साधनों के अनुपात में वस्तुतः परिवर्तन किया जाता है।

(8) आर्थिक विषमता का उचित ठहराने के लिए इस सिद्धान्त की शरण ली जाती है क्योंकि यह कहा जाता है कि साधनों की सीमान्त उत्पादकता में विभिन्नता के कारण उनकी आय में विभिन्नताएं पाई जाती हैं परन्तु यह धारणा व्यक्तिगत वितरण' तथा क्रियात्मक वितरण में भेद नहीं करता है। आर्थिक विषमता का कारण योग्यता का अन्तर नहीं अपितु सम्पत्ति का शोषण भी है। आर्थिक विषमता को उत्पादकता के आधार पर उचित नहीं ठहराया जा सकता है।

उपरोक्त आलोचनाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त एक अपूर्ण सिद्धान्त है। **इस सिद्धान्त की आलोचना जोन राबिंसन टाजिग पीगू जे० आर० हिक्स हाब्सन तथा फ्रेजर आदि प्रसिद्ध विद्वानों** द्वारा की गई है। फ्रेजर ने कहा है कोई भी अर्थशास्त्री यह दृढ़तापूर्वक नहीं कह सकता है कि सिद्धान्त अब भी पूर्ण है। चूंकि यह सरल और दृढ़ है अतः यह अमूर्त तथा अवैयक्तिक है। यह अधूरा है इसकी मान्यताएँ अनावश्यक रूप से दृढ़ तथा संकुचित हैं।[1]

यह सिद्धान्त बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अत्यन्त ही मान्य था परन्तु अब यह सिद्धान्त अपूर्ण माना जाता है। यह व्यष्टिगत (Micro) परिस्थितियों में ही लागू होता है। इसमें समष्टिगत बनाने की आवश्यकता है।

वितरण का आधुनिक सिद्धान्त
(Modern Theory of Distribution)

सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त की तुलना में वितरण का आधुनिक सिद्धान्त अथवा साधनों के पुरस्कार निर्धारण का आधुनिक सिद्धान्त अधिक पूर्ण एवं श्रेष्ठ

---

1 No economist would claim that the theory is as yet complete ...... Being simple and self consistent it is abstract and impersonal It is guilty of both omission and commission its postulates are unduly rigid and narrow

—*Fraser*

सिद्धान्त है क्योंकि यह साधनों की माँग तथा पूर्ति दोनो पक्षों पर उचित ध्यान देता है। अतः यह कहा जा सकता है कि किसी साधन के मूल्य निर्धारण का आधुनिक सिद्धान्त माँग तथा पूर्ति का सिद्धान्त है। किसी साधन का मूल्य एक वस्तु के मूल्य की भाँति उसकी माँग व पूर्ति द्वारा निर्धारित होता है। वितरण के आधुनिक सिद्धान्त के अनुसार साधन व मूल्य निर्धारण वास्तव में वस्तु मूल्य निर्धारण का एक विस्तार मात्र ही है (Factor pricing is only an extension or special case of commodity pricing)।

वितरण के आधुनिक सिद्धान्त को माग व पूर्ति सिद्धान्त भी कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार उत्पादन-साधनो का पारिश्रमिक वस्तुओं के मूल्य की भाँति माँग व पूर्ति की सम्मिलित शक्तियों द्वारा निर्धारित किया जाता है। विभिन्न साधनों की माँग तथा पूर्ति की परिस्थितियाँ भिन्न भिन्न होती है अतः मजदूरी ब्याज लगान तथा लाभ के सम्बन्ध में अलग अलग सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया गया है। फिर भी कुछ सामान्य नियम बनाए जा सकते हैं।

यद्यपि साधन मूल्य निर्धारण (Factor pricing) वस्तु मूल्य निर्धारण (Commodity pricing) की भाँति होता है परन्तु दोनों में कुछ अन्तर भी हैं। जो इस प्रकार हैं

(i) वस्तु की माँग प्रत्यक्ष माग (Direct demand) होती है जबकि साधन की माँग व्युत्पन्न माँग (Derived demand) होती है अर्थात साधन की माँग उसके द्वारा उत्पादित वस्तु की माँग पर निर्भर करती है।

(ii) किसी वस्तु की पूर्ति उसकी मौद्रिक लागत पर निर्भर करती है परन्तु उत्पत्ति के साधनों की लागत का अर्थ है अवसर लागत (Opportunity Cost) *अर्थात साधनों की पूर्ति अवसर लागत पर निर्भर करती है।*

(iii) कुछ साधनो जैसे श्रम के सम्बन्ध में हम सामाजिक तथा मानवीय *तत्वों को भी ध्यान में रखना पड़ता है।*

(iv) मान्यताएँ वितरण का माँग व पूर्ति सिद्धान्त निम्नलिखित मान्यताओं पर आधारित है—(1) प्रत्येक उत्पादन-साधन पूर्णतया विभाजनीय है। (2) साधनों के सम्बन्ध में प्रतिस्थापन नियम पूर्ण रूप से लागू होता है। (3) उत्पादन-साधन की विभिन्न इकाइयों में एकरूपता पाई जाती है तथा वे एक दूसरे की पूर्ण स्थानापन्न (Substitutes) होती हैं।

(1) साधनों की माँग किसी भी साधन की माँग उनकी सीमान्त उत्पादकता पर निर्भर है। जब तक किसी साधन की सीमान्त उत्पादकता उसके मूल्य से अधिक है उत्पादक उस साधन की अतिरिक्त इकाइयों का प्रयोग करता जाएगा। कुल उत्पादन उस बिन्दु पर अधिकतम होगा जिस पर साधन का मूल्य उसका

सामान्त उत्पादकता के बराबर होगा। कोई भी उत्पादक किसी भी साधन को उसकी सीमान्त उत्पादकता से अधिक पारिश्रमिक नहीं देगा। अत पूर्ण स्पर्धा के अन्तर्गत साधन का पारिश्रमिक उसकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर होगा। किसी साधन की माग निम्नलिखित बातो से प्रभावित होती है

(i) साधन की माँग व्युत्पन्न माँग (Derived demand) होती है। उसकी माँग उसके द्वारा उत्पादित वस्तु की माग पर निर्भर करती है। यदि वस्तु की माँग अधिक है तो साधन की माग भी अधिक होगी।

(ii) यदि साधन की सीमान्त उत्पादकता में वृद्धि की जा सकती है तो उसकी माग तथा कीमत बढेगी।

(iii) अन्य साधनो की कीमत साधन विशेष की माग को प्रभावित करती है। उदाहरणार्थ श्रमिको की माग बढ जायगी यदि मशीन की कीमत बहुत ऊँची हो जाती है क्योंकि ऐसी स्थिति में महगी मशीनो के स्थान पर श्रमिको का अधिक प्रयोग किया जायगा।

साधन का मूल्य उस स्थान पर निर्धारित होगा जहाँ पर कि माँग तथा पूर्ति बराबर हो जाती है। चित्र 131 में साधन का मूल्य EQ या OP निर्धारित होगा क्योंकि उस मूल्य पर साधन की माँग तथा उसकी पूर्ति दोनो बराबर है। यदि साधन का मूल्य OP_1 है तो साधन की माग MN होगी तथा उसकी पूर्ति P_1N होगी अर्थात् P_1N-P_1M MN के बराबर अतिरिक्त पूर्ति (Excess Supply) है जो कि मूल्य को E(अर्थात EQ या P) की ओर नीचे को धकेलगी जसा कि चित्र 131 में नीचे की ओर जाते हुए तीर बताते हैं। यदि साधन का मूल्य OP_2 है तो साधन की माग P_2T तथा
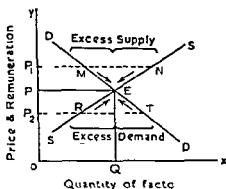
चित्र 131

3 वितरण के प्रतिष्ठित सिद्धान्त तथा आधुनिक सिद्धान्त के बीच अन्तर स्पष्ट कीजिए। दोनों सिद्धान्तों के महत्व को भी स्पष्ट रूप से समझाइए।

Distinguish between the classical theory and modern theory of distribution Discuss the importance of both the th ories

4 वितरण का सिद्धान्त वितरण के क्षेत्र में केवल मूल्य सिद्धान्त का प्रयोग मात्र है। व्याख्या कीजिए।

The theory of distribution is a mere application of the theory of value Discuss

5 निम्न पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए

(i) आय का व्यक्तिगत वितरण

(ii) आय का कार्यात्मक वितरण।

Write short notes on the following

(i) Personal distribution of Income

(ii) Functional distribution of Income

40
उत्पादन के साधनों का मूल्य-निर्धारण
(Factor Price Determination)

> The firm will increase production up to the point at which the last unit of the variable factor employed adds just as much to revenue as it does to costs
>
> —*Lipsey R G*

उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भ म अर्थशास्त्रियो ने भूमि श्रम तथा पू जी को ही उत्पादन के प्रमुख साधनो के रूप म महत्त्व प्रदान किया था। 19वीं शताब्दी के अन्त म उत्पादन के साधनो म साहस का भी समावेश किया गया था। उस समय अर्थशास्त्रियो को केवल इस समस्या म ही अधिक दिलचस्पी थी कि कृषि व उद्योग को कितना अश उत्पादन के उन साधनो को प्राप्त होता है ? इसका प्रमुख कारण यह भी था कि उस समय उत्पादन साधनो के स्वामी—भूमिपति श्रमिक पू जीपति तथा साहसी—जिन्ह लगान मजदूरी ब्याज तथा लाभ के रूप म आय प्राप्त होती थी आर्थिक समूहो (economic groups) से अधिक महत्त्वपूर्ण स्थिति म थे। राजनैतिक एव सामाजिक दृष्टि से विभिन्न सामाजिक उच्चवर्गीय मध्यवर्गीय तथा निम्नवर्गीय समूहो की सापेक्षिक आय निर्धारित करने के लिए राष्ट्रीय आय म उनके अलग अलग हिस्से का अध्ययन किया जाता था। परन्तु आजकल विशुद्ध आर्थिक विश्लेषण म आर्थिक सिद्धान्त का सम्बन्ध अब केवल इस बात से नही है कि राष्ट्रीय आय म उत्पादन साधनो का अलग अलग हिस्सा क्या है बल्कि इस तथ्य से है कि उत्पादन के साधनों की कीमतें कैसे निर्धारित होती है ? अत हम इस अध्याय म उस विधि का अध्ययन करेंगे जिसके द्वारा उत्पादन साधनो के मूल्य निर्धारित होते हैं।

साधनो के मूल्य निर्धारण सिद्धान्त के ढाँचे के चार प्रमुख भाग हैं

को मात करते हैं एवं फर्म का अतिरिक्त उत्पादन है जो उत्पादन-साधन के एक अतिरिक्त इकाई के प्रयोग के कारण प्राप्त होता है जबकि उद्योग का शेष संगठन अपरिवर्तित रक्खा जाय।'[1] मूल्य निर्धारण का अध्ययन करते समय हम यह देख चुके हैं कि फर्म अपने उत्पादन का विस्तार उस बिन्दु तक करती है जिस पर उत्पादन की अन्तिम इकाई की लागत तथा उस इकाई से प्राप्त आय बराबर होती है अर्थात फर्म का विस्तार उस समय तक होता है जब तक सीमान्त लागत सीमान्त आय के बराबर नहीं हो जाती है। उत्पादन साधनों के सन्दर्भ में इसे इस प्रकार कहा जा सकता है फर्म उत्पादन में वृद्धि उस बिन्दु तक करेगी जिस पर परिवर्तनशील साधन की अन्तिम इकाई द्वारा आय में उतनी ही वृद्धि होगी जितनी कि लागत में।"

इस प्रकार सरल शब्दों में सीमान्त उत्पादकता की परिभाषा इस प्रकार है अन्य साधनो को स्थिर रखकर परिवर्तनशील साधन की एक अतिरिक्त इकाई का प्रयोग करने पर कुल उत्पादन में जो वृद्धि होती है वही उस साधन की सीमान्त उत्पादकता है।

इस सिद्धान्त के अनुसार सन्तुलन की स्थिति में निम्नलिखित तीन शर्तें पूरी होना आवश्यक है

(i) उत्पादन के किसी भी साधन की सीमान्त उत्पादकता सभी व्यवसायों अथवा उद्योगों में एक रहती है।

(ii) किसी एक व्यवसाय में उत्पादन के प्रत्येक साधन की सीमान्त उत्पादकता अन्य साधनों की सीमान्त उत्पादकता के बराबर होती है।

(iii) उत्पादकता के किसी साधन का पुरस्कार उसकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर होता है तथा दीर्घकाल में यह उसकी औसत उत्पादकता के भी बराबर होता है।

(2) **सीमान्त उत्पादकता की माप** एक साधन की अतिरिक्त इकाई द्वारा प्राप्त कुल उत्पादन में वृद्धि अर्थात् सीमान्त उत्पादकता की माप तीन प्रकार से की जा सकती है

उपर्युक्त तीनों तरीकों की व्याख्या निम्नलिखित है

(i) **सीमान्त भौतिक उत्पाद** (Marginal Physical Product or MPP) किसी साधन की एक अतिरिक्त इकाई के प्रयोग से कुल भौतिक उत्पादन (Total

---

1 The marginal product which measures the actual return which a factor of production must get in a state of equilibrium is the addition which is made to the product of a firm when a small unit is added to the supply of that factor available to that firm and the rest of the organisation of the industry remains uncharged

—J R Hicks

Physical Product) म वृद्धि को उस साधन का सीमान्त भौतिक उत्पाद कहते हैं। जबकि अन्य साधन पूर्ववत् या स्थिर रखे जाते हैं। सीमान्त भौतिक उत्पादकता रेखा उल्टे यू (U) आकार ∩ की होती है क्योंकि उत्पत्ति ह्रास नियम या परिवर्तन शील अनुपात नियम के अनुसार प्रारम्भ म सीमान्त भौतिक उत्पादकता बढती है एक बिन्दु पर यह अधिकतम हो जाती है और उसके बाद गिरने लगती है। सीमान्त भौतिक उत्पाद को चित्र स 1.2 म दिखाया गया है। चित्र म सीमान्त भौतिक

चित्र स० 1.2
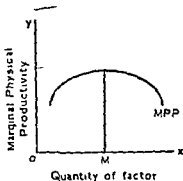
उत्पादकता पहले बढती हुई एक बिन्दु पर अधिक तथा उसके बाद घटती हुई है।

(ii) सीमान्त आय उत्पाद (Marginal Revenu Product or MRP) किसी उत्पादक या फर्म के लिए सीमान्त भौतिक उत्पादकता का उतना महत्व नहीं है जितना कि उस भौतिक उत्पाद को बेचने से प्राप्त आय का। सीमान्त आय उत्पाद का अभिप्राय कुल आय म उस द्रव्य या आय की वृद्धि से है जो कि अन्य साधनों को पूर्ववत् रखने पर परिवर्तनशील साधन की एक अतिरिक्त इकाई के प्रयोग से होती है। सीमान्त आय उत्पाद को ज्ञात करने के लिए सीमान्त भौतिक उत्पाद को सीमान्त आय स गुणा किया जाता है अर्थात्

$$MRP = MPP \times MR$$

(iii) सीमान्त भौतिक उत्पाद का भौतिक मूल्य (Marginal Value Product or MVP) या सीमान्त उत्पाद का मूल्य (Value of Marginal Product or VMP) सीमान्त भौतिक उत्पादकता को वस्तु की कीमत से गुणा करने पर सीमान्त भौतिक उत्पाद का मूल्य ज्ञात होता है। अर्थात

$$MVP \text{ or } VMP = MPP \times Price$$

परन्तु पूर्ण प्रतियोगिता में औसत आय (AR) सीमांत आय (MR) के बराबर होती है तथा औसत आय (AR) को ही मूल्य (Price) कहा जाता है अतः

MVP or VMP = MPP × MR

= MRP

उक्त समीकरण से स्पष्ट है कि पूर्ण प्रतियोगिता में सीमांत भौतिक उत्पाद का मूल्य (MVP) या सीमांत उत्पाद का मूल्य (VMP) तथा सीमांत आय उत्पाद (MRP) एक ही होते हैं।

इन तीनों का स्पष्टीकरण एक उदाहरण द्वारा किया जा सकता है। मान लीजिए एक फर्म (पूर्ण स्पर्धा में) 20 श्रमिक उत्पादन-कार्य में लगाती है तथा वे वस्तु की 100 इकाइयों का उत्पादन करते हैं। यदि एक श्रमिक और लगा दिया जाता है तो उत्पादन 106 इकाई हो जाता है। फर्म दस रुपये प्रति इकाई की दर से वस्तु बेच रही है। अतः प्रथम अवस्था में फर्म की कुल आय 1 000 रुपये तथा द्वितीय अवस्था में 1 060 रुपये होगी। ऐसी परिस्थिति में

सीमांत भौतिक उत्पाद (MPP) = 106 − 100 = 6 इकाइयाँ

सीमांत मूल्य उत्पाद (MVP) = 6 × 10 = 60 रुपये

सीमांत आय उत्पाद (MRP) = 1 060 − 1 000 = 60 रुपये

पूर्ण स्पर्धा में अतिरिक्त इकाइयाँ भी उसी कीमत पर बेची जाती हैं अतः MVP तथा MRP समान होंगे। जैसा कि आगे दी गई तालिका से स्पष्ट है।

MPP MRP तथा MVP के मान की तालिका

नियुक्त श्रमिको की सख्या	कुल भौतिक उत्पाद	उत्पाद का मूल्य (Price)	कुल आय (Total Revenue)	सीमात भौतिक उत्पाद (MPP इकाइयाँ)	सीमात आय उत्पाद (MRP) रु०	सीमात भौतिक उत्पाद का मौद्रिक मूल्य (MVP) रु०
	इकाइयाँ	रु०				
20	100	10	10 × 100 = 1000	—	—	—
21	106	10	10 × 106 = 1060	(106 – 100) = 6	(1060–1000) = 60	6 × 10 = 60

अपूर्ण स्पर्द्धा मे अतिरिक्त इकाइयाँ कम मूल्य पर बेची जाती हैं। ऐसी स्थिति म सीमात आय उत्पाद (MRP) सीमात भौतिक उत्पाद क मौद्रिक मूल्य (MVP) से कम होता है जसा कि प्रति इकाई 10 रु० के मूल्य के 9 90 रु० हो जाने पर निम्न तालिका मे MRP तथा MVP म हुए परिवतनो से स्पष्ट है

अपूर्ण स्पर्धा मे MPP MRP तथा MVP के माप की तालिका

नियुक्त श्रमिको की सख्या	कुल भौतिक उत्पाद	उत्पाद का मूल्य (Price)	कुल आगम (Total Revenue)	सीमात भौतिक उत्पाद (MPP)	सीमात आय उत्पाद (MRP)	सीमात भौतिक उत्पाद का मौद्रिक मूल्य (MVP)
	इकाइयाँ	रु०	रु०	इकाइयाँ		
20	100	10	10 × 100 = 1000	—	—	—
21	106	9 90	9 90 × 106 = 1049 40	(106 – 100) = 6	(1049 40—1000) = 49 40	6 × 9 90 = 59 40

औसत सम्पूर्ण आगम उत्पादकता तथा औसत शुद्ध आगम उत्पादकता (Average Gross Revenue Productivity i.e. AGRP and Average Net Revenue Productivity, i.e. ANRP)

सीमान्त आगम उत्पादकता के सम्बन्ध में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि MRP वक्र उल्टे U के आकार का होता है जिससे यह ज्ञात होता है कि उसकी ऊपर उठती हुयी ढलान सीमान्त आगम उत्पाद में वृद्धि तथा उसकी नीचे की ओर गिरती हुयी ढलान सीमान्त आगम उत्पाद में कमी को व्यक्त करती है। सीमान्त आगम उत्पादकता वक्र की तरह ही हम औसत आगम उत्पादकता वक्र को भी खींच सकते हैं। साधन के किसी प्रयोग के स्तर पर कुल आगम (Total Revenue) को साधन की इकाइयों से भाग देने पर औसत आगम उत्पाद ज्ञात कर सकते हैं अर्थात् साधन के किसी प्रयोग के स्तर पर औसत आगम उत्पाद = $\frac{\text{कुल आगम}}{\text{साधन की इकाइयाँ}}$

$$\left(\text{Average Revenue Product at any level of employment} = \frac{\text{Total Revenue}}{\text{Total Number of units of the factor}}\right)$$

उक्त समीकरण की सहायता से ज्ञात आँकड़ों के आधार पर औसत आगम उत्पादकता वक्र खींचा जा सकता है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित तालिका की सहायता से खींचे गये सीमान्त आगम उत्पादकता वक्र (MRPC) तथा औसत आगम उत्पादकता वक्र के आकार चित्र संख्या सं० 133 में दिए गये वक्रों के अनुरूप होंगे।

सीमान्त आगम उत्पादकता की तालिका

नियुक्त श्रमिकों की संख्या	श्रमिक की सीमान्त भौतिक उत्पादकता (किलो ग्राम में)	श्रम की सीमान्त आगम उत्पादकता (MPP × Price)
		रु०
1	5	25
2	7	35
3	12	60
4	20	100
5	25	125
6	30	150
7	27	135
8	25	125
9	18	90
10	10	50

चित्र सं० 133 से सीमांत आगम उत्पादकता तथा औसत आगम उत्पादकता वक्रों के पारस्परिक सम्बन्ध को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है "जब सीमान्त

रेखाचित्र 133

आगम औसत आगम से अधिक होता है तब सीमांत आगम उत्पादकता वक्र औसत आगम उत्पादकता वक्र के ऊपर होता है। परन्तु सीमान्त आगम औसत आगम से कम होता है तब सीमांत आगम उत्पादकता वक्र औसत आगम उत्पादकता वक्र के नीचे होता है। सीमांत आगम उत्पादकता वक्र आगम उत्पादकता वक्र को सबसे ऊँचे बिन्दु पर काटता है।

चित्र सं 133 में औसत आगम उत्पादकता वक्र कुल या 'सम्पूर्ण औसत आगम उत्पाद' (Gross Average Revenue Product) को प्रकट करता है। परन्तु हम लोगों को इस सिद्धान्त के विवेचन में सम्पूर्ण आगम उत्पाद की अपेक्षा शुद्ध औसत आगम उत्पाद (Net Average Revenue Product) पर विचार करना है।

इस सम्बन्ध में यह जान लेना आवश्यक है कि उत्पादन का कोई साधन स्वयं किसी वस्तु का उत्पादन नहीं कर सकता। उसे अन्य साधनों के साथ मिलाने पर ही किसी वस्तु का उत्पादन सम्भव हो सकता है। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है औसत आगम उत्पाद कुल या सम्पूर्ण आगम को साधन (माना कि श्रम) की कुल इकाइयों से भाग देकर ज्ञात किया जाता है। परन्तु कुल आगम श्रम के अतिरिक्त अन्य साधनों जैसे भूमि पूंजी तथा साहस के प्रयोग के कारण प्राप्त होता है। श्रम की औसत शुद्ध आगम उत्पादकता को प्राप्त करने के लिए हम सर्वप्रथम कुल आगम में से भूमि पूंजी तथा साहस के साधनों के आगम के हिस्से को निकालना होगा। इसके बाद शेष आगम को श्रमिकों की संख्या से भाग देना होगा। इस प्रकार

श्रम की शुद्ध औसत आगम उत्पादकता=(कुल आगम भूमि पूंजी तथा साहस के साधनों के आगम को छोड़कर)
—श्रमिकों की इकाइयां

Average Net Revenue Productivity of Labour (ANRP) $=$ $\dfrac{\text{Total Revenue} - (\text{Amount of Revenue to other factors})}{\text{Number of Labourers employed}}$

किसी भी उत्पादन साधन (उपयुक्त उदाहरण में श्रम) की औसत शुद्ध आगम उत्पादकता (ANRP) को निर्धारित करने की दो विधियां हैं। प्रथम विधि के अन्तर्गत यह मान लिया जाता है कि अन्य साधनों—भूमि, पूंजी तथा साहस—का आगम उत्पाद (Revenue Product) नगण्य है तथा कुल आगम में वृद्धि परिवर्तनशील साधन श्रम द्वारा होती है। ऐसी स्थिति में औसत कुल आगम उत्पाद तथा औसत शुद्ध आगम उत्पाद एक ही होंगे।

द्वितीय विधि के अनुसार एक साधन की कुल उत्पादकता (Gross productivity) में से शुद्ध उत्पादकता (net productivity) ज्ञात की जा सकती है यदि हम यह मान लें कि अन्य साधनों के पुरस्कार हम ज्ञात हैं। हम फर्म के कुल (सकल) आगम (Total gross revenue) में से केवल उस साधन को छोड़कर जिसकी आगम उत्पादकता हम जानना चाहते हैं अन्य सहकारी साधनों के पुरस्कारों के बराबर द्रव्य की मात्रा घटाकर विचाराधीन साधन की शुद्ध उत्पादकता ज्ञात कर सकते हैं। इस सूचना से हम सम्बन्धित साधन की औसत तथा सीमान्त शुद्ध आगम उत्पादकता ज्ञात कर सकते हैं। साधन के मूल्य निर्धारण का विवेचन करते समय औसत शुद्ध आगम उत्पादकता वक्र खींचने की आवश्यकता पड़ती है। सीमान्त आगम
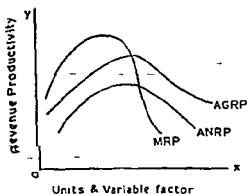
चित्र सं० 134

उत्पादकता (MRP) वक्र औसत शुद्ध आगम उत्पादकता (ANRP) वक्र को उसके उच्चतम बिन्दु पर काटता है। सीमांत आगम उत्पादकता (MRP) का आधार सीमांत भौतिक उत्पादकता (MPP) होती है इसलिए MRP रेखा का आकार भी उल्टे U (Inverted U Shape) का होता है। MRP AGRP तथा ANRP रेखाओं को चित्र स० 134 में दिखाया गया है। MRP तथा ARP में सीमांत तथा औसत का सामान्य सम्बन्ध (Usual relation) होता है MRP रेखा AGRP तथा ANRP रेखाओं को उनके उच्चतम बिन्दुओं पर काटती है। यहाँ पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि चित्र 135 सीमान्त विशुद्ध आगम उत्पादकता (Marginal Net Revenue Productivity i e MNRP) को नहीं दिखाया गया है। इसका कारण यह है कि हम यह मान कर चलते हैं कि केवल एक साधन ही परिवर्तनशील होता है तथा अन्य स्थिर रख जाते हैं। एक ही परिवर्तनशील साधन (A single variable factor) की स्थिति में MRP तथा MNRP एक ही होता है।

एक ही साधन की MRP रेखा एक फर्म के लिए उस साधन की माँग रेखा होती है

यहाँ पर यह ध्यान रखने योग्य बात है कि एक साधन की सीमान्त आगम उत्पादकता एक फर्म के लिए उस साधन की माँग रेखा होती है क्योंकि किसी साधन की माँग उसकी सीमान्त उत्पादकता या सीमान्त आगम उत्पादकता (MRP) पर निर्भर करती है।

सीमांत साधन लागत या सीमांत पुरस्कार (Marginal factor Cost i e MFC, or Marginal Remunaration) **तथा औसत साधन लागत या औसत पुरस्कार** (Average factor Cost i e AFC or Average Remuneration)
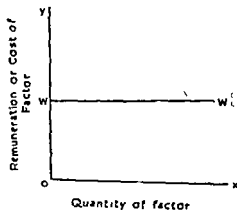
चित्र स० 135

एक साधन को जो पुरस्कार प्राप्त होता है वह साधन के लिए आय है तथा फर्म के लिए लागत है क्योंकि साधन का बाजार पूर्ण प्रतियोगिता है। इसलिए प्रत्येक फर्म साधन बाजार में साधन की कुल माँग तथा कुल पूर्ति द्वारा निर्धारित मूल्य पर साधन की जितनी इकाई चाहती है प्राप्त कर सकता है अर्थात् फर्म के लिए साधन की औसत लागत AFC = साधन की सीमांत लागत MFC तथा यह एक पड़ा हुई रेखा होता है। इसको चित्र की सहायता से दिखाया जा सकता है। चित्र में पड़ी हुई रेखा AFC=MFC को WW भी कहा जा सकता है।

फर्म का सतुलन
(Equilibrium of the Firm)

सीमांत तथा औसत आगम उत्पादकता वक्रों से फर्म के सतुलन का विवेचन किया जा सकता है। फर्म के लिए इस प्रयत्न में सीमांत आगम उत्पादकता (MRP) का महत्त्व है। यह सम्बन्धित उत्पादन के साधन का माँग वक्र भी होता है। यदि MRP को श्रम से सम्बन्धित कर दिया जाय तो MRP वक्र श्रम का माँग वक्र कहा जा सकता है। जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है उत्पादन के किसी भी साधन की माँग व्युत्पादित माँग' (derived demand) है। अतः श्रम की माँग भी उस वस्तु की माँग से व्युत्पादित माँग है जिसके उत्पादन में वह सहायक होता। यही कारण है कि श्रम के लिए फर्म की माँग श्रम में उसकी उत्पादकता पर निर्भर करती है तथा श्रम का MRP वक्र के लिए श्रम का माँग वक्र भी होगा। जहाँ तक व्यक्तिगत फर्म के लिए श्रम के पूर्ति वक्र का प्रश्न है यह वक्र चित्र स० 136 में WW रेखा की तरह एक पड़ी हुई सीधी रेखा (Horizontal Straight Line) के आकार का होगा क्योंकि यह मान लिया गया है कि साधन (श्रम) बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता है।

पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में फर्म श्रम के प्रचलित मूल्य अर्थात् मजदूरी (जो श्रम की कुल माँग व पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है) पर श्रम की जितनी इकाइयाँ चाहे उत्पादन कार्य में लगा सकती है। इससे यह ज्ञात होता है कि फर्म के लिए श्रम की औसत लागत या औसत मजदूरी [जिसे किसी भी साधन के लिए साधन की औसत लागत (Average Factor Cost AFC) या औसत पारिश्रमिक (Average Remuneration) कहा जा सकता है] का वक्र एक पड़ी हुई रेखा के आकार का होता है जो यह प्रकट करता है कि फर्म के लिए औसत मजदूरी श्रम की मजदूरी (अर्थात् साधन की औसत पारिश्रमिक साधन के सीमांत पारिश्रमिक (Marginal Factor Co t या MFC) के बराबर होता है। चित्र स० 136 की WW को AFC या MFC भी कहा जा सकता है क्योंकि AW or AFC=MW रेखा या MFC

पूर्ण स्पर्धा के अन्तर्गत एक फर्म अधिकतम लाभ उसी समय प्राप्त करेगी जबकि उस श्रम साधन की एक अतिरिक्त इकाई का प्रयोग उस बिन्दु तक कर जिस

बिन्दु पर श्रम की सीमान्त आगम उत्पादकता (MRP) [अर्थात अतिरिक्त इकाई के प्रयोग से कुल आगम में वृद्धि] श्रम की अतिरिक्त इकाई की सीमान्त मजदूरी [अर्थात सीमान्त साधन लागत (MFC)] के बराबर न हो जाय। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि फर्म उस समय सतुलन प्राप्त करती है जबकि उसके लिए एक साधन की सीमान्त आगम उत्पादकता [MRP] उसकी सीमान्त लागत [MFC] के बराबर हो जाती है। इसी स्थिति में लाभ अधिकतम होते हैं। अतः श्रम बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा होने पर एक फर्म की सतुलन की दशा इस प्रकार होगी

श्रम की सीमान्त उत्पादकता = सीमान्त मजदूरी = औसत मजदूरी

MRP of Labour Marginal Wage = Average Wage

अर्थात् MRP = MFC

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर किसी भी साधन का मूल्य निर्धारित किया जा सकता है। यहाँ हम सुविधा की दृष्टि से श्रम के पारिश्रमिक अर्थात मजदूरी निर्धारण की विधि को रेखा चित्र द्वारा स्पष्ट करते हैं। हमने इस सम्बन्ध में यह भी मान लिया है कि वस्तु और श्रम दोनों के ही बाजारों में पूर्ण स्पर्धा है। ऐसी स्थिति में अन्य साधनों को स्थिर रखते हुए यदि श्रम की मात्रा में एक इकाई से वृद्धि की जाती है तो मजदूरी श्रम की सीमान्त उत्पादकता के मूल्य [MVP] के बराबर होगी। यदि श्रम को MVP के बराबर मजदूरी नहीं मिलती तो वह किसी अन्य फर्म में चला जायेगा, क्योंकि पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में श्रम गतिशील होता है। श्रम की गतिशीलता ही मजदूरी और सीमान्त उत्पादकता में समानता लाती है। श्रमिकों के गतिशील होने के कारण सीमान्त उत्पादकता और मूल्य बराबर हो जाएँगे क्योंकि श्रम की माँग को प्रकट करने वाला सीमान्त आगम उत्पादकता [MRP] वक्र नीचे दाहिनी तरफ मुड़ता है और वह औसत आगम उत्पादन [ARP] वक्र को उसके उच्चतम बिन्दु पर काटता है जैसा कि चित्र स० 136 में दिखाया गया है। मजदूरी की समान दर पर किसी फर्म को इच्छानुसार श्रम की इकाइयाँ प्राप्त होंगी। फलस्वरूप श्रम की पूर्ति प्रकट करने वाला सीमान्त मजदूरी [MW] वक्र एक पड़ी हुयी रेखा [Horizontal] के रूप में होगा। इस प्रकार औसत मजदूरी [AW] वक्र तथा सीमान्त मजदूरी [MW] वक्र दोनों एक ही होंगे अर्थात् पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में सीमान्त मजदूरी और औसत मजदूरी एक ही होगी।

चित्र स० 136 से स्पष्ट है कि कोई फर्म अपने लाभ को अधिकतम करने के लिए एक दी हुयी मजदूरी की दर पर कितने श्रमिकों को काम पर लगायेगी। WW रेखा सीमान्त मजदूरी और औसत मजदूरी दोनों को प्रदर्शित करती है। श्रम की प्रत्येक इकाई को OW मजदूरी मिलती है। अतः श्रम की एक अतिरिक्त इकाई को भी इतनी ही रकम मजदूरी के रूप में प्राप्त होगी। ऐसी स्थिति में फर्म का लाभ वहाँ सम्भव होगा जहाँ श्रम का सीमान्त आगम उत्पादन [MRP] श्रम की सीमान्त लागत [सीमान्त मजदूरी] के बराबर है और ऐसा सम्भव होता है जबकि उत्पादक

OM श्रमिकों को कार्य पर लगाता है। यदि इससे कम मात्रा में श्रमिक कार्य पर लगाये जाते हैं तो श्रम की मात्रा में वृद्धि करके उत्पादक लागत की अपेक्षा आय

चित्र सं० 136

आय को अधिक बढ़ा सकता है क्योंकि सीमान्त आय उत्पादन [MRP] उसकी लागत की तुलना में अधिक होगा। ठीक इसके विपरीत यदि OM से अधिक मात्रा में श्रम को लगाया जाता है तो श्रम का सीमान्त आय उत्पादन [MRP] उसकी सीमान्त लागत से कम होगा परिणामस्वरूप फर्म अपनी कुल आय की अपेक्षा कुल लागत में ही अधिक वृद्धि करेगी। अतः स्पष्ट है कि फर्म के लिए OM मात्रा में श्रम की नियुक्ति ही सर्वाधिक लाभप्रद होगी। इस प्रकार जब श्रम बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता हो तो फर्म के लिए सन्तुलन की यह स्थिति होगी

श्रम की सीमान्त आय उत्पादकता [MRP] = श्रम की सीमान्त मजदूरी [MW]
= श्रम की औसत मजदूरी [AW][1]

पूर्ण प्रतिस्पर्धा में पूर्ण सन्तुलन की अवस्था में इसका यह भी आशय निकलता है कि मजदूरी श्रम की शुद्ध आय उत्पादकता के बराबर हो जाती है।

यह स्थिति OW से स्पष्ट है अर्थात् मजदूरी OW रु० है तो श्रम का औसत आय उत्पादन [ARP] उसकी मजदूरी के बराबर है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि फर्म सन्तुलन की अवस्था में है तथा उत्पादक केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त कर रहा है। सन्तुलन की अवस्था में प्रत्येक फर्म की औसत आय उत्पादकता वक्र [ARP] मजदूरी की रेखा को स्पर्श करती है। अल्पकाल में मजदूरी की रेखा WW से ऊपर या नीचे हो सकती है जिसके कारण उत्पादक को असामान्य हानि या

1 The firm will be in equilibrium profits will be maximised when the marginal revenue productivity of the factor is equal to the marginal cost of the factor the marginal wage

—*Stonier and Hague*

लाभ होगा किन्तु दीर्घकाल में ऐसी स्थिति नहीं होगी तथा उत्पादक को केवल सामान्य लाभ ही मिलेगा। चित्र सं० 136 के अनुसार यदि मजदूरी WW से कम है अर्थात W W है तो OM श्रमिक काम पर लगाये जायेंगे। फलस्वरूप असामान्य लाभ WP होगा। ऐसी स्थिति में फर्म तो सन्तुलन की स्थिति में रहता है, किन्तु उद्योग सन्तुलन की स्थिति में नहीं रहता। लेकिन जब नई फर्में प्रवेश करेंगी तो मूल्य में कमी आयेगी तथा असामान्य लाभ कम होता जायेगा। फलस्वरूप सीमान्त आय उत्पादन वक्र (MRP) तथा औसत आय उत्पादन वक्र (ARP) नीचे की तरफ गिरेगा। किन्तु ठीक इसके विपरीत श्रम की माग मे वृद्धि होगी क्योंकि श्रम की माँग में वृद्धि के कारण मजदूरी का बढ़ना स्वाभाविक होगा और श्रम का मूल्य बढ़ेगा और औसत आय उत्पादन वक्र नीचे की तरफ आयेगा। लेकिन मजदूरी की रेखा ऊपर जायगी और किसी स्तर पर दोनो एक दूसरे को स्पर्श करेंगे। इस क्रिया के कारण पुनः उत्पादकों को केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त होगा। इसी प्रकार यदि फर्मों को सामान्य लाभ नहीं मिलेगा या उससे कम मिलेगा तो वे उद्योग छोड सकती है और फिर अन्ततः सन्तुलन की स्थिति आ जायेगी।[1]

यदि यहाँ पर अल्पकाल व दीर्घकाल का अलग अलग चित्रों की सहायता से वर्णन करे तो निम्नलिखित स्थिति पायगे।

अल्पकाल अल्पकाल में फर्म को साधन की इकाइयों के प्रयोग करने से लाभ या हानि हो सकती है। लाभ की स्थिति को नीचे दिये गये चित्र में प्रदर्शित
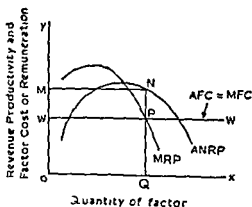
चित्र सं० 137

[1] The firm will be in equilibrium profits will be maximised when the marginal revenue productivity of the factor is equal to the marginal cost of the factor the marginal wage

—*Stonier and Hague*

किया गया है। चित्र में साधन की कीमत उस बिन्दु पर निर्धारित होती है जहाँ पर MRP = MFC है।

चित्र में P बिन्दु पर MPR=MFC इसलिए साधन की कीमत PQ होगी तथा साधन की OQ मात्रा प्रयोग में लायी जायगी। इस स्थिति में फर्म को लाभ होगा या हानि इसके लिए ANRP तथा AFC की तुलना की जाती है। अत चित्र से यह स्पष्ट है कि PNMW के बराबर लाभ प्राप्त होगा।

दीर्घकाल दीर्घकाल में फर्मों को साधन की इकाइयों के प्रयोग से केवल सामान्य (Normal profit) प्राप्त होगा अर्थात् AFC (or Average Remuneration) = ANRP के होगा यदि AFC या (Average Remuneration) or WW कम है ANRP से तो फर्म को साधन की इकाइयों के प्रयोग से लाभ प्राप्त होगा। इस लाभ से आकर्षित होकर उद्योग में नयी फर्म प्रवेश करेगी साधन की माँग बढ़ेगी जिसके परिणामस्वरूप साधन का Average Remuneration or (AFC or WW) बढ़कर ठीक ANRP के बराबर हो जायगा। यदि Average Remuneration (अर्थात् AFC or WW) अधिक है ANRP से तो फर्म को साधनों की इकाइयों के प्रयोग से हानि होगी इस हानि के कारण कुछ फर्में उद्योग को छोड़कर चली जायेंगी साधन की माँग घटेगी और फलस्वरूप Average Remuneration घटकर (AFC or WW] घटकर ठीक ANRP के बराबर हो जायगी। अर्थात् *दीर्घकाल में फर्मों तथा उद्योग के साम्य के लिए निम्न दोहरी दशा पूरी होनी* चाहिए

MRP=MFC or WW (or Marginal Remuneration)

ANRP=AFC or WW (or Average Remuneration)
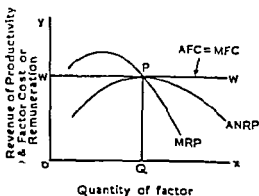
चित्र सं० 138

चित्र म से स्पष्ट है कि P बिन्दु पर उपयुक्त दोनों शर्तें पूरी होती हैं अतः साधन की कीमत PQ होगी तथा साधन की OQ मात्रा प्रयोग की जायेगी और फर्म को केवल सामान्य लाभ प्राप्त होगा।

सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त के अन्तर्गत प्रतिस्थापन का सिद्धान्त (Principle of Substitution) महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है

प्रतिस्थापन का सिद्धान्त (i) एक ही साधन की विभिन्न इकाइयों के बीच लागू होता है तथा (ii) विभिन्न साधनों के बीच लागू होता है।

(i) पूर्ण प्रतियोगिता व अपूर्ण प्रतियोगिता की मान्यता के अन्तर्गत सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त यह बताता है कि सभी व्यवसायों में एक साधन की विभिन्न इकाइयों की सीमान्त उत्पादकताएँ समान होती है। यदि ऐसा नहीं है तो साधन की कम सीमान्त उत्पादकता वाले व्यवसायों को छोड़कर अधिक सीमान्त उत्पादकता वाले *व्यवसायों में चली जायेंगी इस प्रकार का हस्तान्तरण (transference)* या प्रतिस्थापन तब तक जारी रहेगा जब तक कि प्रत्येक व्यवसाय में साधन की सीमान्त उत्पादकता बराबर न हो जाए।

(ii) विभिन्न साधनों के बीच एक फर्म सदैव ऊँची लागत वाले साधनों के स्थान पर कम लागत वाले साधनों का प्रतिस्थापन करती है ताकि वह न्यूनतम लागत संयोग (least cost combination) को प्राप्त कर सके। परन्तु इस प्रकार का प्रतिस्थापन उस सीमा तक होगा जहाँ पर एक साधन की सीमान्त उत्पादकता *तथा उसकी कीमत का अनुपात दूसरे साधन की सीमान्त उत्पादकता तथा उसकी* कीमत के अनुपात के बराबर हो जाता है। सुगमता में इस बात को निम्न सूत्र की सहायता से समझा जा सकता है

$$\frac{\text{MP of Factor A}}{\text{Price of A}} = \frac{\text{MP of Factor B}}{\text{Price of B}} = \\ = \frac{\text{MP of Factor C}}{\text{Price of C}} =$$

सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है

(i) प्रत्येक साधन की कीमत उसकी सीमान्त उत्पादकता अर्थात सीमान्त आगम उत्पादकता (MRP) के बराबर होती है।

(ii) सभी व्यवसायों में एक साधन की विभिन्न इकाइयों की सीमान्त उत्पादकताएँ समान होती हैं।

(*iii*) न्यूनतम लागत संयोग (least cost combination) प्राप्त करने के लिए फर्म विभिन्न साधनों के बीच प्रतिस्थापन तब *तक करती है जब तक कि*

एक साधन की सीमान्त उत्पादकता तथा उसकी कीमत का अनुपात दूसरे साधन की सीमान्त उत्पादकता तथा उसकी कीमत के अनुपात के बराबर न हो जाय।

उक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि कोई फर्म श्रम की विभिन्न इकाइयों का प्रयोग उसी सीमा तक करेगी जहाँ श्रम का सीमान्त आय उत्पादन (MRP) उसकी सीमान्त मजदूरी के बराबर होता है। पूर्ण प्रतिस्पर्धा तथा सन्तुलन की स्थिति में मजदूरी श्रम के औसत आय उत्पादन के बराबर होती है। स्पष्ट है कि पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति में फर्म के लिए श्रम का पूर्ति-वक्र प्रचलित मजदूरी की दर पर पूर्ण रूप में लोचदार होगा।

उद्योग का सन्तुलन
(Equilibrium of Industry)

इस प्रकार किसी एक फर्म के लिए तो मजदूरी निश्चित और दी हुई होती है किन्तु पूरे उद्योग के लिए ऐसा नहीं होता। पूरे उद्योग की दृष्टि से श्रम की पूर्ति पूर्ण रूप से लोचदार नहीं होती क्योंकि यदि कोई उद्योग अधिक मजदूरों को काम पर लगाना चाहता है तो उसे मजदूरी में वृद्धि करना आवश्यक होगा। इसके साथ ही एक विशिष्ट प्रकार का श्रमिक विभिन्न प्रकार के उद्योग में काम भी नहीं कर सकता। परिणामस्वरूप वह एक उद्योग छोड़कर किसी दूसरे उद्योग में आसानी से जा भी नहीं सकता किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि समान पेशे वाले उद्योगों में मजदूरी में वृद्धि होने से अधिक श्रमिक उस तरफ जाने के लिए प्रवृत्त होंगे जिसके कारण उस उद्योग में श्रम की पूर्ति बढ़ जायगी। श्रम की पूर्ति में वृद्धि एक अन्य दृष्टि से भी सम्भव है। जब किसी उद्योग में मजदूरी बढ़ती है तो उस उद्योग के श्रमिक *अतिरिक्त काल (over time) तक काम करना प्रारम्भ कर देते हैं।* ऐसी दशा में उद्योग के श्रम का पूर्ति-वक्र बायीं ओर ऊपर (slopes upward from left to right) की तरफ बढ़ता है। इसका अर्थ यह है कि मजदूरी-स्तर में वृद्धि होने पर अधिक मजदूर काम करने को तत्पर होंगे और मजदूरी-दर बदल जायगी। अतः पूरे उद्योग की दृष्टि से सन्तुलन उसी दशा में सम्भव है जब सभी फर्मों के लिए श्रम की माँग व पूर्ति बराबर होती है।

फर्म और उद्योग में श्रम की पूर्ति और माँग का क्या स्वरूप होगा तथा मजदूरी दर क्या होगी यह चित्र स० 138 द्वारा और भी सरल रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

किसी फर्म के लिए तो मजदूरी दर दी हुई है तथा श्रम के पूर्ति वक्र (SCL) का स्वरूप समानान्तर है जिसका तात्पर्य यह है कि उत्पादक अपने व्यवहार से मजदूरी दर को प्रभावित नहीं कर सकता। फर्म के सन्तुलन की स्थिति में (OM) श्रम की इकाई काम करती है तथा OP मजदूरी की दर है। यह स्थिति चित्र 139 (a) द्वारा

स्पष्ट है किन्तु पूरे उद्योग में श्रम का पूर्ति वक्र (SCL) का स्वरूप (चित्र 139 b में) बदल जाता है तथा वह बायें से दायें ऊपर की ओर उठता है तथा पूरे उद्योग की दृष्टि से सन्तुलन बिन्दु Q होगा। जिस स्थिति में सभी फर्मों में OM मात्रा में श्रमिक काम पर लगाये जाते हैं तथा उनको OP मजदूरी प्राप्त होती है।
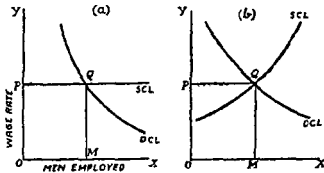
चित्र सं० 139

श्रम की गतिशीलता माग एवं पूर्ति को प्रभावित करती है। श्रम के एक उद्योग से दूसरे उद्योग में जाने का क्रम उस सीमा तक चलता रहेगा जब तक कि पूरे उद्योग में केवल एक मजदूरी दर कायम न हो जाय तथा मजदूरी दर सीमांत उत्पादकता के मूल्य (MVP) के बराबर न हो जाव। ऐसी स्थिति में माँग व पूर्ति की शक्तियों द्वारा पूरे उद्योग में मजदूरी श्रम की सीमान्त उत्पादकता (MVP) के बराबर होगी तथा श्रम की सीमान्त उत्पादकता समान रहेगी।

(1) साधनों की माँग (Demand of the Factors) जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि किसी वस्तु के मूल्य का निर्धारण उसकी माँग व पूर्ति पर निर्भर करता है। उत्पादन साधनों के मूल्य सिद्धांत के सम्बन्ध में प्रधान उनके पारिश्रमिक को निर्धारित करते समय सीमान्त उत्पादकता पर विचार करते समय साधनों की माँग पर विचार करना आवश्यक है। वस्तुतः साधनों की माँग उनकी उत्पादकता पर निर्भर करती है परन्तु किसी भी उत्पादन साधन की माँग प्रत्यक्ष नहीं होती बल्कि व्युत्पादित माँग (derived demand) होती है। इसके साथ ही साथ साधन की माँग उत्पादन की प्राविधिक दशा पर भी निर्भर करती है। प्राविधिक दशा का अभिप्राय साधन की सीमांत उत्पादकता कुल उत्पादन लागत में साधन का महत्त्व तथा एक साधन का दूसरे साधन के प्रयोग से है। साधन द्वारा उत्पादित वस्तु की माँग बढ़ने पर साधन की भी माँग बढ़ती है अर्थात किसी साधन की माँग उसके द्वारा उत्पादित वस्तु की माँग की लोच पर निर्भर करती है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि किसी भी साधन की उत्पादकता अधिक होने पर

उसकी माँग अधिक होगी तथा उसका मूल्य भी अधिक होगा। इसके विपरीत उत्पादकता कम होने पर उसका मूल्य कम होगा।

किसी साधन की सीमान्त आय उत्पादकता-वक्र (MRP) फर्म के लिए उस साधन का माँग-वक्र भी है। इस माँग वक्र का ढाल सीमान्त भौतिक उत्पाद (MPP) पर निर्भर करता है। किसी साधन के लिए उद्योग का माँग वक्र नीचे की ओर ढलता हुआ (downward sloping) होता है क्योंकि साधन की जितनी ही अधिक इकाइयों का प्रयोग किया जाता है क्रमागत इकाइयों का सीमान्त भौतिक उत्पाद (MPP) धीरे धीरे कम होता जाता है।

पूर्ण स्पर्धा के अन्तर्गत अधिकतम लाभ अर्जित करने वाली उत्पादक परिवर्तनशील उत्पादन-साधन को उस सीमा या बिन्दु पर उत्पादन कार्य में लगाता है जिस बिन्दु पर उत्पादन-साधन की सीमान्त लागत (साधन की एक अतिरिक्त इकाई लगाने से कुल लागत में वृद्धि) इस साधन द्वारा उत्पादित सीमान्त आय उत्पाद के बराबर होती है। उत्पादक इस सीमान्त आय उत्पाद के बराबर उस साधन की कीमत निर्धारित करता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि साधनों का मूल्य *सीमान्त उत्पादकता द्वारा निर्धारित होता है।*

उक्त विवेचन से एक निष्कर्ष यह भी निकलता है कि फर्म का लाभ अधिकतम उस स्थिति में होता है जबकि परिवर्तनशील साधन की सीमान्त लागत (MC) साधन की सीमान्त आय (MRP) के बराबर होती है। इसके लिए फर्म या उद्योग अपना लाभ अधिकतम करने के लिए साधन की सीमान्त उत्पादकता तथा साधन की सीमान्त लागत (MC or MFC or Marginal Factor Cost) को बराबर करती है। यही कारण है कि साधन के मूल्य निर्धारण में सीमान्त उत्पादकता को महत्त्व दिया जाता है न कि औसत उत्पादकता (Average Productivity) को। सीमान्त उत्पादकता ही साधन की सीमान्त लागत (Marginal Factor Cost) अर्थात साधन की सीमान्त आय या उसका पारिश्रमिक (Marginal Remuneration of the Factor) निर्धारित करती है।

(ii) साधनों की पूर्ति पूर्ण स्पर्द्धा के अन्तर्गत (क) उत्पादक अधिकतम लाभ उसी समय प्राप्त कर सकता है जबकि वह प्रत्येक उत्पादन साधन का उपयोग उस बिन्दु तक करे जिस बिन्दु पर साधन की सीमान्त आय उत्पाद (MRP) उस साधन के बाजार मूल्य के बराबर हो। (ख) इसके साथ ही साथ हम यह भी जानते हैं कि प्रतिस्थापन के नियम के अनुसार उत्पादक साधनों का न्यूनतम लागत संयोग (Least Cost Combination) उस अवस्था में प्राप्त करता है जबकि वह प्रत्येक साधन की इकाइयों का प्रयोग उस बिन्दु तक करे जिस बिन्दु पर सीमान्त आय उत्पाद (MRP) तथा साधन के मूल्य का अनुपात सभी उत्पादन साधनों के लिए समान हो। उपर्युक्त दोनों बातों को ध्यान में रखते हुए उत्पादन साधनों को

उत्पादन-कार्य में लगाता है। अब हमें यह देखना है कि साधनों की पूर्ति की क्या दशा होगी ? एक फर्म के लिए साधन का पूर्ति वक्र क्षतिज (Horizontal) होगा। इसका अर्थ यह है कि साधनों की पूर्ण स्पर्धी बाजार में प्रचलित पारिश्रमिक दर पर फर्म जितनी मात्रा में चाहे साधनों को उत्पादन में लगा सकती है। परन्तु सम्पूर्ण उद्योग के लिए साधनों का पूर्ति वक्र ऊपर को दाहिनी ओर उठता हुआ होगा, अर्थात् अधिक कीमत पर साधन की पूर्ति अधिक होगी। परन्तु यह भी सम्भव है कि किसी साधन का पूर्ति वक्र लम्बवत् हो या किसी साधन का पूर्ति वक्र ऊँचे मूल्य पर पीछे की ओर मुड़ा हुआ हो। पूर्ति वक्र का स्वरूप विभिन्न साधनों की प्रकृति तथा उनकी परिस्थितियों पर निर्भर करता है। पूर्ति वक्र का जो भी स्वरूप हो उससे हमारे अध्ययन पर प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि उसके स्वरूप का यहाँ पर विशेष महत्त्व नहीं है।[1]

(ii) साधनों का पारिश्रमिक निर्धारण विभिन्न प्रकार की उत्पादकताओं (Productivity of product) फर्म के अधिकतम लाभ बिन्दु और साधनों की माँग तथा पूर्ति के उपर्युक्त विवरण के पश्चात् हम इस स्थिति में हैं कि साधनों के पारिश्रमिक निर्धारण विधि का वर्णन कर सकें। उक्त विवरण के आधार पर हम इन निष्कर्षों पर पहुँचे हैं—(i) प्रत्येक साधन का पारिश्रमिक उसकी सीमान्त आय उत्पाद (MRP) के बराबर होगा। साथ ही साथ पूर्ण स्पर्धा के अन्तर्गत पारिश्रमिक औसत आय उत्पाद (ARP) के बराबर होगा। (ii) साधन की सीमान्त आय उत्पाद वक्र (MRP Curve) साधन का माँग वक्र भी होगा। (iii) साधन की अधिकाधिक इकाइयों का प्रयोग करने से उत्तरोत्तर उसकी सीमान्त उत्पादकता घटती जाएगी। (iv) आरम्भ में साधन की इकाइयों का प्रयोग करने से सीमान्त आय उत्पाद तथा औसत आय उत्पाद में वृद्धि होगी तथा एक सीमा के पश्चात् होना घटनी आरम्भ होगी। (v) यदि किसी साधन की कीमत (पारिश्रमिक) उसकी सीमान्त आय उत्पाद से कम है तो उत्पादक उस साधन की अधिक इकाइयों का प्रयोग करेगा क्योंकि ऐसा करने में अधिक लाभ प्राप्त होगा। परन्तु उस साधन की अधिक इकाइयों के प्रयोग करने से उसकी सीमान्त आय उत्पाद घटेगी। उत्पादक उस साधन का प्रयोग उस समय तक बढ़ाता जाएगा जब तक कि उसकी सीमान्त आय उत्पाद उसकी कीमत के बराबर न हो जाए। इस बिन्दु पर लाभ अधिकतम होगा। यदि उत्पादक इसके पश्चात् भी उस साधन की मात्रा बढ़ाता है तो उसे हानि होगी क्योंकि इस बिन्दु के पश्चात् साधन की कीमत सीमान्त

---

1 The precise shape of ... supply curve is not of paramount importance for our purposes. For our purposes it may be upward sloping to the right, it may be absolutely vertical or it may bend back on itself at high prices. The basic analysis will be the same in each case.
—Leftwich, op cit, p 263

आय उत्पादन से अधिक होगी। अतः उत्पादक किसी साधन की उतनी ही मात्रा का प्रयोग करेगा जितनी मात्रा का प्रयोग करने से साधन की सीमान्त आय उत्पाद उस साधन की कीमत के बराबर हो। इस तथ्य का स्पष्टीकरण रेखाचित्र स० 140 द्वारा किया जा सकता है।

चित्र में MRP तथा ARP वक्र उत्पादन साधन के क्रमशः सीमान्त आय उत्पाद तथा औसत आय उत्पाद वक्र हैं जो R बिन्दु पर एक दूसरे के बराबर है। यह वह बिन्दु है जहाँ पर औसत आय उत्पाद अधिकतम है। QR साधन की कीमत हुई या उसका पारिश्रमिक हुआ। उत्पादक की आय उस समय अधिकतम है जबकि वह साधन की OQ मात्रा का प्रयोग करता है। साधन की OQ मात्रा का प्रयोग
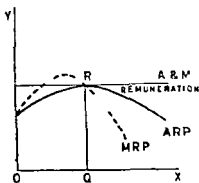
चित्र स० 140

करने पर साधन की कीमत = सीमान्त आय उत्पाद = औसत आय उत्पाद। MRP वक्र उत्पादक का साधन के लिए माँग वक्र भी है। A & M Remuneration एक सीधी रेखा के रूप में है जो यह प्रकट करता है कि इस पारिश्रमिक (RQ) पर साधन की पूर्ति इच्छित मात्रा में की जा सकती है। अतः R वह बिन्दु है जहाँ पर माँग तथा पूर्ति में भी सन्तुलन है।

अपूर्ण स्पर्धा के अन्तर्गत पारिश्रमिक
(Remuneration Under Imperfect Competition)

अपूर्ण स्पर्धा के अन्तर्गत भी उत्पादक का लाभ उस बिन्दु पर अधिकतम होगा जिस बिन्दु पर साधन का सीमान्त आय उत्पाद उसकी कीमत के बराबर होगा (When MRP=MC of the factor) परन्तु पूर्ण स्पर्धा की स्थिति से अपूर्ण स्पर्धा की स्थिति में एक विभिन्नता पाई जाएगी। पूर्ण स्पर्धा में उत्पादक को एक ही कीमत पर साधन की अपरिमित मात्रा प्राप्त हो जाएगी परन्तु अपूर्ण स्पर्धा के अन्तर्गत

साधन की अधिक मात्रा प्राप्त करने के लिए उत्पादक को उत्तरोत्तर अधिक कीमत चुकानी पड़ेगी।

उपर्युक्त से स्पष्ट है कि सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक साधन को वह पारिश्रमिक मिलता है जितना उस साधन द्वारा उत्पत्ति में हिस्सा (Cont ibution) प्रदान किया गया है (साधन विशेष के पूर्ति पक्ष को ध्यान में रखते हुए)। साधन का उत्पत्ति वस्तु में कितना हिस्सा होगा ? यह उस वस्तु के बाजार-मूल्य पर निर्भर है। यदि साधन (श्रम) की पूर्ति घटती है तो पारिश्रमिक बढ़ जायगा तथा वस्तु की कीमत बढ़ने पर भी पारिश्रमिक बढ़ेगा। इसकी विपरीत दशा में उपर्युक्त के विपरीत परिणाम होंगे। यहाँ पर यह याद रखना चाहिए कि सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त का सम्बन्ध केवल साधनों के मूल्य निर्धारण की विधि से है। पारिश्रमिक उचित है या नहीं इस बात से इस सिद्धान्त का कोई सम्बन्ध नहीं है। इस सिद्धान्त द्वारा इस बात पर प्रकाश पड़ता है कि साधनों की माँग क्यों बनती है।

व्यावहारिक जगत में पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति नहीं पायी जाती। अपूर्ण प्रतिस्पर्धा व्यावहारिक स्थिति है। अपूर्ण प्रतिस्पर्धा के अन्तर्गत यह सम्भव है कि साधन को उसके सीमान्त उत्पाद (Marginal Product) के बराबर पारिश्रमिक न मिले। अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की दो स्थितियाँ हो सकती हैं (i) उत्पत्ति वस्तु के विक्रय से सम्बन्धित अपूर्ण प्रतिस्पर्धा तथा (ii) साधन (श्रम) की माँग से सम्बन्धित पूर्ण प्रतिस्पर्धा।

(i) वस्तु बाजार में अपूर्ण प्रतिस्पर्धा
(Imperfect Competition in the Product Market)

मान लीजिए कि कोई साधन (श्रम) एक उत्पादक की सेवा में है जो एकाधिकारी है। इस दशा में भी वह श्रम को उस बिन्दु तक लगाता जायेगा जिस बिन्दु पर मजदूरी सीमान्त आय उत्पादकता (MRP) के बराबर होगी। परन्तु ऐसी स्थिति में मुख्य अन्तर यह होगा कि सीमान्त आय उत्पाद (MRP) सामान्य भौतिक उत्पाद (MPP) तथा कीमत के गुणनफल के बराबर नहीं होगा (MRP *no longer* equals MRP × P)। इसका कारण यह है कि उत्पादन में वृद्धि होने पर एकाधिकारी बेची जाने वाली वस्तु की सभी मात्राओं पर कम कीमत प्राप्त करता है (देखिए एकाधिकारी सम्बन्धी अध्याय)। अब एकाधिकारी साधन की अतिरिक्त इकाइयों को लगाते समय केवल सीमान्त भौतिक उत्पाद (MRP) की मात्रा पर ही *ध्यान नहीं देगा बल्कि वह इस बात पर भी ध्यान देगा कि बढ़ा हुआ उत्पादन किस* कीमत पर बेचा जायगा। इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए श्रम का MPP तथा MRP को दर्शाएँ अगले पृष्ठ पर दी गयी सारिणी के अनुसार है

श्रमिक की संख्या	कुल उत्पाद (TP)	सीमांत भौतिक उत्पाद (MPP) (किलो म)	सीमान्त आय उत्पाद (MRP) (पसा म)
1	1	1	20
2	8	7	140
3	27	19	380
4	40	13	260
5	47 5	7 5	150
6	54	6 5	130
7	60	6	120
8	65	5	100
9	69	4	80
10	71	2	40
11	71	0	—

वस्तु 20 पसे प्रति किलोग्राम की दर से बेचा जाता है। यदि 3 श्रमिक लगाये जाते हैं तो वस्तु का 47 5 किलोग्राम मात्रा पैदा की जाती है। इस मात्रा का उत्पादक 20 प्रति किलो की दर से पूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशा में बेचता है। यदि छठवाँ श्रमिक लगाया जाय तो कुल उत्पादन बढ़कर 54 किलोग्राम हो जाता है। इस प्रकार छठवें श्रमिक की MRP 130 (6 5 × 20 = 130) पैसे होगी। मान लीजिए मजदूरी की दर 1 30 रु० है। इसका अर्थ यह है कि छठवें श्रमिक को लगाना लाभप्रद होगा क्योंकि अतिरिक्त लागत उत्पादन द्वारा पूरा हो जाती है।

अब मान लीजिए उत्पादक एकाधिकारी है तथा उसका विक्रय मात्रा कीमत को प्रभावित करती है। उसकी माँग तालिका निम्नलिखित है

कीमत (पसा म)	माँगी गयी मात्रा (कि० ग्राम म)
23	8
22	23
21	37
20	47 5
19	54

इस प्रकार यदि वह 47 5 कि० ग्राम वस्तु की मात्रा बेचता है तो उसे 20 पैसे प्रति कि० ग्राम कीमत मिलती है। यदि वह 54 कि० ग्राम बेचता है तो उसे 19 पैसे प्रति कि० ग्राम कीमत प्राप्त होता है। छठवें श्रमिक की MRP 76 पैसे होगा जबकि मजदूरी 1 30 रु० होगा। अतः केवल 5 श्रमिक लगाये जायेंगे। इस

प्रकार यदि वस्तु विक्रय के सम्बन्ध में एकाधिकार की स्थिति है तो श्रम की माग पूर्ण प्रतिस्पर्धा की तुलना में कम होगी तथा मजदूरी की दर भी कम होगी।

(ii) साधन बाजार में अपूर्ण प्रतिस्पर्धा
(Imperfect Competition in the Factor Market)

एक उत्पादक साधनों का एकमात्र क्रेता हो सकता है अर्थात् उसकी स्थिति क्रेता एकाधिकारी (Monopsonist) की हो सकती है। ऐसी स्थिति में उत्पादक द्वारा की जाने वाली साधन (श्रम) की माँग मजदूरी दर को प्रभावित करेगी। यदि अधिक श्रम लगाया जाय तो सभी श्रमिकों को ऊँची मजदूरी देना पड़ेगी। इसका परिणाम यह होगा कि मजदूरी अर्थात् श्रम का औसत लागत वक्र एक सीधी रेखा के रूप में नहीं होगा। श्रम की मात्रा बढ़ाने के लिए मजदूरी बढ़ानी पड़ेगी अर्थात् वक्र दाहिनी ओर ऊपर की तरफ उठता हुआ होगा परन्तु उत्पादक यदि अधिक श्रमिक लगाता है तो उसे सभी श्रमिकों को अधिक मजदूरी देनी पड़ेगी। अतः अतिरिक्त श्रम (साधन) की सीमांत लागत मजदूरी (पारिश्रमिक) या औसत लागत से अधिक होगी।

इस स्थिति को अधिक स्पष्ट करने के लिए माना कि उत्पादक अथवा फर्म उत्पाद बाजार (product market) में एकाधिकारी है तथा साधन बाजार (factor market) (श्रम बाजार) में क्रेता एकाधिकारी (Monopsonist) है। इसका अर्थ यह है कि साधन बाजार में फर्म श्रम का एक मात्र नियोजक (employer) है। ऐसी स्थिति में श्रम की कुल माग क्रेता एकाधिकारी फर्म की माँग के समान होगी। अतः श्रम की मजदूरी क्रेता-एकाधिकारी फर्म की श्रम की माँग तथा बाजार में श्रम की पूर्ति द्वारा निर्धारित होगी।

(i) माँग पक्ष (Demand Side) पूर्ण प्रतिस्पर्धा की तरह एकाधिकारी क्रेताधिकारी (monopolist monopsonist) की श्रम की माँग सीमांत आय उत्पादकता (MRP) वक्र पर निर्भर करता है। उत्पाद बाजार में जहाँ हमने एकाधिकार की स्थिति मान ली है पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति की तरह फर्म की वस्तु का मूल्य न तो दिया ही रहेगा और न ही निश्चित होगा। इसके विपरीत फर्म के एकाधिकारी होने के कारण वस्तु का मूल्य उत्पादन की मात्रा में कमी या वृद्धि होने पर बदलता रहेगा। अधिक उत्पादन होने पर वस्तु कम मूल्य पर बिकेगी तथा कम उत्पादन होने पर वस्तु अधिक मूल्य पर बिकेगी। एकाधिकार की स्थिति में वस्तु का मूल्य बदलते रहने के कारण श्रम के सीमांत आय उत्पाद (MRP) की गणना करना कठिन हो जाता है। वास्तव में एकाधिकार की स्थिति में श्रम की MRP की गणना करना सरल नहीं है। एकाधिकार की स्थिति होने पर उत्पादन की मात्रा में वृद्धि होने पर जब उत्पाद का मूल्य कम हो जाता है तब पूर्ण प्रतिस्पर्धा की तरह

श्रम का सीमांत आय उत्पाद (MRP) सीमांत भौतिक उत्पाद (MPP) को उत्पाद के मूल्य से गुणा करने पर ज्ञात नहीं किया जा सकता। इसके विपरीत श्रम का सीमांत आय उत्पाद (MRP) सीमांत भौतिक उत्पाद (MPP) को भौतिक उत्पाद की सीमांत आय से गुणा करने पर ज्ञात किया जा सकता है। इस तथ्य को निम्न प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है

[पूर्ण प्रतिस्पर्धा के अन्तर्गत श्रम की सीमांत आय उत्पादकता] = [श्रम का सीमांत भौतिक उत्पाद × उत्पाद का मूल्य]

या

[MRP of Labour (Under Perfect Competition)] = [MPP of Labour × Price of the Product]

[एकाधिकार के अन्तर्गत श्रम की सीमांत आय उत्पादकता] = [श्रम का सीमांत भौतिक उत्पाद × भौतिक उत्पाद से सीमांत आय]

या

[MRP of Labour (Under Monopoly)] = [MPP of Labour × Marginal Revenue from the Physical Product]

उक्त समीकरणों को उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए कि पूर्ण प्रतिस्पर्धा के अन्तर्गत एक फर्म में एक अतिरिक्त श्रमिक लगाने पर किसी वस्तु की 5 अतिरिक्त इकाइयों का उत्पादन होता है जबकि इसके पूर्व 45 इकाइयाँ उत्पादित की जाती थी। अतिरिक्त श्रमिक को लगाने पर कुल उत्पादन बढ़ कर 50 इकाइयाँ हो जाती हैं। इससे यह स्पष्ट है कि अतिरिक्त या सीमांत श्रमिक का उत्पादन 5 इकाइयों के बराबर है। अन्य शब्दों में श्रम की सीमांत भौतिक उत्पादकता (MPP) वस्तु की 5 इकाइयाँ हैं। माना कि वस्तु का प्रति इकाई मूल्य 5 रुपये है। अतः श्रम के सीमांत भौतिक उत्पाद का द्रव्य में मूल्य अथवा श्रम का सीमांत आय उत्पाद 5 × 5 = 25 रु० होगा। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रहे कि पूर्ण प्रतिस्पर्धा के अन्तर्गत फर्म द्वारा उत्पादित वस्तु का मूल्य 5 रुपये पर स्थिर रहेगा चाहे फर्म वस्तु की 50 इकाइयाँ उत्पादित करे अथवा 500।

परन्तु एकाधिकार के अन्तर्गत फर्म द्वारा उत्पादित वस्तु का मूल्य स्थिर नहीं रहता। वह उत्पादन मात्रा में वृद्धि होने पर घटता है तथा उसमें कमी होने पर बढ़ता है। इसी कारण श्रम की MRP की गणना जटिल हो जाती है। इसको एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए कि एकाधिकारी फर्म वस्तु की 50 इकाइयाँ उत्पादित करती है तथा प्रत्येक इकाई का मूल्य 5.25 रु० है। अब फर्म एक अतिरिक्त (सीमांत) श्रमिक लगाती है जिसके फलस्वरूप फर्म के उत्पादन की मात्रा बढ़कर 55 इकाइयाँ हो जाती है। इसका अर्थ यह है कि श्रम

का सीमात भौतिक उत्पाद MRP वस्तु की 5 इकाइयों के बराबर है। चूंकि फर्म की उत्पादन-मात्रा 50 इकाइयां से बढ़कर 55 इकाइयाँ हो गयी हैं इसलिए वस्तु का प्रति इकाई मूल्य 5 25 रु० पर स्थिर नहीं रहेगा। मान लीजिए कि वह घटकर 5 रु० हो जाता है। ऐसी दशा में श्रम के सीमात आय उत्पाद MRP को इस प्रकार ज्ञात किया जायगा

(55 × 5 रु०) − (50 × 5 25 रु०) = 275 रु०−262 50 रु० = 12 50

उक्त गणना से स्पष्ट है कि फर्म द्वारा श्रम की सीमात इकाई को लगाने पर उसकी आय 12 50 रु० की शुद्ध (net) वृद्धि होती है। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रहे कि फर्म की उत्पादित वस्तु के मूल्य में कमी इस आधार पर की गयी है कि एकाधिकारी फर्म का औसत आय वक्र का ढाल एक पूर्ण प्रतिस्पर्धी फर्म के औसत आय वक्र की तरह एक पड़ी रेखा (horizontal) के रूप में न होकर नीचे की तरफ होता है।

इसका परिणाम यह होता है कि अतः एकाधिकारी फर्म का श्रम का सीमात आय उत्पादकता MRP वक्र श्रम का माँग वक्र पूर्ण प्रतिस्पर्धी फर्म के MRP वक्र की अपेक्षा अधिक तेजी से नीचे की ओर गिरता है (Slopes downwards more rapidly) जैसा कि चित्र संख्या 141 (a) और (b) में दिखाया गया है
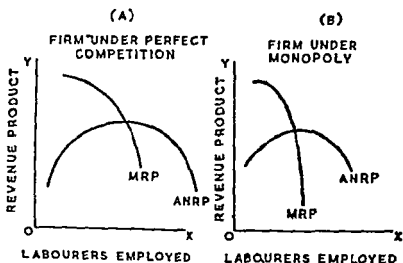
चित्र सं० 141

चित्र सं 141 (a) तथा (b) से यह स्पष्ट है कि एकाधिकारी फर्म का MRP वक्र पूर्ण प्रतिस्पर्धी फर्म के MRP वक्र की अपेक्षा अधिक तेजी से नीचे की

ओर गिरता है क्योंकि पूर्ण प्रतिस्पर्धी फर्म का औसत आय वक्र एक पड़ी रेखा (horizontal) के आकार का होता है जबकि एकाधिकारी फर्म की औसत आय वक्र का ढाल नीचे की ओर होता है।

(ii) पूर्ति पक्ष (Supply Side) एकाधिकारी क्रेता एकाधिकारी (monopolist monopsonist) फर्म के श्रम का पूर्ति वक्र भी पूर्ण प्रतिस्पर्धी फर्म के श्रम के पूर्ति वक्र से भिन्न होता है। पूर्ण प्रतिस्पर्धी फर्म के श्रम का पूर्ति वक्र एक सीधी पड़ी रेखा के आकार का होता है तथा उसकी मजदूरी रेखा भी क्षतिज (horizontal) होती है। ऐसी फर्म के लिए मजदूरी की दर निश्चित रहती है तथा फर्म का उस पर कोई नियन्त्रण नहीं रहता। परन्तु एकाधिकार क्रेता-एकाधिकार की स्थिति में यह स्थिति नहीं रहती। क्रेता एकाधिकारी होने के कारण फर्म ही श्रम का एक मात्र क्रेता होता है जिस कारण वह श्रम के मूल्य (मजदूरी) को श्रम की खरीदी गयी मात्राओं को कम या अधिक करके प्रभावित कर सकता है। यदि वह अधिक श्रमिक लगाकर श्रम की माँग बढ़ा देता है तो मजदूरी बढ़ जायगी। इसके विपरीत यदि वह कम संख्या में श्रमिक लगाता है और इस प्रकार श्रम की माँग को कम कर देता है तो मजदूरी कम हो जायगी। इस प्रकार क्रेता-एकाधिकारी के लिए मजदूरी घटती व बढ़ती रहती है जबकि पूर्ण प्रतिस्पर्धी फर्म के लिए चाहे वह कितनी ही संख्या में श्रम लगाये मजदूरी स्थिर रहती है।

पूर्ण प्रतिस्पर्धी फर्म के लिए औसत मजदूरी तथा सीमान्त मजदूरी में कोई अन्तर नहीं होता क्योंकि AW=MW तथा दोनों ही एक ही पड़ी हुयी रेखा (horizontal line) या मजदूरी रेखा (wage line) द्वारा प्रदर्शित की जाती हैं। परन्तु एक क्रेता एकाधिकारी के लिए औसत मजदूरी तथा सीमान्त मजदूरी में विशेष अन्तर होता है। दोनों ही एक-दूसरे से भिन्न होती हैं, तथा दोनों अलग-अलग वक्रों द्वारा प्रदर्शित होती हैं। इसका कारण यह है कि मजदूरी की कुल रकम को लगाये गये श्रमिकों की कुल संख्या से भाग देने पर औसत मजदूरी ज्ञात होती है। इसके विपरीत, सीमान्त मजदूरी एक अतिरिक्त मजदूरी को लगाने पर पूर्व मजदूरी की कुल रकम में वृद्धि के बराबर होती है। इसको इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है

$$\text{औसत मजदूरी (AW)} = \frac{\text{मजदूरी की कुल रकम (Total Wage bill)}}{\text{लगाये गये श्रमिकों की संख्या (Number of workers employed)}}$$

सीमान्त मजदूरी (MW) = मजदूरी की कुल रकम में अतिरिक्त श्रमिक को नियुक्त करने पर वृद्धि

(Addition to the Wage bill when another labourer is employed)

सीमान्त मजदूरी औसत मजदूरी से अपेक्षाकृत अधिक होती है। यह स्थिति उस स्थिति की ही तरह है जबकि उत्पादन की मात्रा में वृद्धि होने पर औसत लागत बढ़ने लगती है तब सीमान्त लागत औसत लागत से अपेक्षाकृत अधिक हो जाती है। क्रेता एकाधिकारी फर्म के लिए श्रम की पूर्ति की स्थिति चित्र स० 142 में प्रदर्शित की गयी है।

औसत मजदूरी व्यय की उस मात्रा को व्यक्त करती है जो प्रत्येक श्रमिक को रोजगार के विभिन्न स्तरों पर दी जाती है। उदाहरण के लिए जब OM श्रमिक लगाये जाते हैं तब प्रत्येक को मजदूरी के रूप में OW रु० देने होंगे। अतः जब OM
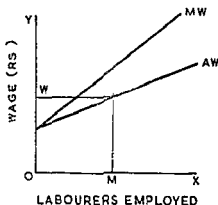
चित्र स० 142

श्रमिक रखे जाते हैं तब OM औसत मजदूरी प्रकट करता है। परन्तु जैसा कि चित्र स० 142 में दिखाया गया है रोजगार के इस स्तर पर सीमान्त मजदूरी औसत मजदूरी से अपेक्षाकृत अधिक है।

परन्तु यहाँ यह स्पष्ट रूप से समझ लेना आवश्यक है कि सीमान्त मजदूरी का अर्थ उस मजदूरी से नहीं है जो कि सीमान्त श्रमिक को दी जाती है (क्योंकि सभी श्रमिकों को एक समान मजदूरी दी जाती है)। इसका अभिप्राय एक अतिरिक्त श्रमिक लगाने पर कुल मजदूरी में वृद्धि से है। क्रेता एकाधिकार के अन्तर्गत एक अतिरिक्त श्रमिक उसी स्थिति में लगाया जा सकता है जबकि सभी श्रमिकों को ऊंची दर से मजदूरी दी जाती है। इसलिए फर्म द्वारा रखे जाने पर सीमान्त श्रमिक की मजदूरी कुल मजदूरी में वृद्धि से अपेक्षाकृत कम होगी। अतः क्रेता एकाधिकार के अन्तर्गत सीमान्त मजदूरी वक्र औसत मजदूरी वक्र के ऊपर होगा, जबकि पूर्ण प्रतिस्पर्धा में औसत मजदूरी वक्र तथा सीमान्त मजदूरी वक्र एक ही होते हैं।

(iii) एकाधिकारिक क्रेता एकाधिकारी फर्म का सतुलन (Equilibrium of the Monopolist Monopsonist Firm) एकाधिकारी क्रेता एकाधिकारी फर्म की सतुलन स्थिति प्राप्त करने के लिए श्रम के माँग तथा पूर्ति वक्रों को चित्र स 143 म एक साथ मिलाकर प्रदर्शित किया गया है। श्रम की माँग व पूर्ति म फर्म उस समय सतुलन प्राप्त करती है जबकि श्रमिकों की OQ सख्या काम म लगायी जाती है क्योंकि रोजगार के इस स्तर पर श्रम की MRP सीमान्त मजदूरी MW के बराबर होती है। य दोनों PQ के बराबर हैं। रोजगार के OM स्तर पर फर्म को अधिकतम लाभ प्राप्त होता है। परन्तु लाभ को अधिकतम करते समय फर्म असामान्य लाभ (abnormal profit) भी अर्जित करती है क्योंकि रोजगार के इस स्तर पर औसत शुद्ध आय उत्पाद (ANRP) औसत मजदूरी से ऊँची है। OQ
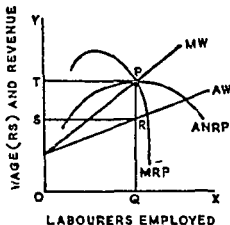
चित्र स० 143

रोजगार स्तर पर ANRP PQ है तथा औसत मजदूरी RQ है जिससे प्रति मजदूर PR के बराबर आधिक्य (Surplus) है। इस प्रकार OQ श्रमिकों से कुल आधिक्य (Total Surplus) PR × OQ या SR अथवा PRST आयत के क्षेत्रफल के बराबर होगा। यह आयात उस असामान्य लाभ को प्रकट करता है जो क्रेता एकाधिकारी फर्म को श्रम से उत्पन्न आधिक्य के कारण प्राप्त होता है। इसके विपरीत पूर्ण प्रतिस्पर्धी फर्म को इस प्रकार का असामान्य लाभ प्राप्त नहीं होता क्योंकि उसकी मजदूरी रेखा (जो औसत मजदूरी रेखा है) ANRP वक्र की स्पर्श रेखा होती है, जिससे उसकी औसत मजदूरी उसके ANRP के बराबर होती है।

पूर्ण प्रतिस्पर्धी फर्म तथा एकाधिकारी क्रेता एकाधिकारी फर्म में अन्तर

पूर्ण प्रतिस्पर्धा के अन्तर्गत	एकाधिकार क्रेता एकाधिकार के अन्तर्गत
1 वस्तु का मूल्य स्थिर रहता है।	1 मूल्य उत्पादन की मात्रा में परिवर्तन के साथ बदलता रहता है। उत्पादन मात्रा में कमी होने पर मूल्य बढ़ता है जबकि वृद्धि होने पर मूल्य कम हो जाता है।
2 सीमान्त आय उत्पाद में तीव्र गति से कमी नहीं आती।	2 उक्त कारण से इस स्थिति में MRP अपेक्षाकृत तेजी से नीचे की ओर गिरता है।
3 सीमान्त मजदूरी वक्र तथा औसत मजदूरी वक्र एक ही होते हैं। दोनों एक ही क्षैतिज रेखा द्वारा प्रदर्शित होते हैं।	3 सीमान्त मजदूरी वक्र औसत मजदूरी वक्र से पूर्णतया अलग होता है। सीमान्त आय वक्र ऊपर दाहिनी ओर ऊपर की तरफ उठता हुआ होगा तथा औसत मजदूरी वक्र के ऊपर होगा।
4 फर्म के सन्तुलन की स्थिति में श्रम का MRP = औसत मजदूरी तथा MW = AW	4 सीमान्त मजदूरी औसत मजदूरी से ऊंची होती है अतः श्रम का MRP भी औसत मजदूरी से अधिक होता है।
5 उत्पाद बाजार में MW = श्रम का MRP [चूंकि श्रम का सीमान्त आय उत्पाद श्रम के सीमान्त भौतिक उत्पाद के मूल्य के बराबर होता है इसलिए सीमान्त मजदूरी भी श्रम के सीमान्त भौतिक उत्पाद के मूल्य के बराबर होती है।]	5 उत्पाद बाजार में (एकाधिकार की स्थिति में) श्रम का सीमान्त आय उत्पाद श्रम के सीमान्त भौतिक उत्पाद के मूल्य से कम होता है।

एकाधिकृत शोषण (Monopolistic Exploitation)

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि एक ऐसी फर्म जो उत्पाद बाजार में एकाधिकारी है तथा साधन बाजार में क्रेता एकाधिकारी है दो तरीकों से लाभ उठाती है। वह उत्पाद बाजार में उपभोक्ताओं का तथा साधन बाजार में साधनों का शोषण कर सकती है। उत्पाद बाजार में एकाधिकारी फर्म सामान्य लागत से कहीं अधिक ऊंचा सीमान्त आय (या मूल्य) निर्धारित कर सकती

है तथा असामान्य लाभ प्राप्त कर सकती है। साधन (श्रम) बाजार म क्रेता एका धिकारी फर्म द्वारा श्रमिको को दी गयी मजदूरी श्रम के औसत शुद्ध आय उत्पाद (ANRP) से कम होती है। इस प्रकार श्रम बाजार म भी फर्म को लाभ ही होता है। अत यह स्पष्ट है कि एकाधिकारी तथा एकाधिकारी फर्म को उत्पाद या साधन दोनो ही बाजारो म लाभ प्राप्त होता है। एक फर्म की इस विशेषता को ही अर्थ शास्त्रियो ने एकाधिकृत शोषण कहा है।

सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त की मान्यताए
(Assumptions of the Marginal Productivity Theory)

सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त निम्नलिखित मान्यताओ पर आधारित है

(1) उत्पादक साधनो की उत्पादकता का अनुमान लगा सकता है तथा उत्पादकता की माप भी कर सकता है।

(2) उत्पादन साधनो के अनुपात म परिवर्तन किया जा सकता है तथा अधिकतम लाभ बिन्दु प्राप्त करने के लिए साधनो के अनुपात म परिवर्तन करना पडता है।

(3) इस सिद्धान्त को पूर्ण स्पर्धा की दशाओ को मानकर प्रतिपादित किया गया है। पूर्ण स्पर्धा के कारण प्रत्येक उत्पादन साधन को सीमान्त उत्पादकता के बराबर पारिश्रमिक मिलता है।

(4) उत्पादन साधनो तथा उनकी विभिन्न इकाइयो के एक रूप होने के कारण वे इकाइयाँ समान रूप से कुशल होती हैं तथा पूर्ण रूप से स्थानापन्न (Substitutes) होती हैं और उन्हे एक दूसरे के द्वारा प्रतिस्थापित किया जा सकता है।

(5) उत्पादन के साधन पूर्णतया गतिशील हैं।

(6) यह सिद्धान्त पूर्ण रूप से दीर्घकाल म लागू होता है अल्पकाल म साधनो का पारिश्रमिक उनकी सीमान्त उत्पादकता से कम या अधिक भी हो सकता है।

(7) दीर्घकाल म उत्पादन प्रक्रिया म उत्पादन समता नियम लागू होता है।

(8) पूर्ण रोजगार (Full Employment) सामान्य स्थिति है। पूर्ण रोजगार के कारण ही साधनो को उनकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर पारिश्रमिक प्राप्त होता है।

(9) यदि साधनो को उनकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर पारिश्रमिक दिया जाए तो कुल उत्पाद उनम पूर्णतया बट जाता है।

सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त की आलोचनाए
(Criticisms of the Marginal Productivity Theory)

सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त की कई आलोचनाए की गई है जिसका सक्षिप्त विवरण अग्रलिखित है

(1) उत्पादन विभिन्न साधनों के सम्मिलित सहयोग एवं प्रयास का परिणाम है अतः प्रत्येक साधन तथा उसकी इकाइयों का उत्पादकता ज्ञात करना असम्भव है फिर भी *सीमान्त विश्लेषण तथा सीमान्त आय उत्पाद विश्लेषण द्वारा* सीमान्त उत्पादकता का अनुमान लगाया जा सकता है।

(2) यह सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि प्रत्येक साधन की मात्रा में अपेक्षित सीमा तक कमी या वृद्धि की जा सकती है। परन्तु उत्पादन के बडे *तथा* अविभाज्य (Lumpy and Indivisible) साधनों के सम्बन्ध में यह मान्यता गलत सिद्ध होती है।

(3) यह सिद्धान्त यह मानकर चलता है कि उत्पादक का उद्देश्य केवल लाभ का अधिकतम करना होता है *परन्तु प्रत्येक उत्पादक का यही उद्देश्य नहीं होता है।* व्यावहारिक दृष्टि से उत्पादक विभिन्न उद्देश्यों को ध्यान में रखता है।

(4) इस सिद्धान्त को पूर्ण-स्पर्धा की दशाओं को मानकर बनाया गया है परन्तु वास्तविक जीवन में पूर्ण स्पर्धा नहीं पाई जाती है। इस प्रकार यह सिद्धान्त काल्पनिक है (चेम्बरलिन ने यह मत व्यक्त किया है कि यह सिद्धान्त अपूर्ण स्पर्धा में भी लागू होता है। अपूर्ण स्पर्धा के अन्तर्गत प्रत्येक साधन का पारिश्रमिक सीमान्त आय उत्पाद के बराबर होता है।)

(5) यह सिद्धान्त पूर्ति पक्ष की उपेक्षा करता है (सिद्धान्त के प्राचीन रूप में)। *साधनों की मांग उसकी सीमान्त उत्पादकता पर निर्भर है परन्तु मूल्य* निर्धारण मांग तथा पूर्ति दोनों के सम्मिलित प्रभावों से होता है।

(6) सिद्धान्त की उत्पादन समता नियम सम्बन्धी मान्यता भी दोषपूर्ण है। *यह सिद्धान्त उत्पादन वृद्धि नियम तथा उत्पादन ह्रास नियम की अवस्था में लागू* नहीं होता है। परन्तु व्यावहारिक रूप में उत्पादन इन्हीं अन्तिम दो नियमों के अनुसार किया जाता है। उत्पादन समता नियम एक प्रकार से अपवाद के रूप में ही लागू होता है। उत्पादन वृद्धि नियम के अनुसार हो रहे उत्पादन की अवस्था में यदि साधनों को उनकी सीमान्त उत्पादकता के अनुसार पारिश्रमिक दिया जाए तो उत्पादक को हानि उठानी पड़ेगी। श्रीमती जोन राबिंसन ने यह मत व्यक्त किया है कि यदि उद्योग को बड़े पैमाने के उत्पादन की मितव्ययिताएं प्राप्त हो रही हैं तो पूर्ण प्रतिस्पर्धी उद्योग में श्रम की सीमान्त भौतिक उत्पादकता (MPP) फर्म की अपेक्षा अधिक होगी क्योंकि एक फर्म द्वारा रोजगार में की गई वृद्धि से दूसरों की कार्यकुशलता बढ़ती है।[1] इस प्रकार उद्योग में सीमान्त उत्पादकता फर्म से अधिक

1 When there are economies of large scale industry the marginal physical productivity of labour to a competitive industry will be greater than the individual firms since an increment of employment given by one firm will enhance the efficiency of others

—Joan Robinson op cit p 237

होता है (उत्पत्ति वृद्धि नियम की अवस्था में) तथा यदि साधनों को उत्पाद का सीमान्त उत्पादकता के अनुसार भुगतान किया जाता है तो भुगतान की राशि म विभिन्नता होगी तथा साधनों का बाजार अशान्त हो जाएगा।

(7) हाब्सन (Hobson) ने कहा है कि विभिन्न साधनों के प्रयोग का अनुपात प्राविधिक दशाओं के अनुसार निश्चित किया जाता है तथा उन्हें परिवर्तित नहीं किया जा सकता है परन्तु यह आलोचना निराधार है। साधनों के अनुपात में वस्तुतः परिवर्तन किया जाता है।

(8) आर्थिक विषमता को उचित ठहराने के लिए इस सिद्धान्त की शरण ली जाती है तथा यह कहा जाता है कि साधनों की सीमान्त उत्पादकता में विभिन्नता के कारण उनकी आय में विभिन्नताएं पाई जाती हैं परन्तु यह धारणा व्यक्तिगत वितरण तथा क्रियात्मक वितरण में अन्तर नहीं करती है। आर्थिक विषमता का कारण योग्यता का अन्तर नहीं अपितु सम्पत्ति तथा शोषण भी है। आर्थिक विषमता को उत्पादकता के आधार पर उचित नहीं ठहराया जा सकता।

उपर्युक्त आलोचनाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त एक अपूर्ण सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त की आलोचना जोन राबिंसन टाजिग पीगू जे० आर० हिक्स, हाब्सन तथा फ्रेजर आदि प्रसिद्ध विद्वानों द्वारा की गई है। फ्रेजर ने कहा है "कोई भी अर्थशास्त्री यह इच्छापूर्वक नहीं कह सकता है कि सिद्धान्त अब भी पूर्ण है। चूँकि यह सरल और हठ है अतः यह अमूर्त तथा अवयक्तिक है। यह अधूरा है इसकी मान्यताएं अनावश्यक रूप से दृढ तथा सकुचित है।"[1]

यह सिद्धान्त बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अत्यन्त ही मान्य था परन्तु अब यह सिद्धान्त अपूर्ण माना जाता है। यह व्यष्टिगत (Micro) परिस्थितियों में ही लागू होता है। इसे समष्टिगत बनाने की आवश्यकता है।

वितरण का आधुनिक सिद्धान्त

(Modern Theory of Distribution)

सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त की तुलना में वितरण का आधुनिक सिद्धान्त अथवा साधनों के पुरस्कार निर्धारण का आधुनिक सिद्धान्त अधिक पूर्ण एवं श्रेष्ठ सिद्धान्त है क्योंकि इसमें साधनों की मांग तथा पूर्ति दोनों पक्षों पर उचित ध्यान दिया जाता है। अतः यह कहा जा सकता है कि किसी साधन के मूल्य निर्धारण का आधुनिक

[1] "No economist would claim that the theory is as yet comple e......Being simple and self consistent it is abstract and impersonal It is guilty of both omisson and commission its postulates are unduly rigid and n rrow"

—*Fraser*

सिद्धात मॉग तथा पूर्ति का सिद्धान्त है। किसी साधन का मूल्य एक वस्तु के मूल्य की भाति उसकी माग व पूर्ति द्वारा निर्धारित होता है। वितरण के आधुनिक सिद्धात के अनुसार साधन मूल्य निर्धारण वास्तव में वस्तु मूल्य निर्धारण का एक विस्तार मात्र ही है (Faetor pricing is only an extensisn or special case of commodity pricing)

वितरण के आधुनिक सिद्धान्त को मॉग व पूर्ति सिद्धान्त भी कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार उत्पादन-साधनो का पारिश्रमिक वस्तुओ के मूल्य की भाँति मॉग व पूर्ति की सम्मिलित शक्तियो द्वारा निर्धारित किया जाता है। विभिन्न साधनो की माग तथा पूर्ति की परिस्थितियाँ भिन्न भिन्न होती हैं अत मजदूरी ब्याज लगान तथा लाभ के सम्बन्ध मे अलग अलग सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया गया है। फिर भी कुछ सामान्य नियम बनाये जा सकते हैं।

यद्यपि साधन मूल्य निर्धारण (factor pricing) वस्तु मूल्य निर्धारण (commodity pricing) की भाति होता है परन्तु दोनो मे कुछ अन्तर भी हैं जो इस प्रकार हैं

(1) वस्तु की मॉग प्रत्यक्ष मॉग (direct demand) होती है जबकि साधन की माग व्युत्पन्न मॉग (derived demand) होती है अर्थात् साधन की मॉग उसके द्वारा उत्पादित वस्तु की मॉग पर निर्भर करती है।

(ii) किसी वस्तु की पूर्ति उसकी मौद्रिक लागत पर निर्भर करती है परन्तु उत्पत्ति के साधनो की लागत का अर्थ है अवसर लागत (Opportunity cost) अर्थात् साधनो की पूर्ति अवसर लागत पर निर्भर करती है।

(iii) कुछ साधनो जैसे श्रम के सम्बन्ध मे हम सामाजिक तथा मानवीय तत्वो का भी ध्यान मे रखना पडता है।

(i) मान्यताए वितरण का मॉग व पूर्ति सिद्धान्त निम्नलिखित मान्यताओ पर आधारित है—(1) प्रत्येक उत्पादन-साधन पूर्णतया विभाजनीय है। (2) साधनो के सम्बन्ध मे प्रतिस्थापन नियम पूर्ण रूप से लागू होता है। (3) उत्पादन साधन की विभिन्न इकाइयो मे एकरूपता पाई जाती है तथा वे एक दूसरे की पूर्ण स्थानापन्न (Substitutes) होती हैं।

(ii) साधनों की मॉग किसी भी साधन की मॉग उसकी सीमान्त उत्पादकता पर निर्भर है। जब तक किसी साधन की सीमान्त उत्पादकता उसके मूल्य से अधिक है उत्पादक उस साधन की अतिरिक्त इकाइयो का प्रयोग करता जाएगा। कुल उत्पादन उस बिन्दु पर अधिकतम होता है जिस पर साधन का मूल्य उसकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर होगा। कोई भी उत्पादक किसी भी साधन को उसकी

मुड जाता है। इसी कारण श्रम पूर्ति वक्र को अर्थशास्त्र म प्रतिगामी पूर्ति वक्र (Regressive Supply curve) अथवा पीछे की ओर मुडता पूर्ति वक्र (Back sloping supply curve) कहते हैं। यह वक्र एक सीमा तक दायी ओर ऊपर को उठता हुआ होता है परन्तु उसके पश्चात् पीछे की ओर मुड़ जाता है। जिसको नीचे दिये गये रेखाचित्र की सहायता से समझा जा सकता है।
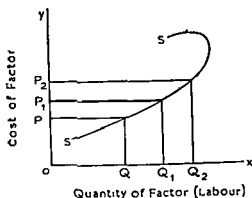
चित्र स 144

रेखाचित्र सख्या 144 म साधन की कीमत OP होने पर OQ मात्रा की पूर्ति होती है। जब कीमत बढ़ कर OP_1 हो जाती है तो पूर्ति भी बढ़ कर OQ_1 हो जाती है। ठीक इसी तरह यदि साधन की कीमत बढ़ कर OP_2 हो जाती है तो साधन की मात्रा भी बढ़ कर OQ_2 हो जायेगी।

(iv) पारिश्रमिक निर्धारण वितरण से माँग पूर्ति सिद्धात के अनुसार पूर्ण स्पर्धा के अन्तर्गत किसी उत्पादन साधन का पारिश्रमिक उसकी माँग तथा पूर्ति पर निर्भर है। माँग साधन की सीमात उत्पादकता (WP) तथा पूर्ति उस साधन की अवसर लागत पर निर्भर है। साम्य की अवस्था म सीमान्त उत्पादकता तथा अवसर लागत समान होती है तथा इसी बिन्दु पर साधन का पारिश्रमिक निश्चित होता है।

नीचे दिये गये रेखाचित्र सख्या 145 म श्रम की माँग व पूर्ति दिखायी गयी है।

श्रम की माँग व पूर्ति E बिन्दु पर एक दूसरे के बराबर होती है। अत यह उद्योग का साम्य बिन्दु है। इस पर श्रम की OP मजदूरी निर्धारित होती है तथा इसी पर साधन की OQ मात्रा माँगी जाती है तथा OQ मात्रा की ही पूर्ति की जाती है। इसम मजदूरी न तो इससे अधिक हो सकती है और न ही इससे कम।

यदि कीमत OP_1 हो जाती है तो इस साधन की माँग P_1W होगी जबकि साधन की पूर्ति P_1T होगी। अत पूर्ति अधिक होने पर मजदूरी घट कर OP हो

जायेगी। यदि मजदूरी OP_2 हो जाती है तो श्रम की माँग P_2N है जबकि पूर्ति P R है। अतः माँग अधिक होने के कारण मजदूरी बढ़ कर पुनः OP हो जायेगी।
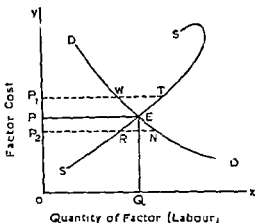
चित्र सं० 145

इस प्रकार उत्पादन साधनों की पुरस्कार अथवा उनकी कीमत उन साधनों की माँग व पूर्ति की शक्तियों के साम्य के द्वारा निर्धारित होता है।

एक उत्पादक या नियोक्ता के लिए किसी साधन की माँग उसकी सीमान्त आगम उत्पादकता पर निर्भर करती है। साधनों की कीमत दी हुयी होने पर एक उत्पादक साधनों की सीमान्त आय उत्पादकता अधिक होने पर साधनों की अधिक मात्रा का प्रयोग करता है तथा सीमान्त आय उत्पादकता कम होने पर साधनों की कम मात्रा का प्रयोग करता है। नीचे दिये गये रेखाचित्र सं० 146 में फर्म की सन्तुलन अवस्था दिखाया गया है।
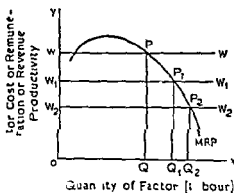
चित्र सं० 146

चित्र में देखिये जब साधन की कीमत OW है तो उत्पादक का सतुलन P बिन्दु पर होता है तथा साधन की OQ मात्रा की माँग करता है। ठीक इसी प्रकार OW_1 कीमत पर सन्तुलन P_1 बिन्दु पर है तथा वह OQ_1 मात्रा की माँग करता है तथा OW कीमत पर सतुलन P_2 बिन्दु पर है तथा वह साधन की OQ_2 मात्रा की माँग करता है। अतः MRP फर्म की साधन की माँग को व्यक्त करता है।

सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का जहाँ पर प्रश्न आता है वहाँ हम किसी साधन की कीमत निर्धारण के लिए उस साधन की किसी एक फर्म की माँग को न देखकर कुल माँग को देखना होगा अर्थात् उस साधन का फर्म की माँग न देखकर उस उत्पादन से सम्बन्धित सम्पूर्ण उद्योग की माँग को देखना होगा। साधन के उद्योग की कुल माँग वक्र का निर्माण उद्योग में लगी हुई समस्त फर्मों के सीमान्त आय उत्पादकता वक्रों के योग के द्वारा कर सकते हैं। कुल माँग वक्र को नीचे दिये गये रेखाचित्र सं० 145 (b) DD द्वारा प्रदर्शित किया गया है।
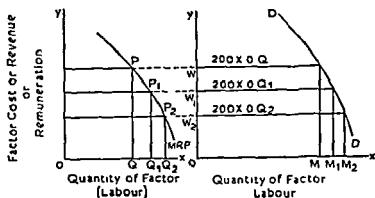
चित्र सं० 147

रेखाचित्र 147 (a) तथा (b) दोनों चित्रों में OY अक्ष पर पैमाना एक ही है परन्तु OX का पैमाना दोनों का अलग अलग है। यहाँ पर यह मान लिया गया है कि उस सम्पूर्ण उद्योग में इस तरह की 200 फर्में लगी हुई हैं। यदि एक फर्म OW मजदूरी पर श्रम की माँग OQ मात्रा की माँग करती है तो सम्पूर्ण उद्योग की माँग $200 \times OQ$ मात्रा के बराबर होगी। इसी तरह यदि OW_1 मजदूरी पर फर्म की माँग OQ_1 है तो सम्पूर्ण उद्योग की माँग $200 \times OQ_1$ होगी और यदि OW_2 मजदूरी पर फर्म की श्रम की माँग OQ_2 है तो उद्योग की माँग $200 \times OQ_2$ के बराबर होगी।

समस्याएँ
(Problems)

1 किसी फर्म के उत्पादन (Product) तथा एक उत्पादन साधन (Factor of Production) की मात्राओं का पारस्परिक सम्बन्ध प्रदर्शित करने वाली एक तालिका बनाइए जिसमें सीमान्त भौतिक उत्पाद (MPP) दर की गणना करिए। इस उत्पाद की माग रेखा खींच कर सीमान्त आगम उत्पाद (MRP) की गणना करिए। वस्तु व साधन के मूल्य काल्पनिक मानते हुए बताइए कि फर्म इससे अधिक या कम उत्पादन साधन की मात्रा प्रयुक्त नहीं करेगी ?

2 मान लीजिए एक एकाधिकारी किसी श्रम संघ के कर्मचारियों को नियुक्त करने हेतु निर्धारित दर से अधिक दर पर पारिश्रमिक प्रदान करता है। साथ ही यह भी मान लीजिए कि उत्पादक साम्य मात्रा (Equilibrium Quantity) से अधिक मात्रा में श्रमिकों को लगाता है। इन पूर्व धारणाओं (Assumptions) के आधार पर बताइए कि

(अ) अल्पकालीन स्थिर लागतों परिवर्तनशील लागतों तथा सीमान्त लागतों पर इस नीति का क्या प्रभाव होगा ?

(ब) फर्म के अल्पकालीन उत्पाद व कीमत साम्य' पर क्या प्रभाव होगा ?

(स) यदि फर्म प्रतियोगी फर्म हो एवं अन्य फर्में भी प्रतियोगी फर्मों के रूप में श्रम संघ से व्यवहार करें तो अल्पकाल व दीर्घकाल में इस फर्म के उत्पाद व कीमत साम्य पर क्या प्रभाव पड़ेगा ?

(द) यदि प्रतियोगी फर्म अकेली ही उद्योग में हो (उद्योग की यह फर्म श्रम संघ से सम्पर्क रखे हुए हो) तो अल्पकालीन व दीर्घकालीन व दीर्घकालीन उत्पाद कीमत साम्य पर क्या प्रभाव होगा ?

41
लगान
(Rent)

> The difference between price and cost of production on infra marginal land is the Ricardian rent the present way of interpreting the rent concept leads to regarding rent as a su plus accruing to any uni of a factor of production over and above the income just necessary for keeping that unit in its occupation
>
> —*William Fellner*

लगान का अर्थ (Meaning of Rent)

बोलचाल की भाषा म अग्रेजी क रेंट (Rent) शब्द का प्रयोग किराय क अर्थ म होता है जो उस भुगतान को प्रकट करता है जो किसी भूमि मकान या दुकान क प्रयोग क बदल म किया जाता है। यह किसी टक्सी या मकान क भाड़े को भी प्रकट करता है परन्तु अक्सर इसका अर्थ वह भुगतान समझा जाता है जो कि एक निश्चित राशि के बदल सब प्रकार की निजी सम्पत्ति को पट्टे पर दन म सम्पत्ति क मालिक को दिया जाता है। परन्तु इस मालिक को जो कुछ प्राप्त होता है वह शुद्ध लगान (Pure rent) नहीं होता। वह वास्तव म सविदा लगान (Contract rent) या कुल लगान (Gross rent) होता है जिसम य शामिल होत है

(अ) सुधारा म नियोजित पूजी का ब्याज

(ब) मूल्य ह्रास तथा सधारण का खर्च (Depreciation and maintenance charges)

(स) प्रबन्ध की मजदूरी

(द) भाड़ और पट्टे पर दन तथा पूजी लगान म जोखिम उठाने के पुरस्कार क रूप म कुछ लाभ और

(य) आर्थिक लगान जो (अ) से (द) तक कुल लगान म स घटान पर प्राप्त आधिक्य (Surplus) होता है।

इस प्रकार अर्थशास्त्र में रेण्ट (*Rent*) लगान का अर्थ आधिक्य है। आधुनिक अर्थशास्त्री लगान शब्द का प्रयोग आर्थिक आधिक्य (Economic surplus) के अर्थ में करते हैं जिसका मतलब है उत्पादन के एक साधन की वह अतिरिक्त कमाई जो उसे उसके वर्तमान प्रयोग में रखने के लिए न्यूनतम आवश्यक राशि से अधिक है।

साधारण बोल-चाल की भाषा में लगान (Rent) शब्द का अभिप्राय उस भुगतान से है जो किसी मकान, दुकान, भवन, यंत्र आदि के प्रयोग के बदले में उसके स्वामी को दिया जाता है। परन्तु अर्थशास्त्र में लगान शब्द का प्रयोग विशिष्ट अर्थ में किया गया है। अर्थशास्त्र में राष्ट्रीय आय में केवल भूमि (Land) के प्रयोग के बदले में किये गये भुगतान को लगान कहते हैं।

लगान सम्बन्धी विचार सबसे पहले निर्बाधावादी (Physiocrats) अर्थशास्त्रियों ने प्रस्तुत किया था। *उनके अनुसार लगान एक ऐसी बचत है जो कृषि उत्पादन में प्रकृति की दया के कारण प्राप्त होता है।* एडम स्मिथ ने भी इस विषय पर कोई निश्चित विचार व्यक्त नहीं किया था। उन्होंने इसे एक ईश्वरीय देन बताया था। माल्थस ने भी लगान को प्रकृति की उदारता का परिणाम माना था। **रिकार्डो** (Ricardo) प्रथम अर्थशास्त्री थे जिन्होंने लगान के सम्बन्ध में अपना निश्चित तथा व्यवस्थित विचार प्रस्तुत किया था। उनके अनुसार **लगान भूमि की उपज का वह भाग है जो भूमि के मालिक को भूमि की मौलिक तथा अविनाशी शक्तियों के उपयोग के बदले में दिया जाता है।**[1] *सीनियर के अनुसार* **किसी प्रकृति दत्त साधन के प्रयोग से प्राप्त की गयी अतिरिक्त उपज ही लगान है** (Ren is the surplus arising rom th u e of an appropriated natural agent)। **कारवर** (Carver) *ने तो भूमि के प्रयोग के बदले में दिये जाने वाले मूल्य को लगान माना है* (Rent is the price paid for the use of land)। **मार्शल के अनुसार भी भूमि तथा अन्य प्रकृतिदत्त उपहारों के स्वामित्व के कारण प्राप्त आय को लगान कहते हैं।**[2]

लगान की उपर्युक्त परिभाषाओं में इस शब्द का प्रयोग भूमि (Land) तथा अन्य प्रकृतिदत्त उपहारों (Free gifts of nature) से प्राप्त आय के सम्बन्ध में हुआ किया गया है। परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्री लगान शब्द का प्रयोग इस संकुचित अर्थ में नहीं करते। *उनके अनुसार लगान उत्पादन के किसी भी साधन (Factor) को* यदि उसकी पूर्ति पूर्ण रूप से लोचदार (P rfectly elas ic) नहीं है प्राप्त हो सकता

---

1 Rent is that port on of the produce of the earth wh ch is paid to the landlord for the use of the original and indestructible powers of the soil"

—*David Ricardo*

2. "The income derived f om the ownership of land and other free gifts of nature is called rent."

—*Marshall*

है। आधुनिक विचारधारा के अनुसार लगान की सही व्याख्या अल्पता के सिद्धान्त (Principle of scarcity) पर आधारित होनी चाहिए। उत्पादन का प्रत्येक साधन अल्प (Scarce) है और उसकी माँग अलग अलग उपयोगों के लिए की जा सकती है। स्वयं भूमि का प्रयोग कृषि, मकान बनाने, उद्योग धन्धे स्थापित करने, दुकान खोलने आदि के लिए किया जा सकता है। परन्तु भूमि की पूर्ति सीमित एवं अल्प तथा पूर्ण तथा बेलोचदार होने के कारण उसे उत्पादन-कार्य में बनाये रखने के लिए आवश्यक न्यूनतम आय से जो अधिक आय प्राप्त होती है उसे लगान कहते हैं। प्रो० बोल्डिंग (Prof bouilding) के अनुसार 'किसी भी उत्पादन के साधन की एक इकाई को उसे वर्तमान उत्पादन कार्य मे बनाये रखने के लिए जो न्यूनतम रकम देना आवश्यक होता है उससे अधिक जो भी भुगतान किया जाता है उसे लगान कहा जाता है।'[1] श्रीमती जोन राबिन्सन (Mrs Joan Robinson) के अनुसार 'लगान की धारणा का तत्व उस आधिक्य की धारणा से है जो उत्पादन के किसी साधन की एक इकाई को उस उत्पादन कार्य में बनाये रखने के लिए आवश्यक न्यूनतम आय से अधिक है।'[2] इस प्रकार आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने लगान का तत्व उत्पादन के सभी साधनों के पुरस्कार-मजदूरी, ब्याज, लाभ-में माना है और भूमि के लगान को एक बड़ी जाति की उप जाति माना है (Rent is a specie of a large genus)।

कुल लगान (Gross Rent)

साधारण बोलचाल की भाषा में लगान शब्द का प्रयोग किया जाता है तो उसका अभिप्राय अर्थशास्त्र में कुल लगान (Gross rent) से होता है। एक कृषक या किरायेदार जो लगान भूमि-पति या मकान मालिक को देता है वह कुल लगान (Gross rent) होता है।

कुल लगान में निम्नलिखित तत्व शामिल होते हैं

(i) केवल भूमि के प्रयोग के लिए भुगतान अर्थात् आर्थिक लगान'

(ii) उस धनराशि का ब्याज जो कि भूमि की उन्नति पर अर्थात् भूमि के निकट कुएँ खुदवाने, भावड़ी बनवाने, खेत के चारों तरफ पक्की नालियाँ बनवाने इत्यादि पर व्यय की गयी है

(iii) भूमि पति की देख रेख अर्थात् प्रबन्ध का पुरस्कार और

---

1 Economic rent may be defined as any payment to a unit of any fa tor of product on which is in excess over the minimum amount necessary to keep that factor in its present occupation

—*Boulding*

2 The essence of the conception of the rent is the conception of a surplus earned by a particular part of a factor of production over and above the minimum earning necessary to induce it to do its work

—*Mrs Joan Robinson*

(v) भूमि पति की जोखिम (जो कि भूमि सुधार तथा उन्नति से सम्बन्धित होता है) का पुरस्कार।

आर्थिक लगान (Economic Rent)

आर्थिक लगान कुल लगान का एक अंग है। केवल भूमि के प्रयोग के लिए भुगतान को आर्थिक लगान कहते हैं। आर्थिक लगान में अन्य तत्व शामिल नहीं होते। रिकार्डो के अनुसार श्रेष्ठ भूमि की लागतों तथा सीमान्त भूमि की लागतों का अन्तर ही आर्थिक लगान का माप है। परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार केवल भूमि ही नहीं बल्कि अन्य सभी साधन आर्थिक लगान प्राप्त कर सकते हैं। इन अर्थशास्त्रियों के अनुसार आर्थिक लगान एक साधन की अवसर लागत (Opportunity cost) के ऊपर बचत है।

ठेके का लगान अथवा संविदा लगान (Contract Rent)

ठेके का लगान वह लगान है जो भूमिपति और काश्तकार में पारस्परिक इकरार या ठहराव द्वारा निर्धारित होती है। ऐसी स्थिति में ठेके का लगान आर्थिक लगान से अधिक कम या उसके बराबर हो सकता है। यह दोनों दोनों पक्षों का सौदा करने की शक्ति पर निर्भर करेगी। जब भूमि की पूर्ति कम तथा माँग बहुत अधिक होती है और काश्तकारों में भूमि के लिए बहुत अधिक प्रतियोगिता होती है तो भूमि-पति *काश्तकारों से बहुत लगान लेते हैं जिसे अत्यधिक लगान (rack renting) कहते हैं।*

ठेके के लगान का निर्धारण भूमि की माँग तथा पूर्ति द्वारा होता है। यदि भूमि की माँग अधिक है अर्थात काश्तकारों में भूमि के लिए अधिक प्रतियोगिता है और पूर्ति कम है तो ठेके का लगान ऊँचा होगा तथा वह आर्थिक लगान से अधिक *होगा। इसके अतिरिक्त यदि भूमि की पूर्ति अर्थात् भूमिपतियों में भूमि को काश्तकारों* को उठाने के लिए आपस में अधिक प्रतियोगिता है तथा भूमि की माँग कम है तो लगान नीचा होगा तथा आर्थिक लगान से कम होगा।

आर्थिक लगान व ठेके के लगान में अन्तर

(Difference between Economic Rent and Contract Rent)

दोनों में मुख्य अन्तर निम्नलिखित हैं

(i) आर्थिक लगान एक सैद्धान्तिक एवं काल्पनिक धारणा है जबकि ठेके का लगान एक व्यावहारिक धारणा है तथा यह वास्तव में देखने को मिलता है।

(ii) आर्थिक लगान का निर्धारण पूर्व अधि सीमान्त भूमियों की लागत तथा सीमान्त भूमि की लागत के अन्तर पर निर्भर करता है जबकि ठेके की लागत का *निर्धारण भूमि की माँग तथा पूर्ति की शक्तियों द्वारा होता है।*

(iii) सीमान्त भूमि की लागत बढ़ जाने से अर्थात जोत की सीमा (Marginal Cultivation) के आगे खिसक जाने से आर्थिक लगान बढ़ जायगा।

दूसरी तरफ सीमान्त भूमि को लगान घट जाने से अर्थात् जोत की सीमा के पीछे खिसक जाने से आर्थिक लगान घट जायगा, जबकि ठेका का लगान भूमिपति तथा काश्तकार के बीच इकरार (Contract) द्वारा तय होता है। इसलिए उसमें परिवर्तन नहीं होता जब तक कि दूसरा इकरार न किया जाय। परन्तु ठेका का लगान आर्थिक लगान से कम या अधिक हो सकता है। प्रायः ठेका का लगान आर्थिक लगान से अधिक होता है और ऐसी स्थिति में कृषक का शोषण होता है।

(iv) आर्थिक लगान श्रेष्ठ भूमियों तथा सीमान्त भूमियों की उपज पर निर्भर करता है। इसलिए यह पहले से निश्चित नहीं किया जा सकता है, जबकि ठेका का लगान इकरार द्वारा निश्चित होता है, इसलिए यह पूर्व से ही निश्चित किया जा सकता है।

2 लगान के सिद्धान्त (Theories of Rent)

लगान निर्धारण के दो प्रमुख सिद्धान्त हैं (i) प्रतिष्ठित या **रिकार्डो का लगान सिद्धान्त** (Classical or Ricardian Theory of Rent) तथा (ii) **लगान का आधुनिक सिद्धान्त** (*Modern Theory of Rent*)।

(i) रिकार्डो का लगान सिद्धान्त (Ricardian Theory of Rent)

डेविड रिकार्डो (David Ricardo) प्रथम अर्थशास्त्री थे जिन्होंने लगान के सम्बन्ध में निश्चित एवं व्यवस्थित विचार प्रस्तुत किया। **लगान क्यों और कैसे उदय** *होता है? इसका स्पष्टीकरण उन्होंने अपने लगान के सिद्धान्त में किया है।* उन्होंने उत्पादन के साधन के रूप में भूमि की विशेषताओं को ध्यान में रखकर लगान के सिद्धान्त का प्रतिपादन भूमि के सम्बन्ध में ही किया है। उन्होंने अपने सिद्धान्त में यह निष्कर्ष निकाला है कि लगान **एक प्रकार का अन्तरमूलक** लाभ या **आधिक्य है** (Rent is a differential surplus)। यह लाभ या आधिक्य भूमि की कुछ विशेषताओं के कारण ही उत्पन्न होता है। ये विशेषताएँ हैं (i) **भूमि का सीमित होना** भूमि की उपलब्ध मात्रा बढ़ायी नहीं जा सकती। अधिक से अधिक *गहरी खेती द्वारा भूमि की बढ़ी हुई माँग की आंशिक पूर्ति की जा सकती है।* **(ii) भूमि गतिशील नहीं है** भूमि का एक टुकड़ा अपने स्थान से हटाकर कहीं और नहीं ले जाया जा सकता (iii) **भूमि की उर्वराशक्ति में भिन्नता होती है** भूमि के सभी टुकड़े एक ही तरह उपजाऊ नहीं होते।

सिद्धान्त की मान्यताएँ
(Its Assumptions)

रिकार्डो के लगान सिद्धान्त को समझने के लिए उन मान्यताओं को जानना आवश्यक है जो रिकार्डो ने अपने सिद्धान्त की रचना करने में मानी हैं। ये इस प्रकार हैं

(i) बाजार मे पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति होती है क्योंकि बाजार मे बहुत से भूमिपति अपनी भूमि लगान पर देने के लिए तैयार होते हैं तथा बहुत से किसान अनाज उत्पन्न करने के लिए भूमि लगान पर लेने के लिए तैयार होते हैं।

(ii) रिकार्डो का लगान सिद्धान्त सम्पूर्ण समाज की दृष्टि मे भूमि की पूर्ति पर विचार करता है तथा वह भूमि की पूर्ति को पूर्णतया स्थिर व निश्चित मान लेता है। अत रिकार्डो के अनुसार भूमि की कुल पूर्ति पूर्णतया मूल्य निरपेक्ष होती है।

(iii) रिकार्डो ने भूमि के वैकल्पिक उपयोग पर विचार नही किया। वह यह मानता है कि भूमि को केवल एक वस्तु अर्थात् अनाज के उत्पादन के लिए प्रयोग किया जाता है। इसलिए रिकार्डो के अनुसार भूमि केवल एक फसल (अर्थात् अनाज) उत्पन्न करने के लिए विशिष्ट है अर्थात भूमि पर अनाज पैदा किया जा सकता है या वह बेकार ही रहेगा।

(iv) रिकार्डो के अनुसार भूमि भिन्न भिन्न किस्मो की होती है। ये किस्मे उर्वरता अथवा स्थिति मे भिन्नता के कारण होती हैं अर्थात भूमि के कुछ टुकडे अन्य टुकडो की तुलना मे अधिक उपजाऊ होते हैं तथा कुछ टुकडे अन्य टुकडो की तुलना मे बाजार के अधिक निकट स्थित होते हैं।

उपयुक्त मान्यताओ के आधार पर रिकार्डो ने अपने लगान सिद्धान्त की रचना की थी जिसकी नीचे व्याख्या की गई है।

सिद्धान्त की व्याख्या रिकार्डो ने लगान की परिभाषा इस प्रकार दी है **लगान भूमि के उत्पादन का वह भाग है जो भूमि के मालिक को भूमि की मौलिक तथा अविनाशी शक्तियो के प्रयोग के लिए दिया जाता है।** इस प्रकार रिकार्डो ने अपने सिद्धान्त मे निम्नलिखित तथ्यो पर प्रकाश डाला

(1) लगान एक प्रकार का अन्तरमूलक लाभ है (Rent is a differential gain) **रिकार्डो के अनुसार लगान अधिसीमान्त तथा सीमान्त भूमि की उपजों का अन्तर है** (Rent is the excess of the yield of a superior piece of land i e super marginal land over that of a marginal land)। **रिकार्डो** का कहना था कि सीमान्त भूमि के अतिरिक्त अन्य सभी भूमि पर आय तथा उत्पादन लागत का अन्तर अधिक होगा तथा यह अन्तर ही **आर्थिक** लगान (Economic Rent) कहा जायगा।

उदाहरण **रिकार्डो** ने उक्त कथन को स्पष्ट करने के लिए एक ऐसे द्वीप का उदाहरण प्रस्तुत किया है जहाँ अभी तक कोई व्यक्ति निवास नही करता है। वहाँ भूमि का प्रयोग न होने के कारण भूमि निशुल्क होगी। अब यदि कुछ लोग उस द्वीप पर आकर बसते हैं तो वे सबसे पहले सबसे अच्छी या सबसे अधिक उपजाऊ भूमि के

टुकड़े जो प्रथम श्रेणी की भूमि (A Grade land) कही जायगी पर कृषि करना प्रारम्भ करेंगे। कुछ समय के बाद जनसंख्या में वृद्धि होने पर जब खाद्यान्नों की माँग में वृद्धि होगी तब प्रथम श्रेणी की भूमि से कम उपजाऊ द्वितीय श्रेणी (B Grade land) की भूमि पर खेती की जाने लगेगी। इसी प्रकार जनसंख्या में वृद्धि के साथ निम्न से निम्न कोटि की (द्वितीय श्रेणी से तृतीय तथा तृतीय श्रेणी से चतुर्थ श्रेणी) की भूमि पर खेती की जाने लगेगी।

अब प्रश्न यह उठता है कि लगान किन स्थितियों में किस प्रकार उत्पन्न होता है? उपर्युक्त उदाहरण में एक नये द्वीप में लोगों के द्वारा खेती के लिए भूमि का प्रयोग किये जाने पर प्रारम्भिक अवस्था में लगान के उत्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं उठता। परन्तु जन संख्या के बढ़ने पर द्वितीय श्रेणी की भूमि का प्रयोग उसी समय किया जाएगा जबकि उत्पादन से प्राप्त आय उत्पादन की लागत (श्रमिकों की साधारण मजदूरी तथा पूँजी के साधारण लाभ) के बराबर होगी। यदि इस श्रेणी की भूमि से उत्पादन से उत्पादन लागत प्राप्त हो जाती है तो यह सीमान्त भूमि (Marginal or no-rent land) कही जाएगी। चूँकि वस्तु बाजार में भूमि से प्राप्त एक प्रकार की उपज का एक ही मूल्य होता है अतः प्रथम श्रेणी की भूमि से प्राप्त उत्पादन की आय में से उत्पादन लागत की पूर्ति करने के पश्चात कुछ आय या लाभ अवश्य बचेगा। यह लाभ या आधिक्य ही प्रथम श्रेणी की भूमि का अन्तरमूलक लाभ या लगान है।

इसी प्रकार तीसरी चौथी और उसके बाद की श्रेणी की भूमि से प्राप्त उत्पादन की आय तथा उन पर उत्पादन-लागत की तुलना करके यह देखा जाएगा कि किस श्रेणी की भूमि से प्राप्त उत्पादन की आय उत्पादन लागत से कम होती है। जिस श्रेणी की भूमि से प्राप्त उपज द्वारा उत्पादन लागत का भुगतान भी नहीं किया जा सकता उस भूमि पर खेती नहीं की जाएगी। माना कि ऐसी भूमि पाँचवीं श्रेणी की है। अतः चौथी श्रेणी की भूमि ऐसी होगी जिसकी उपज से प्राप्त आय उत्पादन-लागत के बराबर होगी तथा वह सीमान्त या लगान हीन भूमि होगी। इस श्रेणी की भूमि के ऊपर तीसरी दूसरी तथा पहली श्रेणी की भूमि अधि सीमान्त (Super marginal or superior piece of land) भूमि होगी क्योंकि उनकी उपज से प्राप्त आय में से उत्पादन लागत की पूर्ति करने के बाद कुछ लाभ या आधिक्य बच रहेगा जैसा कि पृ० 926 पर दी गई तालिका में स्पष्ट किया गया है।

विस्तृत खेती में लगान

भूमि की श्रेणी	प्रति एकड़ उत्पादन	लगान
पहली	200 मन	200 – 60 = 140 मन
दूसरी	160 मन	160 – 60 = 100 मन
तीसरी	100 मन	100 – 60 = 40 मन
चौथी	60 मन	60 – 60 = 0 सीमान्त भूमि
पाचवीं	40 मन	40 – 60 = –20 मन

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि पाचवी श्रेणी की भूमि पर खेती नहीं की जाएगी क्योंकि उत्पादन लागत 60 मन के बराबर है जबकि उपज 40 मन ही है। चौथी श्रेणी की भूमि पर उपज (60 मन) उत्पादन लागत (60 मन) के बराबर है अत यह सीमान्त भूमि होगी। इसके पहले की भूमि तीसरी दूसरी तथा पहली श्रेणियां अधिसीमान्त हैं जिन पर क्रमश 40 100 और 140 मन का अतिरिक्त या अन्तरमूलक लाभ (differential gain) प्राप्त हो रहा है।

चित्र द्वारा स्पष्टीकरण उपर्युक्त तथ्यों को नीचे दिये रेखाचित्र में भी स्पष्ट किया गया है। OX आधार रेखा पर भूमि की श्रेणियां (units) दिखलायी गयी हैं तथा OY खड़ी रेखा पर भूमि से प्राप्त उपज। प्रत्येक आयत प्रत्येक श्रेणी
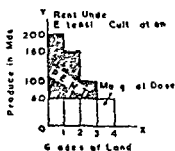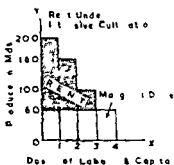
चित्र सं० 148

की भूमि की उपज को व्यक्त करता है। चौथी श्रेणी की भूमि सीमान्त भूमि है क्योंकि उसकी उपज उत्पादन लागत के बराबर है। चूंकि प्रत्येक श्रेणी की भूमि की उपज की उत्पादन-लागत समान होगी अत प्रत्येक की उपज में से सीमान्त भूमि के बराबर उपज निकाल देने पर प्रत्येक श्रेणी की उपज को व्यक्त करने वाले आयत में जो काला भाग (Shaded portion) शेष रहता है वही उस श्रेणी की भूमि का लगान है।

2 गहरी खेती के अन्तर्गत लगान रिकार्डो ने अन्तरमूलक लाभ या लगान की उपर्युक्त व्याख्या विस्तृत खेती के सम्बन्ध में की थी। परन्तु इसका अध्ययन गहरी खेती के अन्तर्गत भी किया जा सकता है। गहरी खेती में अन्तर्गत अन्तरमूलक लाभ या लगान को Rent under intensive cultivation or Rent with intensive margin कहते हैं।

गहरी खेती के अन्तर्गत विस्तृत हो अधिक किस्म की भूमि पर खेती नहीं की जाती। ऐसी स्थिति में पहले सबसे अच्छी भूमि के एकड़ पर ही श्रम तथा पूँजी की अतिरिक्त इकाइयों का प्रयोग करके कृषि उत्पादन में वृद्धि की जाती है। परन्तु भूमि को स्थिर रखकर अन्य साधनों में वृद्धि करके उत्पादन करने से उत्पादन ह्रास नियम लागू होने लगता है। पूँजी तथा श्रम की मात्राओं में वृद्धि करने पर प्रारम्भ में सीमान्त उपज बढ़ेगी। बाद में एक बिन्दु ऐसा आयेगा जिस पर सीमान्त उपज उत्पादन लागत के बराबर होगी। इस बिन्दु में पहले की श्रम तथा पूँजी की प्रत्येक इकाई से उत्पादन लागत की अपेक्षा अधिक उत्पादन प्राप्त होगा अर्थात् श्रम व पूँजी की सीमान्त इकाई के पहले की सभी इकाइयाँ रिकार्डो के अनुसार लगान अर्जित करेंगी जैसा कि नीचे दी गयी तालिका से स्पष्ट है

गहन खेती में लगान

श्रम व पूँजी की इकाइयाँ	प्रति एकड़ उत्पादन	लगान
पहली इकाई (60)	200 मन	200 – 60 = 140
दूसरी ,,	160 मन	160 – 60 = 100
तीसरी	100 मन	100 – 60 = 40
चौथी	60 मन	60 – 60 = 0
		सीमान्त इकाई

3 खेतों की स्थिति तथा लगान (Location of fields and rent) खेतों की स्थिति में अन्तर होने के कारण भी लगान का उदय होता है। कुछ खेत गाँव शहरों व उपज बाजारों के निकट तथा कुछ उनसे दूर होते हैं। जो खेत गाँव शहर या बाजार के नजदीक होते हैं उनकी उपज को ढोने आदि पर किया गया व्यय (transport charges) कम होता है तथा जो खेत बाजार से दूर होते हैं उन पर किया गया मार्ग-व्यय अधिक होता है। ऐसी स्थिति में बाजार के निकट स्थित खेत से प्राप्त उपज से अन्तरमूलक लाभ या लगान प्राप्त होता है जबकि बाजार से अपेक्षाकृत दूर स्थित खेतों से कम लाभ प्राप्त होगा अथवा उपज का मूल्य मार्ग-व्यय तथा उत्पादन-व्यय के योग के बराबर होने पर वह भूमि लगानहीन भूमि होगी।

उदाहरण माना कि तीन खेत A B व C हैं। A खेत बाजार से 2 मील और B तथा C खेत क्रमश 8 और 12 मील की दूरी पर स्थित हैं। यह भी मान लिया गया है कि प्रत्येक खेत की उपज का उत्पादन व्यय 110 रु० है तथा प्रति मन उपज का मूल्य 40 रु० है। अब यदि प्रत्येक खेत पर क्रमश 10 8 तथा 4 मन उपज प्राप्त होती है तथा मार्ग व्यय क्रमश 20 रु० 30 रु० व 50 रु० है तो स्थिति के अन्तर के कारण अन्तरमूलक लाभ नीचे दी गयी तालिका के अनुसार ज्ञात किया जायगा

स्थिति के अन्तर के कारण लगान

खेत	दूरी मील	उपज मन में	उपज का मूल्य रु० में	कुल व्यय			अन्तरमूलक लाभ या लगान रु०
				उत्पादन व्यय रु०	मार्ग व्यय रु०	योग रु०	
A	2	10	400	110+	20=	130	400 − 130 = 270
B	8	8	320	110+	30=	140	320 − 140 = 180
C	12	4	160	110+	50=	160	160 − 160 = 0

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि C खेत बाजार से अपेक्षाकृत दूर होने के कारण लगानहीन भूमि है क्योंकि उत्पादन व्यय + मार्ग-व्यय (160 रु०) उपज मूल्य (160 रु०) के बराबर हैं जबकि A व B खेतों के बाजार के अपेक्षाकृत निकट होने के कारण उनसे प्राप्त उपज का मूल्य कुल व्यय (उत्पादन-व्यय + मार्ग व्यय) से अधिक है (क्रमश 270 रु० तथा 180 रु०)। यह आधिक्य ही A व B खेत का अन्तरमूलक लाभ या लगान है।

(ii) सिद्धान्त के मुख्य तत्त्व

रिकार्डो के लगान सिद्धान्त के निम्नलिखित मुख्य तत्त्व हैं

1 लगान एक भेदात्मक बचत है (Rent is a Differential Surplus) रिकार्डो के अनुसार लगान सापेक्षिक लाभ या भेदात्मक बचत (Differential surplus) है। सभी भूमि एक समान नहीं होती हैं उनमें उर्वरता या स्थिति (Fertility or situation) या दोनों की दृष्टि से अन्तर या भेद होता है। इस अन्तर या भेद के कारण श्रेष्ठ भूमियों को निम्न कोटि की भूमियों की तुलना में लाभ या बचत प्राप्त होती है जिसे रिकार्डो ने लगान कहा है। चूंकि लगान भूमियों में अन्तर या भेद के कारण प्राप्त होता है इसलिए इसे भेदात्मक बचत कहा जाता है।

2 लगान कीमत को प्रभावित नहीं करता है (Rent does not determine price) कृषि की वस्तु की कीमत सीमान्त भूमि की लागत के बराबर होती

है तथा लगान इस लागत के ऊपर बचत (Surplus) है इसलिए लगान लागत में प्रवेश नहीं करता तथा मूल्य को प्रभावित नहीं करता बल्कि वह स्वयं मूल्य द्वारा प्रभावित होता है।

3 लगान प्रकृति की कृपणता के कारण उत्पन्न होता है (Rent is due to the niggardliness of Nature) अन्तरमूलक लाभ उसी समय प्राप्त होता है जबकि निम्न कोटि की भूमि पर खेती की जाए। यदि सभी भूमि एक ही प्रकार की तथा उत्तम श्रेणी की हो तो *लगान का प्रश्न ही नहीं उठता। अत लगान की समस्या इसलिए उठती है कि अच्छी किस्म की भूमि पर्याप्त सीमा तक उपलब्ध नहीं होती है।* इस प्रकार लगान प्रकृति की उदारता नहीं बल्कि उसकी कृपणता के कारण उत्पन्न होता है।

4 लगान भूमि की मौलिक तथा अविनाशी शक्तियों का प्रतिफल है रिकार्डो ने लगान की परिभाषा में ही यह स्पष्ट कर दिया है कि भूमि की मौलिक तथा अविनाशी शक्तियां अर्थात् भूमि के विभिन्न टुकड़ों के उपजाऊपन में भिन्नता होने के कारण ही लगान उत्पन्न होता है। यदि भूमि के सभी टुकड़ों पर पूँजी और श्रम की समान मात्राओं का प्रयोग किया जाता है तो जो भूमि जितनी ही अधिक उपजाऊ होगी उस भूमि का लगान उतना ही अधिक होगा।

5 लगान अनुपार्जित आय है (Rent is Unearned Income) लगान भूस्वामि के प्रयत्नों का फल नहीं है। लगान उपज का बाजार मूल्य उत्पादन लागत से *अधिक होने के कारण प्रकट होता है। अत यह एक अनुपार्जित आय है।* लगान कम होने पर भूमि की पूर्ति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

6 *वास्तविक लगान की प्रवृत्ति आर्थिक लगान के बराबर होने की होती है* (Actual Rent tends to equal Economic Rent) रिकार्डो के अनुसार लगान अन्तरमूलक लाभ है। ऐसी स्थिति में भूमि का स्वामी किसान से इस अन्तर मूलक लाभ अर्थात् कुल उपज से प्राप्त आय तथा कुल उत्पादन-व्यय के अन्तर की मांग कर सकता है। पूर्ण स्पर्धा में किसान को इस अन्तर के बराबर लगान देने में कोई आपत्ति नहीं होगी क्योंकि उसका भुगतान कर देने पर किसान को कोई हानि नहीं होती है। लगान का भुगतान कर देने के बाद भी उसके पास उत्पादन के बराबर *आय बच रहती है जिसमें उसका सामान्य लाभ भी सम्मिलित रहता है।* अत वास्तविक लगान की प्रवृत्ति आर्थिक लगान के बराबर होने की होती है।

(iii) रिकार्डो के लगान सिद्धान्त की आलोचना
(Criticism to the Ricardian Theory)

(1) *भूमि की मौलिक तथा अविनाशी शक्तियों को ज्ञात करना कठिन है* रिकार्डो के अनुसार भूमिपति का लगान भूमि की मौलिक तथा अविनाशी शक्तियां

के प्रयोग के कारण प्राप्त होता है। परन्तु यह बात करना अत्यन्त ही कठिन है कि भूमि का कौन सा गुण मौलिक तथा कौन सा अर्जित (acquired) है ? एक पुरान देश म मौलिक गुण तथा अर्जित गुण म भेद करना अत्यन्त ही कठिन है। इसक साथ ही भूमि की अविनाशी शक्तियों का पता लगाना भी असम्भव है। किसी भी भूमि म अविनाशी उपजाऊपन' नहीं होता है। प्रयोग के साथ उपजाऊपन घटता जाता है जब तक कि उस यथावत् बनाये रखने के लिए प्रयत्न न किए जाएँ।

(2) **भूमि के प्रयोग का क्रम अव्यावहारिक है** रिकार्डो द्वारा वर्णित भूमि के प्रयोग का क्रम भी अव्यावहारिक है। रिकार्डो के अनुसार सर्वप्रथम सर्वोत्तम भूमि का प्रयोग किया जाता है तत्पश्चात उससे निम्न कोटि की भूमि का प्रयोग किया जाएगा। परन्तु व्यावहारिक रूप म हम जानते हैं कि भूमि की स्थिति का उसके उपजाऊपन से अधिक महत्त्व है। भूमि का प्रयोग उसके उपजाऊपन के क्रम म नहीं बल्कि उसकी स्थिति के अनुसार या सुविधाजनक भूमि के क्रम म किया जाता है।

(3) **लगान रहित भूमि का न होना** रिकार्डो द्वारा वर्णित लगान रहित भूमि व्यावहारिक दृष्टि से नहीं पाई जाती है। इस आलोचना का यह उत्तर दिया जा सकता है कि लगान के नाम पर भुगतान की राशि म पूंजी पर ब्याज भी सम्मिलित रहता है। यद्यपि लगान का भुगतान किया जाता है फिर भी यह सम्भव है कि आर्थिक लगान शून्य हो। अन्त यहाँ पर लगान रहित भूमि का अभिप्राय ऐसी भूमि म है जिसकी उपज से प्राप्त आय उपज के व्यय के बराबर हो इस दृष्टि से सीमान्त या लगान हीन भूमि का पता लगाना कठिन या अव्यावहारिक नहीं है।

(4) **पूर्ण प्रतियोगिता की मान्यता ठीक नहीं है** रिकार्डो ने सभी प्रकार की भूमि के टुकड़ों की उपज की एक ही कीमत मानकर पूर्ण प्रतियोगिता की कल्पना की थी। परन्तु इस प्रकार की मान्यता अव्यावहारिक है। पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति वास्तव म कहीं नहीं पायी जाती अत उस पर आधारित होने के कारण रिकार्डो का लगान सिद्धान्त असत्य एव काल्पनिक है।

(5) **लगान मूल्य मे सम्मिलित नहीं होता यह विचार भी भ्रामक है** रिकार्डो के सिद्धान्त के अनुसार सीमान्त भूमि लगान हीन भूमि होती है अर्थात् उसकी उपज से प्राप्त मूल्य म लगान शामिल नहीं होता है। परन्तु आलोचकों का यह कहना है कि रिकार्डो का यह विचार भ्रामक है। व्यावहारिक जीवन म लगान कुछ विशेष परिस्थितियों म अवसर या वैकल्पिक व्यय (opportunity or alternative costs) के रूप म मूल्य म सम्मिलित रहता है।

(6) लगान भूमि की सीमितता का परिणाम है न कि उपज की भिन्नता का। आधुनिक अर्थशास्त्रियों का कहना है कि लगान के उत्पन्न होने के लिए भूमि की उर्वरा शक्ति अथवा स्थिति में भिन्नता होना आवश्यक नहीं है। लगान केवल भूमि की सीमितता से उत्पन्न हो सकता है। भूमि की पूर्ति स्थिर एवं सीमित होती है। अतः उसके प्रयोग के लिए लगान देना पड़ता है।

(7) लगान केवल भूमि की ही विशेषता नहीं बल्कि उत्पत्ति के अन्य साधनों को प्राप्त होता है। रिकार्डो ने लगान केवल भूमि की ही विशेषता माना है और उनके अनुसार उत्पत्ति के अन्य साधनों को लगान प्राप्त नहीं हो सकता है। परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्री लगान को अवसर लागत के ऊपर एक प्रकार का आधिक्य मानते हैं जो उत्पत्ति के किसी भी साधन (श्रम, पूँजी व साहस को भी) प्राप्त हो सकता है जिसकी पूर्ति अल्पकाल में बेलोचदार होती है।

(8) लगान के निर्धारण के लिए अलग लगान सिद्धान्त की आवश्यकता नहीं। आधुनिक अर्थशास्त्री लगान निर्धारण के लिए किसी अलग सिद्धान्त की आवश्यकता अनुभव नहीं करते हैं। आधुनिक अर्थशास्त्री उत्पत्ति के प्रत्येक साधन का पुरस्कार निर्धारण एक ही सिद्धान्त के द्वारा करते हैं और वे भूमि में कोई ऐसी विशेषता नहीं पाते जिसके लिए अलग सिद्धान्त की आवश्यकता हो।

(9) सीमान्त उत्पत्ति ह्रास नियम को रोका जा सकता है। रिकार्डो का सिद्धान्त यह मानकर चलता है कि कृषि में सीमान्त उत्पत्ति ह्रास नियम क्रियाशील रहता है परन्तु तकनीकी तथा संगठनात्मक सुधारों के द्वारा केवल इंगलैण्ड में ही नहीं, समस्त यूरोप के मुख्य भभाग में इस नियम की क्रियाशीलता को रोक दिया गया है। रिकार्डो यह कल्पना नहीं कर सके कि उत्पत्ति ह्रास नियम की क्रियाशीलता को रोका जा सकता है तथा कृषि उत्पादकता में कई गुनी वृद्धि की जा सकती है।

(10) श्रम और पूँजी का संयुक्त साधन न होना। रिकार्डो ने अपने सम्पूर्ण अध्ययन में श्रम एवं पूँजी को एक संयुक्त साधन के रूप में प्रयोग किया है जिसकी अनेक मात्राएँ भूमि पर प्रयोग की जाती हैं। श्रम और पूँजी के संयुक्त भाग का भुगतान करने के बाद जो शेष बचता है वह लगान होता है। यह तर्क असंगत है क्योंकि श्रम और पूँजी दो अलग अलग साधन हैं जो भिन्न भिन्न पुरस्कार प्राप्त करते हैं। यह भी नहीं रिकार्डो ने अपने सिद्धान्त में यह भी स्पष्ट नहीं किया कि भूमि के साथ श्रम एवं पूँजी को किस अनुपात में प्रयोग किया जाता है।

उपर्युक्त आलोचनाओं के आधार पर रिकार्डो के लगान सिद्धान्त को पूर्णतया अव्यावहारिक माना जाता है परन्तु वस्तुतः उनका लगान सिद्धान्त पूर्णतया अव्यावहारिक नहीं है। आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने रिकार्डो के लगान सिद्धान्त का परित्याग नहीं किया है बल्कि उसे एक सामान्य सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया है जो

उत्पादन के किसी भी साधन के सम्बन्ध में लागू किया जा सकता है। रिकार्डो ने लगान का कारण भूमि की मौलिक एवं अविनाशी शक्तियों को बतलाया है। आधुनिक अर्थशास्त्री उत्पादन साधन की पूर्ति के बेलोच होने अर्थात् उत्तम प्रकार के उत्पादन-साधनों की कमी को लगान का कारण मानते हैं। इस प्रकार रिकार्डो का लगान सिद्धान्त आधारहीन नहीं है, उसमें कुछ तथ्य हैं। अतः राबर्टसन का यह कथन सर्वथा उपयुक्त है : The Classical Theory of Rent has by no *means lost its validity and instructiveness*

लगान तथा कीमत
(Rent and Price)

रिकार्डो के अनुसार किसी भी कृषि वस्तु की कीमत सीमान्त भूमि पर पैदा की गई उस वस्तु की उत्पादन-लागत के बराबर होती है अर्थात् कीमत सीमान्त लागत के बराबर होती है। रिकार्डो के अनुसार लगान एक प्रकार का आधिक्य है जो कीमत तथा लागत के अन्तर को प्रकट करता है। अतः उनके अनुसार लगान द्वारा **कीमत का निर्धारण नहीं होता है बल्कि कीमत द्वारा लगान का निर्धारण होता है।** अतः लगान कीमत का परिणाम है। Coin is not high because rent is paid but rent is paid because co n is high

लगान कीमत में प्रवेश नहीं करता (Rent does not enter into price) लगान कीमत में प्रवेश नहीं करता है। इसके पक्ष में तर्क इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है : पूर्णस्पर्धा के अन्तर्गत किसी वस्तु की कीमत उसकी सीमान्त उत्पादन लागत के बराबर होती है। यहाँ पर सीमान्त उत्पादन लागत का अभिप्राय सीमान्त भूमि पर उत्पादन-लागत से है। लगान एक प्रकार का अन्तर (Differen ial) है अतः सीमान्त भूमि का कोई लगान नहीं होता है। चूँकि लगान सीमान्त उत्पादन लागत का कोई अंश नहीं है अतः लगान कीमत में प्रवेश नहीं करता है।

लगान कीमत का परिणाम है। ऊँची सीमान्त उत्पादन लागत के कारण यदि कीमत ऊँची है तो ऐसी परिस्थिति में उत्तम भूमि पर अपेक्षाकृत कम उत्पादन लागत के कारण आधिक्य प्राप्त होगा। यह आधिक्य सीमान्त भूमि की ऊँची उत्पादन-लागत तथा उत्तम भूमि की कम उत्पादन-लागत के अन्तर के बराबर होगा। अतः खेती की सीमा निम्नतर होने पर उत्पादित वस्तु की कीमत अधिक होगी। इस प्रकार उत्तम भूमि अधिक लगान अर्जित करेगी। इसी प्रकार यदि किसी भूमि पर गहन खेती की जाती है तो सीमान्त लागत अधिक होगी जिसमें औसत लागत तथा सीमान्त लागत में अन्तर होगा अतः लगान उत्पन्न होगा। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यदि ऊँची सीमान्त लागत के कारण कीमत बढ़ती है तो उत्तम भूमि द्वारा ऊँची दर पर लगान अर्जित किया जायगा।

भूमि के सम्बन्ध में उपर्युक्त विश्लेषण तर्कसंगत है। भूमि की पूर्ति निश्चित है अतः उसके लिए दी जाने वाली कीमत में परिवर्तन का प्रभाव उसकी पूर्ति पर नहीं पड़ेगा (यदि हम पूरे समाज के सन्दर्भ में बात करते हैं)। यदि लगान शून्य भी हो जाय तो भूमि की पूर्ति पर प्रभाव नहीं पड़ेगा। परन्तु यदि हम किसी एक फर्म के सम्बन्ध में बात करें तो लगान उत्पादन-लागत का एक भाग होगा। यदि उत्पादक को कुल आय लगान प्राप्त नहीं करती है तो उत्पादन बन्द कर दिया जाएगा। अतः अन्य साधनों की भाँति उत्पादन की कीमत द्वारा लगान का अंश भी प्राप्त होना चाहिए। उद्योग की दृष्टि में अवसर लागत (opportunity cost) भी उत्पादन लागत का अंश होता है। हम यह जानते हैं कि वस्तु की कीमत सीमान्त फर्म की सीमान्त लागत के बराबर होती है। अतः सीमान्त भूमि की अवसर लागत भी उत्पादन लागत का एक अंश होगा। सीमान्त भूमि अधिकतम लागत वाली भूमि है जिसे उद्योग को अपने पास रखना होगा यदि उद्योग कुल माँग की पूर्ति करना चाहता है। परन्तु कुछ फर्मों के पास कम अवसर लागत वाली भूमि भी होगी। वे फर्में भी अपने उत्पादन को उसी कीमत पर बेचेंगी जिस कीमत पर सीमान्त फर्में। अतः सीमान्त फर्म के अतिरिक्त अन्य फर्मों को आधिक्य प्राप्त होगा। उद्योग के अन्तर्गत इस आधिक्य को आर्थिक लगान कहा जा सकता है। माँग में ज्यों-ज्यों वृद्धि होगी त्यों-त्यों अधिक अवसर लागत वाली भूमि का भी प्रयोग किया जाएगा अतः वस्तु के मूल्य में वृद्धि होती जायगी। इस प्रकार पूर्व की भूमि की इकाइयों की अवसर लागत तथा सीमान्त भूमि की अवसर लागत का अन्तर बढ़ता जाएगा। उद्योग के अन्तर्गत आधिक्य या लगान बढ़ता जायगा जो कम अवसर लागत वाली भूमि द्वारा अर्जित किया जायगा। यह लगान उत्पादन की सीमान्त लागत का भाग नहीं है। अतः यह कीमत में प्रवेश नहीं करेगा बल्कि कीमत का परिणाम होगा। परन्तु अवसर लागत उत्पादन लागत का ही अंश है। सीमान्त भूमि की अवसर लागत सीमान्त लागत का अंश है अतः यह कीमत में प्रवेश करती है।

कुछ भी हो रिकार्डो ने एक सत्य की ओर संकेत किया है—यदि किसी साधन की पूर्ति पूर्ण बेलोचदार है अर्थात् पूर्ति निश्चित है तो उस साधन द्वारा किया गया उत्पादन उत्पादित वस्तु की कीमत के अनुसार बदलेगा। (The return to a factor fixed in supply that is whose supply is absolutely inelastic will vary directly with variations in the price of the goods produced by it) इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए भूमि का एक ऐसा टुकड़ा है जिस पर केवल गेहूँ पैदा किया जा सकता है। (ii) केवल भूमि व श्रम का प्रयोग किया जाता है। (iii) श्रम की पूर्ति पूर्ण लोचदार है। हम यह देखेंगे कि इस भूमि की उपज (Return) गेहूँ के मूल्य पर निर्भर करेगी जैसा कि चित्र सं० 149 द्वारा स्पष्ट होता है। QN श्रम की सीमान्त आय उत्पत्ति (MRP) का

दर्शाती है। OP मजदूरी पर OM व्यक्ति काम पर लगाए जाते हैं। कुल उत्पादन (TP) OMNQ है। मजदूरी बिल OMNP है तथा उत्पादन (Return) PNQ है। यदि गेहूं की कीमत बढ़ जाती है तो श्रम की MRP ऊपर खिसक जाएगी जैसा कि चित्र सं० 149 में दिखाया गया है। श्रमिक Q_1N_1 मजदूरी बिल पर काम करते हैं। प्रत्येक श्रमिक अब भी वही मजदूरी OP प्राप्त करता है क्योंकि हम मान चुके हैं कि श्रम की पूर्ति पूर्ण लोचदार है। परन्तु भूमि का उत्पादन (Return) बढ़कर PN_1Q_1 हो गया है। यदि गेहूं की कीमत गिर जाये तो उपयुक्त विवरण की विपरीत स्थिति पाई जायगी। उपयुक्त विवरण से हम कुछ व्यावहारिक निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं। चूंकि भूमि पर केवल गेहूं पैदा किया जा सकता है अतः गेहूं की खेती उस
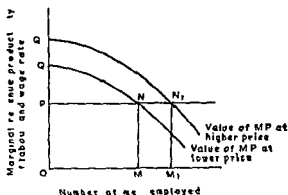
चित्र सं० 149

समय तक की जाती रहेगी जब तक कि उत्पादन की कीमत मजदूरी बिल का भुगतान करने के लिए पर्याप्त है अर्थात् कीमत कम रहने पर भूमि पर QPN मात्रा तक उत्पादन को प्रभावित किए बिना कर लगाया जा सकता है। परिवर्तनशील साधन की पूर्ति में वृद्धि (यदि उत्पादित वस्तु की उत्पादकता तथा कीमत परिवर्तित रहे) स्थिर साधन की उत्पत्ति में वृद्धि करेगी। लगान का यह सिद्धान्त कि भूमि के स्थिर (fixed) होने के कारण लगान एक प्रकार का आधिक्य (Surplus) है और अधिक सामान्य रूप से लागू किया जा सकता है। आधुनिक अर्थशास्त्री रिकार्डो के भूमि सम्बन्धी विचार को उत्पादन के अन्य साधनों पर भी लागू करते हैं।

उपयुक्त विवरण से स्पष्ट है कि रिकार्डो का कथन (लगान कीमत का अंश नहीं है) उसी समय सही होगा जबकि आर्थिक लगान को अन्तउद्योग लगान (intra industrial rent) के रूप में परिभाषित किया जाए। यदि लगान शब्द का प्रयोग भूमि के उपयोग के बदले में किए गए समस्त भुगतानों (भूमि की अवसर

लागत को सम्मिलित कर) के लिए किया जाता है तो भूमि के लगान का वह भाग, जो अवसर लागत को प्रकट करता है उत्पादन लागत का एक अंश माना जाएगा तथा वह कीमत में प्रवेश करेगा। अतः रिकार्डो का कथन उसी समय सत्य माना जाएगा जबकि हम यह मान लें कि प्रत्येक भूमि का टुकड़ा एक विशिष्ट प्रयोग के ही लिए है अर्थात् उसकी अवसर लागत शून्य है। यदि भूमि की अवसर लागत होती है (निश्चित रूप से होती है) तो लगान का अंश कीमत में अवश्य प्रवेश करेगा। अतः रिकार्डो का कथन पूर्णतया सत्य नहीं है।

लगान का आधुनिक सिद्धान्त
(The Modern Theory of Rent)

1. **लगान की परिभाषा** आधुनिक अर्थशास्त्री लगान का विश्लेषण केवल भूमि के ही सम्बन्ध में नहीं करते हैं। आधुनिक विचारधारा के अनुसार आर्थिक लगान किसी भी उत्पादन साधन को किए गए उस अतिरिक्त भुगतान को कहते हैं जो उस साधन को उद्योग में लगाये रखने के लिए आवश्यक न्यूनतम राशि से अधिक होता है। (Economic rent is any payment to a unit of factor of production which is in excess of the minimum amount necessary to keep that factor in its present use)। इस प्रकार लगान एक सामान्य पुरस्कार है जो किसी भी उत्पादन साधन को दिया जा सकता है। हम यह जानते हैं कि किसी भी उत्पादन साधन को वर्तमान व्यवसाय में बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है उसे कम से कम उतना भुगतान अवश्य किया जाय जितना कि वह अन्यत्र प्राप्त कर सकता है। अतः एक साधन की आय के लिए हम दो शब्दों का प्रयोग कर सकते हैं— (i) **वर्तमान आय या वास्तविक आय** (Present or actual earning) (ii) **विकल्प आय** (Transfer earning)। साधन को जो कुछ प्राप्त होता है वह उसकी वास्तविक आय है। विकल्प आय वह आय है जिसे साधन अन्य वैकल्पिक प्रयोगों द्वारा प्राप्त कर सकता है। साधन को वर्तमान उद्योग में बनाये रखने के लिए आवश्यक है कि उसे कम से कम 'विकल्प आय' के बराबर भुगतान किया जाये अन्यथा वह साधन दूसरे उद्योग में चला जायेगा। सामान्यतः साधनों की वर्तमान आय या वास्तविक आय विकल्प आय से अधिक होती है। अतः **वास्तविक आय तथा विकल्प आय के अन्तर को आर्थिक लगान कहते हैं** (Rent = Actual Earning – Transfer Earning)।

आधुनिक मत के अनुसार एक साधन के स्वामियों को प्राप्त होने वाली आय का जितना (साधनों की) पूर्ति पूर्ण लोचदार से कम होती है लगान कहा जाता है।[1]

उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण

लगान के आधुनिक सिद्धान्त को हम एक उदाहरण की सहायता से स्पष्ट कर सकते हैं

साधन की वास्तविक आय (वर्तमान में) (Actual earning)	साधन की स्थानान्तरण या वैकल्पिक आय (Transf r earning cr opportunity cost)	लगान वर्तमान आय–स्थानान्तरण आय (Actu l earning–Transfer earning)
4 000 रु०	4 000 रु०	(4 000 – 4 000) = 0 0 —स्थिति 1 (Case I)
	0 0 रु०	4 000 – 0 0 = रु० 4,000 —स्थिति 2 (Ca e II)
	3 000 रु०	4 000 – 3 000 = 1 000 रु० —स्थिति 3 (Case III)
	5 000 रु०	? —स्थिति 4 (Ca e IV)

स्थिति 1 (C.se I) माना कि एक जनरल मैनेजर की वर्तमान आय 4 000 रुपए है। यदि वह वर्तमान व्यवसाय छोड़ दे तो दूसरे व्यवसाय में भी उसे 4 000 रु० प्राप्त हो सकते हैं अर्थात् वह पूर्णतया अविशिष्ट है अथवा वर्तमान व्यवसाय के लिए जरा भी विशिष्ट नहीं है। ऐसी स्थिति में साधन (जनरल मैनेजर) को अवसर लागत के ऊपर कोई बचत अर्थात लगान प्राप्त नहीं होता है क्योंकि उसकी वर्तमान आय तथा अवसर लागत बराबर है। दूसरे शब्दों में स्थिति 1 यह दिखाती है कि साधन पूर्णतया अविशिष्ट है। अतः उसे कोई लगान प्राप्त नहीं होता है।

स्थिति 2 (Case II) एक दूसरी स्थिति ऐसी हो सकती है कि जनरल मैनेजर अपने वर्तमान रोजगार को छोड़ कर किसी दूसरे व्यवसाय में जाना चाहे और

[1] The income of owners of factors in less than perfectly elast c supply are called rents In this sense the word rent is not confined to land nor does it have nything to do with le s ng things or hir g them The factor owner can rece ve rent from land or from capital under certain conditions or from labour under certa n cond t ons

—*D.S Watson—Price Theory Uses p 452*

उसे किसी दूसरे व्यवसाय म कोई रोजगार प्राप्त न हो तो साधन (जनरल मनजर) वतमान व्यवसाय क लिए पूर्णतया विशिष्ट (Perfectly Specific) है। इसका अथ है कि साधन की अवसर लागत या स्थानान्तरण लागत शून्य है। एसी स्थिति म उसकी समस्त वतमान आय अवसर लागत क ऊपर बचत अर्थात लगान होगी। अत स्पष्ट है कि स्थिति 2 यह बताती है कि साधन पूर्णतया विशिष्ट है इसलिए उसकी समस्त आय लगान है। यह एक दूसरे सिरे की स्थिति है।

स्थिति 3 (Case III) माना कि साधन (जनरल मनजर) को दूसर प्रयोग म 3 000 रुपय मिल सकते हैं जो उसकी अवसर लागत हुई। एसी स्थिति म उसको (4 000 3 000)=1 000 रु० क बराबर अवसर लागत क ऊपर बचत है और यह लगान है। तीसरी स्थिति बताती है कि साधन आंशिक रूप स विशिष्ट है तथा आंशिक रूप स अविशिष्ट है।

स्थिति 4 (Case IV) माना कि जनरल मनजर को दूसरे व्यवसाय म 5000 रु० मिल सकत है तो 5000 रु० उसकी अवसर लागत कही जायेगी। अत

लगान = वास्तविक आय – हस्तान्तरण या वकल्पिक आय

4 000 – 5 000 रु० = – 1 000 रु०

क्योंकि लगान एक बचत है अत यह ऋणात्मक नहीं हो सकती। अत लगान 1 000 रु नहीं होगा। एसी दशा म साधन का लगान क्या होगा? एसी स्थिति म हम यह मान लत हैं कि चूँकि साधन को दूसरे प्रयोग म अधिक मिल सकता है इसलिए वह वतमान प्रयोग को छोडकर जल्दी ही दूसर प्रयाग म चला जायेगा। अब दूसरे प्रयोग म मिलन वाल 5,000 रु० उसकी वतमान आय हो जायगी तथा पहले प्रयोग की 4 000 रु० की आय उसकी हस्तान्तरण या अवसर लागत हो जायेगी इसलिए (5 000 – 4 000)=1,000 रु० उसका लगान होगा।

2 लगान क्यों दिया जाता है? (1) साधन की पूर्ति किसी उत्पादन-साधन की इकाइयों को विकल्प आय स अधिक भुगतान क्यों किया जाता है? इस प्रश्न का उत्तर साधनों की माँग तथा पूर्ति म निहित है। यदि किसी साधन की पूर्ति पूर्णतया लोचदार है तो इसका अथ यह होगा कि एक दिय हुए मूल्य पर उस साधन की आवश्यक मात्रा म पूर्ति उपलब्ध होगी। एसी अवस्था म उस साधन की कोई भी इकाई लगान अर्जित नहीं कर पाएगी। परन्तु यह स्मरणीय है कि उस दिय हुए मूल्य से कम मूल्य पर उस साधन की पूर्ति बिल्कुल नही उपलब्ध होगी।

(अ) साधन की पूर्ति पूर्ण लोचदार होने पर सम्पूर्ण आय स्थानान्तरण आय एवं लगान शून्य होता है

जब किसी साधन की पूर्ति पूर्ण लोचदार होती है तो उसे कोई लगान प्राप्त नहीं होता है। क्योंकि साधन की पूर्ति एक निश्चित मूल्य पर असीमित होती है और उसमें तनिक भी कम मूल्य पर उसकी पूर्ति शून्य होती है अतः ऐसे साधन को स्थानान्तरण आय पर कोई आधिक्य प्राप्त नहीं होता और लगान शून्य होता है। इस स्थिति को नीचे दिये गये रेखाचित्र 150 में स्पष्ट किया गया है।

रेखाचित्र में साधन की पूर्ति रेखा SS है जो OX के समानान्तर है जो यह बताती है कि साधन की पूर्ति OP अथवा QE मूल्य पर असीमित है। साधन की मांग रेखा DD है। OP तथा QE मूल्य पर साधन की मांग OQ है अतः साधन की OQ मात्रा के लिए भुगतान OQEP के बराबर किया जाता है। साधन की स्थानान्तरण आय भी OQEP है अतः साधन को कोई लगान प्राप्त नहीं हो रहा है।
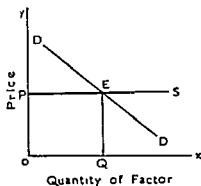
चित्र सं० 150

(ब) साधन की पूर्ति पूर्ण बेलोचदार होने पर स्थानान्तरण आय शून्य एवं सम्पूर्ण आय आर्थिक लगान

यदि उत्पादन में किसी साधन की पूर्ति पूर्णतः बेलोचदार है तो साधन की स्थानान्तरण आय शून्य होगी अतः उसे जो भुगतान प्राप्त होगा वह लगान होगा। किसी साधन की पूर्ति पूर्णतया बेलोचदार होती है तो वह साधन पूर्ण रूप से विशिष्ट साधन होता है जिसका केवल एक ही प्रयोग किया जा सकता है। अतः ऐसे साधन की स्थानान्तरण आय अथवा अवसर लागत शून्य होती है। साधन के

जो कुछ भुगतान प्राप्त होता है वह लगान होता है जिसको नीचे दिये गये रेखाचित्र की सहायता से जाना जा सकता है।
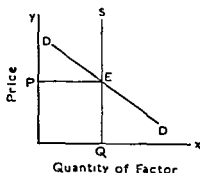
चित्र सं० 151

रेखाचित्र सं० 151 में पूर्ण लोचदार पूर्ति SS रेखा द्वारा दिखाई गई है जो यह बताती है कि साधन की पूर्ति OQ मात्रा स्थिर है चाहे साधन को शून्य भुगतान ही क्या न प्राप्त हो अर्थात् साधन पूर्ण रूप से विशिष्ट है और इसकी *स्थानान्तरण आय शून्य है। साधन की माग PO रेखा द्वारा दिखाई गई है।* साधन को OP आय QE प्रति इकाई भुगतान प्राप्त होता है और साधन का कुल भुगतान OQEP है। साधन का यह सम्पूर्ण भुगतान ही लगान है।

यदि साधन की पूर्ति पूर्ण लोचदार से कम है (Less than perf ctly el stic) तो उसकी उन इकाइयों को पहले काम में लगाया जायगा जिनका पूर्ति मूल्य न्यूनतम है। परन्तु यदि माँग में वृद्धि होती है तो साधन की अधिकाधिक *इकाइयों का प्रयोग अधिक मूल्य पर किया जायगा जिसमें साधन वैकल्पिक व्यवसायों* को छोड़कर अधिक माग वाले उद्योग में आ सकें। चूँकि साधन की समस्त इकाइयों को एक ही दर पर कीमत दी जायगी अत पूर्व की अन्तर सीमान्त इकाइयाँ (Intra margin l uni s) जिनका पूर्ति मूल्य कम है, उस कीमत से अधिक अर्जित करेंगी जितनी कि उन्हें उद्योग में बनाये रखने के लिए आवश्यक है। अत ऐसी अन्तर सीमान्त इकाइयों को लगान प्राप्त होगा।

(iii) साधन की गतिशीलता लगान की मात्रा साधन की प्रकृति पर भी निर्भर करती है। आधुनिक सिद्धान्त के अनुसार उत्पादन साधनों में कोई मौलिक अन्तर नहीं होता है परन्तु साधनों की गतिशीलता के कारण उनके गुणों में अन्तर पाया जाता है। प्रत्येक साधन को उसकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर पुरस्कार मिलने के लिए यह आवश्यक है कि साधन पूर्ण गतिशील हो। परन्तु यदि कोई

साधन कम गतिशील है तो उसे उसकी सीमांत उत्पादकता से कम परिश्रम मिलेगा। आस्ट्रिया के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री वान वीजर (Von Wieser) ने गतिशीलता के आधार पर साधनों को दो वर्गों में विभाजित किया है—(i) पूर्ण विशिष्ट (Perfectly specific) तथा (ii) पूर्ण अविशिष्ट (Perfectly non specific)। पूर्ण विशिष्ट साधन वे हैं जिनका प्रयोग केवल एक कार्य के ही लिए किया जा सकता है। इसके विपरीत, पूर्ण अविशिष्ट साधन वे हैं जिनका प्रयोग विभिन्न प्रकार के कार्यों के लिए किया जा सकता है। यदि पूर्ण अविशिष्ट साधनों को उनकी सीमांत उत्पादकता से कम पारिश्रमिक दिया जाता है तो वे उद्योग छोड़कर अन्यत्र चले जाएँगे। परन्तु वैकल्पिक प्रयोग की उपलब्धि न होने के कारण पूर्ण विशिष्ट साधन उसी उद्योग में बने रहेंगे यद्यपि उन्हें पारिश्रमिक सीमांत उत्पादकता से भले ही कम दिया जा रहा हो। यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिए कि—(i) साधनों का उपयुक्त दो श्रेणियों में स्थायी तौर पर विभाजन नहीं किया जा सकता। विशिष्टता साधनों का एक गुण मात्र है (ii) आज जो साधन विशिष्ट है, वह भविष्य में अविशिष्ट भी हो सकता है (iii) व्यावहारिक रूप से कोई भी साधन न तो पूर्ण विशिष्ट होता है और न पूर्ण अविशिष्ट। (प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने यह भूल की थी कि वे भूमि को ही सदैव विशिष्ट साधन मानते थे। उन्होंने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि समय विशेष में भूमि श्रम पूंजी आदि का कोई भी साधन विशिष्ट हो सकता है।)

(iii) लगान निर्धारण चूँकि भूमि श्रम पूंजी आदि में कोई मौलिक भेद नहीं है अतः समस्त साधनों के पारिश्रमिक का निर्धारण उनकी सीमांत उत्पादकता के आधार पर किया जाता है। अतः सन्तुलन की स्थिति में भूमि का पारिश्रमिक उसकी सीमांत उत्पादकता के बराबर होता है। किसी भी साधन को उसकी सीमांत उत्पादकता के बराबर पारिश्रमिक प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि वह साधन पूर्णतया अविशिष्ट हो। किसी भी साधन को उसकी अविशिष्टता की सीमा तक ही सीमांत उत्पादकता के बराबर पारिश्रमिक मिलता है। किसी भी साधन को उसकी (विशिष्टता के आधार पर) सीमांत उत्पादकता से अधिक जिस मात्रा में पारिश्रमिक मिलता है वही मात्रा उस साधन का लगान है। अतः लगान विशिष्टता के लिए किया गया भुगतान है (Rent is a payment for specificity)। कोई भी साधन लगान अर्जित कर सकता है यदि वह विशिष्ट (Specific) है। यह साधन भूमि श्रम पूँजी आदि कोई भी हो सकता है। इस प्रकार केवल भूमि ही नहीं कोई भी साधन लगान अर्जित कर सकता है।

(iv) रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण चित्र सं० 152 द्वारा लगान के आधुनिक सिद्धान्त को समझाया गया है। चित्र में SS दायकवान पूर्ति वक्र है जो पूर्ण लोचदार पूर्ति वक्र से कम लोचदार है। मान लीजिए यह पूर्ति-वक्र किसी उद्योग में

मनेजर की पूर्ति को प्रकट करता है। मनेजरो की माँग उनकी योग्यता व कुशलता (उत्पादकता) पर निर्भर होगी। यदि बाजार का पूर्ण ज्ञान है तथा पूर्ण गतिशीलता
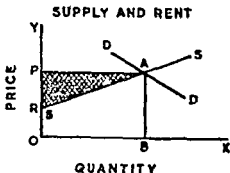
चित्र स० 152

पाई जाती है तो दीर्घकाल म सभी मनेजर OP वेतन प्राप्त करेंगे। पूर्ति-वक्र से यह पता चलता है कि एक मनेजर क अतिरिक्त सभी मनेजर OP वेतन से कम वेतन पर नौकरी करने को तयार हैं। परन्तु कोई भी व्यक्ति OR स कम वेतन पर काम करने को तयार नहीं होगा। चित्र म दिखलाया गया छायांकित भाग मनेजरो के वेतन म कुल लगान के भाग (Total Rent element) को प्रदर्शित करता है। लगान अवसर लागत क ऊपर आधिक्य को प्रकट करता है। OPAB आयत का छायांकित भाग *लगान को तथा शेष भाग अवसर लागत को प्रकट करता है।* यदि पूर्ति वक्र पूर्ण लोचदार हो जाए, अर्थात् एक सीधी पडी रेखा के रूप म (आधार रेखा OX के समानान्तर) हो जाए तो छायांकित भाग (लगान) समाप्त हो जाएगा। अत पूर्ति पूर्ण लोचदार (Perfectly elastic) होने पर लगान शून्य हो जाता है।

निष्कर्ष यह प्रश्न किया जा सकता है कि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने 'लगान शब्द का प्रयोग भूमि के सदर्भ म ही किया था परन्तु आधुनिक विचारधारा के अनुसार लगान कोई भी साधन अर्जित कर सकता है, अत हम लगान के स्थान पर किसी अन्य शब्द का प्रयोग क्यो नही करते हैं। वास्तव म प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के मस्तिष्क मे भूमि शब्द गतिहीनता के ही लिए था जिससे हम अब विशिष्टता (Sp cificity) कहते हैं। उन्होने केवल यही गलती की कि वे केवल भूमि को ही विशिष्ट मान बठे थ। यदि वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे होते कि भूमि सम्ब विशिष्ट ही रहे तो वे सही निर्णय पर पहुँच सकते थे। आजकल लगान शब्द का प्रयोग विशिष्टता के लिए किए गए भुगतान के लिए किया जाता है। 'विशिष्टता' को 'भूमि पहलू (Land Aspect) भी कहते हैं। प्रत्येक साधन मे विशिष्टता तथा अविशिष्टता' के तत्व विद्यमान रहते हैं अत प्रत्येक साधन मे 'भूमि-पहलू' पाया

जाता है। लगान का भुगतान भूमि पहलू के लिए ही किया जाता है। अत आधुनिक सिद्धात म भी लगान शब्द का ही प्रयोग किया जाता है क्योंकि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो के विचार मूलत सही थ। उन्होने केवल साधारण भूल की थी।

रिकार्डो का लगान सिद्धान्त एव आधुनिक लगान सिद्धान्त की तुलना

रिकार्डो के लगान सिद्धान्त एव आधुनिक लगान सिद्धान्त की तुलना निम्न लिखित बिन्दुओ की सहायता से की जा सकती है

1 **लगान का अर्थ** रिकार्डो क अनुसार लगान एक एसा भुगतान है जो भूमिपति को भूमि की मौलिक एव अविनाशी शक्तियो के प्रयोग के बदल दिया जाता है अर्थात् रिकार्डो के अनुसार कवल भूमि को ही लगान प्राप्त होता है जबकि लगान के आधुनिक सिद्धान्त के अनुसार उत्पादन का प्रत्येक साधन जिस स्थानान्तरण आय स अधिक भुगतान प्राप्त होता है लगान प्राप्त करता है।

2 **लगान उत्पन्न होने के कारण** रिकार्डो के अनुसार लगान उत्पन्न होने का कारण उत्पत्ति क साधनो की उवरा शक्ति म भिन्नता भूमि की स्थिति म अन्तर अथवा कृषि म उत्पत्ति ह्रास नियम का लागू होना होता है जबकि लगान क आधुनिक सिद्धान्त क अनुसार लगान के उत्पन्न होने का कारण उत्पत्ति के साधनो की सीमितता अथवा विशिष्टता है।

3 **लगान तथा मूल्य** रिकार्डो क अनुसार लगान मूल्य को प्रभावित नही करता बल्कि स्वय मूल्य स प्रभावित होता। जबकि आधुनिक सिद्धान्त के अनुसार व्यक्तिगत उत्पादन की दृष्टि से लगान उत्पादन लागत का एक आवश्यक भाग होता है और वह मूल्य को प्रभावित करता है।

4 **लगान की माप** रिकार्डो क अनुसार किसी भूमि पर लगान का माप अधिसीमान्त भूमि की उपज तथा सीमान्त भूमि की उपज क अन्तर के द्वारा होता है। इस मुद्रा के रूप म देखा जाय तो यह अधिसीमान्त भूमि की उपज के मूल्य तथा सीमान्त भूमि की उपज की लागत के अन्तर क बराबर होता है जबकि आधुनिक लगान के अनुसार लगान का माप साधन की वास्तविक आय तथा स्थानान्तरण आय के अन्तर के द्वारा होता है। वास्तविक आय मे से स्थानान्तरण आय घटाने पर लगान ज्ञात होता है।

5 **सिद्धान्त में वास्तविकता** रिकार्डो का लगान सिद्धान्त अव्यावहारिक मान्यताओ पर आधारित है इसलिए अधिक उपयोगी नहीं है जबकि आधुनिक सिद्धान्त वास्तविकता के अधिक निकट होने क कारण अधिक उपयोगी है।

अर्द्ध-लगान या आभास लगान
(Quasi Rent)

अर्द्ध-लगान का विचार सर्वप्रथम मार्शल ने प्रस्तुत किया था। मार्शल ने अर्द्ध-लगान शब्द का प्रयोग उन उत्पादन-साधनों की आय के लिए किया है जिनकी पूर्ति अल्प समय में निश्चित होती है जैसे निश्चित प्लांट मकान आदि की आय। प्रो० मार्शल ने अर्द्ध-लगान की परिभाषा इस प्रकार दी है "अर्द्ध-लगान प्रमुख (मौद्रिक) लागत पर कुल आय के आधिक्य को कहते हैं जो कम या अधिक उस समय की माँग और पूर्ति के घटनावश सम्बन्धों से प्रभावित होती है।'

(Quasi Rent is a surplus of total receipts over prime money cost governed by more or less accidental relations of demand and supply for that time)

प्रो० सिल्वरमैन के अनुसार "अर्द्ध-लगान उत्पादन के उन साधनों से प्राप्त होता है जिनकी पूर्ति अल्पकाल में स्थिर परन्तु दीर्घकाल में परिवर्तनशील होती है।

(The additional payment for those agents of production the supply of which though alterable in a long period is fixed in a short period is technically known as Quasi rent.)

प्रो० लिप्से के अनुसार साधनों के वे भुगतान जो अल्पकाल में आर्थिक लगान तथा दीर्घकाल में हस्तान्तरण भुगतान होते हैं आभास लगान कहे जाते हैं।

(Factor payments which are economic rents in the short run and transfer payments in the long run are called Quasi Rents)

आधुनिक अर्थशास्त्री अर्द्ध-लगान के विषय में एकमत नहीं है। प्रो० स्टोनियर ने यह कहा है कि अस्पष्टता के कारण अर्द्ध-लगान के विचार का परित्याग करना ही श्रेयस्कर है। आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार अल्पकाल में—

> कुल अर्द्ध-लगान = कुल आय—कुल परिवर्तनशील लागत (TR–TVC) या
> प्रति इकाई उत्पादन अर्द्ध-लगान = औसत आय – औसत परिवर्तनशील लागत (AR – AVC)

अर्द्ध-लगान को अवसर लागत के सन्दर्भ में भी व्यक्त किया जा सकता है। अल्पकाल में अवसर लागत के ऊपर जो भी आधिक्य प्राप्त होता है उसे अर्द्ध-लगान कहते हैं। स्टोनियर तथा हेग ने मशीन के सन्दर्भ में आभास लगान को इस प्रकार परिभाषित किया है "मशीन का आभास लगान इसकी कुल अल्पकालीन आय में से इसके साथ प्रयुक्त किए गये परिवर्तनशील साधनों की लागत घटाकर अल्पकाल में मशीन को चालू अवस्था में बनाये रखने के व्यय को घटाने के बराबर होता है। दीर्घकालीन सन्तुलन में आभास लगान मशीन की (स्थिर) सामान्य आय के बराबर हो

जायगा। दूसरे शब्दों में आभास लगान अपने दीर्घकालीन सामान्य स्तर पर आ जायगा जहाँ यह मशीन के अस्तित्व को निरन्तर बनाये रखने के व्यय के बराबर हो जायगा।' इस प्रकार स्टोनियर तथा हेग के अनुसार मशीन का आभास लगान= [कुल आय] – [कुल परिवर्तनशील लागत + अल्पकालीन रक्षण लागत]।

Quasi rent of the machine = TR – TCV + Short Run maintenance cost

अन्य आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार Quasi rent = TR – TVC होता है। यह स्मरणीय है कि इन अर्थशास्त्रियों ने अल्पकालीन रक्षण लागत को TVC के अन्तर्गत माना है। स्टोनियर तथा हेग ने भी कहीं-कहीं परोक्ष रूप से अल्पकालीन रक्षण लागत को परिवर्तनशील लागत के ही अन्दर शामिल माना है।

आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार आभास लगान की परिभाषा इस प्रकार है आभास लगान का कुल आगम (Total revenue) कुल परिवर्तनशील लागत (Total variable cost) के बीच अन्तर है।[1]

दीर्घकाल में पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत आभास लगान समाप्त हो जाते हैं क्योंकि सब लागत परिवर्तनशील हो जाती हैं तथा कुल आगम और कुल परिवर्तनशील लागत बराबर हो जाती है। इस प्रकार अल्पकाल में कुल आभास लगान=कुल आय (Total revenue or TR – कुल परिवर्तनशील लागत (Total Variable cost or TVC) अथवा आभास लगान प्रति इकाई उत्पादन पर (Quasi rent per unit of production) = औसत आय (Average Revenue or AR) – औसत परिवर्तनशील लागत (Average Variable Cost or AVC)।

---

1 Quasi rent is the difference between total revenue and total variable cost."

आभास लगान के उपयुक्त विचार को नीचे दिये गये रेखाचित्र स० 153 की सहायता से समझाया है। रेखाचित्र 153 म SAC फम की अल्पकालीन औसत लागत है AVC फम की अल्पकालीन परिवतनशील लागत है तथा MC फम की अल्पकालीन सीमान्त लागत है। पूर्ण प्रतियोगिता म अल्पकाल म फम के साम्य को रेखाचित्र म दिखाया गया है। यदि फम को उत्पादन चालू रखना है तो बाजार
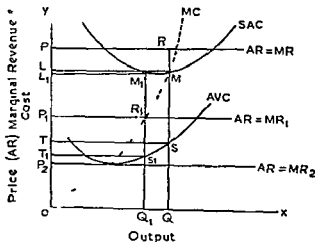
चित्र स० 153

म न्यूनतम मूल्य OP_2 होना चाहिए। इस मूल्य पर फम केवल अपनी परिवतनशील लागतें वसूल करती है। यहा पर मशीन व उपकरण के लिए कोई आधिक्य आय प्राप्त नहीं होती है। इसलिए आभास लगान शून्य है। यदि वस्तु की माग बढ़ने स मूल्य बढ़कर OP_1 हो जाता है तो फम का उत्पादन OQ_1 होता है। फम की कुल आगम $Q_1R_1P_1O$ आयत के क्षेत्रफल के बराबर होगी परिवतनशील साधनो की कुल लागत $OQ_1S_1T_1$ आयत के क्षेत्रफल के बराबर होगी। इसलिए मशीन व उपकरण की आधिक्य आय $T_1S_1R_1P_1$ आयत के क्षेत्रफल के बराबर है जो आभास लगान है। अब यदि मूल्य बढ़कर OP हो जाता है तो फम की कुल आगम OQRP आयत के क्षेत्रफल के बराबर होगी। अत मशीन तथा उपकरण जसे स्थायी साधन की आय TSRP है जो आभास लगान है।

लगान व आभास लगान मे अन्तर

लगान या आर्थिक लगान उन साधनो से प्राप्त होता है जिनकी पूर्ति दीघकाल तक बेलोच होती है या स्थिर होती है। यह अवसर लागत के ऊपर ऐसा आधिक्य है

जो दीर्घकाल तक प्राप्त होता रहता है। इस प्रकार लगान स्थायी प्रकृति का होता है। परन्तु आभास लगान अल्पकाल में कुल आय तथा परिवर्तनशील लागत के अन्तर को प्रकट करता है।

आधुनिक अर्थशास्त्री आभास लगान को अवसर लागत (Opportunity cost) के ऊपर आधिक्य मानते हैं। इन अर्थशास्त्रियों ने लगान को भी अवसर लागत के ऊपर का आधिक्य माना है। इस प्रकार आभास लगान व लगान के अन्तर के सम्बन्ध में भ्रम हो जाता है। दोनों में बहुत बारीक अन्तर है। आभास लगान अवसर लागत के ऊपर आधिक्य है जो अल्पकाल में साधन की पूर्ति में अस्थायी कमी के कारण उत्पन्न होता है जो दीर्घकाल में पूर्ति की स्थिति ठीक हो जाने पर समाप्त हो जाता है। लगान के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता है।

(i) स्थिर साधनों के सन्दर्भ में आभास लगान भूमि के अतिरिक्त उत्पादन के कुछ ऐसे साधन हैं जिनकी पूर्ति अल्पकाल में स्थिर या अपरिवर्तनशील रहती है। माँग में वृद्धि होने पर उनकी पूर्ति केवल दीर्घकाल में ही बढ़ायी जा सकती है। अल्पकाल में ऐसे साधनों की माँग बढ़ जाने पर उसका मूल्य (आय) बढ़ जाता है। इस मूल्य-वृद्धि तथा पूर्ति के स्थिर रहने के कारण इन साधनों को सामान्य आय से अधिक आय प्राप्त होने लगती है। इस स्थिति में सामान्य आय के ऊपर जितनी अतिरिक्त आय प्राप्त होती है उस अर्द्ध या आभास लगान कहा जायगा। मान लीजिए किसी कारणवश भूमि या मशीन की आय बढ़ जाती है परन्तु उसकी पूर्ति स्थिर एवं अपरिवर्तित रहती है। यदि पहले उसका लगान 500 रु० था तो अब माँग बढ़ जाने के कारण 600 रु० हो जायगा। अतः 'मार्शल' के अनुसार सामान्य आय में 100 रु० *अधिक आय प्राप्त होगी। यह अतिरिक्त आय ही अर्द्ध-लगान कही* जायेगी। अर्द्ध-लगान के रूप में यह आय उस समय तक मिलती जायगी जब तक कि दीर्घकाल में भूमि या मशीन की पूर्ति माँग के अनुपात में बढ़ नहीं जायेगी। पूर्ति में वृद्धि होने पर अर्द्ध-लगान स्वतः समाप्त हो जायेगा।

(ii) निर्माणकारी उद्योग के सन्दर्भ में आभास लगान एक उत्पादक को निश्चित तथा परिवर्तनशील दोनों प्रकार की लागतें वहन करनी पड़ती हैं। निश्चित लागतें (Fixed or supplementary costs) उत्पादन की मात्रा में कमी या वृद्धि से सम्बन्धित नहीं होती हैं, जैसे भवन, मशीन आदि। परन्तु प्रमुख या परिवर्तनशील लागत (Prime or variable cost) उत्पादन की मात्रा के अनुपात में घटती या बढ़ती है जैसे श्रम, कच्चा माल आदि से सम्बन्धित लागतें। एक उत्पादक का अल्पकाल में यदि परिवर्तनशील लागत के बराबर भी कीमत प्राप्त हो जाती है तो वह उत्पादन जारी रखेगा क्योंकि उत्पादन बन्द करने पर भी उसे निश्चित लागत का भार वहन करना पड़ेगा। यदि उत्पादक को अल्पकाल में परिवर्तनशील लागत से आय

प्राप्त होता है तो आय के इस आधिक्य को अर्द्ध-लगान कहते क्योंकि यह आधिक्य (Surplus) एक प्रकार से निश्चित तथा स्थायी साधनों का प्रतिफल है। अत

अर्द्ध लगान=कीमत-परिवर्तन लागत (Quasi rent=Price— AVC)

दीर्घकाल में निश्चित तथा परिवर्तनशील दोनों प्रकार की लागतों के बराबर कीमत प्राप्त करना आवश्यक है अन्यथा हानि होने के कारण उत्पादन उद्योग को छोड़कर अन्यत्र चला जायगा। दीर्घकाल में कीमत उत्पादन-लागत के बराबर होती है परन्तु यह सम्भव है कि कुछ फर्में अत्यन्त ही अधिक कार्यकुशल हों तथा उनकी उत्पादन लागत उद्योग की उत्पादन-लागत से कम हो। ऐसी अवस्था में इन फर्मों को उत्पादन लागत से अधिक कीमत प्राप्त होगी। कीमत तथा उत्पादन-लागत का अन्तर अर्थात् आधिक्य इन फर्मों के लिए अर्द्ध-लगान होगा। अतः दीर्घकाल में भी कुछ फर्में कुछ समय तक अर्द्ध-लगान अर्जित कर सकती हैं परन्तु यह स्थिति अधिक समय तक नहीं रह सकती है। उद्योग में लाभ से आकर्षित होकर नई फर्में प्रवेश करेंगी तथा कीमत उत्पादन-लागत के बराबर हो जायगी। इस प्रकार अर्द्ध-लगान स्वतः समाप्त हो जायगा।

कभी-कभी ऐसी भ्रान्ति हो जाती है कि हम अर्द्ध-लगान को नकारात्मक (Negative) मान लेते हैं। जब पारिश्रमिक का पूर्व अनुमान लगा लिया जाता है। यदि वास्तविक प्रतिफल अनुमानित प्रतिफल से कम होता है तो इनके अन्तर को नकारात्मक अर्द्ध-लगान कहने लगते हैं परन्तु यह धारणा पूर्णतया निर्मूल है। अर्द्ध लगान कभी भी नकारात्मक नहीं होता है। यदि मूल्य (अल्पकाल में) परिवर्तनशील लागत के बराबर है तो अर्द्ध-लगान शून्य होगा परन्तु ऋणात्मक किसी भी अवस्था में नहीं हो सकता है। [प्रो० फ्लक्स (Flux) ने ऋणात्मक अर्द्ध-लगान' शब्द का प्रयोग किया है। उनके अनुसार यदि वास्तविक आय कुल लागत से कम है (सामान्य लाभ को सम्मिलित कर) तो यह अन्तर ऋणात्मक अर्द्ध-लगान होगा परन्तु इस धारणा को ठीक नहीं माना जाता है।]

निष्कर्ष (i) आभास लगान के सम्बन्ध में दिये गये उपयुक्त विवरण से स्पष्ट है कि मार्शल के अनुसार अल्पकाल में पूँजीगत वस्तुओं की पूर्ति स्थिर होने के कारण आभास लगान का उदय होता है। (ii) मार्शल ने यह भी कहा है कि मजदूरी व लाभ में भी आभास लगान का अंश विद्यमान रहता है। (iii) आधुनिक अर्थशास्त्री कुल आय तथा परिवर्तनशील लागत के अन्तर को आभास लगान मानते हैं। (iv) वस्तुतः मार्शल का आभास लगान सम्बन्धी विचार रिकार्डो के लगान सिद्धान्त तथा लगान के आधुनिक सिद्धान्त के बीच एक कड़ी (Link) के समान है। (v) आधुनिक मत के अनुसार ऐसी योग्यता वाले व्यक्ति भी आभास लगान अर्जित करते हैं जिनकी पूर्ति अल्पकाल में बेलोच होती है। (vi) स्थानान्तरण आय का

जिस प्रकार प्रयोग लगान के विश्लेषण के लिए किया जाता है उसी प्रकार आभास लगान के विश्लेषण के लिए भी किया जाता है।

4 अवसर आय या स्थानान्तरण आय (Opportunity Earning or Transfer Earnings)

हस्तान्तरण आय जिसे अवसर आय भी कहते हैं मुद्रा की वह रकम है जो उत्पादन के किसी साधन की इकाई विशेष के द्वारा अपने सर्वोत्तम पुरस्कार वाले वैकल्पिक प्रयोग में अर्जित की जा सकती है।[1] *श्रीमती जोन राबिन्सन के अनुसार* **'किसी साधन की विशेष इकाई को एक विशेष उद्योग में ही बने रहने के लिए जो मूल्य देना आवश्यक होता है उसे हस्तान्तरण आय अथवा हस्तान्तरण मूल्य कहते हैं।'**[2]

स्थानान्तरण आय की धारणा आर्थिक लगान के सिद्धान्त को पूर्णतया प्रभावित करती है। इस धारणा के अन्तर्गत उत्पादन के किसी साधन की इकाई विशेष के वर्तमान उपयोग से प्राप्त आय की तुलना उसके वैकल्पिक प्रयोग से सम्भावित अवसर आय से की जाती है। वर्तमान उपयोग की आय में से अवसर आय को कम कर देने पर यदि शेष आय धनात्मक (Positive) है तो उस शेष आय को ही लगान कहा जाता है। उदाहरण के लिए यदि एक भूमि के टुकड़े पर मकान बनाने पर 300 रु० आय होती है परन्तु उसका प्रयोग खेती के लिए किये जाने पर आय 350 रु हो तो ऐसी स्थिति में उस भूमि पर अवसर या हस्तान्तरण आय (350−300) रु =50 रु० होगा।

स्थानान्तरण आय भूमि के अतिरिक्त उत्पादन के किसी भी साधन को प्राप्त हो सकती है। परन्तु इसके उत्पन्न होने की शर्त यह है कि वह साधन किसी अंश तक विशिष्ट (specific) होना चाहिए। चूंकि उत्पादन का प्रत्येक साधन किसी अंश तक विशिष्ट होता है अतः सभी साधनों में स्थानान्तरण आय या लगान उत्पन्न होता है। इसके विपरीत यदि कोई साधन पूर्णतया विशिष्ट है तथा उसका उपयोग किसी भी अन्य कार्य में नहीं किया जा सकता तो उसकी अवसर-लागत न होने के कारण उसकी हस्तान्तरण आय नहीं होगी या उसका कोई लगान ही नहीं होगा।

---

1 The amount of money which any particular unit could earn in its best paid alternative use is sometimes called its transfer earnings

—*Benham*

2 The price which is necessary to retain a given unit of a factor in certain industry may be called its transfer earnings o transfer price

मजदूरी ब्याज तथा लाभ में लगान तत्व
(Rent ElementinWages InterestandProfit)

आधुनिक अर्थशास्त्रियों के हाथ म लगान सिद्धान्त (General Theory) बन जाता है अर्थात् लगान केवल भूमि को ही प्राप्त नहीं होता है बल्कि उत्पत्ति के अन्य साधन भी लगान अर्जित कर सकते हैं। एक साधन को वर्तमान म प्रयोग बनाये रखने के लिए एक न्यूनतम भुगतान देना होगा जिसे आधुनिक अर्थशास्त्री साधन का न्यूनतम पूर्ति मूल्य (Minimum supply price) या उसकी अवसर लागत (Opportunity cost) कहते हैं। इसी न्यूनतम पूर्ति मूल्य या अवसर लागत के ऊपर आधिक्य (Excess or Surplus) लगान होता है और इस दृष्टि स प्रत्येक साधन की आय म से लगान तत्व को ज्ञात किया जाता है।

(1) मजदूरी मे लगान तत्व किसी देश म श्रमिकों की अपेक्षाकृत कमी मजदूरी को उस दर से पर्याप्त ऊंचा कर देता है जिस पर कि श्रमिक और भी काय करने को तत्पर होंगे अर्थात श्रमिकों को उनके न्यूनतम पूर्ति मूल्य अर्थात अवसर लागत से अधिक प्राप्त होता है और उनकी मजदूरी म यह आधिक्य (Surplus) ही लगान है। इसका कारण है कि श्रमिकों की पूर्ति बेलोचदार (Inelastic) है अथवा श्रमिकों की पूर्ति पूर्णतया लोचदार नहीं है।

(2) ब्याज मे लगान तत्व बचतकर्ता जो कि अपनी बचतों को प्रत्यक्ष रूप स या बैंकिंग प्रणाली द्वारा अप्रत्यक्ष रूप म दूसरों को उधार देते हैं वे एक ब्याज की दर प्राप्त करते है जो कि आंशिक रूप स बचतों की कमी की सूचक होती है। ब्याज का वह आधिक्य जो कि उस ब्याज दर से अधिक है जिस पर एक बचतकर्ता अपनी बचतों को उधार देने के लिए ठीक तत्पर होता है वास्तव म आर्थिक लगान है। यह इस कारण उत्पन्न होता है क्योंकि बचतों की पूर्ति ब्याज दर के उत्तर म अपेक्षाकृत बेलोचदार होती है।

(3) लाभ मे लगान तत्व कुछ साहसियों की सगठन तथा सौदा करने की योग्यता (Organising and bargaining ability) अन्य साहसियों से बहुत अधिक होती है और परिणामस्वरूप ये अधिक योग्य साहसी अन्य साहसियों की तुलना म अधिक अतिरिक्त लाभ (Excess Profit) प्राप्त करते हैं जिसे लगान कहा जा सकता है। कभी कभी इस 'योग्यता का लगान (Rent of ability) भी कहा जाता है।

लगान तथा लाभ
(Rent and Profit)

लाभ कुल आगम (या औसत आगम) तथा कुल लागत (या औसत लागत) म अंतर है। इस अंतर का स्रोत कुछ भी हो सकता है। यदि लाभ ऋणात्मक है तो हम उसे हानि कहते हैं। किसी समय पर एक फर्म के लाभों म विभिन्न बातें

शामिल हो सकती हैं जैसे आभास लगान आकस्मिक उच्चावचनों (Random fluc tuctions) के कारण आगमों (Revenues) तथा लागतों (Costs) में अन्तर एकाधिकारी लाभ तथा साधनों से हड़पे हुए लगान। एक पर्याप्त लम्बे समय के अन्तर्गत इनमें से बहुत-सी बातें एक-दूसरे को नष्ट कर देती हैं या उनमें स्वयं अपने आप संशोधन हो जाते हैं। अतः लाभ केवल अनिश्चितता झेलने का पुरस्कार ही नहीं है बल्कि यह एक विस्तृत शब्द है और लगान उसका एक अंग हो सकता है।

लाभ तथा लगान में मुख्य अन्तर निम्नलिखित हैं

1 लाभ अनिश्चितता झेलने (Uncertainty bearing) का पुरस्कार है जबकि लगान किसी साधन की सीमितता (Scarcity or shortage) का परिणाम है अर्थात लगान तब उत्पन्न होता है जबकि साधन की पूर्ति बेलोचदार (Inelastic) है या पूर्ण लोचदार से कम (Less than perfectly elastic) है अर्थात् लाभ तथा लगान में एक आधारभूत भेद उनके उत्पन्न होने के कारण या स्रोत में अन्तर में निहित है।

2 लाभ में लगान तत्त्व हो सकता है। सामान्य लाभ के ऊपर आधिक्य (Excess) को अतिरिक्त लाभ (Excess profit) या लाभ कहते हैं। अतिरिक्त लाभ का कुछ भाग सामान्यतया रूप में लगान का बनाता है। अतिरिक्त लाभ का कुछ भाग जो नयी वस्तुओं के उत्पादन की नयी रीतियों के प्रयोग के परिणामस्वरूप उत्पन्न होता है अथवा जो कि अन्य साधनों की सेवाओं को उनके वास्तविक मूल्य (Real worth) से कम भुगतानों पर प्राप्त कर सकने की साहसी की योग्यता के परिणामस्वरूप प्राप्त होता है उस भुगतान को बताता है जो साहसी के कार्य के वर्तमान स्तर को बनाये रखने के लिए आवश्यक है। इस मात्रा से अधिक लाभ आर्थिक लगान है जो कि साधन साहसी अपेक्षाकृत सीमितता या कमी के कारण प्राप्त होता है।

3 लाभ तथा लगान में कुछ सामान्य अन्तर (General differences) भी है

(i) लाभ ऋणात्मक भी हो सकते हैं और ऋणात्मक लाभों को हानि कहा जाता है जबकि लगान ऋणात्मक नहीं हो सकते हैं।

(ii) लगान (तथा अन्य पुरस्कारों) की तुलना में लाभ में उतार-चढ़ाव अधिक होते हैं।

(iii) लाभ एक बची हुई आय (residual income) होती है जबकि लगान अनुबन्धनीय तथा निश्चित भुगतान होते हैं।

लाभ की मात्रा इस पर निर्भर करती है कि भविष्य में उत्पादित वस्तु की बिक्री कैसी है।

5 लगान तथा आर्थिक उन्नति
(Rent and Economic Progress)

किसी भी भूमि के टुकड़ का लगान उस पर लगायी गयी उत्पादन लागत तथा सीमान्त भूमि पर लगायी गयी उत्पादन लागत के अन्तर के बराबर होता है। अत यदि आर्थिक विकास खेती सीमानता (Margin of cultivation) को प्रभावित करता है तो इसस लगान भी प्रभावित होगा। विभिन्न परिस्थितियों म इसका प्रभाव निम्नलिखित प्रकार पड़ेगा

1 **जनसंख्या मे वृद्धि** जनसंख्या म वृद्धि के कारण कृषि पदार्थों की माँग बढ़ती है। अत खराब किस्म की भूमि पर भी खेती की जाती है तथा अधिकाधिक सीमा तक गहन कृषि प्रणाली अपनायी जाती है। इस प्रकार लगान म वृद्धि होता है।

2 **जीवन-स्तर मे सुधार** आर्थिक विकास के कारण आय म वृद्धि होती है तथा जीवन-स्तर ऊँचा उठता है। परन्तु अन्य वस्तुओं के व्यय म जिस अनुपात स वृद्धि होती है खाद्य पदार्थों पर किये जाने वाले व्यय में उस अनुपात स कम अनुपात म वृद्धि होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि आर्थिक विकास के कारण आय के अन्य स्रोतों—मजदूरी लगान तथा ब्याज आदि—म जिस अनुपात स वृद्धि होती हैं कृषि आय म उस अनुपात से कम दर पर वृद्धि होती है।

3 **परिवहन मे सुधार** परिवहन के साधनों का विकास न होने पर भूमि को स्थिति-सम्बन्धी लाभ (जस बाजार की निकटता आदि) कम मिल पाते हैं अत लगान घटता है। विकसित परिवहन के साधनों क कारण खाद्य-पदार्थों का आयात भी सरल हो जाता है अत देश म खराब किस्म की भूमि पर खेती बन्द कर दी जाती है। इस प्रकार खेती की सीमानता (Margin of cultivation) ऊपर उठती है तथा लगान कम हो जाता है।

4 **कृषि कला मे सुधार** कृषि-कला म उन्नति के कारण भूमि की सीमान्त उत्पादकता म वृद्धि होती है। यदि कृषि वस्तुओं की माग पूर्ववत् हो तो उनकी कीमत गिरेगी तथा खराब किस्म की भूमि पर खेती नहीं की जायगी। इस प्रकार लगान म कमी होगा।

प्रश्न और संकेत

1 *रिकार्डो क लगान सिद्धान्त को बताइए एव उसकी व्याख्या करते हुए सिद्धान्त की सीमाएँ लिखिए।*

Explain the Recardian theory of Rent What are its limitations?

[**संकेत** इस प्रश्न का उत्तर देने क लिए प्रथम भाग म रिकार्डो के लगान की परिभाषा दीजिए और उसकी मूल विशेषताए लिखिए। दूसरे भाग म इस सिद्धान्त की प्रमुख सीमाएँ बताइए।]

2 अनाज का मूल्य इसलिए ऊँचा नही होता है क्योकि लगान दिया जाता है बल्कि ऊँचे लगान इसलिए दिये जाते हैं क्योकि अनाज का मूल्य ऊँचा होता है।' आलोचनात्मक ढग से कथन को समझाइए।

Price of Corn is not high because rent is high but rent is high because Corn is high Critically examine this statement

[सकेत प्रश्न के उत्तर म यह बताना है कि क्या लगान मूल्य म प्रवेश करता है ? इसकी व्याख्या के लिए रिकार्डो एव आधुनिक अर्थशास्त्रियो के विचार लिखिए और 'लागत कीमत सहसम्बन्ध' को समझाइए।

3 लगान के आधुनिक सिद्धान्त की विवेचना करिए। रिकार्डो के सिद्धान्त से यह सिद्धान्त किस प्रकार भिन्न है ?

Discuss the modern theory of rent How does it differ from the Recardian theory of rent ?

[सकेत पहले आधुनिक अर्थशास्त्रियो के लगान सम्बन्धी विचार लिखिए और तत्पश्चात इस सिद्धान्त की विशेषताओ की तुलना करके रिकार्डो के सिद्धान्त से भिन्नताओ को समझाइए।]

4 'लागत विशिष्टता के लिए भुगतान है। समझाइए।

Rent is reward for specificity Discuss

[सकेत इस कथन की सार्थकता को सिद्ध करने हेतु आधुनिक अर्थशास्त्रियो द्वारा प्रतिपादित लगान के सिद्धान्त को समझाइए और अन्त म निष्कर्ष लिखिए।]

5 आभास लगान को समझाते हुए बताइए कि यह आर्थिक लगान व ब्याज से किस प्रकार भिन्न है।

Discuss the quasi rent How does it differ from economic rent and interest

[सकेत आभास लगान का तात्पर्य बताइए और बाद म आर्थिक लगान व ब्याज से यह किस तरह भिन्न है समझाइए।]

42
मजदूरी
(Wages)

"The market will tend toward that equilibrium pattern of wages differentials at which the total demand for each category of labour exactly matches its competitive supply

—*Samuelson*

मजदूरी का अर्थ (Meaning of Wages)

श्रम शारीरिक हो या मानसिक किसी भी प्रकार की श्रम-सेवा का भुगतान मजदूरी होती है। साधारण बोल-चाल की भाषा में हम यह कह सकते हैं कि दफ्तर का अधिकारी मन्त्री या अध्यापक वेतन प्राप्त करता है। वकील या डाक्टर फीस लेते हैं तथा दस्त व अन्य श्रमिकों को मजदूरी मिलती है। इनमें अर्थशास्त्र में कोई भेद नहीं किया जाता और यह कहा जाता है कि व सब मजदूरी प्राप्त करते हैं अर्थात् फीस कमीशन और वेतन मजदूरी में शामिल हैं। यह दूसरी बात है कि कुछ को मजदूरी वास्तविक मजदूरी के रूप में अधिक और मुद्रा के रूप में कम मिलती है लेकिन वह मजदूरी ही कहलायेगी। बेनहम के शब्दों में "मजदूरी मुद्रा की वह रकम है जो किसी प्रसंविदा के अन्तर्गत किसी नियोजक द्वारा किसी श्रमिक को उसकी अर्पित सेवाओं के बदले दी जाती है।"[1] यह मजदूरी दैनिक साप्ताहिक पाक्षिक एवं मासिक हो सकती है। अर्थशास्त्र में श्रम शब्द का अर्थ विस्तृत रूप से लिया जाता है अतः मजदूरी की परिभाषा को समझने के लिए निम्नलिखित बातों का ध्यान में रखना आवश्यक है

(i) अर्थशास्त्र में श्रम शब्द का अर्थ शारीरिक तथा मानसिक दोनों प्रकार के श्रम से लिया जाता है। अतः मजदूरी मानसिक तथा शारीरिक दोनों प्रकार के कामों से है।

1 A wage may be defined as a sum of money paid under contract by an employer to a worker for services rendered

—*Benham*

(ii) बोनस रायल्टी कमीशन आदि इन सबको भी अर्थशास्त्री मजदूरी के अन्तर्गत मानते हैं।

(iii) अर्थशास्त्री श्रम शब्द का बहुत विस्तृत अर्थ लेते हैं और मजदूरी का अर्थ निम्न वर्गों के श्रम के लिए भुगतान हैं

(अ) संकीर्ण अर्थ में श्रमिक अर्थात् कारखाना तथा फैक्ट्रियों में काम करने वाले विभिन्न प्रकार के श्रमिक, क्लर्क इत्यादि।

(ब) फर्मों तथा फैक्ट्रियों में मैनेजर उच्च अधिकारी सरकारी अफसर इत्यादि।

अत उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि अर्थशास्त्र में श्रम की कीमत अर्थात् मजदूरी का अर्थ विस्तृत है।

नकद मजदूरी तथा असल मजदूरी
(Money or Normal Wages and Real Wages)

नकद मजदूरी तथा असल मजदूरी (Money and Real Wages) अर्थशास्त्री नकद मजदूरी तथा असल मजदूरी में भेद करते है। नकद मजदूरी वह है जो कि श्रम के लिए एक निश्चित समय (प्रति घण्टा प्रति दिन प्रति हफ्ता प्रति माह इत्यादि) में मुद्रा के रूप में दी जाती है। परन्तु नकद मजदूरी से किसी श्रमिक की वास्तविक स्थिति का पूर्ण ज्ञान नहीं होता इसके लिए असल या वास्तविक मजदूरी की जानकारी आवश्यक है।

असल मजदूरी अथवा वास्तविक मजदूरी (Real Wages) वास्तविक मजदूरी वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा को बताती है जो कि एक व्यक्ति अपनी नकद या मौद्रिक मजदूरी से प्राप्त कर सकता है अर्थात् वास्तविक मजदूरी मौद्रिक मजदूरी की क्रय शक्ति (Purchasing power) होती है। वास्तविक मजदूरी में नकद मजदूरी के अतिरिक्त कुछ अन्य लाभ तथा सुविधाएं भी शामिल होती हैं जैसे व्यक्ति को नि शुल्क डाक्टरी सहायता सस्ता मकान बोनस इत्यादि।

वास्तविक मजदूरी के निर्धारक तत्त्व एक व्यक्ति की सही आर्थिक स्थिति का ज्ञान उसकी मौद्रिक मजदूरी से नहीं बल्कि वास्तविक मजदूरी से होता है जिसके निम्नलिखित निर्धारक तत्त्व हैं

(1) **मुद्रा की क्रय शक्ति** (Purchasing Power of the Money) एक व्यक्ति अपनी एक निश्चित मुद्रा शक्ति से अधिक वस्तुएँ और सेवाएँ खरीद सकता है यदि उनकी कीमतें कम हैं।

(2) **अतिरिक्त सुविधाएं** (Extra Facilities) यदि किसी व्यक्ति को अपनी नकद मजदूरी के अतिरिक्त कुछ अन्य सुविधाएँ जैसे नि शुल्क डाक्टरी सहायता

मन्ने किराये पर मकान की सुविधा, बच्चो की नि शुल्क शिक्षा आदि प्राप्त है तो उस व्यक्ति की वास्तविक मजदूरी अधिक होगी।

(3) **अतिरिक्त आय** (Extra Earnings) किसी व्यक्ति की वास्तविक मजदूरी का ज्ञात करने के लिए अन्य स्रोतो से प्राप्त आय को भी ध्यान रखना चाहिए।

(4) **काम का स्वभाव** (Nature of Employment) कुछ काय कठिन, अरुचिकर तथा जोखिमपूर्ण होते हैं जैसे कोयल की खान म मजदूरी का काय रेल्व ड्राइवर का काय लोहा गलाने की भट्टी के मजदूर का काय आदि। इस प्रकार के कार्यों म नक्द मजदूरी ऊँची होने पर भी वास्तविक मजदूरी कम होगी।

(5) **बिना भुगतान के अतिरिक्त काय** (Extra work without payment): यदि किसी व्यक्ति के काय के नियमित घण्टो क अतिरिक्त और अधिक काय करना पडता है परन्तु उसके लिए कोई भुगतान नही मिलता तो उस व्यक्ति की वास्तविक मजदूरी कम हो जायगी।

(6) **भविष्य में उन्नति की आशा** (Good future prospects) यदि किसी व्यवसाय म व्यक्तियो के लिए भविष्य म पद उन्नति (Promotion) के अच्छे अवसर रहत हैं तो ऐस व्यवसायो म आरम्भ म नक्द मजदूरी के कम होने पर भी वास्तविक मजदूरी अधिक होगी।

मजदूरी के भुगतान की रीतिया
(Methods of Wages Payments)

श्रमिको को मजदूरी कई प्रकार से दी जाती है जिनम मुख्य दो रीतिया हैं (1) समयानुसार मजदूरी (Time wage) तथा (2) कार्यानुसार मजदूरी (Piece wage)। इनका विस्तृत वणन नीचे किया गया है

(1) **समयानुसार मजदूरी** (Time Wag) जब मजदूरी काय करने के समय के आधार पर ही दी जाती है तो उस समयानुसार मजदूरी कहते हैं। यह समय सामान्यतया एक घण्टा एक दिन एक सप्ताह या एक माह होता है। इस विधि म एक समान काय क लिए प्रत्येक मजदूर को समान मजदूरी मिलती है चाहे कोई मजदूर अपेक्षाकृत कम काय करे या अधिक। इस विधि म मजदूर द्वारा किए गये काय का मजदूरी से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही होता है।

समयानुसार मजदूरी के गुण (Merits of Time Wage) *व्यवहार म समयानुसार मजदूरी अधिक प्रचलित है। इसके निम्नलिखित गुण हैं*

(i) इस रीति के अन्तगत श्रमिको के रोजगार म स्थायीत्व रहता है।

(ii) इस रीति के अन्तगत श्रमिको क स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव नहीं पडता है।

(iii) जब काय बारीक हो अधिक सतकता और व्यक्तिगत ध्यान (More care and individual attention) आवश्यक हो या नाजुक मशीन का प्रयोग किया जा रहा हो तो समानुसार मजदूरी अधिक उपयुक्त होती है।

(iv) जब किसी काय का प्रमापीकरण नही होता और इसलिए उसे ठीक प्रकार से नही मापा जा सकता है।

(v) समयानुसार मजदूरी के अन्तगत समय की कोई पाबन्दी नही होती है इसलिए काय सावधानी से किया जाता है।

(vi) यह रीति काय मे नियमितता तथा निश्चितता लाती है।

समयानुसार मजदूरी के दोष (Demerits of Time W ge) इस विधि के कुछ दोष भी है जो इस प्रकार हैं

(i) इस रीति के अनुसार श्रमिको को काय के अनुसार मजदूरी नही मिलती है

(ii) इसी रीति के कारण प्राय श्रमिक अपने काय की उपेक्षा करते है और सुस्ती से काय करते हैं।

(iii) उत्पादको को या मालिको को कम काम के लिए प्राय अधिक मजदूरी या वेतन देना पडता है।

(iv) इस रीति के अन्तगत मालिको का पर्याप्त मात्रा मे निरीक्षण करना पडता है।

(v) इसम श्रमिको और मालिका म प्राय अच्छे सम्बन्ध नही होते हैं।

कार्यानुसार मजदूरी (Piece Wage) जब एक श्रमिक को मजदूरी उसमे उसके द्वारा किये गये काय की मात्रा तथा उत्तमता के आधार पर दी जाती है तो उसे कार्यानुसार मजदूरी कहते हैं। इस विधि म श्रमिक द्वारा किये गये काय की मात्रा तथा मजदूरी म प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है।

कार्यानुसार मजदूरी के गुण (Merits of Piece Wage) इस रीति के गुण निम्नलिखित हैं

(1) इस रीति के अन्तगत प्रत्येक श्रमिक को मजदूरी उसकी योग्यता तथा *काय-क्षमता के अनुसार* मिलती है।

(2) यह रीति न्यायपूर्ण है क्योंकि श्रमिको को अपने प्रयत्नो का पूरा पुरस्कार प्राप्त हो जाता है।

(3) इस रीति के अन्तगत श्रमिक प्राय यन्त्रों तथा औजारो का सावधानी स प्रयोग करते है।

(4) इस रीति म श्रमिक अधिक उत्पादन करते हैं तो उन्हें अधिक मजदूरी प्राप्त होगी। फलस्वरूप श्रमिको का जीवन-स्तर ऊँचा होता है।

कार्यानुसार मजदूरी के दोष (Demerits of Piece Wage) इस रीति के मुख्य दोष निम्नलिखित है

(1) इस रीति के कारण वस्तुओ के गुण म गिरावट आती है

(2) अधिक मजदूरी प्राप्त करने की दृष्टि से प्राय श्रमिक अपनी शक्ति के बाहर काय करत है जिससे उनके स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पडता है।

(3) इस विधि का प्रयोग उन कार्यों के लिए उचित नही है जिनम उत्पत्ति को ठीक प्रकार से मापा नही जा सकता।

(4) इस रीति के कारण द्वेष भावनाओ (Jealoussies) को प्रोत्साहन मिलता है।

(5) इस रीति म बीमारी दुघटना आदि आकस्मिक घटनाओ के दिनो म श्रमिक को मजदूरी प्राप्त नही होती।

मजदूरी निर्धारण के सिद्धान्त
(Theories of Wage Determination)

मजदूरी राष्ट्रीय आय का वह भाग है जो श्रम को उत्पादन के साधन के रूप म प्रतिफल-स्वरूप दिया जाता है। मजदूरी निर्धारण के सम्बन्ध म समय समय पर अनेक प्रयास किये गय ह। प्राचीन काल म जनसख्या की कमी तथा सामन्तवादी सामाजिक तथा आर्थिक अवस्था क कारण मजदूरी निर्धारण को कोई विशेष महत्त्व नही दिया गया था। उस समय न्यायपूण मजदूरी पर विचार अवश्य व्यक्त किये गय थ परन्तु न्यायपूर्ण मजदूरी का आधार निर्धारित नही किया गया था। औद्योगिक क्रान्ति के पूव घरेलू उद्योग धन्धो के काल म अधिकाश नियोक्ता स्वय अपने श्रमिक होते थे। ऐसी स्थिति म मजदूरी निर्धारित करने के सिद्धान्त का प्रश्न ही नही था। औद्योगिक क्रांति के पश्चात् श्रम विभाजन बडे पमाने पर उत्पादन तथा फक्टरी व्यवस्था ने वग सघष को जन्म दिया। पूँजीपतियो तथा श्रमिको के वग विभेद के कारण ही उत्पादन स प्राप्त आय के उपयुक्त विभाजन की समस्या उठ खडी हुयी। समाज सुधारको तथा अथशास्त्रियो न श्रमिको के शोषण तथा सामाजिक एव आर्थिक विषमताओ को दूर करने के विचार से समय समय पर निम्न मजदूरी निर्धारण के सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया। परन्तु आधुनिक सिद्धात की तुलना मे अब उन सिद्धातो का केवल सद्धान्तिक महत्त्व ही है।

(1) जीवन निर्वाह अथवा मजदूरी का लौह सिद्धान्त (The Subsistence Theory or The Iron Law of Wages) **(2) जीवन स्तर सिद्धान्त** (The Standard of Living Theory) **(3) मजदूरी कोष सिद्धान्त** (The Wage Fund Theory) **(4) मजदूरी का अवशेष अधिकारी सिद्धान्त** (The Residual

Claimant Theory) (5) सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त (The Marginal Productivity Theory) (6) अपहृत सीमान्त उत्पादकता नियम (Discounted Marginal Productivity of Wages)।

जैसा कि ऊपर कहा गया है आधुनिक सिद्धान्त की तुलना में अब इन सिद्धान्तों में से अधिकांश सिद्धान्तों का केवल सैद्धान्तिक महत्त्व है अतः यहाँ पर उत्पादन साधन श्रम व मूल्य निर्धारण सिद्धान्त की दृष्टि से *सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त*, अपहृत सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त तथा आधुनिक सिद्धान्त की ही व्याख्या की गई है।

1 सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त (The Marginal Productivity Theory)

मजदूरी का 'सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त' वितरण के सामान्य सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त पर आधारित है। इस सिद्धान्त के अनुसार **मजदूरी श्रम की सीमान्त उत्पादकता के मूल्य के बराबर होने की प्रवृत्ति रखती है।**[1] इसका अर्थ यह है कि नियोक्ता श्रम की एक अतिरिक्त इकाई लगाने पर जितनी उत्पादन की अतिरिक्त मात्रा प्राप्त करता है मजदूरी उसी के बराबर होने की प्रवृत्ति होती है। उदाहरणार्थ एक फर्म 20 श्रमिकों को नियुक्त करके अन्य साधनों की सहायता से किसी वस्तु की 50 इकाइयाँ उत्पादित करती है। यदि अन्य साधनों की मात्रा में परिवर्तन किये बिना यह एक और श्रमिक नियुक्त करती है तथा इससे फर्म का उत्पादन 50 इकाइयों से बढ़कर 52 इकाइयों के बराबर हो जाता है तो इस फर्म में श्रम की सीमान्त उत्पादकता 2 इकाइयों के बराबर कही जायगी। यदि प्रत्येक इकाई का मूल्य 1 रुपया है तो अतिरिक्त श्रम की सीमान्त उत्पत्ति का मूल्य 2 रुपया होगा। अब नियोक्ता श्रम को 2 रुपये से अधिक मजदूरी देना नहीं चाहेगा क्योंकि यह मजदूरी श्रम की सीमान्त उत्पादकता के बराबर है। जब तक मजदूरी की दर 2 रुपये से कम होगी तब तक नियोक्ता के लिए अतिरिक्त श्रमिक को नियुक्त करना लाभप्रद होगा परन्तु श्रम की प्रत्येक अतिरिक्त इकाई की वृद्धि करने पर 'सीमान्त उत्पादकता ह्रास नियम' लागू होने लगेगा जिससे श्रम की सीमान्त उत्पादकता भी कम होने लगेगी। इस प्रकार श्रमिकों की संख्या में वृद्धि करते रहने पर एक ऐसी स्थिति आ जायगी जबकि मजदूरी की बाजार-दर श्रम की सीमान्त उत्पादकता के बराबर हो जायगी। इस बिन्दु पर पहुँचने पर नियोक्ता अतिरिक्त श्रमिकों को

1 (a) "Demand for labour to this theory is based on the final or marginal utility of the labour to the entrepreneur."

—*S B Thomas*

(b) "The only wage at which equilibrium is possible is a wage which equals the value of the marginal product of the labourers."

—*J R Hicks*

नियुक्त करना बन्द कर देगा। अत सन्तुलन की स्थिति मे मजदूरी दर सदैव श्रम की सीमान्त उत्पादकता के बराबर होनी चाहिए। यह स्थिति पूर्ण स्पर्धा मे पायी जाती है। अपूर्ण स्पर्धा मे मजदूरी की दर श्रम की सीमान्त आय उत्पत्ति के बराबर होगी।

मजदूरी के सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त के विश्लेषण के सम्बन्ध म प्रो० जे० आर० हिक्स का यह कथन उल्लेखनीय है कि सीमान्त उत्पादकता के परम्परागत विचार को स्पष्ट करना बहुत ही सरल है क्योकि यह मूल रूप स सीमान्त उत्पादन ह्रास नियम स निकलता है।[1] इस सिद्धान्त के अन्तर्गत उत्पादन के अन्य साधनो की मात्रा म कोई परिवर्तन नही किया जाता। श्रम की सख्या मे एक इकाई की वृद्धि करने पर कुल उत्पादन म घटती दर से वृद्धि होती है। एडम स्मिथ ने भी यह सकेत किया था कि मजदूरी श्रम की उत्पादकता पर ही निर्भर है। उनके विचार से श्रम को मजदूरी इस कारण दी जाती है कि वह एसी उपयोगी वस्तु का उत्पादन करता है या एसी वस्तु के उत्पादन म सहायता पहुचाता है जिसका कुछ मौद्रिक मूल्य होता है। इस आधार पर ही कोई भी उत्पादक श्रमिक की उत्पादकता क मूल्य स अधिक मजदूरी नही देता। अन्य शब्दो म, उत्पादक अतिरिक्त श्रम की इकाइया को उस समय तक नियुक्त करता जायगा जब तक कि उनकी उत्पादकता (प्राप्त लाभ) उनकी मजदूरी (उन पर खर्च) से अधिक होती है।

साराश रूप म सीमान्त उत्पादकता सिद्धात के अनुसार मजदूरी श्रम की माँग और पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है तथा सतुलन की दशा मे मजदूरी श्रम की सीमान्त उत्पादकता के बराबर होती है। यदि मजदूरी सीमान्त उत्पादकता के बराबर नहीं होगी तो सन्तुलन नहीं होगा। ऐसी स्थिति म सन्तुलन प्राप्त करने के लिए श्रम की माँग एव पूर्ति म आवश्यक परिवर्तन करने होंगे। यह सम्भव है कि वास्तविक जगत मे मजदूरी सीमान्त उत्पादकता से विचलित हो जाय। एसी परिस्थिति म सन्तुलन की स्थिति नही आ पायगी। अत व्यवहार म सन्तुलन प्राप्त करने की प्रवृत्ति सदैव विद्यमान रहती है।

मान्यताए यह सिद्धान्त कुछ मान्यताओं (Assumptions) पर आधारित है—(i) श्रम की सभी इकाइयाँ एकरूप हैं (ii) श्रम तथा नियोक्ता दोनो की मोल जोल करने की क्षमता बराबर है तथा पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति विद्यमान है (iii) दीर्घकाल म भी अन्य दशाएँ स्थिर हैं (iv) उत्पादन-कार्य मे लगे सभी उत्पादन के साधन, श्रम को छोडकर स्थिर हैं। श्रम के अतिरिक्त उत्पादन के अन्य

---

1 The conventional proof of the marginal productivity proposition is simple enough It follows from the most fundamental form of the law of diminishing returns

—J R Hicks

साधनों की मात्रा में कोई परिवर्तन नहीं होता (v) श्रम की माँग व्युत्पन्न माँग (derived demand) है क्योंकि वस्तुओं की माँग में वृद्धि या कमी होने पर ही उसकी माग बढ़ती या घटती है। (vi) इस सिद्धान्त के अन्तर्गत उत्पादन ह्रास नियम (Law of Diminishing Returns) लागू होता है तथा साहसी श्रम की सीमान्त उत्पादकता का पता लगाने के लिए प्रतिस्थापन के नियम को जानता है।

आलोचनाएं अन्य सिद्धान्तो की तुलना में सत्य के अधिक निकट होते हुए भी मजदूरी के सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त की कड़ी आलोचना की जाती है

(1) पूर्ण प्रतियोगिता तथा श्रम की गतिशीलता की मान्यता अव्यावहारिक है यह सिद्धान्त पूर्ण प्रतियोगिता तथा श्रम की गतिशीलता की मान्यता को स्वीकार करता है जबकि व्यवहार में न तो श्रम गतिशील है और न पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति ही पायी जाती है। इन कारणों से मजदूरी सीमान्त उत्पादकता के बराबर नहीं होती है। यह आवश्यक नहीं है कि कोई नियोक्ता प्रतियोगिता के कारण ही अधिक मजदूरी देगा। व्यवहार में विभिन्न प्रकार के उद्योगपति होते हैं। अच्छे उद्योगपति अधिक मजदूरी देते हैं और बुरे उद्योगपति कम मजदूरी देते हैं। ऐसी स्थिति में विभिन्न उद्योगों में श्रमिकों की उत्पादकता के मूल्य में अन्तर होगा तथा मजदूरी भी अलग अलग होगी। परन्तु दीर्घकाल में श्रम की गतिशीलता पूर्ण होने पर सभी व्यवसायों में मजदूरी एक ही होगी।

(2) उत्पादकता का संकुचित अर्थ उत्पादकता का प्रयोग संकुचित अर्थ में किया गया है। अतिरिक्त उत्पादन के कारण सम्भव है कि वस्तु के मूल्य में कमी आ जाय। वस्तुतः उत्पादन में प्राप्त आय ही श्रमिकों की मजदूरी निर्धारित करती है तथा उत्पादित वस्तु का मूल्य बाजार की दशाओं पर निर्भर करता है। फलस्वरूप श्रमिकों की कुशलता तथा उत्पादन में वृद्धि का यह अर्थ नहीं है कि नियोक्ता की *मजदूरी देने की क्षमता में भी आनुपातिक वृद्धि हुई है।*

(3) अपूर्ण सिद्धान्त इस सिद्धान्त के समर्थक भी इसे एक पूर्ण सिद्धान्त नहीं मानते। मार्शल का यह कथन कि श्रमिक की मजदूरी उसके शुद्ध उत्पादन के बराबर होगी अपने आप में कोई अर्थ नहीं रखता क्योंकि शुद्ध उत्पादन का अनुमान लगाने के लिए हम श्रमिक की मजदूरी के अतिरिक्त उत्पादन के उन सभी व्ययों को भी सम्मिलित करना पड़ता है जो उत्पादन में व्यय किये जाते हैं। स्वयं मार्शल ने भी इस बात पर बल दिया है कि हम मूल्य को निर्धारित करने वाली शक्तियों का अध्ययन करने के लिए सीमान्त पर विचार करना ही पड़ता है तथा सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त मजदूरी निर्धारण के कम से कम एक तथ्य पर प्रकाश डालता

है[1]। वास्तविक जगत में मजदूरी का सीमान्त उत्पादकता के बराबर होना आवश्यक नहीं है किन्तु मजदूरी की प्रवृत्ति सदैव सीमान्त उत्पादकता के बराबर होने की रहता है।

(4) **अतिरिक्त मजदूरी के अतिरिक्त उत्पादन की माप असम्भव है** अतिरिक्त मजदूरी से युक्त अतिरिक्त उत्पादन की माप सम्भव नहीं है। इस सम्बन्ध में टाजिग तथा डेवनपोर्ट का यह कहना है कि उत्पादन सभी साधनों की संयुक्त चेष्टा का परिणाम है। ऐसी स्थिति में अतिरिक्त उत्पादन की ठीक ठीक माप नहीं हो सकती। यह तर्क सही नहीं है क्योंकि सभी साधनों को स्थिर रख कर यदि अतिरिक्त मजदूर नहीं लगाया जाता तो अतिरिक्त उत्पादन का होना सम्भव नहीं होता। उत्पादन में अतिरिक्त वृद्धि अतिरिक्त मजदूर को लगाने का ही फल है तथा इसे श्रम की सीमान्त उत्पादकता कहना पूर्णत सही होगा। अत श्रम की अतिरिक्त इकाई द्वारा किये गये कार्य अर्थात उत्पादन की अतिरिक्त वृद्धि की मात्रा को जानना सम्भव है और इस दृष्टि से श्रमिक की सीमान्त उत्पादकता जान की जा सकती है।

(5) **सिद्धान्त एकपक्षीय है** यह सिद्धान्त एकपक्षीय एव अपूर्ण है क्योंकि इसमें श्रम की पूर्ति को ध्यान में नहीं रखा गया है। हम जानते हैं कि श्रम की पूर्ति सीमित है। यदि श्रम की पूर्ति सीमित है तो निश्चय ही मजदूरी सीमान्त उत्पादकता से अधिक होगी। मजदूरी निर्धारण का कोई भी सिद्धान्त तब तक पूर्ण नहीं कहा जा सकता जब तक कि माग तथा पूर्ति दोनो पक्षो को ध्यान में न रखा जाये।

(6) **श्रम की सीमान्त उत्पादकता श्रमिक की कार्यकुशलता पर ही निर्भर नहीं है** श्रम की सीमान्त उत्पादकता न केवल श्रमिक की कुशलता बल्कि कच्चे माल यन्त्र तथा औद्योगिक सगठन आदि की कुशलता पर निर्भर करती है। फलस्वरूप एक ही उद्योग के श्रमिक की सीमान्त उत्पादकता में अन्तर पाया जाता है। तात्पर्य यह है कि श्रम द्वारा प्राप्त उत्पादन केवल श्रम की कुशलता पर ही नहीं बल्कि उत्पादन के अन्य साधनों के कुशल प्रयोग पर भी निर्भर है। इन साधनों में परिवर्तन के कारण भी श्रमिक की उत्पादनशीलता बदल जाती है। स्पष्ट है इस सिद्धान्त में औद्योगिक व्यवस्था के महत्व को स्वीकार नहीं किया गया है जो कि बहुत सीमा तक मजदूरी को बढ़ाने में सहायक होता है।

(7) **उत्पादन साधनों के अनुपात में परिवर्तन सम्भव नहीं है** यह मान्यता कि उत्पादन के विभिन्न साधनों के अनुपात में इच्छानुसार परिवर्तन करना सम्भव

1 One has to go to the margin to study the action of these forces which govern the value of the whole and that the marginal productivity theo y throws in o clear light the action of one of the sources that govern wag s

है ठीक नहीं है। यदि किसी फर्म के अन्दर का आकार निश्चित है तो उत्पादन के साधनों में मनमाना परिवर्तन करना सम्भव नहीं होगा। फलस्वरूप श्रम के सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त का प्रयोग भी सम्भव नहीं है। दीर्घकाल में इस तर्क का विशेष स्थान नहीं है। स्थिर उत्पादन इकाई (*plant*) को बदला जा सकता है। निश्चित आकार वाली इकाई की धारणा में भी दीर्घकाल में परिवर्तन का सिद्धान्त स्वीकार किया गया है।

(8) **अन्य साधनों के स्थिर रहने पर श्रम की एक इकाई में वृद्धि करना सम्भव नहीं है** यह सिद्धान्त इस मान्यता को स्वीकार करता है कि अन्य सभी साधनों को स्थिर रखते हुए श्रम की मात्रा में एक इकाई में वृद्धि की जा सकती है किन्तु यदि उत्पादन की तकनीकी प्रगति निश्चित हो तो इस प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं है क्योंकि श्रम की मात्रा में एक इकाई से वृद्धि करने पर उत्पादन के अन्य साधनों में भी परिवर्तन करना होगा।

(9) **सीमान्त उत्पादक के सम्बन्ध में उत्पादकता की अज्ञानता** व्यवहार में प्रायः उत्पादकों या नियोक्ताओं को श्रम की सीमान्त उत्पादकता के विषय में *जानकारी नहीं होती। परन्तु वास्तविकता यह है कि उत्पादक सीमान्त उत्पादकता* का ध्यान में अवश्य रखता है। वह सदा इस बात पर विचार करता है कि एक अतिरिक्त मजदूर को काम पर लगाने से उसे कितना लाभ होगा या कितनी हानि उठानी पड़ेगी। वस्तुतः उत्पादक द्वारा अधिकतम लाभ प्राप्त करने की भावना की धारणा सीमान्त उत्पादकता के विचार के द्वारा ही सम्भव है।

उपर्युक्त आलोचनाओं के आधार पर ही यह कहा जाता है कि यह एक स्थिर (static) सिद्धान्त है किन्तु व्यावहारिक समाज गतिशील है जिसमें बराबर परिवर्तन *होता रहता है। यह सत्य है कि सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त अपूर्ण है किन्तु यह* मजदूरी को प्रभावित करने वाले महत्त्वपूर्ण तत्त्व की ओर संकेत करता है। श्रम की कुशलता में वृद्धि का अर्थ सीमान्त उत्पादकता में वृद्धि है जिसके कारण मजदूरी में भी वृद्धि सम्भव है। एक उद्योग दूसरे उद्योग की तुलना में अधिक मजदूरी इस कारण देता है कि उसकी सीमान्त उत्पादकता (बाजार मूल्य की दृष्टि से) अधिक है।[1] इसी कारण एक देश दूसरे देश की तुलना में अधिक वास्तविक मजदूरी प्रदान कर सकता है। मजदूरी में वृद्धि उद्योगपति की संगठन-कुशलता एवं निपुणता के कारण *तथा नये साधनों की खोज एवं आविष्कार के द्वारा भी सम्भव है।*

---

1 "Though the doctrine is thus incomplete it offers useful indications of the influences on wages. A rise in efficiency means an increase in the marginal worth and therefore makes a possible rise in the wage. One industry pays a higher wage than another because the marginal productivity is higher (i.e. in terms of market value)"

—*H. A. Silverman*

मार्शल तथा अन्य पुराने अर्थशास्त्रियो ने यह नही कहा कि मजदूरी का निर्धारण सीमान्त उत्पादकता के द्वारा ही होना चाहिए। उनका कथन इतना ही कहना था कि दी जाने वाली मजदूरी की दर सीमान्त उत्पादकता तथा काम पर लगाए जाने वाले श्रमिकों के बीच एक फलन सम्बन्ध (functional relation ship) है अत इस दृष्टि से सीमान्त उत्पादकता मजदूरी की दर की माप है निर्धारक नहीं।

अपहृत या बट्टायुक्त सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त
(Discounted Marginal Productivity Theory of Wages)

प्रसिद्ध अमरिकन अर्थशास्त्री प्रो० टाजिग (Prof Taussig) ने सीमान्त उत्पा*दकता सिद्धान्त को ही एक नये सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत किया है जिसे हम मजदूरी* का अपहृत या बट्टायुक्त सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त (Discounted Marginal Productivity Theory of Wages) कहते हैं। टाजिग के अनुसार मजदूरी सीमान्त उत्पादकता के बराबर नहीं होती क्योंकि मजदूरी का भुगतान तो उत्पादन के पहले ही कर दिया जाता है। प्रो० टाजिग (Prof Taussig) का कहना है कि उत्पादन में समय लगता है। अत श्रम की सीमान्त उत्पादकता को मालूम करने में भी समय लगता है तथा कुछ समय बाद ही श्रमिक की सीमान्त उत्पादकता को जाना जा *सकता है। परन्तु श्रमिक उस समय तक मजदूरी पाने के लिए प्रतीक्षा नहीं करता* तथा उत्पादक को उत्पादन की बिक्री के पूर्व ही मजदूरी देनी पड़ती है। अत यह स्पष्ट है कि उत्पादक श्रमिकों को मजदूरी का भुगतान उत्पादन के पहले ही कर देता है। इस पेशगी मजदूरी की रकम उत्पादक अपने पास से या उधार के रूप में दूसरों से प्राप्त करता है और इस राशि पर उसे ब्याज चुकाना पड़ता है। फलस्वरूप वह मजदूरी में से उतने दिनों का ब्याज काट लेता है जितने दिन पहले वह मजदूरी चुकाता है। इसका फल यह होता है कि अन्तत मजदूरी श्रम की सीमान्त उत्पादकता के बराबर नहीं हो पाती। अत *मजदूरी श्रम की सीमान्त उत्पादकता में से इस* कटौती (कटौती वर्तमान ब्याज की दर पर निर्भर करती है) को निकाल देने पर जो शेष बचता है उसी के बराबर होती है। इसीलिये प्रो० टाजिग का कहना है कि मजदूरी श्रमिक की बट्टायुक्त (discounted) सीमान्त उत्पादकता द्वारा निर्धारित की जाती है। इस सम्बन्ध में बाम-बावर्क (Bohm Bawrk) का भी यही विचार है।

3 मजदूरी निर्धारण का आधुनिक सिद्धान्त (The Modern Theory)

मजदूरी निर्धारण के सम्बन्ध में आधुनिक अर्थशास्त्रियों का मत है कि जिस प्रकार किसी वस्तु का मूल्य माँग एवं पूर्ति के सामान्य नियम द्वारा निर्धारित किया जाता है उसी प्रकार श्रम की मजदूरी भी जो उसकी सेवाओं का मूल्य है श्रमिकों *की माग और पूर्ति के नियम के आधार पर ही निर्धारित की जानी चाहिए।* परन्तु श्रम अन्य वस्तुओं से भिन्न है तथा उसकी कुछ अपनी विशेषताएं हैं। यही कारण है

कि मजदूरी निर्धारण के लिए माँग तथा पूर्ति के सिद्धान्त को एक संशोधित एवं विशिष्ट रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस संशोधित सिद्धान्त का आधार यह है कि *श्रम का मूल्य ही उसकी मजदूरी है। प्रतिस्पर्धात्मक श्रम बाजारों में यह मूल्य* **अवैयक्तिक रूप से श्रम की माँग तथा पूर्ति की पारस्परिक प्रतिक्रियाओं द्वारा निर्धारित होता है।** इन पारस्परिक प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप श्रम की माँगरेखा उसकी पूर्ति रेखा को जिस बिन्दु पर काटती है उस बिन्दु पर ही मजदूरी निर्धारित होती है। अन्य शब्दों में जिस मूल्य पर उत्पादक श्रमिकों द्वारा प्रस्तुत की गयी सेवाओं का खरीदने तथा श्रमिक अपनी सेवाएं उत्पादकों को बेचने के लिए तैयार हो जाते हैं वही मूल्य श्रमिकों की मजदूरी है। मजदूरी निर्धारित करने वाले सिद्धान्त की व्याख्या *करने के पहले श्रम की माँग तथा पूर्ति की विवेचना आवश्यक है।*

पूर्ण तथा अपूर्ण प्रतिस्पर्धा के अन्तर्गत मजदूरी निर्धारण
(Determination of Wage under Perfect and Imperfect Competition)

सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त की सहायता से साधनों की मूल्य निर्धारण विधि की विवेचना करते समय हमने श्रम तथा मजदूरी का उदाहरण लिया था उस उदाहरण में यह स्पष्ट किया गया था कि एक फर्म में उस समय तक श्रम की अधिक से अधिक इकाइयाँ नियुक्त की जाती हैं जब तक कि श्रम की सीमान्त आय उत्पादकता सीमान्त मजदूरी के बराबर नहीं हो जाती। पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति में उत्पादक बाजार तथा साधन बाजार में प्रत्येक फर्म में श्रम का मूल्य (अर्थात् मजदूरी) सीमान्त भौतिक उत्पादन के मूल्य के बराबर होता है। जहाँ तक उद्योग का सम्बन्ध है श्रम का मूल्य (अर्थात् मजदूरी) एक तरफ श्रम के सीमान्त उत्पादकता वक्र (अथवा माँग वक्र) द्वारा तथा दूसरी तरफ श्रम के पूर्ति वक्र द्वारा निर्धारित होता है। अन्य शब्दों में पूर्ण प्रतिस्पर्धा के अन्तर्गत बाजार में श्रमिकों की मजदूरी श्रम की माँग व पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है। यहाँ अब हम सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त के आधार पर श्रम बाजार की विभिन्न स्थितियों— पूर्ण प्रतिस्पर्धा तथा अपूर्ण प्रतिस्पर्धा— में मजदूरी निर्धारण की विधियों का विवेचन करेंगे।

परन्तु उक्त दोनों स्थितियों में मजदूरी निर्धारण सिद्धान्त की विवेचना करने के पूर्व हमें उत्पादन साधन के रूप में श्रम की कुछ विशेषताओं को ध्यान में रखना होगा क्योंकि उनके आधार पर हम सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त को मजदूरी पर लागू करते समय उसमें कुछ आवश्यक संशोधन करने होंगे। पहली विशेषता यह है कि श्रमिक सामूहिक रूप से श्रम संघ बना सकते हैं तथा प्रचलित मूल्य से भिन्न मजदूरी के लिए सौदेबाजी कर सकते हैं। दूसरी विशेषता यह है श्रमिक को काम करने के सम्बन्ध में स्वतन्त्र इच्छा होती है। वह पूँजी तथा भूमि की तरह जीवन हीन नहीं है। वह अपनी इच्छानुसार किसी दिन या किसी क्षण काम करता है या काम करने के लिए अनिच्छुक रहता है। ये दोनों विशेषताएं भूमि और पूँजी में नहीं

पायी जाती है। इसी कारण श्रम की मजदूरी निर्धारित करते समय उसकी इन दोनों विशेषताओं को ध्यान में रखना पड़ता है।

पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा के अन्तर्गत मजदूरी निर्धारण

पूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशाओं में किसी उद्योग में मजदूरी माग व पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है। ऐसी स्थिति में पूर्ण प्रतिस्पर्धा के अन्तर्गत मजदूरी निर्धारण का अध्ययन करने के लिए दो वक्र माग वक्र तथा पूर्ति वक्र खींचे जाते हैं। यहाँ यह मान लिया गया है कि उत्पाद बाजार तथा साधन-बाजार दोनों में ही पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति है। परन्तु इस सम्बन्ध में यह स्मरण रहे कि आजकल औद्योगीकरण के इस युग में साधन बाजार (यहाँ श्रम बाजार) में पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति शायद ही कभी पायी जाती है। ऐसा पूर्ण प्रतिस्पर्धी श्रम बाजार केवल अविकसित तथा कृषि प्रधान देशों में ही पायी जा सकती है।

(1) उद्योग के लिए श्रम का माग वक्र। जैसा कि सीमान्त उत्पादकता के अध्याय में स्पष्ट किया जा चुका है श्रम के लिए किसी फर्म का सीमान्त आय उत्पादकता (MRP) वक्र फर्म द्वारा विभिन्न मजदूरी दरों पर लगाये गये श्रमिकों की विभिन्न मात्राओं (इकाइयों) को व्यक्त करता है। फर्म श्रम की अतिरिक्त इकाइयां उस समय तक प्रयोग में लाता जायगा जब तक कि श्रम की सीमान्त आय उत्पादकता प्रचलित मजदूरी दर के बराबर नहीं हो जाती है। इस प्रकार फर्म का MRP वक्र फर्म के लिए श्रम की माँग प्रदर्शित करता है। यही कारण है कि फर्म का MRP वक्र उसके लिए श्रम का माँग वक्र भी है। एक उद्योग के अन्तर्गत विभिन्न फर्मों के लिए अलग अलग MRP वक्र या श्रम के लिए माग वक्र होते हैं। यदि हम पड़ी रेखा के रूप में (Horizontally) उद्योग में लगी सभी फर्मों के MRP या श्रम के माग वक्रों को जोड़ दें तो हम सम्पूर्ण उद्योग के लिए श्रम का माँग वक्र प्राप्त होगा। इस प्रकार श्रम के लिए उद्योग का माग वक्र A B C फर्मों के MRP वक्रों का योग है।

(2) उद्योग के माग वक्र को प्रभावित करने वाले तत्व किसी उद्योग का माँग वक्र कई बातों से प्रभावित होता है जैसे—

(i) श्रम की माग व्युत्पन्न माँग है श्रम की माग उस वस्तु की माग द्वारा निर्धारित होती है जिसका उत्पादन करने में श्रम सहायक होता है। उत्पादित वस्तु की जितनी ही अधिक माग होगी, उद्योग के लिए श्रम की माँग में उतनी ही अधिक वृद्धि होगी।

(ii) उत्पाद फलन (Production Function) से सम्बन्धित प्राविधिक दशाओं का प्रभाव फर्म में उत्पादन फलन अर्थात् पड़त-उत्पादन के सम्बन्धों (Input output relations) को प्रभावित करने वाली तकनीकी दशाएं भी श्रम की माँग निर्धारित करती हैं। यदि स्थिर तथा परिवर्तनशील साधनों के अनुपात बेलोचदार

(Inflexible) हैं तथा परिवर्तनशील साधनों में वृद्धि करके उत्पादन बढ़ाने के लिए प्रयत्न किए जा रहे हैं तो श्रम का MRP तेजी से कम हो जायगा। ऐसी स्थिति में श्रम का MRP वक्र नीचे की ओर अधिक गिरता हुआ होगा। इस कारण श्रम की अतिरिक्त इकाइयों को प्रयोग में लाने के लिए मजदूरी दर को घटाना होगा। दूसरे शब्दों में यदि मजदूरी में बहुत अधिक कमी नहीं कर दी जाती है तो फर्म की श्रम के लिए माँग में अधिक तेजी से कमी आयेगी। इसके विपरीत यदि स्थिर साधनों का परिवर्तनशील साधनों (जैसे श्रम) से अनुपात लोचदार है तो परिवर्तनशील साधनों को बढ़ाकर उत्पादन में वृद्धि करने के लिए किये गये प्रयत्नों के फलस्वरूप श्रम के MRP में तेजी से कमी नहीं आयगी। ऐसी स्थिति में श्रम का MRP वक्र धीरे-धीरे नीचे की ओर गिरेगा तथा मजदूरी में थोड़ी-सी कमी होने पर भी फर्म को श्रम की अतिरिक्त इकाइयों का प्रयोग करने के लिए प्रोत्साहन मिलेगा। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि उक्त स्थिति में फर्म की श्रम की माँग अपेक्षाकृत अधिक होगी।

(iii) **स्थानापन्न साधनों का प्रभाव** श्रम की माँग केवल स्वयं के मूल्य (मजदूरी) से ही प्रभावित नहीं होती है बल्कि अन्य साधनों के मूल्यों से भी प्रभावित होती है। यहाँ तक कि श्रम तथा अन्य साधनों के एक दूसरे के स्थान पर प्रतिस्थापन (Substitution) की सम्भावना का भी श्रम की मजदूरी पर प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए यदि पूँजी के स्थान पर श्रम का प्रयोग सम्भव है तो पूँजी का मूल्य (ब्याज) बढ़ने पर उसके स्थान पर श्रम की अतिरिक्त इकाइयाँ प्रयोग में लायी जा सकती हैं।

एक उद्योग के लिए श्रम का माँग वक्र बाएँ से दाएँ नीचे को गिरता हुआ होता है जो यह प्रकट करता है कि मजदूरी तथा श्रम की माँग में उल्टा सम्बन्ध है अर्थात् मजदूरी की दर अधिक होने पर श्रम की माँग कम होगी तथा मजदूरी दर कम होने पर श्रम की माँग अधिक होगी। एक उद्योग में श्रम के लिए माँग वक्र अल्पकाल में बेलोचदार होता है तथा दीर्घकाल में लोचदार होता है। इसका कारण यह है कि दीर्घकाल की तुलना में अल्पकाल में श्रम के स्थान पर पूँजी अथवा पूँजी के स्थान पर श्रम के प्रयोग करने के अवसर सीमित होते हैं।

(3) **उद्योग के लिए श्रम का पूर्ति वक्र** किसी उद्योग के लिए श्रम के पूर्ति वक्र के आकार के सम्बन्ध में पूर्वानुमान लगाना कठिन है। इस जटिलता पर विचार करने के पहले यह जानना आवश्यक है कि श्रम की पूर्ति का वास्तव में अर्थ क्या है। ***श्रम की पूर्ति का अभिप्राय उन घंटों तथा दिनों से है जो विभिन्न मजदूरी दरों पर किसी विशेष प्रकार के श्रमिक अर्पित करने के लिए तत्पर होते हैं।*** सामान्यतः मजदूरी-स्तर ऊँचा होने पर अधिक श्रम घण्टे अर्पित किये जाते हैं अर्थात् अधिक श्रमिक काम करने को तत्पर होते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि मजदूरी दर तथा श्रमिकों की पूर्ति में प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। परन्तु कभी-कभी श्रम की पूर्ति को अन्य तत्त्व

भी प्रभावित करते है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रहे कि अन्य साधनों के विपरीत विभिन्न मजदूरी दरों पर श्रमिकों की कार्य करने की अपनी इच्छा या अनिच्छा भी श्रम की पूर्ति निर्धारित करती है। इस आधार पर श्रम की पूर्ति में वृद्धि या कमी की प्रवृत्ति का प्रमुख कारण यह है कि श्रमिक अपने श्रम के बदले में कम से कम इतनी मजदूरी अवश्य प्राप्त करना चाहता है जिससे कि वह अपने तथा अपने परिवार के सदस्यों का जीवन निर्वाह कर सके। यह मजदूरी की स्तर न्यूनतम दर है जिसे श्रमिकों का सीमान्त त्याग (Marginal sacrifice) कहा जा सकता है। यदि उसे इस सीमांत त्याग या न्यूनतम मजदूरी से कम मजदूरी मिलती है तो वह काम करने को तैयार नहीं होता। अतः जिस प्रकार उत्पादन के लिए श्रम की सीमांत उत्पादकता (मजदूरी की अधिकतम सीमा) श्रम की माँग की मात्रा निर्धारित करती है उसी प्रकार श्रमिकों के लिए उनका सीमांत त्याग (मजदूरी की न्यूनतम सीमा) श्रम की मात्रा निर्धारित करती है।

श्रम की पूर्ति निर्धारित करने वाले कुछ अन्य तत्त्व भी हैं जिनका उल्लेख नीचे किया गया है

(i) व्यावसायिक स्थानान्तरण (Occupational Shifts) श्रम की पूर्ति को प्रभावित करने वाला एक आर्थिक तत्त्व व्यावसायिक स्थानान्तरण है। यदि किसी उद्योग विशेष में मजदूरी स्तर ऊँची है तो उसमें श्रमिक अन्य उद्योगों से आने लगेंगे और उस उद्योग विशेष में श्रम की पूर्ति बढ़ने लगेगी। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मजदूरी दर ऊँची होने पर श्रम की पूर्ति अधिक होती है और मजदूरी दर नीची रहने पर श्रमिकों की पूर्ति कम होती है। इस कारण ही उद्योग का श्रम-पूर्ति वक्र ऊपर की ओर दायी तरफ उठता हुआ होता है।

(ii) श्रमिकों की कार्यकुशलता किसी उद्योग में श्रम की पूर्ति श्रमिकों की कार्यकुशलता पर निर्भर करती है। श्रमिकों के कार्यकुशल होने पर उत्पादन मात्रा में उसी प्रकार वृद्धि होती है जिस प्रकार कि श्रम की पूर्ति में वृद्धि होने पर। अकुशल श्रमिक की तुलना में एक कुशल श्रमिक की उत्पादन क्षमता अधिक होती है। इससे यह स्पष्ट है कि उद्योग की उत्पादन मात्रा पर श्रमिक की कार्यकुशलता में वृद्धि का वही प्रभाव पड़ता है जो कि श्रम की पूर्ति में वृद्धि का ऊँची मजदूरी होने पर। श्रमिकों का जीवन स्तर ऊँचा उठता है तथा जीवन स्तर ऊँचा रहने पर उनकी कार्यकुशलता में वृद्धि होती है जिससे श्रम की पूर्ति में भी वृद्धि होती है। नीची मजदूरी स्तर रहने पर जीवन स्तर नीचा रहता है जिससे श्रमिकों की कार्यकुशलता कम हो जाती है और श्रम की पूर्ति घट जाती है। इसके फलस्वरूप भी उद्योग का श्रम-पूर्ति वक्र ऊपर की ओर दायी तरफ उठता हुआ होता है।

(iii) कार्य आराम अनुपात (Works leisure Ratio) श्रम की पूर्ति कार्य आराम अनुपात से भी प्रभावित होती है। मजदूरी दर में वृद्धि श्रम की पूर्ति को दो प्रकार से परन्तु विपरीत दशाओं में प्रभावित करती है। पहला प्रभाव प्रतिस्थापन प्रभाव (Substitution Effect) कहलाता है। मजदूरी में वृद्धि होने पर श्रमिक अधिक कार्य करना पसंद करेंगे तथा आराम के स्थान पर कार्य का प्रतिस्थापन करेंगे। इस दशा में श्रम-पूर्ति वक्र ऊपर की ओर दायीं तरफ उठता हुआ होगा, क्योंकि ऊँची मजदूरी मिलने पर श्रमिक अतिरिक्त कार्य करने के लिए तत्पर होगा। ध्यान रहे कि प्रतिस्थापन प्रभाव धनात्मक (Positive) होता है। इसके विपरीत मजदूरी में वृद्धि होने पर जब श्रमिक की आय बढ़ जायेगी तब वह आय में वृद्धि के कारण कम काम करना तथा अधिक आराम करना चाहेंगे। यह मजदूरी में वृद्धि के कारण आय प्रभाव (Income Effect) कहा जाता है। इस स्थिति में श्रम पूर्ति वक्र का ढाल आय की कुछ सीमाओं पर पीछे की तरफ झुकता हुआ होगा जो यह प्रकट करता है कि आय प्रभाव ऋणात्मक (Negative) होता है क्योंकि मजदूरी दर अधिक होने पर भी श्रमिक आराम अधिक पसन्द करते हैं। इन दोनों प्रभावों को चित्र संख्या 154 में स्पष्ट किया गया है।
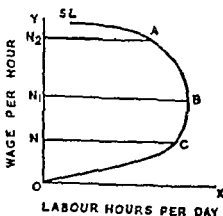
चित्र सं 154

चित्र सं० 154 में O से SL श्रम घण्टों का पूर्ति वक्र है। प्रति घण्टा मजदूरी दर बढ़ने पर जब वह ON से ON_1 हो जाती है श्रमिक की श्रम घण्टों की पूर्ति भी NC से बढ़कर NB हो जाती है। B बिन्दु पर श्रम घण्टों का पूर्ति वक्र एक खड़ी रेखा के रूप में है परन्तु B के बाद ऊपर की तरफ वह पीछे की तरफ झुका हुआ है। जब मजदूरी दर ON_1 से बढ़कर ON_2 हो जाती है श्रम घण्टों की पूर्ति N_1B से घटकर N_2A हो जाती है। पूर्ति वक्र के प्रारम्भ की स्थिति जो ऊपर की ओर

दायी तरफ चढ़ता हुई N_1 यह व्यक्त करती है कि मजदूरी म वद्धि के कारण श्रमिक आराम के स्थान पर अधिक घण्टे काय करन का तत्पर होग। O SL पूर्ति वक्र पर OB तक की स्थिति प्रतिस्थापन प्रभाव को व्यक्त करती है परन्तु B बिन्दु के बाद आय प्रभाव की स्थिति है क्योंकि मजदूरी ON_ होने पर भी श्रमिक क काय घण्टो की पूर्ति OA के बराबर ही है जिसम यह स्पष्ट है कि श्रमिक कम घण्टे काय करना चाहत हैं और अधिक आराम चाहत हैं।

3 **मजदूरी निर्धारण** (Wage Determination) श्रम की माग तथा पूर्ति की शक्तिया श्रम-बाजार की उन दशाओ को व्यक्त करती हैं जिनके आधार पर मजदूरी तथा रोजगार म सतुलन स्थापित होता है। दूसरे शब्दो म पूण स्पर्धा की स्थिति म मजदूरी की दर उस बिन्दु पर सतुलन की स्थिति म होगी जहाँ श्रम का मांग मूल्य श्रम की पूर्ति मूल्य के बराबर होगा। अत **पूण स्पर्धात्मक श्रम बाजार मे मजदूरी की दर की अधिकतम सीमा** (जो श्रम की सीमात उत्पादकता को व्यक्त करता है तथा न्यूनतम सीमा जिससे नीची मजदूरी पर श्रमिक काय करने क लिए तत्पर नही होगा क्योंकि वह श्रमिको के सामान्य जीवन स्तर को व्यक्त करती है) **माग और पूर्ति की सापेक्ष शक्तियों क सतुलन से निर्धारित होगी।**

चित्र द्वारा स्पष्टीकरण

चित्र स० 155 म OX आधार रखा पर श्रम की इकाइया तथा OY खड़ी रखा पर मजदूरी की दर व्यक्त की गई है। विभिन्न मजदूरी-दरा पर श्रम की मांग रखा DD है। श्रम का पूर्ति रखा SS है। ये दोना रेखाए एक-दूसर का P बिन्दु पर काटती हैं जा साम्य बिन्दु है तथा जो श्रम की मांग तथा पूर्ति की मात्राओ का सतुलन बिन्दु भी कहलाता है। यह बिन्दु ही यह बतलाता है कि PQ या OW मजदूरी की दर पर श्रमिका की मांग व पूर्ति OQ क बराबर होगी। अब यदि यह मान लिया जाये कि

मजदूरी की दर OW से घटकर OW_2 हो जाती है तो श्रमिकों की माग W_2B के बराबर होगी परन्तु श्रमिकों की पूर्ति घटकर W_2N के बराबर ही रह जायगी।
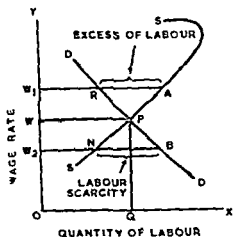
चित्र सं० 155

कम मजदूरी-स्तर पर उत्पादक अधिक संख्या में श्रमिकों को नियुक्त करने के लिए तत्पर होंगे लेकिन इस स्तर पर श्रमिक काम करने को तयार नहीं होंगे। यह स्थिति श्रमिकों की कमी (Labour scarcity) की है क्योंकि माँग की मात्रा W_2B पूर्ति की मात्रा W_2N से अधिक है। अतः

श्रम की कमी $= (W_2B - W_2N) = NB$

इसके विपरीत यदि मजदूरी का स्तर OW_1 हो जाती है तो श्रम की माँग $= W_1R$ तथा श्रम की पूर्ति $= W_1A$ होगी। मजदूरी की दर बढ़ने पर श्रम की माँग (W_1R) श्रम की पूर्ति (W_1A) से कम होगा। मजदूरी की दर बढ़ने पर अधिक से अधिक संख्या में श्रमिक काम करने के लिए तत्पर होंगे परन्तु उत्पादक कम से कम संख्या में श्रमिकों को नियुक्त करना चाहेंगे। ऐसी स्थिति में श्रम बाजार में श्रम की पूर्ति श्रम की माँग की तुलना में अधिक होगी जो बेरोजगारी की स्थिति को व्यक्त करती है। अतः

बेरोजगारी (Unemploymen) $= (W_1R - W_1A) = RA$

पूर्ण स्पर्धा वाले श्रम बाजार में मजदूरी निर्धारण के सम्बन्ध में कुछ मान्यताएं हैं (1) श्रम विशेष (Labour of a given kind) की माँग व पूर्ति में एकाधिकार के तत्व विद्यमान नहीं हैं अर्थात् न तो नियोजक ही (Employers) और न श्रमिक ही संगठित होते हैं। वे स्वतन्त्र रूप से श्रम की माँग तथा पूर्ति करते हैं।

(ii) नियोजकों (Employers) की संख्या अत्यधिक पायी जाती है। उनकी संख्या अधिक होने के कारण उत्पादक इकाइयाँ या फर्में बहुत ही छोटी होती हैं और वे प्रत्येक अपना श्रम बाजार में श्रम की कुल पूर्ति के बहुत ही थोड़े भाग का प्रयोग में लाती हैं।
(iii) एक ही प्रकार के श्रमिकों की संख्या भी बहुत ही अधिक पायी जाती है जो संगठित नहीं होते और स्वतन्त्र होकर अपनी व्यक्तिगत सेवाएँ बेचने के लिए तत्पर रहते हैं।
(iv) विभिन्न उद्योग तथा क्षेत्रों के लिए श्रमिकों में पूर्ण गतिशीलता होती है।
(v) श्रमबाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति होने के साथ ही साथ उत्पादित वस्तुओं के बाजार में भी पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति पायी जाती है। पूर्ण स्पर्द्धा की इन मान्यताओं के अन्तर्गत प्रत्येक श्रमिक को समान मजदूरी प्राप्त होगी। जैसा कि चित्र सं० 155 से स्पष्ट है पूर्ण स्पर्द्धा वाले श्रम बाजार में सन्तुलन मजदूरी ही (Equilibrium wages) वह मजदूरी है जो वहाँ सदैव प्रचलित होगी। सन्तुलन मजदूरी ही मजदूरी तथा रोजगार में सन्तुलन की स्थिति व्यक्त करती है।

इसका कारण यह है कि यदि मजदूरी दर बढ़ जाती है तो श्रमिकों की माँग कम होने पर कुछ श्रमिक बेकार हो जाएँगे। ऐसी स्थिति में श्रमिक कम मजदूरी पर काम करने के लिए तत्पर हो जाएँगे जिससे श्रमिकों की माँग बढ़ेगी और सभी बेकार श्रमिकों को रोजगार प्राप्त हो जायेगा। इसके विपरीत यदि मजदूरी की दर घट जाती है तो श्रमिकों की माँग श्रमिकों की पूर्ति से अधिक होगी। इस स्थिति में नियोजकों में अधिक से अधिक संख्या में श्रमिकों को नियुक्त करने की स्पर्द्धा के कारण मजदूरी दर बढ़ेगी और इस बढ़ी हुई मजदूरी-दर पर श्रमिकों की संख्या (पूर्ति) बढ़ने से पुनः सन्तुलन की स्थिति स्थापित हो जायेगी। मजदूरी तथा रोजगार में सन्तुलन की स्थिति उस समय तक अपरिवर्तित रहती है जब तक कि श्रम बाजार की उपर्युक्त मान्यताएँ अपरिवर्तित रहती हैं।

इस सम्बन्ध में इस तथ्य को भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि एक बार सम्पूर्ण उद्योग के लिए मजदूरी निर्धारित कर दिए जाने पर प्रत्येक फर्म या व्यक्तिगत अथवा नियोजक को निर्धारित या दी हुई मजदूरी स्वीकृत होती है। चित्र सं० 155 में PN वह मजदूरी है जो उद्योग द्वारा निर्धारित कर दी गयी है। यही मजदूरी फर्म के लिए निर्धारित या प्रचलित मजदूरी है। फर्म के लिए इसको स्वीकार करने के अतिरिक्त कोई अन्य विकल्प नहीं है। उत्पादन इकाइयों फर्मों या नियोजकों की संख्या अधिक तथा उनके व्यवसाय का आकार छोटा होने के कारण उनके द्वारा श्रम की कुल पूर्ति का थोड़ा-सा ही भाग प्रयुक्त किया जाता है। ऐसी स्थिति में मजदूरी की दर अपरिवर्तित रहती है क्योंकि उनकी अपनी अलग तथा स्वतन्त्र प्रतिक्रियाओं का श्रम-बाजार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। अतः प्रत्येक फर्म द्वारा एक दी हुई मजदूरी स्वीकार कर लिए जाने पर मजदूरी रेखा (Wage line) NN होगी।

यह आधार रेखा OX के समानान्तर होती है जसा कि चित्र 156 मे दिखलाया गया है। मजदूरी रेखा यह व्यक्त करती है कि श्रम की औसत लागत (मजदूरी) उसकी सीमान्त लागत (मजदूरी) के बराबर होती है [(Averag Cost or Wage of
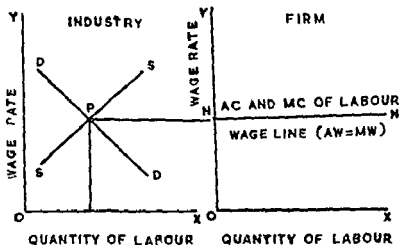
चित्र स 156

Labour (AW)=Marginal Cost (or Wage of Labour)]। यह इस मान्यता को स्पष्ट करती है कि पूर्ण स्पर्द्धा म मजदूरी की दर सीमान्त उत्पादन के मूल्य के बराबर होनी चाहिए।

जिस प्रकार पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा के अन्तर्गत किसी वस्तु का मूल्य दीर्घकाल म उत्पादन के औसत एव सीमान्त लागत के बराबर होता है उसी प्रकार श्रम का मूल्य (अथवा श्रम की मजदूरी) पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा की दशाओ म दीर्घकाल म किसी फर्म के लिए श्रम के औसत तथा सीमान्त आय उत्पाद के बराबर होना है। मान लीजिए कि कोई व्यक्ति या फर्म अपने लाभ को अधिकतम करना अथवा अपनी हानि को कम से कम करना चाहता है। ऐसी स्थिति म वह उस बिन्दु तक श्रम की अतिरिक्त इकाइयो का प्रयोग करता रहेगा जिस बिन्दु पर श्रम की सीमान्त लागत (अर्थात् सीमान्त मजदूरी) श्रम के सीमान्त आय उत्पाद (MRP) के बराबर हो जाती है। यदि फर्म उस बिन्दु के उपरान्त भी श्रम की अतिरिक्त इकाइयो का प्रयोग करता है तो श्रम की सीमान्त लागत (सीमान्त मजदूरी) श्रम के MRP म अधिक हो जायगी और फर्म को हानि होने लगेगी। इसके विपरीत यदि फर्म उस बिन्दु के पहले ही श्रम की अतिरिक्त इकाइयो का प्रयोग रोक देती है तो श्रम का MRP श्रम की सीमान्त लागत (सीमान्त मजदूरी) से अधिक होगा और ऐसी स्थिति म फर्म अधिकतम लाभ प्राप्त नहीं कर

सकगी। अतः फर्म अतिरिक्त इकाइयों के प्रयोग को उस बिन्दु पर रोक देगा जिस पर श्रम की MC = श्रम के MRP। फर्म के संतुलन के लिए सीमान्त मजदूरी (MW) का श्रम के सीमान्त आय उत्पाद (MRP) के बराबर होना एक अनिवार्य शर्त है।

श्रम की औसत लागत या औसत मजदूरी तथा औसत आय उत्पाद का सम्बन्ध

श्रम की औसत मजदूरी तथा उसके औसत आय उत्पाद में तीन निम्न प्रकार के सम्बन्ध हो सकते हैं

(i) **श्रम के औसत आय उत्पाद से औसत मजदूरी अधिक होने पर** फर्म को अतिरिक्त श्रम प्रयोग करने पर हानि होगी जैसा कि चित्र 157 में प्रदर्शित किया गया है।
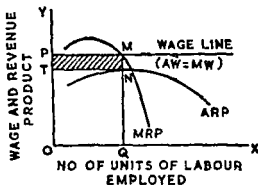
चित्र सं० 157

चित्र में फर्म उस समय संतुलन की स्थिति में है जबकि वह श्रम की OQ इकाइयाँ प्रयोग में लाती है क्योंकि रोजगार या प्रयोग के इस स्तर पर सीमान्त मजदूरी MQ श्रम के MRP (MQ) के बराबर है। परन्तु प्रयोग के इस स्तर पर औसत मजदूरी MQ श्रम के औसत आय उत्पाद NQ से अधिक है। अतः इस स्थिति में फर्म को श्रम की OM इकाइयाँ प्रयोग में लाने पर PTNM के बराबर शुद्ध हानि उठानी पड़ती है।

(ii) **औसत मजदूरी श्रम के सीमान्त आय उत्पाद से कम होने पर** इस स्थिति में जैसा कि चित्र सं० 158 में प्रदर्शित किया गया है फर्म को श्रम की OQ इकाइयाँ प्रयोग में लाने पर लाभ प्राप्त होगा। इस चित्र में श्रम का सीमान्त आय उत्पाद MQ औसत मजदूरी NQ से MN मात्रा तक अधिक है। अतः फर्म PTNM के बराबर शुद्ध लाभ अर्जित करता है।
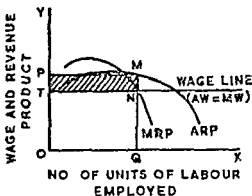
चित्र स० 158

(iii) औसत मजदूरी के श्रम के औसत आय उत्पाद के बराबर होने पर इस स्थिति म फर्म को श्रम का प्रयोग करने पर न लाभ होगा न हानि। चित्र स०
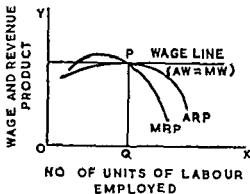
चित्र स० 159

159 म श्रम का सीमान्त आय उत्पाद PQ=औसत मजदूरी PQ के जबकि फर्म श्रम की OQ इकाइयां प्रयोग म लाता है। अत फर्म को न तो लाभ होता है और न ही हानि।

अल्प काल म फर्म इन तीनों स्थितियों म से किसी भी स्थिति से गुजर सकती है। उसे हानि भी हो सकती है या वह लाभ अर्जित कर सकती है अथवा वह ऐसी स्थिति से भी गुजर सकती है जिसमे उसे न तो लाभ होता है और न हानि हो। परन्तु दीर्घकाल म प्रथम दो परिस्थितियाँ सम्भव नहीं हैं। केवल तीसरी स्थिति ही सम्भव है जिसम फर्म को न तो लाभ होता है और न हानि हो।

आलोचना इस सिद्धांत में कई दोष है। यह बाजार के वास्तविक वातावरण की उपेक्षा करता है क्योंकि जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है पूर्ण स्पर्द्धा की सभी दशाएं न तो पूर्णतया पायी ही जाती हैं और न ही विभिन्न श्रम इकाइयों में एकरूपता पायी जाती है। कुछ श्रमिक अधिक कुशल होते हैं तो कुछ श्रमिक कम कुशल। योग्यता तथा कुशलता के आधार पर सभी श्रमिकों में कुछ न कुछ असमानता रहती ही है। इसके अतिरिक्त कीन्स के 'रोजगार सिद्धांत' के अनुसार श्रम की माँग आंशिक रूप से आय स्तर पर निर्भर है और आय-स्तर भी अंशतः रोजगार स्तर पर निर्भर है। वस्तुतः रोजगार-स्तर कई परिवर्तनशील तत्त्वों (Variables) में से एक ऐसा तत्त्व है जो श्रम की माँग तथा पूर्ति द्वारा निर्धारित किया जाता है। अतः मजदूरी निर्धारण को उन विभिन्न परिवर्तनशील तत्त्वों से अलग नहीं किया जा सकता जो रोजगार तथा आय के स्तर को निर्धारित करते हैं।

अपूर्ण स्पर्द्धा के अन्तर्गत मजदूरी निर्धारण
(Wages under Imperfect Competition)

मजदूरी की सीमान्त उत्पादकता का सिद्धान्त केवल पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा की स्थिति में ही उचित ठहरता है। परन्तु पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा की स्थिति प्रायः पायी ही नहीं जाती। शायद ही कुछ ऐसे श्रम बाजार हों जहाँ श्रम की माँग करने वाली उत्पादन इकाइयों की संख्या अधिक हो और उनका आकार छोटा हो तथा वे स्वतन्त्र रूप से असंगठित श्रमिकों को नियुक्त करती हों। आजकल उत्पादन इकाइयाँ अधिकतर बड़े आकार की होती हैं अथवा छोटी इकाइयाँ पूर्णतया संगठित होती हैं। श्रमिक भी स्वतन्त्र रूप से श्रम-बाजार में श्रम की पूर्ति नहीं करते। वे भी श्रम संघों (Labour or Trade Unions) के रूप में संगठित होते हैं। ये श्रम संघ ही श्रम की पूर्ति करते हैं। इस प्रकार की स्थिति अपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा की स्थिति कहलाती है। श्रम बाजार में अपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा की निम्नलिखित विशेषताएं हैं

(i) नियोजकों की संख्या बहुत ही कम होती है। नियोजक भी पूर्णतया संगठित होते हैं। उनमें श्रमिकों को नियुक्त करने के लिए प्रतिस्पर्धा नहीं होती। (ii) नियोजकों या फर्मों का आकार बड़ा होता है। (iii) श्रमिक वर्ग भी संगठित होता है तथा श्रम-संघ नियोजकों के संघों से सौदा करने (bargaining) में समर्थ होता है। (iv) श्रमिक में अत्यधिक गतिशीलता नहीं पायी जाती।

इन विशेषताओं से युक्त श्रम बाजार में अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की दो स्थितियाँ पायी जाती हैं (i) जब मजदूरी निर्धारण में संगठित नियोजकों की सौदा शक्ति (bargaining power) सबल होती है तब ऐसी स्थिति को क्रेता एकाधिकार की स्थिति (Monopsony) कहते हैं (ii) इसके विपरीत जब श्रम-संघ की सौदा शक्ति अधिक सबल होती है और ये श्रम-संघ ही एकाधिकारी की तरह श्रम की पूर्ति

नियंत्रित करते हैं तब ऐसी स्थिति को एकाधिकार की तरह नियंत्रण (Monopolistic control) की स्थिति कहा जाता है।

श्रम-बाजार में अपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा की स्थिति होने पर सीमान्त मजदूरी तथा औसत मजदूरी की रेखाएँ आपस में नहीं मिलतीं। (जैसा कि चित्र सं० 160 में AW तथा MW रेखाओं से स्पष्ट है।) साम्य या सन्तुलन की दशाओं (conditions of equilibrium) में सीमान्त मजदूरी तथा सीमान्त उत्पादन MP_1 के बराबर है और औसत मजदूरी व औसत उत्पादन MP के बराबर है क्योंकि सीमान्त उत्पादन वक्र MP सीमान्त मजदूरी रेखा MW को P_1 पर काटता है तथा औसत उत्पादन
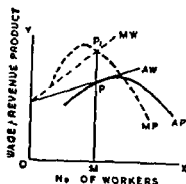
चित्र सं० 160

वक्र AW औसत मजदूरी रेखा AW को P बिन्दु पर काटता है। आधार रेखा OX पर P_1 से लम्ब P_1M खींचने पर यह ज्ञात होता है कि श्रम की पूर्ति OM मात्रा के बराबर है। OM रोजगार स्तर पर औसत मजदूरी तथा औसत उत्पादन (MP) बराबर हैं परन्तु सीमान्त मजदूरी तथा सीमान्त मजदूरी उनसे अधिक MP_1 के बराबर है। इससे यह स्पष्ट है कि औसत उत्पादन सीमान्त से कम है अथवा औसत मजदूरी सीमान्त मजदूरी से कम है। नियोजक श्रमिकों को औसत मजदूरी से अधिक नहीं देना चाहेंगे। इसका परिणाम यह होगा कि श्रम की उत्पादकता का मूल्य मजदूरी के बराबर नहीं होगा। जिस सीमा तक उनको सीमान्त उत्पादकता से कम मजदूरी मिलेगी। उस सीमा तक यह कहा जा सकता है कि श्रमिकों का शोषण हो रहा है। उपर्युक्त चित्र में यदि श्रमिकों को औसत मजदूरी MP दी जा रही हो तो उनका शोषण $(P_1M - PM) = P_1P$ सीमा तक किया जा रहा है।

सामूहिक सौदेबाजी सिद्धान्त
(Collective Bargaining Theory)

वर्तमान युग अपूर्णता का युग है। यही कारण है कि पूर्ण स्पर्धा की स्थिति

केवल काल्पनिक मानी जाती है। व्यावहारिक जीवन में भी यह देखने को मिलता है कि उत्पादक अपनी उत्पादित वस्तुओं के मूल्य स्वयं निश्चित नहीं कर सकते। वस्तुतः वस्तुओं के मूल्य कई तत्त्वों से प्रभावित होते रहते हैं। इस आधार पर यह स्वीकार किया गया है कि श्रम-बाजार में श्रम का मूल्य भी परिवर्तनशील होता है। श्रम का मूल्य उसी स्थिति में अप्रभावित रह सकता है जबकि श्रमिक संगठित हों। सम्भवतः इस मान्यता के आधार पर ही श्रम संघों का संगठन किया गया था जिनका उद्देश्य नियोक्ताओं से सौदेबाजी करके मजदूरी-दर को उसके वर्तमान स्तर से ऊँचा उठाना था। सौदेबाजी शब्द इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि सौदेबाजी का सिद्धान्त स्वयं में मजदूरी निर्धारण का सिद्धान्त नहीं है वरन् केवल दो पक्षों के मध्य संघर्ष को समाप्त करके कुछ समय के लिए मजदूरी तय करने में सहायक होता है। यह इस तथ्य की ओर भी संकेत करता है कि सौदेबाजी का सिद्धान्त श्रमिकों के किसी एक वर्ग विशेष पर न कि सम्पूर्ण श्रम बाजार पर लागू होता है। अतः मजदूरी निर्धारण के स्पष्टीकरण में श्रम और पूर्ति के तत्त्वों का कोई सम्बन्ध नहीं होता। व्यावहारिक रूप में इस सिद्धान्त के अन्तर्गत मजदूरी निर्धारण करने में मनोवैज्ञानिक राजनैतिक आर्थिक तथा कई अदृश्य तत्त्वों के आधार पर ही मजदूरी निर्धारित की जाती है।

इस प्रकार मौद्रिक मजदूरी दरें तथा रोजगार की दशाएँ श्रम संघों तथा नियोक्ता संघों के मध्य पारस्परिक समझौते के द्वारा तय की जाती हैं। यह विधि ही सामूहिक सौदेबाजी (Collective Bargaining) की विधि है। इस विधि में नियोक्ता को यह लाभ होता है कि उसके प्रतिस्पर्द्धियों द्वारा मजदूरी में कमी किए जाने की नीति नहीं अपनायी जाती।

मजदूरी तथा श्रम संघ
(*Wages and Trade Unions*)

व्यवहार में प्रतिस्पर्द्धात्मक दशाएँ नहीं पायी जातीं तथा श्रम-संघ मजदूरी की दरों को प्रभावित करने में सफल होते हैं। श्रम संघों का मूल तर्क यह है कि श्रमिकों की मोल करने की क्षमता नियोक्ता की तुलना में सबल हो ताकि श्रमिकों को उत्पादन का उचित भाग और काम की अच्छी दशाएँ प्राप्त हो सकें। अपने साथ के श्रमिकों से किसी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित किए बिना कोई श्रमिक निश्चित रूप से अपने नियोक्ता की तुलना में मोल करने की स्थिति में नहीं रहता। पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा की स्थिति में श्रम को उसके सीमान्त उत्पादन मूल्य के बराबर मजदूरी प्राप्त होती है तथा अनुचित मोल करने का प्रश्न ही नहीं उठता किन्तु व्यवहार में इस बात का आश्वासन नहीं है कि श्रम को उसके सीमान्त उत्पादन मूल्य के बराबर मजदूरी मिलेगी ही। शायद यह भी सम्भव नहीं है कि व्यवहार में सीमान्त उत्पादन की माप ठीक ठीक की जा सके। साथ ही एक उद्योग से दूसरे उद्योग में

श्रमिकों की गतिशीलता का माप में भी बहुत कठिनाइयाँ आती हैं जिनके कारण सामान्य उत्पादन तथा आय में बहुत बड़ी असमानता पायी जाती है। किसी परिस्थिति में यदि सभी नियोक्ता अपने श्रमिकों को उनके सामान्य उत्पादन से कम मजदूरी देते हैं तो पूर्ण गतिशीलता का माप करने में वह मजदूरी अपूर्ण सिद्ध होगी। अतः किसी उद्योग में मजदूरी का स्तर क्या होगा? इस प्रश्न का सम्बन्ध नियोक्ता तथा श्रमिकों का सौदा करने की शक्ति पर निर्भर होगा। यहाँ श्रमिक संघों का मुख्य लक्ष्य इस बात को सुरक्षित करना है कि सामूहिक रूप से श्रमिकों की मोल करने की क्षमता कम से कम नियोक्ता की क्षमता के बराबर हो। वास्तव में श्रम संघ माँग व पूर्ति दोनों पक्षों को ध्यान में रखकर मजदूरी निर्धारण में सहायक होते हैं जिससे न तो उत्पादकों को अधिक मजदूरी के कारण श्रमिकों को हटाना पड़े और न ही श्रमिकों को इतनी कम मजदूरी मिले कि वह उनके जीवन निर्वाह के लिए भी पर्याप्त न हो। इस प्रकार एक तरफ बेरोजगारी तथा दूसरी तरफ हड़ताल आदि की सम्भावनाओं को दूर करने में श्रम संघ सहायक होते हैं। बहुत सी परिस्थितियों में श्रम संघों ने पूर्ण सफलता के साथ इन लक्ष्यों को प्राप्त किया है तथा नियोक्ताओं को मजदूरी निर्धारण के लिए सामूहिक मोलभाव के माध्यम को अपनाना पड़ा है।

श्रम संघों की शक्ति इस तथ्य में निहित है कि श्रम की पूर्ति शून्य भी हो सकती है और ऐसा हड़ताल के द्वारा सम्भव है। किन्तु संघ की यह शक्ति इस बात पर निर्भर है कि पूरे उद्योग की श्रम शक्ति का कितना भाग श्रम-संघ का सदस्य है इसके सदस्यों में अनुशासन तथा एकता कितनी है? वित्तीय कोष की मात्रा तथा इसके नेताओं की योग्यता क्या है?

श्रम संघों के कार्य श्रम-संघ मजदूरों की संगठित शक्ति का प्रतीक है। वह उनके व्यक्तित्व का विकास करता है तथा उनकी शक्ति को संगठित करके उन्हें सशक्त बनाता है। वह श्रमिकों के उचित हितों की रक्षा करता है उनकी संघर्ष शक्ति बढ़ाकर उन्हें नियोजकों से आवश्यक सुविधाएं दिलाता है। इसके अतिरिक्त मजदूरी निर्धारण एवं वृद्धि में उसके महत्त्वपूर्ण कार्य निम्नलिखित हैं

(1) **सीमान्त उत्पादकता के बराबर मजदूरी में वृद्धि** अपूर्ण प्रतियोगिता में जब श्रमिकों को उनकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर मजदूरी नहीं मिलती तथा उनका शोषण किया जाता है तब श्रम संघ अपनी सौदा शक्ति के बल पर मजदूरी वृद्धि के लिए प्रयत्न करते हैं।

(2) **श्रमिकों की उत्पादकता में वृद्धि** श्रमिकों की उत्पादन क्षमता को बढ़ाने में श्रम-संघ का विशेष स्थान माना जाता है। वे श्रमिकों की कार्य-क्षमता बढ़ाने की दिशा में श्रमिकों को प्रोत्साहित करने के साथ ही साथ उत्पादकों एवं नियोजकों को श्रमिकों की कार्य-दशाओं में तथा आधुनिकतम तकनीकी विधियों को

अपनाने के लिए बाध्य करता है। वह स्वयं भी श्रमिकों की भलाई के लिए कई कल्याणकारी कार्य करता है।

श्रम संघ की शक्ति की सीमाएँ श्रमिक संघ चाहे जितना भी सबल हो उसके सदस्यों की मजदूरी में वृद्धि एक सीमा तक ही सम्भव है।

(i) बेरोजगारी की स्थिति इसका कारण यह है कि नियोक्ता के सम्मुख एक ऐसी स्थिति उपस्थित हो जाती है कि मजदूरी में और वृद्धि होने पर श्रमिकों को नियुक्त करना लाभदायक नहीं होता। अगर श्रम-संघ इस बिन्दु के बाद भी वृद्धि करने का प्रयत्न करता है तो बेरोजगारी की स्थिति उत्पन्न हो सकती है जिसके परिणामस्वरूप श्रम संघ को अपनी माँग में परिवर्तन करना पड़ेगा। साथ ही यहाँ हम अधिक मजदूरी की उत्पादकता का भी ध्यान रखना चाहिए।

(ii) अन्य साधनों की प्रतिस्थापना श्रम संघ को इस तथ्य पर भी ध्यान देना पड़ता है कि किसी उद्योग में श्रम की तुलना में अन्य साधनों को कितने सुविधापूर्वक प्रतिस्थापित किया जा सकता है। मजदूरी में वृद्धि के साथ यह सम्भव है कि उत्पादक कम श्रमिकों को काम पर लगायें क्योंकि अन्य साधन अपेक्षाकृत सस्ते हो जाते हैं। अधिक सीमा तक यह उद्योग से सम्बन्धित इन वैकल्पिक साधनों की पूर्ति की लोच पर निर्भर करेगा। उदाहरणस्वरूप यदि पूँजी बहुत ही विशिष्ट प्रकार की है तो यह सम्भव नहीं होगा कि बिना किसी विलम्ब तथा मूल्य परिवर्तन के शीघ्र ही श्रम का पूँजी द्वारा प्रतिस्थापन हो सके। उद्योग में प्रतिस्थापन की लोच जितनी ही अधिक होगी मजदूरी की दर वृद्धि कराने में श्रम संघ की शक्ति उतनी ही कम होगी।

(iii) वस्तु की माँग की लोच श्रम-संघ की शक्ति स्वयं वस्तु की माँग की लोच पर निर्भर करेगी। यदि माँग बेलोच है तो उत्पादक मजदूरी की वृद्धि को अधिक मूल्य के रूप में बिना बिक्री पर बुरा प्रभाव डाले उपभोक्ताओं पर टाल सकता है। इस स्थिति में उत्पादक श्रम संघ की माँग का ज्यादा विरोध भी नहीं करेगा। किन्तु ठीक इसके विपरीत यदि उत्पादक की वस्तु की माँग लोचपूर्ण है तो मूल्य में वृद्धि के साथ ही मात्रा में कमी होगी। अतः उत्पादक मजदूरी में वृद्धि की माँग का तीव्र विरोध करेगा।

निष्कर्ष यह है कि चाहे श्रम संघ कितना ही सबल क्यों न हो एक ऐसा बिन्दु आ जायेगा जिसके बाद मजदूरी में वृद्धि इसके सदस्यों में बेरोजगारी लाये बिना सम्भव नहीं है। संघ का कोई भी उत्तरदायी नेता ऐसा खतरा लेने को तैयार नहीं होगा।

श्रम संघ तथा सौदेबाजी (Trade Unions and Bargaining) श्रम संघों के संगठन से श्रम के क्रेताओं के अधिकार या शक्ति (monoposonist pow r)

नष्ट हो जाती है या काफी अंशों तक कम हो जाती है। श्रम संघों की शक्ति बढ़ने से एक प्रकार से द्वि पक्षीय एकाधिकार (Bilateral monopoly) की स्थिति हो जाती है। श्रम-संघ न्यूनतम मजदूरी से अधिक मजदूरी की माँग करते हैं। इसी प्रकार मालिक भी एक निश्चित सीमा के ऊपर मजदूरी बढ़ाना नहीं चाहते हैं तथा उस सीमा से कम मजदूरी देना चाहते हैं। वस्तुतः इन दोनों सीमाओं (श्रम संघ द्वारा माँगी गई न्यूनतम मजदूरी तथा मालिकों द्वारा दी गई अधिकतम मजदूरी) के बीच सौदेबाजी द्वारा मजदूरी दर का निर्धारण होता है।

श्रम-संघों की सौदेबाजी की क्षमता सामान्यतया मालिकों की तुलना में कम होती है क्योंकि (i) श्रमिक सम्पत्तिहीन होते हैं (ii) उनकी गतिशीलता कम होती है तथा (iii) साधनों पर श्रमिकों का अधिकार नहीं होता है। सौदेबाजी की स्थिति पर चित्र में 161 द्वारा प्रकाश पड़ता है। चित्र में पूर्ति वक्र व्यक्तिगत श्रमिक के पूर्ति वक्रों का योग है तथा माँग वक्र व्यक्तिगत फर्मों के सीमान्त उत्पादकता वक्रों का योग है। OW_1 साम्य मजदूरी है। इस मजदूरी पर ON_1 श्रमिक रोजगार में हैं। यदि श्रम संघ मजदूरी दर को बढ़वा कर OW_2 करने में सफल हो जाएँ तो रोजगार
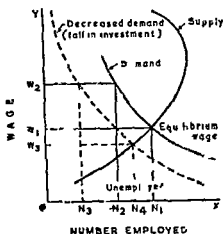
चित्र सं० 161

घटकर ON_2 हो जाएगा तथा बेरोजगारी में वृद्धि होगी। कुछ समय पश्चात् यह संभव है कि श्रम की पूर्ति कम हो जाए तथा बेरोजगारी की मात्रा इतना कम हो जाए कि मजदूरी के पुनः घटने की संभावना भी न रह जाए। श्रम संघ बेरोजगारी को बर्दाश्त करेंगे क्योंकि इनसे उद्योग में विनियोग बढ़ेगा तथा बाद में बेरोजगारी समाप्त हो जाएगी। परन्तु यदि प्रारम्भ में ही श्रम संघ कम मजदूरी पर सहमत हो गये हों तो विनियोग बढ़ने पर वे अधिक मजदूरी के लिए संघर्ष करेंगे।

परन्तु यदि विनियोग घट जाए जैसा कि चित्र में घटे हुए माँग वक्र द्वारा दिखाया गया है तो रोजगार घटकर ON_3 हो जाएगा। अधिक बेरोजगारी के कारण मजदूरी घटकर OW_3 के आसपास आ जाएगी जो कि पहले की साम्य मजदूरी OW_1 से कम होगा।

इस प्रकार श्रम संघों की मोलभाव की क्षमता मालिकों की तुलना में कम होती है। श्रम की मोलभाव की शक्ति केवल श्रम बाजार पर ही नहीं बल्कि मालिकों के वस्तु बाजार पर भी निर्भर है। यदि मालिक कच्चा माल खरीदने की स्थिति में (Monoposonist) है तथा उत्पादित वस्तु बेचने की स्थिति में एकाधिकारी (Monopolist) है तो वह कच्चे माल के लिए कम कीमत देकर तथा उपभोक्ताओं से वस्तु की अधिक कीमत वसूल करके बढ़ी हुई मजदूरी के प्रभाव को दूर कर सकता है। इस प्रकार बढ़ायी गयी मजदूरी से एक वर्ग को लाभ तथा दूसरे वर्ग को हानि होती है। इस विधि द्वारा मजदूरी दरों में साधारणतया वृद्धि नहीं की जा सकती है।

ऊँची मजदूरी की अर्थव्यवस्था (The Economy of High Wages)
चित्र सं० 162 द्वारा ऊँची मजदूरी के परिणाम पर प्रकाश पड़ता है। यदि मजदूरी की दर OW_2 है तो ON_2 श्रमिक काम पर लगाये गये हैं। यदि मजदूरी बढ़ाकर

चित्र सं० 162
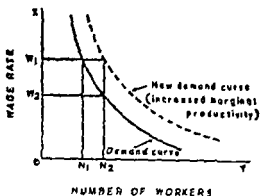
OW_1 कर दी जाए तो काम में लगे हुए श्रमिकों की संख्या घटाना पड़ेगा तथा केवल ON_1 श्रमिक काम पर लगाए जाएँगे।

परन्तु यह कहा जा सकता है कि मजदूरी ऊँची होने से श्रमिकों के जीवन स्तर में सुधार होगा। इस प्रकार उनकी उत्पादकता में वृद्धि होगी तथा माँग वक्र दाहिनी तरफ खिसकेगा। इस प्रकार OW_1 साम्य मजदूरी हो जाएगी तथा इस

मजदूरी पर ON_2 श्रमिकों को रोजगार मिलेगा। मजदूरी बढ़ने पर प्रारम्भ में श्रमिकों की संख्या में कमी होती है परन्तु बाद में यह कमी पूरी हो जाती है क्योंकि श्रमिकों की उत्पादकता बढ़ने से उनकी माँग बढ़ जाती है।

न्यूनतम मजदूरी
(Minimum Wages)

न्यूनतम मजदूरी उस न्यूनतम पारितोषण (Remuneration) से नहीं लिया जाता जो कि श्रमिक जीवन के केवल भरण पोषण मात्र के लिए ही हो अथवा जो श्रमिक को केवल जीवित मात्र रख सके। न्यूनतम मजदूरी वह न्यूनतम पारितोषण होता है जो कि श्रमिकों को एक न्यूनतम जीवन स्तर बनाये रखने के लिए आवश्यक हो जो श्रमिकों को उन सामान्य आरामों (comforts) को प्रदान कर सके जिससे उनमें अच्छी आदतों का विकास हो आत्म सम्मान की भावना बनी रहे तथा वे एक आत्मयुक्त समाज के अंग के समान रह सकें।

भारत सरकार की उचित मजदूरी समिति (Fair Wage Committee) ने न्यूनतम मजदूरी की परिभाषा इस प्रकार दी है न्यूनतम मजदूरी का श्रमिक जीवन के केवल भरण-पोषण मात्र की व्यवस्था ही नहीं बल्कि श्रमिकों की कार्य क्षमता को बनाये रखने की व्यवस्था करनी चाहिए। इस उद्देश्य से न्यूनतम मजदूरी को थोड़ी शिक्षा चिकित्सा सम्बन्धी आवश्यकताओं तथा अन्य सुविधाओं की भी पूर्ति करनी चाहिए।

प्रश्न व संकेत

1 मजदूरी के आधुनिक सिद्धान्त की विवेचना करिए।

Explain the modern theory of wages

[संकेत—मजदूरी के आधुनिक सिद्धान्त की व्याख्या करने हेतु यथास्थान चित्र देते हुए उद्योग तथा व्यक्तिगत फर्म दोनों के सम्बन्ध में मजदूरी के निर्धारण को समझाइए।]

2 मजदूरी के सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या करिए।

Critically examine the Marginal Productivity Theory of Wages

[संकेत—मजदूरी के सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त को स्पष्ट करिए और उसकी सीमाओं को समझाइए।]

3 यदि मजदूरी का निर्धारण श्रम की सीमान्त उत्पादकता द्वारा होता है तो श्रमिक संघ प्रभावहीन हैं। इस कथन की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए।

If the wages are determined by the Marginal Productivity Theory of Labour then trade unions are useless Critically examine this

[संकेत पहले सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त के अनुसार मजदूरी का निर्धारण समझाइए तथा बाद में संक्षेप में श्रम-संघों द्वारा मजदूरी को प्रभावित करने की क्षमता का वर्णन करते हुए उपर्युक्त कथन पर टिप्पणी कीजिए ।]

4 अन्य मूल्यों के समान मजदूरी भी माँग एवं पूर्ति की शक्तियों द्वारा निर्धारित होती है । इस कथन की विवेचना कीजिए ।

The price of labour lik any other price is determined jointly by the demand and supply forces Examine the statement

[संकेत—श्रम की माँग तथा श्रम की पूर्ति की व्याख्या करके माँग एवं पूर्ति के साम्य द्वारा मजदूरी के निर्धारण को स्पष्ट करें ।]

5 मजदूरी कैसे निर्धारित होती है ? क्या श्रम संघ मजदूरी को प्रभावित कर सकते हैं ?

How are wages determined ? Can trade unions influence the rate of wages ?

6 मजदूरी की परिभाषित कीजिए तथा मौद्रिक एवं वास्तविक मजदूरी में भेद बतलाइए । वास्तविक मजदूरी को प्रभावित करने वाले तत्त्वों को समझाइए ।

Define wages and differentiate between money wages and real wages State the factors affectin_ real wages

7 अपूर्ण प्रतियोगिता में मजदूरी कैसे निर्धारित होती है ?

How wages are determined under imperfect comp tition ?

———

43
ब्याज

Interest is simply a bourgeois device for exploitation

—Karl Marx

पूँजी की सेवाओं के बदले में पूँजी के स्वामी को दिये गये पुरस्कार को पूँजी कहते हैं। साधारण बोल चाल की भाषा में ऋणी द्वारा मूलधन के अतिरिक्त धनी को किये गये भुगतान को ब्याज कहते हैं। अर्थशास्त्र में इसे कुल ब्याज' कहते हैं। ब्याज पूँजी या ऋण या ऋण-योग्य कोषों (Loanable funds) के प्रयोग के लिए पुरस्कार है। इसको अर्थशास्त्रियों ने विभिन्न शब्दों में व्यक्त किया है।

मार्शल के अनुसार ब्याज किसी बाजार में पूँजी के प्रयोग की कीमत है।

मेयर्स (Mayers) के अनुसार ब्याज वह कीमत है जो कि ऋण-योग्य कोषों के प्रयोग के लिए दी जाती है।

कीन्स (Keyne) ब्याज को विशुद्ध मौद्रिक बात मानते हैं और ब्याज को तरलता के त्याग का पुरस्कार कहते हैं।

अर्थशास्त्र में ब्याज दो प्रकार का माना गया है—'शुद्ध ब्याज तथा कुल ब्याज।

1 शुद्ध या वास्तविक ब्याज (Net Interest) शुद्ध ब्याज उस ब्याज को कहते हैं जिसमें केवल पूँजी का प्रतिफल सम्मिलित होता है।

2 कुल ब्याज (Gross Int rest) कुल ब्याज के अन्तर्गत शुद्ध ब्याज जोखिम उठाने के लिए किया गया भुगतान धनी के अन्य व्ययों का अंश तथा धनी की असुविधाओं के बदले किया गया भुगतान सम्मिलित किया जाता है। जब पूँजीपति पूँजी लगाता है तो उसे कुछ जोखिम वहन करने पड़ते हैं। इस जोखिम के बदले में उसे प्रतिफल प्राप्त होना चाहिए। मार्शल ने दो प्रकार के जोखिमों का उल्लेख किया है—*(i) व्यापारिक जोखिम (Tr de R sks)* जो जोखिम वस्तुओं का मूल्य गिर जाने या मन्दी के कारण उठाना पड़ता है उसे व्यापारिक जोखिम

कहते हैं। जोखिम का अंश अधिक होने पर ब्याज की दर ऊँची होती है। (ii) व्यक्तिगत जोखिम (Personal Risk) इसका सम्बन्ध ऋणी की स्थिति से है। हो सकता है ऋणी ऋण को वापस न करे अतः इस जोखिम के लिए भी धनी प्रतिफल प्राप्त करना चाहता है। ये दोनों प्रकार के जोखिम व्यक्ति से सम्बन्धित होते हैं अतः कुल ब्याज की दरों में विभिन्नता का पाया जाना स्वाभाविक ही है। जोखिम उठाने के अतिरिक्त ऋण को वसूल करने तथा हिसाब किताब रखने के लिए भी ऋणदाता को खर्च करना पड़ता है अतः वह ब्याज के रूप में इन व्ययों को भी प्राप्त करना चाहता है। इस प्रकार

कुल ब्याज = जोखिम उठाने का प्रतिफल + ऋण सम्बन्धी व्यय + शुद्ध ब्याज।

ब्याज निर्धारण के सिद्धान्त (Theories of Interest Determination)

ब्याज दर का निर्धारण किस प्रकार किया जाता है? इसके सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों ने कई सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। उन सिद्धान्तों को हम सरलता की दृष्टि से निम्नलिखित प्रकार से वर्गीकृत कर सकते हैं

ब्याज सिद्धान्तों का वर्गीकरण

वास्तविक सिद्धान्त (Real Theories)	मौद्रिक सिद्धान्त (Monetary Theories)
1 सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त (The Marginal Productivity Theory)	1 ऋणदाय कोष सिद्धान्त (Loanable Funds Theory)
2 मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त (The Psychological Theories)	2 तरलता अधिमान सिद्धान्त (Liquidity Preference Theory)
(i) परित्याग या प्रतीक्षा सिद्धान्त (Abstinence Theory)	3 आधुनिक सिद्धान्त (Modern Theory of Interest)
(ii) आस्ट्रियन सिद्धान्त (Agio Theory)	
(iii) समय अधिमान सिद्धान्त (Time Preference Theory)	
3 माँग तथा पूर्ति सिद्धान्त (The Demand and Supply Theory)	

ब्याज निर्धारण के वास्तविक सिद्धान्त ब्याज को पूँजी से प्राप्त आय के रूप में देखते हैं। वास्तविक सिद्धान्तों के अन्तर्गत ब्याज का सम्बन्ध कतिपय वास्तविक तत्वों – पूँजी की उत्पादकता प्रतीक्षा तथा समय अधिमान—से जोड़ा गया है।

वास्तविक सिद्धान्त ब्याज के पुराने सिद्धान्त हैं। इसके विपरीत ब्याज निर्धारण के मौद्रिक सिद्धान्त अपेक्षाकृत नवीन हैं। इन सिद्धान्तों के अन्तर्गत ब्याज विभिन्न मौद्रिक परिस्थितियों का परिणाम माना जाता है। अब हम ब्याज के उपर्युक्त सिद्धान्तों में से सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त तथा ब्याज सम्बन्धी तीनों मौद्रिक सिद्धान्तों पर प्रकाश डालेंगे।

1 ब्याज का सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त

(The Marginal Productivity Theory of Interest)

(1) **सिद्धान्त की व्याख्या** यह सिद्धान्त जे० बी० क्लार्क तथा विक्स्टीड के वितरण सम्बन्धी सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त पर आधारित है। सर्वप्रथम लाडरडेल (Lauderdale) ने इस सिद्धान्त का समर्थन किया था। इस सिद्धान्त के अनुसार ब्याज की दर का निर्धारण पूँजी की सीमान्त उत्पादकता द्वारा होता है। पूँजी के प्रयोग द्वारा उत्पादन में वृद्धि होती है। अतः पूँजी की माँग उत्पादन वृद्धि के लिए की जाती है। ज्यों ज्यों पूँजी की अधिकाधिक मात्रा उधार ली जाती है पूँजी की माँग मूल्य कम होता जाता है क्योंकि अधिक मात्रा में पूँजी का प्रयोग करने से उसकी क्रमागत इकाइयों की उत्पादकता सीमान्त उत्पादकता ह्रास नियम के अनुसार घटती जाती है। ब्याज दर की प्रवृत्ति पूँजी की सीमान्त उत्पादकता के बराबर होने की होती है। यदि ब्याज दर पूँजी की सीमान्त उत्पादकता से कम है तो अधिक पूँजी का प्रयोग किया जाएगा। इस प्रकार पूँजी की माँग बढ़ेगी तथा पूँजी की सीमान्त उत्पादकता कम होगी। अतः ब्याज दर तथा सीमान्त उत्पादकता समान हो जाएगी। इसके विपरीत यदि ब्याज दर पूँजी की सीमान्त उत्पादकता से अधिक हो तो कम पूँजी का प्रयोग किया जाएगा। इससे पूँजी की सीमान्त उत्पादकता बढ़ेगी तथा उसकी माँग कम होगी। अतः ब्याज दर पूँजी की सीमान्त उत्पादकता के बराबर हो जाएगी। अतः निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि साम्य की अवस्था में *दीर्घकाल में ब्याज पूँजी की सीमान्त उत्पादकता के बराबर होगा।*

पूँजी की माँग पूँजीगत सम्पत्तियों की माँग क्यों होती है? इसका उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है। इनकी माँग इसलिए की जाती है कि ये उपभोग वस्तुओं के उत्पादन के लिए प्रयोग में लाई जाती हैं—अन्य साधनों की तरह उनकी भी आय उत्पत्ति (revenue product) होती है। पूँजीगत सम्पत्ति का सीमान्त उत्पादकता वक्र खींचा जा सकता है। एक उपक्रमी इस बात का अनुमान लगा सकता है कि रोजगार के प्रत्येक स्तर पर उसके कुल आगम में कितनी वृद्धि होगी।

पूँजीगत वस्तु की सीमान्त उत्पादकता ज्ञात करने में दो कठिनाइयाँ आती हैं। उपक्रमी को सम्पत्ति (मान लीजिए मशीन) की वर्तमान नहीं बल्कि भावी उत्पादकता के विषय में अनुमान लगाना पड़ता है। इस भावी उत्पादकता का

भावी प्राप्ति (future yield) कह सकते हैं। सम्पत्ति (मशीन को) मे सुचारू रूप से के लिए कुछ खर्च करना पड़ता है।

मशीन खरीदते समय इन दोनो बातो का ध्यान मे रखा जाता है। मशीन उसी अवस्था मे खरीदी जाएगी जबकि मशीन की आय उत्पत्ति (revenue product) कम से कम (i) मशीन की लागत + (ii) लागत पर बाजार दर से आके गये ब्याज के बराबर हो। यदि मशीन की आय उत्पत्ति इन दोनो के योग से कम है तो मशीन नही खरीदी जाएगी। अत यह कहा जा सकता है कि एक उपक्रमी जो किसी मशीन को खरीदना चाहता है, सवप्रथम वह मशीन मे होने वाली भावी प्राप्ति (Future yield) पर विचार करता है। भावी प्राप्ति का अनुमान मशीन के कार्य-काल या आयु तथा उससे प्राप्त होने वाली आय उत्पत्ति के आधार पर किया जा सकता है अर्थात मशीन के सम्पूर्ण कार्यकाल की सभी आयो का जोडा जाएगा। द्वितीय वह मशीन की लागत तथा तृतीय मशीन को खरीदने के लिए उधार ली गई रकम पर दिये जाने वाले ब्याज को भी ध्यान मे रखेगा।

इसके पश्चात (i) उपक्रमी मशीन की विशुद्ध भावी प्राप्ति (Net Future yield) (मशीन की लागत को घटा कर) की तुलना मशीन खरीदने के लिए उधार ली गई राशि पर दिये जाने वाले ब्याज से करेगा। या (ii) वह मशीन की लागत की तुलना मशीन मे प्राप्त होने वाली राशियो की बट्टा कटी हुई कीमत (Discounted value of its prosp ctive yield) अर्थात वतमान मूल्य (Present Valu*) से करेगा। इन दोनो ही विधियो द्वारा वह इस निर्णय पर पहुचेगा कि मशीन खरीदी जाए या नही खरीदी जाए। **यदि मशीन की विशुद्ध भावी प्राप्तियो के कुल योग मे से मशीन की लागत घटाने पर जो कुछ शेष बचता है वह मशीन को खरीदने के लिए उधार ली गई पूँजी के ब्याज से अधिक है तो मशीन खरीदी जायेगी या यदि बट्टा कटी हुई विशुद्ध भावी प्राप्ति मशीन की लागत से अधिक है तो भी मशीन खरीदी जाएगी।**

इसके विपरीत यदि ऋण पर दिये जाने वाले ब्याज (तथा पूजी) की मात्रा मशीन की विशुद्ध भावी प्राप्ति से अधिक है या मशीन की लागत उसकी बट्टा काटी हुई विशुद्ध भावी प्राप्ति से अधिक है तो मशीन नहीं खरीदी जाएगी। उपक्रमी किसी भी सम्पत्ति (Asset) से प्राप्त होने वाले भावी प्रतिफल का अनुमान लगा सकता है। उनके उत्पादन की आशा इसकी किसी भी दी हुई इकाई से की जा सकती है ठीक उसी प्रकार से एक दी हुई किस्म की सम्पत्ति को विभिन्न मात्राओ से उद्यमकर्ता अथवा उद्योग को प्राप्त होने वाली आय का भी अनुमान लगाया जा सकता है। अत हम जिस सम्पत्ति का विवेचन करते हैं उसका सीमात उत्पादकता वक्र खीचा जा सकता है जो यह प्रकट करता है कि एक फर्म की

सम्पत्ति के लिए हुए स्टाक में एक इकाई और बढ़ा देने से उससे आय में कितनी वृद्धि होती है। (स्टोनियर तथा हेग) यहाँ पर याद रखना चाहिए कि एक सम्पत्ति (मान लीजिए मशीन) की सीमान्त आय उत्पादकता' तथा **सीमान्त भावी प्राप्ति दोनों समान (एक) ही होते हैं। भावी प्राप्तियों के सम्बन्ध में यह** यह याद रखना चाहिए कि (1) भावी प्राप्ति (Future yield) का निर्धारण उन प्रतिफलों द्वारा होता है जो एक अवधि विशेष में प्राप्त होते हैं परन्तु प्रति इकाई समय (Per unit of time) के अनुसार प्राप्त होने वाले प्रतिफल समान नहीं होते हैं (ii) भावी प्राप्तियाँ अनुमान पर आधारित होती हैं तथा उनके सम्बन्ध में लगाए गए अनुमान गलत सिद्ध हो सकते हैं (iii) जिन सम्पत्तियों का जीवन-काल अधिक होता है उन पर कम जीवन-काल वाली सम्पत्तियों की तुलना में ऊँची दर से बट्टा काटा जाता है क्योंकि अधिक जीवनकाल वाली सम्पत्ति के लिए अधिक ब्याज देना पड़ता है (रकम ज्यादा समय के लिए उधार ली जाती है)। अतः विभिन्न जीवन काल वाली सम्पत्तियों की सीमान्त उत्पादकताओं या भावी प्राप्तियों की तुलना नहीं की जाती है बल्कि बट्टा काटी हुई सीमान्त उत्पादकताओं अथवा बट्टा काटी हुई भावी प्राप्तियों की तुलना की जाती है।

किसी भी सम्पत्ति से सम्बन्धित सीमान्त आय उत्पादकता वक्र (MRP) को उसका माँग वक्र या बट्टा काटी हुई सीमान्त उत्पादकता वक्र कहा जा सकता है। यह वक्र प्रतिफलों के वर्तमान मूल्य को प्रकट करता है। यह वक्र लगभग सामान्य माँग वक्र की भाँति बाएँ से दाहिनी ओर झुकता हुआ होता है। एक उपक्रमी यदि एक प्रकार की मशीनों की संख्या में एक से वृद्धि करता है तो उसकी प्राप्ति कम होगी।

यदि बाजार में पूर्ण स्पर्द्धा की स्थिति है तो एक उपक्रमी के लिए साधन का पूर्ति वक्र एक क्षैतिज सरल रेखा (Horizontal straight line) के रूप में होगा। एक उपक्रमी साधन की खरीदी मात्रा में उस बिन्दु तक वृद्धि करता जाता है जिस बिन्दु पर साधन की खरीदी गई अन्तिम इकाई की सीमान्त उत्पादकता (बट्टा काटने के पश्चात्) उस साधन की लागत के बराबर हो जाता है।

यदि साधन की कीमत दी हुई मान ली जाय तो ब्याज दर में कमी होने पर उपक्रमी साधन की अधिक मात्रा खरीदेगा क्योंकि उधार लिए जाने वाले धन की लागत कम पड़ती है। अन्य भावी प्रतिफलों पर कम दर से बट्टा काटा जायेगा। ब्याज दर जितनी ही कम होगी अन्य बातों के समान रहने पर साधन की माँग उतनी ही अधिक होगी। अतः साधन का माँग वक्र (अथवा साधन को खरीदने के लिए लिया गया उधार धन सम्बन्धी वक्र) नीचे की ओर झुकता हुआ होता है (बायें से दाहिना ओर)।

मौद्रिक पूँजी की पूर्ति की दशाएँ अब हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि साधनो व सम्पत्तियो को खरीदने के लिए उधार दी जाने वाली राशि, ब्याज दर से किस प्रकार प्रभावित होती है ? यदि यह मान लिया जाय कि सम्पूर्ण बचत उपक्रमियो को साधन तथा सम्पत्तियो को खरीदने के लिए उधार दे दी जाती है तो जो लोग उधार देते हैं उन्हे वर्तमान उपभोग का त्याग करना पडता है। इस त्याग के बदले उन्हे कुछ प्रतिफल मिलना चाहिए। उधार देने वाला त्याग के साथ ही साथ *जोखिम भी उठाता है। (उधार दिये गये धन का लौटाना अनिश्चित रहता है)।* जोखिम अधिक होने पर उधार देने की तत्परता कम होती है। अत समस्त उद्योग के लिए उधार दिये जाने वाले कोष मे सम्बन्धित पूर्ति वक्र बनाया जाय तो ऐसा पूर्ति वक्र ऊपर की ओर उठता हुआ होगा। अधिक पूजी उधार देने पर वर्तमान उपभोग का अधिक त्याग करना पडता है। फलस्वरूप उधार देने वाले अधिक ब्याज लेना चाहते हैं। साथ ही साथ जब अधिक पूँजी की माग होती है तो ऐसे व्यक्तियो से भी उधार लेना पडता है जो जोखिम की चिंता अधिक करते हैं तथा वे ऊँची ब्याज पर ही उधार देने को तयार होते हैं।

इस प्रकार ब्याज की वास्तविक दर उधार देय कोषो की नीचे झुकती हुई माग वक्र तथा एसे उधार देय कोषो की ऊपर उठती हुई पूर्ति वक्र के कटान बिन्दु (Intersection point) पर होता है।

(ii) सिद्धान्त की आलोचना (1) एकांगी सिद्धान्त ब्याज का सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त एकांगी है। इस सिद्धान्त मे सम्पूर्ण ध्यान माग पक्ष पर ही केन्द्रित कर दिया गया है तथा पूर्ति पक्ष की उपेक्षा की गई है। ब्याज क्यो लिया जाता है ? इस सम्बन्ध मे यह सिद्धान्त मौन है। यह सिद्धान्त पूँजी के पूर्ति मूल्य की उपेक्षा करता है।

(2) केवल पूँजी की उत्पादकता ही ब्याज का कारण नहीं पूँजी की उत्पादकता विभिन्न व्यवसायो मे अलग अलग होती है परन्तु सामान्यत शुद्ध ब्याज की दर एक ही होती है। अत उत्पादकता को ब्याज दर का कारण नही माना जा सकता है। ब्याज दर केवल उत्पादकता ही नहीं बल्कि पूँजी की पूर्ति धनी ऋणी सम्बन्ध तथा मौद्रिक परिस्थितियो पर निर्भर है। उत्पादकता मे वद्धि कर ब्याज दर को ऊचा नही उठाया जा सकता है। इस तथ्य के ऐतिहासिक प्रमाण हैं। आज कल पूजी की उत्पादकता प्राचीन काल की अपेक्षा बहुत बढ गई है परन्तु पहले से ब्याज की दर कम हैं। फिशर ने भी यह मत व्यक्त किया है कि उत्पादकता मे वद्धि कर ब्याज दर को ऊँचा नही उठाया जा सकता है।

त्याग के लिए पुरस्कार मिलना आवश्यक है। ब्याज दर तथा पूँजी की पूर्ति में फलन सम्बन्ध (Functional Relationship) है। अत ऊँची ब्याज दर पर पूँजी की पूर्ति अधिक होती है तथा कम ब्याज दर पर पूँजी की पूर्ति कम होती। ब्याज दर के अतिरिक्त व्यक्ति का दृष्टिकोण, आय स्तर, भविष्य में सुरक्षा की आशा आदि भी पूँजी की पूर्ति को प्रभावित करते है।

यहाँ पर यह स्पष्ट हो गया है कि ब्याज की दर तथा बचतो मे सीधा सबध होता है इसलिए पूँजी की पूर्ति रेखा ऊपर को चढ़ती हुई होगी जैसा कि चित्र स० 163 मे दर्शाया गया है।

यहाँ पर यह ध्यान रखने योग्य बात है कि पूँजी की पूर्ति रेखा बचत की पूर्ति रेखा (Savings supply curve) भी कहते है क्योंकि यह विभिन्न ब्याज की दरो पर बचत की मात्राओ को बताती है।

2 पूँजी की मांग उत्पादको द्वारा पूँजी की माग विनियोजन के लिए की जाती है। उत्पादक अधिक से अधिक लाभप्रद व्यवसाय मे पूँजी का विनियोजन करना चाहता है। पूँजी की माँग उसकी उत्पादकता के कारण होती है परन्तु पूँजी की अधिकाधिक मात्रा का प्रयोग करने से उसकी उत्पादकता उत्तरोत्तर कम होती जाती है। उत्पादक पूँजी का विनियोजन उस बिन्दु तक करता जाता है जिस पर पूँजी की सीमान्त उत्पादकता ब्याज दर के बराबर होती है। ब्याज-दर तथा माँग मे भी सम्बन्ध है। ऊँची ब्याज दर पर उत्पादक पूँजी की कम माँग करते हैं तथा कम ब्याज-दर पर वे पूँजी की अधिक माँग करते है। पूँजी की माँग पूँजीगत वस्तुओ मे विनियोजन के लिए की जाती है इसलिए इसकी माँग को विनियोग माँग (Investment D mand) भी कहते है।
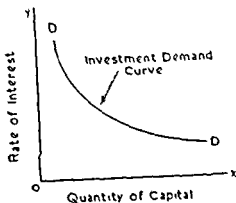
चित्र स० 164

यह स्पष्ट है कि पूंजी की माँग तथा ब्याज की दर में उल्टा सम्बन्ध होता है। इसलिए पूंजी की माँग रेखा बाएँ से दाएँ नीचे को गिरती हुई होगी जैसा कि चित्र स० 164 में DD रेखा बताती है।

यहाँ पर एक बात और ध्यान देने योग्य है चूँकि बचतों की माँग पूँजीगत वस्तुओं में विनियोग के लिए की जाती है इसलिए पूँजी की माँग रेखा को विनियोजन माँग रेखा (Investment demand curve) भी कहते हैं।

3 **ब्याज दर का निर्धारण** ब्याज का निर्धारण उस बिन्दु पर होगा जिस पर पूँजी की माँग तथा पूँजी की पूर्ति में सन्तुलन स्थापित होता है। सन्तुलन ब्याज दर का निर्धारण पूँजी की सीमान्त उत्पादकता द्वारा किया जाता है। यदि किसी समय सन्तुलन ब्याज-दर (Equilibrium rate of interest) पूँजी की सीमान्त उत्पादकता से अधिक है तो पूँजी की माँग उसकी पूर्ति की अपेक्षा कम होगी। अत ब्याज-दर घटेगी तथा वह सीमान्त उत्पादकता के बराबर हो जायगी। इसकी विपरीत स्थिति में ठीक उल्टी प्रक्रिया प्रारम्भ होगी तथा ब्याज-दर पूँजी की सीमान्त उत्पादकता के बराबर हो जायगी। इस प्रकार सन्तुलन की स्थिति में ब्याज दर पूँजी की सीमान्त उत्पादकता के बराबर होगी तथा इस स्थिति में पूंजी माँग पूँजी की पूर्ति के बराबर होगा।

जैसा कि ऊपर बताया गया है ब्याज उस बिन्दु पर निर्धारित होगा जहाँ पर पूंजी माँग तथा पूँजी की पूर्ति बराबर हो जाती है। जैसा कि चित्र स० 165 में दर्शाया गया है। चित्र में ब्याज की दर EQ निर्धारित होती है। सन्तुलन ब्याज
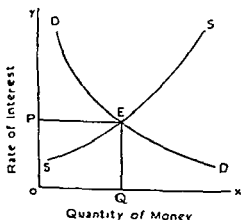
चित्र स० 165

की दर (Equilibrium rate of interest EQ) के सम्बन्ध में निम्न दो बातें ध्यान में रखने की हैं

1 पूँजी की माँग स्वयं पूँजी की सीमान्त उत्पादकता को भी बताती है इसलिए ब्याज EQ = पूँजी की सीमान्त उत्पादकता के। अतः सन्तुलन ब्याज की दर पूँजी की सीमान्त उत्पादकता के बराबर होता है।

(2) पूँजी की माँग स्वयं बचतों के विनियोग को बताती है तथा पूँजी की पूर्ति स्वयं बचतों की पूर्ति को बताती है। अतः सन्तुलन ब्याज की दर EQ पर बचतों का विनियोग तथा बचतों की पूर्ति दोनों बराबर होंगे।

यदि किसी समय विनियोग तथा बचतों में असन्तुलन (Disequilibrium) है (अर्थात् वे बराबर नहीं हैं) तो ब्याज की दर में परिवर्तन होगा तथा ब्याज दर विनियोग तथा बचतों में बराबरी स्थापित कर देगी।

4 आलोचना (1) इस सिद्धान्त में यह मान लिया गया है कि पूरा रोजगार की स्थिति सामान्य स्थिति है। यदि सभी साधन पूर्ण रोजगार की स्थिति में हैं तो बचत के हेतु प्रोत्साहन देने के लिए यह आवश्यक है कि ब्याज दिया जाए जिससे बचतकर्ता को वर्तमान उपभोग के त्याग के लिए प्रोत्साहन मिल सके। परन्तु यदि बेरोजगार साधन वर्तमान है तो ब्याज देने की आवश्यकता नहीं रहेगा। परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से यह धारणा गलत सिद्ध होता है।

(2) **सिद्धान्त में आय पर विनियोग के प्रभावों की उपेक्षा की गई है।** विनियोग में परिवर्तन होने पर आय-स्तर में भी परिवर्तन होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार यदि ब्याज दर पूँजी की सीमान्त उत्पादकता से कम है तथा पूँजी की माँग में वृद्धि होती है तो ब्याज दर कम होने के कारण पूँजी की पूर्ति में वृद्धि नहीं होगा अर्थात् नीची ब्याज दर पर विनियोग की मात्रा में वृद्धि कठिन हो जाता है। परन्तु वस्तु स्थिति ऐसा नहीं है। यदि उत्पादन के लिए अधिक पूँजी (विनियोग) की माँग की जाती है तो लोगों की आय में वृद्धि होगा जिससे बचत बढ़ेगा। बचत बढ़ने के कारण विनियोग में वृद्धि होगी। इसी प्रकार मान लीजिए ब्याज-दर में वृद्धि होता है। इससे विनियोग कम होगा (विनियोजन कम लाभप्रद हो जायगा) विनियोग कम होने से रोजगार कम होगा रोजगार कम होने से आय कम होगा आय कम होने से बचत कम होगा। अतः **ऊँची ब्याज दर बचत के परिमाण को कम करता है जबकि इस सिद्धान्त में यह कहा गया है कि ऊँची ब्याज दर होने से बचत के परिमाण में वृद्धि होती है।**

(3) **पूँजी की पूर्ति की मात्रा विनियोग माँग से स्वतन्त्र नहीं है (The supply of capital is not independent of the investment demand)**
विनियोग में परिवर्तन होने से आय में परिवर्तन होता है अतः बचत की मात्रा में भी

परिवर्तन होता है। विनियोग म कुछ परिवर्तन होन पर बचत के किस अनुपात म परिवर्तन होगा ? इसकी जानकारी क लिए ब्याज दर का निधारण सवप्रथम तरलता अधिमान तथा मुद्रा की पूर्ति द्वारा किया जाना चाहिए। इस प्रकार ब्याज दर का विश्लेषण मौद्रिक परिस्थितिया क सन्दभ म किया जाना चाहिए जबकि माग पूर्ति सिद्धान्त म ब्याज दर का विश्लेषण वास्तविक कारणो (Real factors) के सन्दभ म किया जाता है।

(4) इस सिद्धान्त म 'बक साख' पर ध्यान बिल्कुल नही दिया गया है।

3 उधार देय कोष सिद्धात (The Loanable Fund Theory)

ब्याज के प्रतिष्ठित सिद्धात क दोषो को दूर करने के लिए यह सिद्धान बनाया गया है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन सवप्रथम स्वेडन के अथशास्त्रिया द्वारा किया गया। जिनम विक्सल का नाम प्रमुख है। ब्रिटेन म इस सिद्धान्त पर डॉ० एच० राबर्टसन ने प्रकाश डाला। ब्याज क प्रतिष्ठित सिद्धान्त म बक मुद्रा की उपेक्षा की गई थी तथा ब्याज को केवल बचत तथा विनियोग पर निभर किया गया था। उधार देय कोष सिद्धान्त म बचत तथा विनियोग के अतिरिक्त धन सग्रह करने की प्रवृत्ति तथा मुद्रा की मात्रा पर भी ध्यान दिया गया। ऋण लने वाले व्यक्तिया तथा सस्थाओ द्वारा साख बाजार म मुद्रा की जितनी माग की जाती है तथा ऋण प्रदान करने वाले व्यक्तियो तथा सस्थाओ द्वारा ऋण की जो मात्रा साख बाजार म प्रस्तुत की जाती है उस मात्रा को उधार देय कोष कहत है। (उधार देय कोष शब्द के स्थान पर ओहलीन न 'साख' (Credit) तथा हैबरलर ने विनियोज्य कोष (Investible fund) शब्दों का प्रयोग किया है। कुछ अथशास्त्री इसके लिए मौद्रिक पूजी (Money Capital) शब्द का भी प्रयोग करत है। उधार देय कोष सिद्धात के अनुसार ब्याज दर का निर्धारण उधार देय कोष क लिए माग-सूची तथा पूर्ति सूची के सतुलन द्वारा होता है।

(1) उधार देय कोषों की पूर्ति इस सिद्धान्त के अनुसार उधार देय कोष' की पूर्ति म निम्नलिखित सम्मिलित है (1) निवल्य आय में से बचत (Savings out of disposable income) इसका अथ यह है कि लोग वतमान समय म भूतकालीन बचत का प्रयोग बचत के रूप म करत हैं। यह बचत इसलिए उपलब्ध होती है क्योंकि व्यक्ति भूतकालीन बचत को वतमान उपभोग पर व्यय नहीं करता है। इसी प्रकार व्यावसायिक सस्थान भी भूतकालीन अवितरित लाभ का उपयोग बचत क

न्य म करन हैं। (ii) भूतकालीन बचत का अप सग्रह (Dishoarding of past savings) यदि ब्याज दरें ऊँची उठती हैं तो लोग भूतकाल म सग्रह की गई बचत का भी अप-सग्रह करेंगे। इसस माख बाजार म पूँजी की पूर्ति म वृद्धि होगी। परन्तु यदि ब्याज की दर गिरती है तो लोग वर्तमान निवल्य आय म स भी सग्रह करना प्रारम्भ करेंगे। इस प्रकार बाजार म उपलब्ध 'उधार देय कोष कम होगा।(iii) बैंक साख (Bank Credit) मुद्रा की पूर्ति बैंक मुद्रा या साख मुद्रा स भी प्रभावित होती है। साख मुद्रा के परिमाण म वृद्धि होन से उधार देय कोष म वृद्धि होती है। (iv) अन्य तत्त्व (Other Factors) उपरोक्त तत्त्वों के अतिरिक्त व्यावसायिक संस्थानों के मूल्य-ह्रास-कोष सामान्य सचित कोष आदि तथा बचत को प्रभावित करने स सम्बन्धित सरकार की आर्थिक नीतियाँ उधार देय कोष की मात्रा को प्रभावित करती है।

(2) **उधार देय कोषों की माग** उधार देय कोषों की माग नये विनियोगों तथा नक्द राशि या सग्रह की गई राशि के कारण होती है। ऋण की माग उत्पादन तथा उपभोग दोनों के लिए की जा सकती है। अत उधार देय कोष की कुल माग इन दोनों से सम्बन्धित माँग पर निर्भर है। *ऋण की माग ब्याज दर पर भी निर्भर है,* कम ब्याज दर पर ऋण की माग अधिक होती है तथा ऊँची ब्याज दर ऋण की माँग कम होती है। मुख्य रूप स उधार देय कोष की माग चार प्रकार स की जाती है (i) उत्पादकों तथा व्यापारियों द्वारा (ii) सरकार द्वारा (iii) उपभोक्ताओं द्वारा, और (iv) सचय के लिए (Hoarding)।

(3) **सिद्धान्त का स्पष्टीकरण** विक्सेल द्वारा बतलाये गये इस सिद्धान्त का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया जा सकता है। *बचत तथा साख मुद्रा का योग*

चित्र संख्या 166
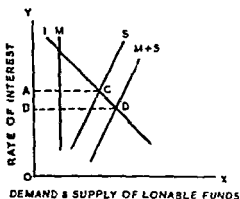
(Total) उधार देय कोष की पूर्ति को प्रकट करता है। इस प्रकार उधार देय कोष की माग तथा उधार देय कोष की पूर्ति द्वारा ब्याज दर का निर्धारण होता है। साख मुद्रा की मात्रा बैंकों की तरलता (Liquidity) पर निर्भर है तथा बैंक साख की मात्रा ब्याज दर द्वारा प्रभावित नहीं होती है (Bank credit is interest inelastic)। इस प्रकार बैंक साख से सम्बन्धी रेखा ब्याज को प्रकट करने वाली रेखा के समानान्तर होगी जैसा कि चित्र में M रेखा प्रकट करती है।

चित्र संख्या 166 में OX अक्ष पर उधार देय कोष की माँग तथा पूर्ति और OY पर ब्याज की दर प्रदर्शित की गई है। M रेखा मुद्रा को प्रकट करती है। S रेखा ब्याज की विभिन्न दरों पर बचत की प्राप्य मात्रा को प्रकट करती है। M+S रेखा उधार देय कोष की कुल मात्रा को प्रकट करती है जो बैंक साख तथा बचत का योग है। I रेखा विनियोग की माँग (Investment Demand Schedule) तालिका को प्रकट करती है। ब्याज दर का निर्धारण उस बिन्दु पर होगा जिस पर S+M तथा I रेखाएं एक दूसरे को काटती हैं अर्थात् ब्याज दर OB होगी।

उधार देय कोष सिद्धान्त को दूसरी विधि द्वारा भी समझाया जा सकता है। यह सिद्धान्त यह बतलाता है कि ब्याज दर वह दर है जो ऋण की माँग तथा पूर्ति को समुचित करती है (Equates)। चित्र स० 167 में यदि पूर्ति वक्र I_1 की तरह है तो ब्याज दर R होगी। परन्तु पूर्ति वक्र उधार देने वालों की आय पर निर्भर है। एक दी हुई ब्याज दर पर ऊंची आय होने पर ऋण की पूर्ति अधिक होगी। चित्र में I_4 पूर्ति वक्र अपेक्षा ऊंची आय पर पूर्ति को प्रकट करता है। चित्र से स्पष्ट है कि आय में वृद्धि के साथ ही साथ ब्याज दर नीचे गिरती है।
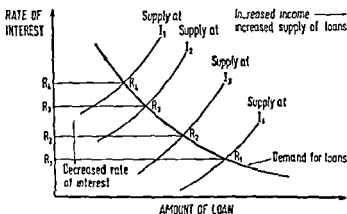
चित्र स० 167

चित्र स० 167 से यह भी स्पष्ट है कि आय I_1 होने पर R_4 वह ब्याज दर है जो उधार देय कोषों की माँग व पूर्ति को सतुलित करती है। इसी प्रकार आय I_4 होने पर R_1 ब्याज दर है।

ब्याज के प्रतिष्ठित सिद्धात तथा उधार देय कोष सिद्धात का अन्तर भी चित्र स० 166 द्वारा जाना जा सकता है। प्रतिष्ठित सिद्धान्त के अनुसार ब्याज दर का निर्धारण उस बिन्दु पर होगा जिस पर I रेखा तथा S रेखा एक दूसरे को काटती हैं अर्थात् ब्याज दर OA होगी। उधार देय कोष सिद्धान्त के अनुसार ब्याज दर OB होगी।

(4) आलोचना विक्सेल ने माग पक्ष से सम्बन्धित मौद्रिक शक्तियों की उपेक्षा की है। *(i) उधार देय कोष की माँग के सम्बन्ध में केवल विनियोग पर ही* ध्यान दिया गया। कोषों की माँग सचय की प्रवृत्ति से भी प्रभावित होती है विक्सेल ने इस तथ्य की उपेक्षा की है। (ii) साख की मात्रा के परिवर्तन को ब्याज दर प्रभावित नहीं करती' विक्सेल की यह मान्यता सही नहीं है। वास्तव में बैंक साख मात्रा *ब्याज दर से भी प्रभावित होती है।*

इन दोषों को दूर करने के लिए विक्सेल के उधार देय कोष सिद्धान्त में बाद में सशोधन किये गये। (हम यहा पर उन सशोधनों का उल्लेख नहीं करेंगे उपयुक्त *विवरण स्नातक कक्षाओं के लिए पर्याप्त है।)*

(3) *सिद्धांत की समीक्षा उधार देय कोष सिद्धान्त ब्याज के प्रतिष्ठित* सिद्धान्त से श्रेष्ठ है क्योंकि प्रतिष्ठित सिद्धान्त में अप-सग्रह तथा साख मुद्रा की उपेक्षा की गई थी जिन पर इस सिद्धान्त में पर्याप्त ध्यान दिया गया है। यह सिद्धात वास्तविक परिस्थितियों पर पूर्ण रूप से ध्यान देता है। अत कुछ अर्थशास्त्री इस सिद्धान्त को तरलता अधिमान सिद्धान्त से भी अधिक उपयुक्त मानते हैं।

4 तरलता अधिमान सिद्धान्त
(The Liquidity Preference Theory)

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन कीन्स ने किया। उनके अनुसार ब्याज दर का निर्धारण मुद्रा की मात्रा' तथा तरलता अधिमान द्वारा किया जाता है। इस सिद्धान्त का अध्ययन निम्नलिखित तीन शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है—(1) ब्याज की प्रकृति, (2) ब्याज की आवश्यकता तथा (3) ब्याज दर का निर्धारण।

1 ब्याज की प्रकृति (Nature of Interest)

(1) कीन्स के अनुसार विभिन्न वस्तु ब्याज दरें (Commodity Rates of Interest) पायी जाती हैं तथा मुद्रा ब्याज दर उनमें से एक है। जिस प्रकार हम मुद्रा ब्याज दर की बात करते है उसी प्रकार हम गेहूँ ब्याज दर मकान ब्याज दर' की बात कर सकते है। उदाहरण के लिए यदि आज 10 क्विंटल गेहू का विनिमय एक वर्ष के बाद 11 क्विंटल गेहू के बदले किया जा सकता है तो गेहूँ ब्याज दर 10 प्रतिशत होगी। विभिन्न वस्तु ब्याज दरों को उन्होने Own rate कहा है। (2) वस्तु ब्याज दरो मे पर्याप्त विभिन्नता पायी जाती है। इन विभिन्नताओं के कारण कीन्स के अनुसार तीन हैं जो विभिन्न सम्पत्तियो म विभिन्न मात्राओं म पाए जाते हैं—(i) उत्पाद (Yield or Output) (ii) परिवहन सम्बन्धी व्यय (Carrying Cost) तथा (iii) तरलता प्रीमियम (Liquidity Premium)। इन तीनो को क्रमश q c तथा l द्वारा प्रकट किया जा सकता है। किसी वस्तु के स्वामित्व के बदले एक निश्चित समय म पुरस्कार की कुल मात्रा q—c+l होगी अर्थात् किसी वस्तु का Own rate of Interest q—c+l होगा।

मुद्रा के अतिरिक्त अन्य सम्पत्तियों से कुछ पैदा किया जाता है परन्तु उनमे दोष यह है कि परिवहन सम्बन्धी व्यय वहन करना पडता है। साथ ही साथ उनकी तरलता प्रीमियम भी कम होता है। मुद्रा म तरलता प्रीमियम सर्वाधिक होती है तथा इसे ले जाने म भी सामान्यत कोई व्यय नही करना पडता परन्तु इसका उत्पाद शून्य होता है। सम्पत्ति के स्वामियो (Wealth Owners) की मांग मकान गेहूँ मुद्रा या अन्य वस्तुओं म से किसके लिए होगी ? यह इस बात पर निर्भर है कि किस वस्तु का q—c+l अधिकतम है। सतुलन की स्थिति म मकान गेहू आदि का मांग मूल्य मुद्रा के सन्दर्भ म ऐसा होगा कि विकल्पो के बीच चुनाव करने म कोई लाभ नही होगा। उन सम्पत्तियो का अधिक उत्पादन किया जाएगा जिनका मांग मूल्य पूर्ति मूल्य म अधिक है। उनके उत्पादन म वृद्धि के कारण Own rate of Interes नीचे गिरेंगे परन्तु यदि मुद्रा की मांग बढ जाती है तो अधिक मुद्रा का निर्माण नही किया जा सकता है। मुद्रा की उत्पादन तथा प्रतिस्थापन-लोच शून्य होती है। (Money has zero elasticity of production and substitution) अत मुद्रा ब्याज दर own rates की अपेक्षा कम नीचे गिरती है तथा सामान्यतया यह सभी Own rates से अधिक होती है।

2 ब्याज की आवश्यकता (Necessity of Interest)

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो के अनुसार बचत की मात्रा ब्याज दर पर निर्भर करती है परन्तु कीन्स ने इस विचार का खण्डन किया तथा यह कहा कि बचत समाज की मौद्रिक आय (Money Income) तथा सीमान्त उपभोग क्षमता (Marginal

विनियोजन लाभप्रद विनियोगों में किया जा सके। भविष्य में बाजार में होने वाले परिवर्तनों से लाभ उठाने के लिए मुद्रा अपने पास नकद रखी जाती है।[1]

उपर्युक्त में से प्रथम व द्वितीय पर ब्याज दर का प्रभाव नहीं पड़ता है परन्तु तृतीय पर ब्याज का पूरा प्रभाव पड़ता है।

3 ब्याज दर का निर्धारण (Determination of the Rate of Interest)

कीन्स के अनुसार ब्याज दर का निर्धारण मुद्रा की मात्रा (Quantity of money) तथा तरलता अधिमान (Liquidity Preference) द्वारा किया जाता है। कीन्स के तरलता अधिमान सिद्धान्त को आगे दी गई सारणी द्वारा व्यक्त किया जा सकता है
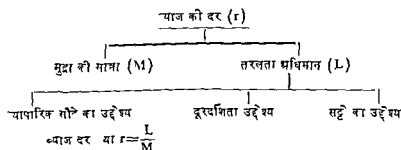
ब्याज दर का निर्धारण तरलता अधिमान तथा मुद्रा की पूर्ति (मात्रा) द्वारा होता है। सन्तुलन की स्थिति में ब्याज दर मुद्रा की मात्रा तथा व्यक्तियों के तरलता अधिमान के साम्य के बराबर होगी।

तरलता अधिमान एक फलन प्रवृत्ति (functional tendency) है जो एक दी हुई ब्याज दर पर जनता द्वारा की जाने वाली मुद्रा की समग्र मात्रा को निर्धारित करती है। यदि ब्याज दर r मुद्रा की मात्रा M तथा तरलता अधिमान L हैं तो M=L (r) होगा। यदि तरलता अधिमान पूर्ववत रहे तो मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने पर ब्याज दर घटेगी तथा मुद्रा की मात्रा में कमी होने पर ब्याज दर बढ़ेगी।

---

1 Speculative motive is a motive of earning profit by knowing better the market what the future will bring forth

—J M Keynes

2 In the equilibrium position the rate of interest will be just at the level necessary to equate the *quantity of money in existence* with the aggregate amount wanted by people to hold

—J M Keynes

ब्याज-दर तथा तरलता अधिमान में विपरीत सम्बन्ध होता है। ऊँची ब्याज-दर पर तरलता अधिमान घटता है तथा कम ब्याज-दर पर तरलता अधिमान बढ़ता है। तरलता अधिमान का यह परिवर्तन सट्टे के उद्देश्य से प्रभावित होता है। **मुद्रा की माग उपरोक्त तीनों उद्देश्यों पर निर्भर है।**

मुद्रा की पूर्ति मुद्रा की कुल पूर्ति मुद्रा तथा बैंक मुद्रा द्वारा निश्चित होती है। मुद्रा की कुल पूर्ति ब्याज दर से प्रभावित नहीं होती है।

रेखा चित्र द्वारा स्पष्टीकरण विभिन्न ब्याज-दरों पर यदि तरलता अधिमान वक्र बनाया जाए तो वह सामान्य माग-वक्र की भाँति होगा जो विभिन्न ब्याज-दरों पर मुद्रा की माग को प्रदर्शित करेगा। चित्र स० 168 (A) में OX अक्ष पर मुद्रा की मात्रा तथा OY अक्ष पर ब्याज-दर प्रदर्शित की गई हैं। L वक्र विभिन्न ब्याज-दरों पर मुद्रा की मांगी जाने वाली मात्राओं को प्रकट करता है। OI ब्याज दर पर मुद्रा की पूर्ति OQ है। (यहा पर हम यह मान लेते हैं कि ब्याज-दर में परिवर्तनों पर ध्यान रक्खे बिना केन्द्रीय बैंक तथा सरकार द्वारा मुद्रा की मात्रा (पूर्ति) स्थिर रखती है) L वक्र यह प्रकट करता है कि यदि ब्याज की दर ऊँची है तो लोग अपने पास कम मुद्रा रखेंगे। यदि तरलता अधिमान में परिवर्तन होता है अर्थात् लोग प्रत्येक ब्याज-दर पर अधिक मुद्रा रखना चाहते हैं तो तरलता अधिमान वक्र
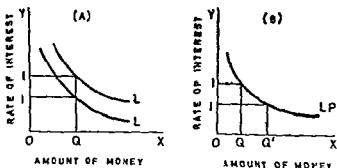
चित्र स० 168

दाहिनी तरफ ऊपर खिसकेगा। L वक्र नया तरलता अधिमान वक्र होगा। यदि मुद्रा की पूर्ति पूर्ववत (OQ) है तो तरलता अधिमान में वृद्धि होने पर ब्याज दर बढ़ेगी। नई ब्याज-दर OI हो जाएगी।

उपर्युक्त स्थिति एक काल्पनिक स्थिति है। वस्तुतः मुद्रा की मात्रा में भी परिवर्तन होते रहते हैं। इस स्थिति को चित्र स० 168 (B) द्वारा प्रदर्शित किया गया है। हम मान लेते हैं कि समाज का तरलता अधिमान दिया हुआ है जो LP वक्र

द्वारा प्रदर्शित किया गया है। OQ मुद्रा की मात्रा है तथा ब्याज-दर OI है। यदि केन्द्रीय बैंक द्वारा मुद्रा का परिमाण बढ़ाकर OQ कर दिया जाता है तो ब्याज-दर घटकर OI हो जाएगी।

चित्र म० 169
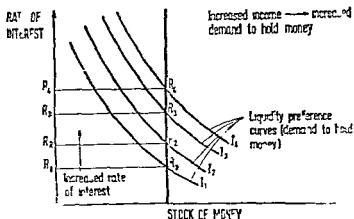
दूसरे चित्र सं० 169 द्वारा भी तरलता अधिमान सिद्धान्त को समझा जा सकता है। यह सिद्धान्त यह बतलाता है कि ब्याज दर वह दर है जो मुद्रा को रोक रखने की माँग (Demand to hold money) तथा मुद्रा के स्टॉक (Stock of money) का सन्तुलन (Equates) करता है। चित्र संख्या 169 उस R_1 में ब्याज की दर का प्रकट करता है जो मुद्रा को रोक रखने की माँग I_1 पर होगा। मुद्रा को रोक रखने की माँग आय पर निर्भर करती है। अधिक आय पर लोग अधिक मुद्रा को रोक रखना चाहते हैं। इस तथ्य को उपर्युक्त चित्र द्वारा स्पष्ट किया गया है।

चित्र में I_4 ऊँची आय पर माँग वक्र है (I_3 की तुलना में) इसी प्रकार I_3 I_2 की अपेक्षा ऊँची आय के लिए माँग वक्र है। चित्र में स्पष्ट है कि आय बढ़ने पर ब्याज दर ऊँची उठती है। I_4 आय पर ब्याज दर RI_4 तथा I_1 आय पर ब्याज दर R_1 है।

सिद्धान्त की विशेषताएं (1) कीन्स का ब्याज सिद्धान्त एक प्रावैगिक सिद्धान्त (Dynamic Theory) है। यह स्मरणीय है कि केवल ब्याज-दर ही लोगों की नकद की इच्छा की पूर्ति के लिए पास रखी जाने वाली मुद्रा की मात्रा को निश्चित नहीं करती। कीन्स ने इस बात पर जोर दिया है कि भविष्य में ब्याज-दर में होने वाले परिवर्तनों की अनिश्चितता का ही महत्त्व है। भविष्य में ब्याज दर में वृद्धि की आशा लोगों को अपने पास अधिक मुद्रा रखने के लिए प्रेरित करती है।

इस प्रकार भविष्य की अनिश्चितता ब्याज के सिद्धान्त का मूल तत्त्व है जो प्रावैगिक दशा का प्रतीक है।

(2) कीन्स के अनुसार ब्याज दर पूर्णतः मौद्रिक स्थिति (Monetary Phenomenon) से सम्बन्धित है अतः ब्याज दर पर मौद्रिक व्यवस्था द्वारा नियन्त्रण रखा जा सकता है।

सिद्धान्त की आलोचना

1 मुद्रा का अर्थ अस्पष्ट कीन्स ने मुद्रा का अर्थ स्पष्ट नहीं किया है। उनके अनुसार साख मुद्रा भी मुद्रा में सम्मिलित की जानी चाहिए। परन्तु रॉबर्टसन के साथ हुए विवाद में उल्लेख किया कि साख को मुद्रा के अन्तर्गत सम्मिलित नहीं किया जा सकता है।

2 सीमान्त उत्पादकता की उपेक्षा इस सिद्धान्त में पूँजी की सीमान्त उत्पादकता को अनावश्यक माना गया है। कीन्स के अनुसार नए विनियोगों के सम्बन्ध में निर्णय साहसी की मनोवैज्ञानिक स्थिति तथा ब्याज की दर द्वारा किया जाता है परन्तु कीन्स इस तथ्य को भूल गए कि पूँजी की उत्पादकता भी साहसी के निर्णय को बहुत प्रभावित करता है।

3 एकांगी सिद्धान्त इस सिद्धान्त का केन्द्र बिन्दु तरलता अधिमान है परन्तु ब्याज के निर्धारण में पूँजी की माँग पूर्ति समय अधिमान तथा सीमान्त उत्पादकता का भी हाथ रहता है। कीन्स ने इन तत्त्वों की उपेक्षा की है।

4 सीमित क्षेत्र इस सिद्धान्त का क्षेत्र सीमित है। ऐसा समाज जिसमें नकद लेन देन नहीं होता है ब्याज दर का निर्धारण किस प्रकार होगा इस सम्बन्ध में यह सिद्धान्त मौन है।

इस सिद्धान्त द्वारा दीर्घकालीन ब्याज दर पर प्रकाश नहीं पड़ता है।

इन आलोचनाओं के होते हुए भी कीन्स का सिद्धान्त अधिक तर्कपूर्ण एवं युक्तिसंगत है।

5 ब्याज दर निर्धारण का आधुनिक सिद्धान्त

(Ths Modern Theory of the Determination of Rate of Interest)

ब्याज के 'उधार देय कोष सिद्धान्त' तथा 'तरलता अधिमान सिद्धान्त'—दोनों द्वारा ब्याज दर के निर्धारण का पूर्ण स्पष्टीकरण नहीं होता है। इन दोनों सिद्धान्तों में आय के प्रभाव की उपेक्षा की गई है। ब्याज का कोई भी ऐसा सिद्धान्त स्वीकार नहीं किया जा सकता है जिसमें आय की उपेक्षा की गई हो। ब्याज का आधुनिक सिद्धान्त आय पक्ष पर भी ध्यान देता है तथा यह सिद्धान्त एक प्रकार से उधार देय कोष सिद्धान्त तथा तरलता अधिमान सिद्धान्त का समन्वय है। अब हम आधुनिक सिद्धान्त की व्याख्या करेंगे।

चित्र संख्या 171 म IS और LM प्रारम्भिक अवस्था के सूचक हैं।

ब्याज दर R_E और आय I_E होगी। निम्नलिखित सम्भावनाओं पर विचार कीजिए—(क) पूंजी की सीमान्त कार्यक्षमता (Marginal Efficiency of Capital) म वृद्धि या बचत की मात्रा म कमी के कारण IS वक्र खिसककर I_1S_1 हो जाएगा तथा ब्याज-दर बढ़कर R_3 और आय बढ़कर I_4 हो जाएगी (ख) IS अपरिवर्तित रहता है परन्तु मुद्रा का स्टाक घट जाता है या तरलता अधिमान (Liquidity Preference) बढ़ जाता है (मुद्रा को रोके रखने की माँग बढ़ जाती है)। LM वक्र ऊपर हटकर L_2M_2 हो जाता है। ब्याज दर बढ़कर R_3 हो जाता है परन्तु आय घटकर I_1 रह जाती है। (ग) दोनो वक्र बदल जाते हैं-LM हटकर L_1M_1 तथा IS हटकर I_1S_1 हो जाती है तो ब्याज-दर बढ़कर R_4 और आय I_3 हो जाती है।

इस प्रकार आधुनिक सिद्धान्त आय पर भी विचार करता है तथा इसम उधार देय कोष तथा तरलता अधिमान सिद्धान्तो की मुख्य विशेषताएं भी सम्मिलित हैं।

ब्याज का औचित्य
(Justification of Interest)

ब्याज का औचित्य क्या है ? अर्थात् ब्याज क्या दिया जाता है ? प्रचीन समय म ब्याज को प्राय अच्छी निगाह से नहीं देखा जाता था। मध्यकालीन धर्म शास्त्रियो ने ब्याज लेने की क्रिया को ब्याज खोरी (usury) की संज्ञा देकर बुराई की। परन्तु आधुनिक युग म ब्याज का भुगतान बुरा नहीं समझा जाता है। पूंजी उत्पादन का एक महत्त्वपूर्ण साधन है और वह उत्पादन मे सहायक है अर्थात् पूंजी म उत्पादकता है और साधन के रूप म पूंजी को उसकी उत्पादकता का पुरस्कार या कीमत मिलनी चाहिए। इसके अतिरिक्त पूंजी के स्वामी के लिए ब्याज आय के समान भी है। दूसरे शब्दों म किसी भी अन्य उत्पत्ति के साधन की आय की भाँति ब्याज एक कीमत तथा आय का एक स्रोत (source) दोनो हैं।

इस प्रकार ब्याज का (अ) पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था मे तथा (ब) समाजवादी अर्थव्यवस्था म विवेचन करेंगे।

(अ) पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत ब्याज (Interest under Capitalist Economy)—इसम ब्याज दो रूपो म होती है

1 ब्याज कीमत के रूप में (Interest as a Price) और

2 ब्याज आय के रूप मे (Interest as a Source of Income)।

1 ब्याज कीमत के रूप में (Interest as a Price) कीमत के रूप म ब्याज अनेक महत्त्वपूर्ण सामाजिक कार्यों का सम्पादन करता है जिनके कारण ब्याज

का भुगतान होता है या ब्याज को उचित बताया जाता है। ये सामाजिक कार्य मुख्यत निम्न हैं

(i) ब्याज बचत करने के लिए आवश्यक है।

(ii) ब्याज पूँजीगत वस्तुओं की माग को उचित सीमाओं तक नियन्त्रित करता है।

(iii) ब्याज का राशनिंग या वितरण कार्य आदि।

ब्याज आय के रूप मे (Interest as a Source of Income) आय के रूप ब्याज का उचित ठहराना आसान नही है। समाज म आय व्यक्तियों का एक वग ऐसा होता है जो कोई उपयोगी काय करके आय प्राप्त नही करता बल्कि ब्याज की आय खाता है।

(द) समाजवादी अर्थ व्यवस्था के अन्तर्गत ब्याज (Interest under Socialism) मार्क्स के अनुसार केवल श्रम ही उत्पादक होता है। उन्होने पूंजी की उत्पादकता को मान्यता नही दी और इसलिए समाज के औचित्य को भी मान्यता नही दी। परन्तु यह विचारधारा उचित नहीं है। समाजवादी देशो म यद्यपि ब्याज शब्द का प्रयोग नहीं होता है परन्तु ब्याज का विचार चोर दरवाज (Back door) से प्रवेश करता है। समाजवाद म भी अप्रत्यक्ष रूप से ब्याज विभिन्न उद्योगों म पूँजी के राशनिंग या वितरण का काय करता है।

प्रश्न व सकेत

1 ब्याज का क्या अर्थ है ? ब्याज किस प्रकार निर्धारित होता है ?

What is Inte est ? How is interest determined ?

[सकेत— ब्याज का आर्थिक आशय स्पष्ट करिए। ब्याज निर्धारण के प्रमुख सिद्धान्तों के नाम लिखिए। अन्त म कीन्स के सिद्धान्त का समभाइय व उसकी आलोचना कीजिए। साथ ही आधुनिक विचार भी सक्षेप म लिखिए।]

2 ब्याज के तरलता पसन्दगी सिद्धान्त का समभाइय।

Explain the Liquidity Preference Theory of Interest

[सकेत—कीन्स द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धान्त को समभाइये। उत्तर म सर्व प्रथम तरलता पसन्दगी का आशय व सिद्धान्त का सार लिखिए एव अन्त म उसकी विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।]

3 ब्याज के उधार देय कोष सिद्धान्त की पूर्ण व्याख्या कीजिए।

Explain fully the Loanable Fund Theory of Interest

4 ब्याज की दर मुद्रा का मूल्य है और वह मुद्रा की पूर्ति तथा माग द्वारा निर्धारित होती है। इस कथन की विवेचना कीजिए।

The rate of interest is price of money and is determined by the supply of money and the demand for it Discuss

(अथवा)

कीन्स के ब्याज सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

Discuss criticaly the Keynesian Theory of Interest

5 शुद्ध ब्याज एवं कुल ब्याज में क्या अन्तर है? शुद्ध ब्याज कैसे निर्धारित होता है?

What is the difference between gross interest and net interest? How is the net interest determined?

[संकेत—प्रथम भाग में शुद्ध ब्याज एवं कुल ब्याज में भेद कीजिए तथा द्वितीय भाग में उधार देय कोषों सिद्धान्त या आधुनिक सिद्धान्त के आधार पर ब्याज के निर्धारण को स्पष्ट करें।

6 ब्याज के आधुनिक सिद्धान्त को समझाइये।

Discuss the Modern Theory of Interest

[संकेत—ब्याज के हिक्स एवं हैन्सन द्वारा बतलाये गये आधुनिक सिद्धान्त की IS वक्र तथा LM वक्र द्वारा व्याख्या करें।]

7 ब्याज के प्रतिष्ठित सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।

Discuss the Classical Theory of Interest

8 क्या ब्याज दर शून्य हो सकती है?

Can the rate of Interest be zero?

44

लाभ की प्रकृति

(The Nature of Profit)

Profits are the report card of the past the incentive gold star for the future and also the grubstake for your new venture

—*Sameulson*

लाभ का अर्थ (Meaning of Profit)

उत्पादन के साधन के रूप में उद्यमी या साहसी के काय के लिए प्राप्त पुरस्कार को लाभ कहते हैं। परन्तु उद्यमी द्वारा उत्पादन व्यवस्था के संयोजन (Co ordination) तथा जोखिम उठाने (Risk taking) के उत्तरदायित्व की पूर्ति किए जाने के कारण यह समस्या स्वभावतः सामने आती है कि उद्यमी के उपयुक्त दोनों कार्यों में से किस काय के लिए दिए गए परितोषिक को लाभ कहा जाए ? इन दोनों कार्यों में भेद करने का प्रयत्न किया गया है। प्रो० जे० के० मेहता ने इस सम्बन्ध में कहा है कि वास्तविक रूप से शुद्ध लाभ (Net Profit) उद्यमी या साहसी को केवल जोखिम उठाने या अनिश्चितता के कारण ही प्राप्त होता है। उनके अनुसार गत्यात्मक संसार की उत्पादन प्रक्रियाओं में अनिश्चितता का यह तत्त्व त्याग के एक चतुर्थ वर्ग को जन्म देता है। इस वर्ग में जोखिम उठाने तथा अनिश्चितता सहन करने के दो तत्त्व हैं इनको लाभ द्वारा पुरस्कृत किया जाता है। विलियम फलनर (William Fellner) ने भी यह कहा है कि साहस का काय ही ऐसा काय है जिसके लिए लाभ अर्जित किया जाता है। The entre preneurial function is the function for which profit is earned अतः यह स्पष्ट है कि अनिश्चितता के कारण जोखिम का जो भार साहसी (Entre preneur) द्वारा उठाया जाता है उसके बदले में प्राप्त प्रतिफल लाभ कहलाता है। प्रो० हेनरी ग्रेसन (Henry Grayson) लाभ को इस प्रकार परिभाषित करते हैं

(1) नव प्रवतन के लिए पुरस्कार।

(ii) जोखिमों तथा अनिश्चितताओं को स्वीकार करने का पुरस्कार।

(iii) बाजार ढाँचे में अपूर्णताओं का परिणाम।

यह स्पष्ट है कि कोई भी एक दशा या तीनों दशाओं का कोई भी मिश्रण आर्थिक लाभ को उत्पन्न कर सकता है।

2 लाभ की धारणा (The Concept of Profit)

लाभ का उपयुक्त अर्थ केवल लाभ प्राप्त करने वाले अधिकारी की ओर संकेत करता है। इससे यह ज्ञात नहीं होता है कि एक उपक्रमी की कुल प्राप्तियों (Total Receipts) में से किस अंश को लाभ कहा जा सकता है। इस सम्बन्ध में टाजिग (Taussig) का यह वाक्य उल्लेखनीय है "लाभ एक मिश्रित तथा विवादास्पद (तंग करने वाली) आय है।" टाजिग के इस वाक्य से यह ज्ञात होता है कि 'शुद्ध आर्थिक लाभ' की धारणा के सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों में मतभेद रहा है। टूरगो (Turgot) का पूँजीपति-साहसी (Capitalist Enterpreneur) स्वामी प्रबन्धक साहसी तीनों ही स्वयं होता था अतः वह ब्याज, मजदूरी तथा जोखिम उठाने के प्रतिफल की तीनों राशियों का स्वयं अधिकारी होता था। परन्तु 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और विशेषकर वर्तमान शताब्दी (20वीं) के पूर्वार्द्ध में जे० बी० से की यह धारणा अधिक विकसित हुयी कि उपक्रम का स्वामित्व तथा साहसोद्यम (entepreneurship) का अस्तित्व उसके प्रबन्धन से सर्वथा अलग है। अतः साहसोद्यम की प्राप्त आय लाभ की धारणा भी एक भिन्न धारणा मानी जाती है। यही कारण है कि कुछ अर्थशास्त्री जिनमें नाइट (Knight) तथा शुम्पीटर (Schumpeter) के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं आर्थिक लाभ उस आय को मानते हैं जो साहसोद्यम को जोखिम उठाने, अनिश्चितता सहन करने तथा नवप्रवर्तन (Innovation) के लिए प्राप्त होती है परन्तु मार्शल, रॉबर्टसन तथा कुछ अग्रज अर्थशास्त्री इस विचार को संकुचित मानते हैं। उनके विचार से साहसोद्यमी कुल प्राप्तियों में से समस्त व्ययों को घटाने के पश्चात् शेष का अधिकारी होता है। *यह अवशेष लागत अथवा व्यय के ऊपर प्राप्त प्रतिफल का आधिक्य ही वास्तव में उसका लाभ होता है* (Profit is excess of return over outlay or expenditure)। रॉबर्टसन ने लाभ के इस विस्तृत अर्थ के महत्त्व को इन शब्दों में व्यक्त किया है "इस शब्द को विस्तृत अर्थ में प्रयुक्त करना अत्यन्त सुविधाजनक प्रतीत होता है, क्योंकि उससे ही सम्मिश्रित साधन 'साहस' की सम्मिश्रित आय का अर्थ स्पष्ट होता है।"[1] उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि लाभ की धारणा में अवशेष तत्त्व

---

1 It seems most convenient to use the word in a comprehensive sense to denote the composite income of the composite factor Enterprise

—*Robertson*

विद्यमान है । विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक लाभ के रूप में इस अवशेष को अलग अलग परिभाषित किया है । लेफ्टविच (Leftwich) के अनुसार 'आर्थिक लाभ फर्म द्वारा व्यय की गयी समस्त उत्पादन लागत के ऊपर कुल प्राप्तियों का शुद्ध अवशेष या आधिक्य है ।'[1] आर्थिक लाभ की धारणा को अधिक स्पष्ट करने के लिए कुछ अर्थशास्त्रियों ने लेखाकार की लाभ सम्बन्धी धारणा (Accountant s Concept of Profit) तथा आर्थिक लाभ की धारणा के अन्तर को इस प्रकार व्यक्त किया है

लेखाकार द्वारा निर्धारित किसी कम्पनी का शुद्ध लाभ या आय	=	उत्पादित वस्तु या वस्तुओं की बिक्री पर कुल प्राप्तियाँ —(उत्पादन लागतें तथा वे व्यय जो बॉंड पर ब्याज तथा सम्पत्तियों के ह्रास आदि के रूप में होते हैं)
आर्थिक लाभ	=	लेखाकार द्वारा निर्धारित शुद्ध लाभ या आय —(औसत लाभांश जो कम्पनी के अंश धारियों को दिया गया है)

उपर्युक्त सूत्रों से यह स्पष्ट है कि लेखाकार द्वारा निर्धारित लाभ वह सकल लाभ (Gross Profit) है जो श्रम तथा भूमि (कच्चे माल) के मूल्यों को घटाने के बाद बच (अवशेष) रहता है । यदि लेखाकार शुद्ध लाभ (Net Profit) ज्ञात करना चाहता है तो वह उस अवशेष में से पूंजी पर दिए गए ब्याज को भी घटा देगा । वस्तुतः लेखाकार का यह शुद्ध लाभ ही आर्थिक लाभ है क्योंकि कुल प्राप्तियों में से भूमि श्रम तथा पूंजी के मूल्यों का भुगतान करने के पश्चात यही अवशेष रहता है । फलनर के अनुसार शुद्ध लाभ ज्ञात करने के लिए हम एक उपक्रम के सकल लाभ से अनुबंधित लागतों (Contractual Costs) को घटा देना चाहिए उसके बाद उस शेष में से ह्रास तथा उपक्रमी की पूंजी पर अव्यक्त शुद्ध ब्याज (Imputed pure interest) तथा उपक्रमी द्वारा संचालन तथा प्रबन्ध सम्बन्धी श्रम सेवा के लिए अव्यक्त मजदूरी (*Imputed Wages*) को भी घटा देना चाहिए । इस प्रकार बचा हुआ अवशेष ही शुद्ध आर्थिक लाभ कहा जायगा ।

3 कुल एवं शुद्ध लाभ (Gro s and Net Profits)

वस्तुतः लोग ऐसा समझते हैं कि वस्तु की बिक्री मूल्य में से मजदूरी तथा कच्चे माल के मूल्य को घटाकर जो राशि शेष रहती है वही लाभ है (Profit is

---

1 Economic prof t is a pure su plus or excess of total re eipts over all costs of production incurred by the firm

—*Leftwich R H*

the margin by which selling price exceeds the buying price) किन्तु विचार करने पर ज्ञात होगा कि इस राशि में अन्य तत्त्व भी शामिल रहते हैं क्योंकि अर्थशास्त्र में लाभ अनिश्चितता के कारण उद्यमी को मिलने वाला पुरस्कार है। इसमें कुछ ऐसी राशियां सम्मिलित हैं जो उद्यमी अन्य साधनों से अलग करता है। अतः स्पष्ट है कि कुल लाभ में से कुछ अन्य तत्त्वों को अलग करना पड़ता है। जैसे पूंजी का क्षय (wear and tear of capital) होने के कारण उसी मात्रा में पूंजी बनाये रखने के लिए कुल प्राप्ति में से इसके लिए कुछ व्यवस्था करनी पड़ती है। कुल लाभ में से दूसरा महत्त्वपूर्ण अंश पूंजी पर दिये गये ब्याज की मात्रा है जिसे कुल प्राप्ति से अलग करना पड़ेगा। यह सम्भव है कि उद्यमी ने स्वयं अपनी पूंजी लगायी हो फिर भी उसकी कुल प्राप्ति का एक अंश वस्तुतः उसके द्वारा लगायी गयी पूंजी पर ब्याजस्वरूप होगी चाहे इसके लिए स्पष्टतः कोई राशि घटाया न जाता हो।

तीसरा सम्भव तत्त्व प्रबन्ध में किया गया श्रम है। सार्वजनिक संयुक्त पूंजी वाली कम्पनियों में साधारणतया प्रबन्धक को वेतन मिलता है जिसे मजदूरी के समान ही लागत व्यय का एक अंश माना जाता है। यदि उद्यमी स्वयं प्रबन्धक का कार्य भी करता है तो सम्भव है कि उसे इसके लिये अलग से कोई राशि न मिले किन्तु कुल प्राप्ति में से प्रबन्धक के लिए उसका अव्यक्त पारिश्रमिक निकाल देना उचित ही होगा। इसी प्रकार स्वयं उद्यमी द्वारा लगायी गयी भूमि के पुरस्कार (लागत) को कुल लाभ में से अलग करना पड़ता है।

अतः उस राशि को जो उत्पादन के मूल्य में से भूमि, श्रम, पूंजी तथा स्वयं उद्यमी द्वारा लगाये गये साधनों का पुरस्कार देने के पश्चात् शेष बच रहता है शुद्ध लाभ कहते हैं। इसमें से पूंजी के क्षय के लिये भी एक निश्चित मात्रा अलग करनी पड़ेगी। अतः स्पष्ट है कि इसके पश्चात् उद्यमी को जो शेष राशि प्राप्त होती है उसे ही लाभ कहेंगे।

4 लाभ के प्रकार (Kinds of Profits)

(1) प्रतिस्पर्धात्मक लाभ (Competative Profits) प्रतिस्पर्द्धात्मक अर्थव्यवस्था में लाभ की प्रवृत्ति समान होने की रहती है। यदि किसी एक उद्योग में लाभ की दर कम तथा दूसरे उद्योग में अधिक है तो कम लाभ वाले उद्योग से पूंजी और उद्यम निकल कर अधिक लाभ वाले उद्योग में चले जायेंगे। परिणामस्वरूप जिन उद्योगों में लाभ कम है वहां उत्पादन में वृद्धि होगी। इस प्रक्रिया के कारण लाभ की दर भी प्रभावित होगी। कम लाभ वाले उद्योग में लाभ बढ़ेगा तथा अधिक लाभ वाले उद्योगों में लाभ घटेगा। यह क्रम तब तक चलता रहेगा जब तक कि विभिन्न उद्योगों में लाभ समान नहीं हो जाता। लाभ के समान होने के लिये

हम इस मान्यता को स्वीकार करना पड़ेगा कि विभिन्न उद्योगों में जोखिम की मात्रा समान है। पुन लाभ की प्रवृत्ति न्यूनतम होने की रहती है। यदि सभी उद्योगों में अधिक लाभ होता है तो नये उद्यमी तथा पूजी का प्रवेश होगा उत्पादन में वृद्धि होगी मूल्य में ह्रास होगा और लाभ अपने न्यूनतम स्तर पर चला जायेगा। अत प्रतिस्पर्द्धा के अन्तगत लाभ की प्रवृत्ति सवत्र एक समान होने की रहती है।

(ii) एकाधिकार लाभ (Monopoly Profit) एकाधिकार लाभ की प्राप्ति इस तथ्य में निहित है कि अपनी वस्तु की पूर्ति पर एकाधिकारी का नियन्त्रण होता है तथा वह वस्तु के मूल्य को उस बिन्दु तक भी नहीं गिरने देगा जहाँ मूल्य केवल उनके लागत मूल्य के बराबर हो।[1] चूंकि एकाधिकार में पूर्ति का नियन्त्रण सम्भव है अत एकाधिकारी सदव वस्तु की कीमत मूल्य के ऊपर रखता है तथा उसे अपनी एकाधिकार शक्ति के कारण असामान्य लाभ भी प्राप्त होता है।

एकाधिकारी का यह असामान्य (Supra normal) लाभ आर्थिक लगान के समान है। यह स्थानान्तरण व्यय के ऊपर बचत है। आर्थिक लगान किसी भी एस साधन को मिल सकता है जिसमें कुछ ऐसी विशेषता तथा गुण है कि उसकी पूर्ति बढ़ नहीं पाती। एकाधिकार में वस्तुत इस प्रकार का गुण मौजूद है कि वह वस्तु की पूर्ति को नियन्त्रित कर अधिक मूल्य प्राप्त कर सकता है। यदि एकाधिकारी की यह स्थिति स्थायी है तो उद्यमी का लाभ जो कि सामान्य स्तर से अधिक है शुद्ध आर्थिक लगान के समान है किन्तु एकाधिकार शक्ति यदि अस्थायी है तो अतिरिक्त राशि को अर्द्ध लगान (Quasi rent) कहना ज्यादा श्रेयस्कर होगा। अत व्यवहार में शुद्ध लाभ को एकाधिकारिक लाभ के समान ही समझा जाता है।

(iii) अप्रत्याशित लाभ (Windfall Profits) अप्रत्याशित लाभ शब्द का प्रयोग कीन्स (Keynes) ने अपनी पुस्तक A Treatise on Money Vol I में किया था किन्तु यहाँ हमारा विश्लेषण उनके विश्लेषण से बिल्कुल भिन्न होगा। अप्रत्याशित लाभ एक ऐसा लाभ है जो पूर्णत प्रतिस्पर्द्धात्मक उद्योगों को समय समय पर प्राप्त होता है। सामान्य रूप में हम इस अप्रत्याशित लाभ इस कारण कहते हैं कि इस लाभ की प्राप्ति किसी उद्योग के विभिन्न फर्मों को बिना किसी प्रत्याशा (expectation) के होती रहती है। साथ ही इस लाभ की प्राप्ति के पीछे जो शक्तियाँ काय करती हैं वे फम के नियन्त्रण में बिल्कुल नहीं रहती।

अप्रत्याशित लाभ का एक सामान्य स्रोत मूल्य में वृद्धि है। ऐसी मूल्य वृद्धि मुद्रा-स्फीति के फलस्वरूप होती है। जब मुद्रा स्फीति के कारण मूल्य वृद्धि होती है तो

---

1 "Moropoly prof ts arise through the ability to control output so that price will not fall to a point where it is only equal to cost

—*Meyers*

उत्पादक या व्यापारी को अपने पहले से संग्रह किये हुए स्टाक पर विशेष लाभ प्राप्त होता है, क्योंकि इस स्टाक में रखी गयी वस्तु का उत्पादन मुद्रा स्फीति के पूर्व कम व्यय पर ही किया गया था।

यह ध्यान रखना चाहिये कि जहां एक या दो फर्में अपनी वस्तु के मूल्य में वृद्धि की आशा कर सकती हैं वहां ऐसे अप्रत्याशित लाभ की आशा सामान्यतः सम्पूर्ण उद्योग नहीं कर सकता। यदि मूल्य की वृद्धि की पूर्ण सीमा सभी फर्मों को ज्ञात हो जाय तो उनका प्रयत्न भी पहले से ही स्टाक जमा कराने का होगा जिनकी बिक्री बढ़े हुये मूल्यों पर हो सकेगी किन्तु उनके इस प्रयत्न के क्रम में श्रम तथा कच्चे माल के मूल्य में वृद्धि होगी और अन्ततः वे फर्में ऐसी स्थिति को पहुंच जायेंगी जहां उन्हें कोई लाभ प्राप्त न होगा।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या इस प्रकार के अप्रत्याशित लाभ को लाभ माना जाये अथवा नहीं? यदि हम लाभ को दीर्घकाल में उत्पादन व्यय के ऊपर औसत आय मानें तो यदि सभी नहीं तो अधिकांश में इस प्रकार के लाभ लुप्त हो जायेंगे। दीर्घकाल के अन्तर्गत मूल्य में ह्रास के कारण अप्रत्याशित हानि को लाभ की मात्रा में से घटाना पड़ेगा। चूंकि लाभ और हानि दोनों ही अप्रत्याशित हैं अतः यह विश्वास करने का कोई कारण नहीं है कि उनमें से कोई भी एक दूसरे से अधिक होगा।

(iv) सामान्य लाभ (Normal Profits) सामान्य लाभ का विचार मार्शल की देन है। प्रतिनिधि फर्म (Represent tive Firm) के पुरस्कार के लाभ को सामान्य लाभ कहते हैं। यह लाभ दीर्घकाल में उस उद्योग में जहां 'उत्पादन वृद्धि नियम' लागू हो रहा है पूर्ति मूल्य में शामिल रहता है। वह फर्म जो सामान्य लाभ अर्जन करती है अनुकूलतम फर्म है। इस प्रकार के फर्म में किसी भी प्रकार का परिवर्तन—उन्नति या अवनति—नहीं आती। चूंकि सामान्य लाभ अनुकूलतम फर्म की उत्पादन लागत में शामिल रहता है इसलिए इसे हम अनुकूलतम फर्म की आय भी कह सकते हैं।

श्रीमती जोन राबिन्सन (Mrs Joan Robin on) के अनुसार सामान्य लाभ को लाभ का ऐसा स्तर नहीं माना गया है जहां नयी फर्म न तो प्रवेश करना चाहती है और न पुरानी फर्में बाहर जाती हैं। असामान्य रूप से अधिक लाभ का तात्पर्य यह है कि नई फर्में प्रवेश कर और वस्तु का उत्पादन बढ़ाव। ठीक इसके विपरीत बहुत ही कम लाभ के कारण फर्में बाहर चली जायेंगी। अतः सामान्य लाभ का वर्णन विशेष उद्योग के सम्बन्ध में ही करना उचित होगा। किसी भी उद्योग में प्रवेश करने की कठिनाई उसके लाभ के स्तर पर निर्भर करती है।

या जा सकती है। परन्तु किसी एक फर्म के सदर्भ में उपक्रमी की सीमात आय उत्पादकता ज्ञात नहीं की जा सकती है। क्योंकि फर्म में एक ही उपक्रमी होता है अत उसकी संख्या घटाने या बढाने का प्रश्न ही नहीं उठता। हाँ उद्योग के सन्दर्भ में उपक्रमियों की उत्पादकता या सीमात आय उत्पादकता उनकी संख्या एक से घटा कर या बढ़ाकर ज्ञात की जा सकती है। इसका स्पष्टीकरण एक रेखा चित्र द्वारा किया जा सकता है।

मान लीजिए एक उद्योग में सभी उपक्रमी एक रूप (Homogeneous) हैं तथा उपक्रम (enterp eneurship) को एक रूप भौतिक मात्राओं (homogeneous physical units) द्वारा नापा जा सकता है। जैसा कि चित्र संख्या 172 में OX अक्ष पर व्यक्त किया गया है। चित्र में MRP वक्र एक उद्योग में उपक्रमी की सीमात आय उत्पादकता को प्रकट करता है। यह सामान्य माग वक्र की भाति है जो यह प्रकट करता है कि उपक्रमियों की संख्या में वृद्धि करने से उनकी आय (लाभ) घटेगी। SS उनका पूर्ति वक्र है। हम यह मानकर चलते हैं कि सभी उपक्रमी समान रूप से कुशल हैं अत सभी का लाभ बराबर होगा। इस लाभ की मात्रा OS है जो उपक्रमियों की अवसर लागत (opportunity cost) को प्रकट करती है। यदि लाभ OS से कम है तो उपक्रमी उद्योग छोड देगा। अत OS उपक्रमियों का पूर्ति मूल्य है। चूकि सभी उपक्रमी समान रूप से कुशल हैं अत उनका पूर्ति मूल्य भी समान है। यही कारण है कि उपक्रम का पूर्ति वक्र एक सीधी क्षतिज रेखा के रूप में
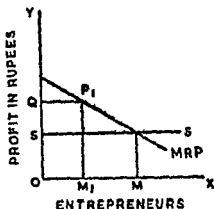
चित्र संख्या 172

है। MRP वक्र तथा SS वक्र एक दूसरे को काटते हैं। OS उद्योग के औसत लाभ को प्रकट करता है। लाभ की यह मात्रा पूर्ण स्पर्धा की स्थिति में दीर्घकाल में पाई जाएगी। OS लाभ पर उपक्रमियों की माग व पूर्ति बराबर हैं। OS उपक्रमियो

की अवसर लागत को प्रकट करता है। अन्त उद्योग में सभी उपक्रमी 'सामान्य लाभ' अर्जित कर रहे हैं। यह स्थिति दीर्घकाल से सम्बन्धित है।

अल्पकाल में यह सम्भव है कि कुछ उपक्रमी असामान्य लाभ (Abnormal Profit) अर्जित कर सकते हैं। अल्पकाल में उपक्रमियों की संख्या OM_1 तथा लाभ OQ है। इस प्रकार SQ असामान्य लाभ है। असामान्य लाभ के कारण दीर्घकाल में नई फर्मों का प्रवेश होगा तथा अधि लाभ स्पर्धा के कारण समाप्त हो जाएगा अत दीर्घकाल में पूर्ण स्पर्धा की स्थिति में सभी फर्में सामान्य लाभ ही अर्जित करेंगी। दीर्घकाल में सभी फर्मों का लाभ सामान्य होने के कारण निम्नलिखित हैं (i) स्पर्धा के कारण फर्मों द्वारा उत्पादित वस्तु की कीमत औसत व सीमान्त लागत के बराबर होगी (ii) फर्मों द्वारा भूमि श्रम पूंजी आदि साधनों को उनकी औसत व सीमान्त उत्पादकता के बराबर पारिश्रमिक दिया जायगा। अत उपक्रमी इन दो कारणों से अधि लाभ नहीं अर्जित कर सकेगा।

अपूर्ण स्पर्धा के अन्तर्गत उपक्रमी असामान्य लाभ अर्जित कर सकते हैं (अल्पकाल तथा दीर्घकाल में)।

आलोचनाएं लाभ का यह सिद्धान्त मान्य नहीं है। इसका कारण यह है कि शुद्ध लाभ अवशिष्ट आय है। अत वह सीमान्त उत्पादकता के बराबर नहीं हो सकता। समस्त उत्पादन कार्य साहसी के अस्तित्व पर ही आधारित होता है। अन्य किसी साधन की तरह उसे हटाना सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त साहसियों की पूर्ति अत्यन्त अल्प होने के कारण उनकी उत्पादकता की सही माप भी सम्भव नहीं है। इस सिद्धान्त की निम्नलिखित आलोचनाएं की गयी हैं

(1) एक फर्म की स्थिति में एक ही साहसी होने पर उस फर्म से साहसी की सीमान्त आगम उत्पादकता (Marginal Revenue Productivity) की माप सम्भव नहीं है।

(2) एक उद्योग की स्थिति में यद्यपि एक अतिरिक्त साहसी की वृद्धि तो सम्भव है और सम्भवत गणितीय विधि के द्वारा उससे प्राप्त सीमान्त उत्पादन में वृद्धि का अनुमान भी सम्भव हो सके फिर भी इस वास्तविक तथ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि सभी साहसी समान योग्यता वाले नहीं होते। साहसियों की योग्यता में विभिन्नता होने के कारण अन्य साधनों की तरह इसमें प्रतिस्थापन का सिद्धान्त लागू नहीं होता। यही कारण है कि साहसी की सीमान्त उत्पादकता की माप नहीं की जा सकती।

(3) एकाधिकार की स्थिति में सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त के अनुसार लाभ की गणना करना कठिन होगा क्योंकि एकाधिकारिक व्यवस्था में साहस की क्षमता में भिन्नता स्थापित नहीं की जा सकती।

(4) सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त न तो अप्रत्याशित लाभ की व्याख्या करता है और न ही साहसी की आय के सम्बन्ध में कुशल साहसी के योग्यता के लगान (Rent of ability) के तत्त्व को सम्मिलित करता है।

वाकर का योग्यता-लगान-लाभ-सिद्धान्त
(Walker's Rent Theory of Profit)

लाभ का योग्यता लगान सिद्धान्त अमरिकी विचारक वाकर (Walker) तथा अन्य अमरिकी अर्थशास्त्रियों ने प्रतिपादित किया था। यह सिद्धान्त शुद्ध लाभ की धारणा पर आधारित है। वाकर के विचार में उद्यमी अपनी संस्था का नायक (Captain) होता है। उसमें उत्पादन के विभिन्न साधनों में समन्वय स्थापित करने की औसत क्षमता से अधिक क्षमता होती है। सामान्यतः उद्यमी की संगठन-कुशलता तथा योग्यता में अन्तर पाया जाता है। यही कारण है कि योग्यतानुसार साहसियों के भी अनेक वर्ग होते हैं। जो उद्यमी अधिक कुशल होता है वह प्रबन्ध के लिए पारिश्रमिक के अतिरिक्त कुछ आधिक्य (Surplus) का अधिकारी होता है। इस आधिक्य का कारण उसका श्रेष्ठ गुण है। अतः वाकर के अनुसार शुद्ध लाभ लगान (Rent) के समान ही वह विशेष पुरस्कार है जो केवल श्रेष्ठ उद्यमी को उसकी विशेष योग्यता के कारण प्राप्त होता है।[1] इसी कारण वाकर ने शुद्ध लाभ को योग्यता का लगान कहा है क्योंकि यह उद्यमी की श्रेष्ठ कुशलता का पुरस्कार है शोषण का फल नहीं है जैसा कि मार्क्स ने कहा है। इस प्रकार उद्यमी की सकल आय (Gross Income) में से स्वयं की पूँजी, भूमि तथा अपने श्रम के लिए क्रमशः ब्याज, लगान तथा मजदूरी घटाने के पश्चात् जो आधिक्य (Surplus) अवशेष रहता है उसे ही साहसी की योग्यता की शुद्ध आय कहते हैं।

शुद्ध लाभ को योग्यता के लगान के रूप में मानने का कारण यह भी है कि (वाकर ने यह माना है कि) भूमि की तरह उत्पादन क्षेत्र (बाजार) में साहसी की योग्यता की विभिन्न श्रेणियाँ होती हैं। कुछ साहसी ऐसे होते हैं जिनकी योग्यता इतनी अधिक नहीं होती कि उनकी उत्पादित वस्तुओं की बिक्री से स्वयं के साधनों के पारिश्रमिक सहित उत्पादन व्यय से अधिक आय हो सके। ऐसे साहसी सीमान्त साहसी कहलाते हैं। जो साहसी सीमान्त साहसी की तुलना में अपनी वस्तु को बाजार मूल्य से कम लागत पर उत्पादित करने में अधिक कुशल होता है उसको निःसन्देह अतिरिक्त लाभ प्राप्त होगा। ऐसे श्रेष्ठ साहसी का शुद्ध लाभ या योग्यता का लगान उसकी वस्तु के बाजार मूल्य तथा उसकी लागत के बराबर होगा। साहसी जितना ही अधिक कुशल एवं योग्य होगा उसके शुद्ध लाभ की मात्रा उतनी ही

---

1 "The extra gains which any producer or dealer obtains through superior talents for business or superior business arrangement are very much of a kind similar to rent

अधिक होगी । यह लाभ दीर्घकाल में नोबदार होगा । परन्तु इस प्रकार के लाभ की एक विशेषता यह है कि दीर्घकाल में विभिन्न साहसियों को अपने अवसरों तथा अपनी योग्यता को विकसित करने के पूर्ण अवसर उपलब्ध होते हैं । फलस्वरूप श्रेष्ठ साहसी की योग्यता का महत्त्व क्रमशः समाप्त हो जाता है । इससे शुद्ध लाभ या योग्यता का लगान कम होता जाता है और अन्ततः वह शून्य हो जाता है परन्तु अपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा में इसके विपरीत स्थिति होती है दीर्घ अवधि में श्रेष्ठ साहसी का शुद्ध लाभ अधिक होता है ।

आलोचनाएं व्यावहारिक रूप से वाकर के विचार की निम्न आलोचनाएं की जाती हैं

(1) लाभ योग्यता लगान नहीं है क्योंकि योग्यता लगान सिद्धान्त छद्मरूप में मजदूरी में विभिन्नता का सिद्धान्त है ।[1]

(2) इस सिद्धान्त की यह मान्यता है कि बिना लगान वाली भूमि की तरह लाभ मूल्य में प्रवेश नहीं करता किन्तु इस प्रकार का तर्क गलत है । उद्यमी का कुछ न कुछ पुरस्कार मूल्य में अवश्य प्रवेश करता है ।

(3) मार्शल के अनुसार भूमि के लगान के विपरीत लाभ को सच्चे अर्थ में आधिक्य नहीं कहा जा सकता । भूमि के सभी टुकडों को धनात्मक (Positive) या शून्य लगान मिलेगा ही । किसी भी टुकडे का लगान नकारात्मक (Negative) नहीं हो सकता परन्तु उद्यमी को लाभ न प्राप्त होना या हानि होना सम्भव है ।

(4) अत्यधिक लाभ सदैव श्रेष्ठ उद्यम के कारण ही नहीं मिलता । यह अप्रत्याशित लाभ एकाधिकार लाभ या शोषण के फलस्वरूप भी मिल सकता है । लाभ का यह सिद्धान्त अधिक से अधिक लाभ के अन्तर की व्याख्या करता है लाभ की मूल प्रकृति पर कोई प्रकाश नहीं डालता ।

3 क्लार्क का गत्यात्मक सिद्धान्त
(The Dynamic Theory of Clark)

प्रसिद्ध अमरिकी अर्थशास्त्री प्रो० जे० बी० क्लार्क (Prof J B Clark) के अनुसार लाभ गतिशील अर्थ-व्यवस्था में प्राप्त होता है अतः यह परिवर्तन का परिणाम (Result of change) है । उनके विचार में स्थिर अर्थ व्यवस्था (static or stationary society) में लाभ न मिलने का कारण यह है कि उसमें जनसंख्या पूँजी उत्पादन की तकनीकी विधि उपभोक्ता आचरण उनकी रुचि फैशन आदि में कोई परिवर्तन नहीं होता । उत्पादन की विधि भी अपरिवर्तित रहती है । परिवर्तनों

---

1 *The rent of ability theory of profit is really a theory of differential wage in disguise*

के अभाव के कारण स्थिर अर्थ व्यवस्था में लाभ का प्रश्न भी नहीं उठता। प्रतिस्पर्धात्मक अर्थ व्यवस्था में यह कहा जाता है कि स्पर्धा समस्त लाभों को समाप्त कर देती है (competition is the great killer of all profits)। इसके विपरीत एक गतिशील या गत्यात्मक अर्थ व्यवस्था (Dynamic Society) में अनेक प्रकार के परिवर्तन होते रहते हैं जैसे जनसंख्या में वृद्धि, पूंजी में वृद्धि, उत्पादन के संगठन एवं विधि में परिवर्तन आदि। इसके साथ ही साथ विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन होता है तथा उपभोक्ताओं की रुचि बदलती रहती है। इन सभी कारणों से अर्थ व्यवस्था स्थिर नहीं रहती और उसमें सदा परिवर्तन की प्रवृत्ति रहती है। बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप उत्पादन क्रिया को व्यवस्थित करने पर ही उत्पादकों को लाभ मिल सकता है। जो उद्योगपति नये परिवर्तन को शीघ्र अपनाता या नये उत्पादन की विधियों का उपयोग करता है उसे उस प्रयोग द्वारा लाभ मिलता है किन्तु जैसे सभी उत्पादक उन नये परिवर्तन के अनुरूप कार्य करने लगते हैं लाभ लुप्त हो जाता है और उस परिवर्तन के फलस्वरूप उत्पादक को लाभ की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार **लाभ परिवर्तन का परिणाम है** और ऐसे परिवर्तन सदैव ही अर्थ व्यवस्था में होते रहते हैं तथा इन्हीं नये परिवर्तनों के समायोजन के क्रम में लाभ उत्पन्न होता है। लाभ उद्योग को नये सन्तुलन की स्थिति में लाने का पुरस्कार है भले ही यह पुरस्कार अस्थायी हो। इस प्रकार लाभ केवल गतिशील परिवर्तनों का ही परिणाम है। यह लाभ उसी समय तक प्राप्त होता है जब तक कि परिवर्तन की क्रिया चलती रहता है। अतः लाभ एक अस्थायी तत्व है जो परिवर्तन की अवधि तक ही प्राप्त हो सकता है। जैसे ही परिवर्तन समाप्त हो जाता है और स्थिति पूर्ववत् हो जाती है उद्योग को केवल स्थिर या प्रतिस्पर्द्धात्मक अर्थ व्यवस्था का सामान्य लाभ ही मिलना प्रारम्भ हो जाता है। इसीलिए क्लार्क ने लिखा है कि लाभ एक भ्रान्तिजनक राशि है जो उद्योग को प्राप्त होती है किन्तु वे उसे रोक नहीं सकते। स्पष्ट है लाभ एक गतिशील एवं अस्थायी आय है। यह शीघ्र बदल भी जाता है। यह ध्यान रखना चाहिए कि गतिशील अर्थ-व्यवस्था में भी लाभ तभी सम्भव है जबकि भविष्य के विषय में ठीक-ठीक पूर्वानुमान करना हमारे लिए सम्भव नहीं होता।

आलोचनाएँ क्लार्क के विचार की निम्नलिखित आलोचनाएँ की जाती हैं

(1) यह कहा जाता है कि यह सिद्धान्त गतिशील परिवर्तनों की उचित व्याख्या नहीं करता। कुछ ऐसे परिवर्तन हैं जिनके विषय में पहले से विचार किया जा सकता है और जिनके कारण किसी प्रकार का लाभ भी नहीं मिलता। वास्तव में लाभ उन परिवर्तनों के फलस्वरूप ही सम्भव हो पाता है जो अनिश्चित है तथा जिनके सम्बन्ध में पहले से विचार करना सम्भव नहीं होता। अतः इन दो प्रकार के परिवर्तनों में अन्तर करना आवश्यक है।

(2) यदि किसी परिवर्तन के विषय में सामान्य रूप से आशा की जाती है और यदि लोग उसके अनुसार परिवर्तन कर लेते हैं तो लाभ की सम्भावना नहीं रह जाती। यदि लोगों की यह सामान्य प्रत्याशा गलत होती है तो लाभ केवल उन्हीं को प्राप्त होगा जो इस प्रकार के परिवर्तन की आशा नहीं रखते थे। इस प्रकार बिना लाभ के भी परिवर्तन सम्भव है।

(3) बिना किसी गतिशील परिवर्तन के अभाव में भी लाभ की प्राप्ति सम्भव है। अतः लाभ को गतिशील परिवर्तन से सम्बन्धित करना केवल अर्द्ध सत्य (half tru h) है। वास्तव में अधिक इतना कहना पर्याप्त होगा कि भविष्य में होने वाले अज्ञात परिवर्तन ही लाभ को सम्भव बना पाते हैं। इस प्रकार यह सत्य है कि परिवर्तन के कारण लाभ मिलता है किन्तु सभी प्रकार के परिवर्तन लाभजनक नहीं होते।

(4) क्लार्क प्रबन्ध कार्य संयोजन और जोखिम उठाने के कार्यों में कोई भेद नहीं मानते।

4 शूम्पीटर का नव प्रवर्तन पुरस्कार सिद्धान्त
(Schumpeter's Theory of Profit of Innovation)

क्लार्क के विचार से मिलता जुलता विचार शूम्पीटर का भी है। शूम्पीटर के अनुसार गतिशील अर्थ व्यवस्था में नव प्रवर्तनों या आविष्कारों (Innovations) के कारण ही लाभ उत्पन्न होता है। इस दृष्टि से ही हम क्लार्क और शूम्पीटर के विचारों में काफी समानता पाते हैं क्योंकि शूम्पीटर भी नव परिवर्तनों पर ध्यान देते हैं और गतिशील परिवर्तनों को स्वीकार करते हैं किन्तु शूम्पीटर ने नव परिवर्तनों को क्लार्क के परिवर्तनों से विशेष व्यापक रूप में प्रयोग किया है। शूम्पीटर के नव परिवर्तन से तात्पर्य ऐसे परिवर्तनों से है जिनसे उत्पादन की क्रिया में परिवर्तन होता है और उत्पादन व्यय में ह्रास होता है जिसके फलस्वरूप लाभ सम्भव हो पाता है। इस प्रकार वे फर्में जो इस नये परिवर्तन का पहले उपयोग में लायेंगी विशेष लाभ प्राप्त कर पायेंगी। नये बाजार के मिलने से भी नव परिवर्तन का लाभ मिलेगा और यह लाभ फर्म को तब तक मिलता रहेगा जब तक कि उस बाजार में अन्य फर्में प्रतियोगी के रूप में नहीं पहुँच जाती। सस्ते तथा कच्चे माल की खोज एवं उपयोग के कारण भी फर्म को प्रारम्भ में नव प्रवर्तन का लाभ मिलेगा। नव प्रवर्तन के माध्यम से प्राप्त ये सभी लाभ अस्थायी होते हैं। ऐसे लाभ तभी तक सम्भव हैं जब तक कि अन्य प्रतियोगी फर्में उस नव प्रवर्तन का उपयोग नहीं करतीं। जैसे ही अन्य फर्में लाभ की आशा में नयी उत्पादन विधि को अपनाती हैं वैसे ही लाभ की मात्रा कम होने लगती है और लाभ क्रमशः कम होता जाता है।

यदि नव प्रवर्तन का समन्वय एकाधिकार में सम्भव है तो लाभ एक लम्बी अवधि तक मिलता रहेगा। नव प्रवर्तन के पेटेन्ट अधिकार (Patent Right) के

कारण भी लाभ अधिक समय तक मिलता रहेगा। इस प्रकार नव प्रवर्तना के फलस्वरूप प्राप्त लाभ को हम आंशिक एकाधिकार की श्रेणी में रख सकते हैं क्योंकि यहाँ भी प्रारम्भ में नयी विधि को अपनाने वाली फर्मों की संख्या अल्प होती है।[1] स्पष्ट है लाभ अस्थायी होगा जो नव प्रवर्तना एवं सुधारकों के कारण प्राप्त होता है। यही लाभ अन्य फर्मों द्वारा नव प्रवर्तना का प्रयोग या अनुकरण (imitation) के कारण समाप्त हो जायगा। अतः यह कहना सत्य है कि लाभ नव प्रवर्तन के कारण मिलता है तथा अनुकरण पुष्ट के कारण लुप्त हो जाता है। (Profits are caused by innovation and disappear by imitation)।

नव प्रवर्तन आर्थिक विकास में सहायक होते हैं तथा इस प्रवर्तन के द्वारा लाभ की प्राप्ति होती है। इस दृष्टि में लाभ नव प्रवर्तना को प्रोत्साहित करता है। यदि नया प्रवर्तन सफल होता है तो लाभ की प्राप्ति होगी। स्पष्ट है कि शुम्पीटर के अनुसार लाभ नव प्रवर्तना का कारण तथा परिणाम होता है।

आलोचनाएँ शुम्पीटर के विचार की आलोचना की जाती है किन्तु हम यह ध्यान रखना है कि इन आलोचनाओं का वर्णन क्लार्क के सिद्धान्त के ही अनुरूप है अर्थात् जिन आलोचनाओं का वर्णन क्लार्क के सिद्धान्त के लिए किया गया है वे ही आलोचनाएँ इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में भी समान रूप से लागू होती हैं।

हाले का जोखिम उठाने का पुरस्कार सिद्धांत
(Hawley's Theory of Profit—A Reward For Risk-taking)

उद्यमी का मुख्य कार्य उत्पादन में जोखिम उठाना है। उद्यमी को इसी जोखिम उठाने के फलस्वरूप लाभ प्राप्त होता है। हॉले (F. B. Hawley) ने इसी विचार का प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार लाभ जोखिम उठाने का पुरस्कार है। उत्पादन के अन्य सभी साधनों का पुरस्कार निश्चित है क्योंकि लाभ मिले या न मिले उत्पादक को अन्य साधनों का पुरस्कार देना ही पड़ेगा। परन्तु लाभ जो उद्यमी का पुरस्कार है अज्ञात और अनिश्चित राशि है। यह अनिश्चित है तथा इसकी प्रकृति अवशिष्ट आय के रूप में है।[2] स्पष्ट है कि लाभ वह अवशेष राशि है जिसका पहले से निर्धारण करना सम्भव नहीं है तथा इसी आय की प्राप्ति के लिए उद्यमी

1 Even the profits of innovation may be classed as profits of potential monopoly since they are dependent upon the smallness of the number of firms that first adopt this innovation.

—*Meyers*

2 The profit of an undertaking or the residue of the product after the claims of land, capital and labour are satisfied is not the reward of management or co-ordination but of the risks and responsibilities of the undertaker.... subjects himself to ... this net income being manifestly an unpredetermined residue must be a profit.

—*Hawley*

त्पादन की क्रिया मे जोखिम उठाने को तयार होना है। *उद्यमी की आय का आधार जोखिम उठाना ही है।* हाले ने इस विचार का वर्णन सन् 1907 म प्रकाशित अपनी पुस्तक Enterprise and Productive Process म किया था। उत्पादन क्रिया म लगे रहने के लिए यह आवश्यक है कि उद्यमी को जोखिम उठाने का पुरस्कार मिलता रहे और यह पुरस्कार औसत सामान्य प्राप्ति से अधिक होना चाहिए। चूकि जोखिम उठाना बडा ही कष्टप्रद तथा चिन्ता का विषय है, अत उद्यमी इसे तब तक उठाने को तयार नही होगा जब तक उसके लिए किसी विशेष पुरस्कार का लाभ न हो। उत्पादन मे लगायी गयी पूँजी पर औसत सामान्य आय ही यथेष्ट नही है बल्कि जोखिम झेलने का पुरस्कार सामान्य से कुछ विशेष होना चाहिए। चूकि जोखिम उठाना सरल नही है इसलिए जोखिम उठाने वालो की संख्या बहुत ही कम होती है। प्रतियोगिता का क्षेत्र सकीर्ण होने के कारण प्रतियोगिता तीव्र नही होती। ऐसी दशा म जो *उद्यमी आगे बढकर जोखिम का भार उठाता है और उससे अपनी सुरक्षा* करता है वही अत्यधिक लाभ प्राप्त करता है।

आलोचनाएँ हाले के विचार की आलोचना इस आधार पर की जाती है कि लाभ केवल जोखिम उठाने का ही पुरस्कार नही है। यह कहना अत्युक्ति होगा कि *सम्पूर्ण पुरस्कार जोखिम उठाने के कारण ही मिलता है फिर भी यह ख्याल रखना* चाहिए कि उद्यमी का लाभ जोखिम मात्र उठाने के कारण ही नही बल्कि इस कारण भी मिलता है कि वह अपनी श्रेष्ठ योग्यता के प्रयत्नो से जोखिम को कम कर देता है जिससे उसे लाभ प्राप्त होता है। उद्यमी का अपनी कुशलता के कारण बाजार आदि की स्थितियो का पूरा ज्ञान रहता है। वह उनको कम करने के उपाय करके अन्य उद्यमी की अपेक्षा विशेष लाभ प्राप्त करता है। अत हम यह भी कह सकते है कि जोखिम के निराकरण और कम करने की क्षमता के कारण ही उद्यमी को लाभ *मिलता है। वह इसलिए लाभ प्राप्त नही करता कि वह उनका भार उठाता है।*

वास्तव म लाभ विभिन्न लागतो के ऊपर बचत (Surplus over costs) मात्र है और यह सभी प्रकार के जोखिमो के कारण नही मिलता। केवल अज्ञात तथा अनिश्चित जोखिमो के कारण ही लाभ उत्पन्न होता है।

नाइट का अनिश्चितता का कारण
(Knight's Theory of Uncertainty)

अर्थशास्त्र म उद्यमी का महत्त्व तथा उत्तरदायित्व इस तथ्य म निहित है कि वह उत्पादन के विभिन्न साधनो को मिलाकर उत्पादन कार्य को एक निश्चित स्वरूप देता है परन्तु इस प्रक्रिया म अनिश्चितता का अश भी निहित रहता है। भूमि श्रम तथा पूँजी की पूर्ति करने वाला इतना ध्यान पहले म ही रखता है कि

दा हुई परिस्थितियो म उसे कितना पारिश्रमिक या पुरस्कार मिलेगा। एसा कहन का तात्पय यह नही है कि उत्पादन के इन साधनो क स्वामियो को किसी प्रकार का कोइ खतरा उठाना नही पडता। यह सम्भव है कि किसी पूँजीपति को बाद म यह पता लगे कि ऋणी (borrow r) एक कपटी व्यक्ति है तथा वह ऋण की अदायगी नही करेगा। भूमिपति भी बाढ या भूकम्प जसी प्राकृतिक आपदाओ के कारण बर्बाद हो सकता है। साथ ही श्रमिक की नौकरी छूट सकती है जिससे उस बेरोजगारी का सामना करना पडेगा किन्तु ये आपत्तिया (बईमानी प्राकृतिक आपदाए या आर्थिक आपत्तिया) एसी है जो थोडी-बहुत मात्रा म समाज क सभी व्यक्तियो को सहनी पडती हैं।

उद्यमी चाहे वह एक व्यक्ति हो या हजारो की सख्या म अशधारी (Share holders) आय के किसी भी ऐसे स्तर पर निभर नही रह सकत जिसका आश्वासन दिया जा सके। उद्यमी का एक विशेष प्रकार का खतरा उठाना भी पडता है। फशन म परिवतन तकनीकी विकास तथा बाजार सम्बन्धी गलत निणय क कारण साधारणतया सभी आशाए (expectations) गलत हो सकती है जिससे वस्तु का बिक्री मूल्य बिक्री मात्रा तथा लागत व्यय—सभी प्रभावित होत है।

एक मुक्त तथा गतिशील अर्थ-व्यवस्था म निश्चय ही इस प्रकार क तत्त्वो का प्रभाव पाया जाता है। माँग अनिश्चित है जो अचानक एक उत्पाद को छोडकर दूसरे उत्पाद को प्रश्रय देती है। नये आविष्कारो क कारण मशीन आदि पुरानी पड जाती हैं जिनका अपेक्षाकृत कोई विशेष महत्त्वपूर्ण उपयोग नही रह जाता। इसी प्रकार तकनीकी विकास क कारण भी परिवतन होता रहता है। इन अनिश्चित तत्त्वो क कारण ही निणय करने म भूल की सम्भावना रहती है (e timates and judg ments are liable to err) और माग की आशा म उत्पादन करना सदा ही अनिश्चिततापूर्ण होता है। ऐसी अनिश्चित परिस्थिति म अगर उत्पादन किया जाता है तो किसी न किसी का इन अनिश्चितताओ का परिणाम भुगतना ही पडेगा।

इन बदलते हुए तत्त्वो को ध्यान म रखते हुए उद्यमी भविष्य क लिए उत्पादन काय म लगता है तथा नयी वस्तुओ या नयी प्रक्रियाओ को अपनाता है। इन तत्त्वो स सम्बन्धित कोई भी अटकल (guess) नही लगाया जा सकता है। इनकी पूर्ति विभिन्न साधनो को लगाकर की जाती है जबकि सम्भवत स्वय अटकल गलत साबित होती है। भूमि श्रम तथा पूँजी की पूर्ति करन वालो को उनका पुरस्कार दे दिया जाता है भले ही उत्पादन या कोई परिणाम क्यो न हो। यदि वस्तु की बिक्री स प्राप्त राशि सभी पुरस्कारो की तुलना म कम है तो उद्यमी को हानि होगी और उद्यमी को अपने साधनो स इस हानि की पूर्ति करनी होती है। अत कोई भी व्यक्ति अपनी सम्पत्ति को इस प्रकार क खतरे म तब तक नही लगायेगा जब तक कि उसे इस हानि की क्षति-पूर्ति क लिए किसी प्रकार के लाभ की आशा न हो। इस

प्रकार लाभ वह पुरस्कार है जो उद्यमी को विशेष तथा महत्वपूर्ण कार्यभार उठाने को प्रेरित करता है।

स्पष्ट है कि विभिन्न अनिश्चितताओं के कारण ही लाभ प्राप्त होता है। इस प्रकार लाभ के मूल में अनिश्चितता का तत्त्व व्याप्त है। यदि विश्व स्थिर रहता तथा माँग और उत्पादन व्यय में कोई परिवर्तन नहीं होता और साथ ही किसी भी प्रकार की अनिश्चितता नहीं रहती तो लाभ की कोई आवश्यकता ही नहीं होती। किन्तु व्यावहारिक जगत में अनिश्चितता सदैव विद्यमान रहती है। कुछ ऐसी अवांछनीय (undesirable) घटनाएं घटती हैं (जैसे आग, चोरी, तूफान आदि से हानि) जिनके सम्बन्ध में बीमा कम्पनियाँ एक निश्चित शुल्क लेकर खतरा लेने को तैयार रहती हैं। अतः ऐसे जोखिम के जिनका बीमा सम्भव है बीमा के लिए दिये गये शुल्क को उद्यमी उत्पादन-व्यय का अंश मानता है। अतः इस प्रकार के खतरों के लिए उद्यमी को प्रेरणास्वरूप लाभ की कोई आवश्यकता नहीं है किन्तु इन खतरों के अतिरिक्त सदैव कुछ ऐसी घटनाएँ घटित होती रहती हैं जो माँग में परिवर्तन और तकनीकी विकास आदि को सम्भव बना देती हैं। इन परिवर्तनों में कोई क्रमबद्धता (regularity) नहीं होती। इसलिए इनका बीमा नहीं कराया जा सकता। इस प्रकार की जोखिम अनिश्चित तथा बीमा के अयोग्य (uncertainties and non insurable risks) होते हैं। ये ऐसे जोखिम होते हैं जिनका बीमा सम्भव नहीं है। फलस्वरूप उद्यमी को अनिश्चितता का सामना करना पड़ता है। अतः प्रो० नाइट (Prof Knight) लाभ का कारण अनिश्चितता मानते हैं।[1] प्रो० नाइट ने अपनी पुस्तक Risk Uncertainty and Profit जो सन् 1921 में प्रकाशित हुई में अपने लाभ सम्बन्धी इस विचार का पूर्णतया प्रतिपादन किया।

उद्यमी यह चाहता है कि उसके परितोषण की पूर्ति उचित मात्रा में होती रहे अर्थात् सामान्य लाभ (normal profit) मिलता रहे। यह सामान्य लाभ लागत का एक अंश होता है जो एक उद्योग से दूसरे उद्योग में भिन्न होता है तथा यह भिन्नता अनिश्चितता की मात्रा पर निर्भर करती है। कुछ ऐसी वस्तुएँ हैं जिनकी माँग प्रायः निश्चित रहती है तथा ऐसे उद्योगों में साधारणतया लाभ कम होता है। और इसके विपरीत किसी नयी वस्तु का भविष्य बिल्कुल अनिश्चित होता है। उसे सफलता की आशा के साथ ही असफलता की भी सम्भावना रहती है। अतः ऐसे कार्यों के लिए अत्यधिक लाभ की प्रत्याशा (expectation) का होना आवश्यक है

---

1 It is not dynamic change nor change as such which causes profit but the divergence of actual conditioning from those which have been expected and on the basis of which business arrangements have been made

—*Prof Knight*

ताकि उद्यमी उत्पादन की क्रिया म प्रेरित हो सक । इस प्रकार जहाँ-कहा भी अनिश्चितता की मात्रा अधिक होगी उद्यमी को प्रेरित करन क लिए अत्यधिक लाभ का लोभ देना आवश्यक होगा।

आलोचनाएँ (1) **प्रो० नाइट** का सिद्धान्त क्लाक के सिद्धान्त की भाँति केवल गतिशील परिवतना को ही लाभ का कारण नही मानता क्योकि जहा तक इन परिवतना को जाना जा सकता है वे विक्रय मूल्य तथा लागत मे अन्तर पदा नहा कर सकत।

(2) हानि क समान लाभ का कारण खतरा भी नही है क्योकि ज्ञात खतरा क विरुद्ध बीमा किया जा सकता है। अत लाभ एक विभिन जोखिम क कारण प्राप्त होता है जिसकी माप सम्भव नही है। स्पष्ट है कि लाभ अनिश्चितता क कारण प्राप्त होता है जा स्वय गतिशील परिवतना का परिणाम है।

(3) आज सामान्यत **प्रो० नाइट** के विचार को स्वीकार किया जाता है। इसका अथ यह नही कि उनका विचार पूर्णतया सत्य है। वास्तव म नाइट अनिश्चितता को अपन आप म एक अलग तत्त्व मानत है किन्तु व्यवहार म शायद ही हमे इस प्रकार का कोई अलग साधन मिलेगा। अनिश्चितता का भार उठाना साधारणतया प्रबन्ध और सयोग के काय स मिलता जुलता है। ऐसा उद्यम जिसम केवल अनिश्चितता का पुरस्कार प्राप्त होता हो पूर्ण प्रतियोगिता क समान ही कल्पना मात्र है। आलोचको क अनुसार अनिश्चितता को वहन करना उत्पादन का कोई *पृथक साधन नहा है। एसी स्थिति म केवल अनिश्चितता को ही लाभ का पूर्ण* कारण मानना अतिशयोक्ति होगी। इसलिए प्रबन्ध-काय और जोखिम काय म विभेद करना अच्छा होगा।

इन तर्कों का अभिप्राय यह नही है कि नाइट का यह विचार गलत है। वास्तव म उनके इस विचार स अथशास्त्र क क्षेत्र म अनिश्चितता के तत्त्व (Uncertainty in Economics) का समावेश होता है।

प्रो० नाइट का यह तक बहुत ही सबल है कि ऐसे गतिशील परिवतनो के कारण ही जिनके परिणामा क सम्बन्ध म कोई भविष्यवाणी नही की जा सकती लाभ उदय होता है। यदि नव प्रवतक (innovator) अपनी उत्पादित वस्तु की लागत तथा उसक मूल्य पर पडन वाल अपन काय के प्रभाव स अवगत होता है तो उसको जो कुछ प्राप्त होता है वह उसकी श्रेष्ठता का आकलित उच्च मूल्य है।[1]

1 If the innovator is aware of the consequences of his action on cost and price of his product then what he gets is simply a high value imputed to his superior ability

—*Gupta A K Das*

The Conception of Surplus in Theoretical Economics p 184

श्रेष्ठ योग्यता के लिए प्राप्त उच्च पारितोषिक को शुद्ध लाभ नहीं कहा जा सकता वह तो वास्तव में उसके प्रबन्धन-कार्य के लिए दी गयी मजदूरी है।

वास्तविकता भी यही है कि अनिश्चितता अर्थ-व्यवस्था का एक आवश्यक लक्षण है। इस अनिश्चितता के मूल में सन्तुलन के विरोधाभास (paradox of equilibrium) का कारण विद्यमान रहता है। सन्तुलन की शक्तियों का क्रियाशीलता कुछ समय पश्चात् समाप्त हो जाती है। परन्तु यदि समय बहुत ही लम्बा होता है तो बाह्य शक्तियाँ मूल शक्तियों की क्रियाशीलता का समाप्त कर देती है। इसी कारण यह कहा जाता है कि लाभ में अनिश्चितता का तत्त्व आवश्यक है।

लाभ उत्पादन का व्यय है (Profit as a cost)

उत्पादन के सभी साधनों के पारिश्रमिक या मूल्य का भुगतान करने के बाद जो राशि शेष रहती है वही लाभ है। इस रूप में लाभ एक प्रकार की बचत है। अत इस दृष्टि से लाभ अवशिष्ट मद (Residual Item) है क्योंकि उत्पादन के अन्य साधनों के पुरस्कार को पहले से ही निश्चित किया जा सकता है। लेकिन लाभ जो वर्तमान उत्पादन से प्राप्त आय के रूप में मिलता है परिवर्तित होता रहता है। अन्य साधनों के विपरीत यह सम्भव है कि लाभ नकारात्मक (negative) हो अर्थात् उद्यमी को हानि की सम्भावना भी बनी रहती है। परन्तु एक अर्थशास्त्री के दृष्टिकोण से लाभ उत्पादन व्यय का एक अंश भी है। यह लागत इस दृष्टि से भी है कि उत्पादन के साधन के रूप में उद्यम अन्य साधनों के समान ही आवश्यक है। दूसरे शब्दों में एक उद्यमी की उत्पादन क्रिया में लगन के लिए यह आवश्यक है कि उसे लाभ प्राप्त हो। किन्तु अन्तत जो लाभ मिलता है वह उसके निर्णय को प्रभावित नहीं करता। लाभ तो उस अन्त में प्राप्त होता है। वस्तुत जिस लाभ की वह आशा रखता है उस पर पहले के उसी प्रकार के उत्पादन पर प्राप्त लाभ के अंश का प्रभाव पड़ता है। अत लाभ को उद्यम का व्यय (Cost of enterprise) कह सकते हैं भले ही लाभ की प्रत्याशा ही कार्यकारी तत्त्व हो।

सामान्य लाभ उत्पादन व्यय है। इसका कारण यह है कि उद्यम की पूर्ति के लिए कुछ मूल्य की अदायगी करनी पड़ती है और इस दृष्टि से लाभ सीमान्त व्यय तथा मूल्य का एक अंग है। अन्य उत्पादन के साधनों के समान लाभ में लगान तथा अर्द्ध लगान का तत्त्व शामिल रह सकता है लेकिन सदैव एक न्यूनतम मूल्य (लाभ) देना ही पड़ेगा ताकि उत्पादन के साधन के रूप में उद्यम की पूर्ति होती रहे। यदि लाभ आवश्यक रूप से बहुत ही निम्न स्तर पर पहुँच जाता है तो वे व्यक्ति जो उद्यमी का कार्य कर रहे हैं अपने इन कार्यों को छोड़कर श्रमिक या प्रबन्धक का कार्य करना प्रारम्भ कर देंगे। अन्य साधनों के विपरीत लाभ में बहुत ज्यादा परिवर्तन होता है। यह परिवर्तन न केवल एक उद्योग तथा विभिन्न उद्योगों के बीच बल्कि विभिन्न समयों में भी होता रहता है। कुछ परिस्थितियों में लाभ नकारात्मक भी होता है। अत

(2) वस्तु के मूल्य का एकमात्र कारण श्रम नहीं होता। उत्पत्ति के अन्य साधन (पूँजी प्रबन्ध साहसी आदि) भी वस्तु के उत्पादन में महत्त्वपूर्ण सहयोग देते हैं।

प्रश्न व संकेत

1 लाभ का आधुनिक सिद्धान्त उत्पादन प्रक्रिया में साहसी का यह योगदान बताता है कि वह बीमा अयोग्य जोखिमों तथा अनिश्चितताओं को सहन करता है। इस कथन की व्याख्या करिए।

The contribution of entrepreneur in the process of production of modern theory of profit that profit is a payment of uncertainty bearing Discuss this statements

[संकेत इस कथन की व्याख्या हेतु जोखिम व अनिश्चितता सिद्धान्त (नाइट) को समझाइए।]

2 नाइट के लाभ–सिद्धान्त की आलोचनात्मक परीक्षा कीजिए।

Critically examine the Knight s Theory of Profit

[संकेत नाइट के लाभ के सिद्धान्त को स्पष्ट करिए उसकी विशेषताएं लिखिए और साराश में आलोचनाएं व प्रत्यालोचनाएँ बताइए।]

3 लाभ की परिभाषा कीजिए तथा लाभ के विभिन्न सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिए।

Define Profit and explain various Theories of Profit

4 कुल लाभ एवं आर्थिक लाभ में भेद कीजिए। आर्थिक लाभ का निर्धारण कैसे होता है ?

Distinguish between gross profit and economic profit How is economic profit determined ?

5 लाभ के सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त को समझाइए।

Critically examine the marginal productivity theory of profit

6 सामान्य लाभ एवं असामान्य लाभ में भेद करिए।

Distinguish between normal profit and abnormal profit

7 लगान तथा लाभ में अन्तर बताइए। दर्शाइए कि लाभ कैसे निर्धारित होता है।

Distinguish between rent and profit Show how profit is determined

8 लाभ क्यों उत्पन्न होते हैं ? स्थिर एवं प्रावैगिक दशाओं के अन्तर्गत लाभ के विचार की विवेचना कीजिए

Why do profits arise ? Discuss the concept of profit under static and dynamic conditions

—

SFCOND YEAR EXAMINATION OF THE
THREE YEAR DEGREE COURSE,

FIRST PAPER—*Principles of Economics*

1 Economics is the science which studies human behaviour as a relationship between ends and scarce means which have *alternative uses Critically examine this definition of economics*

अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जिसमे साध्यो तथा सीमित एव अनेक उपयोगो वाले साधनो से सम्बन्धित मानव व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। अर्थशास्त्र की इस परिभाषा की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए।

2 The Laws of Economics are to be compared with the laws of tides rather than with the simple and exact law of gravitation In the light of the above statement examine the nature of economic laws

आर्थिक नियमो की तुलना गुरुत्वाकर्षण के सरल एव निश्चित नियम से न करके ज्वार भाटा के नियमो से करनी चाहिए। इस कथन के सन्दर्भ म आर्थिक नियमों की प्रकृति का परीक्षण कीजिए।

3 Explain the Law of Diminishing Marginal Utility Mention its limitations and discuss its importance

सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम की व्याख्या कीजिए। इसकी सीमाओं का उल्लेख करते हुए इसके महत्त्व की विवेचना कीजिए।

4 Give the main characteristics of human wants and distinguish between *necessaries comforts and luxuries*

मानवीय आवश्यकताओं की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिए तथा अनिवार्यताओं सुविधाओं एव विलासिताओं म अन्तर स्पष्ट कीजिए।

5 Explain clearly the concept of consumer s surplus and discuss its *significance*

उपभोक्ता की बचत के सिद्धान्त को स्पष्टतया समझाइए तथा इसके महत्त्व की विवेचना कीजिए।

6 Malthusian Theo y of Population is pessimistic and the Optimum Theory of Population is optimistic but none of these is an adequate theory of population Discuss

'माल्थस का जनसख्या का सिद्धान्त निराशावादी है तथा अनुकूलतम जनसख्या का सिद्धान्त आशावादी है किन्तु इन दोनो म से किसी को भी जनसख्या का समुचित सिद्धान्त नही कहा जा सकता।' व्याख्या कीजिए।

7 What do you understand by efficiency of labour? Analyse critically the factors, which determine the efficiency of labour

श्रम की कार्यकुशलता से आप क्या समझते हैं? उन दशाओं का विश्लेषण कीजिए जिनका श्रम की कार्यकुशलता पर प्रभाव पड़ता है।

8 Explain fully the Laws of Diminishing Returns Is this law universal? What is its practical significance?

उत्पत्ति ह्रास नियम की पूर्णतया व्याख्या कीजिए। क्या यह नियम सर्वव्यापी है? इस नियम का व्यावहारिक महत्त्व क्या है?

9 Explain the conditions necessary for the existence of perfect competition and show that under perfect competition the price of each commodity will be equal both to its average and to its marginal cost of production

पूर्ण प्रतियोगिता के अस्तित्व के लिए आवश्यक दशाओं को समझाइए तथा स्पष्ट कीजिए कि पूर्ण प्रतियोगिता में प्रत्येक वस्तु की कीमत उसके उत्पादन की औसत लागत तथा उसकी सीमान्त लागत के बराबर होगी।

10 How are wages determined under conditions of perfect competition and imperfect competition? Explain

पूर्ण प्रतियोगिता एवं अपूर्ण प्रतियोगिता की दशाओं में मजदूरी का निर्धारण किस प्रकार होता है? समझाइए।

11 Define National Income and discuss the methods of its measurement What difficulties are faced in national income analysis?

राष्ट्रीय आय की परिभाषा दीजिए तथा राष्ट्रीय आय की मापन की रीतियों की विवेचना कीजिए। राष्ट्रीय आय के विश्लेषण में किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है?

12 *Write notes on any two of the following*

(i) Capital formation
(ii) Control of Monopoly
(iii) Prime Costs
(iv) Innovation Theory of Profit

निम्नलिखित में से किन्हीं दो पर नोट लिखिए

(i) पूँजी निर्माण
(ii) एकाधिकार का नियन्त्रण
(iii) प्रमुख लागतें
(iv) लाभ का नव प्रवर्तन सिद्धान्त।